हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ

(हिन्दी साहित्य के इतिहास का विकासात्मक एवं प्रवृत्त्यात्मक अध्ययन)

पंचम संस्करण

लेखक

डॉ० शिवकुमार शर्मा, एम०ए०

प्रकाशक
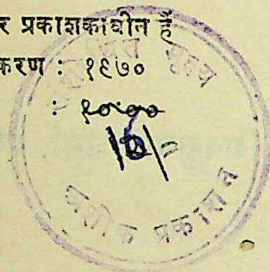
पंचम संस्करण

हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियों का पंचम संस्करण सुधी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष हो रहा है कि पुस्तक की उपयोगिता के सम्बन्ध में क्या लिखा जाए, पुस्तक स्वयं अपनी उपयोगिता प्रमाणित कर रही है। हिन्दी साहित्य के आदि-काल से आधुनिक काल तक सभी प्रमुख प्रवृत्तियों तथा सभी प्रमुख कवियों एवं लेखकों का सांगोपांग विवेचन इस ग्रंथ की बड़ी विशेषता है। आदिकाल की साहित्यिक गति-विधियों का लेखक ने पुनर्परीक्षण कर उसके नामकरण की समस्या को नये ढंग से सम-झाने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार रीतिकाल के हिन्दी साहित्य में एक नवीन मार्ग मान कर उसकी सम्पूर्ण विशेषताओं को उद्घाटित किया है, रीतिकाल के नामकरण पर भी विभन्न विद्वानों के मतों के परिप्रेक्ष्य में नये ढंग से विचार किया है। आधुनिक काल के सभी काव्यधाराओं और गद्य-विधाओं के विकास-क्रम को ऐतिहासिक वैज्ञानिक दृष्टि से दर्शाया गया है। अन्त में परिशिष्ट रूप में हिन्दी से पूर्व भारतीय साहित्य की ऐतिहासिक परम्परा, हिन्दी साहित्य पर संस्कृत, उर्दू, फारसी तथा अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव आदि विषयों को प्रस्तुत कर हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन में पूर्णता लाने का पूर्ण प्रयत्न किया है। हमें विश्वास है कि यह संस्करण और भी अधिक उपा-देय सिद्ध होगा।

—**प्रकाशक**

अपनी ओर से

मुझे "हिन्दी-साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ" के चतुर्थ परिवर्धित एवं संशोधित संस्करण को सुयोग्य पाठकों और मर्मज्ञ विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हर्ष और उत्साह का अनुभव हो रहा है। इस रचना में हिन्दी-साहित्य के इतिहास के विकासात्मक और प्रवृत्यात्मक दोनों रूपों को प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः ये दोनों पक्ष एक दूसरे के पूरक हैं। इसमें प्रत्येक काल की परिस्थितियों का तत्कालीन साहित्यिक गति-विधियों के साथ सामंजस्य दिखाते हुए प्रत्येक युग के उन प्रतिनिधि लेखकों और उल्लेखनीय समस्याओं का आलोचनात्मक विवेचन कर दिया गया है, जिनका प्रायः उच्चतम कक्षाओं के छात्रवर्ग के साथ सम्बन्ध है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए संकलनात्मकता का आग्रह स्वाभाविक था, किन्तु फिर भी हिन्दी साहित्य के इतिहास की बहुत सी गम्भीर और बहुगवेषणापेक्ष्य समस्याओं को निजी ढंग से देखा गया है और उनके समाधान की चेष्टा की गई है। पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट रूप में हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत, फारसी व उर्दू तथा अंग्रेजी साहित्य के प्रभावों की चर्चा की गई है, जो कि हिन्दी-साहित्य के समग्र अवबोध के लिए आवश्यक है। लेखक को इस प्रयास में कितनी सफलता मिली है, इसका निर्णय सुधी-वर्ग की गुण-ग्राहकता और विज्ञ पाठकों के विवेक पर निर्भर करेगा।

हिन्दी-साहित्य के समस्त अधिकारी विद्वानों, जिनके इतिहास ग्रन्थों तथा शोध कार्यों की बहुमूल्य सामग्री का प्रस्तुत पुस्तक में उपयोग किया गया है, उनके प्रति हार्दिक आभार स्वीकार करना मैं अपना नैतिक कर्त्तव्य समझता हूँ। मैं अपने सुहृद्वर डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट् का अतीव कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस विषय में सर्वदा अपने निर्देशों और सत्परामर्श आदि से मुझे उपकृत किया, वस्तुतः यह तुच्छ प्रयास उनकी सतत् शुभ प्रेरणा का फल है। मैं इस विषय में आदरणीय आचार्य श्री आर० एम० शर्मा का भी अतीव आभारी हूँ। वे अपने आप में एक संस्था हैं। उनका व्यक्तित्व, अपार ज्ञान, उनकी सहज प्रेषणीयता और सतत् प्रेरणा का एक आलोक-पुंज है। वे जीवन से अध्यापक और मस्तिष्क से परम चिंतक हैं। ज्ञानार्जन और उसका वितरण उनका परम लक्ष्य है।

"अशोक प्रकाशन" के संचालक श्री जगदीशचन्द्र गुप्त, इस विषय में धन्यवादाई हैं, जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन, प्रसार और प्रचार में पूर्ण तत्परता तथा सुरुचि का परिचय दिया है।

अन्त में, मैं अपनी त्रुटियों और न्यूनताओं के लिए क्षमा-याचना करता हुआ कृती-विद्वानों तथा पाठकों से विनम्र प्रार्थना करूँगा कि वे इस पुस्तक के सम्बन्ध में अपने मूल्यवान सुझाव भेजकर हमें उपकृत करें ताकि भविष्य में पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाया जा सके।

— शिवकुमार शर्मा

आदरणीय दिवंगत

कम्मू को

सादर समर्पित

विषय-सूची

आदि काल
(सं० १०५०-१३७५ ?)

काल की अविच्छिन्न धारा के समान साहित्यिक-परम्परायें और प्रवृत्तियाँ निरन्तर गतिशील रहा करती हैं। साहित्य में एक बार जो प्रवृत्ति उद्‌बुद्ध हो जाती है, उसमें अनुकूल एवं प्रतिकूल-परिस्थितियों के कारण तीव्रता और मन्दता की प्रक्रिया का होना तो सहज विश्वसनीय है, किन्तु उसका सर्वथा विलुप्त होना नितांत अकल्पनीय है। प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ विकास और ह्रास की प्रक्रिया से अनिवार्यतः सम्बद्ध है। उदाहरणार्थ हिन्दी साहित्य में रासो तथा वीरगाथात्मक रचनायें, भक्ति की विविध धाराओं से सम्बद्ध नाना कृतियें, रीति-परक रचनायें, नीति तथा सूक्तिमयी उक्तियाँ और आधुनिक हिन्दी साहित्य की विविध-मुखी प्रवृत्तियां आदि किसी विशिष्ट काल में उद्‌भूत होकर काल के करालगर्त्त में सर्वथा निःशेष नहीं हो गईं, कालक्रमानुसार उनमें वृद्धि और क्षीणता की क्रिया सतत बनी रही है।

यद्यपि ज्ञान एक अद्वितीय और अखड वस्तु है और उसका विभाजन कृत्रिम तथा अवैज्ञानिक व्यापार है, किन्तु बोध-सुकरता के लिए उसे कतिपय निश्चित खडों, उपखंडों, शाखाओं एवं प्रशाखाओं में विभक्त कर लेने से अध्ययन में सरलता आ जाती है। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि काल एवं खंड-विभाजन आदि स्वाभाविक और तर्क-संगत होना चाहिये जिससे साहित्य की समग्र-प्रवृत्तियों के अवबोध के लिए यथेष्ट सहायता मिल सके। मनमाने कटघरों में साहित्यिक ज्ञान एवं सामग्री को बरबस फिट करना साधक न होकर बाधक होगा।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य की सामग्री के अध्ययन के लिए इसे वीरगाथा काल (आदि-काल) सं० १०५०-१६७५, भक्तिकाल (पूर्व मध्यकाल) सं० १३७५-१७००, रीतिकाल (उत्तर मध्यकाल) सं० १७००-१९०० तथा आधुनिक काल (गद्य काल) सं० १९०० से अब तक चार कालों में विभक्त किया है। यद्यपि शुक्ल जी का उक्त काल-विभाजन विद्वानों के जगत् में प्रायः मान्य है, किन्तु हमारे विचारानुसार उक्त विभाजन पुनः समीक्ष्य है।

वीरगाथा काल का नामकरण और पूर्वापर सीमा निर्धारण – इसका नामकरण और पूर्वापर सीमा निर्धारण का प्रश्न हिन्दी-साहित्य के इतिहास के विवादास्पद प्रश्नों

में एक प्रमुख प्रश्न है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के अनेक अधिकारी लेखक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अपने-अपने भिन्न मत दिये हैं। यहाँ हम विविध मतों के औचित्य और अनौचित्य का पर्यवेक्षण करके समस्या के समाधान को खोजने का प्रयास करेंगे।

सर्वप्रथम मिश्र-बन्धुओं ने अपने 'मिश्र-बन्धु विनोद' नामक ग्रन्थ में इस विवेच्य काल को आदि काल के नाम से पुकारा किन्तु आचार्य शुक्ल ने इस युग में वीरगाथाओं की प्रमुखता को ध्यान में रखकर इसे 'वीरगाथा काल' के नाम से अभिहित किया। शुक्ल जी के नामकरण के सम्बन्ध में तीन प्रमुख बातों का ध्यान देना आवश्यक होगा। पहली इस काल में वीरगाथात्मक ग्रन्थों की प्रचुरता, दूसरी जैनों द्वारा प्राचीन ग्रन्थों को धार्मिक साहित्य घोषित करके उसे रचनात्मक साहित्य की परिधि से निकाल देना, और इसी प्रकार नाथों और सिद्धों की रचनाओं को शुद्ध साहित्य में स्थान न देना, तीसरी मुख्य बात उन रचनाओं की है जिनमें भिन्न-भिन्न विषयों पर फुटकर दोहे मिलते हैं, किन्तु उनसे किसी विशेष प्रवृत्ति का निर्मित न हो सकना। आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में वीरगाथाकाल का नामकरण करते समय निम्न रचनाओं का उल्लेख किया है—

(१) विजय पाल रासो (नल्लसिंह कृत सं० १३५५)
(२) हम्मीर रासो (शार्गधर कृत सं १३५७)
(३) कीर्तिलता (विद्यापति कृत सं० १४६०)
(४) कीर्तिपताका (" " ")
(उपर्युक्त चारों पुस्तकें अपभ्रंश भाषा में हैं।)
देशी भाषा काव्य की आठ पुस्तकों का नाम निम्न है—
(५) खुमान रासो (दलपति विजय सं० ११८०-१२०५)
(६) वीसलदेव रासो (नरपति नाल्ह सं० १२९२)
(७) पृथ्वीराज रासो (चन्दबरदाई सं० १२२५-१२४९)
(८) जयचन्द प्रकाश (भट्ट केदार कृत सं० १२२५)
(९) जयमयंक जसचंद्रिका (मधुर कवि कृत १२४०)
(१०) परमाल रासो (आल्हा का मूल जगनिक कृत सं० १२३०)
(११) खुसरो की पहेलियाँ आदि (अमीर खुसरो कृत सं० १२३०)
(१२) विद्यापति पदावली (विद्यापति कृत सं० १४६०)

आचार्य शुक्ल का वीरगाथात्मक प्रवृत्ति की स्थापना के लिये उल्लिखित अपभ्रंश की प्रथम चार रचनाओं को परिगणित कर लेना असंगत है। कदाचित् शुक्ल की इस असंगति का कारण हिन्दी और अपभ्रंश को अभिन्न रूप से ग्रहण करना है। वे अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखते हैं—'अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर

मिलता है। मुञ्ज और भोज के समय सं० १०५० के लगभग में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य रचनाओं में पाया जाता है।' इस प्रसंग में विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि हमें अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कहना ही है तो फिर सं० ७०० में रचित अपभ्रंश काव्यों को हिन्दी साहित्य क्यों न मान लिया जाय और फिर कालिदास की रचनाओं में जहाँ छुटपुटे रूप में अपभ्रंश प्रयुक्त हुआ है, उसमें भी हिन्दी साहित्य का अस्तित्व क्यों न स्वीकार कर लिया जाये। 'देशी भाषा' और 'पुरानी हिन्दी' की आड़ में समस्त अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी में समाविष्ट करने की मनोवृत्ति कदापि स्वस्थ नहीं कही जा सकती है। अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के समान हिन्दी भाषा और उनके साहित्य का प्रादुर्भाव भी ईसा की तेरहवीं शताब्दी में हुआ। आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास क्रम तथा भाषा शास्त्रीय दृष्टि से ऐसा मानना संगत भी है। यदि हम हिन्दी के प्रति अनन्य मोह का प्रदर्शन करते हुए इसे आठवीं या ग्यारहवीं शताब्दियों में उद्भूत और विकसित मानते हैं तो इस सम्बन्ध में एक जटिल प्रश्न का उपस्थित होना स्वाभाविक है, जब अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं का प्रादुर्भाव तेरहवीं शताब्दी में हुआ तो हिन्दी का उदय आठवीं या ग्यारहवीं शताब्दी में कैसे और क्यों हुआ ? संभवतः इस प्रश्न का उत्तर हमारे पास मौन मेष करने के सिवाय और कुछ नहीं। हिन्दी के पूर्वरूपों की कल्पना के आधार पर अपभ्रंश साहित्य को बलात् हिन्दी में समेट लेना हितकर नहीं है। हिन्दी के इस प्रकार के पूर्वरूपों का आभास हमें प्राकृत लौकिक संस्कृत तथा वैदिक संस्कृत तक में मिल सकता है (विशेषतः हिन्दी की तत्सम शब्दावली का)। कोई सी भी प्रचलित भाषा अपने समय में देशी भाषा या लोक भाषा हो सकती है। हाल की प्राकृत में प्रणीत गाथा सतसई तत्कालीन देशी भाषा में लिखी गई। अब्दुर्रहमान का संदेश रासक भी देशी भाषा या लोक-भाषा का काव्य है। गाथा सतसई की भाषा प्राकृत है और संदेश रासक की भाषा असंदिग्ध रूप से अपभ्रंश है। इस काल में रचित सिद्धों और जैनों के चरित काव्यों रासो ग्रन्थों, लोक प्रेम सम्बन्धी खंड काव्य, संदेश रासक तथा नीति और उपदेशपरक नाथों की वाणियों की भाषा निश्चित रूप से अपभ्रंश है। अपभ्रंश के संक्रमणकाल में उपलब्ध होने वाले क्वचित् हिन्दी के पूर्वरूपों के आधार पर अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी या पुरानी हिन्दी के अन्तर्गत रखना नितांत अवैज्ञानिक है। अंग्रेजों के शासन काल में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए हमारे प्रयत्न सतत गति से चलते रहे किन्तु भारत की वास्तविक स्वतंत्रता १९४७ में ही मानी जायेगी। निःसन्देह स्वतंत्रता प्राप्ति के निमित्त किये गये राष्ट्रीय आंदोलनों का अपना महत्व है किन्तु वे आंदोलन स्वतन्त्रता नहीं कहे जा सकते। हां, उन आन्दोलनों ने स्वतंत्रता की पृष्ठभूमि अवश्य प्रस्तुत कर दी। इसी प्रकार वस्तुस्थिति यह है कि अपभ्रंश और हिन्दी दो भिन्न-भिन्न भाषायें हैं। इसके अतिरिक्त जिन रचनाओं में आचार्य शुक्ल को पुरानी हिन्दी का रूप आभासित हुआ है, वे भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से शुद्ध अपभ्रंश की

रचनायें हैं। दूसरे आचार्य शुक्ल ने बीसलदेव रासो और खुमान रासो आदि ग्रन्थों को पहले का रचित मान लिया है, जबकि १५वीं शताब्दी के बाद में रचित सिद्ध हो चुके हैं। हम्मीर रासो और विजयपाल रासो की प्रामाणिकता संदिग्ध है। मोतीलाल मेनारिया का कहना है कि खुमान रासो के रचयिता को रावल खुमान (सं० ८७०) का समकालीन मानना गलत है। बीसलदेव रासो के रचयिता नरपति नाल्ह को मेनारिया ने गुजरात के नरपति नामक कवि से अभिन्न माना है जिसका समय सं० १५४५ है। अपभ्रंशों ने हिन्दी भाषा और साहित्य की पार्श्वभूमि अवश्य तैयार कर दी किन्तु वे स्वयं हिन्दी नहीं हैं। शार्गंधर कवि के हम्मीर रासो की रचना का आधार प्राकृत पैंगलम् में आये हुये कुछ पद्य हैं। यह ग्रन्थ अभी तक आधा अप्राप्त है। विजयपाल रासो को मिश्र-बंधुओं ने सं० १३५५ का ग्रन्थ स्वीकार किया है। भाषा और शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ भी परवर्ती सिद्ध होता है। इसी प्रकार भट्ट केदार का जयचंद प्रकाश सं० १२२५ और मधुकर कवि कृत 'जयमयंक जस चन्द्रिका' (सं० १२४०) ग्रन्थ नोटिस मात्र है। 'राठोडाँ री ख्यात' नामक ग्रन्थ में केवल उनका नामोल्लेख है, आज तक ये ग्रन्थ उपलब्ध भी नहीं हुए। शिवसिंह सरोज में इन दोनों को शहाबुद्दीन गौरी के दरबार का कवि माना गया है। वस्तुतः जब तक ये दोनों पुस्तकें प्राप्त नहीं हो जातीं तब तक इनके सम्बन्ध में निर्णयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

पृथ्वीराज रासो अर्द्ध-ऐतिहासिक रचना है। शुक्ल जी के अनुसार तो वह अप्रामाणिक ही है। जगनिक भट्ट का परमाल रासो या आल्ह खंड अपने मूल रूप से बहुत दूर हो गया है। ख्याल है कि यह ग्रन्थ महाकवि तुलसी के समय में नहीं था अन्यथा अपने पूर्ववर्ती साहित्य की शैलियों के कुशल समन्वय-कर्त्ता तुलसी इसका सरस और रोचक शैली का कहीं न कहीं अवश्य अनुकरण करते। अस्तु! अधिक से अधिक हम इसे अर्द्ध ऐतिहासिक या अर्द्ध प्रामाणिक रचनाओं की कोटि में रख सकते हैं।

खुसरो की पहेलियों में प्रारम्भिक हिन्दी का स्वरूप अवश्य मिल जाता है परंतु उसमें वीरगाथाओं की कोई भी प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती।

रहे विद्यापति और उनके ग्रन्थ 'कीर्त्तिलता', 'कीर्तिपताका' और 'विद्यापति पदावली। आचार्य शुक्ल ने उनका रचना काल सं० १४६० स्वीकार किया है। बड़ा ही आश्चर्य है कि ८५ वर्ष पूर्व समाप्त होने वाले वीरगाथा काल में बेचारे विद्यापति को जबरदस्ती बिठा दिया गया। शुक्ल जी ने इसका कारण उनका अपभ्रंश में काव्य-निर्माण करना बताया है। पर केवल इसी आधार पर उन्हें पीछे धकेल देना असंगत है। और यदि यह अभीष्ट था तो विद्यापति का परवर्ती अपभ्रंश भाषा में लिखने वाले कवियों को भी इन स्वनिर्मित कठघरे में बन्द क्यों नहीं कर दिया गया। इसके अतिरिक्त विद्यापति की काव्य की प्रवृत्तियां वीरगाथा काल की अपेक्षा

भक्ति और रीतिकालीन काव्य से अधिक साम्य रखती हैं। बीसलदेव रासो को शृंगार प्रधान प्रेम काव्य मानना उचित है। वह तथाकथित वीरगाथाओं की कोटि में नहीं आता है। उनके काव्य की भाव धारा वीर रस की नहीं अपितु भक्ति और शृंगार को पुष्ट करती है, विषय उनका राधा कृष्ण है और शैली मुक्तक गीति की है। उनमें आश्रयदाता का शौर्य गान इतना अधिक नहीं उभर पाया है जितना कि राधा कृष्ण का शृंगारी चित्र। इससे सिद्ध होता है कि विद्यापति चन्दवरदायी के साथी नहीं, प्रत्युत सूर और तुलसी, बिहारी की कक्षा में आते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शुक्ल जी ने जिन १२ ग्रन्थों को आदि काल के लक्षण-निरूपण एवं नामकरण के लिए चुना उनमें अधिकांश ग्रन्थ संदिग्ध एवं अप्रामाणिक हैं, कुछ नोटिस मात्र हैं, और कुछ ग्रंथों को हठात् सम्मिलित करके भानमती का कुनबा जोड़ने का विफल प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल ने जिन ग्रन्थों के आधार पर वीरगाथात्मक प्रवृत्ति की जो मूलभित्ति तैयार की थी वह आज के नवीन अनुसंधानों के सामने बिल्कुल खिसक चली है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक "हिन्दी काव्य धारा" में बौद्ध तथा नाथ सिद्धों और जैनियों की अनेक रचनाओं का संकलन किया है जो उपदेश मूलक और हठयोग की महिमा एवं क्रिया का विस्तार से प्रचार करने वाली रहस्यमूलक रचनाएं हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने बौद्ध सिद्धों की जिनमें सहजयान और वज्रयान के अनुयायियों की रचनाएँ आती हैं, का एक बृहत् प्रकाशन कराया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी में गोरखनाथ के नाम से प्रचलित अनेक रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। बहुत-सी रचनाएँ संस्कृत की हैं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त हिन्दी में भी गोरखनाथ की कई पुस्तकें पाई जाती हैं। स्वर्गीय डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इन सबका प्रकाशन हिन्दी साहित्य सम्मेलन से कराया था। यदि ये नवीन अनुसंधानों के फलस्वरूप उपलब्ध पुस्तकें आचार्य शुक्ल के सामने होतीं तो निश्चय था कि उन १२ तथाकथित वीरता-प्रवृत्तिमूलक रचनाओं के आधार पर वीरगाथाकाल के नामकरण की मान्यता न बताते क्योंकि ये बारह रचनाएँ आज भी उपलब्ध आदिकालीन साहित्यिक सामग्री के सम्मुख आटे में नमक के बराबर भी नहीं हैं।

शुक्ल जी ने मिश्र-बन्धुओं द्वारा गिनाई गई दस पुस्तकों "भगवद्गीता" तथा वृद्धनवकारादि को जैन धर्म से सम्बन्धित कह कर उन्हें साहित्य की कोटि में नहीं रखा है। यहां पर भी शुक्ल कुछ भ्रान्त ही रह गये हैं। ये पुस्तकें धार्मिक होते हुए भी साहित्यिक उदात्तता से शून्य नहीं हैं। आचार्य हजारीप्रसाद का इस सम्बन्ध में कहना है "कि धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्य का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए, अन्यथा हमें संस्कृत की रामायण, महाभारत, भागवत एवं हिन्दी के रामचरितमानस, सूरसागर आदि साहित्यिक सौन्दर्य संवलित अनुपम ग्रन्थ रत्नों को भी साहित्य की परिधि से बाहर रखना पड़ जाएगा।"

"इन पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ अन्य अपभ्रंश भाषा की पुस्तकें प्राप्त हुई हैं जिनमें उच्चकोटि का उत्कृष्ट साहित्य उपलब्ध होता है। इनमें कुछ धर्म से सम्बद्ध हैं और कुछ लौकिक विषय प्रेमादि से। ये पुस्तकें संख्या में बहुत अधिक हैं जिनमें प्रमुख हैं:—'संदेश रासक", "भविसयत कथा", "पउम चरिउ", "हरिवंश पुराण", "जसहर चरिउ", "पाहुड़ दोहा" आदि। ये पुस्तकें भी शुक्ल जी की दृष्टि में नहीं आई थीं अन्यथा वे एकान्तिक रूप से इस काल का नाम वीरगाथा काल न रखते। सच तो यह है कि आदिकालीन साहित्य को देखते हुए हम निश्चित और अन्तिम रूप से किसी प्रवृत्ति की प्रधानता की ओर संकेत नहीं कर सकते। 'शायद ही भारत के इतिहास में इतने विरोधों और व्याघातों का युग कभी आया होगा। इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए जिनकी रचनाएँ अलंकृत काव्य-परम्परा की चरम सीमा पर पहुंच गई थीं। दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए जो अत्यन्त सहज सरल भाषा में अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में अपने मार्मिक मनोभाव प्रकट करते थे। श्रीहर्ष के नैषधचरित के अलंकृत श्लोकों के साथ हेमचन्द के व्याकरण में आये हुए अपभ्रंशों के दोहों की तुलना करने से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जायगी कि धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी महान् प्रतिभाशाली आचार्यों का उद्भव इसी काल में हुआ और दूसरी तरफ निरक्षर सन्तों के ज्ञान प्रचार का बीज भी इस काल में बोया गया। यह काल भारतीय विचारों का मंथन काल है और इसलिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।"

आचार्य शुक्ल के इस वीरगाथा काल नामकरण पर उनके निजी असन्तोष का आभास इनकी निम्न पंक्तियों में मिल जाता है—"इसी संक्षिप्त सामग्री को लेकर जो थोड़ा बहुत विचार हो सकता है उसी पर हमें सन्तोष करना पड़ता है।" वस्तुतः इस संदिग्ध सामग्री के आधार पर किया गया विवेचन कई जगह असगत एवं दोषपूर्ण बन गया है, जिस पर अर्वाचीन शोध कार्य से प्राप्त नवीन तथ्यों के प्रकाश में पुनर्विचार करने की महती आवश्यकता है।

आचार्य शुक्ल ने वीरगाथाओं का परिचय देते हुए कहा है कि इस काल के अधिकांश कवि चारण थे। संभव है, डा० रामकुमार वर्मा ने वीरगाथा काल को इसी आधार पर चारणकाल कहा हो। पर उनकी यह धारणा संगत नहीं कही जा सकती। इस विषय में डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त के विचार अवलोकनीय हैं। पर आश्चर्य कि बात यह है कि स्वयं डा० वर्मा के इतिहास के नवीनतम् सस्करण तक में इस काल की सीमाओं के अन्तर्गत लिखी गई एक भी प्रामाणिक चारण कृति का उल्लेख नहीं है और साथ ही सं० १७१५ तथा १८६६ तक की रचनाओं को भी इस काल में सम्मिलित कर लिया गया है। जब कि वे इस काल की उच्चतम सीमा सं० १३७५ ही स्वीकार करते हैं। यदि इन्हें चारणों को साहित्य में विशेषता देनी ही थी तो चारण काल के स्थान पर चारण काव्य शीर्षक दे देते तो भी ये असंगतियाँ नहीं आतीं।" अर्वाचीन अनुसंधानों से उपलब्ध आदि काल की साहित्यिक

सामग्री के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तत्कालीन साहित्य में चारण प्रवृत्ति आंशिक रूप से भले ही हो, किन्तु उसकी प्रमुखता नहीं है जिसके आधार पर इस युग के साहित्य का नामकरण किया जा सके। हमारा विवेच्य काल अनेक साहित्यिक प्रवृत्तियों के संक्रमण का युग है जिनका उल्लेख हम डा० हजारीप्रसाद के शब्दों में ऊपर कर चुके हैं।

महापंडित राहुल ने प्रस्तुत काल को "सिद्ध सामन्त युग" के नाम से अभिहित किया है और उन्होंने उसकी पूर्वापर सीमाएं ८वीं शती से १३वीं शती तक निर्धारित की हैं। उन्हें इस काल के साहित्य में दो प्रमुख प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर हुई हैं—सिद्धों की वाणी और सामन्तों की स्तुति। सिद्धों की वाणी के अन्तर्गत बौद्ध तथा नाथ सिद्धों की तथा जैन मुनियों की रूक्ष एवं उपदेशमूलक और हठ योग की महिमा एवं क्रिया का विस्तार से प्रचार करने वाली रहस्यमूलक रचनाएं आती हैं। इसके अन्तर्गत धार्मिक और आध्यात्मिक भाव-धारा से स्पंदित कुछ उत्कृष्ट जैन मातावलम्बी कवियों की रचनाएँ नहीं आतीं। राहुल जी की सामन्तों की स्तुति नामक प्रवृत्ति में चारण कवियों के चरित काव्य आते हैं, जिनमें कवियों ने अपने आश्रय-दाताओं का यशोगान किया है। इन काव्यों में युद्ध, विवाह आदि का अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन है। राहुल जी के इस नामकरण से लौकिक रस से अनुप्राणित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनाओं का कुछ भी आभास नहीं मिलता है। इस नामकरण से विवेच्य काल के साहित्य की समूची प्रवृत्तियों का भी बोध नहीं हो सकता। संदेश रासक, विद्यापति की पदावली, पउमचरिउ (रामायण) इत्यादि अनेक रचनाए जिन की प्रवृत्तियों का परवर्ती साहित्य में विकास हुआ, उपेक्षित रह जाती हैं। सांकृत्यायन जी का यह नामकरण भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भी असंगत है। उस काल को अपभ्रंश भाषा का पूर्ण यौवन काल कहा जा सकता है। इसमें हिन्दी का कोई निश्चित रूप नहीं मिलता है। राहुल जी ने पुरानी हिन्दी और अपभ्रंश को एक ही कह दिया है जो कि भ्रांति के सिवाय और कुछ नहीं। राहुल जी अपनी पुस्तक 'हिन्दी काव्य धारा" में एक स्थान पर लिखते हैं—"जब हम पुराने कवियों की भाषा को हिन्दी कहते हैं तो उस पर मराठी, उड़िया बंगला, आसामी, गोरखाली, पंजाबी, गुजराती, भाषा-भाषियों को आपत्ति हो सकती है। उन्हें भी उसे अपना कहने का उतना ही अधिकार है जितना हिन्दी भाषा भाषियों को। वस्तुतः ये सारी आधुनिक भाषायें बारहवीं तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंशों से अलग होती दीखती हैं। वस्तुतः इन सिद्ध सामन्त युगीन कवियों की रचनायें उपर्युक्त सारी भाषाओं की सम्मिलित निधि हैं।"

राहुल जी के उक्त कथन में एक बड़ी आश्चर्यजनक असंगति है। एक ओर वे अपभ्रंश को सभी अन्य भाषाओं की सम्मिलित निधि बताते हैं तो दूसरी ओर इस हिन्दी का एक ऐसा आधिपत्य स्वीकार करते हैं कि उसे पुरानी हिन्दी तक कह डालते हैं। हिन्दी-प्रेम और भावुकता की दृष्टि से राहुल जी की पुरानी हिन्दी

सम्बन्धी मान्यता एवं विश्वास भले ही ठीक हों परन्तु भाषा शास्त्र की दृष्टि से इसे नितान्त असंगत ही कहना होगा।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तुत काल को "बीजवपन काल" के नाम से अभिहित किया है परन्तु यह नाम समीचीन दिखाई नहीं पड़ता। साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से इसे उक्त नाम से पुकारना असंगत है क्योंकि इस काल में प्रायः अपने पूर्ववर्ती साहित्य की सभी काव्य रूढ़ियों और परम्पराओं का सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है। साथ-साथ कुछ नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी उद्भव हुआ जो अपने समुचित विकसित रूप में है। उस काल के साहित्य पर Literature infancy or infancy in literature की उक्ति लागू नहीं हो सकती। उस समय का कलाकार अत्यन्त सजग और उद्बुद्ध था।

इस दिशा में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का प्रयास कुछ स्पष्ट कहा जा सकता है। उन्होंने प्रस्तुत काल के साहित्य को अन्तर्विरोधों का साहित्य कहा है। उन्होंने किसी एक साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर इस काल के नामकरण को अनुपयुक्त ठहराया है और अन्ततः घूम फिर कर इस काल को आदि काल के नाम से पुकारा है जो इसी ही रूप में मिश्र बन्धुओं द्वारा पहले ही प्रतिपादित हो चुका था पर साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि "वस्तुतः हिन्दी साहित्य की आदि काल" शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परम्पराविनिर्मुक्त काव्य रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढ़िग्रस्त सजग, सचेत कवियों का काल है।······यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है।" आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपर्युक्त शब्दों से स्पष्ट है कि "आदि काल" नाम भी उस समूह के साहित्य के लिए सर्वथा निर्भ्रान्त एवं नितान्त उपयुक्त नहीं है। उनके "बुरा नहीं हैं" शब्दों में अर्द्ध स्वीकृति ही ध्वनित होती है। उनके "आदि काल" की नाम के साथ पाठक या श्रोता को चेतावनी के रूप में अपने मस्तिष्क में सदैव एक लम्बा चौड़ा वाक्य 'वस्तुतः········बुरा नहीं है।" वहन करना पड़ेगा अन्यथा भ्रांति की सम्भावना ज्यों की त्यों बनी रहेगी। इससे तो हिन्दी साहित्य का "प्रारम्भिक काल" नामक शब्द उपयुक्त रहेगा जिससे किसी भ्रांत धारणा के फैलने की आशंका तो न होगी क्योंकि प्रत्येक प्रकार का साहित्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में से गुजर कर आगे बढ़ा करता है। वस्तुतः सच तो यह है कि निरन्तर कई वर्षों के अथक परिश्रम के पश्चात् भी प्रस्तुत काल के नामकरण की समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है। इस सम्बन्ध में गहरी छान-बीन और अनुसन्धान कार्य की महती आवश्यकता है।

प्रस्तुत काल के साहित्य की पूर्वापर सीमा को निर्धारित करने का प्रश्न भी कुछ कम विवादास्पद नहीं हैं। आचार्य शुक्ल ने इस काल का आरम्भ सं० १०५० और अन्त

सं० १३७५ माना है। शुक्ल जी की इस मान्यता का आधार कदाचित् उनका प्राकृताभास, अपभ्रंश एवं देशी भाषा को हिन्दी मान लेना है। शुक्ल के बाद के इतिहास लेखकों ने अत्यन्त श्रद्धा के साथ अनुकरण किया है। उन्होंने भी देशी भाषा काव्य को हिन्दी भाषा काव्य के रूप में ग्रहण करके इस काल की सीमायें निर्धारित की हैं। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने तो ८वीं शती के अपभ्रंशों को पुरानी हिन्दी कह कर अपने सिद्ध सामंत युग का आरम्भ इसी काल से मान लिया और इस काल की अपर सीमा १६वीं शती मानी। राहुल जी को यदि यही अभीष्ट है तो फिर ८वीं शती से पूर्व की शताब्दियों में रचित अपभ्रंश काव्यों को भी उन्हें हिन्दी साहित्य में सम्मिलित कर लेना चाहिए था। इसके साथ-साथ उन्हें अपने काल की अपर सीमा भी १६वीं शती तक खींच कर ले जानी चाहिए थी क्योंकि उस समय अपभ्रंश में किसी न किसी रूप में ग्रन्थों का प्रणयन होता ही रहा है। इस सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपेक्षित सतर्कता और दक्षता से काम लिया है। उन्होंने अपभ्रंश और हिन्दी को भिन्न-भिन्न रूप में समझा है और इन दोनों भिन्न भाषाओं को एक मानने वाले विद्वानों को सावधान भी किया है। उनका कहना है कि, "यह विचार (अपभ्रंशों को पुरानी हिन्दी कहना) भाषाशास्त्रीय और वैज्ञानिक नहीं है।" द्विवेदी जी आगे चलकर कहते हैं, "जहां तक नाम का प्रश्न है गुलेरी जी का सुझाव पंडितों को मान्य नहीं हुआ है। अपभ्रंश को अब कोई पुरानी हिन्दी नहीं कहता परन्तु जहां तक परम्परा का प्रश्न है निःसन्देह हिन्दी का परवर्ती साहित्य अपभ्रंश साहित्य से क्रमशः विकसित हुआ है।" आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी का विकास लगभग १३वीं शताब्दी में स्वीकार किया है। उनका कहना है कि "हेमचन्द आचार्य ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की चर्चा की है। दूसरी श्रेणी की भाषा को हेमचन्द ने ग्राम्य कहा है। वस्तुतः यही भाषा आगे चलकर आधुनिक देशी भाषाओं के रूप में विकसित हुई है।" द्विवेदी जी ने यहां आगे चलकर उस काल का परिमाण नहीं दिया है किन्तु इसका तात्पर्य कम से कम एक शताब्दी भी लें तो हिन्दी का विकास द्विवेदी जी की मान्यता के अनुसार हेमचन्द (१०८८ से ११७२ ई०) के एक सौ वर्ष बाद अर्थात् लगभग १३वीं शती ई० सिद्ध होता है। उपर्युक्त तथ्य का समर्थन अनेक प्रसिद्ध भाषाशास्त्रियों और विद्वानों द्वारा भी हो चुका है।

(क) सुनीति कुमार—"यह मालूम नहीं पड़ता कि यह हिन्दी ठीक-ठीक कौन सी बोली थी, परन्तु सम्भव है कि यह ब्रजभाषा या पश्चात्कालीन हिन्दुस्तानी के सदृश न होकर १३वीं शती में प्रचलित सर्व साधारण की साहित्यिक अपभ्रंश ही रही हो, क्योंकि १३वीं या १४वीं शती ईसवी तक हमें हिन्दी या हिन्दुस्तानी का दर्शन नहीं होता।" —भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, प्रथम सं०, पृ० १६०

(ख) राहुल सांकृत्यायन—"वस्तुतः ये सारी आधुनिक भाषायें १२वीं-१३वीं शताब्दी में अपभ्रंश से अलग होती दीख पड़ती है।"

—हिन्दी काव्य-धारा पृ० ११, १२

(ग) उदयनारायण तिवारी—आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् १३वीं शती के प्रारम्भ में आधुनिक भारतीय भाषाओं के अभ्युदय के समय १५वीं शती के पूर्व तक का काल संक्रान्ति काल था, जिसमें भारतीय आर्य भाषायें धीरे-धीरे अपभ्रंश की स्थिति को छोड़कर आधुनिक काल की विशेषताओं से युक्त होती जा रही थीं।

—हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास पृ० १४०-१४१

(घ) नामवरसिंह—"यह देश भेद धीरे-धीरे इतना बढ़ा कि १३वीं शताब्दी तक जाते-जाते अपभ्रंश के सहारे ही पूर्व और पश्चिम के देशों ने अपनी-अपनी बोलियों का स्वतन्त्र रूप प्रकट कर दिया।"

—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, द्वि० सं०, पृ० ५४

(ङ) बाबूराम सक्सेना—"विद्यापति के समय में आधुनिक भाषाओं का हिन्दी, मैथिली आदि नाम अभी प्रचलित नहीं हुआ था। भाषायें अभी अपभ्रंश ही कहलाती थीं। नहीं तो विद्यापति एक ही वस्तु को देसिलबअना या अवहट्टा नहीं कहते।" आगे डॉ० वर्मा ने कहा है—"कीर्तिलता के अपभ्रंश को मैथिली अपभ्रंश कहना उचित होगा।"

—कीर्तिलता विद्यापति कृत—भूमिका डॉ० बाबूराम सक्सेना, पृ० १९-२०

उपर्युक्त मतों के अवलोकन के पश्चात् हम सहज रूप से एक निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से हिन्दी का विकास ग्राम्य या लौकिक अपभ्रंश से तेरहवीं शताब्दी के लगभग निश्चित होता है। इस तथ्य का समर्थन एक और बात से भी हो जाता है, वह यह है कि संदेश रासक के कर्त्ता अब्दुर्रहमान (११वीं शती) ने अपनी रचना में स्पष्ट रूप से कहा है कि वह एक ऐसी भाषा में रचना कर रहा है जो सर्व-साधारण के लिए बोधगम्य हो। संदेश रासक की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंशों की कोटि में आती है। यदि अपभ्रंशों से निकली हुई हिन्दी आविर्भाव में आई होगी तो कम से कम एक-डेढ़ शती के बाद ही। अतः आधुनिक आर्य भाषा हिन्दी का अस्तित्व १३वीं शती में स्वीकार करना नितान्त समीचीन प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में १०५० सं० में हिन्दी का अस्तित्व और हिन्दी साहित्य का विकास मानना सर्वथा भ्रांत है।

एक और बात भी बड़ी आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। वह यह है कि एक ओर तो आचार्य हजारीप्रसाद हिन्दी को ग्राम्य अपभ्रंशों का विकसित रूप मानते हैं और भक्ति काल के निरूपण के समय उस साहित्य को वास्तविक हिन्दी का साहित्य कहते हैं तो दूसरी ओर वे हिन्दी का साहित्य आरम्भ १०५० से और आदि काल की समाप्ति १३७५ तक मान बैठते हैं। एक स्थान पर वे लिखते हैं, "दसवीं शती से चौदहवीं शताब्दी तक के समय में लोक भाषा में लिखित जो साहित्य उपलब्ध हुआ है उसमें परिनिष्ठित अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा का रूप दिखाई देता है। दसवीं शताब्दी की भाषा के गद्य में तत्सम शब्दों का व्यवहार बढ़ने लगा था परन्तु

पद्य की भाषा में तद्भव शब्दों का ही एकच्छत्र राज्य था। चौदहवीं शताब्दी तक के साहित्य में इसी प्रवृत्ति की प्रधानता मिलती है।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के उपलब्ध लोक भाषा साहित्य को अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न भाषा का साहित्य कहा जा सकता है। वस्तुतः वह हिन्दी की आधुनिक बोलियों में से किसी-किसी के पूर्वरूप के रूप में ही उपलब्ध होता है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक दसवीं शती से इस साहित्य का आरम्भ स्वीकार करते हैं। इसी समय से हिन्दी भाषा का आदि काल माना जा सकता है।" उक्त कथनों के अध्ययन के अनन्तर यहाँ कुछ प्रासंगिक बातों का विचार कर लेना आवश्यक है। सब से पहली बात तो यह है कि १०वीं या ११वीं शताब्दी की अपभ्रंश की किस रचना की पद्य की भाषा में तद्भव शब्दों का प्रयोग हुआ है? मेरे विचार में निश्चित रूप से किसी भी प्रामाणिक रचना की ओर संकेत नहीं किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि प्रस्तुत काल (दसवीं, ग्यारहवीं शती) की किस अपभ्रंश रचना में तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है? उदाहरणार्थ "उक्ति व्यक्ति प्रकरण" का नाम लिया जा सकता है जिसमें ब्रह्मचारियों की परस्पर वार्तालाप की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। द्विवेदी जी स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि संस्कृत पढ़ने वाले छात्रों के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक ही है। उस समय के जन-साधारण के लिए लिखे गये किसी भी काव्य में भाषा की उक्त दोनों प्रवृत्तियों का दर्शन नहीं होता है और यदि किसी ग्रन्थ में छिटपुट रूप से एक दो शब्द उक्त प्रवृत्तियों के अनुरूप मिल ही जायें तो उससे किसी भाषा के विकास का व्यापक प्रश्न हल नहीं हो सकता। वैदिक साहित्य में कहीं-कहीं पर "तितउ" जैसे प्राकृत भाषा के शब्द आये हैं परन्तु उनके आधार पर प्राकृत भाषा का विकास वैदिक भाषा का समकालीन नहीं माना जा सकता है। भाषायें एक वृत्ताकार में रह कर यथा काल अपने विकास की दिशाओं को खोजा करती हैं तथा-कथित पुरानी हिन्दी का छिटपुटा रूप भले ही अपभ्रंश भाषाओं के प्रयोग में मिलने लगा हो, किन्तु यह तो सर्वथा निश्चित है कि वह उस समय तक साहित्यिक स्तर की भाषा नहीं थी।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि "देशी भाषा काव्य" नामक शब्द से इस काल निर्धारण सम्बन्धी भ्रांति को काफी पुष्टि मिली है। देशी भाषा से हमें उस समय की अपभ्रंश भाषा के लोक प्रचलित रूप को ग्रहण करना होगा। प्रत्येक भाषा की दो स्थितियाँ हुआ करती हैं। पहली स्थिति उसका लोक-प्रचलित रूप (Dialects) है और दूसरी है, उसका साहित्यिक रूप। वैदिक, प्राकृत, अपभ्रंश और आज की हिन्दी सब की दोनों स्थितियाँ रही हैं। साहित्यिक हिन्दी का रूप कुछ और है और हिन्दी की ग्रामीण बोलियों का रूप कुछ और। प्रत्येक काल की भाषा के लोक प्रचलित रूप के लिये देशी भाषा का प्रयोग किया जा सकता है।

भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में उस समय की लोक-प्रचलित भाषा के लिए "देशी भाषा" शब्द का प्रयोग किया है। दण्डी ने अपने काव्यादर्श में तत्कालीन अपभ्रंश भाषाओं को देशी भाषा के नाम में अभिहित किया है। अतः देशी भाषा से हमें अपभ्रंश का ग्रहण करना होगा न कि हिन्दी का। साहित्य नष्ट हो जाने की मनगढ़न्त कहानियों से शायद ही काम चले।

इस तथ्य को सभी भाषा वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं कि अपभ्रंशों से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का जन्म हुआ। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि सं० १०५० के निश्चित मुहूर्त में हिन्दी का जन्म तो हो गया जब कि मराठी, बंगाली और गुजराती आदि आधुनिक आर्य भाषाओं का उद्भव नहीं हुआ, हालांकि इन सब भाषाओं का उत्स समान ही था। यदि दुर्जन-तोष-न्याय के अनुसार मान भी लिया जाये कि हिन्दी का उदय १०५० सं० में हुआ, तब भी उस समय की ऐसी कोई भी प्रामाणिक रचना उपलब्ध नहीं होती है जिसके आधार पर इस तथ्य की पुष्टि हो सके।

हिन्दी साहित्य के आदि काल का लक्षण-निरूपण करने में जो पुस्तकें सहायक सिद्ध होती हैं वे निम्न हैं :—

(१) पृथ्वीराज रासो।
(२) परमाल रासो।
(३) विद्यापति की पदावली।
(४) कीर्तिलता।
(५) कीर्तिपताका।
(६) सन्देश रासक—अब्दुर्रहमान कृत।
(७) पउमचरिउ—स्वयंभूकृत रामायण।
(८) भविसयत्त कथा—धनपालकृत १०वीं शती।
(९) परमात्माप्रकाश-जोइन्दु कृत।
(१०) बौद्ध गान और दोहा।
(११) स्वयंभू छंद।
(१२) प्राकृत पैंगलम्।

उपर्युक्त पुस्तकों में से प्रायः सभी पुस्तकें अपभ्रंश में रचित हैं। इनमें से दसवीं या ग्यारहवीं शती की कोई भी ऐसी रचना नहीं है जिनके आधार पर हिन्दी के उद्भव की कहानी को पूरे रूप से कहा जा सके। हाँ शालिभद्र सूरि की "भरतेश्वर बाहुबलिरास" (रचनाकाल १२४१ वि०) में हिन्दी के भावी रूप को देखा जा सकता है। इसी प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बारहवीं शती के अन्त में हिन्दी के चिह्न मिलने लग गये होंगे। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के आदि काल की पूर्वापर सीमा-निर्धारण का प्रश्न भी साहित्य-जगत् में अभी तक प्रश्नवाची चिह्न (?) से युक्त है।

आदि काल की समस्या के सम्बन्ध में डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त के विचार विशेष अवलोकनीय हैं—"आदि काल की समस्या को सुलझाने का एक ही मार्ग है हम अपने वैयक्तिक पूर्वाग्रहों या दुराग्रहों को त्यागकर शुद्ध भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पहले इस बात का निर्णय करें कि हिन्दी साहित्य का उद्भव कब से होता है तथा फिर वे कौन-कौन सी प्रामाणिक रचनाएँ हैं जो भाषा की दृष्टि से प्रारम्भिक हिन्दी के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। इन रचनाओं के रचना काल एवं उनकी प्रवृत्तियों के आधार पर ही इस काल की सीमा एवं नामकरण का निर्णय किया जा सकता है।

सम्भव है कि आदि काल के नामकरण और इसके सीमा निर्धारण सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से चिरकालीन परम्परा को कुछ आघात पहुचे, परन्तु मुझे आशा है कि अनुसंधित्सुवर्ग इस ओर अवश्य ध्यान देगा।

आदिकाल : युग की पृष्ठभूमि

राजनीतिक-परिस्थिति—भारतीय इतिहास का यह युग राजनीति की दृष्टि से अव्यवस्था विशृंखलता, गृह-कलह और पराजय का युग है। एक ओर तो इस युग का क्षितिज विदेशी आक्रमणों के भयावह मेघों से आच्छादित रहा दूसरी ओर रजवाड़ों की पारस्परिक भीतरी कलह घुन के समान इसे खोखला करती रही। सम्राट् हर्षवर्धन (सन् ६०६ से ६४३) के निधन के पश्चात् मानो एक प्रकार से उत्तरी भारत से केन्द्रीय शक्ति का ह्रास हो गया और राजसत्ता डांवाडोल हो गई। ९वीं शती में प्रतिहार मिहिर भोज ने उसे फिर समेटा और सुव्यवस्था का क्षेत्र बनाया। उधर दक्षिण को राष्ट्रकूटों के साम्राज्य ने सम्भाल रखा था। इधर अरब में नवोदित इस्लाम ने सुदूर पश्चिम और पूर्व में अपने पैर पसारने चाहे। भले ही उसने बात की बात में मध्य एशिया और पश्चिम को रौंद और कुचल डाला पर वह अफगानिस्तान से आगे न बढ़ सका। अफगानिस्तान तब भारत के अन्तर्गत था। अब मुसलमानों ने सिंध को प्रवेश द्वार बनाना चाहा और सन् ७१०-११ में मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में सिंध पर धावा किया। सिंध का राजा दाहिर और उसके पुत्र तिल-तिल भूमि के लिए लड़े परन्तु अन्त में हार गये। इस पराजय का कारण स्पष्ट है. वहाँ के जाटों ने ब्राह्मण राजा दाहिर के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर उस युद्ध में केवल उदासीनता ही नहीं दिखाई प्रत्युत आक्रमणकारियों का साथ दिया और वैयक्तिक स्वार्थ के लिए निज देश के हित को न्यौछावर कर दिया। इसी प्रकार सिंध के बौद्धों का इस आक्रमण के समय अपने ब्राह्मण राजा का साथ न देना भी इसी मनोवृत्ति को सूचित करता है। इस घटना से जनता की शासन के प्रति उदासीनता और राजनीतिक चेतना के ह्रास का पता चलता है। फिर ७३९ ई० में तत्कालीन अरब सेनापति ने सिंध से कच्छ, दक्खिनी मारवाड़, उज्जैन और उत्तरी गुजरात को ध्वस्त कर लाट (दक्षिणी गुजरात) में प्रवेश किया। वहां चालुक्य सेनापति ने अरब सेना का पूर्णतया संहार किया। अरब सिंध तक ही सीमित रहे। ९वीं

शती में वहां उनके छोटे-मोटे सरदार ही रह गये। ६वीं शती तक मुसलमान पश्चिमोत्तर भारत में प्रवेश न कर सके क्योंकि उस समय वहां शक्तिशाली राज्य थे। इनमें काश्मीर के सम्राट् ललितादित्य का विशिष्ट स्थान है।

उत्तरी भारत में दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दियों में प्रतिहारों का राज्य बना रहा फिर भी उसके दूर के प्रांत स्वतन्त्र हो गये। इन नये राज्यों में विशिष्ट थे— चेदि (दक्षिणी बुन्देलखण्ड) जुझौती (उत्तरी बुन्देलखण्ड), मालवा, गुजरात, सांभर और गौड़। ६वीं शताब्दी में बुखारा के तुर्क आक्रमणकारियों से डर कर हिन्दू राजाओं ने काबुल से हटकर अटक के समीप उदभांडपुर (ओहिंद) को अपनी राजधानी बनाया कुछ समय के पीछे शाहि इसके स्वामी हो गये। १०वीं शताब्दी के अन्त में गजनी का राज्य महमूद गजनवी के हाथ आया। उसने उक्त शाहि राज्य को बड़ी कठिनता से जीता। फिर पंजाब और कांगड़ा को लिया और अन्तर्वेद पर चढ़ाई कर के मथुरा और कन्नौज लूटे तथा कन्नौज को करद राज्य बना कर ग्वालियर और कालिंजर को लूटा। इसके अनन्तर सौराष्ट्र पर चढ़ाई करके सोमनाथ मन्दिर से अपार धनराशि लूटी। जिन दिनों में महमूद के उत्तरी भारत में आक्रमण पर आक्रमण हो रहे थे, उन्हीं दिनों दक्षिण का चोल राजा राजेन्द्र पूर्व में अपने राज्य का विस्तार करने में व्यस्त था। उसने उड़ीसा, छत्तीसगढ़ और बंगाल तक को जीत लिया। महमूद के बाद मालवा के भोज और चेदि के कर्ण का प्रताप भी कम न था। उन्होंने कुरुक्षेत्र और कांगड़ा से तुर्क आधिपत्य का अन्त कर दिया। यदि चोल राजा राजेन्द्र विदेशी आक्रांता महमूद के प्रति अपनी शक्ति का प्रयोग करता तो निश्चय था वह इंच भर भी भारत भूमि में न बढ़ पाता।

ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में दिल्ली में तोमर, अजमेर में चौहान और कन्नौज में गाहड़वालों के शक्तिशाली राज्य थे। ११५० में अजमेर के बीसलदेव चौहान ने तोमरों से दिल्ली और हांसी से लेकर हिमालय तक अपना राज्य फैला लिया और पंजाब से तुर्कों को पीछे धकेला।

गजनी में तुर्कों का अन्त करके शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने भारत जीतने की ठानी। कई बार हार कर भी उसने हिम्मत न हारी। अजमेर का शक्तिशाली राजा पृथ्वीराज चौहान उस समय विदेशी आक्रमण के प्रति पूर्णतः जागरूक न था। जब गोरी ने गुजरात पर आक्रमण किया तब उसकी सेना अजमेर की पश्चिमी सीमा आबू तक जा कर लौट आई और गोरी को रोकने की ओर ध्यान न दिया बल्कि उसी समय उसने जुझौती के राजा परमर्दिदेव से युद्ध छेड़ा, जिसमें दो देशी राजाओं की शक्ति का अपव्यय हुआ। कन्नौज के राजा जयचन्द के षड्यन्त्र के परिणाम-स्वरूप पृथ्वीराज चौहान मुहम्मद गोरी से पराजित हुआ और मारा गया। फिर कन्नौज और कालिंजर का पतन हुआ। दिल्ली में तुर्क सल्तनत स्थापित हुई और शनैः शनैः उसका विस्तार हुआ। यद्यपि उसका विरोध करने वाले सर्वत्र रहे और डट कर वे

उसके सरदारों से लोहा लेते रहे फिर भी मुस्लिम पताका प्रायः सारे उत्तरी भारत में फहराने लगी।

राजनीतिक परिस्थितियों के सर्वेक्षण के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि हिन्दुओं में अपना राज्य फैलाने की लालसा लिये अनेक वीर थे किन्तु विदेशी आक्रमण के समय अपने पड़ोसी राज्य से उदासीन रहते थे। उनमें संकुचित राष्ट्रीयता थी। अपने दस-पचास गाँवों को ही राष्ट्र समझते रहे। व्यापक रूप से समूचे भारत को राष्ट्र नहीं समझा। यही कारण है कि वैयक्तिक वीरता होते हुए भी उन्हें पराजित होना पड़ा। यदि सम्मिलित रूप से विदेशी आक्रमणों का सामना किया गया होता तो निश्चित रूप से भारत का मानचित्र आज कुछ और होता। उस समय सामन्तवाद का बोलबाला था। राजा को सर्वोपरि सत्ता के रूप में समझा गया और उचित-अनुचित आज्ञा पर मर मिटना अपना धर्म समझा गया। जनता में राजनीतिक चेतना का ह्रास हो चुका था और वह अन्तःकलह, ईर्ष्या तथा द्वेष से बुरी तरह ग्रस्त हो चुकी थी। राजनीतिक दृष्टि से भारतीय इतिहास का यह काल पतन का काल कहा जाना चाहिये।

धार्मिक परिस्थितियाँ—इस काल में वैदिक और पौराणिक धर्म के विविध रूपों के साथ बौद्ध और जैन धर्म भी अपने वास्तविक आदर्शों से दूर हट गये। शंकराचार्य (वि० ८४५-८७७) के प्रबल प्रहारों से बौद्ध धर्म को अत्यधिक आघात पहुँचा और वह अब जन्त्र, मन्त्र, तन्त्र की सिद्धियों के चक्र में ही पड़ कर रह गया। उसने महायान, वज्रयान, सहजयान और मन्त्रयान आदि कई रूप धारण किये। इन सम्प्रदायों का व्यावहारिक पक्ष बड़ा ही अनिष्टकारी सिद्ध हुआ। इन सम्प्रदायों में अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति और उनका प्रदर्शन ही सिद्धि समझा गया। सिद्धि लाभ के लिये गुप्त मन्त्रों का जाप, आचारविहीन गुप्त क्रियाओं—विशेषकर निम्न वर्ग की नारियों से भोग आदि को अपनाया गया। इनकी योगिनियों के द्वारा मनुष्य की कामुकता को खूब बढ़ावा मिला। चमत्कार प्रदर्शनार्थ निरीह जनता को ठगने की प्रवृत्ति बढ़ी। नैतिक स्तर गिरा और धर्म के नाम पर अधर्म का प्रचार होने लगा।

बौद्धों के अतिरिक्त वैष्णवों के पांचरात्र, शैवों के पाशुपत, कालमुख, कापालिक और रसेश्वरादि सम्प्रदायों में भी बौद्ध संप्रदायों की पूजा-पद्धति का अनुकरण होने लगा। शाक्तों में आनन्द भैरवी, त्रिपुर सुन्दरी, ललितादि की अर्चना की यही प्रणाली है। जैन सम्प्रदाय में भी इसी तान्त्रिक वामाचार पद्धति का प्रचार हुआ। इस प्रकार समाज का बहुत बड़ा क्षेत्र उस वामाचार एवं विकृत धर्म का क्रीड़ा-क्षेत्र बना। यह सारी प्रक्रिया समाज के निम्न वर्ग में चलती रही। बीच-बीच में समाज को इन वामाचारियों के चंगुल से बचाने के भी प्रयास होते रहे। नाथ योगियों ने बहुत कुछ वज्रयानियों की तान्त्रिक उपासना पद्धति को अपनाया किन्तु आगे चलकर गुरु गोरखनाथ ने इस सम्प्रदाय में योग की प्रतिष्ठा की जिसमें, संयम और आचार के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार तमिलनाड के वैष्णव भक्त आलवार और

शैवभक्त नायन्मार भक्ति के लोक हितकारी रूप को लेकर आये।

शंकर, रामानुज और निम्बार्क आदि आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, किन्तु लोक-व्यवहार के लिये शिव और नारायण की उपासना की पद्धति चलाई। साथ ही नैष्ठिक हिन्दुओं में आचार, विचार, व्रत, पूजादि की वैसी वृद्धि हुई जैसी जैनों में। पुराने धर्म को मानने वालों ने वाममार्ग की निन्दा करने में कोई कसर नहीं उठा रखी थी और दूसरी ओर वाममार्गियों ने इनकी पगड़ी उछालने में अति कर दी थी। निःसन्देह उस समय का धार्मिक वातावरण अत्यन्त दूषित हो गया था इस समय पुरोहितों और गुह्य भावना की प्रधानता थी।

अपभ्रंश में लिखित चौरासी सिद्धों और नाथ पंथियों का साहित्य बौद्ध धर्म के विकृत सम्प्रदायों की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का परिचायक है। शंकर आदि आचार्यों के आन्दोलन का प्रभाव आदिकालीन साहित्य पर विशेष रूप से नहीं पड़ा, भक्तिकालीन साहित्य पर पड़ा है।

इसी समय इस्लाम धर्म भी अपने अनुयायियों की विजय प्राप्ति तथा आतंक के फलस्वरूप पनपने लग गया था पर इसका प्रभाव आदिकालीन साहित्य पर नहीं पड़ा।

सामाजिक परिस्थितियां—जिस युग में धर्म और राजनीति की दीन-हीन दशा हो उसमें उच्च सामाजिकता की विशेष आशा नहीं की जा सकती है। अब जाति गुण और कर्म के आधार पर न होकर वर्ण के आधार पर मानी जाने लगी। एक जाति की अनेक उपजातियां होने लगीं। छुआछूत के नियम भी बड़े कड़े होते गये। हिन्दू जाति की पाचन शक्ति का प्रायः ह्रास हो चुका था। अलबरूनी इस सम्बन्ध में लिखता है—"उन्हें (हिन्दुओं को) इस बात की इच्छा नहीं होती कि जो वस्तु एक बार भ्रष्ट हो गई है उसे शुद्ध करके फिर ले लें।" उस समय के रूढ़िग्रस्त धर्म के समान समाज भी रूढ़िग्रस्त हो चुका था। उस समय सामन्ती वीरता और वंश-कुलीनता का बोलबाला था। राजपूत जाति की एक उल्लेखनीय विशेषता थी—वीरता और आत्मोत्सर्ग। राजपूत नारियां भी इस दिशा में किसी से पीछे नहीं रहीं, जौहर उनके आत्म-बलिदान और शौर्य का प्रतीक है। स्वयंवर प्रथा उस युग की एक अन्य सामाजिक विशेषता थी। बड़े आश्चर्य की बात है कि कभी-कभी स्वयम्वर जैसे पवित्र धार्मिक कृत्यों पर खून की नदियाँ बह जाया करती थीं। राजपूत दृढ़प्रतिज्ञ स्वामिभक्त तथा ईमानदार थे किन्तु वे कूटनीतिज्ञ और दूरदर्शी नहीं थे। जहाँ उनमें युग के प्रति रुचि थी, वहाँ उनमें भोग-विलास के प्रति भी खूब आसक्ति थी। उस समय के जन-सामान्य में मनोबल की कमी थी। इस सामाजिक अवस्था का चित्र तत्कालीन हिन्दी साहित्य में पूर्ण रूप से चित्रित हुआ है। तत्कालीन काव्यों के अध्ययन से उस समय की सामाजिक दशा के ह्रासोन्मुख होने का पता चलता है। राजाओं का जीवन विलासमय था। ऐश्वर्याभिभूत नृपति वर्ग का अधिकांश समय अन्तःपुर में अपनी महिषियों, उपपत्नियों तथा रक्षिताओं के साथ रंगरेलियों में बीतता था। राजा बहुपत्नीक थे। राजकुमारों को राजनीति, व्याकरण, तर्क शास्त्र, काव्यों,

नाटक, वात्स्यायन, रचित काम-शास्त्र, गणित, नवरस, मंत्र, तंत्र एवं वशीकरणादि की नाना विधियों की 'शिक्षा' दी जाती थी। स्त्री के सम्बन्ध में उस समय के समाज की धारणा कोई उच्च नहीं थी। उसे केवल भोग और विलास की सामग्री-मात्र समझा गया। बीसलदेव-रासो की नायिका के करुण क्रन्दन में कदाचित् मध्ययुगीन रसिक पुरुष की वासना से अभिभूत तत्कालीन नारी-समाज का चीत्कार-ध्वनित हो उठा है—

अस्त्रीक जन्म काईं दीधउ महेस।
अवर जन्य धारइ धणा रे नरेश॥

साहित्यिक परिस्थितियां—निःसन्देह यह युग भीतरी कलहों और बाह्य संघर्षों का युग था फिर भी इसमें संस्कृत साहित्य का निर्माण होता रहा। ज्योतिष दर्शन और स्मृति आदि विषयों पर टीकाएँ और टीकाओं पर भी टीकाएँ लिखी जाती रहीं। नाटक, कविता आदि के क्षेत्र में जहां पहले भवभूति और राजशेखर जैसे श्रेष्ठ साहित्यकार हुए वहां अब पांडित्य-प्रदर्शन और अलंकार-चमत्कार दिखाना ही कवि-कर्म समझा जाने लगा। बारहवीं शताब्दी में श्री हर्ष की "नैषध-चरित" इस बात का प्रमाण है। धारा का शासक भोज जहां स्वयं उच्च कोटि का विद्वान था वहां कवियों का आश्रयदाता और पालक भी था। भोज के "सरस्वती कण्ठाभरण" और "शृंगार प्रकाश" संस्कृत काव्य शास्त्र की अमर निधियां हैं। राजा भोज की राज-सभा में पद्मगुप्त और धनिक जैसे विद्वान् मौजूद थे, जयदेव जैसे सुकवि, कुन्तक, महिम भट्ट, क्षेमेन्द्र, हेमचन्द्र और विश्वनाथ जैसे तत्त्वविद् आचार्य और सोमदेव जैसे काव्यकार इसी समय में हुए। पर आदिकाल के हिन्दी साहित्य पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। कल्हण (सन् ११४६) ने राजतरंगिणी लिख कर एक नई दिशा में पग रखा। इस काल में निर्मित संस्कृत साहित्य को देख कर कहा जा सकता है कि शनैः शनैः उसमें नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का ह्रास होने लग गया था। उस समय अपभ्रंश और देशी भाषा में रचित रचनाओं में भी प्रायः यही बात है। इनमें अधिकतर धार्मिक विचार हैं। लगता है जैसे उन्हें दैनिक जीवन के घात-प्रतिघातों और राजनीतिक उथल-पुथल से कोई सरोकार नहीं था।

इस काल में वज्रयानी और सहजयानी सिद्धों, नाथ पंथी योगियों, जैन धर्म के अनुयायी विरक्त मुनियों एवं गृहस्थ उपासकों और वीरता तथा शृंगार का चित्रण करने वाले चारणों, भाटों आदि की रचनाएँ विशेष रूप से हुई। कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने अन्य विषयों में कविताएं कीं। इन सबका पृथक्-पृथक् रूप से आगे वर्णन किया जायेगा।

सिद्ध साहित्य

भारतीय साधना के इतिहास में ८वीं शती में सिद्धों की सत्ता देखी जा सकती है। सरहपा का समय ८१७ ठहरता है। ये सिद्ध कौन थे इस सम्बन्ध में भी विचार कर लेना आवश्यक है। सिद्ध परम्परा को बौद्ध धर्म की विकृति मानना चाहिए।

बुद्ध का निर्वाण ४८३ ई० पू० में हुआ। बुद्ध निर्वाण के ४५ वर्ष पश्चात् तक बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का खूब प्रचार हुआ। इस धर्म की विजय-दुन्दुभि देश तथा विदेशों में बजती रही। बौद्ध धर्म का उदय वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता एवं हिंसा के प्रतिक्रिया-रूप में हुआ। यह धर्म सहानुभूति और सदाचार के मूल तत्वों पर आधारित था।

ईसा की प्रथम शताब्दी में बौद्ध धर्म महायान तथा हीनयान दो शाखाओं में विभाजित हुआ। हीनयानी छोटे रथ के आरोही थे और महायानी बड़े रथ के आरोही। हीनयान शब्द का प्रयोग महायान सम्प्रदाय वालों की ओर से व्यंग्यात्मक रूप से हुआ। हीनयान में सिद्धान्त पक्ष का प्राधान्य रहा जबकि महायान में व्यावहारिकता का। महायान वाले अपनी गाड़ी में ऊँचे-नीचे, छोटे-बड़े, गृहस्थी, संन्यासी सबको बैठा कर निर्वाण तक पहुंचा सकने का दावा करते थे। हीनयान केवल विरक्तों और सन्यासियों को आश्रय देता था। इसमें ज्ञानार्जन, पांडित्य और व्रतादि की प्रधानता बनी रही। महायान वैष्णवों की भक्ति से अत्यन्त प्रभावित हुआ और इसका व्यावहारिक पक्ष शंकर के ज्ञान कांड से जुड़ गया।

वैसे तो गुप्त नरेशों के समय में बौद्ध धर्म को आघात पहुंच चुका था किन्तु वीं शती में कुमारिल भट्ट तथा शंकराचार्य ने इसकी जड़ें तक हिला दीं। बड़े आश्चर्य की बात है कि भारत का धर्म भारत से निर्वासित हो गया। तिब्बत, नेपाल और बंगाल में इसे शरण मिली। अब यह धर्म शंकर के शैव धर्म से प्रभावित हुआ और इसने जनता को अपने आश्रय में लाने के लिए तन्त्र-मन्त्र एवं अभिचार का आश्रय लिया। जो धर्म वैदिक धर्म की कर्मकांड की उलझनों की प्रतिक्रिया में उठा था वही समाधि, तन्त्र-मन्त्र, डाकिनी शाकिनी, भैरवी-चक्र, मद्य-मैथुन में उलझ गया और सदाचार से हाथ धो बैठा। जिस धर्म ने ईश्वर का अस्तित्व तक स्वीकार नहीं किया था, कालान्तर में उसी में बुद्ध की भगवान के रूप में पूजा होने लगी और आगे चल कर तन्त्र ने इस धर्म को अपनी मूल दिशा से एकदम नई राह में मोड़ दिया। अब इसमें त्याग और संयम का स्थान भोग और सुख ने ले लिया। निवृत्ति-परायण धर्म में प्रवृत्ति प्रबल हुई और साधक "सर्वतथागतात्मकोऽहं" जैसे मन्त्रों को जप कर अपने आपको बुद्ध समझने लगा। इस प्रकार महायान मन्त्रयान बन गया। आगे चलकर इसके भी दो टुकड़े हो गये, वज्रयान तथा सहजयान जो सचमुच अपनी गाड़ी को इतना मजबूत और सहज बना सके कि उसमें पाण्डित्य और कृच्छ्र-साधना का कोई अंग ही नहीं रहा। आगे चलकर वाम मार्ग भी इसी से निकला जो विकृत अवस्था का एक हीन चित्र है।

मन्त्रों द्वारा सिद्धि चाहने वाले सिद्ध कहलाये। उत्तरी भारत में शंकर के मत के प्रचार से बौद्ध धर्म के लिए केवल दक्षिणी भारत में स्थान रह गया था। आन्ध्र नरेश से इन्हें पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। श्री पर्वत सिद्धों का प्रधान केन्द्र था।

"मन्जू श्री" और "मूल कल्प" नामक ग्रंथ यहीं लिखे गये । "राजशेखर की "कर्पूर मंजरी" पर सिद्धों का स्पष्ट प्रभाव है। पाल शासकों ने बंगाल और बिहार पर अपना आधिपत्य जमा लिया था अतः सिद्धों का प्रचार वहाँ भी हुआ, वहां इनकी मगही भाषा में रचनाएँ मिलती हैं । "विक्रम शिला" बौद्ध विश्वविद्यालय की स्थापना भी इसी काल में हुई । इन सिद्धों के बंगाल और बिहार में अत्यधिक प्रचार के कारण कदाचित् बंगाल का जादू प्रसिद्ध हो सका ।

यद्यपि वज्रयानी परम्परा को लेकर इन सिद्ध कवियों ने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया किन्तु इन सिद्धों में विशेष बात यह थी कि वे ईश्वरवाद की ओर अग्रसर हो रहे थे। इन्होंने गृहस्थ जीवन पर बल दिया। इनके लिए स्त्री का सेवन संसार रूपी विष से बचने के लिए था। जीवन के स्वाभाविक भोगों में प्रवृत्ति के कारण सिद्ध साहित्य में भोग में निर्वाण की भावना मिलती है। जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों में विश्वास के कारण सिद्धों का सिद्धान्त पक्ष सहज मार्ग कहलाया।

चौरासी सिद्धों का समय ७६७ से १२५७ तक माना गया है। हमें १४ सिद्धों की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। सरहपा, शबरपा आदि इनमें प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक सिद्ध के नाम के पीछे "पा" शब्द जुड़ा हुआ है।

धर्मवीर भारती ने सिद्ध साहित्य में उपलब्ध होने वाली अश्लीलता पर आध्यात्मिकता का आरोप करना चाहा है किन्तु हमारे विचार में उस पर रहस्यात्मक प्रतीकात्मक आरोपित करना असंगत है।

डॉ० भारती ने सिद्धों के प्रज्ञोपायात्मक साहित्य को साधारणजन के आस्वाद का विषय न बता कर उसे मुमुक्षु जनों के लिए निर्मित बताया है । उन्होंने सिद्धों की शब्दावली की दार्शनिक व्याख्या करते हुए इसे आध्यात्मिक घोषित कर सिद्ध साहित्य के उत्कट भोगवाद को गौण सिद्ध करना चाहा है, किन्तु हमारा विचार है कि सिद्धों का तथाकथित रहस्यवादी साहित्य किसी भी कारण अलौकिक प्रेम का काव्य नहीं कहा जा सकता है। सिद्ध साहित्य में गहन रहस्यात्मक अनुभूतियों की खोज समस्त तांत्रिक धारा के प्रवाह को प्रतीपी दिशा में मोड़ने के अनावश्यक प्रयत्न के सिवाय और कुछ भी नहीं है। कभी ऐसा अवश्य था जब कि समस्त सिद्ध साधना और तत्कालीन समाज अश्लीलता और कामुकता के प्रवाह में बेसुध हो चला था। यही कारण है कि इस बढ़ती विलासिता का प्रतिवाद गोरखनाथ को करना पड़ा था—

चारि पहिर आलिंगन निद्रा, संसार जाई विषया बाही।"

सिद्ध प्रायः अशिक्षित और हीन जाति से सम्बन्ध रखते थे, अतः उनकी साधना की सायन भूत मुद्रायें—कापाली, डोम्बी आदि नायिकायें भी निम्न जाति की हैं, क्योंकि उनके लिए ये ही सुलभ थीं । इनकी सांध्य भाषा की उलझी हुई शब्दावली में उनके अधकचरे दार्शनिक (pesvdo philosphers) होने का आभास भले ही मिल जाय किन्तु असल में वे दार्शनिक नहीं हैं और न ही दर्शन की कोई

ऊँची वस्तु देना उनका उद्देश्य था। उन्होंने धर्म और आध्यात्म की आड़ में जन-जीवन के साथ विडम्बना करते हुए नारी का उपभोग किया। बस यही उनका चरम गन्तव्य था। उनके कमल और कुलिश योनि और शिशन के प्रतीक मात्र हैं।

सिद्धों की कुछ रचनाएँ अपभ्रंश भाषा में हैं। वह भाषा अर्धमागधी अपभ्रंश के निकट की है। इसे संध्या भाषा भी कहा जाता है क्योंकि यह भाषा अपभ्रंश के सध्या काल में प्रचलित थी।

इनकी रचनाओं में शान्त और शृंगार रस उपलब्ध होते हैं। भले ही काव्य लक्षणों के अनुसार इनकी रचनाओं में रस का परिपाक न हुआ हो परन्तु उसमें अलौकिक आनन्द तथा आत्म-तोष का प्रवाह अवश्य है। उसे अलौकिक रस कहा जा सकता है। यही रस कबीर, मीरा और दादू की रचनाओं में मिलता है। उदाहरणार्थ सरहपा की दो पंक्तियां देखिए—

> जब्बे मण अत्थमण जाइ, तणु तुट्टइ बंधण।
> तब्बे समरस सहजे वज्जइ सुद्ध न बम्हण॥

सिद्ध साहित्य में दोहा, चौपाई और चर्या गीत आदि छन्द मिलते हैं।

सिद्ध साहित्य के विविध रूप—सिद्धों के साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) नीति तथा आचारमय, (ख) उपदेशात्मक, (ग) साधना-सम्बन्धी अर्थात् रहस्यवादी। इसके अतिरिक्त सिद्ध साहित्य में फुटकर रूप के कतिपय काव्य शास्त्रीय बातों की भी प्रासंगिक रूप से चर्चा मिलती है। सिद्ध साहित्य में साधक तथा डोम्बी और शबरी आदि परस्पर आश्रय और आलम्बन हैं। गुरु दौत्य कार्य सम्पन्न करता है। कापालिका आदि नायिकाओं को स्वकीया, परकीया सामान्या, प्रौढ़ा, मुग्धा, मध्या एवं अभिसारिका आदि की कोटि में रखा जा सकता है। चर्या पदों में शृंगार के नायकारब्ध तथा नायिकारब्ध दोनों रूप मिलते हैं। उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत नायिका का सौन्दर्य तथा प्राकृतिक वर्णन आते हैं।

सिद्धादि तांत्रिक सम्प्रदायों की सामान्य प्रवृत्तियां—सिद्धों के तांत्रिक सम्प्रदाय के समानान्तर काल में शैवागमों के कापालिक रसेश्वर जंगम, पाशुपत लिंगायत आदि सम्प्रदायों का प्रचलन हुआ। शाक्तों के वीर आदि सम्प्रदाय वैष्णवों के पांचरात्र आदि-सम्प्रदाय तथा नाथ-संप्रदाय आदि भी उस समय निज-निज मन्तव्यों के प्रसारण में परायण थे। उक्त सभी संप्रदाय भारतीय धर्म साधना के मध्ययुगीन तांत्रिक प्रभाव से अत्यधिक प्रभावित थे। निःसन्देह भिन्न-भिन्न संप्रदायों की पारिभाषिक शब्दावली में थोड़ा बहुत अन्तर रहा हो किन्तु इस रूप में प्रवृत्तिगत एकता दृष्टिगोचर होती है—

सामान्य प्रवृत्तियां—(१) प्रत्येक तांत्रिक संप्रदाय में देवता, मन्त्र और तत्त्व-दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली भिन्न-भिन्न है, किन्तु साधना पद्धति सबकी समान है।

(२) प्रत्येक सम्प्रदाय में शास्त्रीय चिन्तन पक्ष गौण था। साधना क्रिया और चर्यापदों की प्रमुखता थी। साधनापक्ष में गुरु को अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया। तांत्रिक साधन में शिव-शक्ति, लिंग-अंग, प्रज्ञा-उपाय, रस-अभ्रक आदि की अद्वय स्थिति पर अत्यधिक बल दिया है।

(३) तांत्रिक संप्रदायों की साधना पद्धति में शिव और शक्ति की युगनद्धता और उसकी मिथुनात्मक व्याख्या मिलती है। प्रत्येक सम्प्रदाय की साधना में गुह्याचारों पर अत्यधिक बल दिया गया है।

(४) तांत्रिक साधना में जाति-पाँति और वर्ण भेद आदि की भरसक निन्दा की गई है।

(५) इन संप्रदायों में योग साधना पर भी अत्यधिक बल दिया गया है। तांत्रिक साधना के लिए शरीर-शुद्धि प्रथम आवश्यक उपबन्ध है। ब्रह्मांड में जो शिव और शक्ति है शरीर में वही सहस्राधार और कुण्डलिनी है। उनकी अद्वयता के लिए योग-साधना अनिवार्य है।

(६) मिथुनात्मकता साधना की निरूपण पद्धति सर्वथा सांकेतिक है।

(७) प्रत्येक संप्रदाय में वैदिक देवताओं के प्रति अनास्था प्रकट की गई है और उनके स्थान पर लोक देवताओं और उनकी असंस्कृत पूजन पद्धतियों को प्रश्रय दिया गया है।

(८) सब संप्रदायों ने ब्राह्मणवाद की पौराणिक रूढ़ियों का खंडन और वेदों के प्रति असम्मान दर्शाया है।

(९) तांत्रिक साधना में मरणोपरान्त मुक्ति या निर्वाण प्राप्ति की अपेक्षा जीवन काल में सिद्धियों को प्राप्त करना श्रेयस्कर बताया गया है।

(१०) चमत्कार प्रदर्शन सभी संप्रदायों में समान रूप से मिलता है। मंत्र-यंत्र और बीजाक्षरों का प्रचलन रूप संप्रदायों में समान रूप से हुआ। सब संप्रदायों में गुह्य साधना के व्याज से कामशास्त्रीय विधियों का समावश परोक्ष रूप से हुआ।

(११) तांत्रिक काल में उद्भूत वैष्णवों के पांचरात्र सम्प्रदाय में उपासना के चार अंग स्वीकार किये गये हैं—ज्ञानपाद, योगपाद, क्रियापाद और चर्यापाद। क्रियापाद का सम्बन्ध मूर्तियों और मन्दिरों के निर्माण से है और चर्यापाद का सम्बन्ध मंत्रों एवं तंत्रों की व्याख्या से है। इस प्रकार चमत्कार प्रिय युग में मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण में कृत्रिमता और अलंकरण-प्रियता को स्थान मिलने लगा। इस प्रकार रीतिकाल में कलागत जिस सज्जावाद चमत्कारिकता और कृत्रिमता के दर्शन होते हैं, उसका आरम्भ तांत्रिक काल में ही हो गया था। यह दूसरी बात है कि रीतिकाल के सामन्ती प्रभाव तथा ईरानी कलाओं के मिश्रण की प्रक्रिया से उक्त प्रवृत्तियों में और भी गहरा रंग उभर आया हो। रीतिकाल में कलागत अलंकरण और चमत्कृति-प्रियता के लिए केवल मुगल शासन ही उत्तरदायी नहीं है।

उसके मूल बीज इस धरती पर पहले से विद्यमान थे। काव्य क्षेत्र में अलंकार रीति और वक्रोक्ति संप्रदाय इसके उदाहरण हैं। मध्ययुगीन भारतीय स्थापत्य कला भी इस विषय में साक्षात् निदर्शन है।

सिद्ध साहित्य का प्रभाव एवं महत्त्व—चारण साहित्य तत्कालीन राजनीतिक जीवन की प्रतिच्छाया है परन्तु यह सिद्ध साहित्य सदियों से आने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का एक स्पष्ट उल्लेख है। इसने हमारे धार्मिक विश्वास की शृंखला को और भी मजबूत किया है। आगे पूर्व मध्यकाल एवं उत्तर मध्यकाल में जो गोपी-लीला एवं अभिसार के वर्णन मिलते हैं, सिद्ध साहित्य में उसका पूर्व रूप देखा जा सकता है। सिद्धों की उलझी हुई उक्तियों को कबीर की उलटबाँसियों का प्रेरक समझना चाहिए।

भाषा की दृष्टि से भी सिद्ध साहित्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सन्त साहित्य का आदि इन सिद्धों को, मध्य नाथपंथियों को और पूर्ण विकास कबीर से आरम्भ होने वाली सन्त परम्परा में नानक, दादू और मलूक आदि को मानना चाहिए। भक्तों के अवतारवाद पर महायान शाखा का विशेष प्रभाव है। डा० हजारीप्रसाद का कहना है कि भक्तिवाद पर सिद्धों का प्रभाव है, ईसाई मत का कोई प्रभाव नहीं है। सिद्ध साहित्य का मूल्यांकन करते हुए हिन्दी के एक प्रसिद्ध विद्वान् आलोचक ने लिखा है—"जो जनता नरेशों की स्वेच्छाचारिता, पराजय या पतन से त्रस्त होकर निराशावाद के गर्त में गिरी हुई थी, उसके लिए इन सिद्धों की वाणी ने संजीवनी का कार्य किया। निराशावाद के भीतर से आशावाद का सन्देश देना, संसार की क्षणिकता में उसके वैचित्र्य का इन्द्रधनुषी चित्र खींचना इन सिद्धों की कविता का गुण था और उसका आदर्श था जीवन की भयानक वास्तविकता की अग्नि से निकाल कर मनुष्य को महा-सुख के शीतल सरोवर में अवगाहन कराना।"

आचार्य शुक्ल सिद्धों और नाथों के साहित्य को धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कह कर उसे शुद्ध रागात्मक साहित्य की कोटि में स्थान नहीं देते। उनका कहना है—"उनकी (सिद्धों, नाथों, जैनों) रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उन रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की और धारा नहीं कह सकते।" हमारा विचार है कि आचार्य शुक्ल ने इन रचनाओं का महत्व आंकते समय पूर्ण न्याय नहीं किया है। डॉ० रामकुमार वर्मा के विचार इस सम्बन्ध में अवलोकनीय हैं—"सिद्ध साहित्य का महत्व इस बात में बहुत अधिक है कि उससे हमारे साहित्य के आदि रूप की सामग्री प्रामाणिक ढंग से प्राप्त होती है। चारणकालीन साहित्य तो केवलमात्र तत्कालीन राजनीतिक जीवन की प्रतिच्छाया है। यह सिद्ध साहित्य शताब्दियों से आने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का स्पष्ट उल्लेख है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी यह साहित्य एक महत्वपूर्ण काल है।"

साहित्यिक उदात्तता और परिपक्वता की दृष्टि से उक्त साहित्य को कोई विशेष महत्वपूर्ण नहीं है और कदाचित् इसीलिए यह उपेक्षणीय भी रहा है। किन्तु इन सिद्धों की इतनी साहित्यिक देन अवश्य है कि इन्होंने अनेक चर्यापदों को विविध रागों में लिखकर परवर्ती गीतिकाव्यकारों जयदेव, विद्यापति और सूरदास आदि के लिए मार्ग खोल दिया। शृंगार को काम-समन्वित बना इन्होंने उसमें नाना कामकलाओं का वर्णन किया। इस प्रकार इन्होंने भागवतकार और गीत-गोविन्दकार जयदेव के लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी। कतिपय विद्वानों का विचार है कि दर्शन क्षेत्र में इन लोगों ने शंकर के मायावाद के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया और उनके अद्वैतवाद को बौद्धों की शताब्दियों से चली आती हुई शून्य सम्बन्धी-चिन्तन धारा ने, अग्रसर करने के लिए कोई कम महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया।

नाथ-साहित्य

नाथ संप्रदाय का विकास—वज्रयान की सहज साधना नाथ संप्रदाय के रूप में पल्लवित हुई। जीवन को कर्मकाण्ड के जाल से मुक्त कर सहज रूप की ओर ले जाने का श्रेय नाथों को ही जाता है। इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय को सिद्धों का विकसित तथा शक्तिशाली रूप कहना चाहिए। सिद्धों की विचारधारा को लेकर इस सम्प्रदाय ने उसमें नवीन विचारों की प्राण-प्रतिष्ठा की। उन्होंने निरीश्वरवादी शून्य को ईश्वरवादी शून्य बना दिया। नाथ सम्प्रदाय वज्रयान की परम्परा में शैवमत की क्रोड में पला। १४वीं शती तक इस सम्प्रदाय के साहित्य ने साहित्य और धर्म का शासन किया। इस प्रकार नाथ युग सिद्ध युग और सन्तों के बीच की कड़ी माना जा सकता है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि नाथ संप्रदाय का विकास पूर्ण स्वतन्त्र रूप से हुआ—"यदि नाथ लोग सिद्धों के दिखाये हुए मार्ग को अपना साधन चुन लेते तो उनको कोई भी महत्व न मिलता।"—(पूर्ण गिरि स्वामी) किन्तु यह मत भ्रांतिपूर्ण है। सन्त लोगों ने भी तो नाथ लोगों के दिखाये हुए मार्ग को चुना तो क्या उनको महत्त्व नहीं मिला? वास्तविक बात तो यह है कि सिद्धों ने जिस पथ की ओर संकेत किया था सन्तों ने उसे राजमार्ग बनाया, पुरानी विचारधारा में नवीन विचार-पद्धति का समावेश किया। प्रत्येक धार्मिक विचारधारा का इतिहास इस बात का साक्षी है कि युग की परिस्थितियों के अनुकूल उसमें संशोधन, परिवर्तन और परिवर्द्धन हुआ। बौद्ध धर्म और राम-साहित्य इस बात के साक्षी हैं। बौद्ध धर्म महायान से वज्रयान, वज्रयान से सहजयान और सहजयान से नाथ संप्रदाय के रूप में विकसित हुआ।

नाथ संप्रदाय पर कौल संप्रदाय का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। कौलों की अष्टांग योग की भावना को नाथों ने साधना के रूप में अपनाया। साथ-साथ नाथों ने कौलों की अभिचार प्रवृत्ति का तीव्रतम विरोध किया है। अष्टांग योग की साधना वज्रयान में भी रही है। हां, यह दूसरी बात है कि उक्त साधना सीधे रूप से नाथों

के यहाँ उनसे न आई हो। या यह भी संभव है इन नाथों ने वज्रयानियों के इस योग को भी अपना लिया हो।

विषय और सिद्धान्त—नाथ पंथ की दार्शनिकता, सैद्धान्तिक रूप से शैवमत के अन्तर्गत है और व्यावहारिकता की दृष्टि से हठ योग से सम्बन्ध रखती है। नाथ पंथ की ईश्वर संबंधी भावना शून्यवाद में है और यह वज्रयान से ली गई है। कबीर ने इसी शून्य को सहज, सुन्न, सहस्रदल कमल आदि नामों से पुकारा है। यह शून्य, क्रमानुसार अलख निरञ्जन होकर नाथ संप्रदाय में आया। नाथों ने निवृत्ति मार्ग पर विशेष बल दिया। इनके अनुसार वैराग्य से शब्द, स्पर्श आदि से मुक्ति संभव है। वैराग्य गुरु द्वारा संभव है अतः इनमें गुरु मन्त्र या गुरु दीक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये लोग शिष्य की अत्यन्त कठोर परीक्षा लिया करते थे अतः इनका सम्प्रदाय व्यापक रूप न ले सका। इसमें प्रचार की अपेक्षा मर्यादा रक्षण पर विशेष ध्यान दिया गया। इन्होंने कुछ आध्यात्मिक संकेत रहस्यात्मक शैली में, उलटबाँसियों में विचित्र रूपकों में किये जो साधारण जनता की समझ से बाहर थे, उन्हें वे ही समझ सकते थे जो कि इस मत में दीक्षित होते थे। इस संप्रदाय में इन्द्रिय निग्रह पर विशेष बल दिया गया। इन्द्रियों के लिए सबसे बड़ा आकर्षण नारी है, अतः नारी से दूर रहने की भरसक शिक्षा दी गई है। संभव है कि गोरखनाथ ने बौद्ध विहारों में भिक्षुणियों के प्रवेश का परिणाम और उनका चारित्रिक पतन देखा हो तथा कौल पद्धति या वज्रयान के वाममार्ग में भैरवी और योगिनी रूप नारियों की ऐन्द्रिक उपासना में धर्म को विकृत होते देखा हो। गोरख ने अपने शिष्यों को नारी से सदा दूर रहने का आदेश दिया। कबीर में नारी विरोध का जो स्वर मिलता है, उसे भी इसी प्रतिक्रिया का परिणाम समझना चाहिये। इन्द्रिय-निग्रह के बाद प्राण-साधना तथा इसके पश्चात् मनःसाधना पर अधिक बल दिया। मनःसाधना से तात्पर्य है मन को संसार से खींच कर अन्तःकरण की ओर उन्मुख कर देना। मन की जो स्वाभाविक गति बाह्य जगत की ओर है उसे पलट कर अन्तर जगत की ओर करना ही मन की साधना की कसौटी है। यही उलटने की क्रिया उलटबाँसियों का आधार है। इनमें अनेक क्रियाओं का भी उल्लेख है। उदाहरणार्थ, नाड़ी साधन, कुंडलिनी, इंगला, पिंगला, सुषम्णा आदि का, वर्णन है। ब्रह्मरन्ध्र, षट्चक्र, सुरत योग और अनहद नाद आदि का भी इनके यहाँ उल्लेख है। इन्होंने शिव और शक्ति को आदि तत्व माना है। इन्होंने पाखण्ड का खुलकर खण्डन किया है।

नाथ सम्प्रदाय राजनीतिक गतिविधियों के प्रति भी तटस्थ नहीं था। गोरखनाथ के किसी शिष्य ने काफिर बोध में मुसलमानों के अत्याचारों का विरोध करते हुए कहा है—

> हिन्दू मुसलमान खुदाई के बन्दे,
> हम जोगी न कोई किसे के छन्दे।

नाथपंथ वालों ने अपने सिद्धांतों की मीमांसा जन-भाषा के आश्रय से साखियों और पदों में की। नीति, आचार, संयम और योगादि इनके साहित्य के प्रधान विषय हैं।

नाथ-योगियों की अनेक परम्पराएँ प्रसिद्ध हैं। चौरासी सिद्धों के समान नव नाथ भी प्रसिद्ध हैं जिनमें शिव ही आदि नाथ है और मत्स्येन्द्र नाथ (मछेन्द्र) जालन्धर नाथ, गोरखनाथ मुख्य हैं। इस सम्प्रदाय के प्रत्येक जोगी के नाम के अंत में नाथ शब्द जुड़ा हुआ है। इन नाथों की चौरासी सिद्धों में भी गणना की जाती है। सम्भव है ये पहले किसी सिद्ध सम्प्रदाय में रहे हों और पीछे उनसे अलग हो कर इस पंथ के अनुयायी बने हों।

नाथ साहित्य की देन—"गोरखनाथ ने नाथ सम्प्रदाय को जिस आन्दोलन का रूप दिया वह भारतीय मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ। उसमें जहाँ एक ओर ईश्वरवाद की निश्चित धारणा उपस्थित की गई वहां दूसरी ओर विकृत करने वाली समस्त परम्परागत रूढ़ियों पर भी आघात किया। जीवन को अधिक से अधिक संयम और सदाचार के अनुशासन में रखकर आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए सहज मार्ग की व्यवस्था करने का शक्तिशाली प्रयोग गोरख ने किया।"

(डा० रामकुमार)

"इसने परवर्ती सन्तों के लिए श्रद्धाचरण प्रधान धर्म की पृष्ठिभूमि तैयार कर दी थी। जिन सन्त साधकों की रचनाओं से हिन्दी साहित्य गौरवान्वित है, उन्हें बहुत कुछ बनी बनाई भूमि मिली थी।"—(आचार्य हजारी प्रसाद)। आगे चलकर द्विवेदी जी लिखते हैं—"इसकी सबसे बड़ी कमजोरी इसका रूखापन और गृहस्थ के प्रति अनादर भाव है। इसी ने इस साहित्य को नीरस लोक विद्विष्ट और क्षयिष्णु बना दिया था। फिर भी यह दृढ़ कंठ स्वर उत्तरी भारत के मार्मिक वातावरण को शुद्ध और उदात्त बनाने में सहायक हुआ। इस दृढ़ स्वर ने यहां धार्मिक साधना में गलदश्रु भावुकता और ढुलमुलेपन को आने नहीं दिया। परवर्ती हिन्दी साहित्य में चारित्रिक, दृढ़ता आचरण शुद्धि और मानसिक पवित्रता का जो स्वर सुनाई पड़ता है उसका श्रेय इस साहित्य को ही है। इसलिए इस पन्थ के साहित्य से परवर्ती हिन्दी साहित्य का बहुत घनिष्ठ संबंध है।

जैन साहित्य

महात्मा बुद्ध के समान महावीर स्वामी ने भी अपने धर्म का प्रचार लोक भाषा के माध्यम से किया। इस प्रकार जैन धर्म के अनुयायियों को अपने धार्मिक सिद्धांतों का ज्ञान अपभ्रंश में प्राप्त हुआ। वैसे तो जैन उत्तर भारत में जहां तहां फैले रहे किन्तु आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक काठियावाड़ गुजरात में इनकी प्रधानता रही। वहां के चालुक्य, राष्ट्रकूट और सोलंकी राजाओं पर इनका पर्याप्त प्रभाव रहा।

महावीर स्वामी का जैन धर्म, हिन्दू धर्म के अधिक समीप है। जैनों के यहां

भी परमात्मा तो है पर वह सृष्टि का नियामक न होकर चित्त और आनन्द का स्रोत है, उसका संसार में कोई सम्बन्ध नहीं। प्रत्येक मनुष्य अपनी साधना और पौरुष से परमात्मा बन सकता है। उसे परमात्मा से मिलने की कोई आवश्यकता नहीं। इन्होंने जीवन के प्रति श्रद्धा जगाई और उसमें आचार की सुदृढ़ भित्ति की स्थापना की। अहिंसा, करुणा, दया और त्याग का जीवन में महत्वपूर्ण स्थान बताया। त्याग इन्द्रियों के अनुशासन में नहीं, कष्ट सहन में है। उन्होंने उपवास तथा व्रतादि कृच्छ् साधना पर अधिक बल दिया है और कर्म कांड की जटिलता को हटा कर ब्राह्मण तथा शूद्र को मुक्ति का समान भागी ठहराया।

जैन मुनियों ने अपभ्रंश में प्रचुर रचनाएँ लिखीं जो कि धार्मिक हैं। इनमें सम्प्रदाय की रीति नीति का पद्य-बद्ध उल्लेख है। अहिंसा, कष्ट सहिष्णुता, विरक्ति और सदाचार की बातों का इनमें वर्णन है। कुछ गृहस्थ जैनों का लिखा हुआ साहित्य भी उपलब्ध होता है। इनके अतिरिक्त उस समय के व्याकरणादि ग्रन्थों में भी इस साहित्य के उद्धरण मिलते हैं। कुछ जैन कवियों ने हिन्दुओं की रामायण और महाभारत की कथाओं से राम और कृष्ण के चरित्रों को अपने धार्मिक सिद्धांतों और विश्वासों के अनुरूप अंकित किया है। इन पौराणिक कथाओं के अतिरिक्त जैन महापुरुषों के चरित्र लिखे गये तथा लोक प्रचलित इतिहास प्रसिद्ध आख्यान भी जैन धर्म के रँग में रंग कर प्रस्तुत किये गये। इसके अतिरिक्त जैनों ने रहस्यात्मक काव्य भी लिखे हैं। इस साहित्य के प्रणेता शील और ज्ञान-सम्पन्न उच्चवर्ग के थे। अत: उनमें अन्य धर्मों के प्रति कटु उक्तियाँ नहीं मिलती हैं और न ही लोक-व्यवहार की उपेक्षा मिलती है। इनके साहित्य में धार्मिक अंश को छोड़ देने पर उसमें मानव-हृदय की सहज कोमल अनुभूतियों का चित्रण मिलता है।

इस प्रकार हमने देखा कि जैन साहित्य के अन्तर्गत पुराण साहित्य, चरित्र काव्य, कथा काव्य एवं रहस्यवादी काव्य सभी लिखे गये। इसके अतिरिक्त व्याकरण ग्रन्थ तथा शृंगार, शौर्य, नीति और अन्योक्ति सम्बन्धी फुटकर पद्य भी लिखे गये। पुराण सम्बन्धी आख्यानों के रचयिताओं में स्वयंभू, पुष्पदन्त, हरिभद्र, सूरि, विनयचन्द्र सूरि, धनपाल, जोइन्दु तथा रामसिंह का विशेष स्थान है।

स्वयंभू—(आठवीं शती) ने पउम चरिउ (पद्म चरित) और रिट्ठणेमी चरिउ (अरिष्टनेमि चरित—हरिवंश पुराण) प्रबन्धों के अतिरिक्त छन्द शास्त्र से संबंधित "स्वयंभू छन्दस" की भी रचना की। पद्म चरित में राम की कथा है और अरिष्टनेमि चरित में कृष्ण की। इन्होंने नाग कुमार चरित नामक एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा है किन्तु इनकी कीर्ति का आधार स्तम्भ पद्म चरित ही है। इन्हें अपभ्रंश का बाल्मीकि माना जाता है। इन्होंने अपनी रामायण में केवल पांच कांड रखे हैं और उनका नाम बाल्मीकि रामायण के कांडों से मिलता है। इन्होंने बाल कांड का नाम विद्याधर कांड रखा है। अरण्य तथा किष्किन्धा कांड को एकदम उड़ा दिया

है। स्वयंभू ने जैन धर्म की प्रतिष्ठा के लिए राम की कथा में यत्र-तत्र परिवर्तन कर दिये हैं और कुछ नये प्रसंग जोड़ दिये हैं। पद्म चरित में कथा प्रसंगों की मार्मिकता, चरित्र-चित्रण की पटुता, स्थल एवं प्रकृति वर्णन की उत्कृष्टता, और आलंकारिक तथा हृदयस्पर्शी उक्तियों की प्रचुरता दर्शनीय है। सीता के चरित्र की उदारता दिखाने में कवि ने कमाल ही कर दिया है और इसी प्रकार अरिष्टनेमि चरित में द्रौपदी के चरित्र को भी अपनी तूलिका से एकदम निखार दिया है। नारी-चरित्रों के प्रति लेखक ने अतीव सहानुभूति और दक्षता से काम लिया है। इनकी कविता का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

एमहि तिह करोनि पुणु रहुवइ।
जिह ण होमि पडिवारें तिय मई।

सीता की अग्नि परीक्षा के पश्चात् राम ने क्षमा-याचना कर ली और भारतीयता की मूर्ति किन्तु परित्यक्त स्नेहशीला सीता देवी ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा—'इसमें न तुम्हारा दोष है न जन समूह का। दोष तो दुष्टकृत कर्म का है और इस दोष से मुक्त होने के लिए एक मात्र उपाय यही है कि ऐसा किया जाय जिससे फिर स्त्री योनि में जन्म न लेना पड़े।" इस कथन में नारी हृदय की वेदना कितनी बड़ी मात्रा में छिपी हुई है। नारी पर पुरुष के अत्याचार की इतनी मार्मिक अनुभूति और क्या हो सकती है। डॉ० नामवरसिंह इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"स्वयंभू के काव्य का परिसर बहुत व्यापक है। हिमालय से लेकर समुद्र तक, रनिवासों से लेकर जनपदों तक, राजकीय जल क्रीड़ा से लेकर युद्धक्षेत्र तक, जीवन के सभी क्षेत्रों में उनका प्रवेश है। वे प्रकृति के चित्रकार हैं, भावों के जानकार हैं, चिंतन के आगार हैं। अपभ्रंश भाषा पर ऐसा अचूक अधिकार किसी भी कवि का फिर दिखाई नहीं पड़ा। अलंकृत भाषा तो बहुतों ने लिखी, किन्तु ऐसी प्रवाहमयी और लोक प्रचलित अपभ्रंश भाषा फिर नहीं लिखी गई। स्वयंभू सचमुच ही अपभ्रंश के वाल्मीकि हैं, परवर्ती अपभ्रंश कवियों ने उन्हें वैसे ही श्रद्धा के साथ स्मरण किया है।"

पुष्पदन्त (दसवीं शती)—पुष्पदन्त या पुष्प काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे और शिवजी के भक्त थे किन्तु अन्त में जैन हो गये। इनके अनेक उपनाम थे इनमें एक "अभिमान मेरु" भी है क्योंकि यह स्वभाव से बड़े अक्खड़ और अभिमानी थे। इनके महापुराण के आदि पुराण खण्ड में तीर्थंकर ऋषभदेव, तेईस तीर्थंकरों तथा उनके समसामयिक महापुरुषों के चरित हैं। उत्तर पुराण में पद्म पुराण (रामायण) और हरिवंश (महाभारत) हैं। नाग कुमार चरित तथा यशोधरा चरित जैन धर्म से सम्बद्ध खण्ड काव्य हैं। पुष्पदन्त ने राम की कथा में बहुत अधिक परिवर्तन कर दिये हैं। इन्होंने श्वेताम्बर मतावलम्बी कवि गुणभद्र के उत्तर पुराण में वर्णित राम कथा का अनुसरण किया है। राम कथा की अपेक्षा इनकी वृत्ति कृष्ण काव्य में अधिक रमी है। वहां इन्होंने खूब रस लिया है और कथा में कोई खास परिवर्तन

भी नहीं किया। इन्हें अपभ्रंश भाषा का व्यास कहा जाता है। पुष्पदंत की अपेक्षा स्वयंभू अधिक उदार थे। पुष्पदंत अत्यन्त असहिष्णु थे और उन्होंने खुलकर ब्राह्मणों का विरोध किया है। ये दोनों कवि कालिदास और बाण की परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। दोनों दरबारी कवि थे और अपार ऐश्वर्य से उनका निकट का परिचय था। अतः भाषा, शैली, कल्पना और संगीत का जो ऐश्वर्य कालिदास और बाण में मिलता है वही स्वयंभू और पुष्पदन्त में भी उपलब्ध होता है।

अपभ्रंश भाषा में लिखे गये राम और कृष्ण काव्यों में कहीं-कहीं धार्मिकता का पुट अवश्य आ गया है परन्तु दिव्यता और अलौकिकता का रंग प्रायः नहीं है और भक्ति भावना का तो उसमें अभाव ही है। हिन्दी वैष्णव कवियों के राम और कृष्ण काव्यों से इनकी कोई तुलना नहीं है।

लौकिक कथाओं का आश्रय लेकर जैन धर्म की शिक्षा देने के लिए अनेक काव्य लिखे गये। इनमें धनपाल की "भविसयत्त कथा" प्रसिद्ध है जो कि एक भविष्यदत्त नामक बनिये से सम्बन्धित है। जोइन्दु के "परमात्म प्रकाश" तथा "योगसार" में सहिष्णुता का दृष्टिकोण है। रामसिंह के "पाहुड़ दोहा" में भी यही बात है। धर्म सूरि (१३वीं शती) के "जम्बू स्वामी रासा" में गृहस्थ जीवन की मधुरता की झाँकी है। हेमचन्द्र के "शब्दानुशासन" में अनेक दोहों में नारी-हृदय की मधुरता, रोमांस और शृंगार का हृदयहारी वर्णन है। "प्रबन्ध चिन्तामणि" में मुंज के प्रति मृणालवती के विश्वासघात की प्रतिक्रिया की मार्मिक उक्तियाँ हैं।

हिन्दी साहित्य के विकास में जैन धर्म का बहुत बड़ा हाथ है। अपभ्रंश भाषा में जैनों द्वारा अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। अपभ्रंश से हिन्दी का विकास होने के कारण जैन साहित्य का हिन्दी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। केवल भाषा-विज्ञान की दृष्टि ही से नहीं बल्कि हिन्दी के प्रारम्भिक रूप के सूत्रपात करने में भी इस साहित्य का गहरा हाथ है। अपभ्रंश साहित्य अपने आप में एक अत्यन्त व्यापक साहित्य है। इसमें महाकाव्यों, खंडकाव्यों, गीतिकाव्यों, ऐहिकतापरक लौकिक प्रेम काव्यों, धार्मिक काव्यों, रूपक साहित्य, कथा साहित्य, स्फुट साहित्य, गद्य साहित्य आदि साहित्य की नाना विधाओं का प्रणयन हुआ है। हिन्दी साहित्य की उचित जानकारी के लिए अपभ्रंशों के विशाल साहित्य के गहन अध्ययन की महती आवश्यकता है।

जैनेतर अपभ्रंश साहित्य में "सन्देश रासक", "कीर्तिलता" और "कीर्ति-पताका" नामक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। इसका वर्णन किसी अन्य प्रकरण में किया जायेगा।

अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

हिन्दी साहित्य के आदि काल में प्राप्त होने वाले जैनों, नाथों और सिद्धों के अपभ्रंश साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन कर चुकने के पश्चात् यह देखना है कि अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा। अपभ्रंश भाषा में

लिखित काव्यों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) जैन धर्म से साबद्ध काव्य।

(ख) सिद्धों और नाथ पंथियों का साहित्य।

(ग) फुटकर ग्रन्थ, सन्देश रासक, कीर्तिलता और कीर्तिपताका आदि।

अब हम देखेंगे कि अपभ्रंश साहित्य की भावधारा और काव्य रूपों का निर्वाह आगामी हिन्दी साहित्य में किस प्रकार हुआ है। हिन्दी साहित्य का अपभ्रंश से क्रमशः उद्भव और विकास हुआ। अतः वह अपभ्रंश से केवल बाह्य रूप से प्रभावित हो, यह बात नहीं है, बल्कि हिन्दी साहित्य का अपभ्रंश साहित्य से अत्यन्त निकट का गहरा सम्बन्ध है।

आदि काल पर प्रभाव—हिन्दी साहित्य के आदि काल में निर्मित चारण काव्यों—हम्मीर रासो, खुमान रासो, परमाल रासो तथा पृथ्वीराज रासो पर अपभ्रंशों के परवर्ती चरित काव्यों का प्रभाव स्पष्ट है। हिन्दी के ये रासो ग्रन्थ चाहे जब लिखे गये हों, इनमें चाहे जब-जब जितने भी प्रक्षेप हुए हों, परन्तु इन रासो काव्यों और चरित काव्यों की मूल प्रवृत्ति एक ही है। राजाओं के धन, वैभव पराक्रम और बहु-विवाहों का वर्णन दोनों काव्यों में समान रूप से मिलता है। रासो ग्रन्थों में वीर रस और श्रृंगार रस का सम्मिश्रण होता है और यही प्रवृत्ति महाकाव्यों में भी मिलता है किन्तु थोड़े अन्तर के साथ। चरित काव्यों में इन दो रसों के अतिरिक्त शान्त रस भी उपलब्ध होता है। रासो ग्रन्थों में वीर नायकों द्वारा भोगों का त्याग युद्ध भूमि में होता है जबकि चरित काव्यों के नायकों द्वारा भोगों का त्याग संसार की विरक्ति में होता है। किन्तु इससे यह समझना कि हिन्दी के रासो ग्रन्थों में अपभ्रंश के चरित काव्यों की रूढ़ियों और परम्पराओं का ही पालनमात्र या अन्धानुकरण हुआ है, भ्रम होगा। हिन्दी एक जीवन्त भाषा है और वह अपभ्रंश की जीवन्त प्राणधारा तथा परम्परा को लेकर चली है। उसमें अपभ्रंश साहित्य की उद्धरणीमात्र प्रस्तुत नहीं की गई है। उसमें हिन्दी के साहित्यकार की विकासोन्मुख प्रतिभा अपना ही पुट है जो कि सर्वथा अभिनन्दनीय है। हिन्दी के स्वतन्त्र चेता कलाकार की अपनी भी प्राण चेतना यत्र-तत्र उद्बुद्ध होती रही हैं। पृथ्वीराज रासो के शशिव्रता-विवाह और संयोगिता-स्वयंवर वाले प्रकरण किसी भी काव्य ग्रन्थ के लिए गौरव का विषय हो सकते हैं।

अपभ्रंश के लोक गीत तथा विरह काव्य और हिन्दी—अपभ्रंश की यह परम्परा संदेश रासक, भविसयत्त कथा जसहर चरिउ, ? कुमार चरिउ और करकंड चरिउ जैसे काव्यों तथा जैन मुनियों, बौद्धों तथा सिद्धों के दोहों और स्वयंभू तथा पुष्पदन्त के पौराणिक काव्यों में मिलती है। इस परम्परा का विकास हिन्दी काव्यों में अत्यन्त सुन्दर रूप से हुआ है और कहीं-कहीं तो अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्य को बहुत पीछे छोड़ गया है। उदाहरणार्थ, अपभ्रंश के संदेश रासक और हिन्दी के बीसलदेव रासो को लेते हैं। दोनों में लोक-जीवन का स्पर्श है और दोनों

ही विरह काव्य हैं। अन्तर केवल इतना है कि बीसलदेव रासो के आरम्भ में विवाह के भी गीत हैं और बीसलदेव के विदेश में जाने का भी प्रसंग है। संदेश रासक में षड्ऋतु वर्णन है जबकि बीसलदेव रासो में बारह-मासा का वर्णन। संदेश रासक में पथिक प्रोषितपतिका का सन्देश लेकर ज्यों ही प्रस्थान करता है कि विरहिणी का प्रियतम दिखाई पड़ जाता है और काव्य वहीं समाप्त हो जाता है किन्तु बीसलदेव रासो में पथिक सन्देश पहुँचाता है, राजा का आगमन होता है। इस प्रकार राजा और रानी के आनन्दपूर्ण मिलन के सुख में समाप्ति होती है। डा० नमवारसिंह इन दोनों काव्यों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"अभिव्यक्ति की सादगी और भावों की तीव्रता में बीसलदेव रासो संदेश रासक से कहीं अधिक लोक-जीवन के रंग में रंगा हुआ है। इसी से यह प्रमाणित होता है कि हिन्दी साहित्य के अभ्युदय काल में अपभ्रंश युग की अपेक्षा लोक-जीवन में जागृति अधिक आ गई थी और इसके फल-स्वरूप साहित्य में लोक तत्त्व का प्रवेश अधिक दूर तक होने लगा था।" इसी प्रकार एक अन्य लोक काव्य 'ढोला मारू रा दूहा" संदेश रासक के समान एक विरह काव्य है किन्तु इसमें प्रेमी जीवन के जिन घात-प्रतिघातों का वर्णन है, वह कदाचित् संदेश रासक में नहीं है।

अपभ्रंश कथायें तथा हिन्दी के आख्यान काव्य—अपभ्रंश की धनपाल की "भविसयत्त कहा" मूलतः एक लोक कथा है जिसके लिखने का उद्देश्य यह है कि जो मनुष्य द्वारा तिरस्कृत होता है उसकी मदद भगवान् या भाग्य करता है। इस प्रकार के आख्यान हिन्दी साहित्य में भी मिलते हैं। धार्मिक उद्देश्य के अनुसार लोक कथाओं को मोड़ देने की प्रवृत्ति कुछ और विकसित रूप में हिन्दी के आरम्भिक आख्यानों में भी पाई जाती है। इन आख्यानों का उपयोग सूफियों ने सबसे अधिक किया है। जायसी के पद्मावत में आध्यात्मिकता का पुट उसे "भविसयत्त कथा" से पृथक् कर देता है हालांकि दोनों हैं लोक कथा पर आधारित ही, किन्तु दोनों के उद्देश्य में भिन्नता है। उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि एक अन्य उदाहरण से भी हो जाती है। अपभ्रंश में राम और कृष्ण काव्य लिखे गये और भक्तिकाल में भी, परन्तु दोनों की प्राण धारा में महान् अन्तर है।

रासो ग्रंथों में छन्दों की विविधता है और यही वस्तु सन्देश रासक में भी दृष्टिगोचर होती है। सम्भव है कि सन्देश रासक जैसे और भी अपभ्रंश में लिखे गये काव्य होंगे जिनमें छन्दों का बहुविधि प्रयोग होगा।

कुछ रासो काव्यों का आरम्भ अपभ्रंश काव्यों के समान हुआ है। पृथ्वीराज रासो तथा सन्देश रासक के आरम्भिक पद्यों में बहुत कुछ समानता है।

बीसलदेव रासो पर "उपदेश रसायन रास" नामक अपभ्रंश काव्य का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। दोनों में कथा संक्षिप्त है, दोनों गीतात्मक काव्य हैं और दोनों में समान छन्द का प्रयोग है।

रासो काव्यों में तथा चरित काव्यों में उद्धृत शब्द योजना, समस्त पदावली और भाषा की गति की इतनी समानता है कि दोनों भाषाओं के महाकाव्यों में भाषा की एकता का भ्रम हो जाता है।

भक्ति काल पर प्रभाव—कबीर आदि सन्तों पर सिद्धों, नाथों और जैन धर्म के आचार्यों का स्पष्ट प्रभाव है। इन सम्प्रदायों में कर्मकांड की निंदा की गई है और आचार पक्ष पर अत्यन्त बल दिया गया है। कबीर में ये सारी बातें उपलब्ध होती हैं। कबीर आदि के लिए इन लोगों ने बहुत कुछ मार्ग तैयार कर दिया था। 'ढोला मारू रा दूहा' के प्रेम के दोहों का कबीर के ईश्वर प्रेम सम्बन्धी दोहों पर काफी प्रभाव है। सन्तों की संध्या भाषा, उलटवासियों का प्रयोग, रहस्यमयी उक्तियां तथा रूपकमयी रचनायें भी सिद्ध साहित्य से प्रभावित हैं। सूर के दृष्टकूटों का बीज भी इन सिद्धों की संध्या भाषा में देखा जा सकता है। जैनों और सिद्धों ने अपने धार्मिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए दोहों और गीतों की शैली को अपनाया है। यह शैली हमें कबीर विद्यापति और सूरदास आदि में दृष्टिगोचर होती है।

जायसी आदि सूफी कवियों ने अपनी लौकिक प्रेम कथाओं में आध्यात्मिकता का पुट दिया है। उधर जैन साहित्य में भी लौकिक प्रेम आख्यान लिखे गये हैं। किन्तु उनमें धर्म की पुट है। सूफियों की कथाओं का पर्यवसान आध्यात्मिकता में होता है, जबकि जैन कथाओं का पर्यवसान वैराग्य में होता है, सूफी काव्यों में नायिका की प्राप्ति के लिए नायक को सिंहलद्वीप की यात्रा करवाई गयी है। यहां पर योग का प्रभाव इन पर स्पष्ट है और असम्भव है कि यह प्रभाव अपभ्रंश काव्यों के द्वारा आया हो। अपभ्रंश काव्यों में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति पाई जाती है। उदाहरण के लिए 'करकंडु चरिउ' का नायक सिंहलद्वीप में जाकर वहां राजकुमारी को प्राप्त करता है। जायसी का वियोग-वर्णन संदेश रासक से प्रभावित दिखाई देता है। जायसी ने अपने काव्य में अनेक प्रकार के पकवानों और व्यंजनों की सूची प्रस्तुत की है जबकि सन्देश रासक में अनेक प्रकार की वनस्पतियों की नामावली दी हुई है। तुलसी और जायसी के महाकाव्यों में प्रयुक्त दोहा और चौपाई की पद्धति का स्रोत भी अपभ्रंश महाकाव्यों में देखा जा सकता है।

अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन से हिन्दी-जगत् में एक बहु-प्रचलित एवं व्यापक भ्रम का निवारण हो जाता है। प्रायः हिन्दी-साहित्य इतिहास लेखकों ने सूफी-कवियों जायसी आदि की दोहा, चौपाई आदि की शैली को ईरान साहित्य की मसनवी शैली का प्रतिरूप माना है, जो कि एक भ्रम है। दोहा चौपाई शैली का सूत्रपात भारत में अपभ्रंश साहित्य के मुसलमानी संपर्क से बहुत पहले हो चुका था। हमारा यह विश्वास है कि तुलसी और जायसी आदि कवियों ने अपने महनीय काव्यों में अपभ्रंशों की उक्त शैली का ही अनुकरण किया है। इसके अतिरिक्त ईरानी मसनवी शैली भारतीय प्रबन्ध काव्यों की शैली का ईरानी करण के सिवा और कुछ भी नहीं है। इस विषय की चर्चा हम सूफियों की प्रेम धारा के प्रसंग में आगे चल कर करेंगे।

सामूहिक रूप से भक्तिकाल पर अपभ्रंश साहित्य के प्रभाव की मात्रा अपेक्षाकृत नगण्य है। भक्ति साहित्य का प्रेरणा-स्रोत प्रत्यक्ष रूप से संस्कृत साहित्य है। भक्तिकाल में विभिन्न संप्रदायों के प्रवर्तक आचार्य संस्कृत के दिग्गज विद्वान थे। उन्होंने अपने सम्प्रदायों के दार्शनिक आधार की स्थापना संस्कृत साहित्य के दर्शन ग्रंथों, भक्ति सूत्रात्मक काव्यों तथा भागवत आदि ग्रंथों के आधार पर की। इसके अतिरिक्त भक्ति साहित्य तथा अपभ्रंश साहित्य के दृष्टिकोणों तथा बाह्य परिस्थितियों में भी काफी अन्तर है। वास्तव में यह एक बड़े आश्चर्य का विषय है कि हिन्दी का आदिकाव्य और उत्तर मध्यकाल-रीतिकाल तो अपभ्रंश साहित्य से थोड़े बहुत प्रभावित हुए किन्तु उसका पूर्व मध्यवर्ती काल अर्थात् भक्ति-काल उस प्रभाव से लगभग अछूता सा रह गया। हमारा यह अनुमान है कि भले ही रीति-काव्य के कुछ कवियों ने प्राकृत या अपभ्रंश काव्य परम्परा का सहारा लिया हो किन्तु अधिकतर कवियों ने संस्कृत के काव्य-शास्त्र और संस्कृत साहित्य की ह्रासोन्मुख पिछली परम्परा का अधिक आश्रय ग्रहण किया है।

रीतिकाल पर प्रभाव—रीति काव्यों की सर्वप्रमुख विशेषता है आश्रयदाताओं का यशोगान। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश साहित्य के चरित ग्रंथों में उपलब्ध होती है। रीतिकालीन साहित्य की एक अन्य विशेषता है—नायक नायिका भेद षड्ऋतु वर्णन, नख-शिख वर्णन आदि के माध्यम से शृंगार रस का विवेचन करना। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश साहित्य में प्रमुख रूप में तो नहीं पाई जाती क्योंकि अधिकतर ग्रंथ धार्मिक उद्देश्य से लिखे गये हैं। परन्तु गौण रूप से अवश्य है। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश के मुक्तक काव्यों में शृंगार रस की चमत्कारपूर्ण उक्तियां हिन्दी-रीतिकालीन शृंगार रस की स्मृति दिलाती हैं। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि हिन्दी के रीतिकालीन कवि ने साहित्य का सम्यक् अध्ययन किया होगा, अतः यह प्रभाव आ सका। भले ही उसने उक्त साहित्य का अध्ययन न किया हो पर भारतीय साहित्य-परम्परा में पाई जाने वाली इन प्रवृत्तियों से वह अवगत अवश्य था।

डॉ० हरिवंश कोछड़ ने रीति साहित्य पर अपभ्रंश साहित्य के प्रभाव की अतिरंजित चर्चा की है। (अपभ्रंश साहित्य पृ० ३६६) रीति साहित्य पर एकांतिक रूप से अपभ्रंश साहित्य का प्रभाव पड़ा है, ऐसा विश्वास करने का हमारे पास कोई भी वैज्ञानिक एवं पुष्ट-आधार नहीं है, क्योंकि अपभ्रंश साहित्य में उपलब्ध प्रवृत्तियां संस्कृत और प्राकृतिक के काव्यों में भी समान रूप से पाई जाती हैं। इससे यही परिणाम निकलता है कि प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य में समान रूप से पाई जाने वाली प्रवृत्तियों का मूल उत्स एक ही है। इसके अतिरिक्त पद्माकर, मतिराम तथा आलम आदि रीति कवियों ने प्रमुख रूप से संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के साहित्य के ज्ञान की चर्चा की है नाकि अपभ्रंशों की। हमारा अनुमान है कि रीतिकाल तक पहुंचते२ अपभ्रंश भाषा और उसके साहित्य के अध्ययन की परंपरा समाप्त प्रायः हो गई थी। हिन्दी के रीतिकाल के साहित्य पर अपभ्रंश काव्यों म प्रभाव की

चर्चा की अपेक्षा संस्कृत साहित्य के प्रभाव की बात कुछ अधिक वज़नदार ठहरती है। सच यह है कि हिन्दी का समूचा मध्य-युग अर्थात् भक्ति और रीति साहित्य संस्कृत साहित्य से अधिक प्रभावित हुआ है। हिन्दी साहित्य में वैष्णव आन्दोलन के मूल प्रेरक उपकरण संस्कृत के पुराण ग्रन्थ हैं, और भक्ति काव्य के दार्शनिक तथा सैद्धान्तिक पक्ष संस्कृत के दर्शन साहित्य के ऋणी हैं। इसी प्रकार हिन्दी रीतिकाल के लक्षण ग्रन्थ संस्कृत के काव्य शास्त्र से प्रभावित हैं। उसके लक्ष्य एवं लक्षण ग्रन्थों में निरूपित रस-रीति के अंश संस्कृत के काम शास्त्र अथवा उसके हिन्दी-अनुवाद परक ग्रन्थों से प्रभावित हैं।

हिन्दी के रीतिकालीन शृंगारी-साहित्य में वीभत्स दृश्यों को देखकर हिन्दी के कतिपय मनीषियों को ऐसे प्रसंगों में फारसी शैली के प्रभाव का जो भ्रम हुआ है। वह सर्वथा निर्मूल है। ऐसे वर्णन संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य में अनेक स्थलों पर मिल जाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के वर्णनों की परम्परा बहुत प्राचीन है। काव्य-शास्त्रियों ने जुगुप्सात्मक दृश्यों को शृंगार की मूल आत्मा के विपरीत स्वीकार करते हुए इन्हें उक्त क्षेत्र से बहिष्कृत घोषित किया। काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ लक्ष्य ग्रन्थों पर आधृत हुआ करते हैं। अनुमान है कि काव्य-शास्त्रियों ने इस प्रकार के जुगुप्सित दृश्यों के भूरि प्रयोग देखे होंगे और इसके लिए उन्हें कठोर नियमों के विधान की आवश्यकता पड़ी होगी।

संक्षेप में रीतिकालीन साहित्य में निम्नलिखित विशेषतायें मिलती हैं:—(१) आश्रयदाताओं की प्रशंसा, (२) शृंगार की प्रमुखता, (३) नायिका भेद विस्तार, (४) षड्ऋतु तथा बारह मासावर्णन, (५) नखशिख वर्णन, (६) अलंकरण प्रियता, (७) कवित्त, सवैया तथा दोहा आदि छन्दों का प्रयोग। अपभ्रंश साहित्य में उक्त समस्त प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। अपभ्रंश काव्यों में आश्रयदाताओं के यश का वर्णन तथा शृंगार भावना की प्रमुखता तो नहीं है, किन्तु इनका सर्वथा अभाव भी नहीं है। अपभ्रंश काव्यों के चरित नायकों का जीवन विलासग्रस्त है किन्तु काव्यों का धार्मिक दृष्टिकोण से लिखा जाना है।

अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन करते समय अनुसंधित्सु के समक्ष एक मजेदार बात यह आती है कि रीतिकाव्य के अतिशयोक्तिपूर्ण ऊह्यात्मक विरह वर्णनों पर फारसी से जिस प्रभाव की बहुधा चर्चा की जाती है, वह सर्वांशतः सत्य नहीं है। फारसी का प्रभाव हमारे भारतीय साहित्य के बाह्य पक्ष पर भले ही पड़ा हो, किन्तु इससे भारतीय काव्य की मूल आत्मा का आन्तरिक भाव-धारा के मूल रूप में कोई विशेष अन्तर नहीं आया।

अपभ्रंश के काव्य-रूप तथा हिन्दी साहित्य—आचार्य हजारी प्रसाद ने आदि काल के साहित्य के सम्बन्ध में एक स्थान पर विचार व्यक्त किये हैं कि "वस्तुतः छन्द, काव्यगत रूप, वक्तव्य वस्तु, कवि-रूढ़ियों और परम्पराओं की दृष्टि से यह साहित्य अपभ्रंश साहित्य का बढ़ावा है।" किन्तु हमारे विचार में वक्तव्य वस्तु या

भावधारा की अपेक्षा हिन्दी साहित्य में अपभ्रंश साहित्य के काव्य रूपों की परम्परा का पालन अधिक हुआ है। अतः हिन्दी काव्य-रूपों के क्षेत्र में अपभ्रंश की देन भावधारा की अपेक्षा अधिक स्वीकार करनी होगी।

छन्द—अपभ्रंश में मात्रिक छन्दों का सूत्रापात हुआ। अपभ्रंश से पूर्व छन्द तुकान्त नहीं होते थे। अपभ्रंश ने छन्दों के क्षेत्र में तुकान्त छन्दों की प्रथा चलाई। तब से आज तक हिन्दी में मात्रिक छन्दों की प्रधानता है। आरम्भिक हिन्दी के छन्द भी प्रायः अपभ्रंश साहित्य के रहे। अपभ्रंश के चरित काव्यों में प्रधानतया पद्धतियाँ या पद्धति छन्द को अपनाया गया। उसकी एकरसता को दूर करने के लिये बीच में दूसरे छन्दों का भी प्रयोग किया गया। अपभ्रंश साहित्य में कहानी के लिए दोहा छन्द प्रयुक्त किया गया। अपभ्रंश साहित्य में गेय मुक्तक काव्यों के लिये रासा, कव्व, दुपई जैसे बड़े-बड़े छन्द अपनाये गये। यही क्रम हिन्दी में भी दिखाई देता है। चौपाई प्रबन्ध काव्य के लिए और सवैया, घनाक्षरी, छप्पय, कुण्डलियाँ आदि छन्द मुक्तक के लिए अपनाये गये। तुलसी की दोहा और चौपाई की शैली के मूल स्रोत का उल्लेख धनपाल (१०वीं शताब्दी) के समय से मिलता है। हिन्दी के घनाक्षरी छन्द के मूल स्रोत के सम्बन्ध में अभी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। अनुमान है कि यह हिन्दी की अपनी सृष्टि है। हिन्दी का सवैया छन्द अपभ्रंश साहित्य में प्रयुक्त त्रोटक छन्द का द्विगुणित रूप प्रतीत होता है।

काव्य-रूप—गेय काव्य के रूप में अपभ्रंश साहित्य बहुत कुछ समृद्ध था। सन्देश रासक मूलतः रासक-छन्द प्रधान काव्य रहा होगा। आगे चल कर रासक छन्द काव्य का पर्यायवाची बन गया जो कि आदि काल की वीर गाथा युग की चारण रचनाओं के साथ प्रयुक्त हुआ है। प्रथम इस छन्द का प्रयोग कोमल भावाभिव्यक्ति के लिए होगा बाद में इसमें वीर रस का भी सम्मिश्रण हो गया। अपभ्रंश में इस प्रकार के कई रास काव्य हैं जैसे बाहु बलिरास, समरास आदि। हिन्दी में ऐसे रासो काव्यों का नमूना है पृथ्वीराज रासो। अपभ्रंश के अन्य गेय काव्यों—रूपों में "चांचरि" का भी नमूना मिलता है। चांचरि या चञ्चरी में रासा छन्द का ही प्रयोग किया गया है। हिन्दी में कबीर दास के नाम से चलने वाले कुछ गीत चांचरी के नाम से मिलते हैं। फाग भी इस प्रकार का एक लोक-गीत है जो वसन्त में गाया जाता है। अपभ्रंश के समय इसका प्रचलन था। हिन्दी साहित्य में कबीरदास के नाम से इस प्रकार के कुछ वसन्त मिलते हैं। हिन्दी साहित्य में कबीर, तुलसी, सूर और मीरा आदि ने पद लिखे हैं। पदों की परम्परा सिद्धों में मिलती है। सिद्धों के चर्या पद गेय पद हैं।

काव्य-रूढ़ियाँ—काव्य में विचार सम्बन्धी रूढ़ियों के समान रूप विधान सम्बन्धी रूढ़ियां भी घर कर जाया करती हैं। स्वतन्त्र चेता कलाकार इन रूढ़ियों की परवाह नहीं किया करते हैं, पर जिस युग में चिन्तन की गति अवरुद्ध हो जाती है,

उस समय का कलाकार अधिक रूढ़िग्रस्त और परम्परा प्रेमी हो जाता है। प्रबन्ध काव्य के आरम्भ में मंगलाचरण, आत्मनिवेदन, दुर्जननिन्दा तथा सज्जनप्रशंसा आदि की रूढ़ियों का प्रचलन था। संस्कृत कवियों ने भी थोड़े बहुत रूप से इन रूढ़ियों का पालन किया है किन्तु अपभ्रंश काल के कवियों ने इन काव्य रूढ़ियों का पूरा-पूरा पालन किया है। हिन्दी में तुलसी जैसे महाकवि ने बड़ी तत्परता से इन रूढ़ियों का पालन किया है। मुक्तक काव्य में कवि नाम देने की प्रथा अपभ्रंश काल में प्रचलित थी। इस परम्परा का पालन हिन्दी साहित्य में भक्ति काल और रीतिकाल में जम कर हुआ। इन काव्य रूढ़ियों के अतिरिक्त कुछ और भी रूढ़ियाँ हुआ करती हैं जैसे नखशिख वर्णन, हंस का नीर क्षीर विवेक, सुन्दरियों के पदाघात से अशोक का पुष्पित होना आदि। ये सभी काव्य रूढ़ियाँ स्वयंभू और पुष्पदंत के काव्यों में मिलती हैं। पृथ्वीराज रासो तथा पद्मावत आदि हिन्दी के ग्रन्थों में इन सभी रूढ़ियों का सम्यक् निर्वाह हुआ है। अपभ्रंश साहित्य में जिन कथात्मक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है हिन्दी के कथाकाव्यों में भी वे प्रतीक उसी रूप में प्रयुक्त हुए हैं शुक प्रयोग, दूती प्रयोग, नायक-नायिका के मिलन में देवी शक्ति का हाथ आदि काव्य-रूढ़ियाँ पृथ्वीराज रासो तथा पद्मावत दोनों में देखी जा सकती है। इस विषय में डॉ० नामवर सिंह के शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है—"भाव-धारा के विषय में अपभ्रंश से हिन्दी का जहाँ केवल ऐतिहासिक सम्बन्ध है वहाँ काव्य रूपों और छन्दों के क्षेत्र में उस पर अपभ्रंश की गहरी छाप है। रूप-विधान विषय वस्तु की अपेक्षा धीरे-धीरे बदलता है और इस विषय में रूढ़ियों का पालन अधिक दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि हिन्दी के अपभ्रंश की काव्य-सम्बन्धी अनेक परिपाटियों का ज्यों का त्यों और कुछ को थोड़ा सुधार कर स्वीकार कर लिया। इस तरह हिन्दी ने अपभ्रंश की जीवन्त परम्परा का भाषा और साहित्य दोनों क्षेत्रों में ऐतिहासिक विकास किया।"

हिन्दी में अपभ्रंश साहित्य के महत्त्वपूर्ण योगदान को स्पष्ट करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद लिखते हैं, "इस प्रकार हिन्दी साहित्य में ये सारी की सारी विशेषतायें इतनी मात्रा में और इस रूप में सुरक्षित हों। यह सब देखकर यदि हिन्दी को अपभ्रंश साहित्य से अभिन्न समझा जाता है तो इसे बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता है। इन ऊपरी साहित्य रूपों को छोड़ भी दिया तो भी इस साहित्य की प्राणधारा निरविच्छिन्न रूप से परवर्ती हिन्दी साहित्य में प्रवाहित होती रही है।... प्रकृत यही है कि इन साम्यों को देखकर यदि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी साहित्य का ही मूल रूप समझा तो ठीक ही किया है।"

अस्तु! काव्य रूपों, रूढ़ियों और परम्पराओं के परस्पर साम्य के आधार पर भिन्न-भिन्नभाषाओं के साहित्यों को मूल रूप में एक समझना न तो वैज्ञानिक है और न ही भाषा विज्ञान की दृष्टि से संगत।

वस्तुस्थिति तो यह है कि भारतीय साहित्य की एक अविच्छिन्न धारा समूचे भारतीय वाङ्‌मय में चिरकाल से प्रवाहित होती आ रही है। संस्कृत और प्राकृत साहित्य की वही धारा अपभ्रंशों के माध्यम से हिन्दी साहित्य में प्रस्फुटित हुई। बाह्य प्रभावों के फलस्वरूप समय-समय पर इस धारा का स्वरूप थोड़ा बहुत जरूर परिवर्तित होता रहा किन्तु उसके मूल रूप में किसी बड़े परिवर्तन की सम्भावना नहीं थी। अस्तु संस्कृत और प्राकृत के साहित्य में भारतीय साहित्य, संस्कृति और समाज का जो चित्र मिलता है उसके सम्यक् अवबोध के लिए अपभ्रंश साहित्य अत्यन्त उपादेय है।

आदि काल की वीरगाथाओं की विशेषताएँ

हिन्दी साहित्य के आदि काल में वीरगाथाओं का युग राजनीतिक दृष्टि से पतनोन्मुख, सामाजिक रूप से दीन-हीन तथा धार्मिक दृष्टि से क्षीण काल है। इस काल में जहाँ एक ओर जैन, नाथ और सिद्ध साहित्य का निर्माण हुआ वहां दूसरी ओर राजस्थान में चारण कवियों द्वारा चरित काव्य भी रचे गये। इनका प्रधान विषय वीरगाथाओं से सम्बद्ध है अतः इन्हें वीरगाथा काव्य भी कहते हैं। यहां हम इन वीरगाथाओं की सामान्य प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं का विवेचन करेंगे।

(१) **संदिग्ध रचनाएं**—इस काल में उपलब्ध होने वाली प्रायः सभी वीरगाथाओं को प्रामाणिकता सन्देह की दृष्टि से देखी जाती है। इस काल में रचित चार काव्य प्राप्त हुए हैं :—खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो तथा परमाल रासो। भाषा, शैली और विषय सामग्री की दृष्टि से इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि इनमें निरन्तर कई शताब्दियों तक परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहे हैं। यह परिवर्तन और परिवर्द्धन का कार्य इतनी प्रचुर मात्रा में हुआ है कि इनका मूल रूप भी दब गया है। ये सम्बन्धित आश्रयदाताओं के काल में ही लिखी गई, इस बात को निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता है। खुमान रासो में १६वीं शती तक की सामग्री का समावेश कर लिया गया है। परमाल रासो का स्वरूप आल्ह खंड से कितना ही बदला हुआ है। पृथ्वीराज रासो की भी यही स्थिति है। हाँ, बीसलदेव रासो के लघु काव्य होने के कारण उसमें अपेक्षाकृत अधिक परिवर्तन नहीं हुए। समष्टि रूप से इन ग्रन्थों के मूल रूप की पहचान एक अत्यन्त दुष्कर कार्य हो गया है।

(२) **ऐतिहासिकता का अभाव**—इन रचनाओं में इतिहास-प्रसिद्ध चरितनायकों को लिया गया है किन्तु उनका वर्णन शुद्ध इतिहास की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। इन कवियों के द्वारा दिये गये संवत् और तिथियाँ इतिहास से मेल नहीं खातीं बल्कि उस समय में लिखे गये संस्कृत काव्यों में दिये गये संवतों और घटनाओं से भी इनका मेल नहीं बन पाता। इन काव्यों में इतिहास की अपेक्षा कल्पना का बाहुल्य है। इतिहास के विषय को लेकर चलने वाले कवि में जो सावधानता अपेक्षित

होती है, वह इन काव्य-निर्माताओं में नहीं। अतिरंजनापूर्ण शैली इस दिशा में एक ओर महाव्याघात सिद्ध हुई है। इन चारण कवियों को अपने आश्रयदाताओं को राम, कृष्ण, नल, युधिष्ठिर आदि से उत्कृष्ट बताना एवं सर्वविजेता घोषित करना अभिप्रेत था, अतः इतिहास को अतिशयोक्ति तथा कल्पना पर न्यौछावर कर दिया। यहाँ तक कि पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज को उन राजाओं का भी विजेता कहा गया है जो उससे कई शताब्दियों पूर्व अथवा पश्चात् विद्यमान थे। अस्तु! इस दिशा में संस्कृत साहित्य का जागरूक कवि भी सफल नहीं उतर सका है फिर ह्रासोन्मुख काल के चारण कवि से इसकी क्या आशा की जा सकती है। आदर्शवाद का दृष्टिकोण इस दिशा में पग-पग पर आकर अड़ गया है।

(३) **युद्धों का सजीव वर्णन**—युद्धों का वर्णन इन ग्रंथों का प्रमुख विषय है और यह वर्णन इतना सजीव बन पड़ा है कि कदाचित् संस्कृत साहित्य भी इस दिशा में इन काव्यों की होड़ नहीं कर सकता। इन काव्यों में युद्धों का वर्णन अत्यन्त मूर्तिमान् बिम्बग्राही रूप में हुआ है, कारण चारण कवि केवल मसि-जीवी नहीं था करवाल-ग्राही भी था। आवश्यकता पड़ने पर वह स्वयं भी समरस्थल में जूझा और युद्ध के विकट दृश्यों को आपनी खुली आँख से देखा। वह समय भीतरी कलहों और बाहरी आक्रमणों का समय था, अतः अपने आश्रयदाताओं को युद्धों के लिए उत्तेजित करना उस काल के कवि का प्रमुख कर्त्तव्य-सा बन गया था। आचार्य हजारीप्रसाद इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"लड़ने वालों की संख्या कम थी क्योंकि लड़ाई भी जाति विशेष का पेशा मान ली गई थी। देश रक्षा के लिए या धर्म रक्षा के लिए समूची जनता के सन्नद्ध हो जाने का विचार ही नहीं उठता था। लोग क्रमशः जातियों और उपजातियों, सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों में विभक्त होते जा रहे थे। लड़ने वाली जाति के लिए सचमुच चैन से रहना असम्भव हो गया था। क्योंकि उत्तर, पूरब, दक्षिण, पश्चिम सब ओर से आक्रमण की संभावना थी। निरन्तर युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग हैं। उनका कार्य ही था हर प्रसंग में आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना-योजना का आविष्कार।"

इन चारण कवियों ने युद्धों के कारण के लिए किसी न किसी स्त्री की कल्पना कर ली है। उसकी प्राप्ति के लिए युद्ध हो जाया करते थे। यह उस समय की प्रचलित काव्य परिपाटी थी। रुक्मिणी और उषा आदि के हरण के पौराणिक वृत्तान्त उस समय भी लोगों को भूले नहीं थे। उस समय के संस्कृत कवि विल्हण कृत विक्रमांकदेव चरित में भी विवाहों और युद्धों का खुलकर वर्णन है। कहीं-कहीं पर ऐसे वर्णनों में वर्णनात्मक वस्तु परिगणन शैली को अपनाया गया है। ऐसे वर्णनों में भावोन्मेष की कमी है। निःसन्देह यहाँ युद्धों का मूल कारण नारी है। किन्तु उसे केवल रमणी रूप में ही प्रस्तुत नहीं किया, उसका वीर महिला रूप भी दर्शाया गया है।

(४) **संकुचित राष्ट्रीयता**—चारण कवियों ने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा का मुक्त कंठ से गान किया है। जीविका प्राप्ति के लिए उसने अनधिकारी राजाओं एवं सामन्तों की भी प्रशंसा की है। देशद्रोही जयचन्द के गुणानुवादक भी उस समय विद्यमान थे। भट्ट केदार ने 'जयचन्द प्रकाश' लिखा और मधुकर ने "जयमयंक जस चन्द्रिका" नामक ग्रन्थ लिखा। उस समय राष्ट्र शब्द से समूचा भारत नहीं लिया गया बल्कि अपना-अपना प्रदेश एवं राज्य का ही ग्रहण किया गया। अजमेर और दिल्ली के राज-कवि को कन्नौज अथवा कालिंजर के समृद्ध अथवा उजड़ जाने पर कोई हर्ष एवं विषाद नहीं होता था। उस समय के राजाओं ने अपने सौ-पचास गाँवों को राष्ट्र समझ रखा था, तो फिर उनके आश्रित कवियों को उन्हीं के पदचिह्नों पर ही चलना था। वस्तुतः यह देश का एक महादुर्भाग्य था। यदि उस समय राष्ट्रीयता का व्यापक रूप होता तो निश्चय था कि हमारे देश का मानचित्र आज कुछ और होता।

(५) **वीर और शृंगार रस**—इन वीरगाथाओं में वीर तथा शृंगार रस का अद्भुत सम्मिश्रण है। वीर रस का तो इतना सुन्दर परिपाक हुआ है कि कदाचित् परवर्ती हिन्दी साहित्य में वीर रस का इतना पुष्ट रूप मिलना दुर्लभ है। उस समय युद्ध का बाजार चारों ओर गर्म था। आबाल वृद्ध में युद्ध के लिए एक अदम्य उत्साह था। उस समय की वीरता का आदर्श निम्न पंक्तियों में स्पष्ट हो जाता है—

बारह बरस लै कूकर जिये, और तेरह लै जिये सियार।
बरस अठारह क्षत्री जिये, आगे जीवन को धिक्कार॥

युद्धों का मूल कारण नारी को कल्पित कर लिया गया अतः शृंगार रस का भी इस साहित्य में जम कर वर्णन मिलता है। रासो ग्रंथों में चर्चित नर-नारी प्रेम को प्रायः विद्वानों ने शृंगार रस की संज्ञा से अभिहित किया है किन्तु रासो ग्रन्थों में चित्रित प्रेम विलास या वासना से ऊपर नहीं उठ सका है। वीर रस की दीप्ति के लिए लिखे गये वीरता के पद भी वासनात्मक प्रवृत्ति को उत्तेजित करने के हेतु आये हैं। युद्धों का एकमात्र कारण नारी लिप्सा है। उक्त ग्रन्थों में निरूपित युद्धों के मूल में उदात्त-प्रेम भावना या राष्ट्रीयता का सहज उल्लास नहीं है। अस्तु !

वीर और शृंगार जैसे दो विरोधी रसों का समावेश इस साहित्य में इतने सुन्दर ढंग से किया गया है कि कहीं भी विरोध आभासित नहीं होता। वस्तुतः यह बात उस समय के कलाकार की जागरूकता का परिचायक है।

वीरगाथाओं में शान्त तथा हास्य रस को छोड़ कर अन्य सभी रसों का समावेश है। शृंगार रस के वर्णन के अन्तर्गत इन्होंने षट्-ऋतु वर्णन, नख-शिख वर्णन आदि काव्य रूढ़ियों का भी सम्यक् निरूपण किया है।

(६) **प्रकृति चित्रण**—इस साहित्य में प्रकृति का आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूपों में चित्रण मिलता है। नगर, नदी, पर्वत आदि का वस्तु वर्णन भी शोभन

बन पड़ा है। प्रकृति के स्वतन्त्र रूप में चित्रण के स्थल इन काव्यों में थोड़े ही मिलते हैं, अधिकतर उसका उपयोग उद्दीपन रूप में किया गया है। प्रकृति-चित्रण की जो उदात्त शैली छायावादी युग में मिलती है वह इस काल में नहीं। कहीं-कहीं तो इन्होंने प्रकृति-चित्रण में नाम परिगणन शैली को अपनाया है जहां रसोद्रेक के स्थान पर नीरसता आ गई है।

(७) रासो ग्रन्थ—इस साहित्य के सभी ग्रन्थों के नाम के साथ रासो शब्द जुड़ा हुआ है जो कि काव्य शब्द का पर्यायवाची है। कुछ लोग रासो का सम्बन्ध रहस्य अथवा रसायन से जोड़ते हैं किन्तु यह भ्रामक है। मूल रूप में रासक एक छन्द है जिसका प्रयोग अपभ्रंश साहित्य में सन्देश रासक आदि ग्रन्थों में मिलता है। फिर इसका प्रयोग गेयरूपक के अर्थ में होने लगा। पीछे इस शब्द का प्रयोग चरित काव्य एवं कथा काव्य के लिए होने लगा। रासो नाम के चरित काव्यों में से कुछ का उपयोग गाने के लिए अधिकतर होने लगा। इससे जनवाणी ने इनको धीरे-धीरे अपने-अपने समय के अनुरूप करते-करते इनका पुराना रूप ही बदल दिया इसका प्रत्यक्ष उदाहरण आल्ह खंड है।

(८) काव्य के दो रूप—वीरगाथाएँ मुक्तक और प्रबन्ध दोनों रूपों में मिलती हैं। प्रथम रूप का प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ बीसलदेव रासो है और दूसरे का प्राचीन ग्रंथ पृथ्वीराज रासो। इन दो रूपों के अतिरिक्त उस साहित्य में और दूसरा काव्य का कोई रूप नहीं है। उसमें काव्य रूपों की विविधता का अभाव है। न तो उस समय दृश्य काव्य था और न ही गद्य का प्रचलन था। उस समय की कुछ रचनायें अप्रामाणिक और कुछ अर्द्ध-प्रामाणिक और नोटिस मात्र हैं। भट्ट केदार का "जयचंद प्रकाश" तथा मधुकर प्रणीत "जयमयंक जस चंद्रिका" दोनों इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। इनका उल्लेख मात्र ही "राठौड़ाँ री ख्यात" में मिलता है।

(९) जनजीवन से सम्पर्क नहीं—इन ग्रन्थों में सामंती जीवन उभर आया है। इनका जन-जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। राजदरबारी कवि से जन-जीवन की विस्तृत व्याख्या की आशा भी नहीं की जा सकती है। वीरगाथाओं तथा रीति-ग्रंथों के कवियों ने स्वामिनः सुखाय काव्यों की सृष्टि की है, अतः उनमें साधारण जन-जीवन के घात-प्रतिघातों का अभाव है।

(१०) छंदों का विविधमुखी प्रयोग—इस साहित्य में छंद क्षेत्र में तो मानो एक क्रांति ही हो गई। छन्दों का जितना विविधमुखी प्रयोग इस साहित्य में हुआ है उतना इसके पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं हुआ। दोहा, तोटक, तोमर, गाथा, गाहा, पद्धरि, आर्या, सट्टक, रोला, उल्लाला और कुण्डलियाँ आदि छन्दों का प्रयोग बड़ी कलात्मकता के साथ किया गया है। यहाँ छन्द परिवर्तन केशव की रामचन्द्रिका के समान चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नहीं हुआ प्रत्युत् अतिशय भाव द्योतन के लिए हुआ है इस परिवर्तन में कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं है। आचार्य हजारीप्रसाद

के शब्दों में "रासो के छन्द जब बदलते हैं तो श्रोता के चित्त में प्रसंगानुकूल नवीन कम्पन उत्पन्न करते हैं।"

(११) **डिंगल और पिंगल भाषा**—इन काव्यों की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता है डिंगल भाषा का प्रयोग। उस समय की साहित्यिक राजस्थानी भाषा को आज के विद्वान् डिंगल नाम से अभिहित करते हैं। यह भाषा वीरत्व के स्वर के लिए बहुत उपयुक्त भाषा है। चारण अपनी कविता को बहुत ऊँचे स्वर में पढ़ते थे और डिंगल भाषा उसके उपयुक्त थी। उस समय की अपभ्रंश मिश्रित साहित्यिक ब्रज भाषा पिंगल के नाम से अभिहित की जाती है। इन काव्यों में संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों के अतिरिक्त अरबी और फारसी के भी शब्द पाये जाते हैं। तद्भव शब्दों का प्रयोग बहुलता से मिलता है क्योंकि यह प्रवृत्ति डिंगल भाषा के अनुकूल पड़ती है। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के समान डिंगल भाषा के अधिकांश रूप संश्लिष्ट हैं।

इन वीर काव्यों की परम्परा अगली कई शताब्दी तक चलती रही। भक्ति काल में पृथ्वीराज, दुरसा जी, बांकीदास और सूर्यमल ने डिंगल भाषा में वीर काव्य प्रस्तुत किये। केशव और तुलसी के काव्यों में भी वीर रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। इस दिशा में रीति काल में भूषण, सूदन और लाल के अतिरिक्त पद्माकर, गुरु गोविन्दसिंह, सबलसिंह, गोकुलनाथ, श्रीधर, जोधराज और चन्द्रशेखर के नाम उल्लेखनीय हैं। आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त और रामधारीसिंह दिनकर राष्ट्रीय कवि कहलाते हैं। वियोगी हरि और श्यामनारायण पांडे में वीर रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। प्रगतिवादी साहित्य में भी वीर रस का सराहनीय प्रयोग हुआ है।

महत्त्व—इस साहित्य का ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दोनों दृष्टियों से महत्त्व है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह साहित्य अत्यन्त उपादेय है। इसमें वीर तथा शृंगार रस का सुन्दर परिपाक बन पड़ा है। निःसंदेह इन ग्रंथों में अतिरंजना पूर्ण शैली के प्रयोग से इतिहास दब-सा गया है परन्तु फिर भी राजस्थान का इतिहास इन ग्रंथो में अवश्य निहित है, जिसका उपयोग थोड़ा सतर्कता के साथ किया जा सकता है। डॉ० श्यामसुन्दरदास के इस वीरगाथा साहित्य के सम्बन्ध में कहे गये शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण बन पड़े हैं—"इस काल के कवियों का युद्ध वर्णन इतना मार्मिक तथा सजीव हुआ है कि इनके सामने पीछे के कवियों की अनुप्रास गर्भित, किन्तु निर्जीव रचनाएँ नकल-सी जान पड़ती हैं। कर्कश पदावली के बीच वीर भावों से भरी हिन्दी के आदि युग की यह कविता सारे हिन्दी साहित्य में अपनी समता नहीं रखती।"

इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर लिखते हैं—

"भक्ति साहित्य हमें प्रत्येक प्रान्त में मिलता है। सभी स्थानों के कवियों ने अपने ढंग से राधा और कृष्ण के गीतों का गान किया है। परन्तु अपने रक्त से

राजस्थान में जिस साहित्य का निर्माण किया है, वह अद्वितीय है और उसका कारण भी है। राजपूताने के कवियों ने जीवन की कठोर वास्तविकताओं का स्वयं सामना करते हुए युद्धों के नक्कारों की ध्वनि के साथ स्वाभाविक काव्य गान किया। उन्होंने अपने सामने साक्षात् शिव के तांडव की तरह प्रकृति का नृत्य देखा था। मगर कोई कल्पना द्वारा उस कोटि के काव्य की कल्पना कर सकता है? राजस्थानी भाषा के प्रत्येक दोहा में जो वीरत्व की भावना है और उमंग है, यह राजस्थान की मौलिक निधि है और समस्त भारतवर्ष के गौरव का विषय है। यह स्वाभाविक, सच्ची और प्रकृत है।"

रासो तथा डिंगल एवं पिंगल

रासो—रासो शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। प्रसिद्ध फ्रांसीसी इतिहासकार गार्सा द तासी ने इस शब्द की व्युत्पत्ति राजसूय शब्द से मानी है। उनका कहना है कि चारण काव्यों में राजसूय यज्ञ का उल्लेख है और इसी कारण इनका नाम रासो पड़ा होगा। किन्तु उनका यह मत संगत प्रतीत नहीं होता। पहली बात तो यह है कि इन सभी चरित्र-काव्यों में राजसूय यज्ञ का उल्लेख नहीं है। दूसरी बात अपभ्रंश साहित्य की ऐसी रचनायें जहाँ केवल प्रेम का वर्णन है उनका नाम भी रासक है, उदाहरणार्थ सन्देह रासक आदि। बीसलदेव रासो में केवल प्रेम का वर्णन है। वहाँ न तो आश्रयदाता की दिग्विजय का उल्लेख है और न ही तत्सूचक शब्द का संकेत है।

कुछ विद्वानों ने रासो शब्द का सम्बन्ध रहस्य से जोड़ना चाहा है किन्तु यह ठीक नहीं है। इन ग्रंथों में कोई गूढ़ दार्शनिक रहस्य नहीं है। दूसरे कुछ लोगों ने रासो शब्द का सम्बन्ध राजस्थानी तथा ब्रज-भाषा के "रासो" शब्द से जोड़ने का प्रयत्न किया है किन्तु यह भी निराधार है। राजस्थानी एवं ब्रज-भाषा में रासो शब्द का अर्थ लड़ाई-झगड़ा है और इस रूप में इस शब्द की कोई सार्थकता इन चरित काव्यों के साथ दृष्टिगोचर नहीं होती है। निःसंदेह कुछ रासो ग्रंथों में युद्धों और लड़ाई झगड़ों का वर्णन है पर कुछ ग्रंथ ऐसे भी हैं जिनमें शुद्ध रूप से प्रेम का वर्णन है जैसे वीरगाथाओं में वीसलदेव रासो तथा अपभ्रंश साहित्य में सन्देश रासक आदि। इनमें युद्धों के अभाव होने पर भी इनका नाम रासो है।

नरोत्तम स्वामी ने इस शब्द की व्युत्पत्ति रसिक शब्द से मानी है जिसका अर्थ प्राचीन राजस्थानी भाषा के अनुसार कथा-काव्य मिलता है। उनके अनुसार इस शब्द के रूप इस प्रकार हैं : रसिक>रासउ>रासो। परन्तु यह मत युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। निःसंदेह चारणों द्वारा रचित चरित काव्यों में इस कल्पना की आंशिक सार्थकता सिद्ध हो जाती हो, किन्तु उन अपभ्रंश काव्यों का क्या बनेगा जिनका नामकरण रासक या रास है। इससे सिद्ध होता है कि यह शब्द दीर्घकाल से काव्य के अर्थ में एक विशिष्ट रूप में प्रयुक्त होता आ रहा था और उसी अर्थ में चारण काव्यों में इसका प्रयोग हुआ है।

आचार्य चन्द्रवली पांडेय ने रासो शब्द का सम्बन्ध संस्कृत साहित्य के रासक से माना है। संस्कृत साहित्य में रासक की गणना रूपक अथवा उपरूपक में हुई है। अपने मत के समर्थन के लिए उन्होंने पृथ्वीराज रासो के प्रारम्भिक भाग का हवाला दिया है जहाँ नट और नटी की भाँति कवि चन्द और उसकी पत्नी के परस्पर नाटकीय वार्तालाप से ग्रंथ का श्रीगणेश हुआ है। पांडेय जी के अनुसार रासो ग्रंथों का प्रणयन प्रदर्शन के निमित्त हुआ था। पृथ्वीराज के यश के गायन करने की इस प्रकार प्रथा थी। यह तर्क भी हमें सबल दिखाई नहीं देता है। हिन्दी और अपभ्रंश के कई रासो नामधारी ग्रंथ हैं जिनका आरम्भ इस नाटकीय पद्धति से नहीं हुआ है किन्तु फिर भी वे रासो नाम से अभिहित किये जाते हैं।

कुछ विद्वानों ने रासो शब्द का सम्बन्ध रास या रासक से जोड़ा है जिसका अर्थ है—ध्वनि, क्रीड़ा, शृंखला, विलास, गर्जन और नृत्य। इस मत में दूर की कौड़ी पकड़ने का ही प्रयास किया गया है और कुछ नहीं। कतिपय वीर काव्यों में इन गुणों को देखकर यह नामकरण कर दिया गया है। इसका कोई भी वैज्ञानिक आधार नहीं।

अन्य विद्वानों ने रासो शब्द का सम्बन्ध रसिया शब्द से माना है जिसका अर्थ है भद्दा शृंगार। इस विषय में सबसे पहली बात तो यह है कि रासो ग्रंथों में शृंगार का भद्दा रूप नहीं है और रासो ग्रंथों में ऐकान्तिक रूप से शृंगार हो ऐसा भी नहीं है। फिर अपभ्रंश साहित्य के कई ऐसे रासक ग्रंथ हैं जिनमें केवल धार्मिक उपदेश ही हैं।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने रासो शब्द का सम्बन्ध रसायन से माना है जो कि बीसलदेव रासो में काव्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शुक्ल जी ने अपने मत समर्थन में बीसलदेव रासो की एक पंक्ति भी उद्धृत की है—"नाल्ह रसायन आरम्भई शारदा तुठी ब्रह्म कुमारि।"

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस सम्बन्ध में कहा है कि रासक एक छन्द भी है और काव्य भेद भी। काव्य के इस बन्ध में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ करता था। पृथ्वीराज रासो उसी परम्परा का काव्य है। आदिकाल की वीर-गाथाओं में चारण कवियों द्वारा निर्मित चरित काव्यों के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

रास काव्य मूलतः रासक छन्द का समुच्चय है। अपभ्रंश में २९ मात्रा का एक रासा या रास छन्द प्रचलित था। ऐसे अनेक छन्दों के गाने की परिपाटी कदाचित् लोक में भी रही होगी। एकरसता के निवारणार्थ बीच-बीच में दूसरे छन्द जोड़ने अथवा गाने की प्रथा चल निकली। सन्देश रासक इसका उदाहरण है। रास काव्य मूल रूप में रासक छन्द प्रधान काव्य रहे होंगे। आगे चलकर रास काव्य को ऐसा रूप निश्चित हो गया जिसमें किसी भी गेय छन्द का प्रयोग किया जा सकता था।

भाव की दृष्टि से रास काव्य फिर भी प्रेम प्रधान रहे। हिन्दी का वीसलदेव रासो ऐसा ही रास काव्य है जिसमें रासकेतर छन्द का प्रयोग हुआ है फिर भी वह प्रेम प्रधान है। आगे चलकर काव्य का यह रूप कोमल भावों के अतिरिक्त अन्य विचारों के वाहन का साधन बना। प्रेम भाव के साथ इसमें वीरों की गाथाओं का सम्मिश्रण हुआ। जिस प्रकार अंग्रेजी का सॉनेट मूलतः प्रेम भावों का काव्य था किन्तु आगे चलकर उसे अन्य भावों का भी वाहन बना लिया गया। यही दशा अपभ्रंश और हिन्दी के रासो काव्य की समझनी चाहिए। अपभ्रंश में इस प्रकार के कई काव्य हैं जैसे बाहुबलिरास, समररास आदि और हिन्दी में ऐसे रासो काव्यों का प्रतिनिधि है पृथ्वीराज रासो।

अपभ्रंश के आचार्यों ने दो प्रकार के रास काव्यों का उल्लेख किया है—कोमल और उद्धत। उन्होंने इन दोनों के मिश्रण से बनने वाले रास काव्य की चर्चा की है। यह भेद रास रूपकों के किये गये किन्तु रास काव्यों के विषय में भी समान रूप से लागू होते हैं। प्रेम के कोमल रूप और वीर के उद्धत रूप का सम्मिश्रण पृथ्वीराज रासो में है। एकदम युद्ध प्रधान रास काव्य का उदाहरण हिन्दी में हम्मीर रासो तथा अपभ्रंश में बाहुबलि रास है। इन भावों के लिए निश्चित हुआ काव्य का रूप अन्य प्रकार के भावों के लिए प्रयुक्त होने लगा। जिनदत्त सूरि के "उपदेश रसायन रास" में केवल धर्मोपदेश है। इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि रासो सामान्य रूप से काव्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है। रास अथवा रसिक नामक एक सामान्य गेय छन्द ने इतने रूप बदले। अस्तु, विद्वानों का दूसरा वर्ग अपभ्रंश की नृत्य-गीतपरक परम्परा को रासो ग्रंथों का मूल मानता है। उक्त दोनों मत प्रायः मान्य हैं।

डिंगल स्वरूप—साहित्यिक राजस्थानी भाषा को डिंगल के नाम से अभिहित किया जाता है। भाषा विकास की दृष्टि से यह भाषा एक ओर पतनोन्मुखी प्राकृत और अपभ्रंश तथा दूसरी ओर विकासोन्मुखी ब्रजभाषा के बीच की साहित्यिक भाषा है। बोल-चाल की राजस्थानी भाषा का परिमार्जित साहित्यिक रूप डिंगल कहलाया।

व्युत्पत्ति—डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भी विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं :—

(१) **डॉ० एल० पी० टैसीटरी**—डिंगल शब्द का असली अर्थ अनियमित अथवा गंवारू लेते हैं। ब्रजभाषा परिमार्जित तथा व्याकरणसम्मत थी, पर डिंगल भाषा इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र थी। पिंगल के साम्य के आधार पर इस भाषा का नाम डिंगल पड़ा।

समीक्षा—उक्त भाषा गंवारू नहीं थी बल्कि सुशिक्षित चारण वर्ग की साहित्यिक भाषा थी। इसे अनियमित कहना भी सगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि

इसका भी एक सु० वस्थित व्याकरण था। रही पिंगल के साम्य के आधार पर इसके नामकरण की बात, भाषा विकास की दृष्टि से डिंगल पिंगल की अपेक्षा पहले आती है। ब्रजभाषा के साहित्यिक रूप का पता लगभग १४वीं शताब्दी में मिलता है।

(२) **हरप्रसाद शास्त्री**—का कहना है कि प्रारम्भ में इस भाषा का नाम "डगल" था, परन्तु बाद में पिंगल से तुक मिलाने के लिए डिंगल कर दिया गया। उन्होंने अपने मत के समर्थन के लिए 'दोसे जंगल डगल जेग' आदि पर भी उद्धृत किया है।

समीक्षा—यहां पर प्रश्न यह है कि आरम्भ में डिंगल का नाम डगल क्यों था ? राजस्थानी भाषा में डगल शब्द का अर्थ मिट्टी का ढेला या अनगढ़ पत्थर है। यदि डिंगल भाषा अनगढ़ एव अव्यवस्थित थी तो किस सुव्यवस्थित भाषा की तुलना में इसे यह संज्ञा दी गई, क्योंकि ब्रजभाषा का साहित्यिक प्रौढ़ रूप १४वीं शती तक नहीं बन पाया था और फिर चारण कवि अपनी साहित्यिक भाषा को डगल या अनगढ़ कहने ही क्यों लगा था ?

(३) **गजराज ओझा** ने डिंगल भाषा के नामकरण का आधार इसमें पाई जाने वाली "डकार" वर्णों की बहुलता को बताया है। फिर पिंगल के आधार पर इसका नाम डिंगल पड़ा। जिस प्रकार पिंगल अलंकार प्रधान है उसी प्रकार डिंगल डकार प्रधान है।

समीक्षा—पहली बात तो यह है कि डिंगल भाषा में डकार वर्ण की कोई ऐसी बहुलता नहीं है जिसके आधार पर इसका नामकरण किया जा सके। डिंगल काव्य में वीर रौद्र और वीभत्स रसों के प्रसंग में निःसन्देह कर्णकटु शब्द आये हैं किन्तु उसमें विशेषतः डकारात्मक शब्दों की प्रधानता हो, ऐसी बात नहीं। दूसरी बात यह भी है कि भाषा विज्ञान के समूचे इतिहास में एक भी ऐसी मिसाल नहीं मिलेगी जहाँ किसी विशेष वर्ण के आधार पर किसी भाषा का नामकरण हुआ हो।

(४) **पुरुषोत्तम स्वामी** ने डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति डिम+गल से माना है। डिम का अर्थ डमरू की ध्वनि और गल का अर्थ गला होता है। डमरू की ध्वनि युद्ध में वीरों का आह्वान करती है। डमरू वीर रस के देवता महादेव का बाजा है। जो कविता गले से निकल कर डिम-डिम की तरह वीरों के हृदय को उत्साह से भर दे उसी को डिंगल कहते हैं।

समीक्षा—यह मत भी तर्क संगत नहीं है। न ही तो डमरू की ध्वनि उत्साह वर्धक मानी गई है और न ही महादेव वीर का देवता है। वीर रस के देवता इन्द्र हैं और रौद्र रस के देवता महादेव हैं। डमरू वानरों के खेल-तमाशों में बजाया जाता है। युद्ध में उत्साह के लिए नगाड़ों का उपयोग किया जाता है।

(५) राजस्थान में प्रचलित मतानुसार डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति डिंभ+गल से मानी जाती है। डिंभ का अर्थ बालक और गल का अर्थ गला। इस प्रकार डिंगल का अर्थ बालक की भाषा है। जैसे प्राकृत किसी समय बाल भाषा कहलाती थी वैसे डिंभ+गल से डिंगल बनी।

समीक्षा प्रत्येक भाषा के जीवन में बाल्य अवस्था हुआ करती है जबकि वह पनप रही होती है किन्तु सब भाषाओं के प्रौढ़ साहित्यिक रूप का नामकरण फिर इस आधार पर क्यों नहीं हुआ ? फिर चारण कवियों की परिमार्जित साहित्यिक भाषा को बाल-भाषा के हीन पद से अभिहित करना अनुचित भी है।

(६) कुछ अन्य मत—पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के अनुसार डिंगल शब्द पिंगल के साम्य के आधार पर बना है किन्तु इस शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं है। पिंगल से भेद करने के लिए इस श्रुति-कटु भाषा को डिंगल नाम दे दिया गया है।

(ख) डॉ० श्याम सुन्दर दास पिंगल के अनुकरण पर ही इस शब्द को निर्मित मानते हैं। उनका कहना है कि यह एक मारवाड़ी शब्द है जो पिंगल के साम्य पर गढ़ा हुआ है।

(ग) रामकरण आसोपा और ठाकुर किशोरी सिंह बारहठ ने डिंगल शब्द की उत्पत्ति क्रमशः "डंगि" और "डीङ" धातुओं से बताई है।

(७) मोती लाल मेनारिया ने डिंगल शब्द को डींगल से विकृत माना है जिस का अर्थ डींग (दर्पोक्ति) से युक्त भाषा है। बोझिल, धूमिल आदि शब्दों के समान यहां भी "ल" प्रत्यय युक्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मेनारिया के मतानुसार आरंभ में डिंगल चारण भाटों की भाषा थी। इसमें वे लोग अपने आश्रयदाताओं के यश का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया करते थे और उनकी वीरता की बड़ी-बड़ी डींगें मारा करते थे। उस समय इस भाषा को डींगल कहा करते थे और आज भी राजस्थान के वृद्ध चारणों में डींगल शब्द का ही प्रयोग प्रचलित है। मेनारिया जी का यह भी कहना है कि डींगल का डिंगल रूप अंग्रेजी के कारण हो गया है। डॉ० ग्रियर्सन आदि इस शब्द के उच्चारण से अपरिचित थे अतः उन्होंने अपने ग्रंथों में दोनों हिज्ज एक तरह से लिखे—pingala nad Dingala pingala का उच्चारण हिन्दी वाले पिंगल किया करते थे अतएव यह समझकर कि डींगल का उच्चारण भी इसी प्रकार होगा उन्होंने इसे डिंगल बोलना-लिखना शुरू कर दिया और इस प्रकार यहाँ के पढ़े-लिखे लोगों में भी यही रूप प्रचलित हो निकला।

निष्कर्ष—उपर्युक्त मतों में मोती लाल मेनारिया का मत अपेक्षाकृत अधिक संगत है। जब कि इस विषय में नवीन अनुसंधानों के द्वारा नवीन तथ्यों का उद्-घाटन नहीं होता तब तक इसी मत पर सन्तोष करना होगा। आचार्य ग्रियर्सन की भूल से डींगल रूप में व्यवहृत होने लगा यह बात कुछ विचित्र एवं आश्चर्यजनक सी लगती है। उनसे केवल इसी शब्द पर ही भूल हुई, या दूसरे शब्दों पर वह भूल नहीं हुई। मेरे विचार में डींगल शब्द को पिंगल के साम्य के आधार पर डिंगल मान लेना अपेक्षाकृत अधिक समीचीन है। इस प्रकार हमें भी मेनारिया और डॉ० श्याम सुन्दर दास के संयुक्त मन्तव्य अपेक्षाकृत अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत होते हैं। डींग शब्द राजस्थानी भाषा में दर्पोक्ति के अर्थ में कब से प्रयुक्त होने लगा है, अभी यह बात अनुसंधान की अपेक्षा रखती है।

पिंगल—चारणों द्वारा डिंगल और पिंगल दोनों भाषाएँ व्यवहृत हुई हैं। एक ही कवि द्वारा उसके साहित्य में इन दोनों का समान रूप से प्रयोग हुआ है। कभी-कभी ये दोनों भाषायें इतनी घुल-मिल गई हैं कि इनमें विभाजक रेखा खींचना कठिन व्यापार हो गया है। आज के भाषा शास्त्री के लिए इन दोनों भाषाओं के रूपों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण करना एक समस्या बनी हुई है। बल्कि कभी-कभी तो वह यह समझ बैठता है कि डिंगल और पिंगल दो स्वतन्त्र भाषाएँ नहीं हैं वरन् एक ही भाषा के अन्तर्गत हैं।

पिंगल भाषा के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अनेक मत प्रस्तुत किये हैं। यहाँ उनका अध्ययन कर लेना आवश्यक है।

(१) **डा० श्यामसुन्दर दास**—"उसी प्रकार हिन्दी के भी एक साहित्यिक सामान्य रूप की प्रतिष्ठा हो गई और साहित्यिक ग्रंथों की प्रचुरता होने के कारण उसी की प्रधानता मान ली गई और उससे व्याकरण आदि का निरूपण भी हो गया हिन्दी के उस साहित्य रूप को उस काल में पिंगल कहते थे और अन्य रूपों की संज्ञा डिंगल थी। पिंगल भाषा में अधिकतर वे विद्वान रचना करते थे जो अपने ग्रंथों में संयत भाषा तथा व्याकरण सम्मत प्रयोगों के निर्वाह में समर्थ होते थे। पिंगल की रचनाओं में धीरे-धीरे साहित्यिकता बढ़ने लगी और नियमों के बन्धन भी जटिल होने लगे।"

समीक्षा—उक्त सन्दर्भ के अध्ययन के अनन्तर हमारा ध्यान कुछ मुख्य बातों की ओर आकृष्ट होता है—(क) पिंगल आदि काल की साहित्यिक भाषा थी (ख) यह एक व्याकरणसम्मत और संयत भाषा थी। (ग) उसके साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने पर क्रमशः उसमें नियमों और बन्धनों की जटिलता आने लगी। हमारे विचार में डिंगल और पिंगल दोनों उस समय की साहित्यिक भाषाएं थीं और इस रूप में दोनों का बराबर प्रयोग हुआ है। दूसरी बात यह है कि पिंगल नियम-बद्ध और व्याकरण-सम्मत भाषा थी और डिंगल उसके अन्यथा। किन्तु सत्य यह है कि जब दोनों साहित्यिक भाषायें थीं तो दोनों का व्याकरण-सम्मत होना ही संगत लगता है। क्योंकि किसी भी भाषा का साहित्यिक रूप व्याकरणसम्मत और परिमार्जित हुए बिना रह ही नहीं सकता। मात्रा का अंतर भले ही रह सकता है।

(२) **पं० रामचन्द्र शुक्ल**—"इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रादेशिक बोलियों के साथ-साथ ब्रज या मध्य देश का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो चारणों में पिंगल के नाम से पुकारी जाती थी।

समीक्षा—आचार्य शुक्ल के मत में बहुत कुछ सत्य निहित है। आचार्य शुक्ल डिंगल भाषा के समान पिंगल को उस समय की एक मान्य साहित्यिक भाषा स्वीकार करते हैं। राजस्थानी भाषा का यह वह स्वरूप है जिसमें ब्रज तथा मध्य-देश की भाषा का संमिश्रण हुआ और धीरे-धीरे उन प्रदेशों की भाषाओं के फलस्वरूप इसमें व्याकरणबद्धता और नियमानुकूलता आई।

निष्कर्ष—वस्तुत: पिंगल भाषा भी डिंगल के समान उस समय की एक सामान्य साहित्यिक भाषा थी। यह राजस्थानी भाषा का वह स्वरूप है जिसमें ब्रज तथा मध्य देश की भाषा का सम्मिश्रण हुआ और धीरे-धीरे उसमें व्याकरणसम्मतता और नियमानुकूलता की प्रवृत्तियाँ आती गईं। डॉ० नामवरसिंह के निम्न शब्दों से यही तथ्य ध्वनित होता है—"राजस्थानी की स्थिति भी बहुत कुछ मैथिली जैसी है। पश्चिमी राजस्थान बहुत दिनों तक जातियों और प्रशासकीय रूप में गुजरात से सबद्ध रहा। दोनों जातियों और बोलियों का विकास साथ साथ हुआ। पुरानी गुजराती और पुरानी पश्चिमी राजस्थानी में बहुत कुछ समानता का होना इसी तथ्य का प्रमाण है। दूसरी ओर पूर्वी राजस्थान पृथ्वीराज चौहान के ही समय से (और शायद उससे भी कुछ पहले से) दिल्ली आगरा के शासन-सूत्र से सम्बद्ध रहा। फलत: उसकी भाषा (पूर्वी राजस्थानी) पुरानी ब्रज भाषा से मिलती-जुलती है। धीरे-धीरे राजस्थान का राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास इस प्रकार हुआ कि राजस्थानी बोली समूह की मुख्य बोली मारवाड़ी प्रधान हो गई और वह परिनिष्ठित हिन्दी से स्वतन्त्र साहित्यिक भाषा के रूप में गठित होने लगी।"

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि राजस्थानी भाषा का अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। समय-समय पर वह अन्य भाषाओं के सम्पर्क में भी आई। ब्रजभाषा तथा मध्यदेश की भाषा से इसका प्रभावित होना इतिहास सिद्ध है और कदाचित् इसका यही रूप पिंगल कहलाया।

पिंगल भाषा के नामकरण के सम्बन्ध में विद्वानों का कहना है कि कदाचित् यह पिंगल—छन्द-शास्त्र के आधार पर हुआ है। जैसे वैदिक भाषा को छान्दस, प्राकृत को गाथा या गाहा तथा अपभ्रंश को दोहा या दूहा के नाम से अभिहित किया गया इसी प्रकार इस भाषा की भी पिंगल संज्ञा पड़ गई होगी। भले ही यह मत अधिक वैज्ञानिक प्रतीत न होता तो किन्तु इसकी पृष्ठभूमि में भाषा विज्ञान के अनेक उदाहरण काम कर रहे हैं।

आदि काल के कतिपय रासो काव्य तथा कवि

दलपति विजय का खुमान रासो—खुमान रासो का मूल लेखक कौन है और उसका समय क्या है? ये दोनों प्रश्न अभी तक विवादास्पद हैं। इसके साथ-साथ प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। शिवसिंह सेंगर इसके रचयिता के सम्बन्ध में मौन हैं। उसमें केवल यह बताया गया है कि किसी अज्ञातनामा भट्ट ने खुमान रासो नामक काव्य लिखा था, जिसमें श्री रामचन्द्र से लेकर खुमान तक के नरपतियों का उल्लेख है। इधर कुछ खुमान रासो की जो हस्तलिखित प्रतियां मिली है, उनमें की कुछ प्रतियों पर लेखक का नाम दलपत विजय अंकित है। ऐसी स्थिति में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है कि दलपत इस ग्रंथ का मूल लेखक है अथवा उद्धर्ता।

कर्नल टाड ने इस पुस्तक की चर्चा बड़े विस्तार से की है। उन्होंने कहा है कि खुमान नाम के तीन शासक हुए हैं जिनमें प्रथम का समय ७५२ से ८०८ ई० तक, दूसरे का ८१३ से ८४३ ई० तक और तीसरे का ६०८ से ६३३ तक राज्य था। इस ग्रन्थ में जिस खुमान का चरित्र है वह अनुमानतः खुमान द्वितीय है। क्योंकि इसमें बगदाद के खलीफा अलमामू (८१३-८३३ ई०) के चित्तौड़ पर किये गये आक्रमण का उल्लेख है। जिस खुमान ने खलीफा को पराजित किया था वह द्वितीय है। अनुमान है कि इस ग्रन्थ का निर्माण खुमान द्वितीय के समय में हुआ होगा लेकिन दूसरी ओर इसमें प्रताप तक के चरित्र का वर्णन है अतः इसका रचनाकाल १७वीं शती मानने को बाध्य होना पड़ता है। यही कारण है कि आचार्य हजारीप्रसाद इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में लिखते हैं "हिन्दी के विद्वानों ने इन्हें मेवाड़ के रावल खुमान सं० (८७०) का समकालीन होना अनुमानित किया है जो गलत है। वास्तव में इसका रचनाकाल सं० १७३० से १७६० के मध्य तक है। इस प्रकार इस ग्रन्थ की चर्चा हिन्दी साहित्य के आदि काल में नहीं होनी चाहिए।"

अगरचन्द नाहटा ने अत्यन्त तर्कपूर्ण ढंग से इसकी हस्तलिखित प्रतियों पर विचार करने के उपरान्त इस संम्बन्ध में निम्न निष्कर्ष दिये थे :—

(१) इस ग्रन्थ में बप्पा से लगा कर राजसिंह तक का वृतान्त है। पर राणा खुमान का वृत्तान्त विस्तार से होने के कारण ग्रन्थ का नाम खुमाण रास रखा गया है।

(२) इसकी भाषा राजस्थानी है।

(३) इसके रचयिता तपागच्छीय जैन कवि दौलत विजय हैं, जिनका दीक्षा से पूर्व का नाम दलपत था।

(४) ग्रन्थ निर्माण काल सं० १७३० से १७६० के मध्य का है।

इस प्रकार खुमान रासो को हिन्दी का आदि रासो कहना किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं होगा। मोतीलाल मेनारिया ने भी इसका समय १८वीं शताब्दी ठहराया है।

खुमान रासो में केवल खुमान के चरित को लेकर नहीं लिखा गया बल्कि उनके वंश के इतिहास को लेकर लिखा गया है। "कायम रासा" में भी यही पद्धति अपनाई गई है।

यह ग्रन्थ विविध छन्दों में प्रस्तुत किया है और कविता की दृष्टि से अत्यन्त सरस बन पड़ा है, यथा:—

> पिउ चित्तौड़ न आविऊ सावण पहिली तीज।
> जोवे बाट रति विरहिणी खिण खिण अणवै खीज।

नरपति नाल्ह का बीसलदेव रासो

हिन्दी साहित्य में रासो शब्द का ग्रहण सामान्यतः दो रूपों में हुआ—एक

(३) डा० रामकुमार वर्मा—"शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न ब्रज बोली में साहित्य की रचना बारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई। उस समय इसका नाम पिंगल था। यह राजस्थानी साहित्य डिंगल के समान मध्यदेश की साहित्यिक रचना का नाम था।"

समीक्षा—डॉ० वर्मा ने पिंगल और ब्रज भाषा को एक माना है "उनके मतानुसार पिंगल का मध्य देश से सम्बन्ध है, राजस्थान से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों ही बातें निराधार प्रतीत होती हैं। पहली बात तो यह है कि पिंगल और ब्रजभाषा दोनों एक नहीं हैं, दूसरे पिंगल का राजस्थान से निश्चित रूप से सम्बन्ध है। यह अवश्य है कि मध्य देश की बोलियों का पिंगल पर काफी प्रभाव पड़ा। पिंगल का साहित्यिक रूप ब्रज भाषा से प्रभावित अवश्य है किन्तु पिंगल को ब्रज भाषा समझना एक भूल है।

(४) मुंशी देवी प्रसाद—"मारवाड़ी भाषा में गल्ल का अर्थ बात या बोली है। डींगा लम्बे और ऊंचे को और पांगला पंगे या लूले को कहते हैं। चारण अपनी मारवाड़ी कविता को बहुत ऊँचे स्वरों में पढ़ते हैं और ब्रजभाषा की कविता धीरे-धीरे मन्द स्वरों में पढ़ी जाती है। इसलिए डिंगल और पिंगल संज्ञा हो गई, जिसको दूसरे शब्दों में ऊंची और नीची बोली की कविता कह सकते हैं।"

समीक्षा—भाषा विज्ञान के इतिहास में ऐसा एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं होता है जहाँ ऊंचे-नीचे या लूले-लंगड़े जैसे अर्थों को आधार बना कर किसी भाषा का नामकरण किया गया है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से यह नितांत असंगत प्रतीत होता है। दूसरी बात और भी है। प्रत्येक भाषा में कोमल रसों के प्रकरण में वाणी से लहजे में मृदुता आ जाती है और वीर तथा रौद्र आदि पुरुष प्रकृति के रसों के प्रसंग में वाणी में स्वाभाविक रूप से ओज और कठोरता आ जाती है। फिर ऐसी भी बात नहीं है कि ब्रजभाषा केवल कोमल रसों के ही अनुकूल हो। रीति काल में भूषण, सूदन, लाल तथा पद्माकर आदि ने इसका वीर रस में भी बड़ा ओजस्वी तथा भव्य प्रयोग किया है।

(५) कुछ विद्वानों ने कहा है कि पिंगल वीरगाथा काल की साहित्यिक भाषा थी और उसका छन्दशास्त्र अलग होने के कारण उसका नाम पिंगल पड़ा। डिंगल का कोई स्वतन्त्र छन्दशास्त्र नहीं है। किन्तु यह मत भी कोई मान्य प्रतीत नहीं होता है।

(६) पिंगल का छन्दशास्त्र था और डिंगल का नहीं था, इसलिए एक नाम पिंगल पड़ा कुछ संगत प्रतीत नहीं होता। संस्कृत में छन्दशास्त्र को पिंगल मुनि प्रणीत होने के कारण पिंगल शास्त्र कहते हैं। उस पिंगल शास्त्र पर मेरे विचार में भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं का समान अधिकार है। ऐसी बात नहीं है कि वह एक भाषा विशेष की थाती हो। और फिर डिंगल भाषा में अनेक छंदों का बड़ा कलात्मक प्रयोग हुआ है।

गेय मुक्तक परम्परा और दूसरी नृत्यगीतपरक परम्परा । बीसलदेव रासो प्रथम परम्परा का प्रतिनिधि ग्रन्थ है । आदि काल के गेय साहित्य में इस ग्रन्थ की चर्चा विशेष रूप से की जाती है, वस्तुतः बीसल व रासो को प्रेमाख्यानक काव्यों की कोटि में रखना अधिक संगत है । इसमें विवाह के उपरान्त पति-पत्नी के सम्पर्क से प्रेम का विकास दिखाया गया है । उक्त रासो में चित्रित प्रोषितपतिका के विरह और बारहमासा आदि के आधार पर इसे संदेश रासक तथा "ढोला मारू रा दूहा" की कोटि में रखना अधिक वैज्ञानिक होगा । प्रायः इतिहासकारों ने बीसलदेव रासो को वीर काव्यों की कोटि में रखा है, जो कि उचित नहीं है । बीसलदेव रासो का मूल स्वर वीर रसात्मक रासो ग्रन्थों की आत्मा से मेल नहीं खाता है । इसका वास्तविक स्थान हिन्दुओं द्वारा रचित प्रेमाख्यानों में ही होवा चाहिए । अस्तु ! आदि काल के अन्य रासो ग्रन्थों के समान इस ग्रन्थ के रचनाकाल, रचयिता और चरितनायक आदि विषय विवादास्पद हैं । नीचे की पंक्तियों में हम क्रमशः उक्त बातों के सम्बन्ध में विवेचना करेंगे ।

रचना-काल—प्रस्तुत ग्रन्थ के रचना काल का प्रश्न अत्यन्त ही विवादास्पद है । आचार्य शुक्ल ने निम्न पद्य के आधार पर इसका रचना काल सं० १२१२ स्वीकार किया है—

बारह सौ बहोत्तरां मझारि, जेठ बदी नवमी बुधबारि ।
नाल्ह रसायण आरंभई शारदा तुठी ब्रह्म-कुमारि ॥

सं० १२१२ में ज्येष्ठ की नवमी बुधवार को इस ग्रन्थ का प्रणयन आरम्भ हुआ । उक्त कथन की पुष्टि बीसलदेव के सं० १२१० से १२२० तक उपलब्ध होने वाले शिलालेखों से भी हो जाती है । ग्रन्थ में वर्तमानकालीन क्रिया का प्रयोग भी इसी तथ्य का समर्थन करता है । किन्तु कुछ विद्वानों ने निम्न कारणों के आधार पर उक्त रचना-काल के संबंध में सन्देह प्रकट किया है :—

(१) राजा भोज की पुत्री का देहान्त लगभग १०० वर्ष पहले हुआ, अतः बीसलदेव के साथ उसका विवाह असंभव है । कोई भी समकालीन रचयिता इस प्रकार इतिहास के विरुद्ध नहीं लिख सकता ।

(२) बीसलदेव अत्यन्त पराक्रमी योद्धा थे । उन्होंने कई बार मुसलमानों को नाकों-चने चबवाये थे । उन्होंने दिल्ली और हांसी पर अधिकार भी किया था । बीसलदेव रासो में ऐसी वीरतापूर्ण घटनाओं का उल्लेख अवश्य होना चाहिए था ।

(३) बीसलदेव जैसा युद्धरत व्यक्ति १२ वर्ष तक उड़ीसा रहा, यह भी असंभव है ।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने बीसलदेव का राजमती से विवाह सिद्ध करने के लिए बीसलदेव का समय सं० १०५८ सिद्ध किया है । उनका कहना है कि जैपाल १००१ में महमूद से पुनः पराजित हुआ और उसने आत्मघात कर लिया । उसका

पुत्र अनंगपाल अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव के नेतृत्व में मुसलमानों के विरुद्ध लड़ा था। अतः बीसलदेव का समय १००१ से १०५८ है। डॉ० वर्मा के अनुसार राजा भोज १०७५ में राज्यासीन हुआ और ४० वर्ष तक उसने राज्य किया।

गौरीशंकर हीराचंद ओझा के अनुसार बीसलदेव का समय सं० १०३० से १०५६ तक है। उन्होंने सं० १०५५ में भोज को सिंहासीन माना है। ओझा जी के अनुसार बीसलदेव का समय ११वीं शती है। उनका कहना है कि वर्तमान काल की क्रियायें भी इसी तथ्य की द्योतक हैं।

मिश्र-बन्धुओं ने इस ग्रन्थ का समय १२२० तथा लाला सीताराम ने १२७२ स्वीकार किया है। इधर श्री गजराज बी. ए. (बीकानेर निवासी) ने बीसलदेव रासो की एक प्राचीन प्रति के आधार पर उसका निर्माण सं० १०७३ माना है—

'संवत सहज तिहत्तर जानि, नाल्ह कवीसर सरसीय बाणि।'

किन्तु हमारे विचार में यह उक्ति किसी भट्ट की कृपा है जो कि एकमात्र प्रक्षिप्त है। यदि प्रस्तुत ग्रंथ १०७३ में निर्मित हुआ हो तो इस ग्रंथ की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश होनी चाहिए थी।

डॉ० राजकुमार वर्मा पृथ्वीराज विजय की प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए लिखते हैं कि अर्णोराज के द्वितीय पुत्र विग्रहराज चतुर्थ के शिलालेख १२१० से सिद्ध होता है कि अर्णोराज की मृत्यु १२०१ से १२७२ के बीच हुई। यह कथन अपने आप में विरोधी है। जो बीसलदेव या विग्रहराज १०५८ में विद्यमान था यह तृतीय था और १२२० के लगभग चतुर्थ विद्यमान थे। यहां एक बात और भी विचारणीय है। डॉ. महोदय ने नरपति को बीसलदेव का समकालीन नहीं माना है फिर वर्तमान कालीन क्रियाओं की सार्थकता कैसी? विग्रहराज तृतीय के समय अजमेर बसा ही नहीं था। तृतीय विग्रहराज के वंशज महाराज अजयराज ने अजमेर बसाया था। अजयराज के पुत्र अर्णोराज ने अनासागर झील बनवाई थी। उसका वर्णन बीसलदेव रासो में उपलब्ध होता है।

इस ग्रंथ के रचना-काल के सम्बन्ध में डा० हजारी प्रसाद का कथन है कि कवि ने अतिरंजित कल्पना से काम लिया है। बीसलदेव अत्यंत प्रतापशाली राजा था, वह स्वयं संस्कृत का कवि भी था। उसने अपना हर-केलि नाटक शिला पट्टों पर खुदवाया था। उसके राजकवि सोमदेव ने 'ललित विग्रहराज' लिखा था। बीसलदेव रासो से बीसलदेव की वीरता का कोई आभास नहीं मिलता। इस बात का भी प्रमाण नहीं कि उसनें उड़ीसा को जीता था। ग्रंथ में बार-बार कहा गया है कि रासो का निर्माण गायन के लिए हुआ है, पर राजपूताने के विद्वानों का कहना है कि बीसलदेव रासो यहां कभी भी नहीं गाया गया है। यह तो निश्चित है कि नरपति नाल्ह बीसलदेव का समसामयिक नहीं। राजपूताने में वर्तमानकालिक क्रियाओं का प्रयोग बार-बार देखा गया है। अतः बीसलदेव रासो का रचना काल १५४५ से १५६० है।

मोतीलाल मेनारिया ने भी यही रचना-काल स्वीकार किया है। इनके इस कथन का आधार उक्त ग्रंथ की भाषा है।

इस प्रकार हमने देखा कि उक्त ग्रंथ के रचना-काल के सम्बन्ध में तीन संवत् हैं—१२१२, १५४५ से १५६० तथा १०७३। हमारे विचारानुसार इस ग्रंथ का रचना-काल संवत् १२१२ समीचीन है। बीसलदेव रासो का नायक विग्रहराज चतुर्थ है। विग्रहराज चतुर्थ का राजमती से विवाह भी संभव है। राजमती धार के परमार वंशज राजा भोज की पुत्री नहीं, जैसलमेर के बसाने वाले रावल भोज देव की सुपुत्री है। रावल भोज देव का शासन काल १२०५ से आरम्भ होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ का चतुर्थ खंड तो प्राप्त ही नहीं होता। दूसरे और तीसरे में सर्वत्र राजमती को जैसलमेर की राजकुमारी बताया है।

लेखक ने इस ग्रंथ को इतिहास या वंशावली के रूप में प्रस्तुत नहीं किया। प्रत्युत उन्होंने इसे सरस कल्पना और काव्यमय रूप दिया है। यही कारण है कि इसमें विग्रहराज चतुर्थ की वीरता की उपेक्षा है। बीसलदेव का उड़ीसा प्रस्थान, जगन्नाथ पुरी की यात्रा, वहां के राजा के निमंत्रण अथवा दिग्विजय की भावना से संभव है। कवि ने उसे विरह वर्णन का रूप दे दिया है। पर्याप्त प्रक्षिप्त पाठों के होने पर भी यह रचना १२१२ में लिखी गई मालूम पड़ती है। भले ही इसका वर्तमान रूप १६वीं शताब्दी में निर्मित हुआ हो।

रचयिता—इस ग्रन्थ का रचयिता विग्रहराज चतुर्थ का समकालीन कवि नरपति नाल्ह (१२१२) है। पर इधर मोतीलाल मेनारिया ने अजमेर के नरपति को गुजरात के नरपति नाल्ह से अभिन्न माना है। उनके इस विश्वास का प्रमुख आधार दोनों कवियों का भाव-साम्य है। डॉ० हजारी प्रसाद भी इस संबंध में मेनारिया के मत से सहमत दीख पड़ते हैं। अजमेर के नरपति नाल्ह का समय १२१२ है जबकि गुजरात के नतपति नाल्ह का समय १६वीं शती ठहरता है। ऐसी स्थिति में दोनों में एकता स्थापित करना समीचीन नहीं है। रही भावसाम्य की बात, उसका मिल जाना संभव है क्योंकि मानव मन में एकता मिलनी कोई अकल्पनीय वस्तु नहीं। शृंगार-प्रकाश के कर्ता भोजराज तथा फ्रायड में भाव-साम्य मिलता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि वे दोनों समकालीन थे या एक दूसरे के भावों का अपहरण किया है। इधर स्वयं कवि ने अपने ग्रन्थ का रचना काल 'बारा सौ बहोत्तरा' दिया है। इसमें बहोत्तरा का अर्थ भले ही १२, २० या ७२ लिया जाय पर बारह सौ तो स्पष्ट ही है। अतः १६वीं शती के कवि को १३वीं शती के कवि अभिन्न मानना समुचित नहीं।

चरित नायक—बीसलदेव रासो का चरित नायक विग्रहराज चतुर्थ है। अजमेर और सांभर के चौहानों में विग्रहराज नाम के चार राजा मिलते हैं जिन्हें बीसलदेव कहा जाता है। दिल्ली के फीरोजशाह की लाट पर विग्रहराज चतुर्थ

द्वारा खुदवाये गये लेख से इस इस बात की पुष्टि होती है। विग्रहराज तृतीय का सं० ११५० विक्रमी में तथा विग्रहराज चतुर्थ का सं० १२११ से १२२० वि० तक विद्यमान रहना सिद्ध होता है। बीसलदेव रासो में कोई वंशावली नहीं दी गई है अतः यह निर्णय देना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि यह कौन सा विग्रहराज था। कई विद्वानों ने विग्रहराज चतुर्थ को इस ग्रन्थ का नायक मानना स्वीकार किया है किन्तु श्री ओझा जी ने विग्रहराज तृतीय को इसका नायक मानना अधिक उपयुक्त समझा है। उनका कहना है कि यदि बीसलदेव को विग्रहराज चतुर्थ माना जाय तो राजमती का उससे विवाह इतिहास के विरुद्ध पड़ता है और इसी प्रकार और भी अनेक ऐतिहासिक असंगतियां बनी रहती हैं।

वास्तव में नरपति नाल्ह न कोई इतिहासज्ञ था और न ही कोई बड़ा कवि। उसने सुने सुनाये आख्यान के आधार पर लोगों को प्रसन्न करने के लिए काव्य का ढांचा खड़ा किया जिसमें समय-समय पर यथेष्ट मात्रा में परिवर्तन तथा परिवर्द्धन होता रहा जिससे उसका असली रूप दब गया और उसमें कई ऐतिहासिक भ्रांतियां आ गईं।

भाषा—इस ग्रन्थ की भाषा को उस युग की भाषा का संधिस्थल कह सकते हैं। इसकी भाषा में एक ओर तो अपभ्रंशपन है और दूसरी ओर हिन्दीपन। भाषा का यह रूप वस्तुतः उसे सं० १२१२ की रचना सिद्ध करता है। ११वीं शती की अधिकांश रचनाएँ परिनिष्ठित अपभ्रंश में हैं और १४वीं शती की रचनाएँ डिंगल और पिंगल में लिखी गई हैं। अतः यह रचना १३वीं शती की ठहरती है। इस सम्बंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० रामकुमार वर्मा के विचार द्रष्टव्य हैं:—

"भाषा की परीक्षा करके देखते हैं तो वह साहित्यिक नहीं है, राजस्थानी है। ...इस ग्रन्थ से एक बात का आभास अवश्य मिलता है। वह यह कि श्लिष्ट भाषा में ब्रज और खड़ी बोली के प्राचीन रूप का ही राजस्थान में व्यवहार होता था। साहित्य की सामान्य भाषा हिन्दी थी जो पिंगल भाषा कहलाता थी। बीसलदेव रासो में बीच-बीच में बराबर इस साहित्यिक भाषा (हिन्दी) को मिलाने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है।"

—शुक्ल

बीसलदेव रासो का व्याकरण अपभ्रंश के नियमों का पालन कर रहा है। कारक, क्रियाओं और संज्ञाओं के रूप अपभ्रंश भाषा के ही हैं। अतएव भाषा की दृष्टि से इस रासो को अपभ्रंश भाषा से सद्यः विकसित हिन्दी का ग्रंथ कहने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

—डॉ० रामकुमार वर्मा।

काव्य सौन्दर्य—बीसलदेव रासो एक विरह काव्य है। इसमें चार खण्ड हैं तथा सवा सौ छन्द हैं। इसके प्रथम खण्ड में अजमेर के विग्रहराज चतुर्थ उपनाम

बीसलदेव का परमार वंशज राजा भोज की कन्या राजमती से विवाह वर्णित है। द्वितीय खंड में राजमती के व्यंग्य पर राजा का उड़ीसा प्रवास है। तृतीय खंड में राजमती का विरह वर्णन तथा १२ वर्षों के अनन्तर राजा का वापस आना उल्लिखित है। चतुर्थ खंड में राजमती का मायके चला जाना तथा बीसलदेव का उसे अजमेर वापस ले आने का वर्णन है। यह सारी कथा ललित मुक्तकों में कही गई है। यदि इस कहानी को हटा भी दिया जाय तो भी इस प्रेम काव्य के मुक्तकों की एक-सूत्रता में कोई अन्तर नहीं आता। संदेश रासक की भाँति बीसलदेव रासो भी मुक्तक विरह काव्य है। अन्तर इतना है कि बीसलदेव रासो के आरम्भ में विवाह के भी गीत हैं साथ ही बीसलदेव के परदेस जाने का प्रसंग भी वर्णित है। शेष प्रसंग सामान्य रूप से लगभग एक से हैं अन्तर केवल ब्यौरे का है। यह ग्रन्थ विरह के स्वाभाविक चित्रण, संयोग और विप्रलंभ शृंगार की सफल उद्भावना और साथ ही प्रकृति के रूप चित्रों से परिपूर्ण है। इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विविध घटनाओं के वर्णनों के होते हुए भी इस काव्य में इतिवृत्तात्मकता नहीं आ पाई है। राजमती का चरित्र बड़ा ही सजीव तथा विलक्षण बन पड़ा है। "मध्य युग के समूचे हिन्दी साहित्य में जबान की इतनी तेज और मन की इतनी खरी नायिका नहीं दीख पड़ती।" राजा बीसलदेव ने एक दिन राजकीय अभिमान की रौ में कहा कि मेरे समान दूसरा भूपाल नहीं। रानी से यह मिथ्याभिमान न सहा गया। उसने कहा उड़ीसा का राजा तुम से धनी है। जिस प्रकार तुम्हारे राज्य में नमक निकलता है, उसी तरह उसके घर में हीरे की खानों से हीरा निकलता है। राजा इस पर जल-भुन गया और वह रूठ गया और रानी के लाख अनुनय-विनय करने पर भी उसने उड़ीसा जाने का संकल्प कर लिया। उस समय के रानी के वचन अत्यन्त मार्मिक बन पड़े हैं—

हेड़ाऊ का तुरिय जिउ।
हाथ न फेरइ सउसउ बार।

अर्थात् मैं हार के उस घोड़े के समान उपेक्षिता हूं जिस पर घोड़े वाला सौ-सौ दिन तक हाथ नहीं फेरता। आगे चल कर वह कहती है कि ताजी घोड़ा यदि उसासें लेता है तो दागा जाता है, चरता हुआ मृग भी मोहित किया जा सकता है, किन्तु हे सखि! अंचल में पिया को बाँधा कैसे जा सकता है?

चांपीया तेजीय जउ रे उससाई
मृग रे चरन्ता मोहिजइ
सखि अंचलि बाँधियउ नाह किऊं जाइ॥

पति की नीरसता पर झल्ला कर राजमती यहां तक कहती है—

राउ नहीं सखि भइंस पीडार।

राजमती ज़बान की तेज़ है तो क्या आखिर है तो नारी ही। विरह से उसका हृदय विदीर्ण हो जाता है। उसे अपने स्त्री जीवन पर रोना आता है। महेश को

उलहाना देती हुई वह कहती है कि स्त्री का जन्म तुमने क्यों दिया ? देने के लिए तो तुम्हारे पास और भी अनेक जन्म थे। तुमने मुझे जंगल का जन्तु क्यों नहीं बनाया। यदि वनखण्ड की काली कोयल ही बनाया होता तो आम और चम्पा की डाल पर तो बैठती, अंगूर और बीजोरी के फल तो खाती। वास्तव में उक्त कथन में वासना-भिभूत मध्ययुगीन पुरुष के स्वार्थ और उसकी अति कामुकतामयी-रसिकता की शिकार बनी हुई मध्ययुगीन नारी के आत्मा का करुण क्रन्दन एवं चीत्कार है। इस प्रकार के कथन विद्यापति तथा हेमचन्द में भी देखे जा सकते हैं। राजमती की आत्मा विद्रोहिणी मन-अभिमानी और जबान प्रखर है। पुरुष की स्वार्थमय रसिकता ने उसे नारी जीवन से ही विरक्त बना दिया है।

अस्त्रीय जनम काइं दीधउ महेस
अवर जनम धारइ घणा रे नरेश,
रानि न सिरजीय रोझड़ी,
घणह न सिरजीय धउलीय गाइ।
वनखंड काली कोइली,
हऊँ बइसती अंबा नइ चम्पा की डाल
भषती द्राख बिजोरडी।

आगे वह फिर कहती है कि यदि तुमने मुझे नारी ही बनाया तो राज-रानी न बना कर आंजनी (जाटनी) क्यों नहीं बनाया। तब मैं अपने भरतार के साथ खेत कमाती, अच्छी लोमपटी पहनती, तुंग तुरंग से समान अपना गात स्वामी के गात से भिड़ाती, स्वामी को सामने से लेती और हँस-हँस कर प्रिय की बात पूछती। कितनी बड़ी विवशता है किसी राजा की रानी होना—कितना बड़ा अभिशाप है। राजा के वापस लौटने पर रानी की कैंची जैसी जबान से फिर न रहा गया और उसने ताना मार ही दिया—

स्वामी घी विणजियउ नइ जीमियउ तेल।

हे स्वामी तुमने वाणिज्य तो घी का जरूर किया किन्तु जेमा तेल ही। इतनी सुन्दरी नारी से विवाह तो किया किन्तु उसके उपभोग करने का सौभाग्य तुम्हें न मिल सका। अभिव्यक्ति की ताजगी और भावों की तीव्रता में बीसलदेव रासो सन्देश रासक से कहीं अधिक लोक-जीवन के रंग में रँगा हुआ है। इससे यह सिद्ध है कि हिन्दी साहित्य के अभ्युदय काल में लोक-जीवन का स्पर्श अधिक गहराई के साथ होने लगा था। बीसलदेव रासो पर लोक-तत्त्व का प्रभाव बहुत गहेरा है।

विप्रलंभ की अवस्था में कवि ने जो बारहमासा दिया है वह भी अपने ढंग का अकेला है। चैत्र मास का छन्द देखिए—

चैत्र मासई चतुरंगी हे नारि।
प्रीय विण जीविजइ किसइ अधारि।

कंचूयउ भीजइ हसइ ।
सात सहेलीय बइठी छइ पाइ ।

विरह काव्य होने के कारण बीसलदेव रासो में संभोग के मांसलता पूर्ण चित्रों का प्रायः अभाव है। इस दृष्टि से यह संदेश परंपरा में आता है कालिदास के मेघदूत की परंपरा में नहीं, क्योंकि कालिदास का यक्ष प्रकृति से अतिरसिक है। वियोग काल में अनुभूतियाँ तरल और सूक्ष्म हो जाती हैं किन्तु कालिदास का यक्ष वियोग काल में संदेश देते समय भी संयोग के मांसल दृश्यों को नहीं भूलता।

इस रचना में आदि से अन्त तक एक ही छंद का प्रयोग हुआ है। संपूर्ण रचना गेय है। प्रत्येक छंद स्वतंत्र गीत है और केदारा राग में गाये जाने के लिए लिखा गया है। यह रचना नृत्य-गीत के रूप में प्रस्तुत की जाती रही है।

इसमें कहीं-कहीं पर साधारण और अक्रमिक शैली में घटनाओं का वर्णन मिलता है और कई स्थानों पर 'बेटी राजा भोज की' बीच में ही जोड़ दिया गया है। दूसरी बात यह है कि कथानक के अन्तर्गत आने वाले संवाद कई जगह उलझे हुए हैं। कहीं-कहीं पर चित्रण अत्यंत नीरस और भौंड़ा हो गया है। किन्तु इन त्रुटियों के होते हुए भी बीसलदेव रासो अपनी गेयता, संक्षिप्तता और सरस चित्रणों के फलस्वरूप पाठकों को प्रभावित करता रहेगा।

जगनिक का परमाल रासो (आल्हा खण्ड)

जगनिक कालिंजर (चंदेल राज्य) के राजा परमर्दिदेव का दरबारी कवि था। परमर्दिदेव कन्नौज नरेश जयचंद का सामंत था या अधीनस्थ कोई राजा था। परमर्दिदेव राजा जयचंद की सदा सहायता किया करता था। एक दफा पृथ्वीराज चौहान ने चंदेल राज्य पर किसी ब्याज से आक्रमण किया जिसमें बनाफर शाखा के दो क्षत्रिय वीर आल्हा और ऊदल वीरगति को प्राप्त हुए। जगनिक ने इन्हीं दो वीरों की गाथा को लेकर काव्य लिखा। बहुत दिनों तक इस काव्य को पृथ्वीराज रासो का एक खंड 'महोबा खंड' के रूप में समझा गया। सं० १९७६ में नागरी प्रचारिणी सभा काशी से यह रचना प्रकाशित हुई है। जिसके संपादक डॉ० श्यामसुन्दरदास ने भूमिका में लिखा है—'जिन प्रतियों के आधार पर यह संस्करण सम्पादित हुआ है, उनमें यह नाम नहीं है। उनमें इसको चंद्रकृत पृथ्वीराज रासो का महोबा खंड लिखा हुआ है। किन्तु वास्तव में यह पृथ्वीराज रासो का महोबा खंड नहीं है, वरन् उसमें वर्णित घटनाओं को लेकर मुख्यतः पृथ्वीराज रासो में दिये हुये एक वर्णन के आधार पर लिखा हुआ एक स्वतंत्र ग्रंथ है। यद्यपि इस ग्रन्थ का नाम मूल प्रतियों में पृथ्वीराज रासो दिया हुआ है, पर इस नाम से इसे प्रकाशित करना लोगों को भ्रम में डालना होगा। अतएव मैंने इसे परमाल रासो' नाम देने का साहस किया है।'

फर्रुखाबाद के कलक्टर मि० चार्ल्स इलियट ने लोक में प्रचलित आल्हा-

ऊदल सम्बन्धी गीतों का संग्रह आल्हा खंड के नाम से छपवाया था। डॉ० हजारी-प्रसाद इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में लिखते हैं—"निःसंदेह इस नये रूप में बहुत सी नई बातें आ गई हैं और जगनिक के मूल काव्य का क्या रूप था, यह कहना कठिन हो गया है। अनुमानतः इस संग्रह का वीरत्वपूर्ण स्वर तो सुरक्षित है, लेकिन भाषा और कथानकों में बहुत अधिक परिवर्तन हो गया है। इसलिए चन्दवरदायी के पृथ्वीराज रासो की तरह इस ग्रन्थ को भी अर्द्ध-प्रामाणिक कह सकते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि या तो जगनिक का काव्य बहुत दिनों तक बुन्देलखंड के बाहर प्रसारित नहीं हुआ या यह रचा ही बहुत बाद में गया। पुराने साहित्य में इस अत्यन्त लोकप्रिय काव्य का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता और गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस श्रेणी के काव्य प को शायद सुना ही नहीं था। यदि उन्होंने सुना होता तो अपने स्वभाव और नियम के अनुसार इस पद्धति को भी अवश्य राममय बनाते।"

निःसन्देह इस रचना में अनेक परिवर्तन तथा परिवर्द्धन हुए फिर भी इस में जगनिक की हृदयस्पर्शी भावधारा अजस्रगति से प्रवाहित होकर आज तक रसिकों के मन को आप्लावित करती आई है—कवि के लिए यह कम महत्त्व की बात नहीं है। यह आल्हा खंड आज भी वर्षा ऋतु में गाया जाता है। इन गीतों को आल्हा रासो भी कहा जाता है, क्योंकि उस समय गेय साहित्य को रासो की संज्ञा से अभिहित किया जाता था।

चन्दवरदायी : पृथ्वीराज रासो

चंद : व्यक्तित्व और चरित—चन्द हिन्दी साहित्य का एक ऐसा विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न कवि है जिसकी कृति "पृथ्वीराज रासो" और उसका निजी अस्तित्व आज तक प्रश्नवाची चिह्न (?) से संयुक्त है। आज पृथ्वीराज रासो की प्रामा-णिकता अत्यन्त विवादास्पद विषय है। हिन्दी के कुछ विद्वानों ने रासो को सर्वथा अप्रामाणिक, कुछ-एक ने प्रामाणिक और कइयों ने अर्द्ध-प्रामाणिक माना है। इस वितंडावाद से रासोकार का व्यक्तित्व नितांत धूमिल हो गया है।

परम्परानुसार तासी चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि ये पृथ्वीराज के साथ वि० सं० १२०६ में पैदा हुए थे। ये जगाति गोत्र के भट्ट ब्राह्मण थे और इनका जन्म लाहौर में हुआ। जालन्धरी इनकी इष्ट देवी थी जिनकी कृपा से चन्द अदृश्य काव्य तक का निर्माण कर सकते थे। चन्द पृथ्वीराज के राज कवि ही नहीं थे अपितु सखा और सामन्त भी थे। षट्-भाषा-व्याकरण, काव्य, साहित्य, छन्द-शास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक आदि में ये पूर्णतया दक्ष थे। इनका जीवन पृथ्वीराज से एक-मात्र अभिन्न था। ये सभा, युद्ध, आखेट तथा यात्रादि में सदा महाराज के साथ रहा करते थे। जब शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज चौहान को बन्दी बनाकर गजनी ले गया तब चन्द भी वहाँ पहुँचे और रासो का लेखन कार्य अपने पुत्र जल्हण को सौंप गये—

"पुस्तक जल्हण हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज।"

गजनी पहुँच कर चन्द ने सम्राट् चौहान को मुक्त करवाने के लिए पृथ्वी-राज द्वारा शब्द वेधी बाण चलाने की योजना बनाई। पृथ्वीराज ने चन्द के संकेत पर बाण चला कर गौरी का काम तमाम कर दिया, तत्पश्चात् चन्द और पृथ्वीराज ने कटार मार कर आत्मोत्सर्ग किया।

कई विद्वानों ने चन्द के पूर्व पुरुषों को मगध से आया हुआ बताया है किन्तु रासो में लिखा है कि चन्द का जन्म लाहौर में हुआ। कहते हैं कि चन्द पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के समय राजपूताने में आया और पहले सोमेश्वर का दरबारी और पीछे पृथ्वीराज का मन्त्री, सखा और राजकवि हुआ। पृथ्वीराज ने नागौर बसाया था और वहीं बहुत-सी भूमि चन्द को दी थी। नागौर में अब तक भी चन्द के वंशज रहते हैं।

इधर प्रो० बूलर आदि विद्वानों ने चन्द के अस्तित्व को मानने से बिल्कुल इन्कार कर दिया है। प्रो० महोदय का कथन है कि जयानक रचित पृथ्वीराज नामक संस्कृत काव्य में पृथ्वीराज की राज-सभा का वर्णन किया है, पर उसमें चन्द का कहीं भी नाम नहीं है। उसमें पृथ्वीराज के दरबारी बन्दीजन पृथ्वी भट्ट का उल्लेख है। पृथ्वीराज विजय के निम्न श्लोक—

तनयश्चंद्रराजस्य चंद्रराज इवाभवत्।
संग्रहं यः सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यधाघात्॥

के आधार पर चन्द्रराज नामक किसी कवि का होना तो सिद्ध होता है, पर यह नाम चन्दवरदायी का सूचक नहीं। ओझा जी ने भी इसे चन्द्रक कवि का सूचक बताया है जिसका उल्लेख काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने भी किया है। इसी तथ्य की पुष्टि कुछ-एक शिला-लेखों से भी हो जाती है। उनमें चन्द का कहीं भी उल्लेख नहीं है। इसके अतिरिक्त १५वीं शती में रचित हम्मीर महाकाव्य में चौहान वंश का वर्णन तो है पर चन्द का नाम भी नहीं है। इसी प्रकार उस समय में लिखित "रंभामंजरी" नामक नाटकों में रासो या चन्द का कहीं भी उल्लेख नहीं है। उक्त तथ्यों के आधार पर ही चन्द की अस्तित्व-हीनता स्वीकार करना संगत प्रतीत नहीं होता। किसी ग्रन्थ अथवा शिलालेख में अन्य कवि का नाम न होना कोई प्रबल तर्क नहीं है। ईर्ष्यावश या किसी अन्य कारण वश उसका उल्लेख न किया जाना नितान्त सम्भव है। दूसरी बात यह भी है कि जयानक या हम्मीर महाकाव्यकार कोई इतिहास प्रस्तुत नहीं कर रहे थे। बाण ने अपनी कादम्बरी में अनेक कवियों को श्रद्धांजलि अर्पित की है पर फिर भी कुछ-एक कवियों का वहाँ उल्लेख नहीं है, किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि संस्कृत साहित्य में कवि हैं ही नहीं। सच तो यह है कि हमारे यहाँ कुछ मिथ्या और निरर्थक मान्यतायें और धारणायें चल निकली हैं जैसे रामायण के राम और रावण आदि पात्र एकमात्र कल्पित हैं, कौटिल्य एवं चाणक्य सर्वथा कल्पित (Mythical) हैं। अस्तु! प्रबन्ध संग्रहों के सम्पादक मुनि जिनविजय ने लिखा

है—"इससे यह प्रमाणित होता है कि चन्द कवि निश्चयतः एक ऐतिहासिक पुरुष था और वह दिल्लीश्वर हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित राजकवि था। उसी ने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिए देशव्यापी प्राकृत भाषा में एक काव्य रचना की थी जो पृथ्वीराज रासो के नाम से प्रसिद्ध हुई।"

चन्दवरदाई ने षड्-भाषा कुरान तथा पुराणों के ज्ञाता होने का दावा किया है...षड्भाषा कुरानंच पुराणं विदितं मया। वर्णन्ताकर के लेखक ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने षड्-भाषाओं के अन्तर्गत संस्कृत, प्राकृत, अवहठ, पैशाची, शौरसेनी तथा मागधी का उल्लेख किया है। उनके अनुसार—शकारी, आभीरी, चांडाली, सावली, द्राविड़ी, औत्कलि और विजातीया, ये सात उपभाषायें हैं। (वर्णन्ताकर पृ० ४४) हमारा अनुमान है कि चन्दवरदायी को उपर्युक्त भाषाओं का विशिष्ट ज्ञान था। और यह कोई अजब नहीं कि पृथ्वीराज रासो अपने मूल रूप में प्राकृत-भाषा में या तत्सम्बन्धी-अपभ्रंशों में प्रणीत हुआ हो तथा बाद में उसकी भाषा में आवश्यकता-नुसार परिवर्तन को प्रक्रिया चलती रही हो।

शताब्दियों से चली आई चन्दवरदायी विषयक जनश्रुति-परम्परा को एक-मात्र कपोल-कल्पित नहीं कहा जा सकता है। निःसन्देह चन्द की जीवनी के सम्बन्ध में जितनी सामग्री उपलब्ध हैं, वह नितान्त विश्वसनीय एवं सन्तोषजनक नहीं। इस सम्बन्ध में विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता है।

पृथ्वीराज रासो के विभिन्न संस्करण और उसका उद्धरण

पृथ्वीराज रासो के कई संस्करण मिलते हैं जिनमें मुख्य निम्न हैं :—

(क) **बृहत् रूपान्तर**—इसकी कई प्रतियां उदयपुर राज्य के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं तथा इसके आधार पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण तैयार किया गया था। इसकी सभी उपलब्ध प्रतियाँ सं० १७५० के पश्चात् की हैं। वैसे नागरी प्रचारिणी सभा वाले संस्करण का आधार सं० १६४२ की प्रति को बताया जाता है। इसमें ६९ समय (सर्ग) हैं तथा १६३०६ छन्द हैं।

(ख) **मध्यम रूपान्तर**—इसकी कुछ प्रतियाँ अबोहर के साहित्य सदन, बीका-नेर के जैन ज्ञान भंडार और श्रीयुत अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित हैं। पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने इसी संस्करण को प्रामाणिक माना है। इसकी छन्द संख्या सात हजार है तथा इसकी सब उपलब्ध प्रतियाँ सं० १७०० के पश्चात् की हैं।

(ग) **लघु रूपान्तर** इसकी तीन प्रतियाँ बीकानेर राज्य के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। यह १९ सर्गों में विभाजित है तथा श्लोक संख्या ३५०० है। इनमें से कुछ प्रतियों के अन्त में ऐसी पंक्तियाँ हैं जिनसे पता चलता है कि इस संस्करण का सकलन किसी चन्द्रसिंह नामक व्यक्ति द्वारा हुआ था।

(घ) **लघुतम रूपान्तर**—यह संस्करण श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा खोजा गया

था। इसमें अध्यायों का विभाजन नहीं है तथा श्लोक संख्या १३०० है। डॉ० दशरथ शर्मा ने इसी संस्करण को प्रामाणिक माना है।

उद्धरण कार्य—रासो के उद्धरण कार्य में तीन व्यक्तियों का नाम लिया जाता है—(क) झल्लर (जल्हन), (ख) चन्दसिंह, (ग) अमरसिंह।

(क) झल्लर या जल्हन कवि चन्दवरदायी का पुत्र था। गजनी जाते समय चन्द अपने पुत्र जल्हन को रासो को पूरा करने का आदेश दे गये थे—

पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज॥

भारतीय साहित्य में यह कोई नई बात नहीं। कवि बाण की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र ने कादम्बरी का उत्तरार्द्ध भाग लिखकर उसे सम्पूर्ण किया था। जल्हन को उद्धर्त्ता न समझकर कर्त्ता ही समझना चाहिये।

(ख) चन्दसिंह—रासो के लघुरूपान्तर में "चन्दसिंह उद्धरिय इम" यह पाठ उपलब्ध होता है। यह चन्दसिंह कौन है इसका उत्तर डॉ० उदयनारायण तिवारी अपनी पुस्तक वीर काव्य संग्रह में देते हुए लिखते हैं—"चांदसिंह अथवा चन्दसिंह महाराज मानसिंह के छोटे भाई तथा अकबर के सेनापति सूरजसिंह के पुत्र थे। इस प्रकार चन्दसिंह मानसिंह का भतीजा था।

(ग) अमरसिंह—अमरसिंह द्वितीय भी रासो के उद्धर्त्ता माने जाते हैं। इनका शासनकाल सं० १७७५ से १८०८ है। इनके उद्धार कार्य को प्रमाणित करने के लिए निम्न दोहा उपस्थित किया जाता है :—

छन्द प्रबन्ध कवित्त यति, साटक शाह दुहत्थ।
लघु गुरु मंडित खंडि यह पिंगल अमर भरत्थ॥

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

प्रारम्भ में रासो को एक प्रामाणिक ग्रन्थ समझा गया। कर्नल टाड ने इसे प्रामाणिक समझकर इसके साहित्यिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर इसके लगभग तीस हजार पद्यों का अंग्रेजी अनुवाद किया था। फ्रेंच विद्वान् गार्सा द तासी ने भी इसे प्रामाणिक माना था। बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने तो इसका प्रकाशन भी आरम्भ कर दिया था, किन्तु इसी बीच १८७५ ई० में डॉ० बूलर का कश्मीर में जयानक रचित "पृथ्वीराज विजय" नामक संस्कृत काव्य उपलब्ध हुआ। ऐतिहासिकता की दृष्टि से इस ग्रन्थ में वर्णित घटनायें उसे रासो की अपेक्षा शुद्ध प्रतीत हुईं। ऐसी स्थिति में प्रो० बूलर को रासो की प्रामाणिकता पर सन्देह हुआ और उसने उसका प्रकाशन कार्य स्थगित करवा दिया। वैसे तो रासो की प्रामाणिकता पर सन्देह करने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति जोधपुर के कविराज मुरारिदान तथा उदयपुर के कविराज श्यामलदान थे किन्तु डॉ० बूलर के सन्देहपूर्ण दृष्टिकोण से अन्य भारतीय विद्वानों को इस दिशा में काफी प्रेरणा मिली, जिनमें गौरीशंकर हीराचंद ओझा विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अकाट्य युक्तियों से रासो को अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया,

है। इधर डॉ० दशरथ शर्मा ने ओझा जी की तमाम शंकाओं को निर्मूल सिद्ध करने के लिए तथा रासो को प्रामाणिक ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए उल्लेखनीय प्रयत्न किये हैं। सच यह है कि हिन्दी साहित्य में रासो की प्रामाणिकता का प्रश्न आज तक विवादास्पद बना हुआ है। कुछ आलोचक रासो को नितान्त अनैतिहासिक मानते हैं जबकि कुछ विद्वान् इसे सर्वथा प्रामाणिक मानते हैं। इस सम्बन्ध में विद्वानों का तीसरा वर्ग रासो को अर्द्ध-प्रामाणिक रचना मानता है। चौथा वर्ग ऐसा है जो चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन तो मानता है पर इनके मतानुसार चन्द ने रासो की रचना नहीं की। रासो के आलोचकों के ये चार वर्ग निम्न हैं :—

प्रथम वर्ग—रासो को सर्वथा अप्रामाणित मानता है यह वर्ग चन्द के अस्तित्व को तथा रासो को पृथ्वीराज की समकालीन रचना को भी नहीं मानता। इस पक्ष के समर्थक हैं। कविराज श्यामलदास, कविराज मुरारीदान, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डॉ० वूलर, मारिसन, मुंशी देवी प्रसाद, श्री अमृतलाल शील, श्री रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ० रामकुमार वर्मा।

द्वितीय वर्ग—यह वर्ग रासो के वर्तमान रूप को प्रामाणिक तथा चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन मानता है। इस पक्ष के समर्थक हैं—श्यामसुन्दरदास, मथुराप्रसाद दीक्षित, मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या, मिश्रबन्धु तथा मोतीलाल मेनारिया आदि। इनमें कुछ रासो में प्रक्षिप्त अंशों का बहुत बड़ी संख्या में होना मानते हैं।

तृतीय वर्ग—यह वर्ग मानता है कि पृथ्वीराज के दरबार में चन्द नामक कवि था जिसने रासो लिखा था किन्तु वह अपने मूल रूप में अप्राप्य है। आज उसका परिवर्तित एवं विकृत रूप उपलब्ध होता है। इस पक्ष के समर्थक हैं—डॉ० सुनीति-कुमार चटर्जी, मुनि जिनविजय, अगर चन्द नाहटा, डॉ० दशरथ शर्मा, कविराज मोहनसिंह और हजारीप्रसाद। ये विद्वान् रासो को अर्द्ध-प्रामाणिक रचना स्वीकार करते हैं।

चतुर्थ वर्ग—यह मानता है कि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन था परन्तु उसने प्रबन्ध रूप में रासो की रचना नहीं की। जैन ग्रन्थ माला में प्राप्त पदों को उसकी फुटकर रचना मानता है। नरोत्तम स्वामी का यही मत है।

रासो की अप्रामाणिकता के कारण—रासो को प्रामाणिक मानने के मुख्यतः तीन कारण हैं—(क) घटना वैषम्य, (ख) काल वैषम्य, (ग) भाषा सम्बन्धी अव्यवस्था।

(क) घटना वैषम्य—रासो में दिये गये अनेक नाम तथा घटनायें इतिहास-सम्मत नहीं हैं। उदाहरणार्थ :—

(१) रासो में परमार, चालुक्य और चौहान क्षत्रिय अग्निवंशी माने गये हैं। जबकि प्राचीन ग्रन्थों और शिलालेखों के आधार पर वे सूर्यवंशी प्रमाणित होते हैं।

(२) चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता का नाम, माता का वंश, पुत्र का नाम, सामन्तों के नाम आदि ऐतिहासिक शिलालेखों तथा पृथ्वीराज विजय नामक ग्रन्थ से मेल नहीं खाते। पृथ्वीराज की मां अनंगपाल की लड़की नहीं थी और न ही जयचन्द अनंगपाल का दौहित्र तथा राठौरवंशी था। शिलालेखों में उसे गहरवार क्षत्रिय बताया गया है।

(३) ओझा जी ने पृथ्वीराज तथा जयचन्द की शत्रुता तथा संयोगिता-स्वयंवर की बात को भी अनैतिहासिक कहा है।

(४) इतिहास के अनुसार अनंगपाल उस समय दिल्ली का राजा नहीं था और न ही पृथ्वीराज को उसने गोद लिया था। पृथ्वीराज अजमेर का शासक था न कि दिल्ली का। बीसलदेव पहले से ही दिल्ली राज्य को अजमेर राज्य में सम्मिलित कर चुके थे।

(५) पृथ्वीराज की मां का नाम कर्पूरदेवी था, न कि कमला; जैसे रासो में वर्णित है।

(६) पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह मेवाड़ के राजा समरसिंह से नहीं हुआ था क्योंकि शिलालेखों से यह प्रमाणित हो चुका है कि समरसिंह पृथ्वीराज के पश्चात् १०९ वर्ष तक जीवित रहे।

(७) गुजरात के राजा भीमसिंह का पृथ्वीराज द्वारा वध भी अनैतिहासिक है, क्योंकि राजा भीमसिंह पृथ्वीराज के पश्चात् ५० वर्ष तक जीवित रहे थे। भीमसिंह पृथ्वीराज के समय बालक ही था।

(८) शहाबुद्दीन का मृत्यु सम्बन्धी इतिवृत्त भी कोरी कल्पना पर आधारित है, क्योंकि गोरी की मृत्यु पृथ्वीराज के हाथों नहीं, गक्खरों के हाथों से हुई।

(९) रासो में पृथ्वीराज के ११ वर्ष से लेकर ३६ वर्ष की आयु तक चौदह विवाहों का वर्णन है जबकि इतिहास के अनुसार पृथ्वीराज की मृत्यु तीस वर्ष की अवस्था से पूर्व ही हो गई थी। अतः इतने विवाह असंभाव्य हैं।

(१०) शहाबुद्दीन द्वारा समरसिंह का वध और पृथ्वीराज द्वारा सोमेश्वर का वध इतिहास-विरुद्ध है।

(ख) काल वैषम्य—रासो में दी गई तिथियां तथा सम्वत् भी अशुद्ध हैं। कर्नल टाड के अनुसार रासो में दिए गए सम्वतों तथा दूसरे ऐतिहासिक सम्वतों में सौ वर्ष का अन्तर है।

(१) रासो में पृथ्वीराज की मृत्यु का सम्वत् ११५८ है जबकि इतिहास से वह सम्वत् ११४८ है। पृथ्वीराज का जन्म रासो में सं० १११५ है। इतिहास से वह १२२० ठहरता है।

(२) आबू पर भीम चालुक्य का आक्रमण शहाबुद्दीन के साथ पुराडौर युद्ध की तिथियां भी अशुद्ध हैं।

(३) पृथ्वीराज की जीवन घटनायें—उसका दिल्ली गोद जाना, मेवाती मुगल युद्ध, संयोगिता-स्वयंवर आदि घटनाओं का सं० १४६० के आस-पास रचित हम्मीर महाकाव्य में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है।

(४) रासो के अनुसार शहाबुद्दीन गौरी सं० १२४६ में पृथ्वीराज द्वारा मारा गया था परन्तु इतिहास के अनुसार सं० १२६३ में गक्खरों के द्वारा उसका वध किया गया था।

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि रासो एक जाली ग्रन्थ है। यदि चन्दवरदाई पृथ्वीराज का समकालीन होता और रासो उसकी कृति होती तो कदाचित् इतनी भयंकर भूलें न होतीं। इस विषय में आचार्य शुक्ल लिखते हैं—"इस सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने को जगह नहीं कि यह ग्रन्थ पूरा जाली है। यह हो सकता है कि इसमें इधर-उधर चन्द के कुछ पद्य भी बिखरे हों। पर उनका पता लगाना असम्भव है। यदि किसी समसामयिक कवि का रचा होता और इसमें कुछ थोड़े अंश ही पीछे से मिले होते तो कुछ घटनाएँ और इसमें कुछ संम्वत् तो ठीक होते।"

(ग) **भाषा-सम्बन्धी अव्यवस्था**—रासो में अरबी फारसी के बहुत से शब्दों का प्रयोग हुआ है जो चन्द के समय किसी भी प्रकार प्रयोग में नहीं लाये जा सकते थे। इस प्रकार रासो की भाषा चन्द के समय की न होकर सोलहवीं शताब्दी की ठहरती है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने इसी आधार पर इसे सोलहवीं शती की रचना माना है। आचार्य शुक्ल का इस सम्बन्ध में कहना है, "यह ग्रन्थ (पृथ्वीराज रासो) न तो भाषा के इतिहास के और न ही साहित्य के जिज्ञासुओं के काम का है।"

रासो को प्रामाणिक मानने वालों का मत—रासो एकदम जाली पुस्तक नहीं है। इसमें बहुत कुछ प्रक्षेप होने के कारण इसका रूप विकृत जरूर हो गया है, पर इस विशाल ग्रन्थ में कुछ सार भी अवश्य है। इसका मूल रूप निश्चित रूप से साहित्य और भाषा के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। रासो के लघुतम संस्करण में प्रक्षेप अधिक संख्या में नहीं है। मुनि जिनविजय का कहना है कि रासो का मूल रूप अल्पकाय था और उसकी भाषा अपभ्रंश थी। एस० के० चटर्जी का भी ऐसा ही विश्वास है। क्योंकि "पुरातन प्रबन्ध संग्रह" में रासो के चार छंद ऐसे मिले हैं, जो रासो की लघुतम प्रतियों में भी हैं। यह प्रति लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी की मानी गई है। डॉ० हजारीप्रसाद का मत है कि "इन पद्यों के प्रकाशन के बाद अब कोई इस विषय में किसी को सन्देह नहीं रह गया है कि चन्द नामक कवि पृथ्वीराज के दरबार में अवश्य थे और उन्होंने ग्रन्थ भी लिखा है। सौभाग्यवश रासो में भी ये छन्द कुछ विकृत रूप में प्राप्त हो गए हैं। इस पर यह अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान रासो में चन्द के मूल छंद अवश्य मिले हुए हैं।"

डॉ० दशरथ शर्मा ने रासो पर आरोपित शंकाओं का खंडन करते हुए कहा है—

(१) मूल रासो न तो जाली ग्रन्थ है और न उसकी रचना सं० सोलह सौ के आस-पास हुई थी। इधर मिली हुई रासो की लघुतम प्रतियों के आधार पर घटना वैषम्य, काल वैषम्य एवं भाषा सम्बन्धी अव्यवस्थाओं का निराकरण हो जाता है। इन प्रतियों में इतिहास विषयक त्रुटिपूर्ण घटनाओं का कहीं भी उल्लेख नहीं है।

(२) राजपूत कुलों की आबू के अग्निकुण्ड से उत्पत्ति का उल्लेख भी इस प्रति में नहीं है। उसमें केवल इतना लिखा है कि ब्रह्मा के यज्ञ से वीर चौहान मानिक राय उत्पन्न हुआ। सुर्जन-चरित्र, हम्मीर काव्य और पुष्कर तीर्थ में भी यह कथा इसी प्रकार है।

(३) ओझा जी के अनुसार रासो की अशुद्ध वंशावली का यह विस्तार बीकानेर की लघुतम प्रति में नहीं है। पृथ्वीराज विजय में और इस प्रति की वंशावली में कुछ ही नामों का अन्तर है।

(४) अनंगपाल और पृथ्वीराज के सम्बन्ध की अशुद्धि इस प्रति में भी है। शर्मा जी इसका कोई कारण नहीं बता सके।

(५) संयोगिता-स्वयंवर का वर्णन सभी प्रतियों में विस्तारपूर्वक है। लघुतम प्रति में केवल इच्छिनी के विवाह का वर्णन है।

(६) पृथा का विवाह तथा शहाबुद्दीन-समरसिंह युद्ध और भीम-सोमेश्वर तथा पृथ्वीराज और सोमेश्वर के युद्ध का इस प्रति में कहीं उल्लेख नहीं। उसमें पृथ्वीराज और पद्मावती के विवाह की कथा भी नहीं है।

(७) लघुतम प्रति में कैमास वध का वर्णन है। पृथ्वीराज विजय के अनुसार वह पृथ्वीराज का प्रधान था। वह मूल रासो की कथा है।

डॉ० दशरथ शर्मा का कहना है कि रासो की अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में दी गई सब युक्तियां हेत्वाभास हैं। वे आगे लिखते हैं।

"सारांश यह कि अपने मूल रूप में रासो की ऐतिहासिकता अक्षुण्ण है। इस समय आवश्यकता इस बात की है कि बीकानेर की प्रति से भी रासो की पुरानी प्रति को खोज निकाला जाय। यदि रासो की प्राचीनतम प्रति मिल जाये तो उसमें निश्चित रूप से सुर्जन-चरित्र में उद्धृत बातें मिलेंगी, क्योंकि यह संस्कृत में रासो का सारांश है।"

इधर काल-वैषम्य का समाधान करते हुए पं० मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या ने "अनन्द" सवत् की कल्पना की है। अनन्त अर्थात् अ=शून्य (०) और नन्द=नौ (९) के अंक जोड़ने से ९० वर्ष का व्यवधान सभी तिथियों में ठीक बैठता है। पर ओझा जी का कहना है कि राजस्थान में विक्रम संवत् का प्रचलन रहा है। अतः इस काव्य में भी संवत का व्यवहार होना चाहिए था। अस्तु: पृथ्वी-

राज का दरबारी-कवि जयानक कश्मीरी था और वह संस्कृत का कवि था। उसके द्वारा चन्दबरदाई के अनुल्लेख से पृथ्वीराज रासो की अप्रमाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती है। सबसे पहली बात तो यह है कि जयानक ने कदाचित् कवि सुलभ सहज ईर्ष्यावश ऐसा किया हो, या यह भी सम्भव है कि प्राचीन काल के छोटे-छोटे राज्यों में भाषा कवि को संस्कृत कवियों के सम्मुख अत्यन्त गौण स्थान मिला करता था। वे साधारण-भाट या चारण-कवि से अधिक सम्मान के पात्र नहीं समझे जाते थे। यह अनुमान है कि बेचारे चन्दबरदाई की भी संस्कृत कवि के सामने दयनीय स्थिति रही होगी। संस्कृत पण्डितों के द्वारा तत्कालीन भाषा कवि को तुच्छ और नगण्य समझा गया। लोक में वे भाट की संज्ञा से अभिहित किए जाते थे। सम्भवतः ऐसे भाट कवि अपनी प्रतिभा का विशेष सम्मान प्राप्त न करके प्रशस्तिपरक अतिशयोक्तियों द्वारा आश्रयदाता को रिझा कर जीवन-यापन करते रहे हों।

डा० हजारीप्रसाद ने रासो को अर्द्ध प्रामाणिक रचना स्वीकार किया है। उनका कहना है कि रासो काव्य रूप दसवीं शताब्दी के साहित्य के काव्य रूप से समानता रखता है। इसकी संवाद-प्रवृत्ति और रासो प्रवृत्ति और कीर्तिपताका और सन्देश रासक से साम्य रखती है। इसमें सभी प्राचीन कथानक रूढ़ियों का सुन्दर निर्वाह हुआ है। रासो में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की प्रवृत्तियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। १२वीं शती की भाषा की संयुक्ताक्षरमय अनुस्वारान्त प्रवृत्ति इसमें उपलब्ध होती है। रासो विशुद्ध रूप से इतिहास ग्रंथ नहीं है प्रत्युत काव्यग्रंथ है। हर्षचरित के समान रासो में भी यत्र-तत्र दैवी शक्ति का आरोप है। वस्तुस्थिति यह है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में इतिहास को सीमित भौतिक अर्थ में ग्रहण न करके उसे व्यापक सांस्कृतिक रूप में ग्रहण किया गया। उसमें तथ्यों (facts) और कल्पना (fiction) का अद्भुत सम्मिश्रण है तथा उसमें ऐतिहासिक तथा निजंधरी कथाएँ साथ-साथ चलती हैं। इसके साथ उसमें सम्भावनाओं पर अधिक बल है। डा० हजारीप्रसाद का विचार है कि रासो की रचना शुक-शुकी के संवाद के रूप में हुई थी, अतः जिन सर्गों का आरम्भ शुक-शुकी संवाद से होता है, उन्हीं को प्रामाणिक माना जाना चाहिए। इस आधार पर आपने निम्नांकित सर्गों को प्रामाणिक मानने का सुझाव दिया है—(१) प्रारम्भिक अंश, (२) इञ्छिनी का विवाह, (३) शशिव्रता का गंधर्व-विवाह, (४) तोमर पाहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, (५) संयोगिता का विवाह, (६) कैमास-वध, (७) गौरी वध सम्बन्धी इतिवृत्त। रासो के सम्बन्ध में डॉ० नामवरसिंह की भी उपर्युक्त मान्यता है। उनका कहना है कि "शुक का दौत्य कार्य, नायिका को अप्सरा का अवतार कहना 'महादेव के मन्दिर में नायक-नायिका का मिलना, सिंहलद्वीप, फल द्वारा सन्तान की उत्पत्ति लिंग परिवर्तन आदि बातें अनैतिहासिकता की द्योतक नहीं बल्कि कथानक रूढ़ि के निर्वाह की सूचक हैं। पृथ्वीराज रासो ऐसी रूढ़ियों का कोष है।······इनमें से कितनी चन्द द्वारा नियोजित हैं और कितनी दूसरों के द्वारा इसको अलगा लेना खेल नहीं है।"

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने डॉ० हजारीप्रसाद के मत की आलोचना करते हुए लिखा है कि प्रक्षेपकारों ने भी शुक-शुकी के संवाद से प्रक्षिप्त सर्गों की रचना न की होगी, इसका क्या प्रमाण है ? जिन सर्गों को द्विवेदी जी ने प्रामाणिक माना है उनमें भी सम्भव है, प्रक्षिप्त अंश हों।

रासो की भाषा सम्बन्धी गड़बड़ी का समाधान करते हुए रासो की प्रामाणिकता के समर्थकों का कहना है कि उस समय मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हो गये थे। अतः लाहौर का निवासी होने के कारण चन्द की भाषा में उन शब्दों का प्रयोग उचित और तर्कसंगत है। यदि अरबी-फारसी के शब्दों के आधार पर रासो अप्रामाणिक है तो सूर और तुलसी का काव्य भी अप्रामाणिक मानना पड़ेगा क्योंकि उसमें भी उर्दू और फारसी के शब्द उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। हमारे विचारानुसार रासो सर्वथा अप्रामाणिक नहीं है। उसका मूल रूप अभी प्राप्त नहीं है। रासो का लघुतम संस्करण उसके मूल रूप के अधिक निकट है। हमारे कवि लोग जान-बूझ कर चरित नायक के गौरव की रक्षा के लिए ऐतिहासिक तथ्यों में परिवर्तन करते रहे हैं। चन्द इसके अपवाद नहीं हैं। साथ ही यह भी मानना होगा कि बारहवीं शताब्दी तक हिन्दी का विकास इतना अधिक नहीं हुआ था कि वह साहित्य में प्रयुक्त होती। अतः रासो का मूलतः अपभ्रंश में रचा जाना ही अधिक सम्भव है। अस्तु, रासो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के विषय में हिन्दी साहित्य में इतना अधिक कहा सुना गया है कि एक साधारण पाठक हैरान रह जाता है कि वह इसे असली कहे या जाली ? डॉ० हजारी-प्रसाद के शब्दों में "निरर्थक मंथन से जो दुस्तर फेन राशि तैयार हुई है उसे पार करके ग्रंथ के साहित्यिक रस तक पहुँचना हिन्दी के विद्यार्थी के लिए असम्भव सा व्यापार हो गया है।"

रासो का काव्य-सौन्दर्य—भले ही रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में मत-भेद है, किन्तु इसकी साहित्यिक गरिमा को सबने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। रासो को चाहे एक सफल महाकाव्य कहा जाये अथवा विशालकाय काव्य-कहा जाये, इन दोनों रूपों में इसका साहित्यिक सौष्ठव अक्षुण्ण है। इसमें प्रधानतः दो रस हैं—वीर और शृंगार और दोनों का सुन्दर परिपाक हुआ है पृथ्वीराज रण बाँकुरा भी है और सलौना-लुभावना जवान भी। चन्द ने शोभा एवं सौन्दर्य के चित्रण में अपूर्व कल्पना शक्ति से काम लिया है। डॉ० हजारीप्रसाद इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"शोभा चाहे प्रकृति की हो या मनुष्य की हो, परम्परा प्रचलित रूढ़ उपमानों के सहारे ही निखरी है।'अधीनस्थ सामन्तों की स्वामिभक्ति और पराक्रम अत्यन्त उज्ज्वल रूप में प्रकट हुए हैं।" पृथ्वीराज और जयचन्द के विरोध का कारण चाहे संयोगिता अपहरण हो या न हो किन्तु कवि ने रसराज की अभिव्यक्ति के लिए सुन्दर प्रसंग ढूँढ़ निकाला है। युद्धों का मूल कारण किसी नारी को कल्पित करके जहाँ एक ओर

प्रेम-चित्रण के प्रसंगों को खड़ा किया है वहाँ विशुद्ध द्वेष की अभिव्यक्ति को भी नहीं होने दिया है। पृथ्वीराज का गौरी को बार-बार क्षमा कर देना भले ही इतिहास सम्मत न हो किन्तु इससे नायक के चरित्र की उदारता का अभीष्ट प्रभाव पाठकों के हृदय पटल पर अंकित हो जाता है।

वर्णनात्मकता—वस्तु-वर्णन में रासोकार ने एक सफल कवि-हृदय का परिचय दिया है। नगर, उपवन, बन, सरोवर, दुर्ग, सेना और युद्ध आदि के वर्णन अनुपम बन पड़े हैं। उदाहरणार्थ युद्ध का वर्णन देखिए—

न को हार नहि जित्त, रहे रहहि सूरवर।
धर उप्पर धर परत करत, अनि युद्ध महाभर॥

इस प्रकार रासो में स्थिर तथा गतिशील दोनों प्रकार के दृश्यों का अंकन हुआ है।

भाव-व्यंजना—रासो में वीर और शृंगार रस की अभिव्यक्ति अत्यन्त भव्य रूप से हुई है। वीर रस का एक दर्पपूर्ण चित्र फड़कती हुई ओजस्विनी भाषा में देखिए—

बज्जिय घोर निसान रान चौहन चहुं दिसि।
सकल सूर सामन्त समर बल जंत्र मंत्र तिसि॥
उट्ठि राज पृथ्वी राज बाग लग्ग मनो वीरनट॥
कढ़त तेग मनोवेग लगत बीज झट्ट घट्ट॥

पद्मावती के सौन्दर्य चित्रण में शृंगार रस की छटा दर्शनीय बन पड़ी है—

मनहु कला ससभान कला सोलह सों बन्निय।
बाल वैस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निय॥
विगसि कमल स्रिग भ्रमर बेनु खंजन म्रिग लुट्टिय।
हीर कीर अरु बिंब मोती नख सिख अहि घुट्टिय॥
छप्पनि गयंद हरि हंस गति बिह बनाय संचै संचिय।
पद्मिनी रूप पद्मावतिय मनहुं काम कामिनि रचिय॥

कवि चन्द ने शृंगार रस के अन्य अंगों—वयःसंधि, यौवनागम, अनुराग, प्रथम मिलन और व्रीड़ा आदि का भी सुन्दर वर्णन किया है।

वीर और शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य रसों की अभिव्यंजना भी रासो में प्रसंगानुसार हुई है। रौद्र और भयानक रसों का चित्रण तो स्थान-स्थान पर है। कहीं-कहीं पर हास्य रस के भी सुन्दर छींटे हैं। रासो में शान्त रस का प्रायः अभाव है।

रासोकार ने भाव सौन्दर्य में वृद्धि के लिए अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, भ्रम, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का भी सुन्दर प्रयोग किया है। वैसे रासो जैसे विशाल काव्य में प्रायः सभी अलंकार मिल जाते हैं। इससे रासोकार का काव्य-शास्त्र के गूढ़ ज्ञान का परिचय मिलता है।

रासो में ६८ प्रकार के छन्द पाए जाते हैं और कहीं-कहीं छन्द परिवर्तन में अस्वाभाविकता भी आ गई है। कुछ भी हो, रासोकार में सर्वत्र एक महाकवि की सी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। यदि रासोकार वीर रस के मूल भाव को व्यक्तिगत राग-द्वेष पर आधारित न करके उसे व्यापक राष्ट्रीय चेतना पर आधारित करता तो कितना ही अच्छा होता। दूसरे, रासो में वर्णित प्रेम-भाव में अभीष्ट गहनता भी नहीं आ पाई है। किन्तु इन त्रुटियों के लिए चन्द को दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि वह युग संकुचित राष्ट्रीयता और सामन्ती विलासिता का था। वस्तुत: रासो और उसके कर्ता कवि चन्द का महत्त्व हिन्दी साहित्य में अक्षुण्ण है।

डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी ने रासो और रासोकार का मूल्यांकन करते हुए निम्नांकित शब्दों में भले ही कुछ अतिशयोक्ति से काम लिया है फिर भी उस में बहुत कुछ सत्य है—"हिन्दी के आदि कवि चन्दबरदाई (चन्द बलद्दिउ) का पृथ्वीराज रासो १२वीं शती के दिल्ली और अजमेर के पराक्रमी हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान तृतीय तथा उसके महान् प्रतिद्वन्द्वी कान्यकुब्जेश्वर जयचन्द गाहड़वाल, गुर्जरेश्वर, भीमदेव, चालुक्य और गजनी के अधिपति सुल्तान शहाबुद्दीन गौरी के राज्य, रीति-नीति, शासन-व्यवस्था, सैनिक, सेना, सेनापति, युद्ध-शैली, दूत, गुप्तचर, व्यापार मार्ग आदि का एक प्रमाण, समता-विषमता की शृंखलाओं से जुड़ा हुआ, ऐतिहासिक-अनैतिहासिक वृत्तों से आच्छादित, पौराणिक कथाओं से लेकर कल्पित कथाओं का अक्षय तूणीर, प्राचीन काव्य-परम्पराओं और नवीन का प्रतिपादक, भौगोलिक वृत्तों की रहस्यमयी गुफा, सहस्रों हिन्दू-मुस्लिम योद्धाओं के पराक्रम का मात्र-कोष, प्राकृत अपभ्रंशकालीन सार्थक अभिव्यंजना करने में सक्षम, सफल छन्दों की विराट् पृष्ठभूमि हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी भाषाओं की संक्रान्ति कालीन रचना, गौड़ीय भाषाओं की अभिसन्धि का उत्कृष्ट निदर्शन, समकालीन युग का सांस्कृतिक प्रमाण, उत्तर भारत का आर्थिक मानचित्र, विभिन्न मतावलम्बियों के दार्शनिक तत्वों का आख्याता तथा मानव की चित्तवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषक, यह अपने ढंग का एक अप्रतिम महाकाव्य है, परन्तु हिन्दी रचनाओं में सम्भवत: सबसे अधिक विवादग्रस्त है।"

आदि काल में मूल हिन्दीभाषी प्रदेश में हिन्दी रचनाओं का अभाव

हिन्दी भाषा के आदि काल में मूल हिन्दी-भाषी प्रदेश के कवियों की रचनाएँ प्राप्त नहीं होतीं वे जो मिलती हैं वे या तो सीमांत प्रदेश में पाई जाती हैं या विकृत रूप में ही मिलती हैं। डॉ० हजारीप्रसाद ने उस समय के भारत के ऐतिहासिक सर्वेक्षण के आधार पर इस अभाव के कारणों की गवेषणा की है, जो कि निम्नांकित है—

इस काल की पुस्तकें तीन प्रकार से सुरक्षित हुई हैं—(१) राज्याश्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रहकर, (२) सुसंगठित धर्म संप्रदाय का

आश्रय पाकर और मठों-विहारों आदि के पुस्तकालय में शरण पाकर। राज्याश्रय सबसे प्रबल और प्रमुख साधन था। धर्म संप्रदाय का संरक्षण उसके बाद आता है। तीसरे प्रकार से जो पुस्तकें प्राप्त हुई हैं वे बदलती रही हैं और लोक-चित्त की चंचल सवारी करती रही हैं। समय-समय पर उनमें परिवर्तन और परिवर्द्धन भी होता रहा है। आल्हा काव्य इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यह बता सकना कठिन है कि आल्हा खंड का असली रूप क्या था? इसके विपरीत उस समय के अन्य काव्य आल्हा काव्य के समान लोक-प्रीति का भाजन नहीं बन सके और अपना शुद्ध रूप लिये अस्त हो गये।

देशी भाषा की दूसरी पुस्तकें जैन संप्रदाय का आश्रय पाकर साम्प्रदायिक भंडारों में सुरक्षित रह गयी हैं। उनका शुद्ध रूप भी सुरक्षित रह गया। कुछ पुस्तकें बौद्ध धर्म का आश्रय पाकर बौद्ध नरपतियों की कृपा से बच गई थीं जो आगे चलकर हिन्दुस्तान के बाहर पाई जा सकी हैं। परन्तु जो पुस्तकें हिन्दू धर्म और हिन्दू नरेशों के संरक्षण से बची हैं वे अधिकांश संस्कृत में हैं।

मूल हिन्दी भाषी प्रदेश में हिन्दी रचनाओं का अभाव क्यों रहा, इसका कारण बताते हुए डॉ० साहब लिखते हैं कि सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त भी उसके सेनापति भंडि तथा उसके वंशज कुछ काल तक शासन करते रहे। नवीं शताब्दी के आरम्भ में वर्धनों की शक्ति क्षीण हुई।

तीन शक्तियाँ—पूर्व के पाल, दक्षिण के राष्ट्रकूट और पश्चिम के प्रतिहार—कान्यकुब्ज की राज्यलक्ष्मी को हाथियाने में प्रयत्नशील रहे किन्तु सफलता प्रतिहारों को ही मिली। इसके बाद लगभग दो शताब्दियों तक कान्यकुब्ज के प्रतिहार बड़े शक्तिशाली शासक बने रहे।

उस समय का मध्य देश राजनीतिक दृष्टि से बड़ा ही विक्षुब्ध था। उस समय के गाहड़वार नरेश, चाहे वे दक्षिण से आये थे या पश्चिम से, वे बाहर के ही थे। उन्होंने काफी समय तक स्थानीय जनता से अपने आपको अलग रखा। वे लोग वैदिक संस्कृति के उपासक थे और बाहर से बुला-बुलाकर अनेक ब्राह्मण-वंशों को काशी में बसा रहे थे। संस्कृत को इन लोगों ने बहुत प्रोत्साहन दिया पर इनके यहाँ हिन्दी को प्रश्रय न मिल सका। जिस प्रकार गौड़ देश के पाल, गुजरात के सोलंकी, और मालवा के परमार देशी भाषा को प्रोत्साहन दे रहे थे वैसा गाहड़वारों के दरबार में नहीं हुआ। डॉ० हजारीप्रसाद इस उपेक्षा के कारणों का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं—"ये लोग बाहर से आये हुए थे और देशीय जनता के साथ दीर्घ-काल तक एक नहीं हो पाये थे। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मध्य देश में जिस संरक्षणशील धारा की प्रतिष्ठा थी उसमें संस्कृत भाषा और वर्जनशील ब्राह्मण व्यवस्था से अधिकाधिक चिपटा रहना ही स्थानीय जनता की दृष्टि में ऊँचा उठने का साधन रहा हो।" आरम्भ में गाहड़वार नरेश स्थानीय जनता से अलग बने रहे परन्तु शनैः-शनैः यह प्रवृत्ति कम होने लगी। गाहड़वार नरेश गोविन्दचन्द्र के

सभा-पंडित दामोदर भट्ट ने राजकुमारों को काशी भाषा सिखाने का प्रयत्न किया और इस प्रकार धीरे-धीरे देशी भाषा को इस दरबार में प्रोत्साहन मिलने लगा। दुर्भाग्यवश जयचन्द के अस्त के साथ इस प्रोत्साहन और प्रवृत्ति का अन्त हो गया। अब समस्त उत्तरी भारत पर मुस्लिम आक्रांताओं की विजय-पताका फहराने लगी। इन नए शासकों को देशी जनता के साथ एक होने में और भी अधिक समय लगा।

गाहड़वारों के शासन-काल में समूचा हिन्दी प्रदेश स्मार्त धर्मानुयायी था। जब गाहड़वारों का प्रभाव क्षीण हो गया और अजमेर तथा कालिंजर आदि राज्य स्वतन्त्र हो गए तो उन राज्यों में भी स्मार्त धर्म की प्रबलता रही। इस समय शैव मत का दबदबा था। नाथयोगियों, रसेश्वर मत के मानने वाले रस-सिद्धों और मन्त्र-तन्त्र में विश्वास रखने वाले शक्ति-साधकों का इन क्षेत्रों में बड़ा जोर था। पर इन शैव साधकों के संगठित मत नहीं थे और न ही इनका देशी भाषा के प्रति कोई विशेषानुराग था। इसके अतिरिक्त ये जनता के प्रति भी तटस्थ बने रहे। केवल यह ही नहीं, उस समय की जनता इनसे अतीव भयभीत थी। अतः यह स्पष्ट है कि इनके द्वारा प्रणीत रचनायें जनप्रिय नहीं हो सकती थीं। कुछ थोड़ी सी पुस्तकें इन योगियों की मिल जाती हैं पर एक तो उन्हें जैन पुस्तकों के समान संगठित भंडारों का आश्रय नहीं मिला, दूसरे वे आल्हा आदि की भाँति लोक-मनोहर भी नहीं हो सकीं। इनकी रक्षा का भार सम्प्रदाय के कुछ अशिक्षित साधुओं के साथ रहा। इन रचनाओं को प्रामाणिक रूप में सुरक्षित रखने का प्रयत्न नहीं किया। परवर्ती साहित्य में इन योनियों का दो रूपों में उल्लेख मिलता है—(१) सूफी कवियों की कथा में नाना प्रकार की सिद्धियों के आकार के रूप में और (२) सगुण या निर्गुण भक्त कवियों की पुस्तकों में खण्डनों और प्रत्याख्यानों के विषय के रूप में।

जिन सम्प्रदायों ने इस रहस्यात्मक साहित्य की सृष्टि की थी वे चिर काल तक एक सुसंगठित संप्रदाय के रूप में नहीं रह सके, फलतः उनके साहित्य का लोप हो गया। पूर्वी प्रदेशों में वह थोड़ा-बहुत इसलिये सुरक्षित रह गया है कि १२ वीं १३-वीं शताब्दी तक वहाँ उक्त मत संगठित सम्प्रदाय के रूप में जीवित रहा। नेपाल आदि प्रदेशों से कुछ अल्पमात्रा में इस रहस्यात्मक साहित्य का उद्धार किया जा सका है।

उत्तर भारत का धर्म मत नवीन सम्पर्क और नवीन प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बराबर अपनी पुरानी परम्परा पर कुछ अधिक दृढ़ता के साथ डटा रहा। हिमालय के पाददेश की साधना उसे अभिभूत नहीं कर सकी। यहां संस्कृत और ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा बहुत बाद तक बनी रही। इस प्रकार न तो हमें इस प्रदेश के ऐसे साहित्य का ही पता चलता है, जो राज-रक्षित हो और न ऐसे साहित्य का जो संगठित संप्रदाय द्वारा सुरक्षित हो। केवल जनता की जिह्वा पर जो कुछ बचा रहा, वही अनेक परिवर्तनों के बाद घट-बढ़कर क्वचित् कदाचित् मिल जाता है।

यह है आदि काल के हिन्दी साहित्य के अरक्षित रहने की एक कल्पित मनोरंजक कहानी जो प्रायः डॉ० साहब के शब्दों में उपन्यस्त की गई है।

अब प्रश्न यह उठता है कि चौदहवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी की रचनाएं उपलब्ध क्यों नहीं होती ? द्विवेदी जी ने इसके कुछ कारण—जैसे कि किसी सुदृढ़ धर्म सम्प्रदाय के संरक्षण का अभाव, शासक वर्ग की उपेक्षा तथा जन-मनोहर या लोकप्रिय साहित्य का अभाव आदि बताये हैं। इन कारणों में द्विवेदी जी के मतानुसार प्रधान कारण गाहड़वार शासकों की हिन्दी के प्रति उपेक्षा भाव है। वे लिखते हैं "इस प्रदेश की जनता से भिन्न और विशिष्ट बने रहने की प्रवृत्ति के कारण देशी भाषा और उसके साहित्य को आश्रय नहीं दे सके और यही कारण है कि जहां तक उनका राज्य था वहाँ तक कोई देशी भाषा का साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका अन्तिम पीढ़ियों में ये लोग देशी भाषा साहित्य को प्रोत्साहन देने लगे थे।" समझ में नहीं आता है केवल गाहड़वार नरेशों की उपेक्षा भाव से हिन्दी साहित्य क्यों नहीं पनप सका। हिन्दी सदा विरोधों और संघर्षों में पलती और जूझती आई है वह अपनी अजस्र प्राण धारा और अदम्य शक्ति से विषम से विषम परिस्थितियों में भी आगे बढ़ कर अपना मार्ग बनाती रही है। फिर उस समय क्या उसकी शक्ति कुंठित हो गई थी ? सच तो यह है कि चौदहवीं शताब्दी तक हिन्दी-साहित्य के न मिलने का कारण कुछ और है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या गाहड़वार नरेशों ने हिन्दी साहित्य की किसी रचना पर कोई प्रतिबन्ध लगा दिया था या उसे नष्ट करने की कोई आज्ञा निकाली थी ? फिर राज्याश्रय ही सब कुछ नहीं होता, धर्म और जनाश्रय भी उसे मिल सकता था। माना कि इस समय कोई सुसंगठित धार्मिक सम्प्रदाय नहीं था फिर भी एक आधी रचना तो अपने विशुद्ध रूप में सुरक्षित रह ही सकती थी और फिर उस विशाल देश का विराट जन समूह एकाध रचना को भी अविकृत रूप में सुरक्षित नहीं रख सका। संस्कृत साहित्य को अनेक बार विदेशी शासकों के निर्मम प्रहारों को सहना पड़ा फिर भी वह उस रूप में विनष्ट नहीं हुआ जैसा कि अल्पकालीन शासकीय उपेक्षा से हिन्दी साहित्य ऐसा क्यों ? इसके अतिरिक्त डॉ० दशरथ शर्मा जैसे प्रसिद्ध इतिहासकार द्विवेदी जी की उक्त मान्यता का खंडन करते हुए लिखते हैं—"कन्नौज सदा से देशी भाषा को मान देता रहा है। यदि संस्कृत-संस्कृति के प्रबल समर्थक गोविन्दचन्द्र ने भी देश्यभाषा को इतना मान दिया तो हम किस आधार पर कह सकते हैं कि उसके दो पूर्वजों ने ही देशी भाषा से विरोध किया था और उन्होंने विरोध किया भी हो तो तीस-चालीस वर्षों में किसी भाषा का साहित्य सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता।" यह भी ध्यान रहे कि कन्नौज पर गाहड़वारों का आधिपत्य १०९० ई० में हुआ था तथा देशी भाषा को आश्रय देने वाले गोविन्दचन्द्र सन १११४ में गद्दी पर बैठे। इस पर द्विवेदी जी का उपेक्षित काल २४ वर्ष का ही ठहरता है। इस अल्प कालीन उपेक्षा के कारण पूर्ववर्ती शताब्दियों का साहित्य समूल नष्ट हो गया, यह तर्क कुछ अकल्पनीय लगता है।

इसके साथ-साथ एक और प्रश्न उठता है कि यदि उस काल का साहित्य उपलब्ध नहीं होता तो उन अज्ञात अदृष्ट और अरक्षित रचनाओं के आधार पर इतिहास का ढाँचा किस प्रकार खड़ा किया गया और उसका नामकरण कैसे सम्पन्न हुआ ? इस सम्बन्ध में डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त के विचार अवलोकनीय हैं—"वस्तुत: इस युग में हिन्दी की प्रामाणिक रचनायें न मिलने का कारण मुसलमानों का आक्रमण, देश की अशांति या किसी शासन विशेष की अवज्ञा नहीं है। यदि ऐसा होता तो इस युग में रचित अपभ्रंश की शताधिक रचनाएँ उपलब्ध न होतीं। यह युग साहित्य की दृष्टि से अपभ्रंश का युग है किन्तु हम इसे बलात् हिन्दी का आदि काल या वीर गाथाकाल सिद्ध करना चाहते हैं; फलस्वरूप कभी हम अपभ्रंश की रचनाओं को उधार लेते हैं, कभी अस्तित्वहीन या परवर्ती रचनाओं का आश्रय ग्रहण करते हैं और कभी साहित्य नष्ट हो जाने की मनगढ़ंत कहानियाँ कह कर आँसू बहाते हैं।" हम प्रस्तुत पुस्तक के "हिन्दी साहित्य के आदिकाल का नामकरण तथा पूर्वा पर सीमा-निर्धारण" नामक प्रकरण में बता चुके हैं कि हिन्दी भाषा का आरम्भ लगभग १३ वीं शताब्दी में स्वीकार किया जा सकता है। उक्त मान्यता के आधार पर ग्रंथाभाव की समस्या का सहज में ही समाधान हो जाता है। वस्तुत: वह युग अपभ्रंशों का युग था। स्वयं आचार्य हजारीप्रसाद के निम्नांकित शब्दों में यही तथ्य ध्वनित हो जाता है, "वस्तुत: १४ वीं शताब्दी के पहले ही भाषा का रूप हिन्दी प्रदेशों में क्या और कैसा था, इसका निर्णय करने योग्य साहित्य आज उपलब्ध नहीं हो रहा है। जो एकाध शिलालेख और ग्रंथ मिलते हैं, वे बताते हैं कि यद्यपि गद्य की और बोल-चाल की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ने लग गया था, पर गद्य में अपभ्रंश का ही प्राधान्य था।"

आदि काल में अपभ्रंश की कतिपय प्रमुख रचनायें

(१) **सन्देश रासक**—संदेश रासक अद्दहमाण सम्भवत: अब्दुर्रहमान द्वारा रचित एक खंडकाव्य है। कबीर की भांति अब्दुर्रहमान भी जुलाहा परिवार से सम्बद्ध हैं। वे अपने संबंध में स्वयं लिखते हैं—"मैं म्लेच्छ देशवासी तन्तुवाय मीर-सेन का पुत्र हूं।" अब्दुर्रहमान मुल्तान के निवासी थे तथा संस्कृत और प्राकृत के अच्छे पंडित थे। उनकी भारतीय साहित्य तथा संस्कृत में गहन आस्था थी।

सन्देश रासक के निर्माण काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। डॉ० कत्रे ने इसका रचना-काल ११ वीं शताब्दी तथा १४ वीं शताब्दी का मध्य माना है। मुनि जिन विजय ने १२ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर १३ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक इस रचना का समय माना है। अगरचंद नाहटा इसे सं० १४०० के आसपास रचा मानते हैं परन्तु डॉ० हजारीप्रसाद ने इसे ११ वीं शती की रचना स्वीकार किया है, कारण हेमचन्द ने अपनी रचना में सन्देश रासक पद्यों को उद्धृत किया है। हेमचन्द का जन्म सं० ११४५ में तथा मृत्यु १२२६ में हुई। अत: अब्दुर्रहमान को

११वीं शती का मानना युक्ति-युक्त है।

संदेश रासक विरह का एक खंडकाव्य है जो कि एक कल्पित लोक जीवन कथा पर आधृत है। यह रचना कालिदास के मेघदूत के समान कथात्मक होते हुए भी विभिन्न मुक्तकों की एक मणिमाला है। इसमें विरह की सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। हिन्दी साहित्य में बीसलदेव रासो भी इसी प्रकार का काव्य है। संदेश रासक मध्यकालीन शृंगारी परम्परा पर लिखे हुए विरह साहित्य में प्रतिनिधि काव्य है। इसमें विरहणी के शत-शत भाव पूर्ण प्रेम के ज्वार-भाटे से विह्वल और करुण कातर हृदय की भावनाओं की अतीव मार्मिक तथा कलात्मक अभिव्यक्ति हुई है। उसके सन्देश में एक गहरी टीस, सुप्त दर्प, प्रेम की सघनता, उपालम्भ एवं आत्म-समर्पण का एक विलक्षण समन्वय है। "प्रिय तुम मेरे हृदय में स्थित हो और तुम्हारे रहते हुए विरह मुझे कष्ट दे रहा है। क्या आपके लिये यह लज्जास्पद नहीं? क्या आपके पौरुष को चुनौती नहीं?"

डॉ० हजारीप्रसाद इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"इस सन्देश रासक में ऐसी करुणा है जो पाठक को बरबस आकृष्ट कर लेती है। उपमायें अधिकांश में यद्यपि परम्परागत और रूढ़ ही हैं तथापि बाह्यवृत्त की वैसी व्यंजना उसमें नहीं है जैसी आन्तरिक अनुभूति की। ऋतु-वर्णन प्रसंग में बाह्य प्रकृति इस रूप में चित्रित नहीं हुई है जिससे आन्तरिक अनुभूति की व्यंजना दब जाय। प्रिय के नगर से आने वाले अपरिचित पथिक के प्रति नायिका के चित्त में किसी प्रकार के दुराव का भाव नहीं है। वह बड़े सहज ढंग से अपनी कहानी कह जाती है। सारा वातावरण विश्वास और घरेलूपन का है।"

यह तीन प्रक्रमों में विभाजित २२३ छंदों की एक छोटी सी रचना है। प्रथम प्रक्रम में मंगलाचरण, कवि का व्यक्तिगत परिचय, ग्रंथ रचना का उद्देश्य तथा कुछ आत्म-निवेदन है। दूसरे प्रक्रम से मूल कथा का आरम्भ होता है। कथा-सूत्र इतना ही है कि विजयनगर की एक प्रोषितपतिका अपने प्रिय के वियोग में रोती हुई एक दिन राजमार्ग से जाते हुए एक बटोही को देखती है और दौड़कर उसे रोकती है। उसे पता चलता है कि वह पथिक सामोर से आ रहा है और स्तम्भ तीर्थ को जा रहा है। वह पथिक से निवेदन करती है कि अर्थ-लोभ के कारण उसका प्रिय उसे छोड़ कर स्तंभ तीर्थ चला गया है, इसलिये कृपा करके मेरा सन्देश लेते जाओ। पथिक को सन्देश देकर नायिका ज्यों ही विदा करती है कि दक्षिण दिशा में उसका प्रिय आता हुआ दिखाई देता है। ग्रंथ का अंत करते हुए कवि कहता है कि जिस प्रकार उसका कार्य अचानक सिद्ध हो गया है उसी प्रकार इसको पढ़ने-सुनने वालों का भी सिद्ध हो। जो अनादि और अनंत है, उसकी जय हो।

सन्देश रासक के कथा सूत्र से स्पष्ट है कि कवि को कथा से कोई विशेष मतलब नहीं। उसका उद्देश्य है सामोर नगर के जीवन, पेड़-पौधों तथा षड्-ऋतु-वर्णन

के साथ प्रोषितपतिका की विरह-वेदना का वर्णन करना। इन सब बातों के लिए उसने पथिक की अवतारणा की है।

काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से सन्देश रासक का अपभ्रंश साहित्य में विशेष स्थान है। सन्देश-कथन में नारी हृदय की परवशता, आकुलता और विदग्धता एक साथ मुखरित हो उठी हैं। वह कहती है, जिन अंगों के साथ तुमने विलास किया है, आज वे ही अंग विरह द्वारा जलाये जा रहे हैं। सचमुच तुम्हारे पौरुष को यह एक सबल चुनौती है :—

गरूवउ परिहवु कि न सहउ, पइ पोरिस निलएण।
जिहि अंगिहि तू बिलसिया ते दद्धा बिरहेण॥

शरद् ऋतु का वर्णन करती हुई नायिका कहती है कि क्या उस देश में ज्योत्स्ना का निर्मल चन्द्र नहीं उगता ? क्या वहाँ अरविन्दों के बीच हंस कल-कल ध्वनि नहीं करते ? क्या वहाँ कोई ललित ढंग से प्राकृत काव्य नहीं पढ़ता ? क्या वहाँ कोकिल पंचम स्वर से नहीं गाती ? क्या वहाँ सूर्योदय के कारण खिले हुए कुसुमों से वातावरण महक नहीं उठता ? होता तो यह सब होगा, लेकिन लगता है कि प्रिय ही अरसिक है जो इस शरद् काल में भी घर का स्मरण नहीं करता।

किं तहि देस णहु फुरइ जुन्ह निसि णिम्मल चन्दह।
यह कलरउ न कुणति हंस फल सेवि रविदह।
अह पायउ पहु पढ़इ कोइ सुललिय पुण राइण।
अह पंचउ णहु कुणई कोई कावालिय भाइण।

डॉ० हजारीप्रसाद इस काव्य की पृथ्वीराज रासो से भिन्नता प्रकट करते हुए कहते हैं—"पृथ्वीराज रासो प्रेम के मिलन पक्ष का काव्य है और सन्देश रासक विरह पक्ष का, रासो काव्य-रूढ़ियों द्वारा वातावरण तैयार करता है और सन्देश रासक हृदय की मर्म वेदना के द्वारा। रासो में घर के बाहर का वातावरण प्रमुख है और सन्देश रासक में भीतर का। रासो नये-नये रोमांस प्रस्तुत करता है और सन्देश रासक पुरानी प्रीति को निखार देता है।"

सन्देश रास के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि नायिका के रूप-वर्णन में वासनात्मकता कहीं भी नहीं है। पथिक द्वारा साम्बरपुर के वर्णन में नागरिक जीवन की स्पष्ट प्रतिध्वनि है। वहाँ की वार-वनिताओं तथा विचक्षण रमणियों की भंगिमाओं का वर्णन परम्परानुमोदित है। नगरोद्यान, पादप एवं पुष्पों का सविस्तार अथवा नीरस वर्णन कथा की गति या उसकी प्रभावोत्पादकता में किसी प्रकार का योग नहीं देते। कवि को ऐसे वर्णनों में आनुपातिकता से काम लेना चाहिए था। षड्ऋतु वर्णन प्रेम-काव्यों की परम्परा की एक महत्वपूर्ण रूढ़ि है, जिसका पालन सन्देश रासक में भी किया गया है। रासक का ऋतु वर्णन कामोद्दीपन है और वह कालिदास के ऋतुसंहार की परम्परा में आता है। सच तो यह है कि इस प्रकार के

प्रेम-प्रसंगों में जहाँ नायिका विरह-व्यथा को कह सकने में असमर्थ है और पथिक अधिकाधिक त्वरा-सम्पन्न है वहाँ इस प्रकार के विस्तृत ऋतुवर्णन का अवकाश ही नहीं था।

सन्देश रासक में दोहा छन्द का सुन्दर प्रयोग हुआ है। रासक० छन्द इसका प्रमुख छन्द है। इस ग्रंथ से हमें रासक के गेय रूपक का पता चलता है। काव्य-भाषा विज्ञान तथा इतिहास की दृष्टि से यह ग्रंथ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आदि कालीन काव्य-रूपों के समझने में यह ग्रंथ अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है। यह एक मसृण शैली में रचित गेय रूपक है। भाषा की दृष्टि से यह संक्रान्तिकालीन भाषा का परिचायक है। इसमें हमें एक नया विचार विन्दु मिलता है कि भारतीय साहित्य में मुसलमानों का कितने चिर काव्य से सम्वन्ध चला आ रहा है। कुछ विद्वानों ने सन्देश रासक को ग्राम्य अपभ्रंश में रचित माना है परन्तु डॉ० नामवरसिंह का विचार है कि "यह समझना भ्रांति है कि यह ग्राम्य अपभ्रंश लिखा हुआ काव्य है। वस्तुतः इसके भाव और भाषा पर नागरता की छाप है। छन्द-विविधता और अलंकार सज्जा दोनों दृष्टियों में सन्देश अत्यन्त परिमार्जित रचना है।"

(२) **जैन कवि धनपाल रचित भविष्य दत्त कथा**—यह एक अपभ्रंश साहित्य का कथा-काव्य है जिसकी रचना धनपाल (१०वीं शताब्दी ई०) ने की। इसे "भविष्य दत्त कथा" तथा "सुय पंचमी" के नाम से भी अभिहित किया जाता है क्योंकि यह सुय पंचमी माहात्म्य के लिए लिखी गई है। इसके प्रणयन का उद्देश्य धार्मिक शिक्षा है।

राहुल जी ने इसे १०वीं शती में रचित माना है तथा इसकी भाषा को पुरानी हिन्दी कहा है। मोतीलाल मेनारिया ने जैन कवि धनपाल का समय सं० १०८१ माना है तथा इसकी भाषा को पुरानी राजस्थानी माना है। हमारे विचार में इस ग्रन्थ की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है।

इस प्रवन्ध काव्य में तीन प्रकार की कथायें जुड़ी हुई हैं। इसमें बाईस संधियाँ हैं। कथा का पहला भाग शुद्ध घरेलू ढंग की कहानी है, जिसमें दो विवाहों के दुःखद पक्ष को सामने रखा गया है। इसमें वणिक्पुत्र भविष्य दत्त की कथा है जो अपने सौतेले भाई वन्धुदत्त के द्वारा कई वार छले जाने पर भी अन्त में जिन महिमा के कारण सुखी होता है। कथा का मुख्य अंश यही है और कवि ने इसे आराम से चौदह सन्धियों में कहा है।

इस काव्य का वस्तु-वर्णन हृदयग्राही है। इसमें शृंगार, वीर और शान्त रस की प्रधानता है। काव्य में कई मार्मिक स्थल हैं जहाँ कि धनपाल की काव्य-प्रतिभा स्फुटित हुई है। तिलक द्वीप में अकेले छोड़े गये भविष्य दत्त के हृदय की व्याकुलता का चित्र देखिये जबकि वह एक मात्र चिन्ता-निमग्न है—

"गयं णिप्पुलं ताम सव्वं वणिज्जम् ।
हुवं अम्ह गोतम्मि अज्जा वणिज्जम् ।।"

नारी के रूप-वर्णन का भी एक चित्र देखिये : —

"णं वम्मह भल्लि विधण सील जुवाण जणि ।"

धनपाल का नख-शिख-वर्णन परम्परा युक्त है । कवि की दृष्टि नारी के बाह्य सौन्दर्य पर अधिक टिकी है, उसके आन्तरिक सौन्दर्य की ओर नहीं गई ।

मुहावरों और लोकोक्तियों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है ।

"कि घिउ होई विरोलिए पाणिए"

भविष्यदत कथा में उपमा, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, विरोधाभास और अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है । भुजंगप्रयात, लक्ष्मीधर, मंदार, चामर, शंख, नारी, अडिल्ला, काव्य, प्लवंगस, सिंहावलोकन तथा कलहंस आदि वर्णिक तथा मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ है ।

सम्भव है भविष्यदत्त कथा जैसे चरित काव्य अपभ्रंश साहित्य में और भी लिखे गये हों । इन काव्यों का अध्ययन परवर्ती हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों के सम्यक् अवबोध के लिए उपयोगी सिद्ध होगा । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैन कवियों द्वारा लिखे गये चरित काव्यों के सम्बन्ध में लिखते हैं—"इन चरित काव्यों के अध्ययन से परवर्ती काल के हिन्दी साहित्य के कथानकों, कथानक-रूढ़ियों, काव्य-रूपों, कवि-प्रसिद्धियों, छन्द योजना, वर्णन-शैली, वस्तु-विन्यास, कवि-कौशल आदि की कहानी बहुत स्पष्ट हो जाती है । इसलिए इन काव्यों से हिन्दी साहित्य के विकास के अध्ययन में बहुत महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त होती है ।"

आचार्य शुक्ल ने जैन कवियों की रचनाओं में धर्म-भाव को देखते हुए इन्हें रागात्मक साहित्य की परिधि से बाहर कर दिया था किन्तु यह संगत नहीं । सूर, तुलसी, जायसी और मीरा का साहित्य धार्मिक होते हुए भी काव्य-वैभव से सम्पन्न है, यही दशा जैन कवियों के इन चरित-काव्यों की है ।

(३) **पाहुड़ दोहा**—रामसिंह राजस्थान के रहने वाले थे । उनकी दो सौ बाईस दोहों की छोटी सी रचना है पाहुड़ दोहा । इस ग्रंथ के सम्पादक श्री हीरालाल जैन के अनुसार जैनियों ने पाहुड़ शब्द का प्रयोग किसी विशेष विषय के प्रतिपादन के लिए किया है । कुन्द कुन्दाचार्य के सभी ग्रन्थ पाहुड़ कहलाते हैं । पाहुड़ शब्द का अर्थ अधिकार भी लिया गया है । कहीं-कहीं समस्त श्रुत ज्ञान को पाहुड़ कहा गया है । इससे विदित होता है कि धार्मिक सिद्धान्त संग्रह को पाहुड़ कहते थे । पाहुड़ शब्द का संस्कृत रूपान्तर प्राभृत किया जाता है जिसका अर्थ है उपहार । इसके अनुसार हम वर्तमान ग्रंथ के नाम का अर्थ "दोहा का उपहार" ऐसा ले सकते हैं ।

पाहुड़ दोहा के रहस्यवाद पर विचार करते हुए श्री हीरालाल जैन ने लिखा है कि—"इन दोहों में जोगियों के आगम-अचित-चित्त, देह-देवली, शिव-शक्ति, संकल्प-

विकल्प, सगुण-निगुण, अक्षर-बोध-विबोध, वाम दक्षिण मध्य, दो पथ, रवि, शशि, पवन, काल आदि ऐसे शब्द हैं और उनका ऐसे गहन अर्थ में प्रयोग हुआ है कि उनमें हमें योग और तान्त्रिक ग्रंथों का स्मरण आये बिना नहीं रहता है। इनकी भाषा सांकेतिक है और सांकेतिकता में इनकी समानता बौद्ध सिद्धों के चर्या पदों और दोहा कोषों से दिखाई पड़ती है।" वस्तुतः वह युग ऐसा था जिसमें प्रत्येक धर्म के भीतर इसके उदारमना चिन्तक कवि पैदा हुए थे जो अपने मत और समाज की रूढ़ियों का विरोध करते हुए मानवता की सामान्य भाव-भूमि पर एक साथ खड़े थे। इसका अन्य मतों से कोई विरोध नहीं था। ये सबके प्रति सहिष्णु थे और उनका विश्वास था कि सभी मत एक ही दिशा की ओर ले जाते हैं और एक ही परमतत्त्व को विविध नामों से पुकारते हैं।

पाहुड़ दोहाकार का कहना है कि यह देह-मन उपेक्षणीय वस्तु नहीं है। जब देह मन्दिर ही उस परमात्मा का निवास-स्थान हो, तो अन्यत्र जाने की क्या आवश्यकता? आवश्यकता तो इस बात की है कि परमात्मा के आवास इस देव-मन्दिर को स्वच्छ और पवित्र रखा जाय—

देहा देवलि जो वसई, सत्तिहि सहियउ देउ ॥
को तहि जोइय सत्तसिउ, सिग्घु गवेसहि भेउ ॥ (पा० दो ५३)

समरसता का वर्णन करते हुए जिनमें आत्मा और परमात्मा में भेद नहीं रह जाता, आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है, और आत्मा तथा परमात्मा एक हो जाते हैं, रामसिंह लिखते हैं—

मणु मिलियउ परमेसर हो, परमेसर जि मणस्स।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय, पुंज चढ़ावऊँ कस्स ॥

पाहुड़ दोहा आदि ग्रंथों के रचयिता रामसिंह आदि जैन कवियों का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। संतों में धार्मिक एकता और रहस्यवाद की प्रवृत्तियां जैनों तथा नाथों का प्रभाव समझनी चाहिएँ। सूफियों की व्यापक समन्वयात्मकता के बीजांकुर भी जैन साहित्य में बो दिये गए थे। कबीर आदि में मिलने वाली रूढ़ियों के प्रति प्रखरता भी पाहुड़ दोहा आदि ग्रंथों में देखी जा सकती है।

(४) **प्राकृत पैंगलम्**—यह ग्रंथ हिन्दी साहित्य के आदि काल की रूढ़ियों, परम्पराओं और प्रवृत्तियों के समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भी यह ग्रंथ उपादेय है। इस ग्रंथ में प्राकृत तथा अपभ्रंश के छन्दों का संग्रह है।

प्राकृत पैंगलम् में विद्याधर शारंग (?), जज्जल, बब्बर आदि कवियों की रचनाओं में कई प्रकार के विषय हैं—वीर, शृंगार, नीति, शिव-स्तुति, विष्णु-स्तुति ऋतु-वर्णन आदि। डा० हजारीप्रसाद इन कवियों के सम्बन्ध में लिखते हैं—"परन्तु ये सभी रचनाएँ और सन्देश रासक, पृथ्वीराज रासो, कीर्तिलता आदि के कवि उस श्रेणी के कवि नहीं थे जिन्हें आदिम मनोवृत्ति के कवि कहते हैं। वस्तुतः इन रच-

नाओं में एक दीर्घकालीन परम्परा का स्पष्ट परिचय मिलता है। ये कवि काव्य-लक्षणों के जानकार थे, प्राचीनतम कवियों की रचनाओं के अभ्यासी थे और अपने काव्य के गुण-दोषों की तरफ सचेत थे।"

विद्याधर काशी-कान्यकुब्ज दरबार के एक कुशल विद्वान् मन्त्री थे तथा जयचन्द के अत्यन्त विश्वासपात्र थे। कविता करने के साथ-साथ ये कविता के परम पारखी भी थे। शुक्ल जी का कहना है कि "यदि विद्याधर को सममामयिक कवि माना जाय तो उसका समय विक्रम की १३ वीं शताब्दी समझा जा सकता है।" प्राकृत पैंगलम् में इनके पद्यों को देखकर यह सहज में अनुमान लगाया जा सकता है कि जयचन्द के दरबार में जहाँ संस्कृत का मान था वहाँ देशी भाषा का भी काफी आदर था।

शारंगधर शाकम्भरीश्वर रणथम्भोर के प्रसिद्ध शासक हम्मीर देव के सभासद थे। हम्मीर देव का निधन संवत् १३५७ है अतः इनका रचना-काल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण माना जा सकता है। इनका आयुर्वेद सम्बन्धी शारंगधर संहिता नामक संस्कृत ग्रंथ अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इनकी दो रचनाएँ और भी हैं—(१) शारंगधर पद्धति, इसमें सुभाषितों का संग्रह है तथा बहुत से शाबर मन्त्र। (२) हम्मीर रासो—यह ग्रंथ देशी भाषा का वीरगाथात्मक महाकाव्य बताया जाता है। यह रचना आज तक उपलब्ध नहीं हुई है। आचार्य शुक्ल का अनुमान है कि "प्राकृत पिंगल-सूत्र में कुछ पद्य असली हम्मीर रासो के हैं।"

विद्याधर तथा शारंगधर के अतिरिक्त प्राकृत पैंगलम में कुछ अन्य कवियों के पद्यों का भी संग्रह है। इस ग्रंथ के संग्रहकर्ता हैं लक्ष्मीधर बब्बर ११ वीं शती के कवि हैं और जज्जल १३ वीं शती के कवि हैं। इन कवियों की रचनाओं का संग्रह भी उक्त ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। राहुल जी ने इन कवियों की भाषा को पुरानी हिन्दी कहा है, जो कि हमारे विचारानुसार ठीक नहीं है। बब्बर राजा कर्ण कलचुरी के दरबारी कवि थे। इनका निवासस्थान त्रिपुरी (आधुनिक जबलपुर, मध्य प्रदेश) था। इनका कोई विशिष्ट ग्रंथ नहीं मिलता, स्फुट रचनाएँ ही प्राप्त होती हैं। आचार्य शुक्ल जज्जल को एक पात्र मानते हैं जबकि राहुल जी ने उन्हें एक कवि स्वीकार किया है।

(५) ढोला मारू रा दूहा—यह एक संदेश रासक के समान लोक काव्य है और बीसलदेव रासो की तरह विरह गीत है। इस काव्य की कथा इस प्रकार है। सयानी होने पर मारू जी अपने बचपन के पति ढोला की चर्चा सुनती है और विरह में व्याकुल हो जाती है। वह अपने पति का पता लगाने के लिए कई सन्देश वाहक भेजती हैं लेकिन कोई वापस लौटकर नहीं आता। सभी सन्देश-वाहक उसकी सौत मालजवी द्वारा मरवा दिये जाते हैं। अन्त में मारवणी लोक-गीतों के गायक एक ढाढी को यह जिम्मेवारी सौंपती है और उसे अपने उद्देश्य में सफलता मिलती है। ढाढी के प्रयत्न से ढोला और मारवणी का पुनर्मिलन होता है। बीच में

मारवणी की मृत्यु करा दी जाती है और अन्त में फिर मारवणी मालवणी तथा ढोला को इकट्ठा मिला दिया जाता है। इस ग्रंथ का मुख्य सन्देश मारवणी का ढोला के प्रति विरह-निवेदन है।

काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से भी यह काव्य अनुपम बन पड़ा है। इसमें सन्देश-रासक तथा वीसलदेव रासो से अधिक स्थानीय रंग हैं। इस ग्रंथ में मारवाड़ देश वास्तविक रूप मे प्रतिबिम्बित हो उठा है। सन्देश रासक में सन्देश-कथन एक सर्वथा अपरिचित व्यक्ति से किया गया है वीसलदेव रासो में इस कार्य के लिए दरबार के एक पंडित का उपयोग किया गया है, लेकिन ढोला में क्रौंच पक्षी से लेकर ढाढियों तक से अपनी विरह-वेदना कही गई है। अतः इसमें अधिक मार्मिकता आ सकी है। जायसी के पद्मावत में सन्देश-प्रणाली निश्चित रूप से ढोला० से प्रभावित है। ढोला० लोक गीत के सबसे अधिक निकट है अतः इसमें साधारणीकरण की मात्रा प्रचुर रूप में है। प्रस्तुत काव्य में शृंगार के संयोग-कालीन वर्णन मर्यादित हैं और उनमें सांकेतिकता से काम लिया गया है। मिलन के उपरान्त प्रेमी दंपति मत्त-गज दम्पति के समान रतिशय्या की ओर जाते हैं। इस दिशा में उक्त काव्य सन्देश रासक की कोटि में आता है। ढोला-मारू रा दूहा में विप्रलंभ शृंगार का अतीव उच्च एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन है। नख-शिख-वर्णन परम्परा भुक्त है। वियोग-वर्णन में हृदय की सच्चाई का स्वाभाविक एवं प्रभावशाली वर्णन है। विरह-वर्णन में कहीं भी हास्यास्पद ऊहात्मकता नहीं है।

मारवजी का ढाढी को दिया गया सन्देश अनुपम बन पड़ा है। इसमें नारी हृदय की वेदना सचमुच इठला रही है—

ढाढी, एक संदेसड़उ, प्रीतम कहिया जाइ।
सा धण बलि कुइला भई भसम ढंढोलिसि आइ॥
ढाढी जे प्रीतम मिलई, यूँ कहिं दाखवियाह।
पंजर नहिं छई प्राणियउ, था दिस झल रहियाह॥

धनिया जलकर कोयला हो गई है, अब आकर उसकी भस्म ढूंढना। अब पंजर में प्राण नहीं हैं केवल उसकी लौ तुम्हारी ओर झुक-झुक कर जल रही है जायसी की "सो धन जरि" से इसकी कितनी समानता है।

मारवणी की मनस्थिति का एक और चित्र देखिये—जब ढोला के आने की खबर उसे मिलती है तो उसका हृदय हर्षोद्रेक से हिमगिरि जैसा विशाल हो गया। वह अनुभव करती है कि वह अब तन पंजर में समायेगा ही नहीं—

हियड़ा हेमांगिरि भयऊ, तन पंजरे न माई।

इस प्रकार मारवाड़ देश में जहाँ एक ओर चारण काव्यों का प्रणयन हो रहा था वहाँ दूसरी ओर जन साधारण के कवि स्वान्तः सुखाय लोक-सामान्य जीवन का रस सहज में ही अपने काव्य में उंडेल रहे थे। ढोला० इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। सूफी कवि जायसी का पद्मावत ढोला० से बहुत अंशों में प्रभावित है।

डॉ० रामकुमार वर्मा इस ग्रंथ के काल आदि के सम्बन्ध में लिखते हैं— "यह सोलहवीं शताब्दी की रचना है और इसके रचयिता कुशल लाभ कहे जाते हैं :— इसे "ढोला मारव जी री बात" के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

आदि काल के कुछ अन्य प्रसिद्ध कवि

अमीर खुसरो-जीवन वृत्त—अमीर खुसरो इनका उपनाम है, इनका असली नाम अब्दुल हसन था। इनका जन्म सं० १३१२ में पटियाली जिला एटा में हुआ। इन्होंने अपनी आँखों से गुलाम वंश का पतन, खिलजी वंश का उत्थान तथा तुग़लक वंश का आरम्भ देखा। इनके सामने ही दिल्ली के शासन पर ग्यारह सुलतान बैठे जिनमें से सात की इन्होंने सेवा की। आप बड़े ही प्रसन्नचित्त, मिलनसार तथा उदार थे। इन्हें जो कुछ धन प्राप्त होता था उसे बाँट देते थे। इनमें साम्प्रदायिक कट्टरता किसी भी प्रकार नहीं थी। डॉ० ईश्वरीप्रसाद इनके सम्बन्ध में लिखते हैं— "ये कवि, योद्धा और क्रियाशील मनुष्य थे।" इनके ग्रन्थों के आधार पर अनुमान लगाया गया है कि इनके एक लड़की और तीन पुत्र थे। जब सं० १३२४ में इनके गुरु निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु हुई तो ये उस समय गयासुद्दीन तुग़लक के साथ बंगाल में थे। मृत्यु का समाचार सुनते ही ये शीघ्र दिल्ली पहुँचे और औलिया की कब्र के निकट निम्नांकित दोहा पढ़ कर बेहोश गिर पड़े—

गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने रैन भई चहुं देस॥

अन्त में कुछ ही दिनों में इनकी भी उसी वर्ष मृत्यु हो गई। ये अपने गुरु की कब्र के नीचे गाड़ दिये गए। सन् १६०५ ई० में ताहिरा बेरा नामक अमीर ने वहाँ पर मकबरा बनवा दिया।

ग्रन्थ—अमीर खुसरो अरबी, फारसी, तुर्की और हिन्दी के विद्वान् थे तथा इन्हें संस्कृत का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान था। इन्होंने कविता की ९९ पुस्तकें लिखीं जिनमें कई लाख शेर थे। पर अब इनके केवल २०-२२ ग्रंथ प्राप्य हैं। इन ग्रंथों में किस्सा चाहा दरवेश और खालिक बारी विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका तुर्की-अरबी-फारसी और हिन्दी का पर्याय कोश नामक ग्रन्थ भी बड़ा प्रसिद्ध है। इन्होंने फारसी से कहीं अधिक हिन्दी भाषा में लिखा है। इनके साहित्य में भी समय २ पर प्रक्षेपों का समावेश होता रहा है। इनकी कुछ पहेलियाँ, मुकरियाँ और फुटकर गीत उपलब्ध होते हैं जिनसे इनकी विनोदी प्रकृति का भली भाँति परिचय मिल जाता है। उदाहरणार्थ—

पहेली—एक थाल मोती से भरा सब के सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे। (आकाश)

दो-सुखने—पान सड़ा क्यों? घोड़ा अड़ा क्यों? (फेरा न था)

ढकोसला—खीर पकाई जतन से चर्खा दिया जला।
आया कुत्ता खा गया बैठी ढोल बजा॥

इनकी मिली जुली भाषा का नमूना देखिये :—

हाल मिसं की मकुन तगाफुल दुराय नैना बनाय बतियाँ।
किताबे हिज्राँ नदारम एजाँ न लेहु काहे लगाय छतियां॥

साहित्यिक देन—अमीर खुसरो ने साहित्य के लिए एक नवीन मार्ग का अन्वेषण किया और वह था जीवन को संग्राम और आत्मशासन की सुदृढ़ और कठोर शृंखला से मुक्त करके आनन्द और विनोद के स्वच्छन्द वायुमंडल में विहार करने की स्वतन्त्रता देना। यही खुसरो की मौलिक विशेषता है। इनके साहित्य में हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रथम प्रयत्न है तथा उसमें भाषा सम्बन्धी एकता का आदर्श भी उपस्थित किया गया है। आचार्य श्यामसुन्दरदास का कहना है कि खुसरो के पूर्ववर्ती साहित्य में राजकीय मनोवृत्ति है उसे जन-साहित्य नहीं कहा जा सकता किन्तु हम इनकी कविता में युग प्रवर्त्तक का आभास पाते हैं। इनके साहित्य से भाषाशास्त्र में प्रचलित एक मजेदार भ्रम का निवारण हो जाता है, वह यह कि हिन्दी का जन्म उर्दू से नहीं हुआ बल्कि उर्दू तो हिन्दी की एक शैली मात्र है, अतः इनके साहित्य का भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्व है। तत्कालीन सुल्तानों का इतिहास भी इनके साहित्य में सुरक्षित है। उनका फारसी भाषा में निबद्ध मसनवी खिज्रनामा इस दिशा में अत्यन्त विश्वसनीय तथा महत्वपूर्ण है। खुसरो ने अपने समय की उन ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश किया है, जो कि अन्य समसामयिक इतिहास-ग्रंथों में नहीं मिलती हैं। उनके ग्रंथों के ऐतिहासिक हवाले अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय हैं क्योंकि वे केवल समसामयिक ही नहीं थे, बल्कि उन घटनाओं के स्वरूप-निर्माण में उनका निजी योग भी है। उन्होंने केवल ऐतिहासिक घटनाओं का परम्परागत व्यौरा मात्र ही प्रस्तुत नहीं किया है बल्कि तत्कालीन सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी सजीव अंकन किया है।

खुसरो प्रसिद्ध गवैये भी थे। ध्रुवपद के स्थान पर कौल या कव्वाली बनाकर इन्होंने बहुत से नये राग निकाले थे, जो अब तक प्रचलित हैं। कहा जाता है कि बीन को घटा कर इन्होंने सितार बनाया था। संगीतज्ञ होने के नाते इनके साहित्य में संगीतात्मकता की मात्रा भी दृष्टिगोचर होती है। इनमें उक्ति-वैचित्र्य की प्रधानता है। आचार्य शुक्ल इनके साहित्य तथा भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं—"खुसरो के समय में बोलचाल की स्वाभाविक भाषा घिस कर बहुत कुछ उसी रूप में आ गई थी जिस रूप में खुसरो में मिलती है। कबीर की अपेक्षा खुसरो का ध्यान बोलचाल की भाषा की ओर अधिक रहता है। खुसरो का लक्ष्य जनता का मनोरंजन था, पर कबीर धर्मोपदेशक थे, अतः बानी पोथियों की भाषा का सहारा कुछ न कुछ खुसरो की अपेक्षा अधिक लिए हुए है।" डॉ० रामकुमार वर्मा इनके काव्य का विवेचन करते हुए लिखते हैं—"उसमें न तो हृदय की परिस्थितियों का चित्रण है और न कोई

संदेश ही। वह केवल मनोरंजन की सामग्री है। जीवन की गंभीरता से ऊब कर कोई भी व्यक्ति उससे विनोद पा सकता है। पहेलियों, मुकरियों और सुखनों के द्वारा उन्होंने कौतूहल और विनोद की सृष्टि की है। कहीं-कहीं तो उस विनोद में अश्लीलता भी आ गई है। उन्होंने दरबारी वातावरण में रहकर चलती हुई बोली से हास्य की सृष्टि करते हुए हमारे हृदय को प्रसन्न करने की चेष्टा की है। खुसरो की कविता का उद्देश्य यहीं समाप्त हो जाता है।' आगे चल कर डॉ० वर्मा इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"चारण-कालीन रक्तरंजित इतिहास में जब पश्चिम के चारणों की डिंगल कविता उद्धत स्वरों में गूँज रही थी और उसकी प्रतिध्वनि और भी उग्र थी, पूर्व में गोरख-नाथ की गम्भीर धार्मिक प्रवृत्ति आत्म शासन की शिक्षा दे रही थी, उस काल में अमीर खुसरो की विनोदपूर्ण प्रकृति हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक महान् निधि है। मनोरंजन और रसिकता का अवतार यह कवि अमीर खुसरो अपनी मौलिकता के कारण सदैव स्मरणीय रहेगा।"

विद्यापति—जीवन वृत्त—विद्यापति का जन्म सं० १४२५ में बिहार के दरभंगा जिले में विसपी गाँव में हुआ था। ये एक विद्वान् वंश से सम्बन्ध रखते थे। इनके पिता गणपति ठाकुर ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "गंगा भक्ति तरंगिनी" अपने मृत संरक्षक मिथिला के महाराजा गणेश्वर की स्मृति में समर्पित की थी। ये तिरहुत के महाराज शिवसिंह के आश्रय में रहते थे। महाराज शिवसिंह के अतिरिक्त रानी लखिमा देवी भी इनकी बड़ी भक्त थी। विद्यापति ने "कीर्तिलता" और "कीर्ति-पताका" में अपने आश्रयदाता शिवसिंह और कीर्तिसिंह की वीरता का बड़े ही ओजस्वी और प्रभावशाली ढंग से वर्णन किया है। आज से लगभग ४०, ५० वर्ष पहले बंगाली लोग विद्यापति को बंगला का कवि समझते थे किन्तु जब उनके जीवन की घटनाओं की जाँच पड़ताल बाबू रामकृष्ण मुकर्जी और डॉ० ग्रियर्सन ने की तब से बंगाली अपने अधिकार को अव्यवस्थित पाते हैं।

ग्रन्थ—विद्यापति एक महान् पंडित थे। उन्होंने अपनी रचनाएँ संस्कृत, अवहट्ट और मैथिली भाषा में लिखी हैं। संस्कृत पर इनका असामान्य अधिकार था और इन्होंने अपनी अधिकतर रचनायें संस्कृत में ही लिखीं। विद्यापति संक्रमण-काल के कवि थे। एक ओर वे वीरगाथा काल का प्रतिनिधित्व करते हैं तो दूसरी ओर वे हिन्दी में भक्ति और शृंगार की परम्परा के प्रवर्तक माने जाते हैं। कीर्ति-लता और कीर्तिपताका में उनका वीर कवि का रूप है। पदावली में उनका शृंगारी रूप है और शैव सर्वस्व सार में वे भक्तिभाव में झूमते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार भाव और भाषा की दृष्टि से इनकी रचनाओं को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। भाषा के आधार पर इनकी रचनायें ये हैं—

(क) संस्कृत—(१) शैव सर्वस्वसार, (२) शैव सर्वस्वसार प्रमाणभूत पुराण संग्रह, (३) भूपरिक्रमा, (४) पुरुष परीक्षा, (५) लिखनावली, (६) गंगा

वाक्यावली, (७) दान वाक्यावली, (८) विभाग सार, (६) गया पत्तलक, (१०) वर्ण कृत्य, (११) दुर्गा भक्ति तरंगिणी।

(ख) अवहट्ठ—कीर्तिलता और कीर्तिपताका।

(ग) मैथिली—पदावली।

व्यक्तित्व – हिन्दी साहित्य में विद्यापति की अक्षुण्ण कीर्ति का आधार उनके तीन ग्रंथ हैं—पदावली, कीर्तिलता और कीर्तिपताका। विद्यापति पदावली में इन्होंने राधा-कृष्ण की प्रणय लीलाओं का अत्यन्त हृदयहारी वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में इनके आदर्श कवि जयदेव रहे हैं। जयदेव का गीत-गोविन्द इनका उपजीव्य ग्रंथ है। भाव और शैली दोनों दृष्टियों से विद्यापति जयदेव के ऋणी हैं। पदावली में इनका शृंगारी रूप पूर्णतः उभर आया है। वैसे तो शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग का वर्णन इस ग्रंथ में उपलब्ध होता है पर जो तन्मयता संयोग शृंगार के चित्रण में दृष्टिगोचर होती है वह वियोग-पक्ष में नहीं। वस्तुतः विद्यापति संयोग-पक्ष के सफल गायक हैं और प्रेम के परम पारखी हैं। इन्होंने आलंबन विभाव में नायक कृष्ण और नायिका राधा का मनोहर चित्र खींचा है। उनके बीच में ईश्वरीय भावना की अनुभूति नहीं मिलती। एक ओर नवयुवक चंचल नायक है और दूसरी ओर यौवन और सौन्दर्य की संपत्ति लिए राधा नायिका—

कि आरे नव जौवन अभिरामा।
जत देखल तत कहएन पारिअ छओो अनुपम इकठामा॥

अंग्रेजी कवि बायरन के समान विद्यापति का भी यही सिद्धांत वाक्य है कि "यौवन के दिन ही गौरव के दिन हैं।" डॉ० रामकुमार विद्यापति के प्रेम के संसार का चित्रण करते हुए लिखते हैं—"विद्यापति का संसार ही दूसरा है। वहाँ सदैव कोकिलायें ही कूजन करती है। फूल खिला करते हैं पर उनमें कांटे नहीं होते। राधा रात भर जागा करती है। उसके नेत्रों में ही रात समा जाती है। शरीर में सौन्दर्य के सिवाय कुछ भी नहीं है। पथ है उसमें भी गुलाब है, शैया है उसमें भी गुलाब है, शरीर है उसमें भी गुलाब। सारा संसार ही गुलाबमय है। उनके संसार में फूल फूलते हैं, कांटों का अस्तित्व नहीं है। यौवन-शरीर के आनन्द ही उसके आनन्द हैं।"

राधा तथा कृष्ण के प्रेम की तन्मयता का अनुपम चित्र निम्नांकित पंक्तियों में दर्शनीय है। राधा के मुख से बार-बार राधा शब्द निकलता रहा है और कृष्ण के मुख से कृष्ण-कृष्ण की रट लग रही है। राधा के हृदय में कृष्ण इस रूप से बस चुके हैं कि वह कृष्णमय हो चुका है और एतदर्थ वह राधा राधा की पुकार कर रहा है और उधर दूसरी ओर कृष्ण का हृदय इतना राधामय हो चुका है कि उससे कृष्ण प्यारे की निरन्तर ध्वनि लग रही है। यह है प्रेम की पराकाष्ठा—

अनुखन माधव माधव सुमरित,
सुन्दरि भेल मधाई।

सद्यःस्नाता का एक नयनाभिराम चित्र देखिये—

कामिनी करए सनाने हेरतहिं हृदय हनए पंच बाने ।
चिकुर गरए जलधारा जनि मुख ससि उर रोअए अंधारा ।।

राधा का नख-सिख-सौंदर्य भी दर्शनीय है —

चाँद सार लए मुख घटना करु लोचन चकित चकोरे ।
अमिय धोय आंचर धनि पोछलि दहउँ दिसि भेल उंजोरे ।।

कुछ विद्वानों ने विद्यापति द्वारा चित्रित राधा कृष्ण की प्रणय के लीला-पक्षों को देख कर इन्हें भक्त कवि कहा है किन्तु हमारे विचारानुसार विद्यापति राधा और कृष्ण के भक्त न होकर शैव भक्त थे । विद्यापति को कृष्ण भक्त-परम्परा में न समझना चाहिए । आचार्य शुक्ल का इस सम्बन्ध में कहना है कि "आध्यात्मिक रंग के चश्मे आज कल बहुत सस्ते हो गए हैं । उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने गीत-गोविन्द के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी ।" सच यह है कि विद्यापति ने राधा-कृष्ण सम्बन्धी पदों की रचना शृंगार काव्य की दृष्टि से की है । डॉ० रामकुमार के शब्दों में "विद्यापति पदावली संगीत के स्वरों में गूंजती हुई राधा-कृष्ण के चरणों में समर्पित की गई है । उन्होंने प्रेम के साम्राज्य में अपने हृदय के सभी विचारों को अन्तर्हित कर दिया है । उन्होंने शृंगार पर ऐसी लेखनी उठाई है जिससे राधा और कृष्ण के जीवन का तत्त्व प्रेम क सिवाय कुछ भी नहीं रह गया है ।" वे आगे चल कर और स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं—"विद्यापति के बाह्य संसार में भगवद् भजन कहाँ, इस वयःसंधि में ईश्वर-सन्धि कहाँ, सद्यः स्नाता में ईश्वर से नाता कहाँ, अभिसार में भक्ति का सार कहाँ ? उनकी कविता विलास की सामग्री है, उपासना की साधना नहीं ।" कुछ भी हो, विद्यापति की पदावली में भाषा के माधुर्य और भावों के माधुर्य का एक अद्भुत समन्वय हुआ है । भले ही उनमें प्रेम के बाह्य संसार पर अधिक बल है किन्तु फिर भी वह अत्यन्त मनोरम है ।

विद्यापति का व्यक्तित्व विविधमुखी है । उसमें पांडित्य, कला, रसिकता और भावुकता का अद्भुत समन्वय है । संक्रान्तिकालीन कवि होने के कारण उनके साहित्य में विगत तथा अनागत युगों के साहित्य की प्रवृत्तियाँ सहज में प्रतिबिम्बित हो उठी हैं । अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उनके साहित्य को तीन भागों में बाँटा जा सकता हैं :—(क) शृंगारिक (ख) भक्ति-सम्बन्धी (ग) विविध विषयक नीति वीरगाथात्मक आदि । उनके शृंगारी साहित्य के सिंहावलोकन के पश्चात् यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि भले ही वे शिव-भक्त हों, किन्तु कम से कम वे कृष्ण-भक्त नहीं हैं । पदावली में चित्रित राधा-माधव की केलि-लीलाओं के पीछे किसी भी प्रकार की कोई भक्ति, धार्मिकता, सांकेतिकता, प्रतीकवाद या रहस्यवाद नहीं हैं । विद्यापति द्वारा गृहीत राधा-माधव साधारण नायिका-नायक हैं तथा उनकी लीलाओं और प्रेम-व्यापारों का चित्रण विशुद्ध लौकिक स्तर पर

हुआ है उनके मिलन-कालीन क्रीड़ाओं में माँसलता और स्थूलता इतने उत्कट रूप में उभरी हुई है कि उनमें किसी प्रकार के रूपक या उज्ज्वल रस एवं मधुर रस की कल्पना-यथार्थ से आँखें मूँदना है, तथा कवि के पदावली सम्बन्धी प्रणयन के उद्देश्य को न समझना है। सच तो यह है कि पदावली पर हठात् आध्यारोपित रूपक या रहस्यवाद निभाने पर भी निभ नहीं सकता हैं। चैतन्य महाप्रभु एक महाप्राणी थे। उनके सामने शूद्र और चांडाल, श्लील और अश्लील सब समान थे। यदि वे भाव-विभोर होकर पदावली के गीतों को गुनगुनाते थे, तो इससे पदावली या विद्यापति की कृष्ण-भक्ति-परायणता कदापि सिद्ध नहीं होती है। भक्त लोग तो गलदश्रु भाव से गीत-गोविन्द के गीतों को भगवदाराधना के निमित्त गाते हैं और खोजने वाले तांत्रिकों के अति-कामुकता से अभिभूत सिद्ध-साहित्य में अतीन्द्रियता और रहस्यमयता को उद्घोषित करने तक का साहस कर दिया करते हैं, किन्तु न ही तो गीत-गोविन्द और न ही सिद्ध-साहित्य में किसी प्रकार की कोई आध्यात्मिकता है। पदावली में केवल राधा-कृष्ण के नामों के ग्रहण से किसी अतीन्द्रिय प्रेम या भक्ति की कल्पना का तात्पर्य यह होगा कि हमें समूचे हिन्दी के रीति-साहित्य में भी इसी प्रकार के प्रेम और भक्ति की कल्पना करनी होगी जो कि नितांत अवैज्ञानिक तथा असंगत है।

कीर्तिलता—इस रचना का हिन्दी साहित्य में दो दृष्टियों से महत्त्व है—साहित्यिक प्रवृत्तियों तथा भाषा सम्बन्धी परिवर्तन के कारण। इस ग्रंथ में अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह की वीरता का वर्णन और यशोगान है। यह एक अपूर्व ऐतिहासिक काव्य है। पृथ्वीराज रासो से यह अपने ऐतिहासिक महत्त्व के कारण भिन्न हो जाता है। कवि ने अपने समसामयिक राजा का गुण-गान बड़ी अलंकृत भाषा में किया है फिर भी कवि ने ऐतिहासिक तथ्यों को कल्पित घटनाओं एवं संभावनाओं से धूमिल नहीं होने दिया है। इस ग्रंथ में उस समय का पूर्ण प्रतिबिम्ब है। दूसरे शब्दों में इन के काव्य में तत्कालीन संस्कृति का पूर्ण प्रतिबिम्ब है। कवि ने उस समय की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सभी परिस्थितियों का चित्र सा उतार दिया है। हिन्दू, मुसलमान, खान, वेश्याओं तथा सैनिकों के सजीव एवं पक्षपात रहित चित्रण से ग्रंथ साहित्यिक सौन्दर्य में और भी अभिवृद्धि हुई है। विद्यापति ने अपने चरित-नायक के चरित्र-चित्रण में बड़े चातुर्य से काम लिया है। ग्रंथ में जहाँ कीर्तिसिंह का उज्ज्वल वीर रूप स्पष्ट है वहाँ जौनपुर के सुल्तान फिरोजशाह के सामने उसका अति-नम्र रूप भी प्रकट हुआ है। लेखक ने कहीं भी ऐतिहासिक तथ्यों को विकृत करने का प्रयत्न नहीं किया है।

कीर्तिलता के काव्यरूप की चर्चा करते हुये डा० द्विवेदी लिखते हैं—"ऐसा जान पड़ता है कि कीर्तिलता बहुत-कुछ उसी शैली में लिखी गई थी, जिसमें चन्द्र-बरदायी ने पृथ्वीराज रासो लिखा था। यह भृंग और भृंगी के संवाद-रूप में है, इसमें संस्कृत और प्राकृत के छंदों का प्रयोग है। संस्कृत और प्राकृत के छंद रासों में बहुत

आये हैं। रासो की भाँति कीर्तिलता में भी गाथा (गाहा) छंद का व्यवहार प्राकृत भाषा में हुआ है। यह विशेष लक्ष्य करने की बात है कि संस्कृत और प्राकृत पदों में तथा गद्य में भी तुक मिलाने का प्रयास किया गया है जो अपभ्रंश परम्परा के अनुकूल ही है।" इसमें अपभ्रंश की पद्धतियाँ, बंध-शैली का प्रयोग हुआ है। विद्यापति ने अपने इस काव्य को कथा-काव्य न कहकर काहाणी कहा है। कथा काव्य में राज्य-लाभ के साथ ही कन्याहरण, गंधर्व-विवाह एवं बहुविवाह का प्राधान्य रहता है। कीर्तिलता केवल राज्य-लाभ तक ही सीमित है। यही कारण है कि कीर्तिलता में इतनी अधिक कल्पित घटनाओं और संभावनाओं का आयोजन नहीं हो पाया जितना पृथ्वीराज रासो में है। उसमें रोमांस के प्रकरण निकल जाने से बहुत कल्पित घटनाओं के लिये स्थान नहीं रहा है, साथ-साथ स्वाभाविकता भी बनी रही है। संभवतः कथा-काव्य और काहाणी का अन्तर बहुत कुछ संस्कृत साहित्य के कथा और आख्यायिका का सा है। कीर्तिलता में बीच-बीच में गद्य का प्रयोग भी हुआ है। कारण, इस ग्रंथ से पूर्ववर्ती कथा काव्यों में तथा संस्कृत में चंपू काव्यों में उक्त प्रयोग प्रचलित था।

भाषा के विकास की दृष्टि से भी यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। कीर्तिलता में परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा के दर्शन होते हैं। विद्यापति ने इसे अवहट्ट कहा है। इसमें तत्कालीन मैथिली भाषा का सम्मिश्रण है। कीर्तिलता में गद्य में तत्सम शब्दों के व्यवहार की अधिकता है तथा पद्य में तद्भव शब्दों का एकछत्र राज्य है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा में देखने को मिलती हैं। आदि काल की प्रामाणिक रचनाओं में कीर्तिलता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विद्यापति ने कीर्तिलता में अपनी भाषा को देसिल बअना नाम दिया है। विद्यापति की कीर्तिलता में भाषा विषयक यह गर्वोक्ति प्रसिद्ध है—

बालचन्द विज्जावइ भाषा, दुहु नहि लग्गई दुज्जन हासा।
ओ परमेसर सिर सोहइ ई णिच्चय नाअर मन मोहइ॥

विद्यापति के साहित्य के संक्षिप्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये वीर कवि, भक्त कवि और शृंगारी कवि सभी रूपों में परिपूर्ण दिखाई देते हैं। एक ओर उनकी कीर्तिलता और कीर्तिपताका चारण काव्य की वीरगाथाओं का स्मरण दिलाती हैं तथा दूसरी ओर उनकी पदावली कृष्ण कवियों विशेषतः रीतिकालीन कवियों की शृंगारपरक सुकोमल भाव सामग्री की मूल प्रेरक सिद्ध होती है। विद्यापति हिन्दी साहित्य में पदशैली के प्रवर्तक और सूर के पथ-प्रदर्शक जान पड़ते हैं। इनमें भाषा की सुकुमारता और भाव मधुरिमा का मणि-काँचन योग है। विद्यापति अपने समय के बड़े सफल कवि थे, यही कारण है कि इसके प्रशंसकों ने उन्हें नाना उपाधियों से विभूषित किया है—अभिनव जयदेव, कवि शेखर

सरस कवि, खेलन कवि, कवि कंठहार और कवि रंजन आदि। वस्तु, विद्यापति ने मध्य युग के प्रायः समस्त काव्य को प्रभावित किया है। शृंगार-काव्य की सारी मान्यतायें इसमें दृष्टिगोचर होती हैं। कल्पना, साहित्यिकता और भाषा की भंगिमा में ये अनुपम हैं। डॉ० रामरत्न भटनागर इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"जयदेव के गीतों में जिस माधुर्य भाव की प्रतिष्ठा है उनमें जो भावसुकमारता और विदग्धता है, जो पद-लालित्य है, वह तो विद्यापति में है ही, परन्तु साथ ही सामन्ती कला के तीव्र आकर्षक रंग भी उस पर चढ़े हैं और कवि की सभाचातुरी, वचनविदग्धता और भावविभोरता ने उसके काव्य को जयदेव के काव्य से कहीं अधिक मार्मिक बना दिया है। यही कारण है कि परवर्ती युग में कवियों और साधकों ने जयदेव के स्थान पर राधा-कृष्ण का नेतृत्व उन्हें दे दिया।" विद्यापति तथा जयदेव के काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोणों में भी पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है। गीत-गोविन्दकार जयदेव विद्यापति के परम-अनुकरणीय रहे हैं। इन दोनों की साहित्यिक परिस्थितियों और व्याख्यात्मक दृष्टिकोणों में साम्य का होना अनिवार्य था। यदि जयदेव के काव्य में हरिस्मरण, विलास-कला (काम कला), काव्य कला (नायिका भेद), और संगीत-कला का समन्वित रूप है, तो विद्यापति की पदावली में रस-रीति (कामानन्द-संभोग कलायें) काव्य-कला (नायिका भेद) और संगीत का विचित्र संमिश्रण है। जयदेव में भक्ति का झीना आवरण फिर भी जहाँ तहां बना रहा है (यद्यपि वह है अवास्तविक) किन्तु विद्यापति की पदावली-किसी प्रकार के धर्म या भक्ति की ग्रंथि से ग्रस्त नहीं है। अतः उसमें राधा-माधव की रहकेलिलों का और भी उन्मुक्त गान हुआ है।

विद्यापति का परिवर्ती साहित्य के प्रति दाय

विद्यापति को संस्कृत साहित्य के शृंगार-वर्णन की विशाल परम्परा परम्पगत संपत्ति के रूप में मिली और उसका उन्होंने यथासम्भव सदुपयोग भी किया। जयदेव विद्यापति के अत्यन्त अनुकरणीय रहे हैं, जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। जयदेव ने काव्य-कला, काम-कला, संगीत-कला, तथा हरि-स्मरण का संतुलित रूप गीत-गोविन्द में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है किन्तु इस कार्य में उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिली। गीत-गोविन्द की संगीत लहरी में नायिका भेद तथा केलिरह (काम कलायें) मुख्य रूप से गुंजरित हो उठी हैं जहाँ हरि-स्मरण की क्षीण ध्वनि विलीन हो जाती है। विद्यापति में जयदेव काव्य की उपर्युक्त सब प्रवृत्तियाँ हैं, किन्तु उनके साहित्य में रस-रीतिवाद का सर्वप्राधान्य है। यद्यपि विद्यापति ने किसी निश्चित रूप रेखा के अनुसार पदावली में नायिका-भेद-प्रभेद प्रस्तुत नहीं किया है, किन्तु राधा-कृष्ण के परकीया प्रेम के सीमित वृत्त में नायिका भेद का जो भाग सहज में समाविष्ट हो सकता था, वह सब कुछ पदावली में है। अतः विद्यापति ने परवर्ती कवियों कृष्ण भक्ति साहित्य तथा रीतिकालीन साहित्य के लिए राधा-कृष्ण के ब्याज से नायिका-भेद-वर्णन की प्रवृत्ति का परोक्ष रूप से मार्ग प्रशस्त कर दिया।

रीति काल में रीतिबद्ध कवियों के लक्ष्ण-ग्रंथों में यह प्रवृत्ति स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। रीति-काल में रस-रीति-परक, अर्थात् विलासिता तथा कामानन्द से सम्बद्ध साहित्य के प्रणयन की प्रेरणा का विद्यापति के द्वारा मिलना कोई अकल्पनीय नहीं है। रीति कवि के लिए राधा और कृष्ण के नाम पर लौकिक श्रृंगार की अभिव्यक्ति का मार्ग विद्यापति के द्वारा पहले से ही प्रशस्त कर दिया गया था। राधा-कान्ह के सुमरिन का बहाना करके प्रणय लीलाओं के उन्मुक्त मांसल चित्र उपस्थित करने वाले रीतिकालीन कवि तथा विद्यापति के दृष्टिकोण, उद्देश्य तथा परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य है। हां, इस दिशा में विद्यापति में फिर भी थोड़ी बहुत कलात्मकता बनी रही है जबकि रीति कवि में उसका सर्वथा अभाव है।

विद्यापति की कीर्तिलता से वीर रसात्मक तथा पुरुष परीक्षा जैसे ग्रंथों से नीति और उपदेशमय ग्रंथों की शैली का हिन्दी के परवर्ती के युगों में अनुसरण होता रहा।

विद्यापति का काव्य और व्यक्तित्व विविधमुखी है। एक ओर जहाँ विद्यापति के द्वारा मिथिला भाषा के कवि गोविन्द दास तथा लोचन आदि कवि प्रभावित हुए वहाँ दूसरी ओर कृष्ण भक्त काव्यकार भक्तवर सूरदास आदि भी इस प्रभाव से अछूते न रहे। हालांकि सूर में भक्ति भावना कलात्मकता और संयम अधिक है। इसके अतिरिक्त रीति काल का साहित्य कई दिशाओं में विद्यापति से अत्यधिक प्रभावित हुआ है।

———

भक्ति काल

(विक्रमी सं० १३७५-१७००—सन् १३१८-१६४३)

परिस्थितियाँ

राजनीतिक परिस्थितियाँ—हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के इस सुदीर्घ समय को राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) प्रथम भाग १३७५ से १५८३ सं० तक, (ख) १५८३ से १७०० सं० तक। प्रथम भाग में दिल्ली पर तुगलक और लोधी वंश के शासकों ने राज्य किया और द्वितीय भाग में मुगलवंश के बाबर, हुमायूं, अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ ने। राजनीतिक दृष्टि से प्रायः यह काल विक्षुब्ध, अशान्त तथा संघर्षमय काल है।

मुहम्मद गौरी के विजित प्रदेशों पर तुर्कों की सल्तनत स्थापित हुई। बलबन, अलाउद्दीन आदि सुलतान तथा उनके सरदार साम्राज्य-विस्तार के कार्य में सफल भी हुए किन्तु उनके अशक्त उत्तराधिकारियों द्वारा उसकी रक्षा न हो सकी। अलाउद्दीन खिलजी तथा मुहम्मद ने सतत प्रयासों से केन्द्रीय शासन को सुदृढ़ बनाकर अपनी दूर-दर्शिता का परिचय दिया किन्तु उनके आँख मूंदते ही सब कुछ चौपट हो गया। फलतः चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दियों में बहुत से मुसलमानों तथा हिन्दुओं के प्रादेशिक राज्य उठ खड़े हुए। तुर्क शासक विदेशी होते हुए भी इस देश को अपना चुके थे। उनमें कुछ की धमनियों में हिन्दू रक्त था। तुर्कों के पीछे पठानों का राज्य हुआ। उनके पूर्वज हिन्दू या बौद्ध थे। अतएव ये लोग एक प्रकार से विदेशी नहीं रह गये थे।

१२९५ ई० में अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उसने मालवा और महाराष्ट्र को जीता। गुजरात जीतकर उसने राजपूताना को तीनों ओर से घेर लिया तथा रणथम्भौर, चित्तौड़, सिवाना, जालोर और भिन्नमाल आदि प्रदेश जीत लिए। इस प्रकार दक्षिण भारत में मुस्लिम शासन पहुँचा। अलाउद्दीन के मरते ही दिल्ली का शासन ढीला पड़ गया पर गयासुद्दीन तुगलक ने १३२० में उसमें फिर जान डाली। उसने बंगाल को जीतकर दक्षिण में महाराष्ट्र तथा आंध्र तक अपना राज्य स्थापित किया। कुछ काल के उपरान्त, प्रान्तीय शासकों में स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति आने लगी। दिन प्रतिदिन कोई न कोई प्रांतीय शासक स्वतन्त्रता की घोषणा

करता और दिल्ली सम्राट् उस पर चढ़ाई कर के उसे अपने अधीन करता। मेवाड़ में हम्मीर सिसोदिया १३२६ में स्वतन्त्र हो गया। उन्हीं दिनों विजयनगर के हिन्दू राज्य का उदय हुआ। मदुरा और बंगाल में दिल्ली सल्तनत के सूबेदार स्वतन्त्र सुलतान बन बैठे, दक्षिण में बहमनी सल्तनत की स्थापना हुई। काश्मीर में शाहमीर ने जिसके पूर्वज स्थानीय हिन्दू थे, स्वतन्त्र सल्तनत की स्थापना की। फीरोज तुगलक ने इन विद्रोहों को दबाया भी किन्तु उसके उत्तराधिकारी निकम्मे और नालायक निकले और राज्य की शक्ति प्रान्तीय शासकों के हाथों में चली गई। इन्हीं दिनों दक्षिण में विजयनगर और बहमनी राज्यों में संघर्ष चलता रहा। वैसे तो तुर्क राज्य काफी खोखला हो ही चुका था किन्तु १३९८ में दिल्ली राज्य तैमूर की निर्मम ठोकर को खा कर सम्भल न सका।

१५वीं शताब्दी प्रांतीय शासकों का युग है। इसमें राजस्थान में मेवाड़ की उन्नति हुई। महाराणा लाखा, चूड़ा और कुंभा के शासन-काल में वह एक प्रमुख शक्ति बन गया। मालवा, गुजरात, बंगाल, जौनपुर और कश्मीर में स्वतन्त्र रियासतें थीं ही। तिरहुत में कामेश्वर नामक ब्राह्मण ने हिन्दू राज्य की स्थापना की थी। उस के पौत्र गणेश्वर ने उसे स्वतन्त्र कर लिया। गणेश्वर का पुत्र कीर्तिसिंह और पौत्र शिवसिंह स्वतन्त्र हिन्दू राजा थे। बुन्देलखंड में गाहड़वाल वंशज बुन्देल सरदार राज्य करने लगे। उड़ीसा में सूर्यवंशी कपिलेन्द्र ने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। बहमनी सल्तनत के टूट जाने पर उसके स्थान पर चार छोटे २ राज्य कायम हो गये। १५वीं शताब्दी के मध्य में पठानों ने दिल्ली ले ली और वे बिहार तक फैल गये पर वे दिल्ली के राज्य को साम्राज्य न बना सके। १६वीं शताब्दी के मध्य में जब बाबर ने आक्रमण किया तब उस समय सभी स्वतन्त्र प्रादेशिक राज्य थे। उस समय भारत में प्रमुख शासक पश्चिमी मण्डल में मेवाड़ का राणा सांगा और दक्षिण में विजयनगर का कृष्णदेव राय थे। बाबर ने १५२६ में पानीपत के मैदान में युद्ध के नवीन उपकरणों के प्रयोग से इब्राहीम लोधी को पराजित किया। दिल्ली से आगे बढ़ते ही उसकी राणा साँगा से मुठभेड़ हुई किन्तु वहाँ पर भाग्य ने बाबर का साथ दिया। सांगा के पश्चात् राजपूतों में प्रतिरोध की शक्ति न रही पर पठानों ने हिम्मत न हारी और प्रतिरोध जारी रखा। पठान शासक शेरशाह सूरी ने साधनों के बिना हुमायूं को पूरी तरह पराजित किया। शेरशाह के समय में ही हिन्दी का अमर काव्य पद्मावत लिखा गया। शेरशाह के उत्तराधिकारी अयोग्य निकले और उधर मुगलों का नेतृत्व अकबर जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति के हाथ में था। हेमचन्द्र के नेतृत्व में पठानों ने पानीपत के दूसरे युद्ध में अकबर का डटकर मुकाबला किया किन्तु अन्ततोगत्वा अकबर का पलड़ा भारी रहा। दिल्ली सम्राट् अकबर के सामने देश के छोटे-छोटे हिन्दू और मुसलमान राजाओं ने एक-एक कर घुटने टेक दिये। अकबर के समय में भी मेवाड़ के राणा प्रताप ने उसकी आधीनता न मानी और आजीवन लड़ता रहा। प्रताप का पुत्र अमर सिंह जहांगीर से १६ वर्ष लड़ा पर अन्त में उसने आधीनता मान ली। शाहजहाँ के

शासन के अन्तिम दिनों में बुन्देलखण्ड में चंतपराय और महाराष्ट्र में शिवाजी की स्वतन्त्रता की चेष्टायें प्रगट हुई।

प्रस्तुत काल के इस विस्तृत ब्योरे से एक बात नितांत स्पष्ट है कि विदेशी आक्रांताओं के द्वारा "आया, देखा और नष्ट कर दिया" के समान कुछ क्षणों, घण्टों या दिनों में भारत पर आधिपत्य स्थापित नहीं हुआ बल्कि उन्हें देशी शासकों के प्रतिरोध का बुरी तरह सामना करना पड़ा। यहाँ के देशी शासक अन्तिम दम तक प्राण-प्रण से स्वाधीनता के लिए जूझते रहे। उनमें किसी भी प्रकार की निराशामय पराजित मनोवृत्ति नहीं थी और न ही उस समय का साहित्य निराशामय परिस्थितियों की उपज है।

निःसन्देह इस काल में कतिपय कट्टर तथा साम्प्रदायिक मुस्लिम शासकों द्वारा हिन्दू जनता पर अकथनीय अत्याचार भी ढाये गये किन्तु सभी विदेशी शासक संकीर्ण हृदय थे, ऐसी बात नहीं। इसके साथ-साथ मुस्लिम प्रजा भी विशेष सुखी नहीं थी। धर्म के आधार पर शिया और सुन्नी लोगों में सतत संघर्ष चलता रहा। इसके साथ-साथ विदेशीयता के आधार पर उन लोगों में विद्वेष की आग सदा सुलगती रही। अरबी, तुर्की, ईरानी तथा अफगान आदि मुसलमान आपस में सदा जलते रहते थे। शासक वर्ग में भी राज्य-लिप्सार्थ निर्मम हत्याओं का सिलसिला चलता रहा। अल्तमश के सिर पर आरामशाह का खून है। रजिया तथा नसुरुद्दीन ने अपने कई भाइयों को पद से वंचित करके राज्य प्राप्त किया। रजिया और उसके प्रेमी का वध हुआ। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने चाचा और मुहम्मद तुगलक ने अपने पिता की हत्या करके राज्य प्राप्त किया। अलाउद्दीन की मलिक काफूर के द्वारा मृत्यु हुई। सिकन्दर लोधी ने अपने भाई बारबद को ठिकाने लगाया। मुगल सम्राटों में शाहजादा खुर्रम को अपने कुल के बहुत से आदमियों को ठिकाने लगाना पड़ा और औरंगजेब ने राज्य प्राप्ति के लिए क्या कुछ नहीं किया। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय को छोड़कर मुस्लिम-काल का शेष सारा समय मारकाट, गृहकलह, विदेशी आक्रमणों के आतंक तथा युद्ध का काल रहा है।

ऐसी बात भी नहीं है कि सभी मुसलमान शासक हिन्दुओं के प्रति अनुदार और असहिष्णु रहे हों। "बहुत से मुस्लिम शासकों ने संस्कृत तथा देशी भाषाओं के साहित्य, संगीत और कला को प्रोत्साहन दिया। कश्मीर के जैनुलाबुद्दीन के प्रोत्साहन से जोनराज ने संस्कृत में दूसरी राजतरंगिणी लिखी। जौनपुर के सुलतानों ने शास्त्रीय संगीत का पुनरुद्धार करवाया और संगीत शिरोमणि नामक ग्रंथ संस्कृत में तैयार हुआ। हुसैन शाह बंगाली ने महाभारत और भागवत का बंगाली में अनुवाद करवाया।" सच यह है कि अधिकांश मुसलमान-शासक भारतीय थे।

इन मुसलमान शासकों के मन्त्री और सलाहकार अधिकांश हिन्दू थे। "हुसैन शाह बंगाली का मन्त्री गोपीनाथ वसु था। काश्मीर के सुलतान शहाबुद्दीन के मुख्य-

मन्त्री उदय श्री और चंद्रडामर थे । वहीं के सुलतान सिकन्दर का मन्त्री सूह भट्ट ब्राह्मण था जो कि मूर्ति-पूजा का विरोधी था । उसने कई मन्दिरों की मूर्तियाँ तुड़वा दी थीं । इस करतूत से सिकन्दर बुतशिकन के नाम से प्रसिद्ध हुआ परन्तु उसके बेटे जैनुलाबुद्दीन ने उन मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया । उस समय हिन्दू शासकों के द्वारा भी साहित्य, संगीत तथा अन्य ललित कलाओं को प्रोत्साहन मिला । इनमें विजयनगर के राजाओं और मेवाड़ के राणा कुम्भा का विशिष्ट स्थान है ।" अकबर और उसके वंशजों के प्रशासन में हिन्दी को बराबर आश्रय मिलता रहा । हिन्दू धर्म के कट्टर विरोधी औरंगजेब ने भी अपने दरबार में हिन्दी कवियों को स्थान दिया था । सुना जाता है कि उसने स्वयं भी हिन्दी में कविता की थी ।

कोई भी साहित्य-युग परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता है किन्तु भक्तिकालीन साहित्य इस बात का अपवाद है । भक्तिकाल के प्रमुख चार कवियों कबीर, जायसी, तुलसी और सूर की वर्ण्य सामग्री युग के राजनीतिक वातावरण के ठीक प्रतिकूल है । उन्हें न तो सीकरी से काम था और न प्राकृत जन गुण-गान से सरोकार था । इन भक्तों की वाणी धर्म और शांति प्रधान रही । हाँ, कुछ-एक उद्धरण इन भक्तों की वाणी में इधर-उधर बिखरे हुए अवश्य मिल जाते हैं—

(क) वेद धर्म दूरि गये, भूमि चोर भूप भये ।
साधु सीद्यमान जान रीति पाप पीन की ।।

(ख) कलि बारहि बार दुकाल परै, बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै ।

(ग) म्लेच्छनि भार दुखित मेदिनी ।

पर ये उद्धरण उनकी रचनाओं के मूल विषय नहीं हैं ।

सामाजिक परिस्थिति - चौदहवीं, पन्द्रहवीं शताब्दियों में हिन्दू मुसलमानों में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आदान-प्रदान हुआ । हिन्दुओं में जात-पाँत और शादी-ब्याह के बन्धन कड़े हुए । एक ही परिवार के व्यक्ति कुछ हिन्दू रह जाते और कुछ मुसलमान हो जाते । उस समय तक हिन्दू-मुसलमानों के परस्पर विवाहों के उदाहरण मिल जाते हैं । काश्मीर के सुलतान शाहमीर की लड़कियों का विवाह हिन्दू सामन्तों के साथ हुआ था और उसके लड़के अल्लेशर का विवाह हिन्दू सेनापति की लड़की से हुआ था । लड़की पति का धर्म स्वीकार कर लेती थी । जाति-पांति के बन्धन अवश्य दिन-प्रति-दिन कठोर होते जा रहे थे किन्तु इनके प्रति आवाज भी उठ रही थी । रामानन्द और उनके शिष्य कबीर खुल कर इसका विरोध कर रहे थे । खान-पान के बन्धन भी शायद इतने कड़े नहीं थे । जौनराज की राजतरंगिणी में लिखा है कि "शहाबुद्दीन और उसके मन्त्री उदय श्री और चन्द्रडामर ने एक चषक में मदिरा पान किया था ।" चौदहवीं शताब्दी तक खान-पान के बन्धन इतने कड़े नहीं थे, पर पीछे छुआछूत और खान-पान के बन्धन अधिक कड़े हो गए ।

शेरशाह ने जमींदारी की प्रथा को उठा दिया था किन्तु मुगलों ने इस प्रथा

को फिर जारी किया। मुगल दरबार के जागीरदार तथा मनसबदार बड़े समृद्ध थे। बादशाह और जागीरदारों का जीवन भोग-विलास तथा ऐश्वर्यपूर्ण था। बादशाह को प्रजा के सुख-दुःख का ध्यान भी था। १६३०-३१ में जब गुजरात, खानदेश और दक्षिण में अकाल पड़ा तो शाहजहाँ ने उन प्रांतों के लगान में छूट दे दी और अनाज मुफ्त बँटवाया।

बहुतेरे हिन्दू विविध कारणों से स्वेच्छया मुसलमान बने होंगे। सभी मुसलमान बादशाह और सामन्त इस्लाम को तलवार के बल पर फैलाने के पक्ष में नहीं थे। फीरोज तुगलक, सिकन्दर बुतशिकन, अहमदशाह गुजराती, महमूद बघेड़ा और सिकन्दर लोधी जैसे धर्मान्धों के साथ ही जैनुलाबुद्दीन, हुसेनशाह बंगाली और शेरशाह जैसे उदार चरित शासक भी थे। इस काल के पूर्व तक विधर्मियों को हिन्दू बना लेने के प्रमाण भी मिलते हैं। गौरी के कैदियों का शुद्धीकरण किया गया था। चीन की ओर से अहोय लोग आकर आसाम में आ बसे थे और उनका आर्यीकरण कर लिया गया था। कहीं-कहीं हिन्दू मुसलमान कन्याओं को ब्याह लेते थे परन्तु अपना धर्म बनाये रहते थे। कदाचित् शाहजहाँ को इसलिए फरमान निकालना पड़ा था कि युवती को ग्रहण करने वाले हिन्दू को मुसलमान होना ही होगा। कदाचित् इसी कारण हिन्दुओं में जाति-पाँति की कट्टरता बढ़ी। उनमें पाचन शक्ति का ह्रास हुआ और उनमें कच्छप वृत्ति बढ़ी। विलासी मुस्लिम अधिकारियों की सस्ती रसिकता से रक्षा पाने के लिए हिन्दू समाज में पर्दे और बाल-विवाह का प्रचलन हुआ। जहाँ हिन्दुओं में ऊँच-नीच का भेद आया, वहाँ मुसलमानों में शिया-सुन्नी की असमानता ने रंग दिखाया। कुछ मुस्लिम शासकों में रूप-लिप्सा और काम-पिपासा भी कम नहीं थी। अलाउद्दीन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। उस युग के हिन्दुओं की आर्थिक विपन्नता का चित्र खींचते हुए तारीखे फीरोजशाही के लेखक बर्नीयर ने लिखा है—"उन हिन्दुओं के पास धन संचित करने के कोई साधन नहीं रह गए थे और उनमें से अधिकांश को निर्धनता, अभावों एवं आजीविका के लिए निरन्तर संघर्ष में जीवन बिताना पड़ता था। प्रजा के रहन-सहन का स्तर बहुत निम्नकोटि का था। करों का सारा भार उन्हीं पर था। राज्य-पद उनको अप्राप्य थे।" अलाउद्दीन ने दोआब के हिन्दुओं से उपज का ५० प्रतिशत भाग कर के रूप में बड़ी कठोरता से उगाहा था।

जहाँ हिन्दुओं और मुसलमानों में शासित और शासक का भेद था वहाँ धीरे-धीरे वे एक दूसरे के प्रति उदार भी होने लगे थे। तत्कालीन वास्तु और चित्र-कला तथा धर्म और काव्य के क्षेत्र में उनमें आदान-प्रदान और समन्वय के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं। मुसलमानी इमारतों और राजपूत तथा मुगल शैली के चित्रों को देखने से मुसलमान और हिन्दू-कला के घुल-मिल जाने से नवीन कला शैली का प्रादुर्भाव हुआ।

धार्मिक परिस्थिति—उस समय की भारतीय धार्मिक परिस्थिति को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) बौद्ध धर्म की विकृत परिस्थिति, (ख) और वैष्णव धर्म की परम्परागत परिस्थिति। इनके अतिरिक्त एक तीसरी विदेशी धार्मिक परिस्थिति ने भी भारत में स्थान बनाया जिसे हम सूफी धर्म कहते हैं।

महात्मा बुद्ध के महानिर्वाण के पश्चात् बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हुआ—हीनयान और महायान हीनयान में सिद्धांत पक्ष की दार्शनिक जटिलता थी अतः कम लोगों की आस्था उस पर टिक सकी। महायान में सिद्धांत के स्थान पर व्यवहार पक्ष की प्रधानता थी। उसमें आचार-सम्बन्धी पवित्रता को ही निर्वाण का साधन माना गया और उसमें सभी वर्गों के लोगों को सम्मिलित होने की आज्ञा मिली हीनयान अधिक कट्टरता के कारण संकुचित होता चला गया और महायान अधिक उदारता के कारण विकृत। शंकर तथा कुमारिल भट्ट ने बौद्ध धर्म पर प्रखर प्रहार किया और वैदिक धर्म का पुनरुद्धार किया। सुसंस्कृत जनता शंकर धर्म के उपदेशों से आकृष्ट हुई। महायान सम्प्रदाय ने जनता के असंस्कृत वर्ग को जन्त्र-तन्त्र, अभिचार तथा चमत्कार बाजी से वशीभूत किये रखा, इसी कारण उसका नाम कालान्तर में मन्त्रयान पड़ा। इसके साथ वाम मार्ग भी चल रहा था जिसमें स्त्रियों को वश में करने के लिए नाना प्रकार के जन्त्र-मन्त्र, अभिचार आदि का प्रयोग किया जाता था। मंत्रयान ने वाम मार्ग की मद्य, मांस, मैथुन, मुद्रा आदि अनेक मुद्राओं को अपना लिया। उसके महासुखवाद के स्थान को मुद्रा साधनों ने ले लिया। इसके लिये युगनद्धता जैसे गर्हित उपचारों का प्रयोग किया गया और नारी के प्रति वासनात्मक सम्बन्ध को साधना का आवश्यक अंग समझ लिया गया। मन्त्रयान से वज्रयान निकला और उसमें चौरसी सिद्ध दीक्षित हुए। सिद्धों ने जन्त्र-मन्त्र शैली को अपनाते हुये भी उसमें क्रांतिमूलक परिवर्तन किए। नाथ-सम्प्रदाय क. सिद्धों का एक बढ़ा हुआ परिष्कृत रूप समझना चाहिये। सिद्धों और नाथों के मुख्य-मुख्य सिद्धांत थे—कर्मकाण्ड कुछ नहीं। वर्ण व्यवस्था अनावश्यक है। मोक्ष के लिये गुरु की परम आवश्यकता है। ईश्वर एक निरंजन तथा घट-घट व्यापक है। धर्म की इस दशा को लक्ष्य करके कदाचित् तुलसीदास ने कहा था—"गोरख जगायो जोग, भक्ति भगाओ भोग।"

अस्तु ! सिद्धों और नाथों की मुख्य-मुख्य रूढ़ियाँ सन्त मत की धार्मिक पृष्ठ भूमि बनीं। सन्त-मत के पनपने का थोड़ा-बहुत श्रेय इन सिद्धों और नाथों को जाता है।

भक्ति की लहर दक्षिण से आई। शंकर से बहुत पहले दक्षिण देश में आलवार सन्तों में भक्ति का प्रसार एवं प्रचार हुआ। शंकर ने बौद्ध धर्म के विरोध में अद्वैतवाद का प्रचार किया। इसकी प्रतिक्रिया में अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय चल निकले जिनमें नारायण की भक्ति पर विशेष बल दिया गया और जनता को भक्ति का स्थूल आश्रय मिला। उनमें विष्णु के अवतारों राम और कृष्ण की कल्पना हुई। रामानन्द ने भक्ति का द्वार सबके लिये खोला और जन-भाषा में अपने सिद्धांतों का प्रचार किया। इनसे

पूर्व के आचार्यों ने संस्कृत में अपने सिद्धांतों का प्रचार किया था और उनके उपदेश सुसंस्कृत जनता तक ही सीमित थे। रामानन्द ने तुलसी के लिये बहुत कुछ मार्ग प्रशस्त कर दिया। मन और कर्म की शुद्धता और रामभजन तुलसी की भक्ति का निचोड़ कहा जा सकता है।

विष्णु के दूसरे अवतार श्रीकृष्ण की उपासना के विविध भेद और उपभेद लेकर चले हुये अनेक सम्प्रदायों ने भी इस भूभाग को काफी प्रभावित किया। महाभारत में वर्णित दुष्टों के संहारक, अधर्म विनाशक तथा धर्म-रक्षक कृष्ण का ग्रहण न करके भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित कृष्ण के रूप का ग्रहण किया गया और इस रूप की आध्यात्मिक व्याख्या करके इसे अलौकिक रूप दिया गया, किन्तु इसमें शनैः-शनैः भोग प्रधान मानसिक तृप्ति के उपादानों का समावेश होता गया, अतः लोग इधर झुके। इस युग में इनके जो उद्‌गार निकले उनमें भक्ति की आड़ में कुछ विलास-वासना छिपी रही, किन्तु आगे चलकर तो इसने कृष्ण को रसिया तथा छैला का रूप दे डाला।

इधर भारत में मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व ही इन सूफियों ने यहाँ इस्लामी वातावरण तैयार कर लिया था और कुछ सम्प्रदाय भी खड़े कर लिये थे। इन्होंने भारतीय अद्वैतवाद को अपने ढंग से अपनाया और प्रेम-स्वरूप निराकार ईश्वर का प्रचार किया। इन पर योग का प्रभाव भी स्पष्ट है। ये लोग इस्लाम को छोड़े बिना यहाँ के नाथ-सम्प्रदाय तथा एकेश्वरवादी विचारों को अपनाते हुये समन्वय करने में अग्रसर हुये तथा हिन्दू-मुस्लिम हृदयों के अजनबीपन को मिटाया। तुलसीदास ने "उपखान" शब्द से कदाचित् इन्हीं की ओर संकेत किया है।

साहित्यिक परिस्थिति—इस धार्मिक संघर्ष के युग में सभी विचारकों ने गद्य में अपने विचार प्रकट न करके उन्हें छन्दोबद्ध रूप दिया। संस्कृत में इस सम्बन्ध में टीकाओं, व्याख्याओं की सृष्टि होती रही किसी नवीन मौलिक उद्‌भावना से काम नहीं लिया गया। सिद्धांत-प्रतिपादन तथा भक्ति प्रचार की भावना उस समय के समस्त साहित्य में काम कर रही है। कबीर, जायसी, सूर तथा तुलसी जैसे भावुक कवि भी इस मनोवृत्ति से अछूते नहीं रहे।

उन दिनों हिन्दुओं का उच्च वर्ग संस्कृत में अपने उद्‌गारों की अभिव्यक्ति करता रहा। इधर मुगलों द्वारा फारसी को राजकाज के लिये स्वीकार किया जा चुका था। अतः फारसी में अनेक इतिहास ग्रंथों की रचना हुई तथा प्रचुर मात्रा में कविता लिखी गई। फारसी में संस्कृत के अनेक धार्मिक तथा ऐतिहासिक ग्रंथों का अनुवाद हुआ। शेरशाह सूरी मुगल बादशाह और शहजादे तथा अनेक प्रादेशिक मुस्लिम शासकों के अतिरिक्त हिन्दू राजाओं तथा सम्पन्न लोगों ने हिन्दी को भी प्रोत्साहन दिया, परन्तु संस्कृत और फारसी साहित्य के समान हिन्दी को आदर नहीं मिल सका। राजस्थानी की कुछ वचनिकाओं में तथा ब्रजभाषा की वार्ताओं और टीकाओं में गद्य का भी प्रयोग हुआ किन्तु पद्य का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग हुआ और उसमें भक्ति

साहित्य का अधिक निर्माण हुआ । बादशाहों तथा राजाओं के आश्रित कवियों ने प्रशस्ति, शृंगार, रीति, नीति आदि से सम्बन्धित मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार की रचनायें की । इस काल में वीर-रस-प्रधान काव्य की रचना नहीं हुई उसका प्रासंगिक रूप से अन्य रसों के साथ वर्णन हुआ है ।

भक्ति साहित्य में भारतीय संस्कृति और आचार-विचार की पूर्णतः रक्षा हुई है । भक्ति काव्य जहाँ उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है वहाँ उसमें उच्चकोटि के काव्य के दर्शन होते हैं इसकी आत्मा भक्ति है, इसका जीवन-स्रोत रस है, उसका शरीर मानवीय है । रस की दृष्टि से भी यह साहित्य श्रेष्ठ है । यह साहित्य एक साथ हृदय, मन और आत्मा की भूख को तृप्त करता है । यह साहित्य लोक तथा परलोक को एक साथ स्पर्श करता है अतः इसे पराजित मनोवृत्ति का परिणाम कहना नितांत भूल होगी ।

हिन्दी-साहित्य में भक्ति का उदय और विकास

हिन्दी के कई विद्वानों का मत है कि हिन्दी साहित्य में भक्ति का युग आविर्भाव राजनीतिक पराजय का परिणाम है जबकि दूसरे कुछ विद्वान् इसे एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक भावना का परिणाम मानते हैं । इनके लिए यह एक आन्दोलन है और महा आन्दोलन है जो कि भारतीय साधना के इतिहास में अप्रतिम है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा बाबू गुलाबराय ने भक्ति आन्दोलन को पराजित मनोवृत्ति का परिणाम तथा मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया माना है । आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं—"अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ।" बाबू गुलाबराय का मत है कि "मनोवैज्ञानिक तथ्य के अनुसार हार की मनोवृत्ति में दो बातें सम्भव हैं या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या भोग-विलास में पड़कर हार को भूल जाना । भक्ति काल में लोगों में प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति पाई गई ।"

इधर कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने भी भारतीय धर्म साधना में भक्ति का उदय कब हुआ और क्यों हुआ, इस विषय पर अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं । पाश्चात्य विद्वान वेवर, कीथ, ग्रियर्सन तथा विलसन आदि ने भक्ति को ईसाई धर्म की देन बताया है । वेवर महोदय ने महाभारत में वर्णित "श्वेत द्वीप" का अर्थ गौरांग जातियों का निवास स्थान (यूरोप) करते हुए तथा जयन्तियाँ मनाने की प्रथा का सम्बन्ध ईसाईयत से स्थापित करते हुए भारतीय भक्ति भावना को ईसाई धर्म के प्रभाव से विकसित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । आचार्य ग्रियर्सन का कहना है कि ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दी में कुछ ईसाई मद्रास में आकर बस गए थे जिनके प्रभाव से भक्ति का विकास हुआ । प्रो० विल्सन ने भक्ति को अर्वाचीन युग की

वस्तु सिद्ध करते हुए कहा कि विभिन्न आचार्यों ने अपनी प्रतिष्ठा के लिए इसका प्रचार किया। एक अन्य पाश्चात्य विद्वान् ने कृष्ण को क्राइस्ट का रूपांतर कहकर अपनी कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है। कहने वाले ने तो (डॉ० ताराचंद, हुमायूँ कबीर तथा डॉ० आबिद हुसेन) यहाँ तक भी साहस कर दिया कि समूचे का समूचा भारतीय भक्ति आंदोलन मुस्लिम संस्कृति के संपर्क की देन है और शंकराचार्य, निम्बार्क, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य, आलवार संत तथा वीरशैव और लिंगायत आदि शैव संप्रदायों की दार्शनिक मान्यताओं पर मुस्लिम प्रभाव है। इन उपर्युक्त लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों के विचारों को देखकर ऐसा लगता है, जैसे कि भारत की पुष्कल दार्शनिक विचारधारा का मूल आधार इस्लाम ही हो और मुस्लिम सम्पर्क से पूर्व जैसे कि भारत देश का निजी कोई दर्शन ही नहीं था। अस्तु, इस विषय में हमें दृढ़ता से स्मरण रखना होगा कि शंकर के अद्वैतवाद और मुसलमानों के एकेश्वरवाद में बृहत् अन्तर है तथा अन्य धर्माचार्यों की दार्शनिक सरणि भी मुस्लिम संपर्क की प्रतिक्रिया से जन्य नहीं है। ऐसी धाराओं का प्रचार कदाचित् हिंदू-मुस्लिम एकता तथा राष्ट्रीयता के प्रचार के उद्देश्य से किया गया लगता है। इस प्रकार के अति-रंजक कथन नितांत भ्रामक और अविश्वास्य हैं। हमारा ऐसे विद्वानों से विनम्र निवेदन है कि सत्य के अपलाप की कीमत पर तथाकथित राष्ट्रीय एकता का प्रचार वांछनीय नहीं है।

अस्तु, हमारे भारतीय विद्वानों—श्री बालगंगाधर तिलक, श्रीकृष्ण स्वामी अय्यंगर और डॉ० एच० राय चौधरी ने पाश्चात्य विद्वानों के उक्त मतों का युक्ति-युक्त खण्डन करते हुए भक्ति का मूलोद्गम प्राचीन भारतीय स्रोतों से सिद्ध किया है। उपर्युक्त भ्रामक मान्यताओं को देखते हुए हमें ऐसा लगता है कि इन सबके मूल में भारतीय किसी भी वस्तु को महत्त्वहीन सिद्ध करने की दुरभिसंधि है और कुछ भी नहीं है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य में भक्ति के उदय की कहानी को न तो पराजित मनोवृत्ति का परिणाम मानते हैं और न ही इसे मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया। उनका कहना है—"यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मन्दिर तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरा-पद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान् की शरणागति की प्रार्थना की। मुसल-मानों के अत्याचार से यदि भक्ति की भाव धारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उसे उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई दक्षिण में।" और फिर ऐसी भी बात नहीं है कि सभी मुसलमान शासक अन्यायी और अत्याचारी थे। उनमें बहुत से परम सहिष्णु और उदार भी थे। उनके द्वारा संस्कृति, साहित्य और कला को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। यदि मुसलमान शासकों के बलात् इस्लाम के प्रचार की प्रतिक्रिया रूप में भारत में भक्ति का उदय हुआ तो उसी समय

एशिया और योरुप के अन्य देशों में भी समान पद्धति से इस्लाम का प्रचार किया गया, तब वहाँ भी भक्ति का उदय होना चाहिए था, पर हुआ नहीं। यह भी बात नहीं है कि उस समय भारत के लिए मुसलमानों का सम्पर्क नया था। भारत पहले से ही कन्धार (सीस्ता) के मुसलमानों के चिर-सम्पर्क में था। राजपूत नरेश अन्तिम दम तक स्वाधीनता के लिए प्राण-पण से जूझते रहे और उनमें से अनेक स्वतन्त्र भी रहे। वहाँ किसी प्रकार की निराशा नहीं थी, तब वहाँ निराशा और वेदनाजन्य भक्ति कैसे प्रवाहित हो उठी ? हिन्दू सदा आशावादी रहा। उसका सुखान्त साहित्य उसके आनन्दवादी दृष्टिकोण का सूचक है। हिन्दू जाति अपनी जीवन शक्ति के लिए विशेष प्रसिद्ध है। उसमें विषम से विषम परिस्थितियों में भी जीवित रहने की शक्ति रही है। शंकर, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी, निम्बार्क, रामानन्द, चैतन्य और बल्लभाचार्य प्रायः ये सभी आचार्य मुस्लिम युग की उपज हैं, पर वे सदा देश की राजनीतिक परिस्थितियों से निर्लिप्त रहे हैं। कबीर, नानक, सूर, तुलसी, नन्ददास तथा जायसी आदि की भी यही दशा है। इनका साहित्य उल्लासमय प्राणों के स्फूर्तिमय स्पन्दन से संवलित है, इसमें निराशा की छाया तक नहीं। यदि राजनीतिक पराजय ही भक्ति के उदय का ऐकान्तिक कारण होता तो जायसी, कुतुबन, मंझन, उसमान आदि सूफी कवि एवं कबीर—इन भक्तिकालीन मुसलमानों द्वारा भक्ति-पद्धति को अपनाने के लिए यह तर्क उपस्थित नहीं किया जा सकता।

हमें यह भी भूलना नहीं होगा कि भक्ति एक परमोच्च साधना का फल है जिसके लिए परम शान्त वातावरण अनिवार्य है। इसके लिए संघर्षमय वातावरण अपेक्षित नहीं है और न ही यह हारी मनोवृत्ति की उपज है। यदि ऐसा होता तो अंग्रेजी शासन की स्थापना के समय भी इसे प्रस्फुटित हो जाना चाहिए था।

बाबू गुलाबराय का भक्ति युग को हारी मनोवृत्ति का परिणाम तथा मुस्लिम राज्य की प्रतिक्रिया कहना नितांत असमीचीन है। भक्ति काव्य में भारतीय संस्कृति और आचार-विचार की पूर्णतः रक्षा हुई है। भक्ति-काव्य जहाँ उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है, वहाँ उसमें उच्च कोटि के काव्य के भी दर्शन होते हैं। उसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवन-स्रोत रस है, उसका शरीर मानवी है। रस की दृष्टि से भी यह काव्य श्रेष्ठ है। यह साहित्य एक साथ हृदय, मन और आत्मा की भूख को तृप्त करता है। यह काव्य लोक तथा परलोक को एक साथ स्पर्श करता है। यह साहित्य शक्ति का साहित्य है, इसमें आडम्बर-विहीन एवं शुचितापूर्ण सरल जीवन की सरल झांकी है। आचार्य हजारीप्रसाद बाबू गुलाबराय के मत का खंडन करते हुए लिखते हैं—"कुछ विद्वानों ने इस भक्ति आन्दोलन को हारी हुई हिन्दू जाति की असहाय चित्त की प्रतिक्रिया के रूप में बताया है। यह बात ठीक नहीं है, प्रतिक्रिया तो जातिगत कठोरता और धर्मगत संकीर्णता के रूप में प्रकट हुई

थी, उस जातिगत कठोरता का एक परिणाम यह हुआ कि इस काल में हिन्दुओं में वैरागी साधुओं की विशाल वाहिनी खड़ी हो गई क्योंकि जाति के कठोर शिकंजे से निकल भागने का एकमात्र उपाय साधु हो जाना ही रह गया था। भक्ति मतवाद ने इस अवस्था को सँभाला और हिन्दुओं में नवीन और उदार आशावादी दृष्टि प्रतिष्ठित की।" वस्तुतः भक्ति काल का साहित्य प्राचीन दर्शन-प्रवाह की एक अविच्छिन्न धारा है। जातिगत कठोरता और धार्मिक संकीर्णता की प्रतिक्रिया कुछ अंशों में इस भक्ति आन्दोलन में अवश्य हुई। जब हिन्दू धर्म मुस्लिम जाति के संपर्क में आया तो उसमें पतितपावनी पाचन-शक्ति का ह्रास हो चुका था, जबकि नवागत धर्म जाति-पांति के बन्धनों से दूर था। हिन्दू धर्म इस दिशा में अधिकाधिक संकीर्ण तथा कठोर होता गया। इस प्रकार एक तो बौद्ध सिद्धों एवं नाथ योगियों के सम्पर्क में आये। बहुत से हिन्दू पहले ही जातिच्युत हो चुके थे, दूसरे इस्लाम के संपर्क में आने पर कुछ और हिन्दू जाति-पांति के कठोर नियमों के कारण बाहर आए। आचार्य द्विवेदी इस शोचनीय दशा का वर्णन इन शब्दों में करते हैं—"इस कसाव का परिणाम यह हुआ कि किनारे पर पड़ी हुई बहुत सारी जातियां छँट गईं और बहुत दिनों तक न हिन्दू न मुसलमान बनी रहीं। बहुत सी पाशुपत मत को मानने वाली और संन्यास से गृहस्थ बनी जातियां धीरे-धीरे मुसलमान होने लगीं। इस प्रकार की जुलाहा जाति नाथ मत को मानने वाली थी, जो निरन्तर उपेक्षित रहने के कारण क्रमशः मुसलमान होती गई। इस जाति में मध्य काल में स्वाधीनचेता संत कबीर उत्पन्न हुए।"

आचार्य द्विवेदी भक्ति-आन्दोलन पर ईसाई-प्रभाव की चर्चा करते हुए लिखते हैं—"इस प्रकार के अवतारवाद का जो रूप है, इस पर महायान संप्रदाय का विशेष प्रभाव है। यह बात नहीं कि प्राचीन हिन्दू चिन्तन के साथ उसका सम्बन्ध एकदम है ही नहीं, पर सूरदास, तुलसीदास आदि भक्तों में उसका जो स्वरूप पाया जाता है, वह प्राचीन चिन्तनों से कुछ ऐसी भिन्न जाति का है कि एक जमाने में ग्रियर्सन, केनेडी आदि पंडितों ने उसमें ईसाईपन का आभास पाया था। उनकी समझ में नहीं आ सका कि ईसाई धर्म के सिवाय इस प्रकार के भाव और कहीं से मिल सकते हैं। लेकिन आज की शोध की दुनिया बदल गई है। ईसाई धर्म में जो भक्तिवाद है वही महायानियों की देन सिद्ध होने को चला है। क्योंकि ऐसे बौद्धों का अस्तित्व एशिया की पश्चिमी सीमा में सिद्ध हो चुका है और कुछ पंडित तो इस प्रकार के प्रमाण पाने का दावा करने लगे हैं कि स्वयं ईसा मसीह भारत के उत्तरी प्रदेशों में आये और बौद्ध धर्म में दीक्षित भी हुए थे"—(हिन्दी साहित्य की भूमिका)। डॉ॰ रामरतन भटनागर ने मध्य युग के भक्ति-आन्दोलन को पौराणिक धर्म का पुनरुत्थान माना है। वे लिखते हैं—"मध्य युग के भक्ति-आन्दोलन को हम पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान का आन्दोलन भी कह सकते हैं। वस्तुतः गुप्तों के युग में विष्णु और

लक्ष्मी को लेकर जिन धार्मिक भावनाओं का विकास हुआ था वे ही इस युग में राधा-कृष्ण और सीता-राम के माध्यम से विकसित हुई ।" कुछ विद्वानों ने भक्ति और अवतारवाद के बीज वैदिक साहित्य में खोज निकाले हैं । "वैदिक स्तुतियों में दूसरा वैष्णव तत्त्व श्रद्धा का है । वहाँ श्रद्धा व यज्ञ को एक माना गया है । श्रद्धा विश्वास, दीनता, कृतज्ञता, आराध्य-यश-वर्णन. अवलम्ब की खोज में भक्ति के तत्त्व वैदिक मन्त्रों में सुरक्षित हैं ।" डॉ० भण्डारकर ने अवतारवाद की भावना को वैदिक साहित्य में स्वीकार किया है । वे लिखते हैं—"If these Vedic gods are one, one God may become several. This led to the conception of incornation."

डॉ० सत्येन्द्र भक्ति का उद्‌भव द्राविड़ों से मानते हैं, दक्षिण के वैष्णव भक्तों से नहीं । वे लिखते हैं—"भक्ति द्राविड़ी उपजी लाये रामानन्द।" इस उक्ति के अनुसार भक्ति का आविर्भाव द्राविड़ों में हुआ । उक्ति-कर्त्ता सम्भवत: नहीं जानता था कि वह इन शब्दों द्वारा कितने गहरे सत्य को प्रकट कर रहा है । उसका द्राविड़ से अभिप्राय सम्भवत: दक्षिण देश से ही था, किन्तु जैसा संकेत किया जा चुका है, नई प्रागैतिहासिक खोजों में यह सिद्ध-सा होता है कि भक्ति का मूल द्राविड़ों में है और दक्षिण के द्राविड़ों में ही नहीं, उनके महान् पूर्वज मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के द्राविड़ों में । अभी तक संसार को जितने भी साक्ष्य प्रमाण प्राप्त हैं, उनसे यह सिद्ध होता है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के द्राविड़ अथवा व्रात्य एकेश्वरवादी थे । उनके इस ईश्वर का नाम शिव था ।‥ आर्यों ने भक्ति का भाव दक्षिण से प्राप्त किया था ।" अस्तु ! भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र में भक्ति की परम्परा सुदीर्घ काल से चली आ रही है । भक्ति का प्रतिपादन महाभारत और गीता में स्पष्ट रूप से हुआ है । महाभारत के शांति-पर्व में तथा भीष्म-पर्व में नारायणोपाख्यान का वर्णन है । वस्तुत: पौराणिक धर्म पूर्ववर्ती भागवत धर्म का ही एक ऐसा नव परिवर्धित रूप था, जिसमें एक ओर भक्ति-भावना को प्रमुख स्थान दिया गया और दूसरी ओर उनमें ऐसे तत्त्वों का समावेश हुआ जिससे वह जैन और बौद्ध धर्म की प्रतिस्पर्धा में टिक सके । नारद-भक्ति-सूत्र में भक्ति के स्वरूप का सांगोपांग विवेचन किया गया है । शांडिल्य-भक्ति-सूत्र रचना-काल की दृष्टि से इससे भी पूर्व ठहरता है, पर उसमें विवेचन-सम्बन्धी स्पष्टता नहीं । जहाँ भक्ति के सैद्धांतिक स्वरूप का विकास सूत्र-ग्रन्थों में हुआ वहाँ उसके व्यावहारिक रूप के विकास का प्रयत्न पुराण साहित्य के द्वारा सम्पन्न हुआ । यह सारा कार्य गुप्त सम्राटों के शासन-काल में हुआ । भागवत पुराण की रचना दक्षिण भारत में हुई या नहीं, इस विवाद में न पड़ते हुए यह तो स्वीकार करना पड़ता है कि ८वीं-९वीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में पौराणिक धर्म का प्रचार हो चुका था । भले ही कुमारिल और शंकर के अकाट्य तर्कों ने सगुण स्वरूप भक्ति के विकास में कुछ व्यवधान खड़ा किया हो । किन्तु दक्षिण भारत के वैष्णवों ने भक्ति के संरक्षण का पूरा-पूरा प्रयत्न किया । दक्षिण भारत में आलवार भक्त हुए जिन्होंने शंकर के अद्वैतवाद की कोई परवाह न करते हुए भक्ति की धारा

को प्रवहमान रखा। आचार्य द्विवेदी ने भक्ति आन्दोलन का श्रेय दक्षिण के इन आलवार भक्तों को दिया है। इनकी संख्या बारह मानी जाती है, जिनमें बहुत सारे ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध हो चुके हैं। इन भक्तों में आन्दाल नाम की एक भक्तिन हो चुकी थी, जो मीरा के समान कृष्ण को अपना पति मानती थी और वह कृष्ण के भीतर विलीन हो गई थी। इन भक्तों का समय ईसा की प्रथम शताब्दी बल्कि इससे कुछ पूर्व से लेकर ८वीं-९वीं शताब्दी तक आँका गया है। इन भक्तों में भक्ति का व्यावहारिक पक्ष है। अनुमान है कि भक्ति का सिद्धांत-पक्ष बहुत पहले से चला आ रहा होगा। १०वीं-११वीं शताब्दी में आचार्य नाथ मुनि हुए, जिन्होंने वैष्णवों का संगठन, आलवारों के भक्तिपूर्ण गीतों का संग्रह, मन्दिरों में कीर्तन एवं वैष्णव सिद्धांतों की दार्शनिक व्याख्या आदि महत्त्वपूर्ण कार्य किये जिनसे भक्ति-परम्परा को एक नया बल मिला। इनके उत्तराधिकारियों में रामानुजाचार्य हुए। इन्होंने विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना की। उन्होंने भगवान् विष्णु की उपासना पर बल देते हुए दास्य भाव की भक्ति का प्रचार किया। इसी परम्परा में रामानन्द हुए, जिन्होंने राम को अवतार मानकर उत्तरी भारत में राम-भक्ति का प्रवर्तन किया। आगे चलकर इसी सम्प्रदाय में महाकवि तुलसीदास हुए जिन्होंने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की कल्पना करके उनमें शील, शक्ति एवं सौन्दर्य का समन्वय किया। आगे चलकर इसी भक्ति-शाखा में कृष्ण-भक्ति की-सी रसिकता का समावेश हुआ और राम-रसिक-सम्प्रदाय चल निकला।

दूसरी ओर द्वैतवाद के प्रवर्तक मध्वाचार्य, द्वैताद्वैतवाद के संस्थापक निम्बार्काचार्य और शुद्धाद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक बल्लभाचार्य हुए। मध्वाचार्य ने शंकर के मायावाद का खण्डन करके विष्णु की भक्ति का प्रचार किया। निम्बार्क ने लक्ष्मी और विष्णु के स्थान पर राधा और कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। वल्लभाचार्य ने बालकृष्ण की उपासना पर बल दिया और पुष्टि-मार्ग का प्रवर्तन किया। चैतन्य महाप्रभु के चैतन्य संप्रदाय, स्वामी हरिदास के सखी संप्रदाय और हितहरिवंश के राधावल्लभ सम्प्रदाय और शुद्धाद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक वल्लभाचार्य हुए। मध्वाचार्य ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के द्वारा कृष्ण-भक्ति में माधुर्य-भाव का प्रचार किया। सूर इसी परम्परा के एक समुज्ज्वल रत्न हैं, जिन्होंने अपने हृदय की समस्त सात्विकता कृष्ण के गुणगान में उँडेल दी। आगे चलकर राधा और कृष्ण का घोर शृंगारी रूप में चित्रण हुआ।

मुसलमानों में छुआछूत तथा ऊँच-नीच का अभाव था। तत्कालीन बौद्ध-सिद्धों तथा नाथ योगियों के धर्म में भी इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं था। इन योगियों ने ईश्वर को घट के भीतर बताया, कर्मकांड को निःसार और वेदाध्ययन को ढकोसला बताया और यौगिक प्रक्रियाओं पर विशेष बल दिया। इन लोगों ने सन्त मार्ग के लिए बहुत-कुछ भूमि तैयार कर दी थी। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध भक्त नामदेव

ने हिन्दू-मुसलमानों के लिए सामान्य भक्ति मार्ग की स्थापना की। आगे चलकर कबीर, दादू, नानक आदि सन्तों ने भक्ति का ऐसा रूप विकसित किया, जिसमें ईश्वर की सगुण-निर्गुण-मिश्रित रूप की उपासना की गई। यद्यपि हमारे विद्वान् उन्हें सैद्धान्तिक दृष्टि से निर्गुण एकेश्वरवादी या रहस्यवादी बताते हैं, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इनकी उपासना में प्रायः वे सभी विशेषताएँ मिलती हैं, जो भक्ति के मूलाधार हैं, अतः हम इन सन्तों को भी भक्ति आन्दोलन के उन्नायकों में स्थान देना उचित समझते हैं।

इस काल में कुछ सूफी मुसलमान हुए जिन्होंने हिन्दू घरों की प्रेम-कहानियों के माध्यम से ईश्वर के प्रेम-स्वरूप का प्रचार किया। इस प्रकार इन लोगों ने हिन्दू-मुस्लिम हृदयों के अजनबीपन को मिटाया। सांस्कृतिक द्वन्द्व के उपरान्त सांस्कृतिक समन्वय हुआ। दक्षिण भारत में तो यह भक्ति की अजस्र धारा प्रबल वेग से चल रही थी, किन्तु उत्तर भारत में भी पौराणिक धर्म का प्रचार पहले से ही था। गाहड़वार राजाओं के समय उत्तर भारत प्रधान रूप से स्मार्त धर्मावलम्बी था। सगुण भक्ति के आवश्यक उपकरण—वैयक्तिक सम्बन्ध का ईश्वर के प्रति होना तथा अवतारवाद पर विश्वास की भावनाएं इस प्रदेश की जनता में बद्धमूल थीं। अतः भक्ति का बिरवा ऐसा नहीं है, जो कि विदेश से लाया गया हो अथवा विधर्मियों द्वारा इसका सिंचन और पल्लवन हुआ हो। न तो यह निराशा-प्रवृत्तिजन्य है और न ही किसी प्रतिक्रिया का फल। वस्तुतः यह एक प्राचीन दर्शन-प्रवाह और प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा की एक अविच्छिन्न धारा है। इस धारा का प्रस्फुटन आकस्मिक नहीं, इसके लिए तो सुदीर्घ काल से सहस्रों मेघ खण्ड एकत्रित हो चुके थे। आचार्य हजारीप्रसाद भक्ति साहित्य के सम्बन्ध में लिखते हैं—"समूचे भारतीय इतिहास में अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है।" भक्ति युग का आन्दोलन एक ऐसा आन्दोलन है, जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी भी देखा है। यहाँ तक कि वह बौद्ध धर्म के आन्दोलनों से भी अधिक व्यापक और विशाल है, क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्तमान है। यह साहित्य एक महती साधना और प्रेमोल्लास का देश है, जहाँ जीवन के सभी विषाद, नैराश्य और कुंठाएँ धुल जाती हैं। भारतीय जनता भक्ति साहित्य के श्रवण-श्रावण से उस युग में भी आशान्वित होकर सान्त्वना प्राप्त करती रही है और भविष्य में भी यह साहित्य उसके जीवन का संबल बना रहेगा। डॉ० द्विवेदी के शब्दों में—"नया साहित्य (भक्ति साहित्य) मनुष्य-जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य है भगवद्भक्ति, आदर्श है शुद्ध सात्विक जीवन और साधन है भगवान् के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओं का गान। इस साहित्य को प्रेरणा देने वाला तत्त्व भक्ति है, इसीलिए यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से सब प्रकार से भिन्न है।"

भक्ति साहित्य : सन्त काव्य की पृष्ठभूमि

हिन्दी साहित्य के भक्ति काल (१३७५—१७०० वि०) में भक्ति की दो धाराएं—सगुण तथा निर्गुण प्रवाहित हुईं। सगुण धारा के अन्तर्गत राम-कृष्ण-भक्ति-शाखाए आती हैं, निर्गुण के अन्तर्गत सन्त तथा सूफियों का काव्य। आचार्य शुक्ल ने नामदेव एवं कबीर द्वारा प्रवर्तित भक्ति-धारा को 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा' की संज्ञा से अभिहित किया है। डॉ० हजारीप्रसाद ने इसे 'निर्गुण भक्ति साहित्य' तथा डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसे 'सन्त-काव्य-परम्परा' का नाम दिया है। ज्ञानाश्रयी शब्द से यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि इस धारा के कवियों ने ज्ञान-तत्व को सर्वाधिक महत्त्व दिया होगा, जबकि वास्तव में इन्होंने प्रेम के सम्मुख समस्त ज्ञानराशि को तुच्छ माना है। भक्ति का आलम्बन सगुण आश्रय ही उपयुक्त है, अत: निर्गुण भक्ति साहित्य का नाम असमीचीन प्रतीत होता है। इस धारा के कवियों का विशेष दृष्टिकोण है, जो सन्त शब्द से भली-भाँति व्यक्त होता है, अतः इस धारा को सन्त काव्य की संज्ञा देना अपेक्षाकृत संगत प्रतीत होता है।

श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने सन्त शब्द की व्युत्पत्ति शांत शब्द से मानी है और इसका अर्थ निवृत्ति मार्ग या वैरागी किया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"सन्त शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने सत रूपी परम तत्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्‌रूप हो गया हो, जो सत स्वरूप, नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया हो वही सन्त है।" आचार्य विनय मोहन के अनुसार व्यावहारिक दृष्टि से इसका अर्थ है—जो आत्मोन्नति सहित परमात्मा के मिलन भाव को साध्य मानकर लोक-मंगल की कामना करता है। किन्तु हमारे विचारानुसार सन्त शब्द सत से बना है, जिसका अर्थ ईश्वरोन्मुख कोई भी सज्जन पुरुष हो सकता है। संकुचित अर्थ में निर्गुणोपासकों को ही सन्त कह दिया जाता है, जबकि सगुणोपासकों को भक्त। हिन्दी साहित्य में सन्त काव्य से कबीर, दादू, नानक और सुन्दरदास आदि के काव्य का ग्रहण होता है जबकि सूर, तुलसी आदि के साहित्य को भक्ति काव्य कहा जाता है।

परिस्थितियां

धार्मिक परिस्थिति—सन्त मत का भवन कागद लेखी पर आधारित न होकर आंखिन देखी की नींव पर आधारित है। इसमें निगम, आगम, पुराणादि का इतना महत्त्व नहीं है, जितना कि अनुभव ज्ञान का। किन्तु ऐसी भी बात नहीं है कि यह मत भारत की प्राचीन धार्मिक मान्यताओं एवं धारणाओं की सर्वथा उपेक्षा करके चला हो। भारतीय धर्म साधना के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि सन्त काव्य बौद्ध धर्म और उसके साहित्य से अनुप्राणित है। बौद्ध धर्म

से महायान और हीनयान सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ। महायान से मंत्रयान, मन्त्रयान से वज्रयान और इसी वज्रयान की तांत्रिकता की प्रतिक्रिया में नाथ सम्प्रदाय का विकास हुआ और नाथ सम्प्रदाय के प्रेरणामूलक तत्त्वों का ग्रहण करके सन्त मत अवतरित हुआ। बौद्ध धर्म से लेकर नाथ सम्प्रदाय तक इस प्रक्रिया में जो जीवन तत्त्व उभरे, उन सबका समावेश सन्त काव्य में हुआ। इसमें बौद्ध धर्म का शून्यवाद, नाथ सम्प्रदाय की योग और अवधूत-भावना तथा वज्रयानी सिद्धों की सन्ध्या भाषा की उलटबाँसियों तक का समाहार है। बौद्ध धर्म का उदय वैदिक धर्म की याज्ञिक कर्म-कांड की प्रतिक्रिया-रूप में हुआ था। अतः सन्त काव्य में अवतार, मूर्ति, तीर्थ, व्रत, माला तथा बाह्य धार्मिक आडम्बरों का कड़ा विरोध किया गया। दूसरी ओर इसमें शून्य, काया, तीर्थ, सहज समाधि, योग, इंगला, पिंगला, सुषुम्ना, षट्चक्र, सहस्रदल कमल, चन्द्र और सूर्य जैसे प्रतीकों का ग्रहण किया गया। अतः यह स्पष्ट है कि सन्त काव्य अपने मौलिक विचारों की कोटि में बौद्ध धर्म की परम्परा के अन्तर्गत है तथा उसका सम्बन्ध बौद्ध धर्म के परवर्ती सम्प्रदायों से होता हुआ प्रत्यक्ष रीति से नाथ सम्प्रदाय से है।

सन्त मत वैष्णव धर्म से भी प्रभावित हुआ है। यह कुछ अजीब-सा लगता, यदि दक्षिण से आये हुए व्यापक वैष्णव भक्ति के आंदोलन से सन्त मत अछूता रह जाता। दक्षिण में ईसा की छठी शती में आलवार भक्तों के द्वारा भक्ति का आंदोलन आरम्भ हो चुका था चाहे मूल सैद्धांतिक रूप में इसका आविर्भाव बहुत प्राचीन काल में स्वीकार किया जा सकता है। आठवीं शती में कुमारिल और शंकराचार्य द्वारा याज्ञिक कर्म-कांड की पुनः प्रतिष्ठा और अद्वैतवाद की स्थापना के पश्चात् वैष्णव भक्ति का स्रोत कुछ अवरुद्ध-सा हो गया। ११वीं शती में नाथमुनि ने भक्ति की दार्शनिक व्याख्या की और एक शताब्दी के पश्चात् रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद द्वारा भक्ति की चरम सार्थकता सिद्ध की। इसके अनन्तर मध्व और निम्बार्क ने भी भक्ति के पक्ष को सफल बनाया। रामानन्द ने रामानुजाचार्य के भक्ति सिद्धांतों का जन-भाषा में उत्तरी भारत में सफलता से प्रचार किया। शंकर का ज्ञान तथा योग शैव-धर्म का आश्रय लेकर नाथ सम्प्रदाय के रूप में भारत के अनेक स्थानों में प्रचारित होता रहा। दक्षिण से उत्तर की ओर आने वाले इस भक्ति आन्दोलन को काफी बाधाओं का सामना करना पड़ा। पहली बाधा तो शैव धर्म के ज्ञान और योग की थी, जो नाथ सम्प्रदाय में घोषित हो रही थी। यह भक्ति की लहर जब दक्षिण से महाराष्ट्र में पहुँची तो उस समय वहाँ नाथ सम्प्रदाय में शैव प्रभाव शेष था। १२९० ई० में लिखित ज्ञानेश्वरी के रचियता ज्ञानेश्वर नाथ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। गीता के आधार पर लिखी हुई उनकी ज्ञानेश्वरी में नाथ सम्प्रदाय का स्पष्ट प्रभाव है। ज्ञानेश्वरी के समकालीन नामदेव ने १२७० में विट्ठल की उपासना की, जिसमें नाम-स्मरण का अधिक महत्त्व है। विट्ठल स[illegible] वैष्णव औ[illegible] सम्प्रदाय का मिश्रित

रूप है अतः इस सम्प्रदाय के अनुयायी शिव, विष्णु में कोई अन्तर नहीं मानते थे। विट्ठल सर्वव्यापी ब्रह्म रूप में गृहीत होकर समस्त महाराष्ट्र में पूजे जाने लगे। इस प्रकार महाराष्ट्र में आकर दक्षिण की भक्ति में आत्म-चिन्तन के तत्व का समावेश हुआ और भक्ति में रहस्यवाद की अनुभूति उत्पन्न हुई। भक्ति के इस सम्प्रदाय में जाति और वर्ग भेद नहीं था। इसमें नाम-स्मरण पर विशेष बल दिया गया, इसमें कर्मकाण्ड की अपेक्षा हृदय की पवित्रता और शुद्धता पर बल दिया गया तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए भक्ति का यह द्वार मुक्त रखा गया। नामदेव, अलाउद्दीन खिलजी तथा उसके सेनापति मलिक काफ़ूर के आतंक को, उनके द्वारा निर्ममतापूर्वक तोड़ी गई मूर्तियों को देख चुके थे, अतः उन्होंने निराकार की उपासना पर अधिक बल दिया। इस प्रकार विट्ठल की भक्ति के तीन उपकरण माने जा सकते हैं—भक्ति का प्रेम-तत्व, नाथ सम्प्रदाय का चिन्तन और मुसलमानी प्रभाव से मूर्तिपूजा का वर्जित वातावरण। ये सभी बातें सन्त सम्प्रदाय में देखी जा सकती हैं। उत्तर भारत में सन्त संप्रदाय का जो उत्थान वैष्णव भक्ति को लेकर हुआ था, उसका पूर्वार्द्ध महाराष्ट्र में विट्ठल सम्प्रदाय के सन्तों द्वारा प्रस्तुत हो चुका था। हाँ, उत्तर भारत में प्रचारित होने वाले सन्त सम्प्रदाय में दो और तत्वों का भी समावेश हुआ—रामानन्द की वैष्णवी भक्ति के नवीन प्रयोग और मुसलमानों की हिंसा एवं प्रेममयी दोनों प्रवृत्तियाँ सन्त सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित होने की भूमिकाएँ प्रस्तुत कर रही थीं। सन्त सम्प्रदाय में नाम-स्मरण को अत्यन्त महत्ता दी गई है और विशेषतः राम नाम पर बल है। विष्णु के अन्य नामों को प्रायः इतना महत्त्व नहीं दिया गया है। यह प्रभाव साक्षात् रूप से रामानन्द का है। सन्त काव्य में गृहीत राम दार्शनिक न होकर अजन्मा और निर्विकार हैं। सूफ़ी मत अपनी विकासकालीन अवस्था में वेदान्त का ऋणी है और इस मत के सिद्धान्त प्रायः वे ही थे, जो शंकर के अद्वैत के। भारतीय दृष्टि से सूफी मत अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद का सम्मिश्रण है। सन्त काव्य में जिस खुमार का वर्णन है वह सूफ़ी प्रभाव है, क्योंकि भारतीय साधना-पद्धति में प्रेम की ऐसी उन्मादक दशा का कहीं भी वर्णन नहीं है। इस प्रकार इस सम्प्रदाय में निम्नलिखित धार्मिक प्रभाव देखे जा सकते हैं—

(क) बौद्ध धर्म की विकसित हुई वैदिक कर्मकांड की प्रवृत्ति तथा वज्रयान की प्रतिक्रिया में उत्पन्न नाथ सम्प्रदाय की अनुभूति तथा योग परम्परा।

(ख) विट्ठल सम्प्रदाय की प्रेमासक्ति तथा रहस्यमयता।

(ग) रामानन्द के प्रभाव से उत्पन्न अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद की सम्मिलित विचारधारा में भक्ति की साधना।

(घ) सूफी लोगों का प्रेम का खुमार।

आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"वैष्णवों से उन्होंने अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद लिए। इसी से उनके (कबीर) तथा निर्गुणवाद वाले और दूसरे

सन्तों के वचनों में कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कहीं योगियों के नाड़ी-चक्र की, कहीं सूफियों के प्रेम तत्व की, कहीं पैगम्बरी कट्टर खुदावाद की, और कहीं अहिंसावाद की। अतः तात्विक दृष्टि से न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी। दोनों का मिला-जुला भाव इनकी बानी में मिलता है।"

राजनीतिक परिस्थिति—सन्त सम्प्रदाय का आविर्भाव-काल विक्रम की १५वीं शताब्दी है जबकि उत्तरी भारत राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त अव्यवस्थित था। सं० १४४५ में दिल्ली का शासन तैमूर के निर्मम अत्याचार को देख चुका था। पन्द्रहवीं शती में दिल्ली का शासन तुगलक, सैयद और लोदी वंशों ने किया। इस काल में राज्य-विस्तार-लिप्सा के कारण निरन्तर युद्ध होते रहे तथा करवाल के बल पर धर्म-प्रचार भी। जनता सामान्यतः राजनीति-चक्र के प्रति उदासीन थी और साथ-साथ धर्म पर आघात लगने के कारण मन ही मन में विक्षुब्ध और असन्तुष्ट थी। राजनीति में कोई पवित्रता नहीं रही, उसमें कूटनीति, हिंसा और छल को उचित समझा गया। जनता की शासक वर्ग के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। अधिकांश मुसलमान शासकों ने धर्म का प्रचार करते समय अपार धन के लोभ तथा अपने आपको गाजी सिद्ध करने के लिए हिन्दू-धर्म के प्रतीक मन्दिरों और मूर्तियों को तोड़ा। हिन्दू जनता में इसकी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। परिणामस्वरूप जनता का ध्यान समाज और धर्म के संगठन की ओर गया। दक्षिण में जो शान्तिमय आन्दोलन चला था, अब उत्तर भारत में उसकी बागडोर जनता के कवियों के हाथ में आई और वे समाज की व्यवस्था के लिए जन-भाषा में जन-जागरण के गीत गाने लगे। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम भेद की खाई को पाटने के लिए पूर्ण प्रयत्न जुटाये।

कुछ साहित्यकारों का मत है कि इस देश में मुसलमानों का आगमन न हुआ होता तो हमारा साहित्य नब्बे प्रतिशत उसी भाँति लिखा जाता, जिस भाँति वह वर्तमान रूप में है, क्योंकि धर्म की प्राचीन परम्पराएँ इतनी सुदृढ़ थीं कि उन्हीं के प्रभाव से साहित्य का विकास होता चला गया। इस कथन में सम्पूर्ण सत्य नहीं है। कबीर के साहित्य में जो स्वर है, उसके लिए पृष्ठभूमि पहले से ही तैयार हो चुकी थी, हाँ उस स्वर में उग्रता के लिए उस समय की राजनीतिक परिस्थितियाँ अवश्य उत्तरदायी हैं।

सामाजिक परिस्थिति—धर्म और राजनीति का समाज के साथ अटूट सम्बन्ध है। तत्कालीन राजनीतिक और धार्मिक दशाएँ अत्यन्त शोचनीय थीं। शासक वर्ग लूटे हुए अपार धन से ऐश्वर्य और विलास में उन्मत्त था, परिणामतः समाज भी पतनोन्मुख हो गया और उसके आचार तथा व्यवहार में शैथिल्य आ गया। कनक और कामिनी के विरोध में सन्त कवियों ने अपनी वाणी में जो प्रखरता उत्पन्न की है, भले ही वह साधना-पक्ष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, साथ-साथ वह तत्कालीन समाज की

विलासिता की ओर भी प्रकारान्तर से संकेत करती है। उस समय के समाज में वर्ग भेद भी पर्याप्त था जिसका कि सन्त कवियों ने डटकर प्रतिरोध किया। यह प्रतिरोध विदेशियों के धर्म-प्रचार का मुकाबला करने के लिए आवश्यक था। सन्त कवियों ने "हरि को भजे सो हरि का होई" के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर धर्म को सशक्त बनाया। मुसलमान शासक-वर्ग से संबद्ध थे, अतः वे अपने आपको श्रेष्ठ समझते थे तथा हिन्दुओं को हेय दृष्टि से देखते थे। दूसरी ओर हिन्दू मुसलमानों को विधर्मी तथा अत्याचारी होने के कारण घृणा की दृष्टि से देखते थे। दोनों वर्ग अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण में अलग-अलग थे और दोनों के आचार-विचार भी भिन्न-भिन्न थे। दोनों जातियों में परस्पर वैमनस्य था। संक्षेप में कहा जा सकता है कि उस समय सामाजिक स्थिति अत्यन्त अव्यवस्थित थी।

साहित्यिक परिस्थिति—जिन धार्मिक संप्रदायों ने संत काव्य की दार्शनक पृष्ठभूमि तैयार की उन संप्रदायों की साहित्य प्रवृत्तियों का संत काव्य में स्वतः समावेश हो गया। वज्रयानी सिद्धों ने जीवन के प्रति सहजानुभूति को प्रधानता दी। उन्होंने अन्धविश्वासों की परम्परा को जड़ से उखाड़ फेंकने की चेष्टा की है। इन्होंने कर्मकांड की भी खूब खिल्ली उड़ाई। तिल्लोपाद ने लिखा है—"सहज से चित्त विशुद्ध करो। इस जन्म में मोक्ष और सिद्धि प्राप्त करोगे। तीर्थ और तपोवन का सेवन मत करो। देहमात्र पवित्र करने से तू शान्ति प्राप्त नहीं कर सकेगा।" कबीर का भी यही दृष्टिकोण है—"यदि नग्न फिरने से योग होता तो फिर वन के सब मृगों को मुक्ति मिल जाती। यदि मूँड मुँड़ाने से मुक्ति मिलती तो सब भेड़ों को प्राप्त हो गई होती।" इन दोनों स्वरों में अन्तर इतना है कि एक कुछ कोमल है और दूसरा अपेक्षाकृत अधिक प्रखर। कारण, सिद्धों का संघर्ष प्रधान रूप से जैनों से था जो कि संघर्ष करना चाहते ही नहीं थे तथा कबीर का संघर्ष उन संप्रदायों से था जो कि विद्वेषाग्नि-ग्रस्त तथा अहंमानी थे। इसलिए कबीर का स्वर अधिक प्रखर एवं उत्तेजक था। यों सहज गुरु उपदेश, शून्य, निरंजन कबीर ने ज्यों के त्यों सिद्धों की विचारधारा से ग्रहण किये हैं। शैली-दृष्टि से भी सिद्धों की संध्या भाषा में जो कूट और प्रतीक हैं, उनमें कबीर के रूपक और उलटबाँसियों का निर्माण हुआ। संभव है यह प्रभाव संतों में नाथों के माध्यम से आया हो।

नाथ संप्रदाय में योग का विशेष महत्त्व है। शैव प्रभाव के कारण नाथ संप्रदाय में जीव और ब्रह्म की मीमांसा आरम्भ हुई और उपासना सदाचार पर बल दिया गया। सन्त सम्प्रदाय का सीधा सम्बन्ध नाथ सम्प्रदाय से है। नाथ संप्रदाय की आचार-निष्ठा, विवेक-सम्पन्नता, अन्धविश्वासों के प्रति कठोरता, कर्मकांड की निरर्थकता सन्त-संप्रदाय में सीधी चली आई।

दक्षिण में महाराष्ट्र देश में प्रचलित विट्ठल-भक्ति-सम्प्रदाय में मानसिक भक्ति और नाम-स्मरण को अधिक महत्ता प्रदान की गई। इसमें प्रेमासवित और

रहस्यमयता की भावनाएँ भी समाविष्ट हुईं। ये समस्त प्रवृत्तियाँ सन्त-साहित्य में दृष्टिगोचर होती हैं। कहीं-कहीं पर तो कबीर ने विट्ठल का नाम आराध्य देव के रूप में बड़ी श्रद्धा से लिया है।

रामानन्द ने उत्तरी भारत में रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद का जोरों से प्रचार किया। उन्होंने विष्णु के सगुण और निर्गुण रूपों की उपासना पर बल दिया। उनकी शिष्य परम्परा में सगुणवादी तथा निर्गुणवादी दोनों प्रकार के व्यक्ति थे। कबीर भी रामानन्द के शिष्य थे। रामानन्द की भक्ति-पद्धति का सन्त काव्य पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। कबीर निर्गुणवादी तो थे ही, किन्तु यह बात बड़े कौतूहल की है कि उनमें सगुण भावना का भी कहीं-कहीं पर, जहाँ कि उन्होंने ब्रह्म के लिए उन नामों का प्रयोग किया है, जिनका सम्बन्ध ब्रह्म के सगुण रूपों या अवतारों से है, समावेश हो गया है, किन्तु उसका अभिप्राय एकमात्र निर्गुण ब्रह्म से है। अस्तु, निर्गुण सम्प्रदाय भक्ति, जिसमें सगुण ब्रह्म के रूप की अपेक्षा होती है तथा प्रेममयी आसक्ति आवश्यक होती है, की अवहेलना नहीं कर सका।

सन्त साहित्य पर सूफियों के प्रेम की मादकता का भी निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा है। सन्त कवियों ने सूफियों से अनेक प्रतीक लिए। शैली की दृष्टि से भी सन्त काव्य सूफियों से प्रभावित दृष्टिगोचर होता है।

निःसन्देह उपर्युक्त संप्रदायों का सन्त काव्य पर प्रभाव पड़ा है, किन्तु वहाँ अन्धानुकरण नहीं हुआ। उसमें सन्तों की स्वतन्त्र चेतना भी बनी रही है। यह प्रभाव युगानुकूल संशोधनों के साथ आया। इस साहित्य में परम्परा वहीं तक है, जहाँ तक जीवन में कर्मकांड रहित निर्मल प्रेम से ईश्वर की सहजानुभूति प्राप्त हो सकती है।

सन्त काव्य की सामान्य विशेषताएँ

सन्त काव्य में वाटिका का श्रम साध्य अथच कृत्रिम सौन्दर्य नहीं, उसमें वनराजि की प्रकृति-श्री है। इस काव्य में आध्यात्मिक विषयों की अभिव्यक्ति हुई है, पर वह जन-जीवन में डूबी हुई अनुभूतियों से सम्पन्न है। सन्त काव्य ने अनेक धार्मिक सम्प्रदायों के प्रभाव को आत्मसात् किया है, किन्तु इसमें धर्म अथवा साधना की कोई शास्त्रीय व्याख्या नहीं बल्कि जन-भाषा में उसका मर्म है। इस काव्य में जन-जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति अलंकार-विहीन सीधी-सादी भाषा में है, जहाँ पग-पग पर स्वाधीन चिंतन प्रतिफलित हुआ है। सन्त साहित्य साधना, शोक-पक्ष तथा काव्य-वैभव, सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। नाथ-सम्प्रदाय की पद्धति शास्त्रीय थी और साधना व्यक्तिगत थी, किन्तु सन्त सम्प्रदाय की पद्धति स्वतन्त्र और साधना सामाजिक थी। सन्त कवियों की विचार-सरणि निजी अनुभूतियों पर आवृत है, अतः उसमें दर्शन की शुष्कता न होकर काव्य की कोमलता है। सन्त साहित्य में एक अद्भुत विचारगत साम्य है। निम्नांकित पंक्तियों में सन्त साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों का

उल्लेख किया जाएगा—

(१) **निर्गुण ईश्वर में विश्वास**—सभी सन्त कवि निर्गुण ईश्वर में विश्वास रखते हैं। वे कवि सूर और तुलसी के समान सगुण और निर्गुण के समन्वयवादी नहीं। इन्होंने ईश्वर के सगुण रूप का विरोध किया है। कबीर का कहना है—

राम नाम तिहुं लोक बखाना,
रामनाम का मरम है आना।

सभी वर्णों और समूची जातियों के लिए वह निर्गुण एक मात्र ज्ञानगम्य है। वह अविगत है। वेद, पुराण तथा स्मृतियाँ वहाँ तक नहीं पहुँच सकतीं—

निर्गुण राम जपहु रे भाई, अविगत की गति लखी न जाई।

वह ब्रह्म पुहुप वास से पातरा है, अजन्मा और निर्विकार है। यह सारा संसार उस अक्षय पुरुष रूपी पेड़ के पत्ते हैं। वह ईश्वर घट-घट में विराजमान है। कबीर का कहना है जैसे कस्तूरी मृग की नाभि में रहती है और वह व्यर्थ ही उसे वन में ढूंढने के लिए भटकता फिरता है, उसी प्रकार राम घट-घट व्यापी हैं, उसे बाहर ढूंढने की आवश्यकता नहीं। प्रियतम इनके दिल में है, अतः उसे पतियाँ लिखना व्यर्थ है। प्रायः प्रत्येक सन्त ने अपने मत के प्रचारार्थ अपना-अपना संप्रदाय चलाया।

(२) **बहुदेववाद तथा अवतारवाद का विरोध**—सन्त कवियों ने बहुदेववाद तथा अवतारवाद पर अविश्वास प्रकट करते हुए इस भावना का निर्भीकतापूर्वक खंडन किया है। कारण, एक तो शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव शेष था और दूसरे राजनीतिक आवश्यकता भी थी। शासक वर्ग मुसलमान एकेश्वरवादी था। हिंदू-मुस्लिम दोनों जातियों में विद्वेषाग्नि को शान्त करके उनमें एकता की स्थापना के लिए इन्होंने एकेश्वरवाद का सन्देश सुनाया और बहुदेववाद का घोर विरोध किया।

यह सिर नवे न राम कूं, नाहीं गिरियो टूट।
आन देव नहिं परसिये, यह तन जायो छूट॥—चरनदास

सन्तों का विश्वास है कि अवतार जन्म-मरण के बन्धन में ग्रस्त है। वे भी परम ब्रह्म की भक्ति के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की सभी सन्तों ने निन्दा की है और उन्हें मायाग्रस्त कहा है। उनका भी कर्त्ता निराकार परम ब्रह्म है :—

अक्षय पुरुष इक पेड़ है, निरंजन वाकी डार।
त्रिदेवा शाखा भये पात भया संसार॥ कबीर।

(३) **सद्गुरु का महत्त्व**—गुरु को भगवान् से भी अधिक महत्त्व देना सन्त कवियों की एक सर्वसामान्य विशेषता है। कबीर के शब्दों में—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े का के लागूं पाई।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताई॥

इन कवियों का विश्वास है कि राम की कृपा भी तभी होती है, जब गुरु की कृपा होती है। यों तो गुरु की महत्ता सगुण भक्त कवियों में भी मिलती है; पर अन्तर यह है कि सन्त कवि गुरु को परमेश्वर ही मान लेते हैं। सारांश यह है कि निर्गुण भक्त कवि सगुण भक्त कवियों की अपेक्षा गुरु को कुछ अधिक महत्त्व देते हैं।

(४) जाति-पाँति के भेद-भाव का विरोध—सभी सन्त कवि जाति-पाँति और वर्ग-भेद के प्रबल विरोधी हैं। ये लोग एक सार्वभौम मानव-धर्म के प्रतिष्ठापक थे। इनकी दृष्टि में भगवद्भक्ति में सबको समान अधिकार है:—

जाति पाँति पूछे नहिं कोई,
हरि को भजे सो हरि का होई।

इसका विशेष कारण यह है कि एक तो सभी सन्त निम्न जाति से सम्बन्ध रखते थे—कबीर जुलाहे थे, रैदास चमार थे। इसके अतिरिक्त भक्ति आन्दोलन भी जाति-भेद एवं वर्ग-भेद को तुच्छ ठहरा रहा था। इसके साथ इन सन्तों को हिंदू-मुसलमानों में एकता स्थापित करने के लिए एक सामान्य भक्ति मार्ग की प्रतिष्ठा भी करनी थी। इस भेद के निवारणार्थ इनके स्वर में अत्यन्त प्रखरता और कटुता आई।

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दुअन की हिन्दुआई देखी, तुरकन की तुरकाई ।।—कबीर

इसी प्रकार है—

तू ब्राह्मण हौं काशी का जुलाहा चीन्ह न मोर गियाना।
तू जो बामन बामनी जाया और राह ह्वै क्यों नहीं आया ।।

(५) रूढ़ियों और आडम्बरों का विरोध—प्राय: सभी सन्त कवियों ने रूढ़ियों, मिथ्या आडम्बरों तथा अन्धविश्वासों की कटु आलोचना की है, इसका कारण इन लोगों का सिद्धों और नाथ पन्थियों से प्रभावित होना है। ये लोग तत्कालीन समाज में पाई जाने वाली इन कुप्रवृत्तियों का कड़ा विरोध कर चुके थे। इन्होंने मूर्तिपूजा, धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा, तीर्थ, व्रत, रोजा, नमाज, हज्ज आदि विधि-विधानों, बाह्य आडम्बरों, जाति-पाँति-भेद आदि का डटकर विरोध किया है। प्राय: इन्होंने अपने युग के वैष्णव संप्रदाय जैसे कुछ संप्रदायों को छोड़कर शेष सभी धर्म-संप्रदायों की कटु आलोचना की है, जैसे :—

बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जे जन बकरी खात है, तिन को कौन हवाल ।।
कांकर पत्थर जोरि के, मस्जिद लई बनाय ।।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, बहिरा हुआ खुदाय ।।
पत्थर पूजे हरि मिलें तो मैं पूजूं पहार।
ताते वह चक्की भली पीस खाय संसार ।।

कदाचित् इस भर्त्सनामय खण्डनात्मकता के कारण कबीर को सिकन्दर लोधी द्वारा दी गई यन्त्रणाओं को भी सहना पड़ा था, और इसी कारण उनसे हिन्दू और मुसलमान दोनों चिढ़ गये थे।

(६) रहस्यवाद—सन्त सम्प्रदाय में प्रेमासक्ति और रहस्यमयता की प्रवृत्तियाँ विट्ठल संप्रदाय से आईं। प्रणयानुभूति के क्षेत्र में पहुँचकर ये खण्डन-मंडन की प्रवृत्ति को भूल जाते हैं और इनका मृदुल एवं पेशल हृदय तरल हो जाता है। विरहानुभूतियों की अभिव्यक्ति में इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। सन्त काव्य में मुख्यतः अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना हुई, जिसे रहस्यवाद की भी संज्ञा दी गई है। साधना के क्षेत्र में जो ब्रह्म है, साहित्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है। सन्तों का रहस्यवाद एक ओर तो शंकर के अद्वैतवाद से प्रभावित है—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है भीतर बाहर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तत कह्यो गयानी॥

कहीं पर इनके रहस्यवाद पर योग का भी स्पष्ट प्रभाव है जहाँ कि इंगला, पिंगला और सहसदल कमल आदि प्रतीकों का प्रयोग है। उपर्युक्त दोनों प्रकार की ब्रह्मानुभूति योगात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत आएगी। इनमें विशुद्ध भावात्मक रहस्यवाद भी मिलता है, जहाँ प्रणयानुभूति की निश्छल अभिव्यक्ति हुई है—

आइ न सकौं तुज्झ पै, सकूं न तुज्झ बुलाइ।
जियरा यौं ही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ॥

कुछ विद्वानों ने इनके रहस्यवाद को सूफी मत से प्रभावित माना है किन्तु हमारे विचारानुसार इस दिशा मे सूफियों का कोई प्रभाव नहीं है। इन दोनों की प्रणय-भावना में मौलिक अन्तर है, जिसमें साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक है। सन्तों का रहस्यवाद बिलकुल भारतीय परम्परा के अनुकूल है।

(७) भजन तथा नाम-स्मरण के विषय में सभी सन्त कहते हैं कि वह मन ही मन में होना चाहिए प्रकट न हो—

सहजो सुमरिन कीजियै हिरदै माँहि छिपाई।
होठ होठ सूं ना हिलै सकै नहीं कोई पाई॥

इन लोगों ने ईश्वर-प्राप्ति के लिए प्रेम और नाम-स्मरण को परमावश्यक माना है। वेद-शास्त्र इस सम्बन्ध में निरर्थक हैं—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
ढाई आखर प्रेम के, पढ़ै सो पण्डित होइ।

(८) श्रृंगार वर्णन एवं विरह की मार्मिक उक्तियां—सन्त काव्य में श्रृंगार तथा शान्त रस का अधिक चित्रण हुआ है। प्रणय की दोनों अवस्थाओं संयोग और वियोग का अत्यन्त कलात्मक वर्णन हुआ है। उपदेशपरक सूक्तियों में शान्त रस की

व्यंजना हुई है। उपदेशों में कहीं-कहीं इनका स्वर बहुत ही कर्कश हो गया है किन्तु वहाँ भी लोक-संग्रह की भावना निहित है। सन्त वाणियों का काव्य-पक्ष उनकी प्रणयोक्तियों मे ही यथार्थ रूप से निखर पाया है। इस प्रसंग में इनके व्यक्तित्व की सारी अक्खड़ता और रूक्षता धुल जाती है। नीचे की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं। इनमें सूर जैसा रस तथा मीरा जैसी विरह तीव्रता है:—

> विरहिन ऊभी पंथ सिर पंथी बूझै धाइ।
> एक शब्द कहि पीव का कबरे मिलेंगे आइ॥
> आइ न सकौं तुज्झ पैं, सकूँ न तुज्झ बुलाइ॥
> जियरा यों ही लेहुगे विरह तपाइ तपाइ॥

सन्त साहित्य में संयोग पक्ष के अन्तर्गत रूपाकर्षण-जन्मानुराग, प्रिय मिलनातुरता, आगतपतिका का हर्षोल्लास, प्रथम समागम-भीता नवोढा की लज्जा, रस-रंग में एकात्मकता, स्वाधीनपतिका का सहज दर्प, अभिसारिका की मिलनोत्कंठा, वासकसज्जा की प्रिय प्रतीक्षा, झूला झूलना तथा इसी संप्रेषण आदि का हृदय-वर्जक, वर्णन मिलता है। इस काव्य के वियोग पक्ष में प्रवत्स्यत् पतिका का प्रिय को विदेश गमन से रोकना, विरह-जनित काम-दशाओं का वर्णन, काग आदि के द्वारा प्रियतम तक संदेश प्रेषण, आदि उल्लिखित हैं। अस्तु! कबीर आदि सन्तों का शृंगार रस चाहे लौकिक हो अथवा अलौकिक, उसमें एक अनुपम रस है। वह अपने लौकिक रूप में घर-गृहस्थियों के लिए जितना आह्लादक है, अपने अलौकिक रूप में वह उतना ही मुमुक्षुजनों के लिए आनन्ददायक है। इनका शृंगार उनके (सन्तों) व्यक्तित्व, धर्म और दर्शन के समान कुछ विलक्षण तथा निराला है। एक ओर जहाँ वह अपने परिष्कृत रूप में लोक-सीमाओं को छूता है तो दूसरी ओर वह ऊर्ध्वप्रयास की बदलती प्रेरणा भी देता है। उसमें दिव्य-रस की आर्द्रता है, वासना की आविलता नहीं।

(९) **लोक संग्रह की भावना**—इस वर्ग के सभी कवि पारिवारिक जीवन व्यतीत करने वाले थे, नाथ पंथियों की भाँति योगी नहीं थे। यही कारण है कि इनकी वाणी में जीवनगत अनुभव की सर्वांगीणता है, सन्तों की साधना में वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता अधिक है। सन्तों ने आत्म-शुद्धि पर बहुत बल दिया है, किन्तु वह भी समाज को दृष्टि में रखकर चली है। नाथ सम्प्रदाय की साधना व्यक्तिगत और पद्धति शास्त्रीय थी, जबकि सन्तों की साधना सामाजिक और पद्धति स्वतन्त्र है। जहाँ एक ओर ये लोग सन्त, कवि और भक्ति आन्दोलन के उन्नायक हैं, वहाँ समाज-सुधारक भी। आलोचकों का कबीर को अपने युग का गांधी कहना सर्वथा उपयुक्त है। सन्तों ने कृष्ण भक्त-कवियों के समान समाज और राजनीति के प्रति आँखें नहीं मूँद रखी थीं। सन्त काव्य में उस समय का समाज प्रतिबिम्बित है। कर्मण्यता इनकी वानी का सार है।

(१०) **नारी के प्रति दृष्टिकोण**—सन्त कवियों ने नारी को माया का प्रतीक

माना है उनके विश्वासानुसार कनक और कामिनी ये दानों दुर्गम घाटियाँ हैं। कबीर का कहना है कि—

नारी की झाईं परत अन्धा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कौन गति नित नारी के संग॥

आश्चर्य का विषय है कि जहाँ एक ओर इन्होंने नारी की इतनी निन्दा की है, वहाँ दूसरी ओर सती और पतिव्रता के आदर्श की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा भी की है। कबीर का कहना है:—

पतिव्रता मैली भली, काली कुचित कुरूप।
पतिव्रता के रूप पर वारों कोटि सरूप॥

लगता है पतिव्रता का आदर्श उनकी साधना के निकट पड़ता था। सती में एक के प्रति आसक्ति और शेष के प्रति विरक्ति, असीम प्रेम, साहस और त्याग आदि की जो भावनाएँ हैं, उनसे वे प्रभावित थे। उन्होंने नारी के कामिनी रूप को माया माना है और इसे निन्दनीय कहा है। सभी सन्त जीवन में सत् पक्ष के ग्रहण के पक्षपाती थे और असत् से उन्हें उत्कट घृणा थी। यही कारण है कि वे दुर्जन, खद और शाक्तों की भरसक निन्दा करते हैं।

(११) माया से सावधानता—माया से सावधान रहने का उपदेश सभी कवियों ने दिया है क्योंकि रमैया की दुल्हन ने सब बाजार को लूट लिया है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उसी के वशीभूत हैं। यह भगवान् से मिलने के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। यह माया महाठगिनी है। इसने मधुर वाणी बोलकर अपनी तिरगुन फाँस में सब को फँसा लिया है:

(१२) भाषा एवं शैली—इनके काव्य में मुख्यतः गेय मुक्तक शैली का प्रयोग हुआ है। गीति-काव्य के सभी तत्व-भावात्मकता, संगीतात्मकता, सूक्ष्मता, वैयक्तिकता और भाषा की कोमलता इनकी वाणी में मिलते हैं। हाँ, उपदेशात्मक पदों में गीति-माधुर्य के स्थान पर बौद्धिकता आ गई है। इनके अतिरिक्त इन्होंने साखी, दोहा, चौपाई की शैली का भी प्रयोग किया है।

"कागद मसी छुवो नहिं कलम गही न हाथ" वाली उक्ति प्रायः सभी सन्त कवियों पर चरितार्थ होती है। ये लोग अशिक्षित थे, अतः बोल-चाल की भाषा को ही इन्होंने अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। साहित्यिक भाषा के प्रयोग में ये अक्षम थे। सन्त लोग अपने मत का प्रचार करने के लिए इधर-उधर भ्रमण करते रहते थे, अतः इनकी भाषा खिचड़ी या सधुक्कड़ी हो गई। इसमें अवधी, व्रज भाषा, खड़ी बोली पूर्वी हिन्दी, फारसी, अरबी, राजस्थानी, पंजाबी भाषाओं के शब्दों का सम्मिश्रण हो गया है।

इनकी भाषा में बहुत से पारिभाषिक शब्मों का प्रयोग भी मिलता है जो कि इन्होंने अपने पूर्ववर्ती सम्प्रदायों से लिये। उदाहरणार्थ—शून्य, अनहद, निर्गुण

सगुण और अवधूत आदि। नाथ पंथियों द्वारा प्रयुक्त इगला, पिंगला आदि शब्दों का भी इन्होंने यथावत् प्रयोग किया है।

इनकी भाषा आडम्बरविहीन सरल है। इन्होंने उसे कहीं भी आलंकारिकता से लादने का प्रयत्न नहीं किया है, किन्तु अनुभूति की तीव्रता के कारण उसमें काव्योचित सभी गुण आ गये हैं। अभीष्ट भावों की अभिव्यक्ति बहुत ही कलात्मक बन पड़ी है। अक्खड़ साधुओं के किसी भी विचार को अभिव्यक्त करने में भाषा ने इन्कार नहीं किया।

सन्त काव्य सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। जिस युग में इस काव्य की सृष्टि हुई वह अज्ञान, अशिक्षा और अनैतिकता का युग था। सन्तों की पीयूषवर्षिणी उपदेशमयी वाणी ने उसमें एक दृढ़ नैतिकता की प्रतिष्ठा की। सन्त सम्प्रदाय ने धर्म का ऐसा स्वाभाविक, निश्छल, व्यावहारिक तथा विश्वासमय रूप जन-भाषा में उपस्थित किया जो कि विश्व धर्म बन गया और वह अब भी जन-जीवन में पुनः जागरण का पावन सन्देश दे रहा है। सन्त साहित्य ने जन-जीवन को धर्म-प्रवण एवं आशामय बनाया। इस दृष्टि से सन्त साहित्य का सांस्कृतिक मूल्य भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

काव्य की दृष्टि से भी संत साहित्य का अपना अलग महत्त्व है। अपनी अनुभूतियों को सहज स्वाभाविक भाषा में अभिव्यक्त करके उन्होंने काव्य के सच्चे स्वरूप का उद्घाटन किया। यदि सत्य की अभिव्यक्ति उत्तम कला का मापदण्ड हो तो संत काव्य अपनी कतिपय न्यूनताओं के रहते हुए भी काव्य कला की कसौटी पर पूरा उतरता है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में "सच्चे कवि की वाणी में अभिव्यक्ति के साधन स्वतः प्रस्फुटित हो जाते हैं, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण इन कवियों का साहित्य है। 'भाषा कैसी ही हो भाव चाहिए मित्त' की उक्ति सन्त काव्य पर पूर्णतः चरितार्थ होती है।" संतों की वाणी में जो उपदेश है वे केवल दर्शन का विषय न होकर जीवन रस से ओत-प्रोत है। उनमें अनुभूति सौष्ठव और जीवन का अमर सन्देश है। आत्मविश्वास, आशावाद और आत्माभिव्यक्ति की जीवन्त शक्तियां सन्त वाणी में निहित है। संत कवियों ने साहित्य को सत्य, सौन्दर्य और शिव से सम्पन्न किया है।

सन्त मत के धार्मिक तथा दार्शनिक आदि पक्ष

धार्मिक—संत मत ने विविध धर्म-संप्रदायों के प्रभाव को आत्मसात् किया किन्तु फिर भी उसका अपना स्वतन्त्र रूप है। यह एक विश्व धर्म है। इसमें न तो कर्म-कांड का बन्धन है और न ही वर्ण तथा जाति भेद। इसके निर्माणकारी तत्त्व हैं—जीवन-पवित्रता तथा आचरण की शुद्धता। वासना मुक्ति ही ईश्वर मिलन तथा मुक्ति का प्रथम सोपान है। मन रूपी चुनरी की मलिनता सद्गुरु रूपी रंगरेज के बिना दूर नहीं हो सकती।

(क) विधि निषेध—जगत् में जो वस्तु ग्राह्य है, वह विधि है और जो वर्ज्य है वह निषेध। आचरण की पवित्रता के लिए विधि और निषेध आवश्यक हैं। उदारता, शील, क्षमा, सन्तोष, विनम्रता और विवेकादि गुण जीवन की पवित्रता के लिए ग्राह्य हैं तथा काम, क्रोध, लोभादि दोष वर्ज्य हैं। सन्त काव्य में उपदेशों द्वारा गुण-ग्रहण तथा दोष-परिहार पर बल दिया गया है।

(ख) गुरु—संत संप्रदाय में गुरु की सत्ता सर्वोपरि है, यहाँ तक कि ईश्वर से भी ऊपर। विधि-निषेध का सम्यक् ज्ञान गुरु से ही सम्भव है। सन्त-साधना में गुरु का स्थान अद्वितीय है।

(ग) नाम-स्मरण—संत मत ने भक्ति के मानसिक पक्ष पर अत्यधिक बल दिया है। इस प्रकार की भक्ति में कर्म-काण्ड तथा बाह्य विधि-विधान अनावश्यक होते हैं। इस आंतरिक भक्ति में सत्संग का विशेष स्थान है क्योंकि इससे मन में पवित्रता आती है और नाम-स्मरण, श्रवण और कीर्तन की ओर मन आकृष्ट होता है। इस प्रकार हम संत मत के धर्म पक्ष में विधि-निषेध, गुरु, नाम-स्मरण को अत्यन्त महत्व-पूर्ण रूप में देखते हैं।

दार्शनिक—संत कवि बहुश्रुत थे। इन्होंने वेद, शास्त्र, पुराण और उपनिषद ग्रन्थों के वचनों को आप्त वाक्यों के रूप में कदापि ग्रहण नहीं किया। इनका विश्वास कागद लेखी पर नहीं था प्रत्युत आंखिन देखी पर था। निजी अनुभूतियों के बल पर जो कुछ उन्हें विश्वसनीय प्रतीत हुआ, वह इनका दर्शन बन गया। अतः संत-सम्प्रदाय का दर्शन उपनिषद्, भारतीय षड्दर्शन, बौद्ध धर्म, सूफी सम्प्रदाय तथा नाथ सम्प्रदाय की विश्वजनीन अनुभूतियों का मिलाकर सुसंगठित हुआ। इस प्रकार सन्त संप्रदाय का दर्शन शताब्दियों से चली आती हुई साधना के सुन्दर सारों का एक समुच्चय है। संत दर्शन में चार तत्वों की प्रधानता है—ब्रह्म, जीव, माया और जगत।

(क) ब्रह्म—संत सम्प्रदाय का ब्रह्म निराकार और निर्विकार है। वह समस्त विश्व में व्याप्त है, उसे बाहर कहीं भी खोजने की आवश्यकता नहीं, वह घट-घट में विद्यमान है। वह शून्य और निरंजन है। वह वर्णनातीत, अगम्य एवं अकल्पनीय है, वह तो गूंगे का गुड़ है। वह एक है और हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण तथा शूद्र सबके लिए एक-सा है। उसकी प्राप्ति प्रेमानुभूति तथा सहज-समाधि से सम्भव है। ब्रह्म की प्राप्ति गुरु के बिना असम्भव है।

(ख) जीव—ब्रह्म और जीव जल और लहर के समान कहने को तो अलग हैं, किन्तु हैं एक ही। दोनों में कोई अन्तर नहीं। माया के द्वारा दोनों में अन्तर भासित होता है किन्तु माया के आवरण के हट जाने पर जीव और ब्रह्म पुनः एक हो जाते हैं। जीव माया-ग्रस्त होकर अविद्या-अज्ञान के वशीभूत हो जाता है। इस नाशका निवारण सद्गुरु से ही सम्भव है। जीव के लिए आत्मबोध कठिन होता

है। इस कठिनाई को पार करने के लिए जीव-ब्रह्म के नाना प्रतीकों और उसके साथ बहुविध सम्बन्धों की कल्पना करता है। ये प्रतीक माता-पिता, स्वामी-मित्र अथवा पति का सम्बन्ध निरूपित करते हैं। इन सम्बन्धों में पति-पत्नी का सम्बन्ध सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि दाम्पत्य भाव में प्रेम की पूर्णता है और यहीं से ही विशुद्ध भावात्मक रहस्यवाद की सृष्टि होती है।

(ग) माया—यह सत्य के विपरीत भ्रम का जाल फैलाने वाली है। यह निर्गुणात्मक है और कंचन तथा कामिनी के रूप में जीव को सत्पथ से हटाती है। यह खाँड के समान मीठी किन्तु उसका प्रभाव विष के समान है। जगत् की सभी मोह एवं आकर्षणमयी वस्तुएँ माया का प्रतीक हैं। इसने सारे संसार को ग्रस रखा है। सन्त सम्प्रदाय में नारी के रूप में इसका मानवीकरण किया गया है, जो ठगिनी है, डाकिनी है और सबको खाने वाली है। सम्भवतः यह सूफी मत के शैतान का प्रतिरूप है। इसके निवारण के साधन हैं—सत्संग, भक्ति और ब्रह्म-मिलनेच्छा।

(घ) जगत्—सन्त मतानुसार जो कुछ दृश्यमान है वह जगत् है। वह भ्रममय, चंचल और नश्वर है। जगत् चार दिन की चाँदनी है। इस पर विश्वास करना अपने आपको छलना है। धन, वैभव, आडम्बर, विलास, सुख और दुःख ये सब जगत् के रूप हैं।

साधना-पक्ष—सन्त सम्प्रदाय की साधना के अन्तर्गत दो वस्तुएँ हैं—भक्ति और योग। भक्ति के अन्तर्गत रहस्यवाद है और योग के अन्तर्गत एक ओर तो नाड़ी-साधन और षट्चक्र है, दूसरी ओर वह सहज समाधि है, जो अन्ततः रहस्यवाद के समीप पहुँच जाती है।

(क) भक्ति—भक्ति निष्काम और निश्चल होनी चाहिए। विधि-निषेध के द्वारा मन के शुद्ध हो जाने पर उसमें नाम-स्मरण की भावना आती है। नाम-स्मरण, श्रवण तथा कीर्तन से मन संपुष्ट होता है। कीर्तन से विमल प्रेम उपजता है और उसमें फिर मादकता आती है। दाम्पत्य-प्रेम में आत्म-समर्पण की भावना का उदय होता है। आत्म-समर्पण में होने वाली ब्रह्मानुभूति रहस्यवाद है। इस प्रकार सन्तों के रहस्यवाद में जहाँ एक ओर वैष्णवों के प्रेम का उत्कर्ष है वहाँ दूसरी ओर सूफियों के इश्क की मादकता है।

(ख) योग—संत सम्प्रदाय का नाथ संप्रदाय परम्परा से सीधा सम्बन्ध है। अतः इन सन्त कवियों पर योग का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। किन्तु सन्तों ने अक्षरशः योग के सिद्धान्तों को अपनाया हो, ऐसी बात नहीं है। कारण, योग की क्रियाएँ सहज साध्य नहीं थीं, दूसरे सन्त सम्प्रदाय के व्यक्ति निम्न जाति के थे जिनके पास कोई शास्त्र परम्परा नहीं थी और इसके साथ-साथ भक्ति आन्दोलन के प्रभाव के फलस्वरूप योग की प्रक्रियाओं की निःसारता सिद्ध हो चुकी थी। सन्त सम्प्रदाय में योग के परम्परागत रूप—इंगला, पिंगला, षट्चक्र, सहस्रदल कमल, कुण्डलिनी

और ब्रह्मरन्ध्र आदि का उल्लेख मिलता है किन्तु इन्होंने अजपा जाप—सहज समाधि को अधिक प्रश्रय दिया है। सहज समाधि एक जागृत समाधि है। इससे इन्द्रियों की विषय वासनादि से सहज में मुक्ति हो जाती है। इस प्रकार सन्त सम्प्रदाय की साधना के दो पक्ष हैं—भक्ति के अन्तर्गत रहस्यवाद और योग के अन्तर्गत सहज समाधि।

सामाजिक पक्ष—सन्त साधना वैयक्तिक और आध्यात्मिक होते हुए भी समष्टिपरक है। आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्म की सत्ता कण-कण में विद्यमान है। समस्त सृष्टि ब्रह्ममय है, तब वस्तु, व्यक्ति और समष्टि में भेद ही नहीं। व्यक्ति समाज की इकाई है। समाज की सप्राणता और सुगठितता व्यक्ति के गुणों और आचरण पर निर्भर करती है। सन्त सम्प्रदाय के विधि और निषेध ने वैयक्तिक जीवन में गुणों और सात्विकता के ग्रहण पर अत्यधिक बल दिया है। जीवन में सात्विकता धर्म, सामाजिक चरित्र और नैतिकता के लिए एक दृढ़ आधार है। सन्त सम्प्रदाय ने समाज की व्यवस्था के लिए व्यक्ति के पवित्र जीवन को अधिक महत्व दिया है।

समाज की एकरूपता तभी निश्चित है जबकि जाति, वर्ण और वर्ग भेद न्यून-से-न्यून हो। सन्त सम्प्रदाय ने वर्ग और जाति-भेद में अपना विश्वास नहीं रखा। सदाचरण ही इनके लिए महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने निवृत्तिमूलक और प्रवृत्तिमूलक दोनों प्रकार के आचरण पर विचार प्रकट किये हैं। धर्म के मतभेद और बाह्य-आडम्बर—तीर्थ स्थान, वेद-पाठ, छुआछूत, रोजा-नमाज, हिन्दू-मुसलमान, मन्दिर-मस्जिद, ब्राह्मण-शूद्र, शिया और सुन्नी आदि का भेद मान्य नहीं है, बल्कि इन्होंने इन सबका कठोर विरोध किया है। इन्होंने समाज-व्यवस्था को विकृत करने वाली रूढ़ियों, पाखण्ड, रीति-रिवाज और मिथ्या आडम्बर आदि के विरुद्ध जनता में विद्रोह की भावना उत्पन्न की।

उस समय व्यवसाय की श्रेष्ठता और निम्नता के आधार पर किसी व्यक्ति की उच्चता और नीचता आँकी जाती थी। सन्तों ने इसका डटकर विरोध किया। कबीर जी कहते हैं—"तू बामन काशी का जुलाहा बूझौं मोर ग्याना". और इस प्रकार "जाति-पाँति पूछै न कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।" सन्तों द्वारा प्रचारित धर्म मानव-धर्म या विश्व धर्म है। आज के वर्ग-विद्वेष विष से ग्रस्त तथा युद्ध की विभीषिकाओं से त्रस्त विश्व को कबीर की घोषणा "सांई के सब जीव हैं" विश्वास-मय तथा प्रेम और शांतिपूर्ण जीवन-यापन का आशामय संकेत दे रही है।

सन्त काव्य पर विविध सम्प्रदायों का प्रभाव

सन्त संप्रदाय की विकास परम्परा में निम्नांकित सम्प्रदायों ने योगदान दिया—

(क) सिद्ध और जैन मुनि (ख) नाथ संप्रदाय (ग) वैष्णव भक्ति आन्दोलन (घ) महाराष्ट्रीय सन्त सम्प्रदाय (ङ) इस्लाम का प्रभाव।

(क) सिद्धों और जैनों का साहित्य—सिद्ध साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ सन्त साहित्य में विकसित हुई, जैसे जाति-भेद, रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों तथा बाह्य आडम्बरों का खंडन, निजी अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना, मुक्तक पद-शैली, रूपक, उलटबाँसियों एवं प्रतीकों का प्रयोग। सिद्धों के समान सन्तों ने भी लोक-भाषा को अपनाया। सिद्धों के साहित्य में जो स्थूल शृंगारिकता है, वह सन्त साहित्य में नहीं है। कारण सन्त साहित्य में नैतिक पक्ष पर अधिक बल दिया है, दूसरा सन्तों की साधना पद्धति व्यक्ति-परक होते हुए भी समाज की उपेक्षा करके नहीं चली। सन्त काव्य पर जैन मुक्तक काव्य का प्रभाव भी देखा जा सकता है।

(ख) नाथ पन्थ का प्रभाव—नाथ संप्रदाय का सन्त काव्य पर स्पष्ट रूप से प्रभाव पड़ा। सन्त मत का सीधा विकास नाथ संप्रदाय से हुआ। नाथ पन्थ के अनुयायी शिव की उपासना करते थे। इनके यहाँ तन्त्र-मन्त्र और योग की क्रियाओं का अधिक महत्व है। तत्कालीन समाज पर इनकी चमत्कारपूर्ण सिद्धियों का खूब प्रभाव पड़ा। सूफियों के प्रेमाख्यानक काव्यों पर इन योगियों का प्रभाव स्पष्ट है। इनके देशव्यापी प्रभाव को लक्ष्य मानकर कदाचित् महाकवि तुलसी को कहना पड़ा था 'गोरख जगायो जोग, भक्ति भगायो भोग।' अस्तु! इन योगियों का प्रभाव सन्त काव्य पर पड़ा है। कबीर आदि सन्त कवियों ने इंगला, पिंगला, पट्चक्र, सहस्रदल कमल आदि योग के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु हमारा अनुमान है कि सन्तों को योग की श्रमसाध्य क्रियाओं पर कोई आस्था नहीं है, क्योंकि उन्हें जन-सामान्य के लिए भक्ति का एक सरल मार्ग प्रस्तुत करना था जिसमें योग की प्रक्रियाओं की जटिलता अवांछनीय थी। सन्तों को अजपा जाप या सहज समाधि पर अगाध विश्वास है और वे इसका पुनः-पुनः उल्लेख करते हैं। कहीं-कहीं पर तो योग की जटिल प्रक्रियाओं पर इन सन्तों ने मीठे-तीखे व्यंग्य भी कसे हैं। सन्त साधना पद्धति के दो पक्ष हैं—भक्ति के अन्तर्गत रहस्यवाद तथा योग के अन्तर्गत सहज समाधि।

(ग) वैष्णव भक्ति आन्दोलन—रामानुज तथा मध्वाचार्य भक्ति का सैद्धांतिक प्रतिपादन कर चुके थे। रामानन्द उसका उत्तरी भारत में खूब प्रचार कर रहे थे। कबीर रामानन्द की शिष्य परम्परा में थे। अतः सन्त काव्य पर वैष्णव भक्ति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। हालांकि दोनों में पर्याप्त तात्त्विक भेद है। सन्तों ने वैष्णवी भक्ति के प्रपत्तिवाद को पूर्ण रूप से अपनाया है। सगुण भक्ति द्वारा गृहीत ईश्वर के नामों को—राम, गोविन्द, हरि आदि को— इन सन्तों ने बड़ी श्रद्धा से लिया है। ध्यान रहे अल्ला-खुदा आदि शब्दों का ग्रहण वे हिन्दू-मुसलमान-एकता प्रतिपादन के समय ही करते हैं। सन्त काव्य में वर्णित प्रेम बहुत-कुछ वैष्णवों के प्रेम से साम्य रखता है। कुछ विद्वानों ने इसे सूफी प्रभाव माना है, जो कि उपयुक्त नहीं है। इस दिशा में यदि कहीं सूफियों का प्रभाव पड़ा है तो वह प्रेम की मादकता में ही। सूफियों

का तत्त्व समानता पर आधारित है जबकि सन्त कवि परमात्मा की अपेक्षा अपने आप को हीन समझता है। सूफियों ने परमात्मा की कल्पना प्रेयसी के रूप में की है जब कि सन्तों ने परमात्मा की कल्पना पति रूप में की है। सन्तों की यह भावना भारतीय परम्परा के अत्यन्त अनुकूल है। अहिंसा आदि की प्रवृत्तियाँ भी सन्त काव्य में वैष्णवी भक्ति से आई हैं। सन्तों ने अन्य धर्म-सम्प्रदायों की आलोचना की है, किन्तु वैष्णवों के प्रति श्रद्धा का प्रदर्शन किया है।

(घ) महाराष्ट्रीय सन्त सम्प्रदाय—सन्त सम्प्रदाय का बहुत कुछ रूप उत्तरी भारत में उसके प्रचार से पूर्व महाराष्ट्र में तैयार हो चुका था। महाराष्ट्र में बारहवीं तेरहवीं शताब्दी में महानुभाव संप्रदाय तथा वारकरी संप्रदाय की स्थापना हो चुकी थी, जिनकी विचारधारा, साधना-पद्धति और अभिव्यंजना-शैली में सन्त काव्य से गहरा साम्य है। महानुभाव सम्प्रदाय की स्थापना श्रीचक्रधर स्वामी ने (११६४—१२७४ ई०) में की थी। उन्होंने एक ओर तो कृष्ण-भक्ति का उपदेश देते हुए जीव, देवता और परमेश्वर आदि को अनादि बताया, दूसरी ओर अद्वैतवाद के सिद्धांतों को भी स्वीकार किया। उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति के लिए ज्ञान की अपेक्षा प्रेम को अधिक महत्त्व दिया। इसी सम्प्रदाय के साथ ज्ञानेश्वर ने वारकरी सम्प्रदाय की स्थापना की। ज्ञानेश्वर ने अद्वैतमत, सगुणमत और भक्ति-भावना का समन्वय किया। इसी परम्परा में नामदेव हुए, नामदेव का बाद में सगुणवाद मे विश्वास उठ गया, जब उन्होंने दक्षिण देश में अलाउद्दीन खिलजी द्वारा मूर्तियों को भग्न होते हुए देखा। इन महाराष्ट्रीय सन्तों में से कइयों ने हिन्दी-भाषा में भी काव्य-रचना की। भगवान् के प्रति दृढ़ानुराग, मिलनाकांक्षा, प्रणय-निवेदन, अद्वैत-दर्शन का प्रतिपादन आदि बातें महाराष्ट्रीय और हिन्दी सन्त कवियों में समान रूप से मिलती हैं। इन महाराष्ट्रीय सन्तों में नामदेव का नाम कबीर तथा रैदास आदि ने बड़े आदर से लिया है। हमारे विचारानुसार हिन्दी साहित्य में इस परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय नामदेव को ही है। यह दूसरी बात है कि नामदेव की वाणी में मृदुता रही है और कबीर में परिस्थिति-जन्य अधिक कर्कशता।

(ङ) इस्लाम का प्रभाव—कुछ विद्वानों ने सन्त काव्य की अनेक प्रवृत्तियों — निर्गुणोपासना, वर्णव्यवस्था और मूर्ति-पूजा-विरोध आदि को मुस्लिम प्रभाव बताया है। किन्तु इन सब बातों का विकास भारतीय धर्म-साधना में इस्लाम के प्रचार से पूर्व हो चुका था, जिनका विवेचन हम अनेक सम्प्रदायों के प्रभाव के अन्तर्गत कर चुके हैं। हाँ, सन्त कवियों द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन अवश्य तत्कालीन परिस्थितिजन्य है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में "सन्त मत के खंडनात्मक पक्ष में इस्लाम का अस्तित्व है, उसका मण्डनात्मक पक्ष तो हिन्दू धर्म और हिन्दू दर्शन के ही तत्वों से परिपूर्ण है। ईश्वर का गुणगान करते समय वे राम-गोविन्द-हरि का नाम लेते हैं, अल्ला या खुदा का नहीं, संसार की असारता घोषित करते हुए वे

अद्वैतवाद और माया की बातें करते हैं, मृत्यु के पश्चात् मिलने वाली बहिश्त और आखिरी कलाम की नहीं, विधि-निषेधों की चर्चा करते हुए वे हिन्दू शास्त्र का आधार ग्रहण करते हैं, कुरान का नहीं।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सन्त काव्य किसी विदेशी साहित्य या अभारतीय धर्म साधनाओं के प्रभाव से विकसित साहित्य नहीं है, अपितु वह तत्कालीन भक्ति आन्दोलन से प्रभावित है तथा अपभ्रंश साहित्य की विशेष काव्य-धारा का विकसित रूप है। सन्त मत वस्तुतः भक्ति आन्दोलन की एक विशेष शाखा है, जिसका नेतृत्व उच्च वर्ग के शिक्षित लोगों के द्वारा न होकर निम्न वर्ग के अशिक्षित वर्ग के द्वारा हुआ।

इन प्रभावों के होते हुए भी सन्त कवियों की विचार-दृढ़ता और मौलिकता में कोई अन्तर नहीं आया। इन्होंने "सार सार को गहि रहौ थोथा दिया उड़ाय" की प्रवृत्ति का सर्वत्र निदर्शन प्रस्तुत किया है। बहुश्रुत होने के कारण साधु-संगति में बैठकर अपने सामान्य भक्ति-मार्ग के लिए जिस तत्व को व्यावहारिक और ग्राह्य समझा, उसका समावेश अपने मत में कर लिया। सन्त मत किसी धर्म विशेष की शास्त्रीय व्याख्या नहीं, बल्कि उनकी सहज अनुभूतियों का सुन्दर समुच्चय है।

सन्त काव्य की परम्परा और विकास

यह हम पहले कह चुके हैं कि सन्त काव्य बौद्ध धर्म और उसके साहित्य अनुप्राणित है। बौद्ध धर्म से महायान तथा हीनयान सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ, महायान से मन्त्रयान और मन्त्रयान से वज्रयान और इसी वज्रयान की घोर तांत्रिक प्रक्रिया में नाथ सम्प्रदाय का उदय हुआ और नाथ सम्प्रदाय के प्रेरणामूलक तत्वों को लेकर सन्त मत अवतरित हुआ। बौद्ध धर्म से लेकर नाथ सम्प्रदाय तक इस प्रक्रिया में जो जीवन तत्त्व उभरे, उन सबका समावेश सन्त मत में हुआ। जब सन्त मत का उदय उत्तरी भारत में हो रहा था, उस समय नाथ पंथ अपनी अव्यावहारिकता के कारण ह्रासोन्मुख था। उतरी भारत में उस समय दक्षिण के भक्ति आन्दोलन का स्वामी रामानन्द उन्नयन कर रहे थे। उनकी शिष्य परम्परा में सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के भक्त थे। स्वामी रामानन्द की भक्ति में ऊँच-नीच, जाति-पाँति एवं छुआछूत की भावनाएँ नहीं थी। महात्मा कबीर स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा में थे।

बहुत से विद्वानों ने हिन्दी साहित्य में संत मत का प्रवर्त्तक कबीर को माना है किन्तु यह सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं है। हम पहले लिख चुके हैं कि महाराष्ट्र के विट्ठल सम्प्रदाय में, जो कि काल-क्रम से कबीर से पहले ठहरता है, सन्त सम्प्रदाय के प्रायः सभी बीजों का वपन हो चुका था, जो कि बाद में सन्त काव्य में पल्लवित और पुष्पित हुए। कबीर को सन्त सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक सिद्ध करने वालों का यह कहना है कि कबीर से पहले अनेक निर्गुण भाव के साधक हुए किंतु संत मत की जो

सहज धारा हिन्दी साहित्य की कविता में प्रवाहित हुई, उसका आरम्भ कबीर से हुआ। कबीर से पूर्व महाराष्ट्र के कुछ निर्गुण भाव के साधकों की कविताएँ मिलती हैं। इनमें मुख्य हैं—महाराज सोमेश्वर (११२७ ई०), चक्रधर महाराज (शाके ११६४), नामदेव (१२६७ ई०), ज्ञानेश्वर मुक्ताबाई आदि। नामदेव की भाँति एक पुराने भक्त कवि जयदेव के, जो कि गीत गोविन्दकार जयदेव से भिन्न हैं, कुछ निर्गुण भाव के पद मिलते हैं। नामदेव ने हिन्दी भाषा में भी काफी लिखा। उन्होंने प्रायः उत्तरी भारत का भ्रमण भी किया था। नामदेव की कुछ कविताएँ गुरु ग्रंथ साहिब में भी संगृहीत हैं। हमारे विचार में सन्त काव्य का प्रवर्तक कबीर की अपेक्षा नामदेव को मानना अधिक उपयुक्त है। यह दूसरी बात है कि नामदेव के व्यक्तित्व में मृदुता है और कबीर में प्रखरता है, जिसके कारण वे प्रकाश में आ सके। निःसन्देह सम्राट् अकबर ने मुगल साम्राज्य की नींव को दृढ़ आधार प्रदान किया, इतने से बाबर को मुगल साम्राज्य के संस्थापक पद से तो वंचित नहीं किया जा सकता।

रामानन्द का समय १२वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पड़ता है। उनके निम्नांकित बारह शिष्य कहे जाते हैं—

> अनतानन्द कबीर, सुखा सुरसुरा पद्मावति नरहरि।
> पीपा भावानन्द रैदासु धना सेन, सुरसरि की धरहरि ॥

इन शिष्यों में कबीर, पीपा, रैदास, धना और सेन संत और कवि दोनों रूपों में प्रसिद्ध हैं। इनमें धना, पीपा, रैदास और कबीर का साहित्य महत्त्वपूर्ण है। धना और पीपा के बहुत थोड़े पद ग्रंथ साहब में मिलते हैं। रैदास के भी दो ग्रंथ हैं—'रविदास की बानी' और 'रविदास के पद' इन सबमें कबीर सर्वश्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। कबीरदास के पश्चात् इस परम्परा में धर्मदास का नाम आता है। धर्मदास का साहित्य अल्प होते हुए भी ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। धर्मदास के पश्चात् गुरु नानक ने इस परम्परा के विकास में योग दिया। इन्होंने भी कबीर की भाँति मूर्ति-पूजा का खण्डन किया है और हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया है। इनके बाद शेख इब्राहीम का नाम आता है। इनके पद भी ग्रन्थ साहब में संगृहीत हैं।

संत दादू दयाल (१५४४—१६०३ ई०) संत मत के अनुगामी थे। संत सम्प्रदाय के विकास तथा साहित्य दोनों क्षेत्रों में आपका महत्त्व है।

मलूकदास का प्रादुर्भाव उस समय हुआ जबकि संत काव्य परम्परा पर सगुण धारा का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया था। मलूकदास की रामावतार लीला (रामायण) इसका स्पष्ट उदाहरण है।

दादू दयाल के शिष्य सुन्दरदास (जन्म सं० १६५३) का स्थान इस परम्परा में महत्वपूर्ण है। संत कवि परम्परा में ये ही एक ऐसे कवि हैं, जो शिक्षित थे और इन्होंने शास्त्रीय काव्य परम्परा पद्धति पर काव्य-रचना की। दादू के दूसरे शिष्य

रज्जबदास थे, जिनकी कवित्व-शक्ति अत्यन्त प्रखर थी। दादू के अन्य शिष्यों में जगन्नाथ जी ही उल्लेखनीय हैं।

बिस्नोई सम्प्रदाय के संस्थापक जंभनाथ और निरंजनी सम्प्रदाय के संस्थापक हरिदास निरंजनी भी इसी परम्परा में आते हैं। सत्रहवीं शताब्दी में अक्षर अनन्य नाम के सन्त ने योग और वेदांत सम्बन्धी कुछ ग्रन्थ रचे। इस समय राजस्थान के संत तुलसीदास भी प्रसिद्ध हुए। इनकी रचनाओं में भजन पर जोर है। १७वीं शताब्दी में मुस्लिम सन्त यारी हुए, जिन्होंने अपनी रत्नावली नामक पुस्तक में अध्यात्म तत्वों का निरूपण किया है। सन्त धरणीदास भी इसी समय हुए। सतनामी सम्प्रदाय के कवि दूलन दास (१८वीं शती) अत्यंत लोकप्रिय हुए। १८वीं शती में चरण दास की दो शिष्याएँ हुई—दया बाई और सहजो बाई, जो अपनी सरल रचनाओं के कारण प्रसिद्ध हुई।

यह परम्परा आधुनिक काल तक बराबर चलती आई है, पर इसका काव्य पिष्टपेषण होने के कारण महत्वहीन हो गया। मध्य युग की समाप्ति के साथ ही सन्त काव्य की गतिशीलता जाती रही। इसमें गतानुगतिकता की मात्रा बढ़ने लगी। परिणामतः यह धारा अवरुद्ध और निष्प्राण हो गई। इस विषय में डॉ० हजारी-प्रसाद लिखते हैं—"१८वीं शती के अन्त तक उसकी क्रांतिकारी भावना समाप्त हो गई और वह भी अन्य निहित स्वार्थ वाले मठों के समान अपने ही बनाये हुए बन्धनों में क्रमशः जकड़ता गया। जिन लोगों ने माया को ललकारने का साहस किया था, उनके अनुयायी माया के घरौंदों में बन्द हो गए।···वह क्रमशः क्षीण होता गया और इसलिये वे ऐसे साहित्य की सृष्टि न कर सके, जो मनुष्य को नया आलोक देता और कठिनाइयों और विपत्तियों से जूझने की प्रेरणा देता। यह साहित्य केवल शाब्दिक माया जाल प्रस्तुत करता है और मनुष्य की स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति को रुद्ध करता है।" आगे चलकर आचार्य द्विवेदी ह्रास के कारणों का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं—"कबीरदास, दादू इत्यादि के परवर्ती सन्तों की घर जोड़ने की माया है। अपना नवीन सम्प्रदाय चलाने का उत्साह उन्हें पुरानी रूढ़ियों से जकड़कर उनकी प्रगतिशील क्रान्तिकारी वाणी की परम्परा में एक ऐसी सड़ाँध पैदा कर देता है कि उसमें सन्तों की मौलिकता, विशेषता, सहजपन इत्यादि के दर्शन भी नहीं होते।"

संत काव्य परम्परा के कतिपय प्रमुख कवि

नामदेव—सन्त नामदेव सतारा जिले में कन्हाड़ के पास नरसीबमनी गाँव में १२७० ई० में उत्पन्न हुए। इनके पिता का नाम दामाशेट और माता का नाम गोना बाई था। ये जाति के छीपी थे और सन्त ज्ञानेश्वर के समकालीन थे। नामदेव अपने समय में महाराष्ट्र तथा उत्तरी भारत में इतने प्रतिष्ठित हो चुके थे कि कबीर, रैदास, कमाल और मीरा आदि ने उनका स्मरण बड़े आदर से किया है।

इनके पिता और पूर्वज भगवान् के भक्त थे। भक्ति की प्रेरणा इन्हें उनसे मिली और अन्त में ये विरक्त हो गये। किंवदन्ती है कि पहले डाकू हो गये थे किन्तु एक दिन किसी स्त्री से उसके पति के डाकुओं से मारे जाने और फलस्वरूप हुई दुर्दशा का वर्णन सुनकर ये सब कुछ छोड़ पंढरपुर में जाकर विठोवा के भक्त हो गये। इस प्रकार ये विट्ठल सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। नामदेव पहले सगुणोपासना और कीर्तन किया करते थे। एक तो वे अलाउद्दीन द्वारा मूर्तियों को भग्न होते हुए देख चुके थे, दूसरे ज्ञानदेव अनेक युक्तियों से उन्हें नाथ पंथ में ले आये। नामदेव ने विसोवा खेचर नाम के नाथ पंथी सन्त को अपना गुरु बनाया। इस प्रकार सगुणोपासना से हटकर नामदेव नाथपंथी निरंजन की साधना में प्रवृत्त हुए। ज्ञानदेव के निधन पर नामदेव महाराष्ट्र छोड़कर हरिद्वार होते हुए गुरदासपुर जिले (पंजाब) के घूमन या घोमन गाँव में जा बसे। वहाँ रचे गये पदों का संकलन आदि ग्रन्थ में है। वहाँ इनके हिन्दू और सिख दोनों अनुयायी थे। वे आज भी नामदेव पंथी या नामदेव वंशी कहलाते हैं।

साहित्य—सन्त नामदेव मराठी साहित्य के प्रमुख भक्त कवि थे। इनके बहुत से पद हिन्दी में भी हैं, जिनका संकलन आदि ग्रन्थ में है। नामदेव प्रथम सगुणोपासक थे, इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

धनि धनि मेवा रोमावली धनि धनि कृष्ण ओढ़े काँवली
धनि धनि तूं माता देवकी, जिह घर रमैया कंवला पति।

नाथपंथी वारकरी सम्प्रदाय में दीक्षित होने के उपरांत वे हिन्दू-मुसलमानों की मिथ्या रूढ़ियों का विरोध करने लगे जैसे—

"हिन्दू अन्धा तुरकौ काना, दुवौ ते ज्ञानी सयाना।"
हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान मसीत॥
नामा वहीं सेविये जहाँ देहरा न मसीत।

इसी प्रकार इनके साहित्य में सम्प्रदाय वाली सामग्री मिल जाती है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से इनका साहित्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हमारे विचारानुसार, हिन्दी साहित्य में सन्त मत के प्रवर्तन का श्रेय सन्त नामदेव को देना ही समीचीन है।

कबीर—जीवन वृत्त—मध्ययुगीन अन्य अनेक सन्त और भक्त कवियों के समान कबीर का जीवन वृत्त भी प्रायः अन्धकारमय है। उनके जन्म, मृत्यु, वास-स्थान, वंश और यहाँ तक कि यथार्थ नाम के सम्बन्ध में असंदिग्ध रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वे सिकन्दर लोधी के समकालीन थे। नाभादास के भक्तमाल और बील, हंटर, व्रिग्स, मेकलिफ, स्मिथ तथा भंडारकर आदि के इतिहास-ग्रन्थों से भी उक्त तथ्य की पुष्टि हो जाती है। कबीरदास ने अपने साहित्य में जयदेव और नामदेव का उल्लेख किया है, इससे सिद्ध है कि वे इनके पश्चाद्वर्ती थे। नामदेव का समय तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण माना गया है।

सन्त पीपा ने बड़ी श्रद्धा से कबीर का नाम स्मरण किया है, इससे स्पष्ट है कि कबीर पीपा से पहले थे। पीपा का जन्म सं० १४८२ में हुआ। 'कबीर चरित्र बोध' में १४५५ वि० ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार को कबीर की जन्म-तिथि स्वीकार की गई है, जिसका आधार निम्नांकित दोहा है—

चौदह सौ पचपन साल गए चन्द्रावार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी प्रगट भए॥

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने उक्त दोहे में 'गए' शब्द का अर्थ व्यतीत लगातार १४५६ को कबीर का जन्म सम्वत् माना है। डॉ० हजारीप्रसाद ने भी इसी सम्वत् को स्वीकार किया है, किन्तु डॉ० माताप्रसाद गुप्त प्रभृति विद्वानों ने सं० १४५५ ज्येष्ठ पूर्णिमा सोमवार को कबीर की जन्म-तिथि माना है क्योंकि इण्डियन क्रोनोलॉजी के आधार पर गणना करने से यही तिथि ठीक बैठती है, अतः सं० १४५५ में इनका जन्म मानना अधिक उपयुक्त और तर्कसंगत है।

स्वामी रामानन्द कबीर के दीक्षा गुरु थे। इस कथन की पुष्टि अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भी हो जाती है। कबीर का कहना है "काशी में हम प्रगट भये, रामानन्द चेताये।" नाभादास के भक्त-माल और अनन्तदास के 'प्रसंग पारिजात' से भी उक्त तथ्य की पुष्टि हो जाती है। कुछ-एक विद्वानों ने शेख तकी को कबीर का गुरु माना है, किन्तु यह बात अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य के आधार पर सर्वथा अमान्य है। कबीर ने शेख तकी के प्रति कहीं भी श्रद्धा प्रकट नहीं की है। शेख तकी को सम्बोधन करते हुए कबीर द्वारा कहे गये 'सुनहु शेख तकी तुम' इन शब्दों में जो कठोरता और कर्कशता है वह कबीर जैसे गुरु-भक्त से अपने गुरु के प्रति आशासित नहीं थी।

कबीर के जन्म के सम्बन्ध में भी अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कुछ-एक का कहना है कि एक विधवा ब्राह्मणी ने लोक-लाजवश अपने नवजात शिशु कबीर को काशी के लहरतारा नामक तालाब के निकट फेंक दिया था, जिसका पालन-पोषण निःसन्तान जुलाहा दम्पति नीरू और नीमा ने किया। इस बात का समर्थन कबीर का आपने आपको जुलाहा कहने से भी हो जाता है। कबीर पंथियों ने कबीर का जन्म ही नहीं माना है। उनका कहना है कि अमावस्या की रात्रि को जबकि नभमंडल घटाटोप मेघों से आच्छादित था और विद्युत् कौंध रही थी, उस समय लहरतारा नामक तालाब में एक कमल प्रकट हुआ फिर वह ज्योति में परिणित हुआ और वह ब्रह्म स्वरूप ज्योति ही कबीर है। अस्तु! यह सारी कहानी कबीर को अलौकिक महत्व प्रदान करने के लिए गढ़ी हुई प्रतीत होती है। किसी सौभाग्यवती माता ने कबीर को निश्चित रूप से जन्म दिया था और उसका लालन-पालन जुलाहा परिवार में हुआ। डॉ० बड़थ्वाल के अनुसार कबीर जुलाहा कुल के थे जो मुसलमान होने से पहले जोगियों के अनुयायी थे। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर का सम्बन्ध

जुगी जाति से जोड़ा है। यह जाति हिन्दुओं में बड़ी अस्पृश्य और हेय समझी जाती थी। इसका सम्बन्ध नाथपंथी योगियों से था। मुसलमानों के आगमन पर इसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। कबीर इसी जाति के रत्न थे। अस्तु ! कबीर का जन्म सं० १४५५ में काशी में हुआ और निधन १५७५ में मगहर में हुआ।

कबीर गृहस्थी थे। इनकी पत्नी का नाम लोई था। डॉ० रामकुमार ने इनकी एक अन्य पत्नी भी मानी है जिसका नाम धनिया या रमजनिया था। कमाल और कमाली इनके पुत्र और पुत्री थे। कबीर की कई उक्तियों से आभास मिलता है कि इनका पारिवारिक जीवन सुखी नहीं था। कुछ विद्वानों ने इनके निहाल और निहाली दो और पुत्र तथा पुत्री भी माने हैं।

व्यक्तित्व—महात्मा कबीर परम सन्तोषी, उदार, स्वतन्त्रचेता, निर्भीक, सत्यवादी, अहिंसा, सत्य और प्रेम के समर्थक, सात्विक प्रकृति, बाह्याडंबर-विरोधी तथा क्रांतिकारी सुधारक थे। वे मस्तमौला, लापरवाह एक फक्कड़ फकीर थे। वे जन्मजात विद्रोही थे और उनमें एक अदम्य साहस एवं अखंड आत्म-विश्वास था। वे प्रखर प्रतिभा तथा विलक्षण अथच सशक्त व्यक्तित्व से सम्पन्न थे। वे सिकन्दर लोदी के सामने झुके नहीं, हिन्दू और मुसलमानों के प्रबल रोष ने उन्हें तनिक भी विचलित नहीं किया, वे योगियों के प्रभाव से आहत नहीं हुए और न ही सूफी उन्हें अपने सम्प्रदाय में मिला सके। उन्होंने कदाचार का डटकर विरोध किया। वे जीवन-पर्यन्त अपनी अटपटी वाणी से उत्तरी भारत का नेतृत्व करते रहे। सुकरात के समान वे सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक व्यवस्था पर तीव्रतम आघात करते थे। सुकरात के ही समान शासक वर्ग ने कबीर को भी विष का प्याला पीने को दिया, किन्तु वे पीकर पचा गये। कबीर का व्यक्तित्व कुछ अजीब-सा है। डॉ० हजारीप्रसाद इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"वे सिर से पैर तक मस्तमौला, स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़, भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचंड, दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त, भीतर से कोमल, बाहर से कठोर, जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वन्दनीय थे। युगावतार की शक्ति और विश्वास लेकर वे पैदा हुए थे और युग प्रवर्तक की दृढ़ता उनमें वर्तमान थी, इसलिए वे युग प्रवर्तन कर सके।"

ग्रन्थ—'बीजक' कबीर की प्रामाणिक रचना मानी गई है। इसमें कबीर के उपदेशों का उनके शिष्यों द्वारा संकलन है। 'बीजक' के तीन भाग हैं—साखी, शब्द, रमैनी। कई विद्वानों ने कबीर के ग्रंथों की संख्या ५७ से ६१ तक मानी है। अनुराग सार, उग्रगीता, निर्भय ज्ञान, शब्दावली और रेखतों आदि पुस्तकों को कबीर रचित कहा गया है, किन्तु इस सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। कबीर की कविता के मुक्तक होने के कारण परवर्ती सन्त कवियों ने मनमाने ढंग से उसे घटाया और बढ़ाया। कबीर की रचनाओं का बहुत-सा भाग ऐसा है जो कबीर के भक्तों ने रचा और महत्व के लिए कबीर के नाम पर प्रचारित कर दिया। इस

प्रकार कबीर के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं में से कबीर की वास्तविक रचना को खोज पाना बहुत कठिन है।

कबीर के सिद्धान्त—कबीर निराकारवादी हैं। निराकार की प्राप्ति ज्ञान से सम्भव है। वह घट में बसता है, उसे बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं है। उनका कहना है—"हिरदै सरोवर है अविनासी।" कबीर ने बार-बार 'राम' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु उनका राम सगुण अर्थात् दाशरथि राम न होकर परम ब्रह्म का प्रतीक है। कबीर राम को पुकारने की आवश्यकता निश्चित रूप से महसूस करते हैं, इसलिए उन्हें कोई न कोई नाम भी देना ही पड़ता है। उनके ही शब्दों में—

दशरथ सुत तिहु लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना।। तथा
तू हरखि हरखि गुण गाई।

कबीर एकेश्वरवादी हैं, किन्तु उनका एकेश्वरवाद मुस्लिम एकेश्वरवाद से भिन्न पड़ता है। मुसलमान धर्म के अनुसार ईश्वर समस्त प्राणियों और स्थानों से भिन्न और परम समर्थ है। परन्तु कबीर द्वारा प्रतिपादित ईश्वर व्यापक है, वह समस्त संसार में रम रहा है और इसमें समस्त संसार रम रहा है। वह अलख, अगोचर और वर्णनातीत है। वह केवल शास्त्रों और पुराणों के अध्ययन एवं ज्ञान से नहीं जाना जाता है बल्कि वह प्रेमपूर्ण भक्ति से प्राप्य है। निर्गुण राम और भक्ति-तत्व कबीर को सिद्धों और नाथों से अलग कर देते हैं, और इसी कारण कबीर में अधिक सरसता आ गई है। कबीर की भक्ति अनन्य भाव से सम्पन्न है। उनमें कर्म-काण्ड के विधि-विधानों और बाह्याचारों के लिए अवकाश नहीं है, वह सर्वथा निष्काम है। भक्ति के मार्ग में माया कनक और कामिनी के रूप में व्यवधान डालती है, अतः कबीर ने इसकी कटु भर्त्सना की है। कबीर की भक्ति एक ऐसा राज-मार्ग है जिस पर सभी सुगमता से चल सकते हैं, उसमें ऊँच-नीच, ब्राह्मण, शूद्र और स्पृश्यास्पृश्य का कोई प्रश्न नहीं है :—

"जाति पाँति पूछे नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।"

हाँ, भक्ति में प्रेम अपेक्षित है। कबीर की इस प्रेम भावना ने भक्ति को मधुर एवं सहज बना दिया है। कबीर ने भक्ति और प्रेम के सहारे ब्रह्म से तादात्म्य करना चाहा है और वहीं शुद्ध भावनात्मक रहस्यवाद की सृष्टि हो जाती है। वैसे तो कबीर ने परमात्मा के माता-पिता आदि अनेक रूपों की कल्पना करके अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहा है किन्तु परमात्मा की पति और आत्मा की पत्नी रूप में कल्पना करके प्रेम का एक महान् भारतीय आदर्श रूप उपस्थित किया, जो कि अत्यन्त भव्य बन पड़ा है। हिन्दी के कुछ विद्वानों ने कबीर के इस प्रेम को सूफियों से प्रभावित कहा है, किन्तु यह समीचीन नहीं है। हाँ, कबीर में प्रेम की मादकता आंशिक रूप से सूफियों की देन अवश्य कही जा सकती है। सूफियों का रहस्यवाद और कबीर का

रहस्यवाद समता की अपेक्षा विषमता अधिक रखते हैं। इस दिशा में सूफियों में विदेशी पद्धति है जबकि कबीर में विशुद्ध भारतीयता है।

नाथपंथियों के समान कबीर ने इन्द्रिय-साधना, प्राण-साधना और मन-साधना पर भी बल दिया है। अजपा, सुरति, सहज, निरंजन, नाड़ी साधन और कुंडलिनी साधन आदि बातें कबीर में मिलती हैं, किन्तु स्मरण रखना होगा कि कृच्छ्र-साध्य होने के कारण हठयोग उन्हें पसन्द नहीं था, उन्हें अभिप्रेत तो सहज योग ही था। कबीर का सहज रूप की ओर झुकना कदाचित् रामानन्द के प्रभाव का फल है। यही कारण है कि कबीर हिन्दू और मुसलमानों की साधना की जटिल क्रियाओं, आडम्बरों, अन्धविश्वासों और रूढ़ियों का कड़ा विरोध करते हैं। कबीर में वैष्णवों का प्रपत्तिवाद है, जैनों की अहिंसा और बौद्धों की बुद्धिवादिता है। आचार्य शुक्ल ने कबीर के एकेश्वरवाद को इस्लामिक माना है जबकि हरिऔध ने इनके एकेश्वरवाद को उपनिषदों के अद्वैतवाद से प्रभावित माना है। हमारे विचारानुसार डॉ० त्रिगुणायत सत्य के अधिक निकट हैं। कबीर को कोई भी व्यवस्थित शास्त्रीय ज्ञान नहीं था। वे बहुश्रुत और सारग्राही थे। उन्हें जो भी बात जिस सम्प्रदाय की ग्राह्य प्रतीत हुई, ले ली। उन्हें एक सामान्य भक्ति मार्ग की प्रतिष्टा करनी थी और उसके लिए यही माध्यम उपयुक्त था। विविध सम्प्रदायों के प्रभावों को ग्रहण करते हुए भी उन पर वैष्णवों का विशिष्ट प्रभाव है। उन्होंने अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा वैष्णवों के प्रति अधिक श्रद्धा प्रदर्शित की है। सच तो यह है कि विभिन्न मत मतान्तरों के प्रभावों के होते हुए भी उनका निजी व्यक्तित्व कहीं भी तिरोहित नहीं हुआ। वे साधना क्षेत्र में युग-गुरु और साहित्य क्षेत्र में युग-स्रष्टा हैं। सम्प्रदाय चाहे जो भी हो और जैसा हो, उसकी अनुगति की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं थी, बल्कि उसे वे एक ढकोसला मानते थे। परम व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा ही उनके विचार-दर्शन का मूल आधार था।

रहस्यवाद—कबीर हिन्दी साहित्य में आदि रहस्यवादी कवि माने जाते हैं और इस क्षेत्र में उनका अत्यन्त उच्च स्थान है। आचार्य शुक्ल के अनुसार साधना क्षेत्र में जो ब्रह्म है, साहित्य क्षेत्र में वही रहस्यवाद है। दूसरे शब्दों में रहस्यवाद ब्रह्म से आत्मा के तादात्म्य का प्रकाशन है। आलोचकों ने रहस्यवाद की दो कोटियाँ कर दी हैं—(क) भावनात्मक रहस्यवाद (ख) साधनात्मक रहस्यवाद। कबीर में रहस्यवाद के दोनों रूपों के दर्शन होते हैं। भावनात्मक रहस्यवाद को भी अनेक अवस्थाओं में विभक्त कर दिया गया है—

प्रथमावस्था में परमात्मा की आत्मा दिव्य ज्योति के दर्शन से आकर्षित एवं चकित हो जाती है। कबीर अपने प्रियतम के अलौकिक सौन्दर्य पर विमुग्ध हैं। उनके लिए ईश्वर गूंगे के गुड़ के समान अनिवर्चनीय एवं अकथनीय है। वे कहते हैं—

"कहंत कबीर पुकार कै, अद्भुत कहिये ताहि।"

द्वितीय अवस्था में परमात्मा से मिलने की आतुरता प्रकट की जाती है। इस अवस्था में विरह-मिलन, आशा-निराशा, अभिलाषा-वेदना की अत्यन्त सजीव तरल अभिव्यक्ति होती है। कबीर इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में अद्वितीय ठहरते हैं। कबीर की-सी अनुभूति की तीव्रता, वेदना की पुकार और व्याकुलता की गहराई कदाचित् आज के कलाविज्ञ रहस्यवादी कवियों में भी नहीं मिलती है। कबीर ने मिलन की आतुरता का जिस कलात्मकता और विरह-वेदना का जिस मार्मिकता से वर्णन किया है, वह हिन्दी साहित्य में दुर्लभ है। एक-दो शब्द चित्र द्रष्टव्य हैं :—

आँखड़ियाँ झाईं पड़ी, पंथ निहारि-निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़ या राम पुकारि पुकारि॥
सुखिया सब संसार है खावै और सोवै।
दुखिया, दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥

तृतीय अवस्था आत्मा और परमात्मा के ऐक्य की है। इस सम्बन्ध में कबीर के चित्र अत्यन्त हृदयस्पर्शी बन पड़े हैं—

लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥
तथा
ज्यूं जल में जल पैसिन निकसे, यूं ढरि मिल्या जुलाहा।

डा० त्रिगुणायत कबीर के रहस्यवाद के सम्बंध में लिखते हैं—"कबीर के काव्य में प्रेममूलक भावना-प्रधान रहस्यवाद का अनुभूतिमय प्रकाशन है। रहस्यवाद की अभिव्यक्ति अनुभूति के आश्रय से होती है। अनुभूति भावना से सम्बन्धित है। भावना प्रेम की प्रधान प्रवृत्ति है। यह अनुभूति प्रेम पर अवलम्बित होने के कारण जीव और ब्रह्म में एक अविच्छिन्न और अनन्य सम्बंध स्थापित करती है। प्रेम की चरम परिणति दाम्पत्य प्रेम में देखी जाती है। अतः रहस्यवाद की अभिव्यक्ति सदा प्रियतम और विरहिणी के आश्रय में होती है।" कबीर अपने प्रियतम की अखंड सुहागिनी का स्वांग रचते हुए कहते हैं :—

दुर्लहिन गावहु मंगलाचार।
तन रति करि में मन रति करिहौं पंच तत्त बराती।
रामदेव मोरे पाहुन आये हौं जौबन मदमाती॥

कबीर के प्रियतम मिलन की आतुरता संसार के किसी भी प्रेम व्यापार से अधिक तीखी और चुटीली है। संसार के विरही जनों के विरह का भले ही कभी अन्त होता हो परन्तु कबीर को सदा के लिए विरह व्यथा को झेलना है। रात्रि की समाप्ति के पश्चात् चकवी के लिए चकवे से मिल सकना सम्भव है, परन्तु कबीर के लिए दिन-रैन दोनों समान हैं। उनके विरह का न अर्थ है न इति :—

चकवी बिछुरी रैन की आई मिली परभाति।
जो जन बिछुरे राम से ते दिन मिलै न राति।

विरह कमंडल कर लिये बैरागी दोऊ नैन ।
माँगे दरस मधूकरी छकै रहैं दिन रैन ॥
बासरि सुख ना रैन सुख, ना सुख सपने माँह ।
कबीर बिछुड़्या राम सूंना सुख धूप न छाँह ॥

कबीर में गम्भीर रहस्यमय अनुभूतियों, विरह-व्याकुलता, आत्म-समर्पण की उत्कण्ठा, प्रेमपूर्ण भक्ति, आंतरिक प्रेम की निष्ठा, परमात्मा-मिलन की उत्कट अभिलाषा, विरहिणी के विरह-पेशल हृदय की नाना स्थितियों के बड़े ही हृदयाप्लावी कलात्मक चित्र उपलब्ध होते हैं, जिनमें भावनात्मक रहस्यवाद का आदर्श अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गया है ।

कबीर के प्रणयात्मक चित्रों में शृंगार का स्वरूप चाहे लौकिक हो अथवा अलौकिक, उसमें एक अनुपम रस है । वह अपने लौकिक रूप में घर-गृहस्थियों के लिए जितना आह्लादक है, उतना ही वह मुमुक्षुजनों के आतम राम के लिए आनन्द-दायक है । उनका शृंगार उनके व्यक्तित्व, धर्म और दर्शन के समान कुछ विलक्षण और निराला है । एक ओर जहाँ वह अपने परिष्कृत रूप में लोक-सीमाओं को छूता है, तो दूसरी ओर ऊर्ध्व प्रयास की बलवती प्रेरणा देता है ।

कुछ विद्वानों ने कबीर के रहस्यवाद में अभिव्यक्त प्रेम-पक्ष को सूफियों से प्रभावित माना है, किन्तु हमारे विचार में प्रेम का यह स्वरूप सन्त मत में महाराष्ट्र के भक्ति आन्दोलन के विट्ठल सम्प्रदाय के परम्परागत रूप से आया है । सूफियों और कबीर के रहस्यवाद में एक मौलिक अन्तर है, कबीर के रहस्यवाद में दाम्पत्य भाव की कल्पना का स्वरूप विशुद्ध भारतीय है, जबकि सूफियों में यह कल्पना विदेशी पद्धति पर आधारित है । हाँ, इस दिशा में प्रेम की मादकता दोनों में समान है ।

कबीर में साधनात्मक रहस्यवाद भी देखा जा सकता है । सन्त सम्प्रदाय का सीधा विकास योगियों के नाथ सम्प्रदाय से हुआ, अतः कबीर पर योगियों के हठयोग का प्रभाव है । इनके साहित्य में इंगला, पिंगला, सुषुम्ना, षट्दल, त्रिकुटी, ब्रह्मरन्ध्र सूर्य और चन्द्र आदि हठयोग के पारिभाषिक शब्द मिलते हैं, जिनसे आत्मा और परमात्मा के ऐक्य को द्योतित किया गया, जैसे—

गगन गरजै अमी बादल गहिर गम्भीर ।
चहुदिसि दमके भीजै दास कबीर ॥

इसी प्रकार—

"झीनी-झीनी बीनी चदरिया ।"

कभी-कभी इन्होंने उलटबाँसियों के द्वारा रहस्य भावना को प्रकट करना चाहा है यथा—

'बरसे कम्बल भीजै पानी ।"

कहीं कबीर के रहस्यवाद पर शंकर के अद्वैतवाद का भी प्रभाव स्पष्ट है,

जैसे—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है भीतर बाहर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तत कहौ गयानी ॥

जिस प्रकार शंकर आत्मा और परमात्मा के मिलन में माया का प्रबल अवरोध स्वीकार करते हैं, वैसे ही कबीर ने भी माया को अवरोधक तत्व माना है। कबीर ने माया के प्रतीक कनक और कामिनी की कड़ी भर्त्सना की है। कबीर ने शंकर के समान ईश्वर को ज्ञानगम्य कहा है। कहीं कहीं पर शंकर के समान इन्होंने संसार को मिथ्या भी माना है।

कबीर के पास रूपकों और अन्योक्तियों का भंडार भरा पड़ा है। रहस्यमयी अनुभूतियों को स्पष्ट करने के लिए इन्होने रूपकों और अन्योक्तियों का कलात्मक प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए—

हंसा प्यारे सरवर तजि कह जाय ?
जेहि सरवर बिच मोती चुनते बहु विध केलि कराय ॥

इसी प्रकार उनका एक रूपक देखिये—

सन्तो भाई आयी ज्ञान की आँधी।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी माया रहे न बाँधी ॥

कबीर भावना की अनुभूति से युक्त हैं, उत्कृष्ट रहस्यवादी हैं और जीवन के अत्यन्त निकट हैं।

कबीर काव्य का सामाजिक पक्ष—कबीर मूलत: भक्त हैं, परन्तु उनकी भक्ति केवल आत्म-भक्ति तक ही सीमित रही हो, ऐसी बात नहीं। उसमें अन्त:-संघर्ष के साथ लोक-संघर्ष और निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति भी है। वे एक साथ भक्त, कवि, सुधारक और युग-नेता भी हैं। वे समरथ का परवाना लाए थे, हंस उबारने के लिए। कबीर ने यह सब-कुछ धर्मोपदेशों के माध्यम से किया है। उस समय धर्म ही युग-चेतना का रूप और माध्यम था। ईश्वरोपासना के अधिकार की माँग वास्तव में आर्थिक सामाजिक न्याय की माँग थी और उन बनावटी तथा ऊपर से थोपी गई मर्यादाओं को तोड़ने की माँग थी, जो विशाल जन-समूह को अपने अधिकारों से वंचित किये हुई थीं। यही कारण है कि उस समय के तमाम जन-आन्दोलनों का बाह्य रूप मार्मिक था, तमाम उद्बुद्ध नेता धर्म के नाम पर ही मानव-मुक्ति और मानव-मात्र की समानता और एकता पर जोर देते थे। उन सबने उन तमाम सामाजिक कुरीतियों, अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, साम्प्रदायिक कट्टरताओं, बाह्य विधि-विधानों और कर्मकांड के आडम्बरों पर खुलकर आक्रमण किया है। उस युग के नेता का उद्देश्य था किसी भी माध्यम से जन-समाज में होने वाले किसी भी शोषण को, चाहे वह सामाजिक, धार्मिक या आर्थिक हो, समाप्त करना। इस प्रकार इतिहासपरक दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि कबीर-काव्य में उस युग की मूलभूत समस्याओं का

यथार्थ चित्रण है। इस बात का सारा दायित्व उस समय की परिस्थितियों को है।

निःसंदेह कबीर के समय में मुस्लिम शासन काफी दृढ़ता के साथ भारत में पाँव पसार चुका था और तलवार के बल पर अपने धर्म प्रचार के लिए पूर्णतः कटिबद्ध था, किंतु उस समय हिन्दुओं का उच्च सत्ताधारी वर्ग संघबद्ध इस्लाम का मुकाबला करने की कोशिश कर रहा था। उस समय यहाँ ब्रह्मवादी, कर्मकांडी, शैव, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त आदि अनेक मत प्रचलित थे, जो स्मृति, पुराण, लोकाचार, कुलाचार आदि पर आधारित थे। स्मार्त पंडितों ने शास्त्रीय विवेचन के आधार पर समाज को संगठित करने का प्रयत्न किया, किंतु उन्होंने निम्न जातियों को वर्जनशील समझा। इसकी प्रतिक्रिया में सिद्धों, योगियों तथा संतों ने उच्च सत्ताधारी वर्ग तथा शासक वर्ग के प्रति विद्रोही स्वर अलापा। मुस्लिम आक्रमण भारत के लिए कोई नई वस्तु नहीं थी, हां एक रूप में यह नवीन अवश्य था। इससे पूर्व का आक्रांता वर्ग भारतीय संस्कृति और सभ्यता में आत्मसात् हो गया, किंतु मुस्लिम अपनी ऐकान्तिक कट्टरता के कारण भारतीय जनता से अलग-अलग बने रहे, शासक और शासित का भेद-भाव बना रहा। हिन्दू और मुस्लिम जातियों में परस्पर वैमनस्य और विद्वेष चरम सीमा को पहुंचता गया। मुसलमानों के प्रारम्भिक आक्रमणों के कुछ समय पूर्व उत्तर भारत में निम्न वर्ग की जातियों की ओर से विद्रोह का झण्डा लहराया जाने लगा था। बिहार में बौद्ध धर्म का प्रभाव समाप्त होते ही वज्रयान संप्रदाय के रूप में बौद्ध सिद्धों का प्रभाव पड़ा, जो अधिकतर समाज की उपेक्षित और निम्न श्रेणियों से आते थे। नाथ सम्प्रदाय इन सिद्धों का विकसित रूप है। सिद्धों और नाथों ने शास्त्रीय स्मार्त मत को ठुकराया तथा उपनिषद्, ब्रह्म सूत्र के मतवाद को हेय ठहराया। इन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था पर सीधी चोट की और कर्मकांड के जटिल विधि-विधानों पर निर्मम प्रहार किये। इधर सुदूर दक्षिण के आलवार भक्तों का भक्ति का आन्दोलन अब रामानन्द के नेतृत्व में उत्तर भारत में पहुंच चुका था, जिसमें ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव नहीं था और भक्ति क्षेत्र में सबको समान अधिकार प्राप्त था। कबीर रामानन्द की शिष्य परम्परा में थे।

कबीर के समय देश में धर्म की एक और धारा प्रवाहित हो रही थी, वह थी सूफी साधना की धारा। सूफी लोग इस्लाम के एकेश्वरवाद से संतुष्ट न थे और भगवान् को विशिष्टाद्वैतवादी वेदान्तियों की तरह मानते थे। ये लोग मुसलमान उल्माओं की तरह कट्टर और सकीर्ण मतवादी न थे और न ही इन्हें मुस्लिम धर्म के कर्मकांड पक्ष (शरीयत) पर विश्वास था। इस प्रकार कबीर के समय में और उससे पहले धार्मिक आन्दोलनों के रूप में जनता का विद्रोह तीन धाराओं में फूटा और जनवादी कबीर ने इन तीनों को सम्यक् रूप से आत्मसात् करके सर्वसाधारण जनता के लिए एक सामान्य मार्ग का निर्देश किया :

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम के, पढ़े सो पडित होय॥

डॉ० हजारी प्रसाद के शब्दों में "कबीर ऐसे ही मिलन बिन्दु पर खड़े थे, जहां से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ से एक ओर ज्ञान निकल जाता है और दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ पर एक ओर भक्ति मार्ग निकल जाता है और दूसरी ओर योग मार्ग, जहां से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है और दूसरी ओर सगुण साधना—उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गये हुए मार्गों के दोष, गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। वह कबीर का भगवद्दत्त सौभाग्य था। उन्होंने इसका खूब उपयोग भी किया।"

कबीर ने जातिगत, वंशगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत और शास्त्रगत रूढ़ियों और परम्परा के मायाजाल को बुरी तरह छिन्न-भिन्न किया है। एक ओर वे पंडितों को खरी-खोटी सुनाते हैं तो दूसरी ओर मुल्ला की कटु आलोचना करते हैं। एक ओर मन्दिर तथा तीर्थाटन आदि की निस्सारता बताते हैं तो दूसरी ओर मस्जिद और हज्ज-नमाज की निरर्थकता सिद्ध करते हैं। वे पुकार उठते हैं:—

"अरे इन दोउन राह न पाई'
हिन्दुन की हिन्दुआई देखी तुरकन की तुरकाई।"

वर्णाश्रम व्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं—"तुम किस प्रकार ब्राह्मण हो और हम किस प्रकार शूद्र, हम किस प्रकार घृणित रक्त हैं और तुम किस प्रकार पवित्र दूध हो।" इधर बनारस के ठग संतों का भंडा फोड़ते हुए कहते हैं—"साढ़े तीन गज की धोती पहने हुए, तिहरे तागे लपेटे हुए, गले जयमाला डाले हुए और हाथ में माला लिये हुए इन अभागों को हरि का संत नहीं कहना चाहिए, ये लोग तो बनारस के ठग हैं।" राज्य की ओर से की गई न्याय-व्यवस्था के आडम्बर पर चोट करते हुए वे कहते हैं—"काजी तुमसे ठीक तरह बोलते नहीं बना, हम तो दीन बेचारे ईश्वर के सेवक हैं और तुम्हारे मन को राजसी बातें ही भाती हैं। लेकिन इतना समझ लो कि ईश्वर, धर्म के स्वामी ने कभी अत्याचार करने की आज्ञा नहीं दी।" सच यह है कि वे सुकरात थे जो सत्य न्याय के लिए बड़ी से बड़ी यन्त्रणा को सहने को तैयार थे। उन्होंने युगानुरूप मानवीय आदर्शों की स्थापना की। कबीर का जीवन और काव्य भारत की सामन्ती व्यवस्था की रूढ़ियों, पाखंडों और मिथ्याचार के प्रति एक जिहाद है। मध्य युग के गहन कुहासे में कबीर की वाणी ने अमर आलोक का काम किया और आज का प्राणी भी उससे बहुत कुछ प्रकाश पाता है डॉ० शिवदानसिंह चौहान के शब्दों में "यह कहकर कि 'साईं के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय' उन्होंने मानव मात्र की समानता का सिद्धांत प्रचारित किया और ईश्वर की धर्मोपासना के लिए सबके लिए समान अधिकार की माँग की। इस विराट् जन-आन्दोलन के सबसे प्रमुख और कृती नेता के रूप में उन्होंने अपने मुख से जो कहा, उसमें हमें उनके युग का पूरा चित्रण मिलता है और भविष्य के लिये एक जीवन संदेश

भी। कबीर की यह मान्यता थी कि व्यक्ति समाज की इकाई है। समाज की सप्राणता और सुगठिता व्यक्ति के गुणों और आचरण पर निर्भर करती है। समाज की समरूपता तभी निश्चित है जबकि जाति, वर्ण और वर्गभेद न्यून से न्यून हों। कबीर की साधना वैयक्तिक और अध्यात्मिक होते हुए भी समष्टिपरक हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार बकले मध्ययुगीन भारतीय इतिहास की परिस्थितियों का सिंहावलोकन करते हुए लिखते हैं—"जनता की धर्मान्धता तथा शासकों की नीति के कारण कबीर के जन्म-काल के समय में हिन्दू-मुसलमान का पारस्परिक विरोध बहुत बढ़ गया था। धर्म के सच्चे रहस्य को भूलकर कृत्रिम विभेदों द्वारा उत्तेजित होकर दोनों जातियाँ धर्म के नाम पर अधर्म कर रही थीं। ऐसी स्थिति में सच्चे मार्गप्रदर्शन का श्रेय कबीर को है। यद्यपि कबीर के उपदेश धार्मिक सुधार तक ही सीमित हैं, तथापि भारतीय नव युग के समाज सुधारकों में कबीर का स्थान सर्वप्रथम है, क्योंकि भारतीय धर्म के अंतर्गत दर्शन, नैतिक आचरण एवं कर्मकांड तीनों का समावेश है।" कबीर ने शताब्दियों की संकुचित चित्तवृत्ति को परिमार्जित कर समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उदार बना दिया, यही उनकी विशेषता है।

काव्य-समीक्षा—कबीर संत पहले हैं, कवि बाद में। उनकी वाणी में धार्मिक दृष्टिकोण की प्रधानता है, काव्यगत दृष्टिकोण गौण। कविता उनका उद्देश्य नहीं थी बल्कि वह समरथ का परवाना एवं संदेश पहुँचाने की साधना थी, साध्य नहीं थी। उन्होंने कागद-मसी को छूआ तक नहीं था और न ही कवि-कर्म का उन्होंने विधिवत् अध्ययन किया था। उन्होंने कहीं भी कविता करने की प्रतिज्ञा भी नहीं की, परन्तु फिर भी उनकी काव्य-गगरी में अमित रस एकत्रित हुआ है, जो कि किसी भी साहित्य का शृंगार हो सकता है। डॉ० रामकुमार इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"कबीर का काव्य बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली है। यद्यपि कबीर ने पिंगल और अलंकार के आधार पर काव्य रचना नहीं की तथापि उनकी काव्यानुभूति इतनी उत्कृष्ट थी कि वे सरलता से महाकवि कहे जा सकते हैं। कविता में छन्द और अलंकार गौण हैं, संदेश प्रधान है। कबीर ने अपनी कविता में महान् संदेश दिया है। उस संदेश के प्रकट करने का ढंग अलंकार से युक्त न होते हुए भी काव्यमय है।"

हिन्दी के कुछ आलोचकों ने कबीर को कवि स्वीकार करने में संकोच दिखाया है। उनका कहना है कि कबीर को छंद और अलंकार शास्त्र का ज्ञान नहीं था। वे दोहा, छन्द को ठीक-ठीक नहीं लिखते और न ही अनुप्रासादि अलंकारों की चकाचौंध पैदा कर सकते हैं। उनकी भाषा अटपटी और बेठिकाने की है, उसमें ग्राम्य दोष है। अस्तु, कबीर की योगपरक रचनाओं में नीरसता है, उनकी उलटबाँसियों में शुष्कता है और उनकी आलोचनात्मक कटूक्तियों में काव्य के स्थान पर भर्त्सना और तिलमिला उठने की भावना है। परन्तु, इतना होने पर भी कबीर को कवि पद से वंचित करना कदाचित् उनके साथ अन्याय करना होगा।

सच्चे काव्य और सच्ची कला की कसौटी अनुभूति की सच्चाई है। कबीर इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। उन्हें कागद लेखी पर विश्वास नहीं, आँखन देखी पर विश्वास है। उन्होंने बिना किसी लाग-लपेट, आडम्बर और कृत्रिमता के जन-जीवन सम्बन्धी अनुभूतियों को सरल और सीधे ढंग से अभिव्यक्त किया है, उन पर अलंकारों का मुलम्मा चढ़ाने की चेष्टा नहीं की, परन्तु फिर भी उनमें जीवन का सत्य निर्मल स्फटिक मणि के समान देदीप्यमान है। कबीर की वह सरल शब्दों में आत्माभिव्यक्ति उनके उस अतुल आत्मविश्वास की शक्ति से अनुप्राणित है कि वह सहज में हृदय पर प्रभाव करती है। मीरा का काव्य अलंकारों और पिंगल की खराद पर पूरा नहीं उतरता, किन्तु इसी आधार पर उन्हें कवि पद से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता है। कविता की मर्यादा जीवन की भावात्मक और कल्पनात्मक विवेचना में है। यह विवेचना कबीर में पर्याप्त है। कबीर के कवि में यथेष्ठ सरसता, द्रवणशीलता और मार्मिकता है। कबीर का काव्य उस स्थान पर तो बहुत ऊँचा उठ गया है, जहाँ उन्होंने विरहिणी आत्मा के स्पन्दन, हास और रुदन, मिलन और बिछुड़न के साकार चित्र अंकित कर दिये हैं। ऐसे स्थलों में उनके सन्त, साधक, कवि, भक्त, सुधारक और नेता समस्त रूप एक हो गये हैं और दरअसल यहाँ पर उनका काव्य एक अलौकिक वस्तु बन गया है। उनके एक दो ऐसे सौन्दर्यपूर्ण चित्र द्रष्टव्य हैं:—

> सुपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय।
> आँख न खोलूं डरपता मति सपना हो जाय॥
> नैनों अन्दर आव तू नैन झाँपि तोही लेऊं।
> ना में देखूँ और को ना तोहि देखन देऊँ॥

कबीर के काव्य का विषय भक्ति है जो एकमात्र अनुभूति का विषय है। उसकी अभिव्यक्ति भाषा की शक्ति से बाहर है, किन्तु उस सूक्ष्म विषय की कबीर की वाणी में अत्यन्त कलात्मक अभिव्यक्ति हुई है। यह कबीर के सफल कवि के लिए कोई कम गौरव और महत्त्व की नहीं है। डॉ० हजारीप्रसाद के शब्दों में "इस प्रकार कबीर ने रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना की है, कथन के सहारे अकथ्य को कहा और इसी में हमें कबीर के काव्य का चरम रूप मिलता है। काव्य-शास्त्र के आचार्य इसे ही कवि-कर्म की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं।"

भले ही कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे, परन्तु वे बहुश्रुत अवश्य थे। वे एक सिद्ध कवि की भाँति काव्य परम्पराओं, कवि-समयों तथा कवि-कर्म के अन्य ज्ञातव्य रहस्यों से परिचित थे। उन्हें यह सब कुछ परम्परा से प्राप्त हुआ था। उन्हें भावों को सहज में चमत्कृत कर देने वाले अलंकारों का भी ज्ञान था। उनके काव्य में रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, प्रतिवस्तूपमा, यमक, अनुप्रास, मालोपमा, विरोधाभास, निदर्शना, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास तथा पर्यायोक्ति आदि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग है। रूपक अलंकार

के प्रयोग में वे इतने लब्धप्रतिष्ठित हैं, जितना कि कालिदास अपनी उपमाओं के लिए। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

नैनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाई ।।
पलकों की चिक डारि के पिय को लिया रिझाई ।।

कबीर अपनी शैली के स्वयं निर्माता हैं। उनका समस्त काव्य मुक्तक शैली में है। उनके व्यक्तित्व के समस्त भोलापन, अक्खड़पन और मौजीपन उनकी शैली में अवतरित हो गये हैं, अतः उसमें प्रभावात्मकता, बल और ओज हैं। इनकी भाषा खिचड़ी भाषा है, जिसको कि कई विद्वानों ने अव्यवस्थित और अपरिष्कृत कहा है, पर यह स्मरण रखना होगा कि उनकी भाषा में अभिव्यक्ति के सभी आवश्यक उपकरण मौजूद हैं। उन्होंने भावों की अभिव्यक्ति के लिए कहीं भी भाषा-सम्बन्धी विवशता का अनुभव नहीं किया। डॉ० हजारीप्रसाद के शब्दों में "भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया ; बन गया तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ लाचार-सी कबीर के सामने नजर आती है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य रसिक काव्यानन्द का आस्वाद कराने वाला न समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता है।"

कबीर का अभिव्यक्ति-पक्ष चाहे सूर, तुलसी और केशव का-सा न हो, परन्तु जो कुछ है, वह इतना पर्याप्त है कि वे किसी रियायत से नहीं वरन् ईमानदारी से कवि कहला सकते हैं। डॉ० श्यामसुन्दरदास इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"कबीर ने अपनी उक्तियों पर बाहर से अलंकारों का मुलम्मा नहीं लगाया, जो अलंकार मिलते हैं, वे उन्होंने खोज-खोजकर नहीं बिठाये।" मानसिक कलाबाजी और कारीगरी के अर्थ में कला का उनमें सर्वथा अभाव है, किन्तु सच्ची कला के लिए तथ्य की आवश्यकता है। "भावकता के दृष्टिकोण से कला आडम्बरों के बन्धन से निर्मुक्त तथ्य है।" एक विद्वान् द्वारा प्रयुक्त इस काव्य परिभाषा को यदि काव्य क्षेत्र में प्रयुक्त करें तो बहुत कम कवि सच्चे कलाकारों की कोटि में आ सकेंगे। किन्तु कबीर का आसन इस ऊँचे स्थान पर अविचल दिखाई देता है। सर्वप्रियता और प्रभाव भी कवि सफलता के मानदण्ड स्वीकार किए जा सकते हैं, इस दृष्टि से कबीर साधना-क्षेत्र में युग-गुरु और साहित्य क्षेत्र में भविष्य-स्रष्टा हैं। सन्त सम्प्रदाय तो इनसे प्रभावित है ही, साथ-साथ सूफी कवि जायसी, रहीम और रसखान आदि को भारतीय भावना अपनाने की प्रेरणा कबीर से मिली। सिक्खों के आदिगुरु नानक तथा दूसरे गुरु कवि इनसे प्रभावित हैं। आज के राष्ट्रीय कवियों में मैथिलीशरण गुप्त तथा सोहनलाल द्विवेदी आदि के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता का पथ कबीर बहुत पहले से प्रशस्त कर चुके हैं। हिन्दी के सूक्तिकार वृन्द, गिरधर और दीनदयाल आदि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कबीर के ऋणी हैं। रहस्यवादी क्षेत्र में वे आदिकवि ठहरते हैं। इस क्षेत्र में रवीन्द्र तथा हिन्दी के आधुनिक रहस्यवादी कवि कबीर के प्रति आभारी हैं। गाँधीजी इनके

सत्यानुप्राणित काव्य से अत्यन्त प्रभावित थे। कबीर के भाव-प्रवण-हृदय की भावुकता कहीं-कहीं हठयोग के सैद्धान्तिक निरूपण से दब गई है, किन्तु अधिकांश पदों में प्रातः समीकरण का रम्य सौरभ है, जो जन-मन-कलिका को आह्लादित और विकसित कर देता है। सच यह है कि कबीर की वाणी जनता की वाणी है, इसलिए वह अनायास ही जनता के हृदय का हार बन सकी और कबीर भारतीय जनता के सुख-दुःख के साथी बन गये। इस संबंध में आचार्य द्विवेदी लिखते हैं—"सच पूछा जाय तो जनता कबीरदास पर श्रद्धा करने की अपेक्षा प्रेम अधिक करती है। इसलिए इनके सन्त रूप के साथ कवि रूप बराबर चलता रहता है। वे केवल नेता और गुरु हैं साथी और मित्र भी हैं।" कबीर के अप्रतिम व्यक्तित्व के समान इनके काव्य के विलक्षण प्रभाव को आचार्य शुक्ल ने भी स्वीकार किया है "भाषा बहुत परिष्कृत और परिमार्जित न होने पर भी कबीर की उक्तियों में कहीं-कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार है।' आचार्य हजारीप्रसाद के शब्द भी इस सम्बन्ध में अत्यन्त महत्वपूर्ण बन पड़े हैं—"हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है—तुलसीदास।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कबीर साहित्य और धर्म के क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति के जनक थे, आलोचना की एक नवीन शैली के जन्मदाता तथा एक सफल कवि थे। कबीर के काव्य के सौष्ठव को जानने के लिए उनके समस्त काव्य की थाह लेनी होगी। केवल उसकी सतह को छूने से शायद कुछ भी उपलब्ध न हो। कबीर की निम्नांकित उक्ति जीवन और उनके काव्य पर समान रूप से चरितार्थ होती है—

जिन ढूंढा तिन पाइयां गहरे पानी पैठि।
मैं बपुरा बूडन डरा, रहा किनारे बैठि॥

<u>रैदास (रविदास)</u>—जीवन वृत्त—रैदास (रविदास) रामानन्द की शिष्य परंपरा में थे। कबीर के समकालीन सन्तों में इनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है। आप कदाचित् आयु में कबीर से बड़े थे। इन्होंने स्वयं अपनी जाति चमार बताई है—"कह रैदास खलास चमारा।" इनके महत्व को बढ़ाने के लिए इन्हें पूर्व जन्म में ब्राह्मण बताया गया है। ऐसा प्रसिद्ध है कि ये नित्य प्रति ढोरों का व्यवसाय करते हुए माया का परित्याग करके भगवद्दर्शन में समर्थ हो सके थे। आप काशी में रहा करते थे। सन्त रविदास पढ़े-लिखे नहीं थे, कबीर के समान बहुश्रुत थे। मीराबाई ने इन्हें अपने गुरु के रूप में स्मरण किया है। चमार जाति के लोग अपने आपको रविदासी कहते हैं।

मन्तव्य—इनमें संतों की सहज सरलता, उदारता, निस्पृहा, संतुष्टि और तितिक्षा आदि गुण थे। ये भगवत्-प्राप्ति के लिए अहंकार की निवृत्ति को आवश्यक

मानते थे। कबीर के समान इनके भी ईश्वर निराकार थे। इन्होंने भी कबीर की भाँति निराकार को हरि आदि शब्दों से पुकारा है, किन्तु इनके ईश्वर सगुण न होकर निर्गुण हैं। इनकी भक्ति प्रेम-भाव की है। कबीर का माधुर्य भाव भी इन्हें अभीष्ट है। इनका कहना है कि उस परमात्मा का यथार्थ परिचय केवल सुहागिन ही प्राप्त कर सकती है क्योंकि वह अपने आपको सर्वात्मना भावेन अर्पण कर देती है।

रचनाएँ एवं काव्य-महत्व—गुरु ग्रंथ साहब तथा अन्य कई संग्रहों में इनके पद बिखरे हुए मिलते हैं। कहा जाता है कि इनकी बहुत-सी रचनाएँ राजस्थान में अभी तक हस्तलिखित रूप में मिलती है। इनकी रचनाओं का एक संग्रह "रैदास की बानी" बेलवेडियर प्रेस प्रयाग मे प्रकाशित हो चुका है। इनकी भाषा काफी सरल और सुगम है। इनकी वाणी में फारसी के शब्दों की बहुलता है। संभवतः फारसी भाषा उस समय तक राज-सम्मान प्राप्त कर चुकी थी और जन-साधारण में भी उसका प्रवेश हो गया था। आचार्य द्विवेदी इनकी कविता की विशेषता बताते हुए लिखते हैं—"साधारणतः निर्गुण सन्तों में कुछ-न-कुछ सुरति, निरति और इंगला, पिंगला का विचार आ ही जाता है। रैदास के कुछ भजनों में भी वे स्पष्ट आये हैं परन्तु रैदास की वाणियाँ इन उलझनदार बातों से मुक्त हैं यद्यपि उनमें अद्वैत वेदान्तियों के परिचित उपमानों तथा नाथों और निरंजनों के सहज, शून्य आदि शब्द भी आ जाते हैं, फिर भी उनमें किसी प्रकार की वक्रता या अटपटापन नहीं है और न ज्ञान के दिखाने का आडम्बर ही है। आगे चल कर वे लिखते हैं—"आडम्बर सहज शैली और निरीह आत्म-समर्पण के क्षेत्र में रैदास के साथ कम सन्तों की तुलना की जा सकती है। यदि हार्दिक भावों की प्रेषणीयता काव्य का उत्तम गुण हो तो निःसन्देह रैदास के भजन इस गुण से समृद्ध हैं।" इनकी कविता का नमूना देखिये :

तीरथ बरत न करौं अंदेशा। तुम्हारे चरनं कमल भरोसा।।
जहँ तहँ जाओ तुम्हारी पूजा। तुमसा देव और नहीं दूजा।।

नानक देव जीवन-वृत्त—सिक्ख मत के प्रवर्तक श्री गुरु नानक देव जी का जन्म सं० १५२६ विक्रमी तिलवंडी नामक गाँव में हुआ। इनके पिता का नाम कालूराम था जो एक साधारण पटवारी थे। इनकी माता का नाम तृप्ता था। १७ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह वटाला (गुरुदासपुर) निवासी मूलचन्द खत्री की कन्या सुलक्खना से हुआ। उससे दो पुत्र उत्पन्न हुए—श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द। श्रीचन्द प्रसिद्ध उदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक बने। गुरु नानक देव बाल्यकाल से ही साधु वृत्ति के थे। किसी नौकरी या व्यवसाय में इनका मन नहीं लगा। बाल्य-काल में इनकी शिक्षा पं० ब्रजनाथ शर्मा तथा मौलाना कुतुबुद्दीन के यहाँ हुई। इनका पंजाबी, हिन्दी, फारसी तथा संस्कृत से अच्छा परिचय था। गृहस्थी में नानक का मन रमा नहीं। इन्होंने देश-विदेश का भ्रमण किया तथा यात्रा में अनेक जैन साधुओं, मुसलमान फकीरों, योगियों तथा संतों का सत्संग किया। रैदास तथा नामदेव के साथ इनकी भेंट हुई थी। किंवदन्ती है कि इसकी भेंट कबीर से भी हुई थी, किन्तु इस

सम्बध में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है।

मन्तव्य—नानक देव अधिक विद्वान् तथा शास्त्री-ज्ञानी नहीं थे। वे बहु-श्रुत तथा निजी अनुभव के धनी थे। वे निराकारवादी थे। उन्होंने अवतारवाद, मूर्ति पूजा, ऊँच-नीच और वर्णभेद का विरोध किया है। हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए तथा ब्रह्म (अकाल पुरुष) की प्राप्ति के लिए सीधे-सादे उपदेश दिये। उन में कहीं भी वक्रता और खंडनात्मकता नहीं है उनकी आध्यात्मिक क्षेत्र सम्बन्धी मान्यताएँ प्रायः वे ही हैं जो कि दूसरे सन्तों की। उनके पदों में भक्ति, सरलता, दीनता और आत्म-समर्पण की भावनाएँ मार्मिक बन पड़ी हैं।

रचना : उसका महत्त्व—गुरु नानक देव समय-समय पर जो पद रचते रहे उसका संग्रह होता रहा। उनके तथा उनके पीछे के गुरुओं के द्वारा रचे गये पदों को सिक्ख धर्म के छठे गुरु अर्जुन देव ने १६०४ ई० में संकलित करके "गुरु ग्रंथ साहब" का निर्माण किया। दसवें गुरु गोविन्द सिंह तक गुरु द्वारा रचे गए पदों को जोड़ दिया गया। आज यह ग्रंथ सिक्ख सम्प्रदाय का सिद्धांत ग्रंथ माना जाता है। इस ग्रन्थ में संकलित पद पंजाबी, ब्रज भाषा तथा नागरी भाषा में हैं। इसमें कहीं भी विचारों की संकीर्णता, अनुदारता तथा संम्प्रदायिक असहिष्णुता नहीं। इसमें अभिव्यक्त विचार एक शुद्ध निर्गुणवादी हिन्दू के हैं। सिक्खों को हिन्दु धर्म को अलग समझने की प्रवृत्ति अंग्रेजों की राजनीति की देन है, जो कि आज स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी अपने नये रंग ला रही है।

गुरु नानक देव की वाणी में एक अद्भुत प्रेरणादायिनी शक्ति है। ऐसी अलौकिक शक्ति किसी भी अन्य मध्ययुगीन सन्त की वाणी में नहीं है। आचार्य हजारीप्रसाद इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"जिन वाणियों से मनुष्य के अन्दर इतना बड़ा अपराजेय आत्म-बल और कभी समाप्त न होने वाला साहस प्राप्त हो सकता है, उनकी महिमा निःसंदेह अतुलनीय है। सच्चे हृदय से निकले हुए भक्त के अत्यन्त सीधे उद्गार और सत्य के प्रति दृढ़ रहने के उपदेश कितने शक्तिवाली हो सकते हैं यह नानक की वाणियों ने स्पष्ट कर दिया है।" इनकी कविता का एकाध नमूना देखिये:—

रैन गंवाई सोइ कै, दिवसु गँवाइया खाय।
हीरे जैसा जन्मु है, कउड़ी बदले जाय॥

दादू दयाल : जीवन वृत्त—इनका जन्म सं० १६०१ विक्रमी में गुजरात प्रदेश के अहमदाबाद नगर में हुआ। इनके जन्म के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि दादू एक छोटे से बालक के रूप में साबरमती नदी में बहते हुए किसी ब्राह्मण को मिले थे। कुछ इन्हें लोदी रामनागर का पुत्र मानते हैं। इनके शिष्य रज्जब ने भी इन्हें धुनिया कहा है। बंगाल के बाउल सम्प्रदाय में इनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है। इससे भी इनके मुसलमान धुनिया होने का अनुमान

लगाया जा सकता है। सम्भवत: ये निरक्षर थे। इन्हें कबीर पंथी वुड्ढन बाबा (वृद्धानन्द अथवा ब्रह्मानन्द) से दीक्षा मिली थी। ये गृहस्थी थे। इनके पुत्र-पुत्रियों का नाम भी लिया जाता है। ये काफी भ्रमणशील थे। सन् १५५६ ई० में अकबर के निमन्त्रण पर वे फतहपुर सीकरी गये और वहाँ अकबर के साथ काफी दिनों तक आध्यात्मिक चर्चा करते रहे। सम्राट् अकबर इनके उपदेश से अत्यन्त प्रभावित हुआ था। इनका देहान्त १६०३ ई० को नरौना जयपुर में हुआ।

मन्तव्य—दादू का स्वभाव अत्यन्त सरल था। वे त्यागी और क्षमाशील थे। प्राय: सन्त मत की समस्त मान्यताएँ इनके काव्य में देखने को मिलती हैं। ये स्वभाव से बड़े दयालु थे, कदाचित् इसी कारण ये दादूदयाल कहलाये। इन्होंने ब्रह्म या परब्रह्म नाम का एक संप्रदाय चलाया किन्तु यह आज दादू संप्रदाय के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। इस संप्रदाय के लोग कोई साम्प्रदायिक चिन्ह धारण नहीं करते, जप करने की केवल सुमिरनी लिये रहते हैं। सूफियों की भाँति इन्होंने भी प्रेम को भगवान् की जाति और रूप कहा है।

रचना : उसका महत्व—दादूदयाल के शिष्यों ने उनकी वाणी के संग्रह "हरडे वाणी" तथा "अंग वधू" नाम से किये थे। वर्तमान युग में अजमेर, काशी, जयपुर और प्रयाग से उनके संकलन प्रकाशित हुए हैं और प्रसिद्ध विद्वान् क्षितिमोहन सेन ने बंगला में दादू नाम का जो अध्ययन ग्रन्थ प्रस्तुत किया है, उसमें भी उनका समावेश है। दादू दयाल की रचनाओं की संख्या बीस हजार कही जाती है किन्तु हमारा विचार है कि यह उनके पदों की संख्या होगी और यह संख्या भी असंदिग्ध नहीं कही जा सकती। इनकी भाषा राजस्थानी मिश्रित पश्चिमी हिन्दी है। अरबी और फारसी के शब्दों का भी उसमें बहुत प्रयोग है। उनकी वाणी में कबीर जैसा वाग्वैदग्ध्य नहीं है, पर सरसता और गम्भीरता पर्याप्त है। उसमें आध्यात्मिक वातावरण की सुन्दर सृष्टि हुई है। दादू में खंडनात्मकता का स्वर इतना तीव्र नहीं जितना कि कबीर में। आचार्य द्विवेदी दादू और कबीर का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए लिखते हैं—"कबीर के समान मस्तमौला न होने के कारण वे प्रेम के वियोग और संयोग के रूपकों में वैसी मस्ती नहीं ला सके, पर स्वभावत: सरल और निरीह होने के कारण ज्यादा सहज और पुर असर बना सके हैं।......दादू को मैदान बहुत कुछ साफ मिला था और उसमें उनके मीठे स्वभाव ने आश्चर्यजनक असर पैदा किया। यही कारण है कि दादू को कबीर की अपेक्षा अधिक शिष्य और सम्मानदाता मिले।"

दादू की कविता का एक नमूना देखिये, जिसमें उनके मत का सार समाहित है :—

> आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
> निर्वैरी सब जीव सों, दादू यहै मत सार॥

सुन्दरदास : जीवनवृत्त—सुन्दरदास दादू के शिष्यों में सर्वाधिक शास्त्रीय ज्ञान-सम्पन्न महात्मा थे। वे बसुर गोत के खंडेलवाल वैश्य थे। इनका जन्म सं०

१६५३ में जयपुर राज्य की पुरानी राजधानी द्यौसा में हुआ। इन्होंने छोटी ही अवस्था में दादू दयाल का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था। ग्यारह वर्ष की आयु में इन्होंने काशी जाकर दर्शन, साहित्य, व्याकरण, वेदान्त और पुराणों का गम्भीर अध्ययन निरन्तर अठारह वर्ष लगाकर किया। फारसी से भी इनका परिचय अच्छा था। भ्रमण की ओर इनकी विशेष रुचि थी। इनका देहान्त सं० १७४६ को हुआ।

रचनाएँ—सुन्दरदास ने कुल मिलाकर छोटे-बड़े ४२ ग्रंथों की रचना की है। ये सभी रचनाएँ सुन्दर ग्रन्थावली के नाम से संकलित हैं। इनके ग्रन्थों में "सुन्दर विलास अथवा सवैया" बहुत प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों में गृहीत विषयों के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी लिखते हैं—"विषय अधिकांश में संस्कृत ग्रंथों से संगृहीत तत्ववाद है जो हिन्दी कविता में नई चीज होने पर भी शास्त्रीय ज्ञान रखने वाले सहृदयों के लिए विशेष आकर्षक नहीं है। छत्र बंध आदि प्रहेलिकाओं से भी उन्होंने अपने काव्य को सजाने का प्रयास किया है। असल में सुन्दरदास सन्तों में अपने बाह्य उपकरणों के कारण विशेष स्थान के अधिकारी हो सके हैं। फिर भी इस विषय में तो कोई सन्देह नहीं कि शास्त्रीय ढंग के वे एकमात्र निर्गुणिया कवि हैं।" सन्त कवियों में इन्हें एकमात्र काव्य-कौशल-निष्णात कहा जा सकता है। इनकी कविता सम्बन्धी मान्यता है :—

> बोलिये तो तब जब बोलिबे की बुद्धि होय,
> ना तौ मुख मौन गहि चुप होय रहिये।
> जोरिये तौ तब जब जोरिबे की रीति जानै,
> तुक छन्द अरथ अनूप जामें लहिये॥

ये शृंगार रस के प्रबल विरोधी थे। सन्त होते हुए भी इन्हें हास्य रस से विशेष अनुराग था। इनकी बहुत-सी उक्तियों में हास्य, व्यंग्य एवं विनोद की सुन्दर सृष्टि हुई है। इन्होंने नारी की निन्दा भी भरपूर की है। काव्य-शास्त्र का सम्यक ज्ञान होने के कारण इनकी कविता में रस-निरूपण तथा अलंकारों की सृष्टि विधिवत् हुई है। कई आलोचकों ने इन्हें कवि के नाते सन्त संप्रदाय के कवियों में शीर्ष स्थान प्रदान किया है। किन्तु यह स्मरण रखना कि भावना का सहज एवं अकृत्रिम विकास जो अन्य निरक्षर सन्तों में हुआ है वह सुन्दरदास में नहीं। इस सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी के विचार द्रष्टव्य हैं—"इसका परिणाम यह हुआ कि इनकी कविता के बाह्य उपकरण तो शास्त्रीय दृष्टि से कदाचित् निर्दोष हो सके थे, पर वक्तव्य विषय का स्वाभाविक वेग जो इस जाति के संतों की सबसे बड़ी विशेषता है, कम हो गया।"

मलूकदास—सन्त मलूकदास का जन्म इलाहाबाद जिले के कड़ा गाँव में सं० १६३१ में हुआ। इनके पिता का नाम सुन्दरलाल खत्री था जिनकी कक्कड़ की उपाधि थी। मुरार स्वामी नाम के महात्मा से इन्हें दीक्षा मिली थी। ये आजीवन गृहस्थी रहे और सं० १७३९ में इन्होंने कड़ा गाँव में प्राण छोड़े।

रचनाएँ— निम्नलिखित रचनाएँ इनसे सम्बद्ध बताई जाती हैं—(१) ज्ञान बोध, (२) रतन खान, (३) भक्त बच्छावली, (४) भक्त विरुदावली, (५) पुरुष विलास, (६) दस रत्न ग्रन्थ, (७) गुरु प्रताप, (८) अलख बानी (९) रामावतार लीला। पर इनमें कितनी प्रामाणिक रूप से मलूक द्वारा लिखित हैं, निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। इनके चुने हुए ग्रन्थों और साखियों का एक संग्रह मलूकदास जी के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

मन्तव्य—इन्होंने मलूक पंत के नाम से एक पंथ चलाया। इनके विश्वासनुसार आत्म-ज्ञान ही मुक्ति है। आत्म-समर्पण इनकी भक्ति का सार कहा जा सकता है। निम्नांकित दोहा जो आलसियों का एकमात्र मूल मन्त्र है, मलूकदास से सम्बद्ध बताया जाता है:—

> अजगर करे न चाकरी, पंछी करै न काम।
> दास मलूका कह गये, सबके दाता राम।।

पर हमारे विचारानुसार यह दोहा मलूक पथ प्रवर्तक से सम्बद्ध न होकर किसी और मलूक नाम के व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है।

काव्य-समीक्षा—इनकी भाषा में अरबी, फारसी के शब्दों का प्राचुर्य है परन्तु फिर भी वह काफी सरल और सुव्यवस्थित है। इनके कई-कई पद तो अच्छे कवियों के पदों से टक्कर ले सकने वाले हैं। इनकी कविता का एक और नमूना द्रष्टव्य है:—

> माला जपौं न कर जपौं, जिभ्या कहौं न राम।
> सुमिरन मेरा हरि करै, मैं पाया बिसराम।

भक्ति काल : सूफी प्रेम काव्य

साधारण परिचय—भारत के मध्य युग के इतिहास में जहाँ निराकारवादी सन्तों ने सर्वसाधारण के लिए भक्ति के सामान्य मार्ग की प्रतिष्ठा की और ईश्वर को ज्ञानगम्य एवं प्रेम प्राप्य कहकर हिन्दू-मुसलमानों के बीच भेद-भाव की खाई पाटने का प्रयत्न किया, उसी समय सूफी फकीरों ने भी हिन्दू-मुसलमानों की एकता की दिशा में स्तुत्य प्रयास किया और इस कार्य में उन्हें कबीरदास आदि की अपेक्षा अधिक सफलता मिली। कारण एक तो कबीर आदि का ज्ञान हृदय से सम्बद्ध न होकर मस्तिष्क से सम्बद्ध था, दूसरे कबीर आदि के खण्डनात्मक स्वर की कर्कशता से हिन्दू-मुसलमानों दोनों को चिढ़ हुई, किन्तु इन सूफी फकीरों ने अपने प्रेमाख्यानों द्वारा हिन्दू-मुस्लिम हृदयों के अजनबीपन को मनोवैज्ञानिक ढंग से दूर किया और साथ-साथ खण्डनात्मकता के स्थान पर दोनों संस्कृतियों का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत किया। निर्गुनिये संतों के मार्ग (ज्ञानाश्रयी शाखा) तथा सूफियों के प्रेम मार्ग (प्रेमाश्रयीशाखा) में कोई पौर्वापर्य अथवा किसी प्रकार का जन्यजनक भाव, कारण-कार्य भाव नहीं है और न ही इन दोनों का उदय किसी पारस्परिक प्रतिक्रिया के

फलस्वरूप हुआ। दोनों के मूलोद्गम स्रोत भिन्न हैं, यह दूसरी बात है कि कुछ तत्व दोनों में समान रूप से मिलते हैं। सन्त मत का समस्त ताना-बाना भारतीय भूमि पर तैयार हुआ, जबकि सूफी मत का बहुत कुछ ढाँचा विदेशी भूमि पर तैयार हुआ। यह अलग बात है कि सूफी मत का पोषक तत्व भारतीय वेदान्तवाद है चाहे वह ईरान आदि की यात्रा करता हुआ अरब पहुंचा हो अथवा भारतीय दर्शन से प्रभावित नव अफलातूनी दर्शन के रूप में अरब को प्रभावित किया हो।

सूफी प्रेम काव्य कोमल हृदय की सुन्दर एवं सरस अभिव्यक्त है। मुसलमानी शासन भारत में पूर्ण रूप से स्थापित हो चुका था। प्रारम्भिक दिनों में शासक और शासित वर्ग में काफी तनातनी बढ़ी, किन्तु अब धीरे-धीरे दोनों के हृदय एक दूसरे के निकट आने लगे थे। यह सच है कि कुछ कट्टर पन्थी मुसलमान शासकों ने अपने उद्धत स्वभाव के कारण हिन्दुओं पर अकथनीय अत्याचार ढाये और तलवार के बल पर इस्लाम का प्रचार करना चाहा, पर दूसरी ओर कुछ ऐसा भी मुस्लिम शासक वर्ग था जो हिन्दुओं के प्रति अत्यन्त उदार था और उन्हें अपने पथ पर चलने की आज्ञा देकर गौरव का अनुभव करता। बाबर और शेरशाह सूरी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन शासकों के समय के सहानुभूतिपूर्ण वातावरण ने सभी को उदार बना दिया था। इसी उदारता का साहित्यिक रूप सूफी कवियों की ये प्रेम कहानियां हैं। सबके प्रति सहिष्णुता, सबमें समन्वय और सब में संग्राहक बुद्धि का उदय इस युग की विशेषता था। प्रेम काव्य की रचना में इसी भावना का आधार है और यह भावना जायसी के काव्य में पूर्णतः अभिव्यक्त हुई है।

सूफी मत का उद्भव और विकास

व्युत्पत्ति—सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ विद्वान् "सूफ" को सफ शब्द से निकला हुआ मानते हैं। जिसका अर्थ है अग्रिम पंक्ति में खड़े होंगे, वे सूफी होंगे। कतिपय विद्वान् मदीना की मस्जिद के समक्ष सुफ्फा—चबूतरे पर बैठने वाले फकीरों को सूफी कहते हैं। तीसरा मत यह है कि सूफी शब्द सोफिया का रूपान्तर है जिनका अर्थ ज्ञान है, ज्ञान के कारण ही इन्हें सूफी कहते हैं। कुछ विद्वानों ने सूफी शब्द का सम्बन्ध सफा से जोड़ा है जिसका अर्थ पवित्र और शुद्धता है। उनके मतानुसार सूफी शब्द का अर्थ पवित्र और शुद्ध आचरण वाले व्यक्ति हैं। अन्य लोगों ने इन्हें सूफा (अरब की एक जाति विशेष) या सुफ्फाह (भक्त विशेष) का एक रूपान्तर माना है। उपर्युक्त मत किसी न किसी अटकलपच्चू पर आधृत हैं, अतः किसी के आधार पर सूफी शब्द की व्युत्पत्ति का निर्णय नहीं किया जा सकता है। इन से कहीं अधिक तर्कसंगत अनुमान उन लोगों का है जिन्होंने सूफी शब्द का सम्बन्ध सूफ (ऊन) से माना है। कहते हैं कि पहले सूफी लोग मोटे ऊनी कपड़ों को धारण किया करते थे, और यह सम्भवतः उन कतिपय ईसाई सन्तों के अनुकरण में था, जो संसार को त्याग कर संन्यासियों

जैसा जीवन व्यतीत करते थे। इनका आचरण सीधा-सादा और पवित्र था। ऐसे रहन-सहन के कारण पहले इनकी निन्दा भी हुई किन्तु इसकी परवाह न करते हुए इस पहरावे का इन्होंने एक 'विशिष्ट प्रकार का रूप दे दिया। सूफी शब्द मूलत: अरब और ईराक के उन व्यक्तियों को सूचित करता है, जो मोटे ऊनी वस्त्रों का चोगा पहनते थे। इनका विरक्तों और संन्यासियों जैसा साधनापूर्ण जीवन था और कदाचित् इसी कारण ये लोग मुस्लिमों की अग्रिम पंक्ति में खड़े होने के अधिकारी थे।

उद्भव एवं विकास—सूफी मत को इस्लाम धर्म का प्रधान अंग स्वीकार किया जाता है, किन्तु इस दिशा में यह स्मरण रखना होगा कि सूफी मत इस्लाम धर्म की शरीयत (कर्म-कांड) की प्रतिक्रिया का उसी प्रकार फल है, जिस प्रकार हिन्दू धर्म-साधना में वैदिक कर्मकांड की प्रतिक्रिया का फल वैष्णव मत है। अनेक सूफियों ने अपने आपको हजरत मुहम्मद द्वारा प्रपिपादित धर्म से पृथक् माना है परन्तु फिर भी उन पर उक्त धर्म का प्रभाव यत्किंचित् मात्रा में निश्चित रूप से देखा जा सकता है। वस्तुत: सूफी मत पर ये चार प्रभाव —इस्लाम की गुह्य विद्या, आर्यों का अद्वैत-वाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद, नव अफलातूनी मत एवं विचार-स्वातन्त्र्य स्पष्ट है। सूफी-मत जीवन का एक क्रियात्मक धर्म तथा नियम है। इस में किसी प्रकार की कट्टरता नहीं है। सूफी लोग उदार तथा मुलायम प्रकृति के थे। सूफी मत के स्वरूप के विषय में एक विद्वान् ने लिखा है 'Tasawwuf'' said juuaya, "is this that God should make thee die from thyself and should make thee live in Him" ईश्वर द्वारा पुरुष में व्यक्तित्व की समाप्ति और ईश्वर की उद्बुद्धि का नाम तसव्वुक है। यह एक प्रकार से रहस्यवाद है और आदर्शवाद से भिन्न है कि सूफीमत का आदम में बीजवपन हुआ, नूह में अंकुर जमा, इब्राहीम में कली खिली, मूसा में विकास हुआ, मसीह में परिपाक और मुहम्मद में फलागम हुआ। इस कथन की सत्यता को सूफी-मत के क्रमिक विकास के सम्यक् बोध के लिए, ऐतिहासिक आलोक में देख लेना आवश्यक है।

मुसलमानों के पतन के पश्चात् मसीह लोग सूफीमत को अपनी ओर खींचने लगे और वे आरम्भिक सूफ़ों को यूहन्ना या मसीह का शिष्य कहने लगे। किन्तु इन दोनों मतों में मौलिक अन्तर है। मसीह का मूलमन्त्र विराग है जब कि सूफीमत के मूल में प्रेम का निवास है, अत: मसीह मत को सूफीमम का मूल नहीं कहा जा सकता है। मसीह मत में प्रेम का प्रसार सूफीमत के संसर्ग का परिणाम है। यही कारण है कि मसीह मत के प्रेम में सूफीमत की प्रेम भावना की अपेक्षा आध्यात्मिकता का अभाव है।

सूफीमत का आदि स्रोत हमें शामी जातियों की आदिम प्रवृत्तियों में मिलता है। सूफीमत की आधार-शिला रति-भाव था, जिसका पहले-पहले शामी जातियों ने बहुत समय तक विरोध किया। मूसा और मुहम्मद साहब ने संयत भोग का विधान किया। मूसा ने प्रवृत्ति मार्ग पर जोर देकर लौकिक प्रेम का समर्थन किया। सूफी

इश्क मजाजी को इश्क हकीकी की पहली सीढ़ी मानते हैं। सूफियों के इलहाम और हाल की दशा का मूल भी शामी जातियों में पाया जाता है। कुछ शामी रति-दान से घृणा करने के कारण नवी संतान कहलाए। कभी-कभी वे देवता के वश में होकर जो कुछ बोलते थे, वह इलहाम कहलाया और इनकी ऐसी दशा हाल। सूफियों ने पीरपरस्ती और समाधि-पूजा भी शामियों से ली। शामियों में मूर्तिचुम्बन की परिपाटी सूफियों में बोसे और वस्ल के रूप में प्रचलित हुई। सूफियों के प्रमुख तत्त्व प्रेम का स्रोत भी शामियों की गुह्य मण्डली थी, जिसमें निरन्तर सुरा-सेवन होता रहता था। कहीं हाल आ रहा था, कहीं करामात दिखाई जा रही थी। उस आधार पर कहा जा सकता है कि सूफियों के पूर्व पुरुष ये नबी ही हैं, जो सहजानन्द के उपासक थे और आत्मशुद्धि के लिए अनेक प्रकार के उपायों का आश्रय लेकर प्रेम का राग अलापते थे। इन्हीं की भावना सूफी मत में पल्लवित और पुष्पित हुई। यद्यपि यहोवा के आविर्भाव के कारण उक्त नबियों की प्रतिष्ठा क्षीण हो गई थी, फिर भी सूफीमत को उन्हीं का प्रसाद समझना चाहिए। पहिले पहल यहोवा के उपासकों की कट्टरता और संकीर्णता के कारण मादक भाव (हाल) को काफी क्षति पहुँची किन्तु बाद में यही भाव उनमें कवाला के रूप में मान्य हुआ। यहोवा ने रति-क्रिया से दूर रहने की काफी चेष्टा की कि यहोवा मन्दिरों में देव-दासों और देव-दासियों के रूप में प्रेम का यह स्रोत फूट पड़ा। हूसीअ को यहोवा के इस प्रेम में अपने अली के प्रेम का प्रमाण मिला। सूफियों के इश्क मजाजी और इश्क हकीकी में यही भावना निहित है। सुलेमान के गीतों में भी प्रेम की इसी दशा के दर्शन होते हैं। परमात्मा और आत्मा इन गीतों के दूल्हा और दुलहिन होते हैं। इन गीतों में लौकिक प्रम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति है और यही पद्धति सूफियों के यहाँ मान्य है।

यसअियाह ने अहं ब्रह्मास्मि की घोषणा करके अद्वैत की प्रतिष्ठा की। उसके गान में करुणा, वेदना और कामुकता का सम्मिश्रण है। संक्षेप में वे अंशतः सूफी हैं।

मसीह के आविर्भाव से शामी जातियों में विराग की प्रवृत्ति जागी, किन्तु धीरे-धीरे उसके उपासकों में प्रणय-भावना प्रचारित होती गई। एक स्थान पर मसीह को दूल्हा तथा उनके भक्तों को दुलहिन कहा गया है। शायद इस पर यूनान की गुह्य टोलियों या अफलातून के प्रेम का प्रभाव पड़ा हो। जिनका मसीह पर विश्वास न जमा, उन्हें नास्तिक कहा गया। नास्तिक मत का प्रवर्तक साइमन नामक मत था। इस नास्तिक मत का प्रभाव सूफी मत पर पड़ा। इसी से सूफी आज पीरेमुगां का जाप करते हैं तथा उससे मधुपान की याचना करते हैं। मादन भाव नास्तिक मत का प्रधान अंग था। सूफीमत का प्राचीन नाम भी नास्टिक मत मिलता है। नास्टिक मत की बिखरी कड़ियों से मानी मत का विकास हुआ। सूफी मत के विकास में

मानी मत का बड़ा योगदान है। मानी मत पर बुद्ध का प्रभाव पड़ा था। गुरु शिष्य परम्परा का विधान, मूर्तियों के खण्डन और जन्मान्तर-निरूपण के सम्बन्ध में मानी मत ने जिस विचार-धारा को जन्म दिया, वह सूफी मत का दर्शन हो गया। सूफियों का स्वतंत्र मत जिन्दी मानी मत का अवशेष है। मानी मत की परिणति तसव्वुफ हो गई।

मसीह के मत के यूनान में पहुंचने पर उस पर अफलातून के दर्शन का प्रभाव पड़ा। फिर प्लेटिनस के द्वारा उस पर भारतीय दर्शन का भी प्रभाव पड़ा। प्लेटिनस ने पृथ्वी से लेकर नक्षत्र मण्डल तक व्याप्त अलौकिक सत्ता के आलोक का वर्णन बड़े अनूठे ढंग से किया है। सूफियों की अध्यात्म भावना इससे अत्यन्त प्रभावित है। सूफी मत में इस प्रभाव से जो आनन्द प्रस्फुटित हुआ, वह प्रजा और प्रेम का प्रसाद है।

सूफी मत के इतने विकास के उपरांत मुहम्मद साहब नबी के रूप में प्रकट हुए। उन्होंने कुरान को इलहाम कहकर इस्लाम धर्म का प्रवर्तन किया। उन्होंने ईमान और दीन की अपेक्षा इस्लाम पर अधिक बल दिया। यही कारण है कि उन्हें पूर्णरूपेण सूफी नहीं कहा जा सकता है। उनकी भक्ति में प्रेम की भावना नहीं बल्कि दास्य भावना है। प्रेम और संगीत के अतिरिक्त सूफियों के प्रायः सभी लक्षण मुहम्मद साहब में पाये जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि सूफी मत का पूर्ण विकास मुहम्मद साहब से पूर्व हो चुका था। किंतु कालान्तर में इस्लाम के सीमित क्षेत्र में सूफीमत को भी प्रतिष्ठा मिली।

सूफी मत का भारत-प्रवेश—यूनानियों के भारत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध के माध्यम से मसीह मत भारतीय आध्यात्मिकता से प्रभावित हुआ और उसका प्रभाव सूफी मत पर पड़ा। भारत में सूफी मत का प्रचार प्रसिद्ध सूफी अल्हुज्विरी के आगमन काल से (१२वीं शताब्दी) से होता है। इसके अनन्तर विविध संप्रदायों के रूप में सूफी मत का भारत में प्रचार हुआ। 'आइने अकबरी' में सूफियों के १४ संप्रदायों का उल्लेख है, जिनमें प्रसिद्ध ये हैं—कादरी संप्रदाय, सुहरावर्दी संप्रदाय, नक्शबंदी तथा चिश्ती संप्रदाय।

इन सबमें प्रसिद्ध चिश्तिया संप्रदाय हुआ। इस संप्रदाय की सातवीं पीढ़ी में ख्वाजा मुईनुद्दीन हुए, जिन्होंने भारत में सूफी मत का प्रचार किया। इस सम्प्रदाय में कुतुबुद्दीन, काकी, फरीदुद्दीन, शकर गंज के नाम अत्यंत प्रसिद्ध हैं। यह संप्रदाय आगे चलकर अनेक शाखाओं में विभक्त हो गया। काकी को सम्राट् अल्तमश को दीक्षित करने का गौरव प्राप्त हुआ। संगीत इनके प्रचार का प्रमुख साधन था। सुहरावर्दी सम्प्रदाय का प्रचार कार्य भारत में बहाउद्दीन जाकरिया ने किया। यह सम्प्रदाय भी अनेक शाखाओं में विभक्त हो गया। कादरी संप्रदाय का प्रवर्तन बारहवीं शती में अब्दुल कादिर ने किया। इस संप्रदाय में सैय्यद मुहम्मद गौस को इतनी ख्याति मिली

कि सिकन्दर लोदी ने अपनी पुत्री की शादी उनसे कर दी थी। नक्शबन्दी संप्रदाय का प्रचार १७वीं शताब्दी में अहमद फारूखी ने किया। इस सम्प्रदाय की मान्यता हजरत मुहम्मद के समान थी। इनके सुधारों से सूफियों के संगीत-विधान नृत्य, एवं साष्टांग दण्डवत् आदि कार्य बन्द हो गये। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में सूफीमत का प्रचार ९वीं शताब्दी से आरम्भ हुआ। १०वीं शताब्दी में इनका विशिष्ट प्रचार हुआ। १९वीं शती में मुगल साम्राज्य के साथ इस मत का भी ह्रास हो गया।

सूफी मत के सिद्धान्त

सूफियों में अनेक संप्रदाय प्रचलित हैं और उनमें आध्यात्मिक सिद्धान्तों के विषय में थोड़ा-बहुत अन्तर भी है। किन्तु फिर भी सभी सम्प्रदाय यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर निर्विकार तथा निर्विकल्प है। ईश्वर के साथ एकीकरण के लिए प्रेम-पीर का उदय आवश्यक है। अहंभाव की समाप्ति ही साधना की सफलता की कुंजी है। आत्म-समर्पण से ईश्वर का साक्षात्कार संभव है। मनुष्य में जब इच्छाएँ लुप्त हो जाती हैं तो वह ब्रह्म (अल्लाह) में मिल जाता है। यही अन-अल्हक (अहं ब्रह्मास्मि) है। यही तसव्वुफ का चरमोत्कर्ष तथा सूफी दर्शन की पराकाष्ठा है। ईश्वर के साथ तादात्म्य का एकमात्र उपकरण प्रेम है।

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि इस्लाम के उदय के पूर्व ही सूफी मत का विकास हो चुका था। किन्तु इस्लाम के उदय के अनन्तर यह मत उसमें बहुत-कुछ घुल-मिल-सा गया है और साथ-साथ इस पर अन्य मतों के सिद्धांतों का भी प्रभाव पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि सूफी मत के कितने ही सम्प्रदाय अपने-आपको इस्लाम से अलग-अलग बनाये रहे और यही कारण है कि सभी सूफी सम्प्रदायों का दर्शन-पक्ष एक जैसा नहीं है। निम्नांकित पंक्तियों में इन संप्रदायों के सिद्धांतों को स्पष्ट किया जायगा :—

(१) **ईश्वर** के संबंध में विभिन्न संप्रदायों की विभिन्न मान्यतायें हैं। इजादिया सम्प्रदाय एकेश्वरवाद का समर्थक है। शुद्दिया संप्रदाय प्रतिबिम्बवाद या सर्वात्मवाद को मानता है। वुजूदिय संप्रदाय केवल ईश्वर को ही मानता है तथा संसार की समस्त वस्तुओं में उसक झलक देखता है। ईश्वर संबंधी सूफियों का यही प्रधान एवं मान्य मत है। सूफी लोग किसी अन्य सत्ता को स्वीकार नहीं करते। सूफी प्रत्येक धर्म के प्रति सहानुभूतिशील हैं, क्योंकि इन्हें प्रत्येक धर्म में प्रकारान्तर से ईश्वरीय सत्ता का आभास मिलता है।

(२) **ईश्वर और जगत् का सम्बन्ध**—कुछ लोग ईश्वर को जगत् से परे मानते हुए भी उसे जगत् में लीन स्वीकार करते हैं। दूसरे ईश्वर और जगत् को भिन्न-भिन्न नहीं मानते बल्कि ईश्वर ही जगत् का रूप है, ऐसा स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत कुछ-एक ने ईश्वर और जगत् को भिन्न-भिन्न मानकर एकेश्वरवाद का समर्थन किया है। अधिकांश सूफी लोग ईश्वर को न जगत् के बाहर समझते हैं,

न जगत् में लीन। वह जगत् के बाहर भी है और अन्दर भी। वास्तव में उसका रूप अकल्पनीय तथा अचिन्तनीय है। वह निर्गुण, निर्विशेष, शुद्ध स्वरूप तथा निरपेक्ष है। सूफियों के मतानुसार उस ईश्वर की प्रकृति में—वनस्पति, पशु, पक्षी, जीव-आदि में—अंग-प्रत्यंग की छाया है। सूफी उसी सौन्दर्य पर मुग्ध होकर मूल सौन्दर्य के दर्शन करना चाहता है और उसी में लीन हो अपने-आपको हक समझने लगता है।

(३) **सृष्टि की उत्पत्ति**—सूफियों के अनुसार ईश्वर ने अपने गूढ़ रहस्य को अभिव्यक्त करने के लिये सृष्टि रची है। जिली का कहना है कि अल्लाह चन्द्रकान्त मणि के रूप में था। सृष्टि की कामना से उसने अपने स्वच्छ स्वत्व पर दृष्टिपात किया और वह द्रवीभूत होकर पानी के रूप में हो गया, जिससे स्थूल द्रव्य फेन की भाँति ऊपर छा गया। उसी से सप्त पृथ्वी की रचना की गई। उसके सूक्ष्म तत्वों से सप्त लोक और फरिश्ते बने। अधिकांश सूफियों का यह विश्वास है कि ईश्वर ने सर्वप्रथम मुहम्मदीय आलोक की सृष्टि की। वह आलोक बीज मे बदला। उसी से पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि की उत्पत्ति हुई, फिर आकाश और तारे बने। तत्पश्चात् सप्त भुवन, धातु, उद्भिज पदार्थ, जीव-जन्तु एवं मानव की रचना हुई।

(४) **सृष्टि में मानव सर्वोपरि**—मानव सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और इसमें ईश्वर के रूप की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। मानव शरीर में जड़ अंश भी है और आध्यात्मिक अंश भी। नफस अर्थात् जड़ आत्मा मनुष्य को पाप की ओर ले जाती है और रूह आत्मा की ईश्वरीय शक्ति का दर्शन हृदय के स्वच्छ दर्पण में कराती है। वह प्रियतम के साथ मिलन कराती है। नफस को मारना ही मानव का परम कर्तव्य है।

(५) **पूर्ण मानव की मान्यता**—पूर्ण मानव ईश्वर की एकमात्र पूर्ण अभिव्यक्ति है। प्रत्येक मनुष्य में परिपूर्णता का बीज सुप्तावस्था में रहता है और उसमें प्रस्फुटन की संभावना रहती है। मुहम्मद सर्वश्रेष्ठ पूर्ण मानव है, अतः उनके ज्ञान का विशेष महत्त्व है। सूफी साधुओं को भी पूर्ण मानव माना जाता है और उन्हें वली या पीर कहा जाता है। ईश्वरीय साक्षात्कार के लिए सूफी मत में पीर या सद्गुरु की अपार मान्यता है। सूफियों ने फना और बका को भी माना है। फना मानवीय गुणों का नाश है और बका ईश्वरीय गुणों की प्राप्ति है।

(६) **साधना सोपान**—सूफी मत में साधना के सप्त सोपान माने गये हैं। ये सप्त सोपान हैं—अनुताप, आत्म-संयम, वैराग्य, दारिद्र्य, धैर्य, विश्वास, सन्तोष और प्रेम। इनमें प्रेम की बड़ी महत्ता है। प्रेम के अभाव में साधना में सिद्धि नितान्त असम्भव है। सप्त सोपानों की सिद्धि के साधक में अतीन्द्रिय आध्यात्मिक ज्ञान का उदय होता है। ईश्वर को सत्तर हजार पर्दों के पीछे माना गया है। इन सोपानों से मानव अन्धकार के पर्दों को छिन्न-भिन्न करता हुआ प्रकाशमय पर्दों की

ओर जाता है। इस साधना से मानवीय गुणों का ह्रास और ईश्वरीय गुणों का अविर्भाव होता है।

इन सप्त सोपानों के अतिरिक्त सूफी मत में चार उच्चतर सोपान भी स्वीकार किये गए हैं, जिन्हें मुकामात भी कहा गया है। पहला मुकाम मारफत है, जहाँ मानव हृदय ईश्वर की उपलब्धि अनुभूति के द्वारा करता है। दूसरा मुकाम वह है, जहाँ प्रेम का उदय होता है। वह प्रेम उन्माद का रूप धारण कर लेता है, जिसे समाधि कहते हैं। आगे चलकर इसी समाधि की दशा में वस्ल का अवसर प्राप्त होता है और यही दशा आत्मा-परमात्मा के अभेद की सूचक है।

(७) हाल की चार अवस्थाएँ—हाल की दशा में साधक अपनी ओर से निरपेक्ष होकर अपने आपको ईश्वर के अर्पण कर देता है। साधक की प्रथम अवस्था नासूत कहलाती है, जिसमें वह शरीअत का अनुसरण करता है। दूसरी दशा मलकत है, जिसमें साधक तरीकत या उपासना में प्रवृत्त होता है। तीसरी दशा जबरूत है, जहाँ वह आरिफ बन जाता है। चौथी अवस्था लाहूत है, जहाँ पहुंचकर इसे हकीकत (परम तत्त्व) की उपलब्धि हो जाती है।

(८) शैतान—सूफी मत में शैतान की सत्ता स्वीकार की गई है, जो शंकर की माया के समान है। शैतान साधक के मार्ग में व्याघात उपस्थित करता है। सूफियों में शैतान को हेय न मानकर उसे श्रेयस्कर माना है, क्योंकि इससे साधक की सच्ची परीक्षा होती है। शैतान के द्वारा साधना में और परिपक्वता आती है।

(९) पीर की महत्ता—सूफी मत में गुरु की बड़ी मान्यता है। पीर या गुरु साधक को शैतान के शिकंजे से मुक्त करके उसे सिद्धि की ओर अग्रसर करता है। इनके यहाँ गुरु का अंधानुकरण भी श्रेयस्कर समझा जाता है। पीर और औलिया की उपासना भी इनमें प्रचलित है।

(१०) कतिपय अन्य क्रियाएँ—सूफी लोग अपनी उपासना में कतिपय अन्य क्रियाओं को भी अपनाते हैं, जिनमें समाज, कुरान शरीफ का पारायण, चुने हुए भजनों का दैनिक पाठ बाह्य क्रियाएँ हैं तथा आत्म-विग्रह, चिन्तन और मौन जाप का सम्बन्ध आत्मा के संयम से है। इन क्रियाओं के अतिरिक्त सूफियों का मजार की पूजा तथा तीर्थयात्रा पर भी विश्वास है।

(११) प्रेम—सूफी मत में प्रेम ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र साधन है। यह प्रेम (इश्क) लौकिक से (मजाजी से) अलौकिक प्रेम (इश्क हकीकी) की ओर उन्मुख होता है। यह, प्रेम एकमात्र निष्काम और निःस्वार्थ है। इस प्रेम से हाल की दशा प्राप्त होती है, जहाँ साधक बाह्य संसार को भूलकर एकमात्र अपने प्रियतम के रूप में लीन हो जाता है। सूफियों ने ईश्वर की पत्नी रूप में कलाना की है और साधक की पति रूप में। साधक अपनी प्रियतमा के हाथ से दिये गये मधुपान के लिए सदा

लालायित रहता है, अतएव वह उसकी प्राप्ति के लिए नाना यत्न करता है। सूफी साधक के सामने ईश्वर एक दैवी स्त्री के रूप में आता है। भारतीय प्रणय साधना में ईश्वर की पति और भक्त की पत्नी रूप में कल्पना की गई है। यही इन दोनों की प्रणय भावना में मौलिक अन्तर है।

सूफी प्रेम काव्यों की सामान्य प्रवृत्तियाँ

निर्गुण संतों—कबीर आदि ने धार्मिक क्षेत्र में हिंदू-मुस्लिम जनता में एकता के लिए प्रयत्न किया, किन्तु प्रेममार्गी सूफी कवियों ने हिन्दू-मुस्लिम दोनों में सांस्कृतिक एकता का स्तुत्य प्रयास किया और इन कवियों को इस कार्य में अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली। विद्वानों के एक वर्ग के मतानुसार दोनों जातियों में एकता के ध्येय के प्रचार का श्रेय सूफी संप्रदाय को अधिक है।

आरम्भ के कतिपय कट्टर मुस्लिम शासकों ने इस्लाम प्रचार के लिए तलवार का प्रयोग किया, परन्तु ऐसे जघन्य उपाय कितने समय तक काम में लाये जा सकते थे। पारस्परिक चिरकालीन संपर्क के परिणामस्वरूप दोनों जातियाँ एक दूसरे को एक दूसरे के धर्म और संस्कृति को जानने के लिए उत्सुक हुई और धीरे-धीरे उनके हृदयों का अजनबीपन मिटने लगा। संग्राहकता और समन्वयात्मकता की भावनाएँ भी उस युग में उत्पन्न होने लगी थीं। मुस्लिम शासन काल में कुछ उदार-चेता मुस्लिम शासक भी थे। सूफी लोग प्रकृति के प्रति मुलायम थे तथा मानव-सुलभ संवेदना और उदारता से वंचित न थे। उन्हें अपने अव्यक्त अल्लाह तथा हिंदुओं के अकथ्य अगोचर ब्रह्म में कोई विशेष भेद न लगा। उनकी दृष्टि में मुसलमान और गैर मुसलमान में कोई पारमार्थिक भेद न था। वे सब धर्मों की आधारभूत शिला मानवता को महत्त्व देते थे। सूफी मत इस्लाम का एक संशोधित संस्करण है, जिसमें हृदय की विशालता तथा असीमता है। इन्होंने हिंदू घरों में प्रचलित प्रेम कहानियों द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की। इन्होंने उस अव्यक्त सत्ता—परम ब्रह्म को प्रेम के द्वारा गम्य बताया और यह प्रेम की साधना हिन्दू-मुसलमानों दोनों के लिए समान है। इन्होंने हिन्दू-मुसलमानों के बाह्य भेदों के भीतर तात्त्विक एकता की घोषणा करते हुए कहा—

"विधिना के मारग हैं तेते, सगर नखत तन रोवां जेते।"

सूफी प्रेम काव्यों की सामान्य विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

(१) **प्रबन्ध-कल्पना**—(क) सूफियों ने लौकिक प्रेम कहानियों के माध्यम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की है। इनकी ये प्रेम कहानियाँ प्रबन्ध काव्य की कोटि में आती हैं। इन कवियों का उद्देश्य कोरी प्रेम कहानी कहना न होकर प्रेम-तत्त्व का निरूपण करना तथा उसका महत्व निर्धारित करना है। जहाँ उन्होंने प्रबन्ध संगठन आदि का ख्याल रखा, वहाँ अपने उद्देश्य की अनुकूलता के लिए कहानी की घटनाओं में अपेक्षित परिवर्तन एवं परिवर्द्धन भी किया। सूफी कवियों ने अपने

प्रेमाख्यानों में प्रेम पात्र के सौन्दर्य को किसी ऐसे प्रकाश या ज्योति पुञ्ज के रूप में चित्रित किया है कि प्रत्येक जीव उसकी ओर आकर्षित हो अपना सर्वस्व प्रेम पथ पर न्योछावर करने के लिए उद्यत हो जाय। सूफी काव्य की प्रेमिकाएँ और प्रेमी प्रेम पथ पर आने वाली बाधाओं तथा विकट से विकट विघ्नों को तृणवत् समझते हुए सिद्धि पथ पर बढ़ते हैं, हालाँकि साधारण जीवन में ऐसा होना कठिन है। अस्तु, सूफियों के काव्यों की कहानियाँ प्रायः एक ही साँचे में ढली हुई हैं, उनमें यांत्रिकता अधिक है; मौलिकता की कमी है, अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जहाँ इन्हें नये-नये दृश्य, पात्र, प्रसंग, वातावरण कथा घटनाओं की नवीन सृष्टि करनी पड़ी है, वहाँ अन्तःकथाओं का नियोजन भी किया है। इन अन्तःकथाओं में इन्होंने पक्षियों, देवों और अप्सराओं का उपयोग किया है। प्रेमी और प्रेमिकाओं के मार्ग में बीहड़ वन, भयंकर तूफान, विषैले साँप, सुदीर्घ अजगर, विशालकाय हाथी, बलशाली गरुड़ पक्षी, मनुष्य-भक्षी राक्षस तथा यंत्र-मंत्र और जादू-टोना जानने वाले मानवों के द्वारा बाधाएँ उपस्थित कर दी जाती हैं। यह कुछ उनके प्रेम की परीक्षा और दृढ़ता के लिए किया गया है। सम्भव है आज के आलोचक की पैनी दृष्टि इन घटनाओं को अतिमानुषी कह कर, इन्हें एकमात्र अस्वाभाविक और अमनोवैज्ञानिक कह दे किन्तु इसके लिए उन कवियों को दोष नहीं दिया जा सकता। एक तो प्रेम कहानियों की कुछ ऐसी ही पद्धति उन्हें रिक्थ में मिली थी, दूसरे अपने साधकों को सांसारिक विविध अन्तरायों और उलझनों का सामना करवाना प्रेम की दृढ़ता प्रदर्शित करने के लिए उन्हें ऐसा करना पड़ा।

(ख) प्रबन्ध काव्योचित वस्तु एवं घटना-वर्णन में जो प्रवाह और गति अपेक्षित है, प्रायः इन काव्यों में उसका अभाव है। कथा-वस्तु के निर्वाह एवं वस्तु वर्णन में सबने प्रबन्ध-रूढ़ियों की समान रूप से शरण ली है। इन प्रेमाख्यानों में प्रायः सर्वत्र वे ही समुद्र हैं, वैसा ही तूफान है, वैसे ही वन-वनान्तर हैं और वैसी ही मकान एवं फुलवारियाँ हैं। ये सब वस्तुएँ जानी-पहचानी लगती हैं और इनसे औत्सुक्य वृद्धि में कोई सहायता नहीं मिलती। कभी-कभी तो कोरा वस्तु परिगणन कर दिया गया है, जिससे एक तो नीरसता आ गई है और दूसरे कथा के प्रवाह में व्याघात भी उपस्थित हुआ है। नगरों का वर्णन करते हुए वहाँ के सरोवरों, वाटिका, महल, चित्रशाला और घाटों का वर्णन बहुत विस्तार से कर दिया गया है। रूप-सौन्दर्य और स्वभावगत विशेषताओं का परिचय देते हुए भी इन्होंने काव्य रूढ़ियों का अधिक प्रयोग किया है, वस्तु की यथार्थ स्थिति को कम प्रस्तुत किया है। कुछ कवियों ने अपनी बहुज्ञता-प्रदर्शनार्थ विभिन्न रागों और रोगों तक का विवरण प्रस्तुत कर दिया है, जोकि प्रसंगानुसार अनावश्यक प्रतीत होता है।

(ग) इन काव्यों की क्रम-योजना प्रायः समान ही है। सर्व-प्रथम मंगलाचरण में ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का वर्णन, तत्पश्चात् हजरत मुहम्मद और उनके सहयोगियों की प्रशंसा कर दी जाती है। इनके अनन्तर शाहे वक्त का अतिशयोक्तिपूर्ण

वर्णन, अपना तथा पीर का परिचय और कभी-कभी अपने संप्रदाय का उल्लेख, रचना निर्माण काल आदि के द्वारा रचना का प्रथम अंश समाप्त कर दिया जाता है। कथा के सूत्रपात में नायक या नायिका के देश, कुल, आचार आदि का उल्लेख रागोत्पत्ति के लिए कर दिया जाता है। नायक और नायिका के देश दूरवर्ती होते हैं। नायक नायिका की प्राप्ति के लिए सर्वस्व त्याग कर आँधी-तूफानों का सामना करते हुए घर से चल निकलता है। इस प्रकार नायक में एक अपूर्व क्रियाशीलता आ गई है। कथा में गति लाने के लिए इन्होंने भारतीय काव्यों में व्यवहृत काव्य-रूढ़ियों का उपयोग किया है। जैसे—चित्र-दर्शन स्वप्न द्वारा अथवा शुक-सारिका आदि द्वारा नायिका का रूप देख या सुन कर उस पर आसक्त होना, पशु-पक्षियों की बात-चीत से भावी घटना का संकेत पाना, मन्दिर, चित्रशाला, उपवन अथवा किसी अन्य गुप्त स्थान पर प्रेमी युगल का मिलना, इत्यादि। कभी-कभी इन्होंने ईरानी काव्य की रूढ़ियों का भी व्यवहार किया है, जैसे प्रेम व्यापार में देवों और परियों का सहयोग, उड़ने वाली राजकुमारियों द्वारा राजकुमारियों के प्रेमी को गिरफ्तार करवा लेना आदि-आदि। प्रेमी युगल में प्रेमासक्ति के भाव जागृत होने के पश्चात् विविध प्रयास आरम्भ होते हैं। उन्हें कड़ी से कड़ी परीक्षा में डाला जाता है। नायक और अन्य सुन्दरियों के प्रलोभन द्वारा आकर्षण तथा मोहपाश में डाला जाता है किन्तु वह सफल उतरता है। नायिका की विरह-दशा की अधीरता को कम करने के लिए पक्षी आदि साधनों की कल्पना कर ली गई है। सूफी विरह दशा का विस्तृत वर्णन करते समय प्रेमतत्व का निरूपण भी करते चलते हैं। कथा के बीच-बीच में प्रतिनायक और प्रतिनायिकाओं की भी सृष्टि कर ली गई है। प्रेमी और प्रेमिका का मिलन हो जाता है, पर वह स्थायी रूप ग्रहण नहीं कर पाता जैसे पद्मावती और रत्नसेन का मिलन। पद्मावत, मृगावती, इन्द्रावती और हंस जवाहर आदि प्रेम कथाओं के नायक अन्त में किसी न किसी कारणवश मर जाते और नायिकाएँ सती होकर या वैसे ही जीवन दे देती हैं। इस प्रकार कथा का अन्त दुःखमय हो जाता है। कुछ प्रेम कथानक सुखान्त भी हैं।

(२) भाव व्यंजना—सूफियों का मुख्य प्रतिपाद्य प्रम है और प्रेम के वियोग पक्ष को इन्होंने अत्यधिक महत्व दिया है, यही कारण है कि उन्होंने जितना ध्यान प्रेमी और प्रेमिकाओं के वियोग उसकी अवधि में झेले जाने वाले कष्टों तथा अन्त करने के लिए किए गए विविध प्रयत्नों का वर्णन करने में दिया है, उतना उनके अन्तिम मिलन पर नहीं। सच यह है कि प्रेम का असली रूप विरह में ही निखरता है, मिलन में नहीं। विरह में क्रियाशीलता बनी रहती है जबकि मिलन में जड़ता आ जाती है। विरह अवस्था का वर्णन करते हुए उन्होंने बारहमासे के वर्णन को भी बहुत महत्व दिया है और इस सम्बन्ध में भारतीय पद्धति का ही व्यवहार किया है। किन्तु कहीं-कहीं फारसी साहित्य की प्रचलित रूढ़ियों से भी प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। उस समय इनके वर्णन अन्तरंजित हो गये हैं। उन प्रसंगों में इनके द्वारा

वर्णित रक्त के आँसुओं की मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि वे वीभत्स एवं अस्वाभाविक से प्रतीत होने लगते हैं। इन सूफियों में से ऐसे बहुत कम कवि होंगे, जिन्होंने विरह-वर्णन के समय उचित अनुपात एवं मर्यादा का ध्यान रखा हो।

संयोग-अवस्था का वर्णन कभी-कभी अश्लीलता की कोटि का स्पर्श करने लगता है। मिलनपरक आनन्दानुभूति का ये कोई उत्कृष्ट परिचय नहीं दे सके हैं। इन कवियों ने संयोग अवस्था को या तो भोग-विलास के लिए उपयुक्त वातावरण मान लिया है या कभी उसका रहस्यात्मक अर्थ भी कर डाला है। इन कवियों में से उन लोगों के, जिन्होंने यथार्थ जीवन को खुली आँख से देखा था, काव्यों में प्रेम भावना के अतिरिक्त प्रसंगवश, उत्साह, द्वेष, ईर्ष्या, वैर, कपट, दया, सहृदयता और सौजन्यपरक भावों की भी व्यंजना सुन्दर रूप में हुई है।

प्राय: सूफी कवियों ने प्रेम तत्व की व्याख्या करते हुए सौन्दर्य के स्वरूप एवं प्रभाव पर बहुत कुछ कह डाला है। किसी-किसी कवि ने इस प्रसंग में अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का भी उल्लेख कर दिया है।

(३) **चरित्र-चित्रण**—इन प्रेम काव्यों में नायक और नायिकाओं के जीवन के उतने अंशों को ग्रहण किया गया है जिनसे प्रेम के विविध प्रसंगों और व्यापारों की अभिव्यक्ति संभव थी। प्रबन्ध-काव्योचित जीवन के विविध दृश्य इन काव्यों में नहीं हैं। इन काव्यों की नायिकाएँ ह्रासोन्मुख संस्कृत-साहित्य की नायिकाओं के समान एक ही सांचे में ढली हुई हैं। उनमें जीवन के विविध घात-प्रतिघातों का अभाव है। नायक का स्वरूप भी प्राय: पूर्व से निश्चित सा दृष्टिगोचर होता है। इन्होंने कहीं-कहीं काल्पनिक पात्रों की भी सृष्टि कर ली है। कई ऐतिहासिक पात्र भी इन काव्यों में सूफियों के उद्देश्यानुसार कुछ भिन्न रंग पकड़ लेते हैं। काल्पनिक पात्र, जो देवताओं और नवियों में से हैं, उनका रूप इतना अतिरंजित, रूढ़िबद्ध और अलौकिक बन गया है कि वह नितान्त अप्राकृतिक लगता है। संस्कृत साहित्य के समान इनके नायक सामन्ती वातावरण से सम्बद्ध हैं। वे राजकुमार होने के नाते पराक्रमशील भी हैं, किन्तु उनका यह पक्ष गौण है। वे सभी साधक के नाते प्रेम के टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर बढ़ने वाले हैं। अन्य पात्रों में भी इन कवियों ने जीवन की विविधता को प्रदर्शित नहीं किया। उन प्रेम काव्यों का अर्थ और इति प्रेम है और सभी पात्र उसकी साधना एवं सिद्धि में प्रत्यक्ष एवं परोक्षरूप में रत हैं। इन प्रेमाख्यानों में जो पात्र चीन, बलख, रूप जैसे देशों के निवासी कहे गये हैं, उनका भी चित्रण अधिकतर उसी रूप में हुआ जैसा कि किसी भारतीय का हो सकता है। ऐतिहासिक पात्रों—राघव चेतन आदि में कल्पना का अत्यन्त गहरा रंग चढ़ा दिया गया है।

(४) **लोक-पक्ष एवं हिन्दू-संस्कृति**—प्रेम-पथिक इन सूफियों का प्रेम सन्तों के प्रेम से कुछ भिन्न हैं। कबीर आदि सन्तों के प्रेम में वैयक्तिकता अधिक है जब

कि उनके प्रेम के परिवेश में वैयक्तिकता के साथ-साथ समष्टिगतता तथा और भी बहुत कुछ है। यही कारण है कि इनके प्रेम-काव्यों में लोक-जीवन का भी चित्रण है, जैसे—सर्वसाधारण का अन्ध विश्वास, मनौतियाँ, यंत्र-तंत्र प्रयोग, जादू-टोना, डायनों की करतूतें, विभिन्न लोकोत्सव, लोकव्यवहार, तीर्थ, व्रत, सांस्कृतिक वातावरण, बड़ी सफलता के अंकित किये गए हैं। इनके द्वारा व्यवहृत प्रचलित कथा-रूढ़ियाँ तत्कालीन जीवन के समझने के लिए और भी सहायक सिद्ध होती हैं।

इन प्रेम-काव्यों के रचयिताओं ने हिन्दू घरानों की प्रेम-कहानियाँ लेकर उनका तदनुरूप वर्णन किया है। उस युग में सांस्कृतिक समन्वय और संग्राहकता की भावनाएँ जागृत हो चुकी थीं। इन सूफियों को हिन्दू संस्कृति एवं धर्म का सामान्य परिचय था। इन्होंने हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों, रहन-सहन, और आचार-विचार का सुन्दर वर्णन किया है। हिन्दू पात्रों में हिन्दू आदर्शों की प्रतिष्ठा की गई। षट्-ऋतुओं और बारहमासा का वर्णन भारतीय पद्धति पर है। पद्मावत में रत्नसेन के गृह-त्याग पर माता-पिता का रोना, पद्मावती का रस रंग, विदा, समागम, यात्रा, युद्ध, सपत्नी कलह, स्वामिभक्ति, वीरता, कृतघ्नता, छल, सतीत्व, अभिसार, पासा खेलना, बहुविवाह वर्णन, योग की नौ परियों का वर्णन, इन सब बातों से प्रतीत होता है कि उन्हें हिन्दू जीवन का परिचय था। उनका नख-शिख का वर्णन काम-शास्त्र से प्रभावित है। प्रसंगानुसार इन्होंने भारतीय ज्योतिष, रसायन-शास्त्र तथा आयुर्वेद के ज्ञान का भी परिचय दिया है। इन्हें पुराणों का भी थोड़ा-बहुत परिचय था। जायसी ने सैरन्ध्री, गांगेय, पारथ, कुबेर आदि का उल्लेख किया है। पर इनको यह जानकारी कोई पक्की न थी। जायसी ने अलकापुरी को कुबेर की नगरी बताया है। नारद को शैतान के रूप में बताया है। सरग को आसमान कहा है। रत्नसेन की उपमा रावण से दी है और चन्द्रमा का स्त्री रूप में वर्णन किया है।

(५) **शैतान**—सूफी प्रेम काव्यों में शैतान को माया के समान साधक को प्रेम के साधना-मार्ग से भ्रष्ट करने वाला माना गया है। एक साधक पीर गुरु की कृपा से शैतान के पंजे से मुक्त हो सकता है। पद्मावत काव्य में राघवचेतन शैतान के रूप में चित्रित है। सन्त कवियों ने माया को हेय सिद्ध किया है, किन्तु सूफियों ने शैतान को त्यागने योग्य नहीं माना है क्योंकि शैतान के द्वारा उपस्थित व्यवधानों से साधक की अग्नि परीक्षा होती है और उसके प्रेम में दृढ़ता तथा उज्ज्वलता आती है।

(६) **मंडनात्मकता**—वैसे तो निराकारवादी सन्तों ने भक्ति के सामान्य मार्ग की प्रतिष्ठा से हिन्दू-मुस्लिम जातियों में धार्मिक एकता का श्रीगणेश कर दिया था किन्तु उन्हें अपने उद्देश्य में यथेष्ट सफलता न मिली। कारण उनके स्वर में खंडनात्मकता की चुभने वाली कर्कशता थी, जिससे हिन्दू-मुसलमान दोनों चिढ़े, किन्तु इन मुलायम स्वभाव के सूफियों ने किसी सम्प्रदाय विशेष का खंडन नहीं किया बल्कि दोनों जातियों के एकता के उद्देश्य में इन्हें अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली। कारण, इनकी पद्धति मनोवैज्ञानिक थी। आचार्य शुक्ल इस विषय में लिखते हैं—"प्रेम

स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर सूफी कवियों ने हिन्दू और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।"

(७) **नारी चित्रण**—सूफी काव्यों की यह बड़ी विशेषता है कि उनमें प्रेम का प्रमुख स्थान नारी पात्र को ठहराया गया है। वह परमात्मा का प्रतीक है। नारी एक वह नूर है, जिसके बिना विश्व सूना है। परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में—"सूफी कवियों ने नारी को यहाँ अपनी प्रेम साधना के साध्य रूप में स्वीकार किया है, जिसके कारण वह इनके यहाँ किसी प्रेमी के लौकिक जीवन की निरी भोग्य वस्तु-मात्र नहीं रह जाती। वह उस प्रकार की साधन सामग्री भी नहीं कहला सकती जिसमें उसे बौद्ध सहजयानियों ने मुद्रा नाम देकर सहज साधना के लिए अपनाया था। वह उन साधकों की दृष्टि में स्वयं एक सिद्धि बनकर आती है और इसी कारण इन प्रेमाख्यानों में उसे प्राय: अलौकिक गुणों से युक्त भी बतलाया जाता है, प्रेमाख्यानों में नायक और नायिका का विवाह सम्बंध अवश्य दिखा दिया जाता है, वह इसलिए क्योंकि पात्र अधिकतर हिन्दू होते हैं और विवाह ही उनके संयोग एवं मिलन का एकमात्र वैध उपाय ठहरता है। प्राय: इन काव्यों में स्वकीया का चित्रण है, हाँ कहीं-कहीं पर परकीया का भी चित्रण है।

(८) **प्रेम कहानियों की मूल प्रेरणा**—हिन्दी के कतिपय विद्वानों का विचार है कि इन सूफी कवियों का हिंदू घरों की प्रेम कहानियों के ब्याज से प्रच्छन्न रूप में इस्लाम का प्रचार करना अभीष्ट था, किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। इस सम्बन्ध में श्री परशुराम चतुर्वेदी के विचार द्रष्टव्य है—"इन कवियों ने अपनी रचनाओं में इसकी ओर कभी कोई संकेत नहीं किया और न इनके कथानकों से लेकर उनके क्रम विकास अथवा अन्त तक भी कोई ऐसा प्रसंग छेड़ा, जिससे उनका कोई सांप्रदायिक अर्थ लगाया जा सके। यह अवश्य है कि जहाँ तक घटनाओं की क्रम योजना का प्रश्न है, उसे इस प्रकार निभाया गया है, जिससे सूफी प्रेम साधना का भी मेल बैठ जाए। परन्तु फिर भी ऐसी बातें अधिक से अधिक केवल दृष्टान्तों के ही रूप में पाई जाती है, जिस कारण उनमें सांप्रदायिक आग्रह का भी रहना अनिवार्य नहीं है। इसके सिवाय इन प्रेमाख्यानों के नायक-नायिका, उनके दैनिक व्यापार, वातावरण तथा उनके सिद्धान्त व संस्कृति में कोई परिवर्तन नहीं लाया जाता और न कहीं पर यह चेष्टा की जाती है कि कथा-प्रवाह के किसी अंश में किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष के महापुरुषों द्वारा कोई मोड़ ला दिया जाए। इनमें प्रसंगत: यदि कोई हिन्दू जोगी व तपी आता है तो ख्वाजा खिज्र भी आ जाते हैं और दोनों लगभग एक उद्देश्य से काम करते पाये जाते हैं।" मुसलमान होने के नाते संस्कारवश प्रसंगानुकूल इस्लाम की चर्चा स्वाभाविक जान पड़ती है। जैनियों के प्रेम काव्यों में भी

ऐसा ही हुआ है। सूफियों ने किसी सांप्रदायिक आग्रह के कारण ऐसा किया हो, इस प्रकार की किसी भी भावना का आभास नहीं होता है।

(९) रस—इन प्रेमाख्यानों में प्रधानतः शृंगार रस की व्यंजना हुई है। सर्वप्रथम नायक नायिकाओं से आकर्षित होते हैं। उनकी प्राप्ति के लिए विरह-वेदना तथा नाना अन्य संकटों को झेलना पड़ता है। पूर्व राग को जागृत करने के लिए गुण-श्रवण, प्रत्यक्ष दर्शन तथा चित्र दर्शनादि उपायों का आश्रय लिया गया है। उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत सूफियों ने सखा-सखी, वन, उपवन, ऋतु परिवर्तन तथा भारतीय साहित्य में वर्णित अन्य उपकरणों का उल्लेख किया है। प्रासंगिक रूप से इन्होंने अनेक अनुभवों का भी दिग्दर्शन करा दिया है। संयोग शृंगार के वर्णन में इन्होंने इतनी रुचि नहीं दिखाई, जितनी कि विप्रलंभ शृंगार के वर्णन में, और न ही इन्होंने नायक एवं नायिकाओं के भेदों की उद्धरणी प्रस्तुत की है। इनके शृंगार-वर्णन में काम-शास्त्र का भी प्रभाव है।

शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य रसों का इन्होंने कम वर्णन किया है। वीर रस का वर्णन उन स्थलों पर हुआ है, जहाँ नायक ने आततायियों के दमन के लिए साहसिक कार्य किया है। पद्मावत में अलाउद्दीन के प्रस्ताव पर रत्नसेन द्वारा प्रकट किये गए रोष, तथा गोरा बादल युद्ध के प्रसंगों में वीर रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इन रचनाओं में कुछ प्रसंग ऐसे भी मिल जाते हैं, जहाँ पर करुण, शांत एवं बीभत्स जैसे रसों की किंचित् अभिव्यक्ति हुई है, किंतु इन कवियों ने शृंगारेतर रसों के परिपाक की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। हाँ इस दिशा में जायसी और नूर मुहम्मद अपवाद कहे जा सकते हैं।

(१०) प्रतीक विधान—सूफी कवियों का उद्देश्य लौकिक प्रेम कहानियों द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना करते हुए अव्यक्त सत्ता का आभास देना था। इस रहस्यात्मकता की अभिव्यक्त के लिए सांकेतिक विधान या प्रतीकों का उपयोग करना अनिवार्य हो जाता है। यही कारण है कि इन्होंने अपनी रचनाओं में प्रयुक्त कतिपय शब्दों को सांकेतिक रूप दे दिया है। जहाँ ऐसा नहीं किया गया वहाँ उस रचना के अन्त में कथा के वास्तविक रहस्य को समझा दिया गया है। जायसी के पद्मावत में "तन चितउर मन राउर कीन्हा" जैसी पंक्तियाँ इसी उद्देश्य की पूर्ति करती हुई दीख पड़ती हैं। उसमान ने अपनी चित्रावली में नायक-नायिका तथा वस्तुओं और स्थलों के नाम तक सांकेतिक दिये हैं, जैसे—उनके कथा के नायक का नाम सुजान है। नायिका के निवास स्थान का नाम रूप नगर है। स्थलों एवं पहाड़ों के नाम कवि ने क्रमशः भोगपुर, गोरखपुर और नेहनगर दिये हैं। कासिमशाह की रचना हंस-जवाहर में नायक का नाम हंस है जो कि जीवात्मा का बोधक है। कहीं कहीं पर इन्होंने प्रकृति के माध्यम से भी अव्यक्त सत्ता की सर्वव्यापकता का संकेत किया है, जैसे पद्मावत में "रवि ससि नखत दिपत ओहि जोती।" शुक्लजी का कहना है कि भावात्मक रहस्यवाद की जैसी सृष्टि इनमें हुई है, वैसी कबीर आदि संतों में नहीं हुई।

(११) **विविध प्रभाव**—हम पहले ही लिख चुके हैं कि सूफी मत पर चार प्रभाव विशिष्ट रूप से पड़े हैं—आर्यों का अद्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद, इस्लाम की गुह्य विद्या, नव अफलातूनी मत तथा विचार स्वातन्त्र्य। इन पर भारतीय प्रभाव तो स्पष्ट ही है। सूफियों ने वैष्णवों की अहिंसा को क्रियात्मक रूप से अपनाया है। उपनिषदों के प्रतिबिम्बवाद के अनुसार नाना रूपात्मक जगत् ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जायसी ने अनेक स्थलों पर जैसे "नयन जो देखा कमल भा···" में प्रतिबिम्बिवाद के साथ ही विचारसाम्य दिखाया है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भारतीय पंच महाभूतों में आकाश को छोड़कर अन्य चार स्वीकार किये हैं। हठयोग का प्रभाव इन पर स्पष्ट ही है। इन्होंने अनेक स्थलों पर यौगिक प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है। यौगिक के समान इन्होंने सिद्धपीठ भी माना है। इनके शृंगार का नख-सिख वर्णन कामशास्त्र से प्रभावित है। कुछ विद्वानों का यह विश्वास है कि भारतीय सूफी कवियों की प्रणय-भावना पर फारसी-साहित्य का अत्यधिक प्रभाव है, किन्तु यह विचार-समीचीन नहीं है। सूफियों की प्रणय-भावना भारतीय शृंगार रस की परम्परा में आती है। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि कम से कम उत्तरी भारत के सूफी प्रेमाख्यानों की प्रणय-भावना पर फारसी का प्रभाव नगण्य सा है। फारसी प्रेम-पद्धति का प्रभाव यदि कहीं पड़ा है तो वह दक्षिणी-भारत के हिन्दी-प्रेमाख्यानों पर है और वह भी वजही और परवर्ती लेखकों पर है।

(१२) **काव्य प्रकार**—सूफियों की प्रेममूलक रचनाएँ साहित्य-शास्त्र के अनुसार महाकाव्य की कोटि में आती हैं, किन्तु इनमें भारतीय महाकाव्यों जैसी सर्गबद्धता नहीं, बल्कि कुछ शीर्षकों का प्रयोग किया गया है और न ही इनमें नायक के उच्च कुल का ध्यान रखा गया है, क्योंकि यहाँ कवि का उद्देश्य किसी महान् चरित्र की अवतारणा न होकर प्रेम तत्व का प्रतिपादन है। हिन्दी के बहुत से विद्वानों ने इनकी शैली को मसनवी कहा है। मसनवी पद्धति के आधार पर कथा प्रारम्भ के पूर्व ईश्वरवंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा तथा आत्म-परिचय आदि दिया जाता है। इस विषय में एक बात स्मरण रखनी होगी कि इन कवियों ने अपनी कथाओं पर भारतीय रंग चढ़ाने के लिए भरसक प्रयत्न किया है। परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में—"जहाँ तक इन कवियों द्वारा अपनी रचनाओं का आरम्भ करते समय मंगलाचरण जैसे प्रसंगों के लाने का प्रश्न है, हम यहाँ पर भी इन्हें केवल मसनवी के रचियताओं का ही अनुकरण करते नहीं पाते, क्योंकि इसका भी एक रूप हमें जैन चरित्र-काव्यों में दीख पड़ता है। यहाँ पर हमें पैगम्बरों व नबियों की स्तुति की जगह तीर्थंकरों की वंदना मिलती है, शाहे वक्त की प्रशंसा की जगह आश्रयदाता के लिए कहे गए देश-भक्ति सूचक शब्द दीख पड़ते हैं तथा प्रायः एक ही प्रकार से बतलाये गए वे आत्म-परिचय उपलब्ध होते हैं, जिनमें अपनी विनम्रता सूचित की गई रहती है।" आगे चलकर वे सूफियों के काव्य प्रकारों को अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"सूफी प्रेमाख्यान एक ऐसी रचना है, जिसमें किसी प्रबंध

काव्य के प्राय: सभी तत्त्व वर्तमान हैं, किन्तु जिसमें इसके साथ ही, कथा-आख्यायिका, जैन चरित काव्य एवं मसनवी की भी विशेषताओं का समन्वय हो गया है और यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है।"

इन रचनाओं में प्रबंध शैली के अतिरिक्त मुक्तक शैली का भी प्रयोग किया गया है। मुक्तक शैली में दोहा, चौपाई, झूलना तथा कुण्डलियाँ आदि छंदों का प्रयोग हुआ है। प्रबन्ध काव्य में दोहा-चौपाई शैली को अपनाकर जायसी कदाचित् इस दिशा में महाकवि तुलसी के पथ प्रदर्शक बने हैं।

हिन्दी सूफी साहित्य में यद्यपि गद्य साहित्य का अभाव है तथा जायसी का अखरावट, हाफ़ी वली का प्रेमनामा, वजहन का अलिफनामा और किसी कवि का अल्लानामा आदि ग्रंथ फारसी के निबन्ध साहित्य के आधार पर लिखे गये प्रतीत होते हैं, जिनमें सूफी सिद्धान्तों का सुन्दर विवेचन किया गया है, इनको हम पद्य-बद्ध निबन्ध कह सकते हैं।

(१३) **भाषा**— सूफी प्रेमाख्यानों की भाषा प्राय: सर्वत्र अवधी है। उसमान और नसीर पर भोजपुरी का भी प्रभाव है। नूर मुहम्मद ने कहीं-कहीं ब्रज भाषा का भी प्रयोग किया है। इन कवियों ने अवधी भाषा में तद्भव शब्दों का बहुत प्रयोग किया है। सूफी कवियों ने अवधी भाषा के मुहावरों तथा लोकोक्तियों का भी अच्छा प्रयोग किया है। कुछ विद्वानो का विचार है कि जायसी की लोक-प्रचलित अवधी भाषा में जो स्वाभाविकता है, वह तुलसी की साहित्यिक अवधी में नहीं।

(१४) **छन्द**—सूफियों ने अपने प्रेमाख्यानों में अपभ्रंश के चरित काव्यों के समान दोहा-चौपाई शैली को अपनाया है। कितनी अर्द्धालियों के बाद घत्ता देने के लिये दोहा या अरिल्ल आदि छंद का प्रयोग किया जाये, इस सम्बन्ध में किसी एक नियम का पालन नहीं किया गया। दोहा, चौपाइयों अथवा द्विपदियों के अतिरिक्त सूफी प्रेमाख्यानों में सोरठे, सवैये, प्लवंगम और बरबै जैसे छंदों का प्रयोग भी कभी-कभी कर लिया है। कहीं-कहीं पर फारसी की बहरों का भी प्रयोग कर लिया गया है।

(१५) **अलंकार**—इस दिशा में इन्होंने बहुधा प्रचलित परम्परा का अनुसरण किया है। फारसी साहित्य से बहुत कुछ प्रभावित रहने पर भी इन्होंने भारतीय क्षेत्र से उपमानादि का ग्रहण किया है। इस सम्बन्ध में परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं—"किसी रमणी के विरह पीड़ित शरीर को नितांत रूप से गला व जला हुआ बतलाना अथवा उसके रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा करते समय उसके गले से उतरती पीक को बाहर से स्पष्ट झलकती हुई कह डालना फारसी साहित्य की वर्णन शैली का स्मरण अवश्य दिला देता है, किन्तु ऐसे कथन भी यहाँ प्राय: उपयुक्त स्थलों पर ही पाये जाते हैं और वे उतने हास्यास्पद भी नहीं बन जाते।" सूफियों ने समासोक्ति का प्रयोग बहुत सुन्दर किया है। सूफी कवियों में समासोक्ति के सबसे अधिक सफल प्रयोक्ता जायसी

हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा तथा रूपक आदि अलंकारों का भी इन्होंने सम्यक् प्रयोग किया है।

सूफी रचनाओं में जहाँ एक ओर लोकरंजन है, वहाँ उनमें लोक-मंगल का भी विधान है। जहाँ इन रचनाओं द्वारा, धर्म, सम्प्रदाय और वर्गगत भेदभावों को हटाने का प्रयत्न किया गया है, वहाँ प्रेम के सार्वभौम स्वरूप का भी प्रतिपादन किया गया है। सूफी प्रेमाख्यानों का संदेश एवं सार है:—

तीनि लोक चौदह खंड, सबै परै मोहिं सूझि।
प्रेम छांडि नहि लोन किछु, जो देखा मन बूझि॥

(१६) **मध्ययुगीन प्रेम काव्यों की समान परम्परा**—मध्य युग में प्रणीत सूफी एवं असूफी प्रेम कथाओं में प्रवृत्तियाँ समान रूप से विद्यमान हैं। इन प्रेम-गाथाओं में विस्मय, दैवी और अलौकिक तत्त्व समान रूप से मिलते हैं। रोमांस प्रधान होने के कारण इन सबमें साहसिकता और शौर्य का भी सम्मिश्रण है। सभी प्रेम कहानियों में भारतीय वातावरण बना रहा है। चाहे इसका कथानक भारत से लिया गया अथवा विदेश से। सभी में भारतीय श्रृंगार की परम्पराओं का पालन है। सबमें समान रूप से कथानक रूढ़ियों का प्रचलन रहा है। ऐतिहासिक और काल्पनिक प्रेम कथाओं की अपेक्षा लोकगाथाओं पर आधृत प्रेमकथाओं में लोकतत्त्व की मात्रा अधिक है।

संत एवं सूफी काव्यों की प्रवृत्तियों की तुलना

सन्त तथा सूफी मतों का उदय हिन्दू-मुसलमानों में एकता की प्रतिष्ठा के लिए हुआ। सन्तों ने उसे धार्मिक अभिन्नता के प्रतिपादन द्वारा सम्पन्न करना चाहा जबकि सूफियों ने दोनों जातियों की सांस्कृतिक एकता द्वारा उसे पूरा किया। संभवत: इस दिशा में सूफियों को अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली। सन्त एवं सूफी मतों में कोई पौर्वापर्य या जन्य-जनक भाव नहीं है। सूफी धर्म का प्रवेश भारत में ईसा की बारहवीं शताब्दी में हुआ। ईरान और अरब देशों के उपकरणों को लेता हुआ भी यह मत भारतीय वातावरण, धर्म, संस्कृति और साहित्य से प्रभावित हुआ। इन प्रभावों का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। इधर सन्त मत का प्रादुर्भाव भक्ति-आंदोलन की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। यह मत भारत भूमि में जन्मा और पला, अत: इसके प्राय: सभी उपकरण भारतीय ही थे। कुछ विद्वानों ने सन्त मत को इस्लाम का विशुद्ध भारतीय संस्करण माना है, परन्तु यह एक बड़ी भारी भ्रांति है। सन्त मत पर आंशिक रूप से इस्लाम का प्रभाव तो पड़ा और ऐसा होना स्वाभाविक भी था। उस युग में शनै: शनै: संग्राहक बुद्धि हिन्दू और मुसलमानों में उत्पन्न हो चुकी थी और प्रत्येक क्षेत्र में पारस्परिक आदान-प्रदान भी आरम्भ हो गया था। नि:सदेह कुछ मुस्लिम शासक अत्यन्त कट्टर और कठोर थे, परन्तु कुछ शासक ऐसे भी थे जो कि सहिष्णु और उदार थे। बाबर, शेरशाह और अकबर इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

दारा शिकोह जैसे मुसलमान बादशाह ने उपनिषद् ज्ञान प्राप्त किया था। सूफी फकीर तबियत के अत्यन्त मुलायम थे। इन्होंने समस्त विश्व में प्रेम की सर्वव्यापकता देखी और भारतीय दर्शन के प्रति विशेष रुचि तथा आस्था दिखलाई। इस प्रकार राजाओं से लेकर दरवेशों तक ने भारतीय दर्शन के प्रति उत्सुकता प्रदर्शित की। सन्त और सूफी मत दोनों ही एक उद्देश्य को लेकर चले, दोनों एक ही वातावरण में पनप कर समान स्रोत से प्रेरणा ले रहे थे, अतः दोनों में बहुत कुछ साम्य आ गया और दोनों अपनी कतिपय मौलिक मान्यताओं को भी बनाये रहे; अतः उनमें वैषम्य भी बना रहा। निम्नलिखित पंक्तियों में हम इन मतों के काव्यों के साम्य तथा वैषम्य को स्पष्ट करेंगे :—

साम्य—१. दोनों काव्यों में गुरु या पीर को अत्यन्त महत्व दिया गया है। गुरु ही साधक को सिद्धि तक पहुँचाने का माध्यम है। गुरु-कृपा से माया तथा शैतान के व्यवधानों का विध्वंस होता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि सन्तों में यह गुरुवाद सूफियों की खिलाफत से आया है, क्योंकि भारतीय संस्कृति में भी गुरु अथवा आचार्य का महत्व केवल ज्ञानदाता अथवा विद्य-प्रदाता के रूप में स्वीकृत है, सूफीमत के समान यह मुक्ति प्राप्त का साधन नहीं है। अस्तु। भारतीय संस्कृति में भी गुरु मुक्ति प्राप्ति का समवयि हेतु है। गुरु के बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं।

२. दोनों काव्यों में प्रेम का अत्यधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है। दोनों के मतानुसार निराकार प्रेम गम्य है। सन्तों के यहाँ प्रेम व्यक्तिगत साधनों में व्यवहृत है, जबकि सूफियों ने लौकिक प्रेम कहानियों के द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना करके प्रेम की सार्वभौमिकता दिखलाई है। सूफी मत में प्रेम मुख्य रूप से स्वीकृत है, जबकि सन्तों में वह गौण रूप से।

३. दोनों साधक हैं। दोनों का साधना-पथ विविध प्रभावों से प्रभावित है। दोनों पर हठयोग, भारतीय अद्वैतवाद, वैष्णवी अहिंसा का समान रूप से प्रभाव है। दोनों का ईश्वर निराकार है। उसे प्राप्त करने का सबको समान अधिकार है, उसमें जाति-पाँति, ऊँच-नीच का कोई, भेदभाव नहीं है। दोनों की सामाजिक मान्यताएँ प्रायः एक-सी है।

४. माया या शैतान को दोनों ने साधना-पथ में व्यवधान के रूप में स्वीकार किया है। सन्तों ने कनक और कामिनी को माया का प्रतीक माना है। सन्तों ने माया को सर्वथा त्याज्य माना है जबकि सूफियों ने साधक की प्रेम परीक्षा के लिए तथा उसमें दृढ़ता प्रदान करने के लिए शैतान की आवश्यकता स्वीकार की है।

३. दोनों ने अव्यक्त सत्ता की प्राप्ति का संकेत किया है अतः दोनों रहस्यवादी हैं। दोनों के अनुसार उस रहस्यमय का मिलन प्रेम से सम्भव है। आचार्य शुक्ल का कहना है कि "सूफियों का रहस्यवाद शुद्ध भावात्मक कोटि में आता है, जबकि

सन्तों का रहस्यवाद साधनात्मक कोटि में, क्योंकि उसमें विविध यौगिक प्रक्रियाओं का उल्लेख है।

६. दोनों ने विरह का उन्मुक्त गान किया है। दोनों में एक अनूठी कसक और वेदना है। सूफियों का विरह विश्वव्यापी है। रवि, शशि और नक्षत्र उसी के विरह में जल रहे हैं। सूफियों के विरहियों के साथ चराचरात्मक जगत् सहानुभूति प्रकट करता है, उसमें पादप और पक्षी तक समान रूप से भाग लेते हैं। सन्तों ने जगत् को मिथ्या माना है, अतः प्रकृति उनके विरह-वर्णन में उपेक्षणीय रही है और उनका विरह व्यक्तिगत बनकर रह गया है। उसमें सूफियों जैसी विश्व-व्यापकता नहीं।

वैषम्य—१. सन्तों की प्रणय-भावना विशुद्ध भारतीय है। इन्होंने आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पति के रूप है माना है, जबकि सूफियों ने आत्मा को प्रियतम और परमात्मा को प्रियतमा के रूप में कल्पित किया है। इनकी यह कल्पना ईरानी प्रभाव का परिणाम है। सन्तों ने मिलनोत्सुकता आत्मा रूप पत्नी में दिखाई है जबकि इसके विपरीत सूफियों ने वह उत्कंठा आत्मा रूपी पति में चित्रित की है। सन्तों के प्रेम का मूल स्रोत भारतीय है, जबकि सूफियों का इस दिशा में प्रेरणा स्रोत फारसी साहित्य है।

२. सन्तों ने हिन्दू-मुस्लिम-एकता के उद्देश्य की पूर्ति धार्मिक एकता द्वारा सम्पन्न की, जबकि सूफियों को उस उद्देश्य की उपलब्धि सांस्कृतिक एकता द्वारा अभीष्ट थी और कदाचित् इस दिशा में सूफी अधिक कृतकार्य रहे। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी, वह जायसी ने पूरी की।"

३. कबीर आदि सन्तों ने सामाजिक सुधारों और धार्मिक एकता के लिए खडनात्मकता के प्रखर शस्त्र का उपयोग किया। इससे अनेक सम्प्रदाय, हिन्दू तथा मुस्लिम पूरी तरह चिढ़ उठे। जायसी आदि ने किसी सम्प्रदाय विशेष का खण्डन नहीं किया, बल्कि हिन्दू घरों की प्रेम कहानियों द्वारा प्रेम की विश्वजनीनता का प्रतिपादन किया। सांस्कृतिक एकता के लिए उन्हें ऐसा करना अनिवार्य था।

४. कबीर आदि सन्तों का व्यक्तित्व एकमात्र अक्खड़ है। कबीर तो यहाँ तक दावा करते हुए चुनौती देते हैं कि जिस शरीर रूपी चादर को मुनिवरों ने ओढ़ कर मलिन कर दिया है, उसी को कबीर ने उसी ही रूप में धर दिया है, जिस रूप में वह मिली थी। कभी-कभी कबीर अपने मुख से कहने लगते हैं—समरथ का सन्देशा लाये हंस उबारन आये।" सूफियों के व्यक्तित्व में सरलता और विनम्रता है। इनके व्यक्तित्व का यह गुण उनकी रचनाओं में सर्वत्र प्रतिफलित हुआ है।

५. सन्तों ने अपने भावों की अभिव्यक्ति मुक्तक काव्य के रूप में की है, उनके साहित्य में अधिकांश में दोहे और भजन मिलते हैं जबकि सूफियों ने प्रबन्ध काव्यों के द्वारा भावाभिव्यक्ति की है। सूफियों ने कहीं-कहीं मुक्तक शैली का भी प्रयोग किया है। इनके "आखरी कमाल" जैसे ग्रंथ पद्यात्मक निबन्ध कहे जा सकते हैं। काव्यशास्त्रीय ज्ञान के सम्बन्ध में सूफी लोग सन्तों की अपेक्षा कुछ आगे बढ़े हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

६. सन्त काव्यों की भाषा सधुक्कड़ी या खिचड़ी है। इसमें भिन्न-भिन्न प्रान्तों की भाषाओं का सम्मिश्रण है जब कि सूफियों की भाषा अपेक्षाकृत व्यवस्थित है, इनकी भाषा लोक-प्रचलित अवधी है। उसमान और नसीर पर भोजपुरी का भी प्रभाव है। नूर मोहम्मद ने कहीं-कहीं ब्रजभाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है। इनमें अरबी और फारसी शब्दों का प्रयोग भी मिलता है।

७. दोनों का ईश्वर निराकार है। सन्तों ने उसे ज्ञान तथा प्रेम से लभ्य माना है। इनके यहाँ ज्ञान प्रधान है और प्रेम गौण। सूफियों ने ईश्वर को एकमात्र प्रेम-गम्य बताया किन्तु इनके यहाँ भी ज्ञान की स्वीकृति है, पर यह गौण रूप में। सन्त कर्म-कांड की उपेक्षा करके केवल ज्ञान-काण्ड को चाहते हैं, पर सूफी कर्म-कांड तथा ज्ञान-काण्ड दोनों में रुचि रखते हैं।

८. सन्त काव्य में अन्तःसाधना पर बल दिया गया है। इनका निर्गुण राम घट-घट में है। इनकी धारणानुसार ईश्वर सत्य है और जगत् मिथ्या है। अतः इन्होंने प्रकृति को उदासीन दृष्टि से देखा है। सूफियों का प्रेमस्वरूप ईश्वर प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है। अतः प्रकृति उनके लिए आकर्षणमय एवं स्पृहणीय है। इन्हें 'रवि, ससि नखत उसकी दीप्ति' से दीपित दिखाई पड़ते हैं। सूफियों के काव्य में प्रकृति का रागात्मक वर्णन है। इन काव्यों में प्रकृति प्रेमियों के विरह में शरीक होती दिखाई पड़ती है।

९. सन्त मत पर सिद्धों और नाथों का प्रभाव स्पष्ट है। सिद्ध और योगी लोग अपने अलौकिक चमत्कारों से चमत्कृत कर रहे थे—और इसलिए वे कुछ उलटी-सीधी वाणी का विधान कर रहे थे। सन्तों ने कदाचित् इन लोगों के परिणामस्वरूप उलटबाँसियों का प्रयोग किया, जिनमें उनका केवल पांडित्य प्रदर्शित हुआ है। सूफियों ने लोकरंजक एवं मंगलविधायक प्रबन्ध काव्यों की सृष्टि की है, उनमें कहीं भी ऐसी उलटबाँसियाँ नहीं हैं।

१०. सन्त साधक हैं और उनका उद्देश्य हंस को सन्देशा देना है, उन्हें धर्म, जाति और वर्ग के भेद को तथा बाह्य विधि-विधानों को दूर करना है। उनके इस सन्देश में कविता का पुट भी आ गया है किन्तु उनका प्रधान उद्देश्य समरथ का परवाना पहुँचाना है। सूफी साधक भी हैं और कवि भी। उनकी साधना सहज और सरल है। उसमें काव्य की भी नैसर्गिक छटा है। सन्त काव्य में परिवर्तन और परिवर्द्धन हुआ, जबकि सूफी काव्यों में यह बात अपेक्षाकृत कम हुई।

फारसी व हिन्दी के सूफी प्रेम काव्यों की प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन

प्रायः विद्वानों ने हिंदी के सूफी प्रेमाख्यानों को फारसी की मसनवी शैली पर लिखे गये प्रेमाख्यानों की अनुकृति मात्र कहा है. जो कि संगत नहीं है। उक्त दोनों काव्यों की प्रवृत्तियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। दोनों काव्यों में कतिपय समानताएँ हैं, किन्तु समानताओं की अपेक्षा इनमें वैषम्य अधिक है।

समानताएँ

(१) **कथानक**—दोनों काव्यों में प्रेम की प्रधानता है। कथानकों का नियोजन प्रेम के उत्कर्ष को दर्शाने के लिए किया गया है। परिणामतः कथानकों के प्रेमाश्रित होने के कारण वे गौण रह गये हैं। दोनों के कथानकों में पत्रवाहक और संदेशवाहक पक्षी हैं। इस दिशा में कबूतर, सुआ तथा हंस आदि की चर्चा की गई है। इस दिशा में यह स्मरणीय है कि नाना पक्षियों के समावेश से भी काव्यों में कहीं असानवीयता नहीं है। कई प्रेम काव्यों के कथानक ऐतिहासिक हैं किन्तु उसकी ऐतिहासिकता अक्षुण्ण नहीं रह सकी है। लेखकों ने प्रेम के घात-प्रतिघातों को दिखाते समय इतिहास को भुला दिया है।

(२) **चरित्र-चित्रण**—प्रेम-काव्यों के नायक रूपवान तथा परम प्रेमी हैं, उनमें रसिकता नहीं हैं। वे वासना-पूर्ति के लिए नायिकाओं के जीवन के साथ विडंबना नहीं करते हैं। नायिकाएँ भी आदर्श प्रेमिकाएँ हैं। दोनों ओर से सहर्ष प्राणों का उत्सर्ग तक कर दिया जाता है। प्रायः नायिकाएँ सती होने के लिए तैयार रहती हैं।

(३) **कथोपकथन**—उपर्युक्त दोनों काव्यों में कथोपकथनों में मनोवैज्ञानिकता से काम लिया गया है।

(४) **वियोग-वर्णन**—फारसी प्रेम-काव्यों में नायक नायिकाओं के वियोग वर्णन में बाह्य पक्ष पर अत्यधिक बल दिया गया है, किन्तु सूफियों के प्रेमाख्यानों में वियोग के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों रूपों का अपेक्षित ध्यान रखा गया है। फारसी प्रेम काव्यों में वियोग का आंतरिक पक्ष नग्न-सा है।

(५) **शैली**—फारसी के मसनवियों के समान सूफी प्रेम-काव्यों में भी स्तुति-खण्ड है, जिसमें ईश्वर, मुहम्मद, उनके खलीफा, तत्कालीन शासक तथा गुरु आदि की प्रशंसा की गई है। दोनों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और अतिशयोक्ति अलंकारों का प्रचुर प्रयोग है।

असमानताएँ

(१) **कथानक**—सूफी प्रेमाख्यानों में प्रसंगानुसार यत्र-तत्र गूढ़ाभिव्यंजना दृष्टिगोचर होती है जबकि फारसी के प्रेम-काव्यों में इसका प्रायः अभाव है। फारसी मसनवियों में नायिका की प्राप्ति और उसके साथ विवाह कर लेने पर नायक का अन्यों के साथ विवाह करवा दिया जाता है, जबकि हिन्दी सूफी प्रेमाख्यानों में प्रायः

बहु विवाह को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है। नायक का प्रधान अभीष्ट नायिका की उपलब्धि है। भारतीय सूफी प्रेमाख्यानों में भारतीय वातावरण की स्थापना पर बराबर ध्यान रखा गया है।

(२) चरित्र-चित्रण—फारसी प्रेम-काव्यों में नायक साधारण कोटि के पुरुष हैं और नायिका का भी सुन्दरी होना आवश्यक नहीं है। मजनू और फरहाद साधारण पुरुष हैं। लैला कोई विशेष सुन्दरी नहीं है। हिन्दी प्रेमाख्यानों के नायक ऐश्वर्य सम्पन्न राजकुमार या राजा हैं। उनके रूप और गुणों की सर्वत्र चर्चा होती है। जिससे कि नायिकाएँ आकर्षित हो जाती हैं। नायिकाएँ भी पद्मिनी और चित्रणी कोटि की हैं। फारसी तथा हिंदी के सूफी प्रेमाख्यान-काव्यों के प्रतिनायकों के स्वरूप में भी महान् सत्ता है।

(३) कथोपकथन—फारसी प्रेम-काव्यों के कथोपकथनों का आकार-प्रकार विशाल है। कहीं-कहीं तो उनमें आनुपातिकता को भी अवहेलना की गई है। हिन्दी सूफी प्रेमाख्यान-काव्यों के कथोपकथन अपेक्षाकृत संक्षिप्त हैं।

(४) वर्णन-शैली—हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानों में मध्यकालीन वर्णनात्मक शैली का व्यवहार किया गया है। इनमें नगर, उपवन तथा सरोवर आदि के वर्णन हैं। स्त्रीभेद, कामशास्त्रीय वर्णन, बरात-वर्णन, भोजन-वर्णन, अश्व और गजादि वर्णन तथा इसी प्रकार के अन्य वर्णनों का बाहुल्य है। मध्यकालीन भारतीय वाङ्मय की इस प्रकार की वर्णन शैली को वर्णक नाम से अभिहित किया गया है। फारसी प्रेम काव्यों में इसका अभाव है। हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यान काव्यों की तथाकथित मसनवी शैली फारसी की मसनवी शैली से भिन्न है। इसकी चर्चा हम यथा-प्रसंग आगे करेंगे।

(५) फारसी प्रेमाख्यान काव्यों के प्रणयन का उद्देश्य धनार्जन है जबकि हिन्दी सूफी प्रेमाख्यान मनोरंजनार्थ प्रणीत हुए हैं। कतिपय इतिहास-लेखकों ने हिन्दी सूफी काव्यों के लिखे जाने का उद्देश्य धर्म-प्रचार माना है जो कि नितांत भ्रामक है। इसकी चर्चा भी यथाप्रसंग आगे की जावेगी। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इन दोनों काव्यों में सादृश्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक है। इन दोनों के बाह्य पक्षों में समानता होते हुए भी आंतरिक पक्ष में महत्वपूर्ण भेद है।

सूफी काव्य-परम्परा और विकास

हिन्दी साहित्य में सूफी काव्यों के आरम्भ के समय के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। सूफी कवि जायसी ने अपने पद्मावत में अपने पूर्ववर्ती कुछ प्रेम काव्यों का उल्लेख किया है।

> विक्रम धंसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा।
> मधू पाछ मुगुधावति लागी। गगन पूर होइगा बैरागी॥
> राज कुंवर कंचनपुर नयऊ। मृगावति कहं जोगी भयऊ।

साधा कुंवर खंडावत जोगू । मधुमाल तिकर कीन्ह वियोगू ।
प्रभावति कहं सुरसरि साधा । ऊषा लागि अनिरुध बर बांधा ।

उक्त पद्य के अनुसार जायसी से पूर्व—स्वप्नावती, मुग्धावती, खंडरावती, मधुमालती और प्रेमवती काव्य लिखे जा चुके थे । किन्तु उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यानों में से काल-क्रमानुसार सर्वप्रथम रचना "चन्दायन" ही समझी जाती है । इसका रचना-काल सन् १३७७ या १३७९ ई० (सं० १४३४-१४३६) जान पड़ता है । तब से अर्थात् चौदहवीं शतव्दी से लेकर लगभग आज तक छः सौ वर्षों के समय तक सूफी काव्यों की रचना होती रही है । इन रचनाओं के क्रमिक विकास के अनुसार हम इस दीर्घ अवधि को तीन युगों में विभाजित कर सकते हैं ।

(क) आदि काल (ई० सन् की चौदहवीं शती के उत्तरार्ध से लेकर १५वीं शती के अन्त तक)

(ख) मध्ययुग (ई० सन् की सोलहवीं शती से लेकर १८वीं शती के अन्त तक)

(ग) उत्तर काल (१९वीं शती से लेकर बीसवी शती की आज तक की अवधि तक)

(क) **आदि काल**—इस काल की एकमात्र उपलब्ध रचना 'चन्दायन' है । हम केवल उसी के आधार पर तत्कालीन सूफी काव्यों की प्रवृत्तियों का अनुमान लगा सकते हैं । उन दिनों केवल घटनाओं के विवरण को महत्व दिया जाता था तथा नायकों के अलौकिक बल, वीर्य, दैवी शक्ति की सहायता, एवं चमत्कारपूर्ण प्रसंगों का समावेश किया जाता था । इस काल में प्रमुख रूप से दो रचनाएं उल्लेखनीय हैं—मुल्लादाऊ कृत 'चन्दायन' तथा शेख कुतबन कृत 'मृगावती' ।

मुल्लादाऊद अल्लाउद्दीन के समय में हुए । इनकी रचना चन्दायन की कथा प्रचलित एक लोक गाथा है । इसके पात्र एवं घटना निम्न वर्ग के समाज के साथ सम्बद्ध हैं । इसमें शुभाशुभ शकुन, जादू-टोना और मंत्रादि का भी उल्लेख है । घटना वर्णन पर अत्यधिक बल दिया गया है । इसकी भाषा और रचना-शैली सीधी-सादी है ।

शेख कुतुबन की मृगावती भी एक प्रेम कहानी को लेकर चलती है । इसका नायक राजकुमार है । नायिका भी इसी कोटि की है । यहाँ नायिका को उड़ने की विद्या में निपुण बताया गया है । वह न केवल अपने प्रेमी को धोखा दे सकती है, अपितु अपने पिता का देहांत हो जाने पर उसकी जगह राज्य का भार भी संभालने लग जाती है । इसमें भी कौतूहलवर्धन के लिए घटनाओं पर अत्यधिक बल है । लेखक शैली के प्रति अपेक्षाकृत कुछ अधिक सतर्क रहा है ।

रंजन का समय मुल्लादाऊद के बाद आता है । 'प्रेमवनजीव निरंजन' इनकी रचना कही जाती है, जायसी ने इसे शायद प्रेमावती के नाम से अभिहित किया है ।

(ख) मध्य युग—सूफी प्रेम काव्यों का यह स्वर्ण युग है। श्री परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में "इस काल के प्रथम सौ वर्षों में हमें वस्तुतः पूर्वकालीन बातों की ही आवृत्ति, उन पर आश्रित काव्य-सौन्दर्य एवं रचना-चातुर्य की विविध अभि-व्यक्तियों के साथ दीख पड़ती है। फिर उसके दूसरे सौ वर्षों में हमें इनके पात्रों के क्षेत्रों के अन्तर्गत कुछ अधिक व्यापकता आ गई लक्षित होती हैं और इनके पात्रों के स्वभावादि में भी आ गये कुछ न कुछ परिवर्तनों के दर्शन होने लगते हैं, तथा इसी प्रकार कभी इनमें फारसी साहित्य से उधार ली गई कतिपय बातों का अन्तर्भाव भी प्रकट होने लग जाता है। इसके अन्तिम दो सौ वर्षों में तो हमें इस बात के भी प्रमाण अच्छी मात्रा में मिलने लगते हैं कि सूफियों की इस रचना-पद्धति का मूल उद्देश्य वस्तुतः साम्प्रदायिक ही रहा होगा।"

मलिक मुहम्मद जायसी का पद्मावत सूफी काव्य-परम्परा में एक जगमगाता रत्न है। इनकी रचना मृगावती के १७ वर्ष बाद में हुई। यह एक प्रौढ़ रचना है, इसमें काव्य-सौन्दर्य की एक अनुपम छटा है। इस ग्रन्थ का विस्तृत परिचय आगे चलकर दिया जायगा।

मंझन की रचना मधुमालती में नायक राजकुमार है और नायिका राज-कुमारी है। इन दोनों का प्रेम सम्बन्ध परियों के द्वारा सम्पन्न होता है। परियाँ राजकुमार मनोहर को मधुमालती की चित्रसारी में रातों-रात पहुँचा देती हैं और फिर उसे लौटा भी जाती है। मधुमालती माँ के शाप से चिड़िया के रूप में बदल जाती है। राजकुमार राज्य छोड़कर जोगी बन जाता है। इस कहानी के अध्ययन के पश्चात् कहा जा सकता है कि रचयिता ने जायसी की अपेक्षा कुतुबन के आदर्श का पालन अधिक रुचि से किया है।

उसमान की चित्रावली में घटना विस्तार पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया गया है। चित्रावली की कथा का आरम्भ शीघ्र नहीं होता। इसका नायक चित्रावली का चित्र देखकर एक अपना चित्र भी बना देता है। नायक और नायिका के मिलन-कार्य में एक दूत का उपयोग किया गया है। एक मन्दिर में दोनों का मेल होता है। घटना-विस्तार-प्रियता के कारण नायक को जंगल में पहुँचा दिया जाता है, वहाँ उसे अजगर निगल जाता है। एक बार उसे हाथी की चपेट भी सहनी पड़ती है। इसके सिवाय नायक को एक अन्य नायिका से विवाह भी करना पड़ जाता है। अन्त में कथा को सुखान्त बना दिया गया है। यह रचना बहुत कुछ पद्मावत के ढंग पर रचित दीख पड़ती है। इसमें एक बात और भी नई है कि इनके जोगी अंगरेजों को भी देख आये थे।

इसी समय में रचित जलालुद्दीन के ग्रन्थ "जमाल पच्चीसी" की एक हस्त-लिखित प्रति उपलब्ध हुई है। इसकी कविता साधारण सी है।

उसमान के समसामयिक कवि जान ने अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थों की रचना की। उन्होंने उनमें कई नवीन बातों का भी समावेश कर दिया है। उन्होंने अपनी

"रत्नावती" रचना के सम्बन्ध में बतलाया है कि वह किसी रूम निवासी महागुनी राय द्वारा महमूद गजनवी के लिये कही गई अद्वितीय कथा का भारतीय रूप है। मधुकर मालती नामक अपनी रचना के सम्बन्ध में उसने दास-प्रथा, हारूं-रशीद, तुर्किस्तान और अरमनी आदि का उल्लेख किया है। कवि ने अपनी रचनाओं के लिये जहां एक ओर प्रसिद्ध भारतीय पौराणिक कथा नल-दमयन्ती को चुना वहाँ दूसरी ओर "लैला मजनू" तथा "कथा खिजरखाँ साहिजादे' को चुना। कथा कहने में ये अत्यन्त निपुण थे। ये फतेहपुर (जयपुर) के निवासी थे।

उसमान के एक अन्य समकालीन कवि शेख नबी ने "ज्ञान दीप" नाम की रचना की सृष्टि की। इस रचना में कवि ने बिल्कुल भारतीय प्रेम-परम्परा का पालन किया है। इसमें कहीं-कहीं सामी प्रभाव भी आ गया है। इस ग्रन्थ में राजा ज्ञानदीप और रानी देवयानी की प्रेम कथा का वर्णन है।

इस युग में कवि अहमद हुए। इनके दोहे, सोरठे आदि अत्यन्त उत्तम बन पड़े हैं।

इधर हिन्दवी या दक्खिनी हिन्दी के साहित्य के इतिहास से पता चलता है कि यह काल वहाँ प्रेमाख्यान रचने के लिये स्वर्ण युग बन गया था। इसी समय वहाँ के प्रसिद्ध कवि गवासी, वजही, तवई और हाशमी ने सीमा कथाओं को लेकर अथवा उनके आदर्शों पर अपनी मसनवियाँ लिखीं। मुकीमी नुसरती और गुलाम अली ने भी इसी कार्य को पूरा किया। इन रचनाओं का प्रभाव उत्तरी भारत के सूफियों पर भी पड़ा। उदाहरणार्थ "अनुराग बाँसुरी" की रचना करते समय नूर मुहम्मद ने मुल्ला वजही के ग्रन्थ "सब रस" का अनुकरण किया। कासिम शाह ने अपने "हंस जवाहर" नामक ग्रन्थ को लिखते समय बहुत कुछ गवासी के "सेफुलमुलक" का अनुसरण किया है। शेख निसार ने भी हाशमी के युसुफ जुलेखां को अपनी कथा-वस्तु का आधार बनाया। इन सूफी कवियों में एक नई प्रवृत्ति काम करने लग गई थी। नूर मुहम्मद ने अपनी "अनुराग बाँसुरी की रचना इसलिये की थी कि वह कदाचित् संखवाद की रीति को मिटाने में समर्थ हो। उनका स्पष्ट शब्दों में कहना है कि "मेरी इस हिन्दी रचना का कोई विपरीत अर्थ न लगाये, क्योंकि मैं इसके द्वारा हिन्दू मार्ग पर नहीं चल रहा हूँ।"

(ग) उत्तर युग—इस युग में कोई अधिक संख्या में सूफी प्रेमाख्यानों का प्रणयन नहीं हुआ। इस काल की रचनाओं की प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में श्री परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं—"उन्नीसवीं शती से लेकर बीसवीं शती की अवधि तक इस प्रकार की सारी उमंगें प्रायः ठंडी पड़ती सी प्रतीत होती हैं। इस अन्तिम युग की अन्तिम रचनाओं में न तो कहीं जायसी की प्रतिभा है, न मंझन वा उसमान की सहृदयता है, न बान की योग्यता है, न नबी का पांडित्य है, न नूर मुहम्मद की कट्टरता है। इस क्षेत्र के सूफी कवियों की यदि कोई विशेषता है तो यह कदाचित् इस बात से भिन्न नहीं है कि उन्होंने अपनी रचनायें न्यूनाधिक व्यक्तिगत रुचि वा आग्रह के कारण

प्रस्तुत की हैं तथा भरसक व्यर्थ के आडम्बरों से भी बचाया है।" इस काल की तीन रचनाएँ हैं। प्रतापगढ़ के ख्वाजा अहमद ने सन् १६०५ में "नूरजहाँ" नाम का ग्रंथ रचा। इसमें ईरान के शहजादे तथा शहजादी की प्रेम कथा है। इसमें कहानी व पात्र कल्पित हैं। कहानी के अन्त में कहानी का आध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट कर दिया गया है। शेख रहीम ने सन् १६१५ में "भाषा प्रेम रस" की रचना की। इसकी भी कथा कल्पित है। कवि नसीर ने सन् १६१७ में "प्रेम दर्पण" नामक काव्य रचा। इसके कथानक का मूल स्रोत युसुफ जुलेखां की सामी प्रेम गाथा है। इस प्रकार सूफी प्रेम काव्य की परम्परा १४वीं शती से आज तक बराबर चली आ रही है।

प्रेम पीर के प्रचारक कवि जायसी

जीवन वृत—सूफी कवियों में सर्वश्रेष्ठ मलिक मुहम्मद जायसी के जन्म सम्वत् के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना कठिन है। हाँ अन्तःसाक्ष्य के आधार पर अनुमानतः इस विषय में अवश्य कुछ कहा जा सकता है। जायसी ने अपनी रचना "आखिरी कलाम" में एक स्थान पर लिखा है:—

भौ अवतार मोर नौं सदी।
तीस बरस ऊपर कवि बदी।

अर्थात् वे नवीं सदी हिजरी में जन्मे थे और तीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने आखिरी कलाम का प्रणयन आरम्भ कर दिया था। जायसी ने आखिरी कलाम की रचना ९३६ हि० में से ३० वर्ष निकाल देने पर ९०६ हि० सन् आता है जो कि इनका जन्म संवत् स्वीकार किया जा सकता है। उन्होंने अपनी रचना पद्मावत में शेरशाह को शाहे वक्त बताया है—"शेरशाह देहली सुलतानू, चारिउ खंड तपै जस भानू।" शेरशाह का शासन काल ९४७ हि० से आरम्भ होता है। पद्मावत का रचनाकाल उन्होंने ९२७ हि० बताया है—

सन नव सै सताइस अहा,
कथा आरम्भ बैन कवि कहा।

कुछ विद्वानों ने यहाँ ९२७ के स्थान पर ९४७ हि० उपयुक्त माना है। उनके कथनानुसार इस प्रकार जायसी के शेरशाह सूरी के समसामयिक होने में कोई असंगति नहीं आती। परन्तु हमारे विचार में यह मत असमीचीन है। कवि ने कथा का आरम्भ तो ९२७ हिजरी में कर दिया था, परन्तु जब कथा समाप्ति पर आई उस समय शेरशाह दिल्ली की गद्दी पर आसीन हो चुके थे। बंगाल के कवि अलावल ने पद्मावत का जो अनुवाद बंगला में किया है उसमें उसने इसका रचनाकाल ९२७ हि० ही बताया है। अस्तु, अन्तःसाक्ष्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि इनका जन्म ९०६ ई० में अर्थात् सन् १४९८ में हुआ। इनकी मृत्यु सन् १५४२ में बताई जाती है। ९११ हि० में एक बहुत बड़ा भूकम्प आया था और ९१२ में सूर्य ग्रहण भी हुआ था। जायसी ने अपनी रचनाओं में इन दोनों बातों का उल्लेख किया है।

निवास-स्थान—"जायस नगर मोर अस्थानू" के अनुसार जिला रायबरेली में जायस नगर में ये जन्मे। जायस नगर में जन्म लेने के कारण ही ये जायसी कहलाये। डॉ० सुधाकर द्विवेदी तथा आचार्य ग्रियर्सन ने निम्नांकित पंक्तियों के आधार पर :—

जायस नगर मोर अस्थानू,
तहां आइ कवि कीन्ह बखानू।
तथा
तहां दिवस दस पाहुने आएऊं

अनुमान लगाया है कि जायसी किसी दूसरे स्थान से आकर यहाँ बसे थे, किन्तु शुक्ल जी का कहना है कि ये जायस नगर के ही निवासी थे। मेहमान तो वे साधक के नाते थे। दूसरे, यहाँ पर लाक्षणिक प्रयोग ही है। जायसी ने अपनी रचनाओं में अन्य किसी स्थान का उल्लेख नहीं किया है।

गुरु—इन्होंने अपने पीर के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है :—

सैय्यद अशरफ पीर हमारा।
जेहि मोहि पंथ दीन्ह उजियारा॥

माता-पितादि—इनके पिता का नाम मलिक शेख ममरेज या मलिक राजे अशरफ का। बचपन में ही माता-पिता की मृत्यु के कारण ये साधुओं और फकीरों की संगति में रहने लगे थे। किंवदन्तियों के अनुसार जायसी का विवाह भी हुआ था और इनके पुत्र मकान के नीचे दब कर मर गये थे। अन्तःसाक्ष्य के द्वारा यह स्पष्ट है कि जायसी कुरूप, एक नेत्र से विहीन तथा एक कान से रहित थे। यह सब कुछ शीतला के प्रकोप का फल था। एक दफा जब शेरशाह ने इनकी कुरूपता का उपहास उड़ाया तो इन्होंने बड़े शान्त भाव से उत्तर दिया "मोहि का हँससि, के कोहरहिं ?" अर्थात् तुम मुझ पर हँसे हो अथवा उस कुम्हार (ईश्वर जिसने मुझे बनाया है) पर। शेरशाह अत्यन्त लज्जित हुए और इनका अत्यधिक सम्मान किया। अमेठी नरेश रामसिंह भी इन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। जायसी उनके गुरु थे। कहा जाता है कि जायसी के आशीर्वाद के फलस्वरूप अमेठी नरेश के यहाँ पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ था। भगवान ने जहाँ इन्हें रूप देने में कृपणता दिखाई थी, वहाँ शुद्ध प्रेमपरायण हृदय देने में तथा मधुर कंठ प्रदान करने में उतनी ही उदारता दिखाई थी। जायसी के नागमती के बारहमासे के नीचे के दोहे से अमेठी नरेश बहुत प्रभावित हुए थे :—

कंवल जो विगसा मानसर बिन जल गएउ सुखाय।
रूखि वेलि फिरि पलुहै जो पिउ सींचै आय॥

इनका प्राणान्त अमेठी के आस-पास के जंगलों में एक शिकारी के तीर से हुआ। अमेठी नरेश ने जायसी की यहीं पर एक समाधि बनवा दी, जो अब भी

मौजूद है।

रचनाएं—अभी तक जायसी की तीन रचनाएँ प्रकाश में आई हैं—(१) आखिरी कलाम ९२७-९३६ हि० (२) पद्मावत ९२७-९४७ हि०, (३) अखरावट पद्मावत के बाद की रचना। आखिरी कलाम और अखरावट का साम्प्रदायिक दृष्टि से महत्व है, साहित्यिक दृष्टि से कुछ महत्व नहीं। आखिरी कलाम में सृष्टि के अन्त तथा मुहम्मद साहब के महत्व का वर्णन है। इसमें बताया गया हैं कि सृष्टि के अंत में क्या अवस्था होती है तथा उस समय जिब्राईल आदि फरिश्ते क्या करते हैं। यह एक सूफी सिद्धांतों का ग्रन्थ है।

अखरावट में ईश्वर, जीव, ब्रह्म, सृष्टि-निर्माण, गुरु तथा धर्माचार आदि की सैद्धांतिक विवेचना की गई है। कवि की आध्यात्मिक विचार-धारा के अध्ययन के लिए अखरावट का अध्ययन आवश्यक है। इसकी रचना बारह खड़ी प्रणाली पर की गई है।

पद्मावत हिन्दी साहित्य का एक अनमोल रत्न है। इसमें रत्नसेन और पद्मावती की लौकिक प्रेम कहानी के द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की गई है। जहां दूसरे सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों में काल्पनिक कहानियाँ अपनाईं वहाँ जायसी ने पद्मावत में लोक-प्रचलित कथा में ऐतिहासिकता का भी सुन्दर समन्वय कर दिया है। इस ग्रन्थ की एक खास विशेषता है कि इसमें प्रेम की साधना और सिद्धि दोनों अवस्थाओं का चित्रण किया गया है। पद्मावत बाबर के शासन काल की सहानुभूतिशीलता और उदारता का साहित्यिक रूप है। सहिष्णुता, समन्वयात्मकता और संग्राहक बुद्धि का उदय उस युग की एक खास विशेषता है। इसी ग्रन्थरत्न के द्वारा व हिन्दू-मुस्लिम-हृदयों के अजनबीपन को मिटाने में समर्थ हो सके थे। पद्मावती को अन्योक्ति काव्य न कह कर समासोक्ति काव्य कहना अधिक समीचीन है। इस ग्रन्थ के बीच-बीच में रहस्यवाद की सुन्दर सृष्टि हुई है। इस ग्रन्थ का सांस्कृतिक तथा साहित्यिक दोनों दृष्टियों से बहुत महत्व है। इसकी प्रबन्ध-कुशलता दर्शनीय है। इसमें केवल ऐकान्तिक प्रेम ही नहीं बल्कि लोक-पक्ष भी है। विप्रलम्भ शृंगार के वर्णन में जायसी अपने उपमान आप ही हैं। निःसन्देह प्रेम के उदात्त स्वरूप की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से पद्मावत हिंदी का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। फ्रेंच और इंगलिश आदि भाषाओं में उसका अनुवाद हो चुका है। बाबू गुलाबराय के शब्दों में:—

"जायसी महान् कवि है, उसमें कवि के समस्त सहज गुण विद्यमान हैं। उसने सामयिक समस्या के लिए प्रेम की पीर की देन दी। उस पीर को उसने शक्तिशाली महाकाव्य के द्वारा उपस्थित किया। वह अमर कवि है।"

जायसी काव्य का लोक-पक्ष—कबीरदास हिन्दू-मुसलमानों के कट्टरपन को फटकार चुके थे। कबीर की भर्त्सनामयी वाणी का प्रभाव पण्डितों और मुल्लाओं पर तो नहीं पड़ा किन्तु साधारण जनता राम और रहीम की एकता मानने लगी थी। बहुत दिनों तक दोनों एक दूसरे के साथ रहने के कारण परस्पर अपना हृदय खोलने

लगे थे। हिंदू मुसलमानों की दास्तान हमजा सुनने को तैयार हो चुके थे तो मुसलमान हिन्दुओं की राम-कहानी सुनने के लिए लालायित हो उठे थे। मुसलमान हिन्दुओं की नल-दमयन्ती की कथा को जानने लगे थे तो हिन्दू लैला-मजनूँ की। दोनों एक-दूसरे के साथ बैठकर सामान्य मार्ग की सलाह भी कर लिया करते थे। इधर आचार्य और महात्मा भगवत्-प्रेम की लीला और महिमा गा रहे थे तो उधर सूफी इश्के हकीकी की। हिन्दू और मुसलमान दोनों के बीच साधुता का सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हो गया था। बहुत से मुसलमान फकीर अहिंसा का सिद्धांत स्वीकार कर मांस-भक्षण को बुरा कहने लगे थे। ऐसे समय में कुछ भावुक मुसलमान फकीर प्रेम पीर की कहानियाँ लेकर साहित्य क्षेत्र में उतरे। ये कहानियाँ हिन्दुओं के घरों की थीं। इनकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करके इन कवियों ने यह दिखा दिया कि एक ही गुप्त तार मनुष्य-मात्र के हृदय में विद्यमान, है जिसे छूने ही मनुष्य सारे बाहरी रूप-रंगों के भेदों की ओर से ध्यान हटा कर एकत्व का अनुभव करने लगता है।

अमीर खुसरो ने दोनों जातियों के हृदयों के योग करवाने में बहुत कुछ काम किया परन्तु अल्लाउद्दीन की कट्टरता के कारण दोनों हृदय दूर खिच गए थे। कबीर की अटपटी वाणी से दोनों दिल साफ न हो सके। मनुष्य-मनुष्य के बीच में जो रागात्मक सम्बन्ध है, वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के व्यवहार में जिस हृदय साम्य का अनुभव मनुष्य कभी-कभी किया करता है, उसकी अभिव्यंजना उससे न हुई। जिस प्रकार दूसरी जाति या मत वालों का हृदय है, इसी प्रकार हमारे यहाँ भी है, प्रिय का वियोग जैसे दूसरे को व्याकुल करता है वैसे हमें भी, माता का जो हृदय दूसरे के यहाँ है वह हमारे यहाँ भी है, जिन बातों से दूसरों को सुख-दुख होता है, वैसे ही हमें भी, इस तथ्य का प्रत्यक्षीकरण जायसी की प्रेम कहानी द्वारा हुआ। अपनी प्रेम कहानियों द्वारा उन्होंने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए सामान्य जीवन की उन दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य-मात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में दोनों हृदयों को आमने सामने रखकर अजनबीपन मिटाने वालों में उन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। उन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानी को हिन्दुओं की बोली में सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत हुई परोक्ष एकता की सत्ता का आभास दिया। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी वह जायसी द्वारा पूरी हुई।

इन प्रेम गाथाओं का समय बाबर के समय से लेकर मुगल साम्राज्य के अन्त तक रहा। कबीर का ज्ञान शुष्क होने के कारण सर्वप्रिय न बन सका। बाबर के समय में सहानुभूतिपूर्ण वातावरण ने सभी को उदार बना दिया था। उसी उदारता का साहित्यिक रूप ये कहानियाँ हैं। सब के प्रति सहिष्णुता, सबमें समन्वय और सबमें संग्राहक बुद्धि का उदय इस युग की विशेषता थी और ये सभी तत्व जायसी

में पूर्णतः स्पष्ट हुए हैं। पद्मावत उस युग की साधना ही सिद्ध हुई और उसके प्रतिनिधि हुए जायसी। उनका यह उद्घोष सर्वत्र गूंज उठा—

"बिरछि एक लागी दुई डारा, एकहिं ते नाना प्रकारा।"
"माता के रक्त पिता के बिन्दू, उपने दुवौ तुरक और हिन्दू।"

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जायसी कबीर की अपेक्षा कहीं अधिक जन-जीवन के निकट पहुंचे हुए थे। लोक-समूह के लिये कहानी का माध्यम सबसे आकर्षक होता है। कहानी में अद्भुत घटनाओं का समावेश, लोक प्रचलित धर्म एवं विश्वासों का अवलम्ब और बोलचाल की भाषा को अपनाना ऐसे तत्व हैं, जो जायसी में मिलते है और ये उपकरण जायसी को लोक-कवि बना देते हैं। जायसी ने जहाँ हिन्दू घराने की लौकिक प्रेम कहानी के माध्यम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की वहां हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों का भी समन्वय किया।

जायसी हठयोग से तो प्रभावित थे ही, साथ-साथ हिन्दू जीवन के लोकप्रिय सिद्धांतों से भी परिचित थे। उन्होंने अपनी कथा को हिन्दू धर्म की प्रधान बातों पर आधारित किया और उनकी हँसी न उड़ा कर गम्भीरतापूर्वक उन्हें सामने रखा। जहां उन्होंने अवधी भाषा का प्रयोग किया, वहां भारतीय छंदों-दोहा, चौपाई आदि का भी सुन्दर निर्वाह किया हिन्दू संस्कृति के अन्तर्गत अनेक दार्शनिक और धार्मिक बातों की चर्चा की, हालाँकि यह चर्चा अनेक रूपों में अपूर्ण है। उनका संयोग और वियोग शृंगार यद्यपि मसनवी शैली से प्रभावित है पर अन्ततः हिन्दू संस्कृति के आधार पर ही है। उन्होंने हिन्दू-पात्रों में हिन्दू-आदर्शों की प्रतिष्ठा की है। पात्रों का चरित्र-चित्रण हिन्दू-जीवन से साम्य रखता है। इनके पात्र दो प्रकार के हैं सतोगुणी और तमोगुणी। अन्त में पुण्य की पाप पर विजय होती है। इनका षड् ऋतु-वर्णन और बारहमासा-वर्णन हिन्दू-शैली है। इन्होंने अलंकारों के वर्णन में भी हिन्दी-काव्य की परिपाटी की अनुसरण किया है। लगता है जैसे कि ये मुसलमान सम्प्रदाय के हिन्दू अनुयायी हों और शरीर से अभारतीय होते हुए भी हृदय से भारतीय हों। जायसी ने यद्यपि मसनवी शैली के प्रेम का स्वरूप प्रधान रखा किंतु बीच-बीच में भारत के लोक-व्यवहारों का समावेश भी उसमें हो गया है। उनका पद्मावत लोक पक्ष से शून्य नहीं है। राजा का जोगी होकर घर से निकलना, माता तथा रानी का उसे रो रो कर रोकना, रत्नसेन तथा पद्मावती का रस रंग वर्णन, विदा होते समय पद्मावती की सखियों का दुःख प्रथम समागम के समय व्रीड़ा और आशंका, सपत्नी कलह, पति के भावी अनिष्ट से घबरा कर पद्मावती का राघवचेतन को स्वर्ण कंकण देना, शिव आदि अनेक देवी देवताओं का उल्लेख, दाम्पत्य जीवन के साथ-साथ यात्रा और युद्धादि का वर्णन, मातृस्नेह, स्वामिभक्ति, वीरता, कृतघ्नता, छल और सतीत्व आदि विषयों के समावेश से इनकी प्रेम कहानी एकांगी होने से बच गई है, किन्तु फिर भी इनमें रामचरितमानस के समान मनुष्य जीवन के विभिन्न सम्बन्धों और परिस्थितियों की विविध झाँकियां नहीं हैं। राजा के बन्दी होने

पर रानी के विरह व्याकुल हृदय में उद्योग और साहस का अच्छा प्रदर्शन किया गया है। वह गोरा बादल के पास जाकर उन्हें राजा की मुक्ति के लिए तैयार करती है। नागमती पति-परायणा आदर्श हिन्दू पत्नी के रूप में चित्रित कीगई है। अभिसार, पासा खेलना और ज्यौनार आदि का वर्णन भी पद्मावत में उपलब्ध होता है। पुरुषों के बहु-विवाह से उत्पन्न प्रेम की व्यावहारिक जटिलता का वर्णन दार्शनिक ढंग से किया गया है। गोरा बादल की क्षात्र तेज से परिपूर्ण प्रतिज्ञा, दूरी के आने पर पद्मावती के सतीत्व गौरव की अपूर्व व्यंजना, लोभ-निन्दा, दान-महिमा और रिश्वत आदि की बुराई की बातें प्रत्यक्षत: लोक जीवन से सम्बद्ध हैं। अपने पद्मावत में सैरंध्री, गांगेय, भीष्म, पारथ आदि पौराणिक नामों का भी इन्होंने उल्लेख किया। पौराणिक जानकारी इन्हें थी तो अवश्य, पर वह पक्की नहीं थी। इन्होंने नारद को शैतान के रूप में रखा है। स्वर्ग को आसमान कहा है। रत्नसेन को रावण की उपमा दे दी और चन्द्रमा को स्त्री के रूप में चित्रित किया। इनके पद्मावत में भारतीय ज्योतिष, हठयोग कामशास्त्र और रसायन शास्त्र की बातों का भी उल्लेख है।

हिन्दी के प्रेमाख्यानों में जायसी का स्थान निश्चित रूप से सर्वोच्च है और उनका पद्मावत हिन्दी के प्रेमाख्यान-परम्परा का एक जगमगाता रत्न है। इन्होंने ईरान या ईराक के शहजादों तथा शहजादियों की प्रेम कथा को न कह कर हिन्दू राजकुमार तथा राजकुमारी की कथा कही है और उसे पूर्ण भारतीय संस्कृति के रूप में उपस्थित किया है। कथा के बीच-बीच में पीर और पैगम्बरों की अवतारणा न करके साधु-सन्तों और शिव आदि की अवतारणा की है। यह कहना कि जायसी ने पद्मावत के व्याज से इस्लाम का प्रच्छन्न रूप से प्रचार करना चाहा है, सर्वथा भ्रम होगा।

निःसन्देह इनके पूर्व कबीर आदि सन्त "अरे इन दोउन राह न पाई" कहकर हिन्द्-मुस्लिम एकता की नींव डाल चुके थे पर वे अपनी भर्त्सनामयी वाणी तथा ज्ञान की शुष्कता के कारण इस दिशा में अधिक सफल न हो सके। कबीर ने अपने निर्गुण पर प्रेम और माधुय का आवरण चढ़ाया तो अवश्य किन्तु वह उसकी झीनी बीनी चदरिया के समान इतना झीना था कि उसमें निर्गुण की शुष्कता छिप न सकी और कबीर की ज्ञान-महल की सेज सूनी पड़ी रही। जायसी ने प्रेम की अत्यन्त मनोवैज्ञानिक पद्धति के द्वारा बड़ी कोमलता और काव्यमयता के साथ हिन्दू-मुस्लिम हृदयों के अजनबीपन को मिटाया।

जायसी का रहस्यवाद—रहस्यवाद आत्मा की वह स्थिति है जबकि वह बाह्य वस्तुओं से सम्बन्ध तोड़कक से भावनामय लोक में पहुंच जाती है, जहाँ वह अपने और परमात्मा के बीच एकरूपता का अनुभव करने लगती है और उसे एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। जायसी में सूफी रहस्यवाद पूर्ण रूप में पाया जाता है, किन्तु वे भारत के कवि थे, अतः उनके रहस्यवाद पर अद्वैतवाद की भावना का भी यथेष्ट प्रभाव है। सूफी कवियों ने अपने प्रेम कथानकों की प्रेमिका को परमात्मा

का प्रतीक माना हैं और प्रेमी को आत्मा। जायसी ने भी अपनी प्रेम कहानी में पद्मावत को परमात्मा और रत्नसेन को आत्मा के रूप में कल्पित करके अनेक लौकिक प्रसंगों से अलौकिक पक्ष का संकेत किया है। जायसी ने जगत् के समस्त पदार्थों को ईश्वरीय छाया से उद्भासित कहा है। उनके काव्य में समस्त प्रकृति उस प्रियतम के समागम के लिए उत्कंठित दिखाई पड़ती है। पद्मावत का प्रेम खंड रहस्यवाद का सुन्दर निदर्शन है। नख-शिख वर्णन तथा अन्य कुछ वर्णन भी रहस्यवादी प्रवृत्ति लिए हुए है। पद्मावत सम्पूर्ण रूप से रहस्यवादी काव्य है। ऐसा समझना सर्वथा भ्रम होगा तथा इसके प्रत्येक प्रसंग में रहस्यवाद को खोजने का प्रयास बुद्धि-विलास के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। इसी प्रकार पद्मावत को अन्योक्ति काव्य न कह कर समासोक्ति काव्य कहना अधिक समीचीन है।

रत्नसेन हीरामन तोते के द्वारा पद्मावती के नख-शिख के सौन्दर्यमय वर्णन को सुनकर बेसुध हो जाता है, उसे इस अवस्था में परम ज्योति के आनन्द की अनुभूति होने लगती है, जिसके भंग होने पर उसे ऐसा लगता है जैसे कोई बावला जागृत अवस्था को प्राप्त हो गया हो। रत्नसेन नवजात बालक के समान रोता हुआ कहता है कि हाय मैंने ज्ञान खो दिया, हाय मैं अमरपुर को जाकर फिर मृत्युलोक में कैसे वापस आ गया।

जब भा चेत उठा बैरागा। बाउर जनों सोई उठि जागा।
आवत जग बालक जस रोवा। उठा रोइ हा ज्ञान सो खोवा।
हौं तौ कहा अमरपुर जहां। इहां मरनपुर आयहुं कहां।

उन्होंने प्रकृति के कण-कण में परोक्ष ज्योति और सौन्दर्य की झलक देखी है :—

रवि, ससि, नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।।
जहं जहं बिहंसि सुभावहिं हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी।।

जायसी ने यद्यपि यह दिखाया है कि परमात्मा की ज्योति सर्वत्र व्याप्त है तथापि उन्होंने अपने अन्तर को भी परमात्मा के प्रकाश से रहित माना है। उनका यह कथन है कि परमात्मा हृदय में निहित है, केवल उसके साक्षात् कराने वाले की आवश्यकता है :—

पिउ हृदय महँ भेंट न होई। को रे मिलाव कहों केहि रोई।।

जिस दिन जीव को उक्त रहस्य का पता चलता है तो उसी दिन वह विरह-ज्वाला में दग्ध होने लगता है, उसे समस्त जगत् प्रियतम के विरह-बाणों से बिद्ध दिखाई देता है :—

उन्ह बानन अस को जो न मारा ? बेधि रहा सगरो संसारा।।
गगन नखत जो जाहिं न गनै। वै सब बान ओहि कै हनै।।

जायसी की सी तीव्र विरह-अनुभूति बहुत कम कवियों में पाई जाती है। उन का विश्वास है कि प्रेम में ही प्रियतम निवास करता है :

पेमहि मांह बिरह रसरा। मैन के घर मधु अमृत बरसा।

इस विरह की चरम अनुभूति ही मानस में प्रियतम के सामीप्य को दृष्टि-गोचर कराती है और उनसे जो आनन्द प्राप्त होता है, वह विश्व में व्याप्त दिखाई देता है :—

देख मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइनि होइ छावा॥
भा अँधियार रैन मसि छूटी। भा भिनुसार किरन रवि छूटी॥
कँवल बिगस तस बिहँसि देही। भँवर दसन होई के रस लेही।

जायसी के पद्मावत के अन्त में जो निम्नांकित संकेत कोष दिया है उससे भी उनकी रहस्यवादी प्रवृत्ति अर्थात लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम का अभिव्यजना का आभास मिलता है :—

तन चितउर मन राउर कीन्हा।
हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा॥ आदि

इस प्रकार हम देखते हैं कि इनका रहस्यवाद सूफी रहस्यवाद के अनुकूल है और साथ-साथ उसमें भारतीय अद्वैतवाद की भी झलक है। आचार्य शुक्ल का कहना है कि हिन्दी कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैतवादी रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत ही उच्च कोटि की है।

इसके अतिरिक्त इनमें साधनात्मक रहस्यवाद भी उपलब्ध होता है, जहाँ इन्होंने योग की नौ पौरी आदि का वर्णन किया है। कुछ आलोचकों ने रत्नसेन तथा पद्मावती के रतिरंग के वर्णन में आध्यात्मिक अर्थ लगाना चाहा है, किन्तु यह उनका व्यर्थ का प्रयास है। ऐसे प्रसंगों में अश्लीलता आ गई। वहाँ परोक्ष सत्ता का आभास नहीं मिला। डा० कुलश्रेष्ठ के शब्दों में 'जिस प्रकार सागर की कुछ लहरें सागर का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकतीं उसी प्रकार जायसी का पद्मावत रहस्यवादी काव्य नहीं कहा जा सकता है। हम उसे रहस्यवादी काव्य नहीं कह सकते हैं। हम उसे सरलता से लौकिक प्रेम गाथा का रूप दे सकते हैं।

कबीर तथा जायसी का रहस्यवाद—आचार्य शुक्ल का इस विषय में कथन है कि 'कबीर में जो कुछ रहस्यवाद मिलता है वह बहुत कुछ उन पारिभाषिक संज्ञाओं के आधार पर जो वेदान्त तथा हठयोग में निर्दिष्ट हैं पर इन प्रेम प्रबन्धकारों ने बीच-बीच में जिस रहस्यवाद के संकेत किए हैं, वे स्वाभाविक तथा मर्मस्पर्शी हैं।' शुक्ल जी के अनुसार जायसी में शुद्ध भावात्मक रहस्यवाद मिलता है और कबीर में चिन्तनात्मक। आचार्य श्यामसुन्दरदास के अनुसार कबीर हिन्दी के आदि रहस्यवादी कवि हैं और इनमें शुद्ध भावनात्मक रहस्यवाद की सुन्दर सृष्टि हुई है। हम यहाँ कबीर और जायसी के रहस्यवाद के मौलिक अन्तर को स्पष्ट

करेंगे। जायसी के लिये रहस्यात्मकता कबीर की भाँति साध्य नहीं है। इन्होंने कथा के बीच समासोक्ति द्वारा कई स्थलों पर परोक्ष सत्ता की ओर सुन्दर संकेत किए हैं। कबीर ने अपने प्रियतम का साक्षात्कार केवल अन्तस्तल में किया है। बाह्य जगत इनके लिए मिथ्या और माया का प्रतीक है जबकि जायसी ने उस परम ज्योति की छटा अंतस्तल में जहाँ देखी—"पिउ हिरदय महँ भेंट न होई। को रे मिलाव कहौं केहि रोई।" वहाँ बाह्य जगत् में भी उसी की दीप्ति को द्योतित देखा—"रवि ससि नखत दिपत ओह जोती"। यही कारण है कि जायसी के रहस्यवाद में अपेक्षाकृत अधिक मर्मस्पर्शिता तथा अनेकरूपता है। कबीर का रहस्यवाद साधना-क्षेत्र में आता है जबकि जायसी का रहस्यवाद भावना-क्षेत्र में। ये दोनों भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित हैं। अद्वैतवाद का अर्थ है आत्मा और परमात्मा का एकत्व तथा जगत और ब्रह्म एकत्व। जायसी के लिए जगत तथा प्रकृति मिथ्या नहीं हैं। इन के लिए प्रकृति के कण कण में वह ब्रह्म व्याप्त है और प्रकृति-प्रेमी अपने प्रियतम के मिलनार्थ विरहातुर है। कबीर की दाम्पत्य भावना भारतीयता से प्रभावित है। इन्होंने आत्मा को पत्नी तथा परमात्मा को पति माना है जबकि जायसी की दाम्पत्य भावना विदेशीपन को लिए हुए है। जायसी ने आत्मा—रत्नसेन को पति और पद्मावती परमात्मा को पत्नी रूप में कल्पित किया है। जायसी के रहस्यवाद में मिलनातुरता और तड़प दोनों हैं। जायसी का आराध्य आराधक के लिए उतना ही तड़पता है जितना कि आराधक स्वयं और इसका कारण है जायसी के हृदय की प्रशस्य द्रवणशीलता।

आत्मा-परमात्मा की एकता दो साधनों से सम्भव है—एक है कोरी साधना से तथा हठयोग की प्रक्रिया से और दूसरा है सर्वात्मना भाव से अपने आप को ईश्वर में मिला देने से। इस प्रकार रहस्यवाद दो प्रकार का होता है—साधनात्मक तथा भावात्मक। साधनात्मक रहस्यवाद में चिंतन की प्रधानता है और इसमें हठयोग का लेखा-जोखा भी होता है। भावात्मक रहस्यवाद में भावावेश की प्रधानता है साधक इसी के द्वारा संसार में अद्वैत सत्ता का अनुभव करने लगता है। कबीर रहस्यवाद की उक्त प्रथम श्रेणी में आते हैं जबकि जायसी दूसरी श्रेणी में। भावात्मक रहस्यवाद को शुद्ध रहस्यवाद माना गया है। जायसी में भी हठयोग का प्रभाव है। वैसे तो दोनों रहस्यवादी कवि है किंतु इनके रहस्यवाद के प्रकार तथा मात्रा में अन्तर है। एक साधना-क्षेत्र के प्रतिनिधि है तो दूसरे भावना क्षेत्र के। कबीर मुख्य रूप से चिन्तक हैं किन्तु इस का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि उनसे भावात्मक रहस्यवाद ही नहीं। कबीर की विरहिणी आत्मा जहां प्रिय-मिलन के लिए तड़प उठी है, वे चित्र निःसन्देह मार्मिक और हृदयस्पर्शी हैं किन्तु ऐसे चित्र अपेक्षाकृत कम है। जायसी प्रेम पीर के प्रचारक हैं। रहस्यवाद में विरहानुभूति अत्यन्त आवश्यक है। विरह में अमरत्व का गुण है। वियुक्त जीव में विरह-व्यथा का होना अनिवार्य है। जायसी विरह परमाणुओं से बने हुए थे और उनकी प्रत्येक साँस विरह की थी। रहस्यवाद

प्रेम की अकथ कहानी है। रहस्यवाद के तीन अंग हैं—विरह, प्रयत्न और मिलन। जायसी में इन सभी दशाओं का खुलकर वर्णन मिलता है। उनके अनुसार सूर्य विरह की आग में तप्त है। समासोक्ति के आधार पर इन्होंने प्रयत्न और मिलन के अतीव मनोरम चित्र उतारे हैं।

कबीर और जायसी दोनों रहस्यवादी कवि हैं। दोनों सन्त और फकीर हैं। दोनों का ईश्वर निराकार है। दोनों का उद्देश्य परम सत्ता के साथ एकता है। दोनों में साधन प्रेम और ज्ञान है। जायसी में प्रेम की प्रधानता है जबकि कबीर में ज्ञान की। दोनों हठयोग तथा भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित हैं किन्तु दोनों में प्रकार और मात्रा का भेद है। कबीर की प्रणय-भावना भारतीय है जबकि जायसी की सूफी मत से प्रभावित। कबीर के लिए जगत मिथ्या है जबकि वह जायसी के परम ज्योति के दिव्य सौन्दर्य से अनुप्राणित। कबीर साधनात्मक क्षेत्र के प्रतिनिधि हैं जबकि जायसी भावात्मक और साधनात्मक दोनों के। शुद्ध रहस्यवाद कबीर की अपेक्षा जायसी में अधिक है।

पद्मावत अन्योक्ति अथवा समासोक्ति—समस्त पद्मावत में रूपक तत्व ढूंढना व्यर्थ होगा। वस्तु वर्णन में कवि ने कई प्रसंगो में ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया है जिससे प्रस्तुत अर्थ के साथ अप्रस्तुत अर्थ का भी बोध अनायास हो जाता है। उदाहरणार्थ—सिंहलगढ़ के वर्णन के प्रसंगो में नौ पौरी, तथा दसवें दरवाजे वाले नगर का संकेत पाठक को अपने नौ छिद्रों और दसवें ब्रह्म रन्ध्रवाले शरीर का बोध करा देते हैं। राजा रत्नसेन बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया गया वहाँ कवि ने इस प्रसंग को रखते हुए भी दिल्ली को परलोक के रूप में प्रस्तुत किया हैं। अर्थ-द्योतन की इस पद्धति को समासोक्ति पद्धति कहा गया है। समासोक्ति एक अलंकार है, जिसमें समान विशेषणों के बल पर अप्रस्तुत प्रस्तुत की व्यंजना की जाती है। इस में अभिधेयार्थ तथा व्यंग्यार्थ दोनों को मुख्यता दी जाती है। इसे विशेषण-विशेष्य-विच्छित्ति-मूलक अलंकार कहा गया है। यह अन्योक्ति और श्लेष दोनों से भिन्न है अन्योक्ति में व्यंग्यार्थ को मुख्यता दी जाती है—जैसे "बाज पराये पानि परि तू पच्छीनु न मारि" में बाज और पक्षियों की प्रधानता नहीं है। इसमें मिर्जा राजा जयसिंह द्वारा मुगलों के आश्रय में हिन्दू राजाओं के सताये जाने की बात मुख्य है। समासोक्ति में दोनों पक्ष प्रधान रहते हैं जैसे रत्नसेन को बन्दी बना कर दिल्ली भेजने के प्रसंग में, जहाँ दिल्ली का अप्रस्तुत अर्थ परलोक लिया जायगा वहाँ इसके प्रसंगगत घटनात्मक अर्थ को छोड़ा नहीं जा सकता है। पद्मावत की कथा को प्रस्तुत मानकर व्यंग्य द्वारा हम आध्यात्मिक अर्थ लगाते है। श्लेष और समासोक्ति में भी अंतर है। श्लेष में कवि दो अर्थ बताने के लिये वचनबद्ध होता है किन्तु समासोक्ति में वह समान विशेषणों के बल से केवल अप्रस्तुत अर्थ का संकेत कर देता है। समासोक्ति में यह आवश्यक नहीं कि कवि आदि से अन्त तक दोनों अर्थों का निर्वाह करता जाय। हाँ जहाँ उसे मौका मिल जाता है, वह विशेषणों के

प्रयोग से अप्रस्तुत अर्थ की भी अभिव्यंजना कर देता है। जायसी ने अपने प्रबन्ध काव्य में इसी समासोक्ति पद्धति को अपनाया है। ग्रंथ के अंत में दिये गये—

तन चितउर मन राउर कीन्हा।

के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी का कहना है—"काव्य के अन्त में 'तन चितउर मन राउर कीन्हा" का जो संकेत है वह मूल ग्रंथ का नहीं है। पद्मावत की प्राचीन प्रतियों से यह बात सिद्ध हो चुकी है। इसलिये जो लोग पद-पद पर पद्मावत में रूपक-निर्वाह की बात सोचते हैं वे गलती करते हैं। पद्मावत का कवि रूपक निर्वाह के लिये प्रतिज्ञा-बद्ध नहीं है।" वैसे पद्मावत के अंत में आजकल मिलने वाले संकेत कोश में रूपक का निर्वाह कहाँ तक बन पड़ा है, प्रासंगिक रूप से इसकी समीक्षा कर लेना अनुपयुक्त नहीं होगा। यहाँ सच्चा साधक राजा रत्नसेन मन का प्रतीक है, पद्मिनी ईश्वर से मिलाने वाला ज्ञान या बुद्धि है अथवा चैतन्य स्वरूप परमात्मा है। उसकी प्राप्ति का मार्ग बताने वाला सुआ सद्गुरु है, नागमती दुनिया धंधा है, राघव चेतन शैतान है और अलाउद्दीन माया है। वास्तव में नागमती को दुनिया धन्धा कहना उसके साथ अन्याय है। वह एक आदर्श भारतीय पत्नी है जो कि विलास की अपेक्षा पति दर्शन को ही अधिक महत्त्व देती है। तोता यदि गुरु है तो उसे मार्जारी का भय क्यों? अलाउद्दीन को माया कहा गया है और नागमती को दुनिया। माया और दुनिया धन्धा प्रायः एक ही चीज है। पद्मिनी को सिंहल द्वीप का माना गया है जो कि गोरख-पंथ की सिद्धि पीठ है, नहीं तो शुक्ल जी के मतानुसार वहाँ का सौन्दर्य कोई आकर्षक नहीं और वहाँ के लोग काले होते हैं। इस संकेत कोश को देखते हुए कतिपय और प्रश्न भी सहज ही में उठ पड़ते हैं—रत्नसेन और सिंहल दोनों मन के प्रतीक क्यों बनाये गये? मन रूपी रत्नसेन का ज्ञान रूपी पद्मिनी से मेल हो जाने पर माया रूपी अलाउद्दीन और शैतान रूपी राघवचेतन द्वारा उनका विच्छेद क्यों? शैतान और माया का काम साधक के मार्ग में व्याघात उपस्थित करना होता है, तब राघव-चेतन और अलाउद्दीन को कथा के पूर्वार्ध में भी आना चाहिए था। इस विवेचन के पश्चात् ऐसा लगता है कि यह अंश प्रक्षिप्त है और ग्रंथ का मूल अंश नहीं। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इतनी व्यापक कथा में सर्वत्र आध्यात्मिकता का प्रतिपादन जायसी का उद्देश्य नहीं है। हाँ, प्रसंगवश समासोक्ति द्वारा जहाँ वे परोक्ष सत्ता का संकेत कर सके वहाँ आध्यात्मिकता अवश्य है। आचार्य द्विवेदी का इस संबंध में कहना है कि "परोक्ष सत्ता की ओर संकेत करने का उत्साह जायसी में इतना अधिक है कि वे ऐसे प्रसंगों को मानो खोजते फिरते हैं जिनसे परोक्ष सत्ता की ओर इशारे करने का मौका मिल सके। ऐसा मौका बाह्य चित्रण में अधिक मिलता है, जैसे सिंहल गढ़, उसके बगीचे, मानसरोवर, पद्मावती का बाह्य रूप आदि।" जायसी में भी महाकवि बाण की सी वर्णन-विस्तार प्रियता है। कहीं-कहीं इन्होंने छोटी सी बात को भी इतना विस्तार दे दिया है कि विषय के विश्लेषण में सारी आध्यात्मिकता खो सी जाती है। पद्मावती और रत्नसेन के प्रथम मिलन के प्रसंग में किये गये प्रेम

वर्णन में रूपक तत्त्व या आध्यात्मिकता खोजना व्यर्थ होगा। अंत में हम डॉ० कुल-श्रेष्ठ के शब्दों में कह सकते हैं—"जिस प्रकार सागर की कुछ लहरें सागर का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकतीं उसी प्रकार जायसी का पद्मावत रहस्यवादी काव्य नहीं कहा जा सकता। हम इसे सरलता से लौकिक प्रेम गाथा का रूप दे सकते हैं।"

पद्मावत का महाकाव्यत्व—निःसंदेह पद्मावत हिन्दी का महाकाव्य है। पृथ्वीराज रासो को विशाल काव्य तो भले ही कहा जा सकता है, किन्तु महाकाव्य नहीं क्योंकि उसमें व्यापक जातीय चेतना का अभाव है। महाकाव्य के सभी लक्षणों का इस ग्रंथ में सम्यक् निर्वाह हुआ है। कथा का पूर्वार्ध लोक प्रचलित और काल्पनिक है तथा उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक। इसका नायक राजकुल से सम्बद्ध है। पूरी कथा ५२ सर्गों, जिन्हें खंड कहा गया है, में विभक्त है। इसमें नाटक की सभी संधियाँ मिलती हैं। कथावस्तु में वस्तु वर्णन भी यथास्थान हुआ है। इसमें प्रधान रस शृंगार है किंतु अन्य रसों का भी समावेश है। इसमें ऐकान्तिक प्रेम कहानी ही नहीं बल्कि लोक पक्ष का भी सुन्दर समन्वय हुआ। कथा में स्वाभाविक प्रवाह है। इसमें एक महाकाव्योचित कल्पना आन्तरिक तथा बाह्य अनुभूतियों और विचारों का अत्यन्त कलात्मक प्रकाशन हुआ है। मंगलाचरण, सज्जनप्रशंसा तथा दुर्जन निंदा आदि सभी बातें मिलती हैं।

काव्य-समीक्षा—जायसी के काव्य में प्रधानता रसराज शृंगार की है। पद्मावत में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का अच्छा परिपाक हुआ, किन्तु उस में प्रधानता वियोग पक्ष की है। नागमती के माध्यम से वर्णित विप्रलम्भ शृंगार इनके अक्षय यश का एक आलोक स्तम्भ है। इस क्षेत्र में कदाचित् ही कोई अन्य हिन्दी कवि इनकी समता कर सके। एक तो विरह जनित प्रेम में एक विलक्षण तीव्रता, अनिवर्चनीय क्रियाशीलता तथा निराली तड़प होती है, दूसरे जायसी ने अपने प्रेम-विधुर हृदय की कोमल वेदना के आविल आँसुओं से भिगोकर उसमें मणि-कांचन-योग कर दिया है। जायसी के विरह-वर्णन में इतनी व्यापकता, तीव्रता, मार्मिकता और तन्मयता है कि समस्त जगत, जड़ एव चेतन उससे द्रवीभूत हो जाती है। उनके विरह की व्यापकता का एक चित्र देखिए :—

> **नैनन चली रकत कै धारा, कंथा भीजि भएउ रतनारा।**
> **सूरज बूड़ि उठा हुइ राता, औ मजीठ टेसू बन राता॥**
> **औ बसन्त राती बनसपती, औ राते सब जोगी जती॥**

यह प्रकृति के द्वारा सहानुभूति प्रदर्शित की गई है, अंग्रेजी कवि रस्किन ने संवेदना का हेत्वाभास (Pathetic Falacy) कहा है। जायसी के ऐसे कथन कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण हैं, किन्तु इनका लाक्षणिक अर्थ लेने पर प्रभावाधिक्य का ही बोध होता है। सूर ने भी कृष्ण विरह में प्रकृति को व्यथित दिखाया है। किन्तु इस विषय में उन्होंने कुछ अधिक मर्यादा से काम लिया है। सूर ने प्रकृति के वे

ही अंग लिए हैं जो कृष्ण से सम्बद्ध थे। यमुना के विरह ज्वर से काले पड़ने पर गोपियाँ मधुबन से पूछ उठती हैं—"मधुबन तुम कत रहत हरे ?" साहित्य में विरह-वर्णन के प्रकरण में पशु, पक्षी, पुष्प और पादपों से प्रियतम का पता पूछने के उदाहरण तो मिल जाते हैं जैसे कालिदास के मेघदूत में विरही पक्ष धुएँ और जल के संघात बादल को अपनी प्रेमिका के लिये सन्देश देता है, राम सीता के वियोग में वन के खग, मृग और मधुकर-श्रेणी से अपनी मृगनयनी के सम्बन्ध में पूछते हैं किन्तु किसी पक्षी ने व्यथित होकर विरही के साथ सहानुभूति प्रदर्शित की हो, ऐसी नवीनता केवल जायसी में ही मिलेगी। नागमती रत्नसेन के विरह में वन-वन में दिन-रात बिलख और कलप रही है :—

फिरि-फिरि रोव कोई नहिं डोला, आधी रात विहंगम बोला।
तू फिरि-फिरि दाहे सब पांखी, केहि दुख रैन न लावसि आंखी ॥

पद्मावत के प्रेम में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है फिर भी नागमती के विरह में एक विशेष तीव्रता और मार्मिकता है। नागमती को पति-वियोग तो था ही साथ-साथ सपत्नी के प्रति ईर्ष्याभाव ने उसे और भी तीव्र बना दिया था। वह विरह में जलकर कोयला हो गई, उसके शरीर में तोला भर मांस न रहा, उसमें रक्त तो नाम मात्र को भी न था। जायसी के शब्दों में :—

हाड़ भये सब किंगरी, नसैं भई सब तांति।
रवि रोंव से धुनि उठें, कहौं बिथा केहि भांति ॥

नागमती एक आदर्श हिन्दू महिला है। उसमें पति भक्ति पूर्ण रूप से विद्यमान है। उसके प्रेम में ऐन्द्रियता की अपेक्षा मानसिक पक्ष की प्रधानता है। उसमें एक महान् त्याग है जो उसे बहुत ऊँचा उठा देता है :—

"मोहिं भोग सो काम न बारी, सौंह दिस्टि की चाहनि हारी।"

नागमती के विरह-वर्णन में बारहमासा का एक विशेष स्थान है। प्रत्येक मास की प्राकृतिक दशा के साथ नागमती के हृदय के शोक और हर्ष की जो अभिव्यंजना की गई है वह वस्तुतः अनुपम है। नागमती के निम्नांकित शब्दों में कितनी स्वाभाविकता, कितना दैन्य, कितनी उत्कंठा और कितनी प्रेम-निष्ठा है, इसका एक विरही हृदय ही अनुमान लगा सकता है :—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाय।
मकु तिहि मारग उड़ि परै, कन्त धरै जहँ पाय ॥

नागमती का व्यथापूर्ण सन्देश अत्यन्त हृदयहारी बन पड़ा है :—

पिउ सो कहेउ सँदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुआं हम लाग ॥

आचार्य शुक्ल नागमती के विरह के सम्बन्ध में लिखते हैं—"नागमती के इस विरह-वर्णन में जायसी ने यद्यपि कहीं-कहीं ऊहात्मक पद्धति का सहारा लिया है, फिर

भी उसमें गाम्भीर्य बना हुआ है। बिहारी की विरह-व्यंजना की भाँति उसमें उछल कूद और मजाक नहीं है। जायसी की अत्युक्तियाँ बात की करामात नहीं जान पड़ती, हृदय की अत्यन्त तीव्र वेदना के शब्द संकेत प्रतीत होती है। फारसी की काव्य शैली से प्रभावित होने के कारण जायसी का विरह-वर्णन कहीं-कहीं बीभत्स भी हो उठा है, परन्तु जहाँ कवि ने भारतीय पद्धति का अनुसरण किया है वहां कोई अरुचिकारी बीभत्स दृश्य नहीं आने पाया।"

संयोग पक्ष—जायसी को अपने पद्मावत में जितनी सफलता वियोग-पक्ष में मिली है उतनी संयोग पक्ष में नहीं। यद्यपि उनका यह पक्ष भी सजीव है और इस दिशा में उन्होंने काफी मर्मस्पर्शी चित्र अंकित किए हैं, पर उनमें इतनी व्यापकता, तीव्रता और गम्भीरता नही जितनी कि विप्रलंभ शृंगार में है। इन्होंने संयोग-शृंगार के वर्णन में षट्-ऋतु का वर्णन किया है, जो कि आकर्षक है। रत्नसेन तथा पद्मावती के प्रथम समागम का बड़ा विशद वर्णन किया है और उसमें कुछ हास्य विनोद का भी विधान है। समागम के समय के हाव भावों के वर्णन में कहीं तो कोरी छेड़-छाड़ है जो फटकार और अश्लीलता की कोटि में पहुंच जाती है। प्रेमिका के वार्तालाप में श्लेष और अन्योक्ति द्वारा वाक्चातुर्य दिखाया गया है जो रसचर्वणा में सहायक की अपेक्षा बाधक सिद्ध हुआ है। समागम की रस धारा के बीच रसायनशास्त्र के लम्बे ब्यौरे देखकर अपनी बहुज्ञता दर्शाने लगते हैं जिससे रसास्वादन में आघात पहुँचा है। उनके संयोग-वर्णन में एक-एक अंग का अलग-अलग बिखरा हुआ सौन्दर्य भले ही हो पर वह किसी समन्वित प्रभाव की सृष्टि नहीं कर सकता। इनके संयोग के चित्रों में इतनी मार्मिकता नहीं कि वे पाठक को संयोग मधुर वातावरण में डुबो सकें। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में, "संयोग पक्ष के अन्य अंगों व क्रिया-कलापों के वर्णन में भी जायसी ने असंयम से काम लिया है। उसके फलस्वरूप उनके संयोग-वर्णन अत्यन्त स्थूल, शिथिल एवं अश्लील हो गये हैं।'

अन्य रस—पद्मावत एक प्रबन्ध काव्य है, अतः इसमें शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य रसों का समावेश भी हुआ है। रत्नसेन के सिंहल-गमन, रानियों का विलाप तथा रत्नसेन की मृत्यु के प्रकरणों में करुण रस का अच्छा परिपाक हुआ है। युद्ध वर्णन में बीभत्स का अच्छा उद्रेक है। क्षात्र तेज-सम्पन्न गोरा-बादल आदि पात्रों में वीर रस की भी सुन्दर व्यंजना हुई है। जायसी का वात्सल्य वर्णन कुछ शिथिल सा है। अलाउद्दीन की रत्नसेन को चिट्ठी प्रसंग में रौद्र रस है पर उसका यथेष्ट परिपाक नहीं हुआ। रत्नसेन के वैराग्य वृत्ति धारण करने पर शान्त रस का निर्वाह हुआ है।

पद्मावत एक घटना प्रधान काव्य है। जायसी ने इसे रसात्मक बनाने के लिए **वर्णनात्मकता** पर अत्याधिक बल दिया है। कहीं-कहीं पर वर्णनात्मकता की **वृत्ति इतनी** बढ़ी चढ़ी हुई, दिखाई देती है कि पाठक ऊबने लगता है। उदाहरणार्थ

सिंहल द्वीप में फूलों और फलों का वर्णन, पकवानों की लम्बी सूची, रसायन सम्बन्धी क्रियाएँ तथा हठयोग का विस्तृत वर्णन, ये कुछ ऐसे प्रकरण हैं जिनसे कथा के प्रवाह में बाधा पहुंची है। इन सब बातों से जायसी एक वर्णक कवि ठहरते हैं।

प्रकृति-चित्रण—प्रकृति-चित्रण दो प्रकार का होता है—अन्तः प्रकृति-चित्रण और बाह्य प्रकृति-चित्रण। अन्तःप्रकृति चित्रण की दृष्टि से पद्मावत का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। मनुष्य प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का प्रमाण पद्मावत में नहीं मिलता। मनुष्य के स्वभाव चित्रण की जो सूक्ष्मता और क्षमता तुलसी में है वह जायसी में नहीं है और यही कारण है कि पद्मावत में पात्रों का सर्वांगीण विकास नहीं हो सका। बाह्य प्रकृति के चित्रण में यह स्मरण रखना होगा कि जायसी का प्रकृति प्रेम विशुद्ध प्रकृति प्रेम न होकर ईश्वर तक पहुंचने का साधन है। जायसी ने भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकृति का चित्रण किया है। उनकी प्रकृति चित्रण की शैलियां ये हैं—परिगणन शैली, अतिशयोक्तिपूर्ण शैली, उपमान शैली, प्रतीक शैली और रहस्यात्मकशैली।

चरित्र-चित्रण—जायसी का चरित्र चित्रण एकदेशीय है। पद्मावत में रामचरित मानस जैसी अनेकरूपता नहीं है। तुलसी के राम में जैसे शील, शक्ति और सौन्दर्य का समन्वय है वह जायसी के रत्नसेन में नहीं है। रत्नसेन एक आदर्श प्रेमी है, पद्मावती आदर्श प्रेमिका, नागमती एक आदर्श हिन्दू रमणी और गोरा बादल आदर्श वीर हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि जायसी ने अन्य सूफी कवियों की भाँति अपनी कथा को एकांतिक प्रेम कहानी होने से बचा लिया है क्योंकि इन्होंने उसमें लोकपक्ष का समावेश भी कर दिया। कथा की घटनात्मकता तथा इनकी वर्णन विस्तार प्रियता ने चरित्रों को उभरने नहीं दिया है। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में "मनोभावों का चित्रण तो ये बड़ी कुशलता से कर लेते हैं किंतु विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न पात्रों की व्यक्तिगत विशिष्टता और विलक्षणता प्रकट करने में वे सफल नहीं हो सके हैं। उनका आदर्श चित्रण एकदेशी है। रत्नसेन प्रेमी का आदर्श है और नागमती पतिव्रता का, किन्तु जीवन की बहुमुखी परिस्थितियों के पड़ने पर इनका कौन सा रूप निखरेगा, यह स्पष्ट नहीं हो सका, सर्वत्र एक सामान्यीकरण का प्रयास है।" इन्होंने सात्विक और तामसिक दोनों प्रकार के पात्रों का चित्रण किया है। अलाउद्दीन तामसी पात्र है जो कामी और लोभी है। राघवचेतन छली और कृतघ्न। हिन्दू पात्रों का उनकी संस्कृति के अनुरूप बड़ी सहृदयता से चित्रण किया है।

अलंकार—जायसी ने सादृश्यमूलक अलंकारों का सफल प्रयोग किया है, उपमा रूपक, उत्प्रेक्षा इन्हें विशेष प्रिय हैं। अनेक स्थलों पर इन्होंने स्वभावोक्ति, अन्योक्ति और रूपकातिशयोक्ति अलंकारों का भी बहुत मनोरम प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त श्लेष, व्यतिरेक, तद्‌गुण, विभावना, सन्देह, अनुप्रास तथा निदर्शना आदि अलंकारों का भी इन्होंने सफल प्रयोग किया है। इनके साहित्य में उपमानो की इतनी अधिक संख्या है जो शायद ही हिंदी साहित्य के किसी अन्य कवि में मिले।

छन्द—जायसी ने दोहा, चौपाई छन्दों को अपनाया है और उनका अवधी भाषा में इतना सफल प्रयोग किया है कि वे कदाचित् हिन्दी के अमर ग्रन्थ रामचरित-मानस के कर्त्ता तुलसी के भी इस दशा में पथ-प्रदर्शक बन सके।

भाषा — इन्होंने ठेठ अवधी के पूर्वीपन को अपनाया है। यद्यपि जायसी का अवधी प्रयोग असंस्कृत है किन्तु भाषा की स्वाभाविकता, सरसता और मनोगत भावों की प्रकाशन-सामग्री ने जायसी को अवधी साहित्य क्षेत्र में मान्य बना डाला है। जायसी की अवधी में तुलसी की सी साहित्यिकता और पांडित्य नहीं है और यह अच्छा भी हुआ, क्योंकि इससे उसका स्वाभाविक रूप बना रहा है अन्यथा संस्कृत के तत्सम शब्दों की भरमार से वह क्लिष्ट बन जाती। उनकी भाषा प्रसाद और माधुर्य गुण से परिपूर्ण है। इनकी भाषा कई स्थलों में अव्यवस्थित है। उसमें च्युत संस्कृति दोष है जो कि खटकता भी है, किन्तु फिर भी इन्होंने अवधी को साहित्य क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

निःसन्देह जायसी के काव्य में अत्यधिक पुनरुक्तियां हैं, उसमें अनावश्यक पांडित्य-प्रदर्शन भी है, अत्युक्तियों की भरमार है, हिन्दू-संस्कृति का अपूर्ण ज्ञान है, भाषा सम्बन्धी च्युति संस्कृति दोष भी है, किन्तु फिर भी जायसी का भारतीय साहित्य और संस्कृति में एक विशिष्ट स्थान है। हिन्दू मुस्लिम हृदयों के सांस्कृतिक समन्वय का श्रेय तो इनको है ही, कवि के नाते हिन्दी साहित्य में भी ये अत्यन्त उच्च ठहरते हैं। बाबू गुलाबराय के शब्दों में हम कह सकते हैं "जायसी महान् कवि है। उसमें कवि के समस्त सहज गुण विद्यमान हैं। उसने सामयिक समस्या के लिए प्रेम की पीर की देन दी। उस पीर को अपने शक्तिशाली महाकाव्य के द्वारा उपस्थित किया। वह अमर कवि है।"

कबीर और जायसी – दोनों प्रतिभा-सम्पन्न कवि हैं। कबीर केवल बहुश्रुत हैं किन्तु जायसी इसके साथ फारसी के अच्छे विद्वान् भी हैं। जायसी की भाषा लोक-प्रचलित अवधी है जबकि कबीर की भाषा सधुक्कड़ी है। इन दोनों से तुलसी के पांडित्य और नन्ददास के भाषा-सौष्ठव की आशा नहीं की जा सकती है। जायसी ने मसनवी शैली को अपनाया है, जबकि कबीर ने दोहे और भजन लिखे हैं।

दोनों का उद्देश्य जन-सामान्य में निर्गुण का प्रचार करना है। ये पहले संत और साधक हैं बाद में कवि। अतः कविता इनके लिये साधन थी न कि साध्य। कबीर का स्थान सन्त काव्य में सर्वोच्च है जबकि जायसी का स्थान सूफी काव्य में। कबीर का ज्ञान मस्तिष्क से सम्बद्ध है जबकि जायसी का प्रेम रहस्य से। जनता को प्रभावित करने में जायसी कबीर की अपेक्षा अधिक सफल रहे हैं और वे इससे भी अधिक सफल रहते यदि उनका पद्मावत फारसी लिपि में निबद्ध न होता। दोनों हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्षपाती हैं किन्तु उनके साधन भिन्न-भिन्न हैं। कबीर ने खंडनात्मकता की पद्धति को अपनाया जबकि दूसरे ने मंडनात्मक पद्धति को। कबीर ने दोनों जातियों को धार्मिक क्षेत्र में परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया जबकि

जायसी ने सांस्कृतिक समन्वय के द्वारा प्रत्यक्ष जीवन की आवश्यकता को पूरा किया और दोनों हृदयों के अजनबीपन को मिटाया।

जायसी कबीर की अपेक्षा अधिक उदार और सहिष्णु हैं। जायसी के लिए जैसे तीर्थ-व्रत हैं वैसे रोजा-नमाज, किन्तु कबीर बुरी तरह विपक्षी-मत का खंडन करते हैं। कबीर किसी भी कीमत पर अपने मत का प्रचार करना चाहते हैं। कबीर स्वभाव से अक्खड़, फक्कड़, मस्तमौला, निर्भीक और स्वतंत्रचेता हैं, जबकि जायसी विनम्र और मुलायम तबियत के हैं।

दोनों विविध मतों से प्रभावित हैं। दोनों पर अद्वैतवाद, सर्वेश्वरवाद तथा हठयोग का प्रभाव है। दोनों के साधन ज्ञान और प्रेम हैं, पर उनके अनुपात में अन्तर है। दोनों भारतीय संस्कृति से प्रभावित हैं, पर दोनों को उसका सम्यक् ज्ञान नहीं है। कबीर कभी एकेश्वरवाद की ओर जाते हैं तो कभी अद्वैतवाद की ओर और कभी वैष्णवों के प्रपत्तिवाद की ओर झुकते हैं। वे बहुश्रुत थे अतः कभी कुछ और कभी कुछ कहते रहे। जायसी ने अपने पद्मावत में भारतीय संस्कृति का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है पर कहीं-कहीं पर वे भूल भी कर गये हैं। उन्होंने नारद को शैतान कह दिया और अपने नायक को रावण की उपमा दे दी।

जायसी का ज्ञान-क्षेत्र कबीर की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत था, अतः वे खंडन पर नहीं उतरे। इस्लाम संस्कृति के साथ उन पर भारतीय संस्कृति का भी प्रभाव था। वे कबीर के समान केवल सत्संगी जीव नहीं थे प्रत्युत उन्हें फारसी साहित्य का गम्भीर ज्ञान था। उन्हें काव्यशास्त्रीय ज्ञान भी था, कदाचित् इसलिये वे हिन्दी क्षेत्र में भी उसी गति के साथ बढ़ सके।

काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष में जायसी कबीर की अपेक्षा श्रेष्ठ ठहरते हैं। कबीर सूक्तिकारों तथा गीतिकारों में आते है, जबकि जायसी हिन्दी के प्रथम सफल प्रबन्धकार ठहरते हैं और जिन्हें तुलसी का भी इस दिशा में मार्गप्रशस्ता माना जा सकता है। जायसी के काव्य में सभी रसों का समावेश है, किन्तु विप्रलंभ शृंगार का परिपाक तो अपनी चरम सीमा पर है और इस विषय में शायद ही हिन्दी का कोई दूसरा कवि इनकी समता कर सके। कबीर में शान्त और शृंगार रस है, किन्तु उसमें जायसी जैसी बुलन्दी नहीं। भले ही जायसी हिन्दी के प्रथम कोटि के कलाकारों में न आते हों परन्तु वे निश्चित रूप से कबीर की अपेक्षा श्रेष्ठ ठहरते हैं। हमारे विचारानुसार साहित्यिक दृष्टि से जायसी को कबीर की अपेक्षा श्रेष्ठ कहना साहित्यिक न्याय होगा।

सूफी प्रेमाख्यानों के प्रेम पर विदेशी प्रभाव

कतिपय विद्वानों ने हिन्दी के सूफी कवियों द्वारा चित्रित प्रेम पर विदेशी प्रभाव की चर्चा की है। डॉ० रामरतन भटनागर का कहना है कि "परन्तु प्रेम का जो रूप इन प्रेम गाथाओं में है वह भारतीय काव्य परम्परा से दूर पड़ता है—पहली

बात निराधार पूर्वराग है। गुण श्रवण द्वारा पूर्व राग की उत्पत्ति हमारे शास्त्रकार मानते हैं परन्तु नायिका के सौंदर्य की बात सुनकर नायक को मूर्च्छा आ जाय यह कल्पना दूर की कौड़ी है—दूसरी बात है पुरुष का प्रयत्नशील होना। भारतीय काव्य-परम्परा में नायिका नायक से मिलने के लिये प्रयत्नशील होती है।" डॉ० सरला शुक्ल ने विदेशी प्रभाव की चर्चा करते हुए लिखा है—"अन्य देशों की भाँति यहाँ के (अरब के) वीरगाथा कवियों का अनिवार्य सम्बन्ध प्रेम, सुरा और प्रिया के नखशिख-वर्णन में से था।······इस प्रकार कविता सूफियों को परम्परा से मिली।" आगे चलकर वे लिखती हैं—"शुद्ध व्यक्तिगत प्रेम के प्रतीकात्मक वर्णन की परम्परा ईरान देश के प्रभाव एवं फारसी के माध्यम से सूफी साहित्य की विशेषता बन गई।" उपर्युक्त कथनों के आधार पर विद्वान आलोचकों को सूफियों के प्रेम पर जिन विदेशी प्रभावों का आभास मिला है वे इस प्रकार हैं :—

(क) सूफियों द्वारा चर्चित पूर्वराग भारतीय परम्परा के अनुकूल न होकर विदेशी परम्परा के अनुकूल है। भारतीय परम्परा में पुरुष प्रयत्नशील न होकर नारी प्रयत्नशील होती है जबकि यहाँ प्रेमिका की प्राप्ति के लिए पुरुष को प्रयत्नशील दिखाया गया है।

(ख) सूफी काव्यों में निरूपित प्रेम, सुरा और नख-शिख पर अरबी और फारसी साहित्य का प्रभाव है।

(ग) सूफियों से पूर्व शुद्ध व्यक्तिगत प्रेम से प्रतीकात्मक वर्णन की परम्परा भारत में नहीं थी। जैसे कि धर्म-क्षेत्र में प्रेम-प्रवेश का कार्य सूफियों के आगमन के पश्चात् हुआ हो।

बड़े खेद का विषय है कि आधुनिक भारत का मनीषी स्वरूप-विस्मृति के कारण अपनी प्रत्येक वस्तु पर विदेशी प्रभाव की कल्पना करने में तनिक भी विलम्ब नहीं करता। डॉ० विमल कुमार जैन ने आधुनिक कवियों महादेवी, प्रसाद, निराला की रहस्यवादी पीड़ा और वेदना का सम्बन्ध सूफी मतवाद की फारस देश से उधार ली हुई पीड़ा के साथ जोड़ दिया है। डॉ० ताराचन्द्र के अनुसार, "शंकराचार्य, निम्बार्क, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य तथा दक्षिण के आलावार सन्त एवं वीर शैव तथा लिंगायत सम्प्रदाय, ये सबके सब इस्लामी प्रभाव से आविर्भूत हुए।" उनके अनुसार शंकर का अद्वैतवाद इस्लाम की शिक्षा से निकला था और हिन्दुओं का भक्ति आन्दोलन भी इस्लाम की देन है। डॉ० आबिद हुसेन तथा हुमायूँ कबीर ने भी भारतीय साहित्य और संस्कृति पर मुस्लिम प्रभाव की अतिरंजनापूर्ण कल्पना की है। लगता है जैसे कि ये सभी लेखक हिन्दू-मुस्लिम-एकता के प्रोत्साहन-कार्य के जोश में अतिरिक्त भावुकता-वश बहक गये हों। जैसे आज से कुछ वर्ष पूर्व हिन्दुओं के भक्ति आन्दोलन पर ईसाइयत के प्रभाव का निराधार कोलाहल मचा और फेन-राशिवत स्वयं बैठ गया। इसी प्रकार इन तथाकथित प्रभावों की दशा समझनी चाहिए। कहने

को तो शंकराचार्य को प्रच्छन्न रूप से बौद्ध धर्म का प्रचारक तक कह दिया गया है। किन्तु आज इन तथाकथित आरोपों की विश्वसनीयता सन्दिग्ध है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि यदि मुसलमान इस देश में न भी आये होते और हमारा सम्पर्क मुस्लिम जगत से न भी हुआ होता तो भी भारतीय साहित्य और चिन्तन-धाराओं का स्वरूप वैसे ही चलता जैसे आज है। हिन्दू-धर्म, दर्शन और साहित्य पर इस्लाम का प्रभाव बिल्कुल सतही प्रभाव रहा है। रामधारीसिंह दिनकर के अनुसार "दर्शन और विचार की धरातल पर इस्लाम ने हिन्दुत्व पर कोई प्रभाव नहीं डाला।"

हम पहले ही बता चुके हैं कि सूफियों का शृंगार-वर्णन भारतीय साहित्य परम्परा और भारतीय वातावरण के अनुकूल हुआ है। यहाँ के काव्यशास्त्रियों द्वारा पूर्वराग की उत्पत्ति गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन तथा प्रत्यक्ष दर्शन से स्वीकार की गई है। सूफी काव्यों में पूर्वराग के उक्त चारों कारणों की यत्र तत्र चर्चा की गई है। गुण श्रवणादि से नायक का मूर्च्छित हो जाना सूफी संस्कारों के अतिरेक का परिणाम है। प्रेमिका की प्राप्ति के लिए नायक का प्रयत्नशील होना, केवल फारसी के मसनवी काव्यों का ही विशिष्ट या अतिरिक्त गुण नहीं है, भारतीय प्रेमाख्यानों में भी प्रिया की प्राप्ति के लिए नायक को प्रयत्नशील दिखाया गया है। बाण की कादम्बरी तथा सुबन्धु की वासवदत्ता इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। भारतीय रस-साधकों ने इसीलिए रति का उभयपक्षीय होना आवश्यक माना है। भारतीय साहित्य में अभिसारिकाओं का प्रयोग प्रेम-क्षेत्र नारी के स्वातंत्र्य का द्योतक हैं जबकि ईरानी साहित्य में पुरुष को एक मात्र प्रयत्नशील दिखाना वहाँ की नारियों के प्रेम स्वातन्त्र्य पर कठोर सामाजिक प्रतिबन्धों का परिचायक है।

सूफियों के प्रेमाख्यानों में वर्णित सुरा और नख-शिख आदि का अरबी साहित्य से गठबन्धन करना न्याय संगत नहीं है। काम-सूत्र में अनेक प्रकार की गोष्ठियों का उल्लेख है जिनमें पान-गोष्ठियां प्रमुख हैं। शिशुपाल वध काव्य में सुरा से उन्मत्त यादव-दंपतियों के अनेक लीला-बिहारों का उन्मुक्त वर्णन है। नख-शिख वर्णन आलम्बनगत उद्दीपन विभाव में आता है जिसकी चर्चा हमारे यहाँ इस्लाम के जन्म से पूर्व रस-शास्त्री कर चुके थे। यहां पर नख-शिख और शिख-नख दोनों प्रकार के वर्णन की परम्परायें रही हैं। इस प्रवृत्ति के दर्शन संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में बहुत पहले से होते हैं। नख-शिख आदि का विषय भारतीय साहित्य में अतीव प्रिय रहा है। अलक-शतक जैसे काव्यों का निर्माण इसका स्पष्ट द्योतक है। दिनकर जी का तो यहाँ तक विश्वास है कि "नायिका-भेद-परम्परा फारसी के प्रभाव से नहीं आई क्योंकि अरबी और फारसी में यह परम्परा है ही नहीं। मुसलमान कवियों ने नायिका-भेद-वर्णन संस्कृत और हिन्दी की परम्परा से लिया।"

धर्म क्षेत्र में प्रेम-प्रवेश की प्रक्रिया सूफियों के आगमन से बहुत पहले आरम्भ हो चुकी थी। शुद्ध व्यक्तिगत प्रेम के प्रतीकात्मक वर्णन की परम्परा भी इस देश के

लिए कोई नई वस्तु नहीं है। जैनों की धर्म कथाओं में यत्र तत्र इस प्रकार के प्रेम के दर्शन होते हैं। वैष्णवाचार्यों, आलवार सन्तों, जैन मुनियों तथा वज्रयानी सिद्धों द्वारा धर्म-क्षेत्र में प्रेम प्रवेश और उसके व्यक्तिगत रूप के वर्णन का कार्य सूफियों के आगमन से पहले सम्पन्न हो चुका था।

हिन्दी काव्य की शृंगारी परम्परायें पूर्व के भारतीय साहित्य की शृंगार-परम्पराओं से परिचालित रही हैं। हाल की गाथासप्तशती, गोवर्धन की आर्यासप्तशती, अमरुक शतक तथा इस प्रकार के संस्कृत आदि भारतीय भाषाओं के असंख्य शृंगारी ग्रंथ प्रेम काव्यों के प्रेरणा स्रोत बने रहे हैं। हिन्दी के मुक्तक काव्यों पर तो इन ग्रंथों का प्रभाव और भी अधिक उभरी हुई मात्रा में पड़ा है। संस्कृत में रचित ढेरों के ढेर ऐहिकता परक सरस काव्यों का प्रभाव रीतिकालीन साहित्य पर पड़ा। कवि आलम ने स्पष्ट शब्दों में उक्त प्रभाव को स्वीकार किया है :—

> कछु अपनी कछु पर कृति चोरौं जथा सक्ति कर अक्षर जोरौं।
> सकल शृंगार विरह की रीति माधव काम कन्दला प्रीति।
> कथा संस्कृत सुनी कछु थोरी, भाषा पांचि चौपाई जोरि॥

हिन्दी काव्य के भाव पक्ष पर यदि फारसी का कोई प्रभाव पड़ा है तो वह है उसके अतिरिक्त भावुकता और जुगुप्सा तथा पीड़ा का मादक भाव। संस्कृत साहित्य में भी मादकता के वर्णन हैं किन्तु फारसी साहित्य की मादकता की प्रकृति उससे कुछ भिन्न है। दिनकर जी ने संतों के बहुरियावाद को सूफीमत से प्रभावित माना है जो कि हमें स्वीकार नहीं हैं। आन्दाल नाम की आलवार साधिका बहुत पहले से इस भाव को अपना चुकी थी। इसके अतिरिक्त हिन्दी काव्य में स्त्री को पुरुषवत् सम्बोधन करने की प्रवृत्ति (बहुत ही थोड़े स्थलों में) भी किसी सीमा तक फारसी का प्रभाव मानी जा सकती है। ऐसा भाव समाज में प्रेम के स्वतन्त्र विकास पर बन्धनों के कारण जन्म लेता है। नारी भी कभी २ पुरुष भाव में निजानुभूति करने लगती है किन्तु ऐसा तब होता है जब पुरुष उसे लजीला दिखाई पड़ता है उस समय वह स्वयं अपने हृदय को न्यौछावर करती हुई आगे बढ़ती है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि इन प्रेमकाव्यों में सभी कुछ पुरानी भारतीय शृंगार-परम्परा का मिलता है। उसमें नागरिकता तो है किन्तु विदेशी प्रभाव की सी हुस्न परस्ती या वेश्या-विलास जैसी कोई भी वस्तु नहीं है। पुरातन भारतीय शृंगार परम्परा और इन काव्यों के शृंगारी रूप में जो थोड़ा-बहुत अन्तर मिलता है उसका कारण है प्रत्येक युग की सांस्कृतिक, धार्मिक तथा कलात्मक अभिरुचियों और प्रवृत्तियों की विभिन्नता।

हिन्दी सूफी प्रेमाख्यानक काव्य और धर्म प्रचार

हिन्दी जगत् में अनेक विद्वानों ने इन प्रेमगाथाओं के निर्माण का उद्देश्य धर्म प्रचार स्वीकार किया है। इस विषय में डॉ० रामकुमार का कथन है—"पद्मावत की

सारी कथा के पीछे सूफी सिद्धान्तों की रूपरेखा है किन्तु वे (जायसी) इसे निभा नहीं सके। अयोध्यासिंह उपाध्याय का भी ऐसा ही विश्वास है।" सूफी सम्प्रदाय के भावों को उत्तमता के साथ जनता के सामने लाने के लिए अपने प्रसिद्ध ग्रंथ पद्मावत की रचना की। इसी प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद तथा आचार्य शुक्ल ने भी सूफी काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि जायसी के पद्मावत का निर्माण का उद्देश्य सूफी सिद्धान्तों का प्रचार माना है। किन्तु इस सम्बन्ध में हमें स्मरण रखना होगा कि सूफी,एवँ असूफी प्रेमाख्यानों का उद्देश्य धर्म प्रचार नहीं है। शुक्ल जी के पश्चात् प्रायः उन्हीं का अनुकरण करते हुए विद्वानों ने यह धारणा बना ली कि इन सूफी काव्यों के निर्माण का उद्देश्य लौकिक प्रेम-कहानियों के माध्यम से परोक्ष रूप में सूफी धर्म या मुसलमान-धर्म का प्रचार करना है, किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। भारतीय साहित्याचार्यों के अनुसार काव्य निर्माण के उद्देश्य हैं—यश-प्राप्ति, अर्थोपार्जन, व्यवहार-ज्ञान, पाप-नाश, मोक्ष-प्राप्ति तथा कांता के मन्द स्मित के समान मधुर उपदेश देना। अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन पुरुषार्थों में से किसी एक की उपलब्धि काव्य-प्रणयन का उद्देश्य स्वीकार किया गया है। जायसी आदि कवियों का उद्देश्य काव्य-सृष्टि द्वारा पैसा बटोरना नहीं है। ये सूफी प्रेम-काव्य धर्म-प्रचारार्थ भी नहीं लिखे गये और न ही इनके पाठक इन्हें धार्मिक कृत्य मानकर पढ़ते हैं। मोक्ष-प्राप्ति भी इनसे संभव नहीं क्योंकि इन काव्यों में किसी प्रकार की कोई आध्यात्मिकता भी नहीं है। इन काव्यों के प्रणेताओं का लक्ष्य काम है। यहाँ हमें काम को उसके व्यापक अर्थ में ग्रहण करना होगा, जिसका अपर पर्याप्त आनन्द या स्वान्तःसुख है। इन प्रेम-काव्यों को लिखना और पढ़ना लेखक और पाठक दोनों के दृष्टिकोणों से आनन्द लाभ एवं मनोरंजन है। किसी भी कृति के निर्माण के मूल में अन्य उद्देश्यों को छोड़ कर यशोलिप्सा की बलवती आकांक्षा सर्वदा सन्निहित रहती है। इस उद्देश्य की अभिव्यक्ति सूफी कवि जायसी में बड़े स्पष्ट शब्दों में हुई है :—

> औ यह जानि कवित्त अस कीन्हा, मकु यह रहे जगत में चीन्हा।
> केइ न जगत जस बेंचा, केइ न लीह जस मोल।
> जो यह सुनै कहानी हमैं संवरे दुई बोल॥

चित्रावली के लेखक उसमान ने इस विषय में बड़ी गर्वोक्ति से काम लिया है "कि जिसकी बुद्धि अधिक हो, वह मुझ जैसी कथा को आकर कहे। मेरी इस कथा से बालकों को कथारस मिलता है, युवक वर्ग में काम की वृद्धि होती है और भोगी जनों के लिए सुख तथा भोग की प्राप्ति होती है" :—

> जाकी बुद्धि होइ अधिकाइ, आन कथा एक कहै बनाई।
> बालक सुनत कामरस लावा, तरुनन्ह के संग काम बढ़ावा।
> भोगी कंह सुख भोग बढ़ावा……॥

उसमान का एक अन्य स्थान पर कहना है—"इस कथा को मैंने हृदय में उत्पन्न किया है, जो कहने में मीठी जान पड़े और सुनते समय सुन्दर लगे। इस कथा को बनाया जिससे रात अच्छी तरह कट सके।" भारत में काव्यानन्द से धीमानों के लिए काल-यापन की परम्परा चिर पुरातन है :—

काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ॥

नूर मुहम्मद ने अपनी रचना का उद्देश्य प्रेमरस का प्रचार करना बताया है—

नूर मुहम्मद यह कथा अहै प्रेम की बात।
जहि मन होई प्रेम रस, पढ़ै सोई दिन रात॥

शेख निसार ने अपनी रचना यूसफ जुलेखा का प्रणयन अपने तरुण पुत्र के दारुण निधन पर शोक निवारण के लिए किया था। उसकी प्रबल आकांक्षा है कि उसकी अमर कीर्ति इस नश्वर संसार में रह जाय :—

जब ते लतीफ कर मरम विसेख्यो।
तम संपत मिरथा देख्यो ॥
हम न रहब आखर रह जाइ,······प्रेमी सुन प्रेम अधिकावैं ॥

मृगावती का निर्माण बंगाल के शाह हुसेन की प्रेरणा से हुआ था। मुल्ला-दाऊद की नूरक चन्दा का उद्देश्य भी किसी धर्म विशेष का प्रचार करना नहीं है। मृगावती में न कोई सूफी आदर्श है और न ही कोई धर्म प्रचार की भावना। इसकी रचना द्विजदेव की मृगावती है, जो कि कथासरित्सागर के आधार पर बनी। डॉ० कमल कुल श्रेष्ठ के अनुसार जायसी से पूर्व पाठक राजवल्लभ ने १४६७ विक्रम संवत् में पद्मावती की कहानी संस्कृत में लिखी थी। आचार्य हजारीप्रसाद के अनुसार "नायिका के आधार पर नामकरण की प्रवृत्ति और रोमांसवादी काव्यों का बोध कराने के लिए "वती" प्रत्यय का प्रयोग बहुत पुरातन काल से होने लगा था। कई विद्वानों के अनुसार जायसी के पद्मावत का आधार कथासरित्सागर है। रीति कालीन असूफी मुस्लिम कवि आलम को अपनी रचना संयोग-वियोगात्मक प्रीतिमय "माधवानल कामकन्दला" के द्वारा प्रेमी जनों के प्रेम और कामी रसिकजनों की रसि-कता की अभिवृद्धि अभीष्ट है" :—

कहौं बात सुनौ सब लोग, कथा कथा सिंगार वियोग।
सकल सिंगार विरह की रीति, माधौ कामकन्दला प्रीति।
प्रीतिवन्त ह्वै सुनै सोहोइ, बाढ़ै प्रीति हिए सुख होई।
कामी पुरुष रसिक जे सुनहिं ते या कथा रैनि दिन सुनहिं ॥

उपर्युक्त कथनों के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि सूफी एवं असूफी मुसलमान कवियों के प्रेमाख्यानों के प्रणयन का उद्देश्य किसी प्रकार का कोई धर्म प्रचार नहीं था। यदि इन रचनाओं का उद्देश्य धर्म प्रचार होता तो ये रचनायें न तो इतनी जन प्रिय बन पातीं और न ही इतनी चिरंजीवी हो सकतीं।

इसके अतिरिक्त धर्म प्रचार के लिए लिखी गई रचनाओं का परिगणन धर्मशास्त्र के अन्तर्गत होना चाहिए था सृजनात्मक साहित्य में नहीं। यदि इन कृतियों द्वारा किसी धर्म का प्रचार होता भी है तो वह है मानव धर्म अथवा प्रेमधर्म जिसकी अभिनन्दनीय अभिव्यक्ति कवि-कुल गुरु कालिदास, कवीन्द्र रवीन्द्र, कबीर तथा विश्व के अन्य मूर्धन्य कवियों में हुई है। अतः सूफी रचनाओं के मूल में किसी सम्प्रदाय विशेष के संकीर्ण धर्म-प्रचार की कोई दुरभिसन्धि नहीं है।

अधिकतर मुस्लिम सूफी कवियों की प्रेम रचनाओं की सृष्टि बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के युग में हुई। यह युग गुण ग्राहकता, उदारता और सहिष्णुता के लिए प्रसिद्ध है। इस युग में धार्मिक कट्टरता की सनक हिन्दू और मुसलमान, दोनों में नहीं थी। धार्मिक कट्टरता का विषैला बिरवा तो औरंगजेब के समय में फूला-फला। यही कारण है कि परवर्ती सूफी कवियों, जान तथा नूर मुहम्मद की परवर्ती रचनाओं में गुप्त रूप से धर्म-प्रचार की भावना काम करने लग गई थी, किन्तु पहले के सूफी कवियों—जायसी आदि में धर्म प्रचार के किसी उद्देश्य का आभास नहीं मिलता है। इसी प्रकार दक्खिनी हिन्दी काव्य-धारा के अन्तर्गत निर्मित प्रेम गाथाओं में गवासी से पूर्व किसी प्रकार के साम्प्रदायिक धर्म प्रचार का उद्देश्य नहीं मिलता है। उक्त काव्य-धारा के अन्तर्गत निर्मित प्रेमगाथाओं में धर्म प्रचार, साम्प्रदायिकता, और हिन्दी के प्रति अनुदार नीति के बीजों का वपन गवासी (जान के समकालीन) के समय में हुआ जो कि बाद में उत्तरोत्तर बढ़ता गया। गवासी के समय में ही यहाँ के मुस्लिम कवि की आँखें विषय वस्तु और उसकी बाह्य साज-सज्जा के लिए ईरान पर जा लगीं और गुलन्दाम जैसे काव्य मसनवी शैली में लिखे जाने लगे तथा हिन्दी में संस्कृत के शब्दों का बहिष्कार किया जाने लगा, अन्यथा अबदुल्ल सम्मत (१६०३ ई०) के समय तक दक्खिनी हिन्दी में निर्मित प्रेम-गाथाओं की कहानियाँ भारतीय हैं। उनके वर्णन का ढंग भारतीय है। उनमें चित्रित शृंगार का शरीर भारतीय परम्परा के अनुकूल है। मुहम्मद कुल्ली कुतबी के प्रेम काव्य में तत्कालीन शृंगारी काव्य की सारी प्रवृत्तियाँ समुपलब्ध होती हैं। साम्प्रदायिकता और धर्म प्रचार का समावेश तो बाद की वस्तु है। यदि उत्तरी भारत और दक्खिनी भारत के सूफी कवियों की रचनाओं में धर्म प्रचार की प्रवृत्ति को देखना हो तो दक्खिनी भारत के सूफी कवियों में—गवासी और उसके बाद में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है और उत्तरी भारत में धार्मिक कट्टरता नूर मुहम्मद और जान में आई, जो कि परवर्ती काल के कवि हैं।

धर्म की चर्चा उत्तरी भारत के मुस्लिम सूफी कवियों में भी है, किन्तु वह उनके सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रंथों में है। सूफियों ने तीन प्रकार के साहित्य का निर्माण किया है—(क) निबन्ध-साहित्य—इसमें इनके धार्मिक सिद्धान्तों की व्याख्या है। (ख) जीवनी साहित्य—इसमें सूफियों की जीवनियाँ निबद्ध हैं। (ग) प्रेमाख्यात्मक प्रबन्ध-काव्य तथा फुटकर रचनायें—इसमें लौकिक प्रेम-कहानियाँ निबद्ध हैं। इनमें

किसी प्रकार के धर्म के सैद्धान्तिक प्रचार की कोई गन्ध नहीं है। इन प्रेमाख्यानों में यत्र तत्र जो धार्मिक प्रसंगों की चर्चा है, उसका मूल कथानक के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। इन प्रेमाख्यानों में प्रेम तत्त्व की प्रधानता है, प्रचारात्मकता की नहीं।

सूफी-प्रेम काव्यों के निर्माण का लक्ष्य-मनोरंजन—

सूफी कवि जायसी तथा उसमान ने अपनी काव्य सर्जना का उद्देश्य निर्भ्रान्त रूप से यशोलिप्सा, मनोरंजन तथा आनन्द लाभ कहा है—

औ ये जानि कवित्त अस कीन्हा,
मकु यह रहे जगत महँ चीन्हा।
केइ न जगत जस बेचा, केइ न लीन्ह जस मोल
जो यह सुनै कहानी, हमें सँवरै दुई बोल। पद्मावत।

उसमान की तो यहाँ तक गर्वोक्ति है कि उस जैसे प्रेमाख्यान रचने की सामर्थ्य है ही किस में। उसकी रचना के सुनने से बालकों में काम रस आता है तथा युवकों में काम की उद्दीप्ति होती है:—

जा की बुद्धि होइ अधिकाइ आन कथा एक कहै बनाई।
बालक सुनत काम रस लावा, तरुनन्ह के संग काम चढ़ावा। चित्रावली।

जायसी और उसमान की रचनायें अपने विशुद्ध रूप में प्रेम-कथायें हैं। हां, इनमें लेखकों की मूल प्रकृति के अनुरूप कहीं २ पर रहस्यात्मक संकेत अवश्य होते गये हैं, किन्तु इतने मात्र से इन्हें पूर्ण रहस्यवादी अथवा अध्यात्म परायण रचनायें नहीं कहा जा सकता है। इन रचनाओं में प्रस्तुत में अप्रस्तुत का विधान अन्योक्ति न होकर समासोक्ति है। इन काव्यों के प्रणयन का मुख्य उद्देश्य प्रेम-कथाओं का निरूपण है किन्तु इसके साथ २ इनमें मध्यकालीन वर्णक कवि के समान अन्य नाना विषयों का भी समावेश कर लिया गया है।

पद्मावत के कथानक में रत्नसेन और पद्मावती की सुख क्रियाओं में सुरतान्त तथा गुह्यांग-वर्णन, रत्नसेन की रसिकता, स्त्री-भेद खंड के अन्तर्गत पद्मिनी आदि नायिकाओं का काम-शास्त्रीय आधार पर निरूपण, अश्वों, हाथियों, मकानों तथा वृक्षों की विस्तृत सूचियां, देव पाल और अलाउद्दीन द्वारा प्रेषित दूतियों का कुशल दौत्य, वेश्याओं का वर्णन और उनकी अर्थ-शोषण की विधियां, नागरक जैसे शयन कक्ष तथा रति शय्याओं का उनमुक्त वर्णन, चौपड़ का खेल, प्रेमी प्रेमिका के बीच में नाना हास परिहासात्मक प्रश्नों और पहेलियों का विधान, रति, संग्राम एवं सुरतान्त क्रियायें, नायिका का मांसल-नखशिख-वर्णन, सोलह शृंगारों की कामोद्दीपक चर्चा इसी प्रकार चित्रावली के काम खंड में रस-रीतियों के सर्वांगीण ब्यौरे तथा नाना अन्य लौकिक विषयों के समावेश को देखकर भी उक्त रचनाओं को अध्यात्म या रहस्यवाद परक मानना सचमुच एक बड़े साहस की बात होगी क्योंकि उपर्युक्त विषयों का रहस्यवाद

की मूल भाव धारा से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कोई भी सम्बन्ध नहीं है। सच तो यह है कि मध्ययुगीन-काव्यों में धर्म, दर्शन, लोक रंजन तथा बहुज्ञता प्रदर्शन के बीच की दीवारें गिर गई थीं, अतः उस युग में रचित काव्यों में इन सब विषयों का समावेश अनायास होता रहा। जायसी आदि प्रेमाख्यान-लेखकों के काव्यों में मध्यकालीन काव्यों की उक्ति प्रवृत्ति (वर्णक-शैली) स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि जायसी केशव तथा बिहारी आदि 'वर्णक-कवि' की कोटि में आते हैं। मध्यकाल में रचित काव्यों में नाना प्रकार के विषयों के समावेश की उक्त प्रवृत्ति (वर्णक-शैली) बड़े जोरों से चल रही थी। परिणामतः सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों में कोक शास्त्र के उन सारे प्रसंगों को उपन्यस्त कर दिया, जो मध्यकालीन विलासीजनों के लिए आवश्यक थे।

पद्मावत तथा चित्रावली में वर्णित काम केलियों और रति के अनावृत प्रसंगों को देख कर सहज में अनुमान लगाया जा सकता है कि तत्कालीन समाज में काम शास्त्र की चर्चा पर्याप्त लोक प्रिय हो गई थी और इस प्रकार के विषयों का समावेश वर्णक कवि के कवि कर्म वृत्त में परिगणित होने लगा था। साधारण पाठक कदाचित् इन ग्रंथों में प्रेम और धर्म की चर्चा के साथ २ काम शास्त्रीय विषयों तथा रति केलियों के अनावृत वर्णनों को देख कर कुछ चकित भी हों, किन्तु वास्तव में यहां आश्चर्य की कोई बात नहीं है। उस समय के युग की रुचि ही कुछ ऐसी बन चुकी थी। मध्ययुगीन चित्रकला, जगन्नाथ पुरी के मन्दिर और खजुराहों के उत्कीर्ण चित्रों में अश्लीलता और विलासिता उभरी हुई है। इसके कारण हैं—सिद्धों की गुह्य-साधना, तांत्रिक प्रभाव, तथा मध्य युग में काम शास्त्रीय-रत-प्रसंगों के अनावृत वर्णनों का अश्लील या बहिष्कृत न समझा जाना।

राम-भक्ति शाखा का उद्भव और विकास

वैदिक-धर्म के कर्म-कांड की प्रतिक्रिया में एक ही साथ दो धर्मों का उदय हुआ - बौद्धधर्म तथा वैष्णव धर्म। ये दोनों धर्म अहिंसा, उदारता और सदाचार की भावनाओं को लेकर खड़े हुए। बौद्ध धर्म तो आत्मशुद्धि के प्रचार में लग गया और वैष्णव धर्म ने भगवान् की भक्ति का आश्रय लिया। आगे चलकर इसी वासुदेव धर्म या वैष्णव धर्म में अवतारवाद की भावना ने अपना स्थान बना लिया। बाद में विष्णु के दो रूप राम और कृष्ण माने जाने लगे। कालान्तर में भक्ति की यही धारा हिन्दी साहित्य में प्रकट हुई।

भक्तिकाल की यह धार्मिक भावना उत्तरी भारत में विकसित होने से पूर्व दक्षिणी भारत में पल्लवित और पुष्पित हो चुकी थी। यह भावना वैष्णव धर्म से उद्भव हुई थी जिसका सम्बन्ध भागवत या पांचरात्र धर्म से है। वैष्णव धर्म का आदि रूप हमें विष्णु के देवत्व में उपलब्ध होता है। विष्णु का उल्लेख ऋग्वेद में

मिलता है किन्तु वहां वह प्रथम श्रेणी के देवताओं में नहीं। इसे वहां सौर-शक्ति के रूप में या इन्द्र के सहयोगी के रूप में देखा जा सकता है। विष्णु का परम ब्रह्ममय रूप जो कि इतिहास, महाकाव्यों और भागवत में प्रतिपादित है वह बाद का है। इसी विष्णु का राम और कृष्ण के रूप में प्रचार हुआ और लगभग यह भावना ईसा से पांच सौ वर्ष पूर्व उदित हो चुकी थी।

कुछ विद्वानों ने वैदिक संहिताओं में आये हुए राम, सीता, दशरथ और जनक आदि नामों को देखकर राम-भक्ति का सम्बन्ध ठेठ वैदिक काल से जोड़ने का प्रयास किया है किन्तु वैदिक साहित्य में इन नामों के साथ वह कथा नहीं मिलती जो कि बाद में रामायण में मिलती है, फिर भी राम-कथा एक ऐसे युग की वस्तु प्रतीत होती है जबकि वैदिक युग के जीवन के आदर्श बने हुए थे। बाल्मीकि की रामायण में राम का रूप अवतार का नहीं महापुरुष का ही है, इसलिए रामकथा यदि वैदिक युग की वस्तु नहीं तो उसके कुछ ही पीछे की है।

महाभारत में जो रामोपाख्यान दिया हुआ है वह अनेक स्थलों पर बाल्मीकि रामायण से शाब्दिक साम्य रखता है। रामकथा के कुछ अन्य स्रोत भी हैं, जैसे बौद्ध जातक ग्रंथ, जैन साहित्य तथा ब्राह्मणों का पुराण साहित्य। जातक ग्रंथों में रामकथा बहुत ही परिवर्तित रूप में मिलती है, जैन साहित्य में उसमें पर्याप्त हेर-फेर है किन्तु पुराणों में रामकथा बहुत कुछ बाल्मीकि के अनुसार है।

प्रसिद्ध इतिहासकार जयचन्द्र विद्यालंकार का कहना है कि कालिदास के समय तक राम को विष्णु का अवतार नहीं माना जाता था अन्यथा अमरकोष में विष्णु के जो नाम गिनाए गए हैं, वे कृष्ण के न होते। इससे यही सिद्ध होता है कि कृष्ण भक्ति भावना प्राचीन है। राम को भगवान् मानने की भावना पाँचवीं शताब्दी के बहुत बाद की है। इसी प्रकार डॉ० हरदेव बाहरी का कथन है कि राम का पूर्ण रूप गुप्त काल में विकसित हुआ। आचार्य चतुरसेन शास्त्री इनसे एक कदम और आगे बढ़ गये हैं। उनका कहना है कि राम और कृष्ण भक्ति का विकास ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ, किन्तु उपर्युक्त सभी मत भ्रमपूर्ण हैं। भास के प्रतिमा और पंचरात्र नाटक इस बात के प्रमाण हैं। डॉ० भंडारकर ने यह सिद्ध कर दिया है कि ईसा के ५०० वर्ष पूर्व राम और कृष्ण को ईश्वरावतार के रूप में माना जाने लगा था।

आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का निरूपण किया और इससे बौद्धधर्म को महान् आघात पहुंचा। शंकर का मायावाद भक्ति के सन्निवेश के लिए उपयुक्त न था। यद्यपि उसमें ब्रह्म की व्यांवहारिक सगुण सत्ता का भी सन्निवेश था पर भक्ति के सम्यक् प्रसार के लिए जिस दृढ़ आधार की आवश्यकता थी वह स्वामी रामानुजाचार्य (१०७३) ने खड़ा किया। उनके विशिष्टाद्वैतभाव के अनुसार चराचर उसी ब्रह्म का अंश है, भक्ति के द्वारा उसी का समीप्य लाभ ही परम लाभ है।

रामानुज की शिष्य परम्परा सारे भारत में बराबर फैलती गई और जनता भक्ति-मार्ग की ओर अधिकाधिक आकर्षित होती रही। उनका सम्प्रदाय श्री सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसमें विष्णु या नारायण की उपासना पर बल दिया गया। इस सम्प्रदाय में अनेक अच्छे-अच्छे संत और महात्मा होते रहे।

विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में श्री सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य श्री राघवानन्द हुए। राघवानन्द रामानन्द को दीक्षा देकर निश्चिन्त हुए। रामानन्द ने देशव्यापी पर्यटन द्वारा अपने सम्प्रदाय का प्रचार किया। इनके दो ग्रंथ मिलते हैं—"वैष्णव मताब्ज भास्कर" तथा "रामार्चन पद्धति"। इन्होंने रामानुजाचार्य के मतावलम्बी होने पर भी अपनी उपासना-पद्धति का विशिष्ट रूप रखा। इन्होंने उपासना के लिये बैकुंठ-निवासी विष्णु का रूप न लेकर लोक में लीला करने वाले उसके अवतार राम का आश्रय लिया। इनके इष्टदेव राम हुए और मूल मन्त्र हुआ राम नाम। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि इससे पूर्व इस देश में रामोपासक भक्त होते ही नहीं थे। रामानुजाचार्य ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसके प्रवर्त्तक श्री शठकोपाचार्य उनसे पाँच पीढ़ी पहले थे, जो कि स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर चुके थे :—

दशरथस्य सुतं विना, अन्यशरणवान्नास्मि।

रामानुज के शिष्य कुरेश स्वामी हुए जिनमें राम की भक्ति विशेष रूप से झलकती है। रामानन्द ने केवल यह किया कि विष्णु के अन्य रूपों में राम के रूप को लोक के लिये अधिक कल्याणकारी समझ कर छाँट लिया। इसके साथ देश-भेद तथा जाति-भेद को मिटाकर भक्ति को सर्वजन-सुलभ बनाया। रामानुजाचार्य ने द्विज मात्र के लिए भक्ति का विधान किया था किन्तु रामानन्द ने इसके साथ-साथ शूद्रों तथा स्त्रियों को भी भक्ति-क्षेत्र में अधिक ठहराया। इनकी भक्ति का क्षेत्र अतीव व्यापक था—"जाति-पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई" और यह उनका महान्तम कार्य था। इससे यह समझना कि ये वर्णाश्रम धर्म के विरोधी थे, भूल होगी। कर्म के क्षेत्र में शास्त्र-मर्यादा उन्हें मान्य थी। हाँ, उपासना क्षेत्र में वे किसी प्रकार का लौकिक प्रतिबन्ध नहीं मानते थे। रामानन्द से पूर्व ज्ञानदेव तथा नामदेव भी राम-भक्ति का प्रचार कर चुके थे। रामानन्द की भक्ति के उदार होने के कारण एक ओर तो कबीर, दादू, पीपा आदि निर्गुण पंथ वाले इनकी शिष्य परम्परा में आये, जिनका राम निराकार था—"दशरथ सुत तिहूं लोक बखाना, राम नाम को मरम है आना", तो दूसरी ओर शेष सनातन तथा नरहरिदास जैसे संत भी थे जिन्होंने तुलसीदास जैसे भक्त को तैयार किया, जिसमें भक्ति का पूर्ण परिपाक हुआ।

तुलसीदास के पूर्व का हिन्दी का राम-साहित्य प्रायः अप्रकाशित है। रामानन्द का उल्लेख पहले किया जा चुका है, उनकी एकमात्र प्राप्त हिन्दी रचना "रामरक्षा स्तोत्र" है। नाभादास के भक्तमाल के अनुसार उनके अनंतानंद, कबीर, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, पद्मावति, नरहरि, पीपा, भावानन्द, रैदास, धना, सेना, सुरानन्द की

स्त्री आदि अनेक शिष्य-प्रशिष्य हुए। इन भक्तों में से पद्मावति और भावानन्द के अतिरिक्त समस्त संतों के परिचयात्मक उल्लेख नाभादास ने किये हैं, किन्तु इनमें से किसी की रचना में राम का अवतारी रूप हमारे सामने नहीं आता।

भक्ति की इस परम्परा में तुलसी से पूर्व के राम-भक्त कवियों में विष्णुदास का भी नाम आता है। इन्हें बाल्मीकीय रामायण का हिन्दी रूपान्तर-कर्ता माना जाता है। ईश्वरदास की रामभक्ति से सम्बद्ध दो रचनायें बताई जाती हैं—'भरत मिलाप' तथा 'अंगद पैंज'।

कुछ जैन कवियों ने भी राम-कथा सम्बन्धी रचनायें प्रणीत कीं। मुनि लावराय की रचना 'रावण मन्दोदरी संवाद' है। जिनराज सूरि की भी इसी नाम की रचना बताई जाती है। इसी परम्परा में ब्रह्म जिनदास की दो रचनायें आती हैं 'रामचरित या राम रास' और 'हनुमन्त रास'। ब्रह्मरायमल्ल तथा सुन्दरदास ने क्रम से "हनुमन्तगामी कथा" तथा "हनुमान चरित" ग्रंथ लिखे।

सूरदास सामान्यतः पुष्टि मार्ग में दीक्षित थे, परन्तु इनमें इस सम्प्रदाय के अन्य भक्तों के समान साम्प्रदायिकता बिल्कुल नहीं मिलती। इन्होंने अनेक पदों में राम-चरित्र का गान किया है। तुलसीदास के राम-काव्य और कृष्ण-काव्य में आकार-प्रकार विषयक जो अनुपात है लगभग वही सूरदास के कृष्ण-काव्य और राम-काव्य में दिखाई पड़ता है। सूरदास के रामचरित सम्बन्धी अनेक पद कला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं।

राम-भक्ति धारा में एक नवीन मोड़ आया जिसके आदि प्रवर्तक हैं अग्रदास, जिन्होंने अग्रअली के नाम से रचनायें की हैं। इन्होंने जानकी की एक सखी की भावना से राम-भक्ति की है। इन्हीं से तुलसी के पश्चात् राम-भक्ति की रसिकता की भावना का प्रवेश हुआ। इनकी इस भावना से सम्बद्ध दो प्रसिद्ध रचनायें हैं— "रामाष्टयाम" तथा "रामध्यान मंजरी"। इनके "रामाष्टयाम" में सीतावल्लभ राम की दैनिक लीलाओं का वर्णन है। राम के ऐश्वर्य के साथ द्वादश लीला, संयोग-वियोग, मधुर रति आदि का वर्णन किया गया है। नाभादास का "अष्टयाम" भी अग्रअली की इस पुस्तक से अत्यन्त प्रभावित है। अग्रअली की यह मधुर उपासना तुलसीदास के मर्यादावाद के सामने बहुत समय तक दबी रही, परन्तु सौ वर्ष पीछे यह धारा बड़े वेग से बह निकली और तत्पश्चात् हिन्दी का प्रायः सारा राम-भक्ति साहित्य उससे सराबोर हो गया। राम-भक्ति में रसिकता की भावना का समावेश कृष्ण-भक्ति धारा के प्रभाव और उसके अनुकरण पर हुआ। आगे चलकर राम की मधुर उपासनामयी भक्ति में अनेक सम्प्रदाय चल निकले। इस माधुर्य भाव की उपासना में चिरान (छपरा) के निवासी श्री जीवाराम ने कुछ परिवर्तन किये। इन्होंने अपने सम्प्रदाय का नाम "तत्सुखी शाखा" रखा। अयोध्या के निकट इस भक्ति का खूब प्रचार हुआ। अयोध्या के राम-भक्ति के रसिक सम्प्रदाय के भक्तों ने राम के चरित्र को प्रधानता दी जबकि जनकपुर के भक्तों ने सीता के चरित्र को प्रधानता

दी। १८ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में कृपानिवास ने रामायत राखी सम्प्रदाय का प्रवतन किया। अयोध्या के श्री रामचरणदास ने सखी सम्प्रदाय के "स्व सुखी" सम्प्रदाय का सूत्रपात किया। राम-भक्ति के रसिक सम्प्रदाय में अनेक कवि हुए। रामभक्त कवियों में प्राणचन्द्र चौहान, हृदयराम, केशव, सेनापति, प्रियदास, कलानिधि, महाराज विश्वनाथसिंह और महाराज रघुनाथसिंह आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी राम-चरित-विषयक रचनाओं का प्रणयन हुआ। आधुनिक काल में रामचरित पर लिखने वाले कवि तथा रामकाव्य-लेखक और पुरातन कवियों के दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर है। आज के बुद्धिप्रधान वैज्ञानिक युग में राम का मानव रूप से ग्रहण किया गया है। आधुनिक काल के कवियों में रामचरित उपाध्याय, अयोध्यासिंह, मैथिलीशरण तथा निराला का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

निष्कर्ष रूप में हम डॉ० माताप्रसाद गुप्त के शब्दों में कह सकते हैं—"हिन्दी राम-भक्ति धारा में अनेक कवि हुए किन्तु रामभक्ति धारा का साहित्यिक महत्त्व अकेले तुलसीदास के कारण है। धारा के अन्य कवियों और तुलसीदास में अन्तर तारागण और चन्द्रमा का नहीं है, तारागण और सूर्य का है। तुलसी की अपूर्व आभा के सामने वे साहित्याकाश में रहते हुए भी चमक न सके। इसलिए इस धारा का अध्ययन मुख्यतः तुलसीदास में ही केन्द्रित करना होगा।

राम-भक्ति-विकास के सम्यक् अध्ययन से राम के रूप के विकास की तीन अवस्थायें स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं—ऐतिहासिक, साहित्यिक और साम्प्रदायिक। राम का ऐतिहासिक रूप लगभग पाँच शताब्दी ई० पू० बाल्मीकि रामायण में अक्षुण्ण है। उनका साहित्यिक रूप एक शताब्दी ईसा पूर्व भास से लेकर कालिदासादि संस्कृत कवियों में तथा कुमारदास (ई० ८ वीं शती) तक। उनके साम्प्रदायिक रूप का विकास आलवार सन्तों तथा शठकोपाचार्य (९वीं शती) में प्रस्फुटित हुआ। आगे चलकर आचार्य युग आता है, जिसमें रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा आती है। इस प्रकार हम राम-भक्ति के साम्प्रदायिक विकास को इन युगों में बांट सकते हैं—(क) आलवार युग—८०० से ११०० तक, (ख) आचार्य युग ११०० से १४०० तक, (ग) रामायत युग १४०० से १७०० तक, (घ) रसिक सम्प्रदाय आधुनिक युग के आरम्भ से पूर्व तक, (ङ) आधुनिक युग। इस प्रकार हम देखते हैं कि दशरथतनय राम राजपुत्र से पुरुषोत्तम, पुरुषोत्तम से विष्णु, विष्णु से परमब्रह्म स्वरूप राम और फिर आदर्श मानव बनते गये।

सगुण भक्ति काव्य की मान्यतायें एवं विशेषतायें

हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल में भक्ति की दो धारायें प्रवाहित हुई— निर्गुण तथा सगुण। निर्गुण संन्तों में भक्ति की अपेक्षा ज्ञान की प्रधानता है जबकि सूफी

कवियों में प्रेम का अत्यधिक महत्व है, पर दोनों के यहाँ ईश्वर निर्गुण है। मध्यकालीन सगुण सम्प्रदाय वैष्णव धर्म से पोषण प्राप्त करता है। इस सम्प्रदाय की दोनों शाखाओं राम-भक्ति धारा और कृष्ण भक्ति धारा में ईश्वर सगुण है। इन्होंने ज्ञान, कर्म और भक्ति में से भक्ति को ही अपने उपजीव्य के रूप में ग्रहण किया। हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों ने ज्ञान की अवहेलना तो नहीं की पर उसे भक्ति जैसा समर्थ भी नहीं बताया। ज्ञान तारक तो है पर वह कष्ट साध्य और कृपाण की धार के समान है। इन भक्ति कवियों से पूर्व सिद्ध अपनी दुःसाध्य गुह्य साधना-पद्धतियों से जनसामान्य को बुरी तरह से विस्मित कर चुके थे। नाथपन्थी अपनी योग-प्रणाली के द्वारा लोक को चमत्कृत करने में अपने अपको कृत-कृत्य मान रहे थे, और इधर निर्गुणिये सन्तों की वाणी कर्मकांड का घोर तिरस्करण करती हुई परम्परा के प्रति अनास्था को जन्म दे रही थी। इन सगुण भक्त कवियों ने एक नवीन भाव-क्रांति को जन्म दिया। रामानुज, रामानन्द, वल्लभ और चैतन्य आदि इस भाव-क्रांति के नेता बने।

सगुण सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि में वैष्णव धर्म और भक्ति का समृद्ध साहित्य है। इस साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ हैं—भगवद्गीता, विष्णु और भागवत पुराण, पाँचरात्र संहितायें, नारद-भक्ति-सूत्र और शांडिल्य-भक्ति-सूत्र। इनके अतिरिक्त दक्षिण के आलवार भक्तों की रचनाएँ भी वैष्णवों की अमूल्य निधि हैं। दक्षिण के आचार्यों—नाथ मुनि, यामुनाचार्य, रामानुज, निम्बार्क, मध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य ने इस सगुण भक्ति धारा को निजी अनुभूतियों एवं शास्त्रीय दार्शनिकता से संवलित किया। इन आचार्यों ने सगुण भक्ति के उस रूप की प्रतिष्ठा की जिसमें मानव हृदय विश्राम भी पाता है और कलात्मक सौन्दर्य से मुग्ध और तृप्त भी होता है। सगुण काव्य की कतिपय सामान्य विशेषताओं का उल्लेख नीचे किया जाएगा।

(१) **ईश्वर का सगुण रूप** मध्यकालीन सगुण भक्त कवियों का उपास्य सगुण है। वैष्णव आचार्यों का कथन है कि सगुण के गुण अप्राकृत हैं। लौकिक गुण परिवर्तनशील, अस्थिर और कारण कार्य जन्य होते हैं, किन्तु प्रभु के दिव्य गुण ह्रास-विकास रहित हैं। भगवान् का यह स्वरूप हृदय और बुद्धि की पहुंच से परे है। यह सगुण भगवान् स्रष्टा, पालक और संहारक है। अन्त में विष्णु के रूप में इन रूपों का समाहार हो जाता है। वे ही सर्ग, स्थिति और संहार के अधिष्ठाता हैं। इन भक्तों का ध्यान भगवान् के पालक रूप पर केन्द्रित है क्योंकि पालन के साथ धर्म-भावना सम्बद्ध है। इन्हें उपासना-क्षेत्र में ईश्वर का सगुण रूप मान्य है अन्यथा इसके यहाँ भी निर्गुण ईश्वर की स्वीकृति है। इनके लिए भगवान् चल भी है और अचल भी मूर्त भी हैं और अमूर्त भी, वामन भी है और विराट् भी, सगुण भी है और निर्गुण भी। वस्तुतः वह अनिवर्चनीय है और कालातीत है किन्तु उसका अपनी समग्रता में किसी काल में अवतरित होना असम्भव नहीं। सगुणवादियों के अनुसार मनुष्य वस्तुतः ब्रह्म है, नर और नारायण एक हैं, अवतारी तथा अवतार सर्वथा अभिन्न हैं! "नरो

नारायणश्चैव तत्त्वमेकं द्विधा कृतम्"—नर नारायण वस्तुतः एक तत्व हैं, उनका द्वैधीकरण व्यावहारिक बुद्धि का भ्रम मात्र है।

(२) **अवतार-भावना**—अवतारवाद मध्यकालीन सगुण उपासना का एक प्रमुख अंग है। सगुण भक्त कवियों का विश्वास है कि वह असीम सीमा को स्वीकार करके अपनी इच्छा से लीला के लिए अवतरित होते हैं। वैसे तो सारा संसार उस भगवान का अवतार है किन्तु इन वैष्णवों की अवतार-भावना के मूल में गीता का विभूति एवं ऐंश्वर्य योग काम कर रहा है। ज्ञान, कर्म, वीर्य, ऐश्वर्य, प्रेम भगवान् की विभूतियाँ हैं। जो मनुष्य किसी क्षेत्र में कौशल दिखाते हैं वे भगवान् की विभूति को साकार करते हैं। अतः गुणातीत और सगुण असीम और ससीम में कोई विरोध नहीं है।

(३) **लीला-रहस्य**—सगुण काव्य में लीलावाद का अत्यन्त महत्व है। चाहे तो तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम हों और चाहे सूर के ब्रजराज कृष्ण हों, दोनों लीलाकारी हैं। उनके अवतार का उद्देश्य लीला है और लीला का उद्देश्य कुछ नहीं, लीला लीला के लिए होती है। तुलसी के लोकरक्षक राम रावण का संहार लीलार्थ करते हैं। तुलसी के लिए समस्त रामचरित लीलामय है। भले ही आज का आलोचक तुलसी के रामचरित मानस में वस्तु-संग्रथन तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से अनेक दोष निकाले जैसे—राम को पहले से पता है कि सीता का अपहरण होने वाला है और इस सम्बन्ध में वे सीता को पहले सूचित भी कर देते हैं। इस प्रकार राम के रुदन और विरहव्यथा, सीता की बेबसी तथा विलाप अपनी मर्मस्पर्शिता खो देते हैं, पर इस सम्बन्ध में तुलसी के दृष्टिकोण को भूल नहीं जाना चाहिए। वे किसी भी ऐसी घटना या प्रसंग का समावेश नहीं करना चाहते जहाँ राम की अनीशता ध्वनित हो। राम के लिए कुछ भी प्राप्तव्य वा अनुसन्धेय नहीं है। तुलसी ऐसे प्रसंगों में राम की लीला कह कर उन्हें आलोच्य नहीं रहने देते। कृष्ण तो हैं ही लीला-रमण और आनन्द-सन्दोह। एक ओर जहाँ वे लीला करते हुए समस्त गोपी जनों को, जिन्होंने लोक की सारी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर दिया है, आकर्षित करते हैं वहाँ दूसरी ओर अघासुर एवं बकासुर राक्षसों का लीला ही लीला में वध कर देते हैं। ईश्वर सर्वतः आप्तकाम है। उसने किसी इच्छा से संसार की सृष्टि नहीं की बल्कि यह तो लीला का परिणाम है। सच तो यह है कि सगुण भक्ति लीला में सच्चिदानन्द के आनन्द का जंगम स्वरूप देखता है। लीला और आनन्द ध्वनि और प्रतिध्वनि के समान परस्पर सम्पृक्त हैं। हाँ, इसी सम्बन्ध में यह स्मरण रखना होगा कि लीला में किसी प्रकार की वर्जनशीलता या लोक विद्वेष नहीं। तथ्य तो यह है कि जीवन और दर्शन की चरम सफलता लीलावाद में निहित है।

(४) **रूपोपासना**—सगुण साधना में रूपोपासना का विशिष्ट स्थान है। शंकर ने नाम और रूप को मायाजन्य माना है। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म को अनाम और अरूप कहा गया है, परन्तु सगुण साधना में भगवान् के नाम और रूप आनन्द

के अक्षय कोष हैं। नाम और रूप से ही बँधी भक्ति का आरम्भ होता है। सगुण भक्त को भगवान् के नाम और रूप इतना विमुग्ध कर लेते हैं कि लौकिक छवि उसके पथ में बाधक नहीं बन सकती। आरम्भ में सगुणोपासक नामरूप-युक्त अर्चावतार अथवा मूर्ति के समक्ष आकर उपासना करता है परन्तु निरन्तर भावना, चिन्तन एवं गुण-कीर्तन से वह अपने आराध्य में ऐसा सन्निविष्ट हो जाता है कि उसे किसी भौतिक उपकरण की आवश्यकता ही नहीं रहती। रूप ही शृंगार रस को जगाता है। ब्रजेश कृष्ण रस-राज शृंगार के अधिष्ठाता देवता हैं। यही कारण है कि कृष्ण-भक्ति शाखा में कृष्णाश्रित शृंगार का सांगोपांग वर्णन है। पुष्टिमार्गी कवि के लिए लौकिक शृंगार के सभी उपकरण मोहन के मादन-भाव के समाने फीके हैं। उनके कृष्ण भूमा सौन्दर्य की अतुल राशि हैं। यद्यपि तुलसी के राम में शील, शक्ति, सौन्दर्य का समन्वय है और तुलसी की काव्य समवभक्तिांग है फिर भी उनके राम अपनी अप्रतिम छवि से त्रिभुवन को लजाने वाले हैं। हिन्दी के मध्यकालीन भक्ति साहित्य में भक्ति के गृहीत स्वरूपों– दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य में रूप और दस का एक विलक्षण महत्त्व है।

(५) **शंकर के अद्वैतवाद का विरोध**—भागवत के अतिरिक्त हिन्दी के सगुण काव्य पर रामानुज, निम्बार्क, मध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा है। इन सभी आचार्यों ने शंकर के ज्ञान मूलक अद्वैतवाद का, जो भक्ति को परम सत्य नहीं मानता, खंडन किया, और भक्ति-तत्त्व का समाधान करते हुए भगवत्प्राप्ति में उसकी अनिवार्यता सिद्ध की। रानुज केविशिष्टाद्वैतवाद में ब्रह्म प्रकारी है और जीव तथा प्रकृति उसके प्रकार हैं। जीव की कृत-कृत्यता इसी में है कि वह अपने आपको भगवान् का विशेषण माने। आत्मसमर्पण के द्वारा जीव को यह स्थिति प्राप्त हो सकती है। परमात्मा अंशी है और जीव उसका अंश है। मध्वाचार्य ने जीव की उत्पत्ति ब्रह्म से मानी है किन्तु ब्रह्म को स्वतन्त्र और जीव को परतन्त्र माना है। वल्लभ के पुष्टि सम्प्रदाय में लयात्मक सायुज्य की भी स्वीकृति है जो शंकर के मोक्ष का ही रूप है परन्तु इस लयात्मक सायुज्य को उच्चतम स्थिति नहीं माना गया है। पुष्टि मार्ग में प्रवेशात्मक सायुज्य ही काम्य है, जिसमें भक्त भगवान् की आनन्द लीला में अप्राकृत देह धारण करके प्रवेश करता है। रास-लीला प्रवेशात्मक सायुज्य का ही रूप है।

(६) **विविध-स्रोत**—मध्यकालीन भक्ति काव्य के उपजीव्य ग्रन्थ हैं—रामायण और भागवत। रामायण की अपेक्षा भागवत की छाप इस काव्य पर अत्यन्त गहरी है। समस्त कृष्ण साहित्य तो इससे अनुप्राणित है ही, राम-काव्य भी इससे कम प्रभावित नहीं है। तुलसी-काव्य पर इस अलौकिक ग्रन्थ का प्रभाव यत्र-तत्र देखा जा सकता है। हिन्दी के भक्ति-साहित्य पर प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्यों का कोई विशेष प्रभाव नहीं, बल्कि इस पर साक्षात् रूप से संस्कृत साहित्य का प्रभाव पड़ा। संस्कृत के भगवद्गीता, विष्णु पुराण, पांचरात्र संहिताओं, नारद-

भक्तिसूत्र, शांडिल्य-भक्तिसूत्र तथा कई अन्य काव्यों और नाटक ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है। रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, मध्व, विष्णु स्वामी और चैतन्य आदि आचार्यों ने जिन सिद्धान्तों को पुरस्कृत किया वे सगुण काव्य के दार्शनिक मेरुदण्ड हैं। भक्तिकाल की रागानुगा भक्ति में दक्षिण के आलवार सन्तों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि इस साहित्य में सब कुछ उधार लिया हुआ है, या यह साहित्य पुरातन साहित्य परम्परा की प्रतिध्वनिमात्र है, प्रत्युत यह काव्य भक्तों की अपनी सुन्दरतम मौलिक अनुभूतियों से सजीव है।

(७) **भक्ति क्षेत्र में जातिभेद की अमान्यता**—इस काल के सगुण भक्ति कवियों तथा आचार्यों ने भक्ति के क्षेत्र में जाति-पांति का बन्धन स्वीकार नहीं किया। यद्यपि कर्मक्षेत्र में इन सबने वर्णाश्रम व्यवस्था पर बल दिया है, परन्तु भगवद्भक्ति क्षेत्र में किसी के शूद्र होने के नाते उसे भक्ति के अधिकार से वंचित नहीं किया। सगुण भक्ति-साहित्य में भक्ति-क्षेत्र में कबीर का निम्नांकित कथन मान्य रहा—

जाति-पांति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।

(८) **गुरु की महत्ता**—सगुण भक्तों के यहाँ भी निर्गुण सन्तों और सूफियों के समान गुरु का अत्यन्त महत्त्व है। इस साहित्य में गुरु ब्रह्म का प्रतिनिधि और अंश है। सगुण साहित्यकारों ने संसार की सब वस्तुओं से गुरु को उच्चतम माना है और उसकी महत्ता की भूरि-भूरि श्लाघा की है। सूर और तुलसी का साहित्य इस तथ्य का सुन्दर निदर्शन है। नन्ददास ने वल्लभ को ब्रह्म के रूप में ग्रहण किया है। इनका विश्वास है कि गुरु के बिना ज्ञान असम्भव है और ज्ञानाभाव में मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। ज्ञान से भक्ति और भक्ति से उसका सायुज्य प्राप्त होता है।

(९) **भक्ति**—हिन्दी के मध्यकालीन सगुण उपासकों के लिए भगवान् सगुण हैं। वह एकमात्र भक्ति से संसेव्य है। वह अक्षर ब्रह्मज्ञान द्वारा भी प्राप्य है पर वह ज्ञानियों का विषय है। भक्ति और ज्ञान दोनों भव-सम्भव खेद के अपहारक हैं, परन्तु ज्ञान कृपाण की धारा के समान है। भक्ति माया की विभीषिका से रहित है। भक्ति उपाय भी है और उपेय भी। उसके समक्ष मोक्ष भी तुच्छ है। भगवान् की भक्ति एवं प्रेम का उद्देश्य है उसकी निकटता प्राप्त करके उसमें रमण करना तथा उसकी लीलाओं में अपने आपको लीन करना।

विष्णु मूलतः ऐश्वर्य-सम्पन्न देव हैं, अतः रामानुज सम्प्रदाय में भगवान की ऐश्वर्य-उपासना पर अत्यधिक बल है। रामानुज की शिष्य-परम्परा में होने वाले रामानन्द के सम्प्रदाय में भगवान् का यही रूप स्वीकार है। बैकुंठ-निवासी विष्णु और तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम लक्ष्मी या सीता के प्रति प्रेमार्द्र चेष्टायें नहीं करते। वल्लभ और निम्बार्क सम्प्रदाय में भगवान् के ऐश्वर्य की अपेक्षा उसकी माधुरी को अधिक महत्त्व दिया गया है। चैतन्य मत में कांताभाव की भक्ति का पूर्ण परिपाक

हुआ है। वल्लभ सम्प्रदाय में शान्त, सख्य और वात्सल्य भावों की भक्ति का विशिष्ट स्थान है जबकि चैतन्य सम्प्रदाय कांताभाव की भक्ति को आग्रहपूर्वक पकड़े हुए है। युगल लीला की प्रतिष्ठा वल्लभ, चैतन्य और निम्बार्क सम्प्रदायों में हुई है। परवर्ती सम्प्रदायों में राधा-वल्लभी और हरिदासी युगल-लीला के आधार पर ही अपनी पृथक् सत्ता को स्थिर रख सके हैं।

मध्यकालीन सब भक्त कवियों ने नवधा भक्ति को अत्यन्त महत्त्व दिया है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, सख्य, दास्य, आत्मनिवेदन भक्ति की ये नव विधाएँ इन्द्रिय, मन और हृदय को भगवान् के प्रति निवेदित करती हैं। इनसे भक्त अपने आपको रामार्पण एवं कृष्णार्पण कर देता है। ऐसी स्थिति में भक्त कवि के लिए प्राकृत जन गुणगान का प्रश्न ही नहीं उठता। एक ओर तुलसी कह उठते हैं—"प्राकृतजन कीन्ह गुनगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना" तो दूसरी ओर वल्लभ ने अपनी भक्ति के वरदान में उस वियोगानुभूति को माँगा है जिसने नन्द, यशोदा और गोपीजनों को व्यथित किया था। भक्ति की दो अन्य विधाएँ भी हैं—वैधी भक्ति, रागानुगा भक्ति। वैधी भक्ति सामाजिक स्तर से सम्बन्ध रखती है और उसकी कृतकृत्यता इसी में है कि वह प्रेमाभक्ति को जन्म दे सके। प्रेमा-भक्ति में रसरूप कृष्ण ही उपास्य हैं। भगवान् का असुर-संहारक रूप उनका श्रेष्ठ स्व-रूप नहीं क्योंकि असुरों का संहार भी इसलिए होता है कि वे धर्म के साथ-साथ रसानु-भूति में व्याघात डालते हैं। वैधी भक्ति-भक्ति के कलधौत भवन का प्रथम सोपान है जबकि प्रेमानुगा उसका अन्तिम सोपान। यही कारण है कि सूर के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम से रसेश ब्रजेश उच्चतर है।

नारद भक्तिसूत्र में भक्ति के ग्यारह प्रकार कहे गये हैं—माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्या-सक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति, परमविरहासक्ति। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भगवत्-प्रेम की उत्तरोत्तरपूर्ण अवस्थायें हैं। सख्य प्रेम अपने शुद्ध रूप में अहैतुक होता है। सख्य भक्ति में 'खेलन में को काको गुसैंयाँ' की भावना होती है। उसमें किसी को अपनी विशिष्टता जतलाने का अधिकार नहीं होता है। भक्त सखा भगवान् से किसी वस्तु की याचना भी नहीं करता, नहीं तो समता कैसी। कान्ता-भक्ति में वैष्णव भाव से सब प्रकार के व्यवधान और अन्तराय दृष्टि-गोचर होता है। पति-पत्नी भाव में सब प्रकार के व्यवधान और अन्तराय विगलित हो जाते हैं। कान्ताभाव के अनुसार गोविन्द ही एकमात्र पुरुष है अन्य जीवात्मायें स्त्रियाँ हैं। किन्तु इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि इस काव्य में स्त्रैणता आ गई है। स्त्री-भाव की प्राप्ति गोपीरमण से मिलने के लिए ही है।

(१०) लोक-जीवन—कृष्ण काव्य और राम काव्य में अपने-अपने दृष्टि-कोणों के अनुसार लोक-जीवन का सम्यक् चित्रण हुआ है। अष्टछाप के कवियों में

भारतीय ग्राम्य जीवन का मनोरम अंकन है। जिन दृश्यों और प्राकृतिक परिवेश में कृष्ण की बाललीलाओं का सन्निवेश हुआ है, उनके भावना द्वारा मन में विलक्षण आनन्द का संचार होता है। अष्टछाप में तत्कालीन भारतीय जीवन की एक सुन्दर सांस्कृतिक झांकी प्रस्तुत की गई है। तुलसी के राम असत् से संघर्ष करते हुए सत् का उद्धार करते हैं। वे अपने व्रत के लिए नाना कष्टों को सहते हैं। उनमें हम उस प्रयत्न को देखते हैं जिसके कारण लोक-सत्ता विशीर्ण न होने पाये। धर्मोद्धार, पापनाश, साधुरक्षण, दुष्टदलन तथा भक्तों पर अनुग्रह करने के लिसे भगवान् युग-युग में अवतार लेते हैं। राम और कृष्ण में शील, शक्ति, सौन्दर्य का अमित सन्दोह है। वे दोनों असुरनिकन्दन हैं और लीलाकारी हैं। यह दूसरी बात है कि इनमें उक्त गुणों का आनुपातिक भेद है। एक मर्यादा पुरुषोत्तम है तो दूसरा ब्रजेश रसेश। भगवान् के ये दोनों रूप लोक-संग्रह की दृष्टि से अभिलषणीय एवं अभिनन्दनीय हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी का मध्यकालीन वैष्णव साहित्य एक ही रस से सरस है—ब्रजरस अथवा रामरस। पद-पद पर विविधता के लिए लालायित और एकरसत से शीघ्र ऊब जाने वाले व्यक्ति का मन इस साहित्य का आनन्द नहीं ले सकता। इसमें न तो आधुनिक मनोविज्ञान की सूक्ष्म बारीकियाँ हैं और न ही अन्तर्मन के विशिष्ट साँचों में ढले हुए, केवलमात्र कौतूहलोत्पादक चरित्र हैं। यह साहित्य एक भिन्न आदर्श को लेकर चला है और वह है एकनिष्ठ आदर्श प्रेम का। इस साहित्य का आलोचन-प्रत्यालोचन उक्त परिवेश में ही करना समीचीन होगा। प्रोफेसर ब्रजलाल गोस्वामी इस साहित्य के सम्बन्ध में लिखते हैं—"वह जिस रस का स्रोत है उसको पीने वाले नव लौकिक रसों को हेय समझते हैं। उस आनन्द के सामने लौकिक सुख की वैसी ही स्थिति है जैसे सूर्य के समक्ष जुगनू की। उसकी माधुरी समस्त लौकिक माधुर्य का तिरस्कार करती है। इस प्रकार इस साहित्य में भावों की जो कल्लोलिनी है उसका जल स्वच्छ है। कई पवित्रमन्य व्यक्तियों ने इस जल को कुलषित कहकर इसकी अवहेलना की हैं, परन्तु यह उनका भ्रम है। धूलि से भरे हुए पैरों से तो स्वच्छ जलधारा गंदली हो ही जाएगी।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"इस प्रकार मध्यकालीन सगुण काव्य में हिन्दी-साहित्य ने उत्कर्ष के चरम बिन्दु को छू लिया है। इसमें मनुष्य की समस्त वृत्तियों के प्रसादन की शक्ति है। इसमें सौन्दर्य धर्म का घातक अथवा द्वेषी बन कर नहीं आता। सौन्दर्य भी भगवान् की ही विभूति है जो धर्म जीवन से आनन्द, रस और सौन्दर्य को निकाल देने की प्रेरणा देता है वह एकांगी है। इस साहित्य के साधकों ने आन्तर और बाह्य वैषम्य को लीला में एक रस कर दिया है। हमें लीला तत्त्व पर ध्यान मननपूर्वक करना चाहिए और इसकी गम्भीरता की थाह लेनी चाहिए।" उपर्युक्त दृष्टि से देखने पर वैष्णव साहित्य हिन्दी की एक अक्षय निधि सिद्ध होता है।

रामभक्ति साहित्य की प्रवृत्तियाँ

हम पीछे लिख चुके हैं कि रामानुज की शिष्य परम्परा में रामानन्द हुए

जिन्होंने उत्तर भारत में रामभक्ति की लहर चलाई। उन्हीं के अनुकरण में हिन्दी के भक्तिकाल में रामभक्ति साहित्य का उद्भव हुआ। "रामभक्ति धारा में अनेक कवि हुए किन्तु रामभक्ति धारा का साहित्यिक महत्त्व अकेले तुलसीदास के कारण है। इसलिए इस धारा का अध्ययन मुख्यतः तुलसीदास में ही केन्द्रित करना होगा।" निम्नांकित पंक्तियों में हम उक्त साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचक करेंगे।

(१) **राम का स्वरूप**—रामभक्त कवियों के उपास्यदेव राम विष्णु के अवतार हैं और परम ब्रह्म स्वरूप हैं। वे पाप विनाश और धर्मोद्धार के लिए युग-युग में अवतार लेते हैं। कृष्ण भक्त कवियों के कृष्ण ब्रह्म के प्रतीक हैं, गोपियाँ जीवात्मा है और स्वयं कृष्ण-भक्त अपने आप पर गोपी का आरोप करके अपने आपको कृष्ण सेवा में अर्पित करता है। किन्तु रामभक्ति-साहित्य में यह प्रतीकवाद नहीं है। राम विष्णु का अवतार है और भक्त कवि मानव रूप में उनका साधक है।

इनके राम में शील, शक्ति, सौन्दर्य का समन्वय है। सौन्दर्य में वे त्रिभुवन को लजावन हारे हैं। शक्ति से वे दुष्टों का दलन करते हैं और भक्तों को संकट से मुक्त करते हैं। वे अपने शील गुण से लोक को आचार की शिक्षा देते हैं। वे अपनी करुणामयता से पतितों और अधर्मों का उद्धार करते हैं। उनका लोकरक्षक-रूप प्रधान है। वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं और आदर्श के प्रतिष्ठापक हैं। कदाचित् यही कारण है कि राम और सीता के नाम पर परवर्ती साहित्य में उच्छंखल प्रेम उस रूप से चित्रित नहीं हुआ जैसा कि राधा और कृष्ण के नाम पर। यद्यपि आगे चल कर राम-भक्ति परम्परा में रसिकता का उदय हुआ और उसमें "सखी संप्रदाय" आदि चल निकले, पर यह सब कृष्ण-भक्ति साहित्य के अनुकरण पर ही हुआ।

(२) **समन्वयात्मकता**—राम काव्य का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक है उसमें एक विराट् समन्वय की भावना है। इसमें न केवल राम की उपासना है। बल्कि कृष्ण, शिव, गणेश आदि देवताओं की भी स्तुति की गई है। तुलसीदास ने सेतुबन्ध के अवसर पर राम द्वारा शिव की पूजा करवाई है। यद्यपि रामभक्ति काव्य में रामभक्ति को श्रेष्ठ माना है तो भी उसकी भक्ति भावना अत्यन्त उदार है। निःसन्देह रामभक्तों ने भक्ति को सुसाध्य माना है फिर भी उन्होंने ज्ञान, भक्ति और कर्म के बीच समन्वय स्थापित करने का सुन्दर प्रयास किया है। इस काव्य में सगुणवाद तथा निर्गुणवाद में एकरूपता बताई गई है। राम भक्तों का आराध्य सगुण भी है और निर्गुण भी, तो भी भगवान् का सगुण रूप भक्ति-सुलभ है।

(३) **लोक संग्रह की भावना**—लोक-कल्याण-भावना की दृष्टि से भी यह साहित्य अत्यन्त उपादेय है। इस साहित्य में जीवन की अनेक उच्चावच भूमियाँ प्रस्तुत की गई हैं। इन्होंने गृहस्थ जीवन की उपेक्षा नहीं की बल्कि लोक-सेवी और आदर्श गृहस्थ राम-सीता को उपस्थित करके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। राम काव्य का आदर्श पक्ष अत्यन्त उच्च है। राम आदर्श पुत्र है,

वे आदर्श राजा भी हैं। सीता आदर्श पत्नी हैं, कौशल्या आदर्श माता हैं, लक्ष्मण और भरत आदर्श भाई हैं, हनुमान आदर्श सेवक हैं, और सुग्रीव आदर्श सखा हैं। इस काव्य में जीवन का मूल्यांकन आचार की कसौटी पर किया गया है। राजा-प्रजा, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, स्वामी-सेवक और पड़ौसी-पड़ौसी के सुन्दर अथच स्वस्थ सम्बन्धों पर आधृत समाज आचार के बल पर ही जी सकता है। राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। आदर्श की प्रतिष्ठा उनके जीवन का अथ और इति है।

(४) **भक्ति का स्वरूप**—राम का चरित त्रिलोकातिशायी है। राम-भक्त कवि राम के शील, शक्ति और सौन्दर्य पर मुग्ध है। यही कारण है कि राम-भक्त कवि ने अपने और राम के बीच सेवक-सेव्य-भाव को स्वीकार किया है। तुलसीदास का कहना है—

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।

राम-भक्त कवियों का भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक उदार है। निःसन्देह राम-भक्ति को यहाँ सर्वश्रेष्ठ बताया गया है, किन्तु अन्य देवी-देवताओं की पूजा की भी यहाँ अस्वीकृति नहीं है जैसे कि सूर को छोड़कर अन्य पुष्टिमार्गी कवियों में। राम-भक्त कवि ज्ञान और कर्म की अलग-अलग महत्ता स्वीकार करते हुए भक्ति को श्रेष्ठ मानते हैं। राम-भक्त कवियों की भक्ति पद्धति वैधी कोटि में आती है। इसमें नवधा भक्ति के प्रायः सभी अंगों का विधान है। ये भक्त विशिष्टाद्वैतवाद से प्रभावित हैं। इनके लिए जीव भी सत्य है क्योंकि वह ब्रह्म का अंश है। जीव और ब्रह्म में अंश-अंशी भाव है।

(५) **रस**—राम कथा अत्यन्त व्यापक है। उसमें जीवन की विविधताओं का सहज सन्निवेश है। राम काव्य के समविभक्तांग होने के कारण उसमें सभी रसों का समावेश है किन्तु सेवक-सेव्य-भाव की भक्ति होंने के कारण निर्वेदजन्य शान्त रस की प्रधानता है। राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं और भक्त कवि भी मर्यादावादी है, कदाचित् यही कारण है कि इस साहित्य में शृंगार रस के संयोग और वियोग पक्षों का सम्यक् परिपाक नहीं हो सका। यह बात अधिकतर तुलसी के साहित्य पर चरितार्थ होती है। वैसे तो अग्रअली के साहित्य में रसिकता की भावना का समावेश हो चुका था किन्तु तुलसी के सम्मुख यह भावना उभर न सकी। १८वीं शती की राम भक्ति में माधुर्य भावना बल पकड़ती गई। ऐसा कदाचित् कृष्ण-साहित्य के अनुकरण पर ही हुआ होगा। आगे चलकर राम-भक्ति साहित्य परम्परा में रामायत सखी सम्प्रदाय में नखशिख, अष्टयाम आदि रति उत्तेजक विषयों का वर्णन होने लगा। राम-भक्ति के रसिक सम्प्रदाय में शृंगार रस का यथेष्ट परिपाक हुआ है। तुलसी के साहित्य में—विशेषकर रामचरित मानस में सभी रसों का समावेश है। युद्ध-वर्णन में वीर और रौद्र रस हैं। नारद मोह में हास्य रस की सुन्दर सृष्टि हुई है। राम के विलाप में तथा लक्ष्मण की मूर्च्छा प्रसंगों में करुण रस है। राम के ब्रह्मत्व के

प्रतिपादन के प्रकरणों में अद्भुत और भक्ति रस की अच्छी छटा है। राम साहित्य में सर्वत्र एक रस है—वह है राम-रस और उनके आस्वादन की योग्यता राम की लीला में रमण करने वालों में ही हो सकती है।

(६) **पात्र तथा चरित्र-चित्रण**– राम काव्य के पात्र आचार और लोक मर्यादा की आदर्श व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इनका चरित्र महान् एवं अनुकरणीय हैं। इनमें जीवन की सभी वृत्तियों का चित्रण किया गया है अतः इनमें सर्वांगीणता है। इनमें रजोगुणी, तमोगुणी तथा सत्वगुणी सभी पात्रों की अभिव्यक्ति है और अन्त में सत्य की असत्य पर या रामत्व की रावणत्व पर विजय दिखलाई गयी है। तुलसी के काव्य में राम नाना रूप में लीला करते हुए पूर्ण ब्रह्म हैं। राम के इस ब्रह्मत्त्व का स्मरण तुलसी पग-पग पर दिलाते हैं। इससे पाठक के अहंभाव को आघात पहुंचता है, कथा-प्रवाह में बार-बार आवृत्ति के कारण व्याघात होता है जो कि काव्य-शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अवांछनीय है, परन्तु राम-काव्य के पात्रों और उसकी कथावस्तु की आलोचना करते समय हमें तुलसी के दृष्टिकोण को भुलाना नहीं होगा। राम ब्रह्म होते हुए भी मानवस्वरूप में लीला कर रहे हैं। कथावस्तु में किसी भी ऐसे प्रसंग का समावेश तुलसी को अभीष्ट नहीं है जहाँ राम की अनीशता ध्वनित हो। निर्गुण सन्तों के राम 'दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना, राम नाम को मरम है आना' ऐतिहासिक न होकर ब्रह्म है, परन्तु सगुण काव्य में वे ऐतिहासिक होते हुए कालातीत हैं।

(७) **राम भक्ति में मधुर रस का समावेश**— तुलसी के पूर्व और उसके समय में भी राम-साहित्य में मधुररस का समावेश हो चुका था किन्तु तुलसी के समय में वह अपने पूर्ण रूप में उभर नहीं सका। इसके दो कारण हैं—एक तो मधुररस की प्रकृतिगत सहज गोपनीयता और दूसरे-प्रधानतः दास्यभाव के भक्त तुलसी का मर्यादावाद। तुलसी ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जिस दुष्ट दमनकारी रूप की कल्पना की थी वह कुछ समय के बाद धीमी पड़ गई। १६वीं शताब्दी के बाद के साहित्य में कृष्ण भक्ति काव्य की प्रेम-लीलाओं के समान राम-साहित्य छबीले राम को रसिकता-पूर्ण लीलाओं से भर गया। इसमें राम और जानकी के प्रणय, विलास, हास, वन और जल विहारों तथा काम-केलियों का निःशंक भाव से चित्रण किया जाने लगा। तुलसी जितनी दृढ़ता के साथ मर्यादावाद का पालन करते रहे उसके परवर्ती साहित्य-कारों ने प्रतिक्रियात्मक रूप में मर्यादा की उतनी अवहेलना कर राम-भक्ति-साहित्य में रसिकता का समावेश किया। तुलसी के परवर्ती राम-साहित्य की कहानी बुद्ध निर्वाण के पश्चात् महायान शाखा की गति-विधियों की कहानी के समान समझनी चाहिए।

(८) **काव्य शैली**—सगुण परम्परा के कवि या तो स्वयं विद्वान् थे अथवा विद्वानों की सत्संगति से साहित्य के धर्मों के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर चुके

थे। अलंकार-शास्त्र की अवहेलना इनमें दृष्टिगोचर नहीं होती है। इनका अनेक काव्यशैलियों पर अधिकार था। राम-काव्य में सब शैलियों की रचनाएँ मिलती हैं। रामचरितमानस और अष्टयाम में वीरगाथाओं की प्रबन्ध पद्धति है। राम गीतावली और राम ध्यान मंजरी में विद्यापति की गीत-पद्धति, रामायण महानाटक और हनुमन्नाटक में संस्कृत के राम-कवियों की संवाद-पद्धति है, और रामचन्द्रिका रीति-पद्धति पर रची गई है। आचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तुलसी में इन काव्य-रूपों—दोहा, चौपाई वाले चरित काव्य, कवित्त-सवैया, दोहों में अध्यात्म और धर्म नीति में उपदेश, बरवैछन्द, सोहरछन्द, विनय के पद, लीला के पद, वीर काव्य के लिए उपयोगी छप्पय, तोमर, नाराच आदि की पद्धति, दोहों में सगुण विचार, और मंगल काव्य का उल्लेख मिला है।

(९) **छन्द**—रचनाभेद, भाषाभेद, विचारभेद, अलंकारभेद के साथ राम काव्य में छन्दभेद भी पाया जाता है। वीरगाथाओं के छप्पय, सन्त काव्य के दोहे, प्रेम काव्य के दोहे, चौपाई और इनके अतिरिक्त कुण्डलियाँ, सोरठा, सवैया, घनाक्षरी, तोमर, त्रिभंगी आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं। दोहा, चौपाई का मुख्य प्रयोग हुआ है। तुलसी ने इनका प्रयोग अधिकारपूर्ण किया है। केशव ने अनेक छन्दों में कला का प्रदर्शन किया है, परन्तु उनमें भावानुकूलता नहीं है।

(१०) **अलंकार**—राम भक्त-कवि पंडित हैं। उनमें अलंकारशास्त्र के प्रति अवहेलना नहीं है। जहाँ इन्होंने विविध छन्दों का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया है वहाँ अलंकार के प्रयोग में अत्यन्त विदग्धता प्रदर्शित की है। केशव को छोड़कर इनमें से किसी ने भी शब्दालंकारों का आदर नहीं किया। वैसे तो तुलसी काव्य में प्रायः सभी अलंकार मिल जाते हैं, परन्तु वे उपमा और रूपक के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं।

(११) **भाषा**—राम काव्य की भाषा प्रधानतः अवधी है। केशव की रामचन्द्रिका में ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। बाद के राम-भक्ति के रसिक सम्प्रदाय के कवियों ने प्रायः ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। तुलसी ने अवधी तथा ब्रज दोनों भाषाओं का सफल प्रयोग किया है। राम-काव्य में भोजपुरी, बुन्देलखंडी, राजस्थानी, संस्कृत और फारसी भाषाओं के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। तुलसी ने भाषा का परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया है। डॉ० हरदेव बाहरी के शब्दों में—"उसमें न तो वीरगाथाओं की कर्कशता है, न प्रेम-काव्य की ग्रामीणता और न ही असंगति तथा विशृंखलता। तुलसी का शब्द-चयन पांडित्यपूर्ण है। उसमें वह शब्द चमत्कार तो नहीं जो केशव अथवा सूर में है, परन्तु उनकी भाषा की भावात्मकता, रसानुकूलता अथवा उपयुक्तता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। तुलसी की भाषा अलंकृत न होकर के स्वाभाविक, सरस और भावव्यंजक है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्तिकालीन रामकाव्य मात्रा और परिमाण की दृष्टि से कृष्ण काव्य से न्यून है और सम्भव है कि सन्त

काव्य और प्रेम-काव्य से भी न्यून हो, जब तक इस धारा के रसिक सम्प्रदाय के कवियों का साहित्य प्रकाश में न आ जाये, पर यह साहित्य काव्य-रूपों, शैली और भाषा की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध है। भाषा की दृष्टि से तो यह साहित्य महान् ही है। इसमें दोनों जन-भाषाओं ब्रज और अवधी का बड़ा ही सफल प्रयोग हुआ है।

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि महात्मा तुलसीदास

जीवन वृत्त—हिन्दी साहित्य गगन के परम प्रकाशमय नक्षत्रों—सूर और तुलसी का जीवन-वृत्त अभी तक अपेक्षाकृत अन्धकारमय है। कारण, अपने इष्टदेव के सम्मुख निजी व्यक्तित्व का प्रतिफलन इन्हें इष्ट नहीं था। गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में अन्तःसाक्ष्य और बाह्यसाक्ष्य दोनों मिलते हैं। अन्तःसाक्ष्य में तुलसीदास के अपने ग्रंथ आते हैं और बाह्यसाक्ष्य के अन्तर्गत गोस्वामी गोकुलनाथ द्वारा लिखित दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता, नाभादास का भक्तमाल, बाबा माधव वेणीदास कृत भक्तमाल की टीका प्रमुख हैं। गोसाईं चरित और तुलसी चरित की प्रामाणिकता संदिग्ध है। तुलसीदास के जीवन परिचय के लिए हमें बाह्यसाक्ष्यों की अपेक्षा अन्तःसाक्ष्य पर अधिक निर्भर करना पड़ेगा। कवि-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास का समस्त जीवन-वृत्त मतभेदों से भरा पड़ा है।

जन्म-तिथि—तुलसीदास के जन्म-संवत् के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। तुलसीदास के शिष्य बाबा वेणीमाधवदास कृत 'मूल गोसाई चरित' के अनुसार तुलसी की जन्म-तिथि सं० १५५४ की श्रावण शुक्ला सप्तमी है परन्तु यह ज्योतिष गणना के अनुसार दिए गये दिन, ग्रह और राशि से मेल नहीं खाती। दूसरे इस गणना के अनुसार उनकी आयु १२६ वर्ष की बैठती है। यह आयु एक सदाचारी महात्मा के लिए असम्भव तो नहीं, परन्तु नितान्त सहज सम्भव भी नहीं। इसके अतिरिक्त इस हिसाब से उनकी अमर कृति रामचरितमानस का आरम्भ ७० वर्ष की अवस्था में होना चाहिए जो कि ऐसी प्रौढ़ रचना के लिए उपयुक्त नहीं जान पड़ता। गोसाईंचरित और तुलसी चरित को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। तुलसीचरित की बातें स्वयं तुलसीदास के अन्तःसाक्ष्य के विरुद्ध पड़ती है और गोसाईं चरित में सत्यं शिवं सुन्दरम् के उल्लेख के कारण उसकी नवीनता प्रदर्शित होती है। जन-श्रुति के अनुसार पं० रामगुलाम द्विवेदी ने तुलसी का जन्म संवत् १५८९ माना है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी इसे स्वीकार किया है, और आधुनिक शोधों के आधार पर डॉ० माताप्रसाद गुप्त भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं।

जन्म-स्थान इनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध में भी भारी मतभेद है। ठाकुर शिवचरणसिंह सेंगर और रामगुलाम द्विवेदी ने तुलसी का जन्म-स्थान राजापुर को माना है। राजापुर से एक सनद भी मिली है जिससे उक्त कथन की पुष्टि होती है। इस मत के अनुयायियों ने रामचरितमानस के अयोध्या-कांड के तापस प्रसंग को

अपने मत के समर्थन के लिए उद्धत किया है। गौसाईं चरित और तुलसी चरित में भी राजापुर को तुलसी का जन्म स्थान बताया गया है। खैर, उक्त ग्रंथों की तो प्रामाणिकता ही संदिग्ध है। इधर पं० गौरीशंकर द्विवेदी तथा रामनरेश त्रिपाठी ने सोरों को तुलसी का जन्म स्थान बताया है। बाँदा जिले के गजेटियर में तुलसीदास जी को सोरों से आया हुआ बतला कर उनके द्वारा राजापुर बसाये जाने की बात लिखी है। गजेटियर का प्रमाण सोरों के पक्ष में है। तुलसी ने भी सूकर क्षेत्र का उल्लेख किया है जो कि कदाचित् सोरों ही हैं। अस्तु ! सोरों को तुलसीदास का जन्म स्थान मानने वालों के पास काफी पुष्ट प्रमाण है। अभी इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। डॉ० हजारीप्रसाद का इस सम्बन्ध में कहना है—"मुझे सोरों के प्रामाणिक या अप्रामाणिक होने के पक्ष में कुछ भी नहीं कहना है। जहाँ तक पुस्तकों से पढ़कर समझने का प्रश्न है, मेरा विचार है कि सोरों के पक्ष में दिये जाने वाले प्रमाण बहुत महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी काफी वजनदार है। उनको यों ही टाल नहीं दिया जा सकता।" अस्तु ! जो कुछ भी हो यह एक निष्पक्ष वैज्ञानिक अध्ययन का विषय है।

माता-पितादि—तुलसी के माता-पिता तथा वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में भी कुछ कम मत-भेद नहीं है। जनश्रुति के अनुसार इनके पिता का नाम आत्माराम था और वे पत्यौंजा के दूबे थे—"तुलसी परासर गोत, दूबे पति औंजा के।" आचार्य शुक्ल तथा अन्य लोग भी इन्हें सरयूपारीण ब्राह्मण मानते हैं। मिश्रबन्धुओं ने इन्हें कान्यकुब्ज माना है। संभव है पत्यौंजा के दूबे कान्यकुब्ज हों। अस्तु ! इतना तो निर्विवाद है कि ये ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे।

तुलसी की माता का नाम हुलसी था। श्री चन्द्रबली पांडे ने हुलसी को तुलसी की माता न मानकर पत्नी माना है जो कि एकदम निराधार है। अन्तःसाक्ष्य, बाह्य साक्ष्य तथा जनश्रुति तीनों से इस बात की पुष्टि होती है कि तुलसी की माता का नाम हुलसी था :—

रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी,
तुलसीदास हित हिय हुलसी सी।

इसी प्रकार रहीम की उक्ति :—

"गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय।"

इनके वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में भी मतभेद है। उन्होंने विनयपत्रिका में लिखा है—"ब्याह न बरेखी, जाति पांति न चहत हौं।" शायद यह उस समय का कथन हो जबकि वे गृहस्थ जीवन के बन्धनों से मुक्त हो गये हों। जनश्रुति के अनुसार इनका विवाह दीनबन्धु पाठक की पुत्री रत्नावली से हुआ था। उनके तारक नाम का एक पुत्र भी हुआ था जिसकी मृत्यु हो गई थी। अत्यधिक आसक्ति के कारण तुलसी की रत्नावली से मीठी भर्त्सना "लाज न आई आपको दौरे आएहु

साथ" भी सुननी पड़ी थी, जिसने उनकी जीवन-सरिता का रुख एकदम बदल दिया था। तुलसी चरित के अनुसार उनके तीन विवाह हुए थे। तीसरा विवाह कंचनपुर के लच्छमन उपाध्याय की पुत्री बुद्धिमती से हुआ था। इस विवाह में तुलसीदास के पिता ने ६००० रुपये लिए थे। इस ग्रंथ की घटनायें तुलसी के अन्तःसाक्ष्य से नहीं मिलतीं। तुलसी का बाल्यकाल का नाम इसमें तुलाराम है और स्वयं उन्होंने राम बोला कहा है। पिता द्वारा पैसे लेने की बात "मात-पिता जग जाहि तज्यो विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई" के विरुद्ध पड़ती है। जनश्रुति के अनुसार तुलसी अभुक्त मूल नक्षत्र में पैदा होने के कारण माता-पिता द्वारा त्याग दिये गए थे। पांच वर्ष तक मुनिया नाम की दासी ने इनका लालन-पालन किया, किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् इन्हें नाना कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं। विनय-पत्रिका तथा कवितावली में इस बात का उल्लेख उन्होंने अनेक स्थलों पर किया है :—

"बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन
जानत हौं चारि फल, चारि ही चनक को ॥"

गुरु—उसी अवस्था में इनके दीक्षा गुरु बाबा नरहरिदास की इन पर दया-दृष्टि हुई। तुलसी ने अपने गुरु का रामचरित-मानस में अनेक स्थलों पर स्मरण किया है। इन्हीं से तुलसी ने शूकर क्षेत्र या सोरों में राम-कथा सुनी थी। शेष-सनातन के पास काशी में निरन्तर १६-१७ वर्ष रहकर वेद, पुराण, उपनिषद् रामायण तथा भागवत आदि का गम्भीर अध्ययन किया। इन्होंने अनेक तीर्थ स्थानों की यात्रा की और अन्त में काशी में रहने लगे। काशी में तुलसीदास का मान बढ़ता गया। राजा टोडरमल, रहीम और मानसिंह तुलसीदास के अनन्य मित्र थे। दोहावली में वे लिखते हैं :—

घर-घर मांगे टूक, पुनि भूपति पूजे पांय।
जे तुलसी तब राम बिनु, ते अब राम सहाय ॥

वृद्धावस्था में उनका शरीर रोग से जर्जरित हो गया था। उन्होंने विनय-पत्रिका में इस बात का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

"पांव-पीर, पेट पीर, मुँह पीर, जाजर सकल सरीर पीरमई है।"

उन दिनों काशी में महामारी का प्रकोप पड़ा, किन्तु उसके शान्त होने पर कुछ दिन बाद तुलसी का शरीरान्त हुआ। इनके स्वर्गवास की तिथि सर्वमान्य है :—

संवत सोरह सौ असी असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो शरीर ॥

नाभादास ने अपने भक्त-माल में इनके सम्बन्ध में ठीक ही कहा है :—

"कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भयो।"

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इनके व्यक्तित्व और महत्त्व के सम्बन्ध में

लिखते हैं—"तुलसीदास का महत्त्व बताने के लिए विद्वानों ने अनेक प्रकार की तुलना-मूलक उक्तियों का सहारा लिया है। नाभादास ने इन्हें कलिकाल का बाल्मीकि कहा था, स्मिथ ने उन्हें मुगलकाल का सबसे बड़ा व्यक्ति माना था, ग्रियर्सन ने इन्हें बुद्धदेव के बाद सबसे बड़ा लोकनायक कहा था और यह तो बहुत लोगों ने बहुत बार कहा है कि उनकी रामायण भारत की बाइबिल है। इन सारी उक्तियों का तात्पर्य यही है कि तुलसीदास असाधारण शक्तिशाली कवि, लोकनायक और महात्मा थे।"

रचनाएँ—तुलसीदास के नाम पर कोई अब तक तीन दर्जन से ऊपर पुस्तकें प्राप्त हो चुकी हैं परन्तु पं० रामगुलाम द्विवेदी ने केवल १२ ग्रंथों को ही प्रामाणिक माना है जिनमें छः छोटे और छः बड़े हैं। नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने इन्हीं १२ ग्रन्थों को प्रामाणिक मान कर प्रकाशित किया है। (१) दोहावली—इसमें नीति, भक्ति, नाम-महात्म्य और राम-महिमा विषयक ५७३ दोहे हैं। (२) कवितावली में कवित्त, सवैया, छप्य आदि छन्दों का संग्रह है, जिसमें छन्द रामायणी कथा के कांडों के अनुसार संग्रह कर दिये गये हैं, पर कथा क्रमबद्ध नहीं है। (३) गीतावली में राम-कथा को सात कांडों में विभाजित कर दिया गया है इसमें कुल ३२८ पद हैं। (४) कृष्ण-गीतावली में कृष्ण महिमा की कथा है। इसकी रचना अनेक राग-रागनियों की पद्धति पर हुई है। इसमें कुल ६१ पद हैं। (५) विनयपत्रिका में अनेक देवी-देवताओं की स्तुति है और राम के प्रति किये गये विनय के पदों का संग्रह है। (६) रामचरितमानस इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसमें रामकथा सात कांडों में विभक्त है। इसकी रचना का काल सं० १६३१ माना जाता है। (७) रामलला नहछू—सम्भवतः यह ग्रन्थ राम के जनेऊ के अवसर को ध्यान में रखकर लिखा गया है। इसमें कुल २० छन्द हैं (८) वैराग्य-संदीपिनी—छोटी सी पुस्तक है जिसमें संत-महिमा, संत-स्वभाव और शान्ति का वर्णन दोहा-चौपाइयों में किया गया है। (९) बरवै रामायण में ६९ छन्दों में रामकथा का वर्णन है। आचार्य द्विवेदी इसके सम्बन्ध में लिखते हैं—"इसकी एक बड़ी प्रति मैंने देखी है जिसमें राम-कथा का क्रमबद्ध वर्णन है। इस बड़ी प्रति के केवल आठ दस बरवै इसमें (छोटी बरवै रामायण में) संगृहीत हैं।" (१०) पार्वती मंगल—१६४ छन्दों में शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन है किन्तु मिश्रबन्धु इसे प्रामाणिक नहीं मानते। (११) जानकी मंगल में २१६ छन्दों में राम के विवाह का वर्णन है। (१२) रामाज्ञा प्रश्न में सात सर्ग हैं और प्रत्येक सप्तक में सात-सात दोहे हैं। यह सगुन विचारने के लिए लिखा गया है।

लोकनायक तुलसीदास की समन्वय-साधना—पाश्चात्य मार्क्सवादी दर्शन जहाँ द्वन्द्वात्मकता में समस्याओं का हल खोजता है वहाँ भारतीय दर्शन और संस्कृति भिन्न-भिन्न विरोधी तत्त्वों के सुन्दर समन्वय में हल ढूंढते हैं। यही भारत का पाश्चात्य जगत् से मौलिक अन्तर है और यही भारत की विशेषता है। तुलसी भार-

तीय संस्कृति के एक ज्वलन्त प्रतीक हैं, वे कलिकाल के बाल्मीकि हैं, मुगल-शासन काल के सबसे बड़े व्यक्ति हैं और कदाचित् महात्मा बुद्ध के पश्चात् भारत के सबसे बड़े लोकनायक हैं। तुलसी ने जिस समाज को देखा था वह बड़ा ही अजीब सा था। तुलसी के ग्रन्थों से इस बात का स्पष्ट आभास मिल जाता है कि उस समय का समाज किसी ऊँचे आदर्श पर नहीं चल रहा था। उच्च स्तर के लोग विलासिता में चूर थे और निचले स्तर के लोग अशिक्षित थे। पंडितों और ज्ञानियों का समाज से कोई सरोकार ही नहीं था। जाति-पाँति की प्रथा अधिकाधिक कठोर होती जा रही थी। उस समाज में आत्मरक्षा के अतिरिक्त सावधानता के कारण कसाव आ चुका था। सामाजिक मर्यादाओं का खुलकर अतिक्रमण हो रहा था। उस समय जीवन एक संघर्ष न रह कर पलायन का पर्याय बनता जा रहा था—"नारि मुई घर सम्पति नासी, मूड मुँडाय भये संन्यासी।" इस प्रकार वैरागी या संन्यासी हो जाना साधारण सी बात थी। इन्ही अधकचरों के द्वारा वेद, पुराण, शास्त्र, धर्म, साधु-सन्तों तथा पुरातन भारतीय संस्कृति के आदर्शों और मर्यादाओं की कड़ी निन्दा की जा रही थी।

इधर देश का धार्मिक क्षेत्र नाना प्रकार के सम्प्रदायों और अखाड़ों से भर चुका था। एक ओर अलख जगाने वाले नाथ-पंथी योगियों का अशिक्षित वर्ग पर प्रभाव पड़ रहा था, नापपंथी कर्म की घोर निन्दा करके मठों के भीतर की कुच्छ कहानी सुना रहे थे तो दूसरी ओर जात-पाँत-विरोधी कबीर अलखोपासना का सन्देश दे रहे थे। इधर शाक्त संप्रदाय का जिनके यहाँ शक्ति के रूप में प्रकृति, स्त्री या देवी की उपासना प्रमुख थी और इसमें भी दक्षिण-पक्षी और वाम-पक्षी दो भेद हो गये थे। इन वाम-पक्षियों ने मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इन पाँच मकारों की उपासना शुरू की। एक ओर शैवों और वैष्णवों में विरोध था तो दूसरी ओर वैष्णवों—राम तथा कृष्ण के अनुयायियों—में पारस्परिक मत-भेद था। द्वैतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और शुद्धाद्वैतवाद न जाने कितने दार्शनिक मतवाद परस्पर टक्कर ले रहे थे। इसके अतिरिक्त तलवार के बल पर धर्म की जड़ जमाने वाले मुस्लिम संप्रदाय के कतिपय कट्टर शासकों के अत्याचार प्रतिदिन बढ़ते जा रहे थे। सूफी फकीरों के प्रेमापाख्यानों की चाशनी ऊपर से मीठी अवश्य थी किन्तु उसमें भी रोगग्रस्त हिन्दू शरीर का निदान निहित नहीं था। इस प्रकार हिन्दू जनता, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में उचित पथ-प्रदर्शन के अभाव में आदर्श-विहीन, उच्छृंखल, पंगु एवं विश्रृंखल हो चुकी थी।

तत्कालीन समाज आर्थिक रूप से भी कोई कम विपन्न नहीं था। इस सम्बन्ध में तुलसी के साहित्य में अनेक स्थलों पर संकेत हैं—

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक-एकन सौं, कहाँ जायँ का करी।

तुलसी लिखते हैं कि एक तो कलिकाल था दूसरे उसमें अनेक शूल थे। वेद और धर्म दूर हो चुके थे। भूप भूमि-चोर बन चुके थे। सज्जन लोग सर्वत्र दुःखित तथा व्यथित थे। सर्वत्र पाप ही पाप था। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलसी के समय का समाज नैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से ह्रासोन्मुख था। प्रबुद्धचेता, स्वतन्त्र कलाकार, जनता के प्रतिनिधि कवि तुलसी के सम्मुख एक महान् कार्य था। जिसे कि उन्हें अत्यन्त कौशल और कलात्मकता से सम्पन्न करना था। जिस प्रकार महाभारत काल में योगिराज कृष्ण ने ज्ञान कर्म और भक्ति के समन्वय से तत्कालीन जन-समूह का मार्ग प्रशस्त किया और जिस प्रकार महात्मा बुद्ध ने वैदिक कर्मकांड और हिंसावाद का घोर विरोध करके जनता का नेतृत्व किया, उसी प्रकार तुलसी ने भारत देश की भिन्न विचार पद्धतियों, साधनाओं, विरोधी संस्कृतियों और विभिन्न जातियों में सामंजस्य स्थापित करके जीवन, साहित्य और दर्शन सभी क्षेत्रों में समन्वयवाद का विराट् आदर्श उपस्थित किया। उन्होंने यह महत्कार्य करके सही अर्थों में अपने आपको लोकनायक सिद्ध कर दिया। आचार्य द्विवेदी का कहना है—"लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। क्योंकि भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियां, साधनाएँ, जातियाँ, आचार, निष्ठा और विचार पद्धतियां प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे। गीता में समन्वय की चेष्टा है। तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"उनका सारा काव्य समन्वय की विराट् चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय, रामचरितमानस शुरू से आखिर तक समन्वय काव्य है।" इस समन्वय कार्य में उन्हें अतीव सफलता मिली। कारण, एक समन्वयवादी लोकनायक में समझौते की जो प्रवृत्ति होती है वह उनमें थी। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में—"समन्वय का मतलब है कुछ झुकना और कुछ दूसरों को झुकने के लिए बाध्य करना। तुलसीदास को ऐसा करना पड़ता है। ऐसा करने की जिस असामान्य क्षमता की जरूरत थी वह उनमें थी।" उनमें समन्वय करने का अपार धैर्य था और साथ-साथ उन्होंने भारतीय समाज की नाना संस्कृतियों, साधनाओं, आचार-विचारों और पद्धतियों को खुली आंख से देखा था। वे स्वयं समाज के नाना स्तरों में रह चुके थे। उच्च ब्राह्मण कुल में उनका जन्म हुआ। दरिद्रता के कारण उन्हें दर-दर भटकना पड़ा। एक ओर जहाँ इन्हें काशी के दिग्गज विद्वानों के सम्पर्क में आना पड़ा वहाँ उन्हें अशिक्षित एवं संस्कृति-विहीन भारतीय जनता में रहने का अवसर मिल चुका था। एक ओर उन्होंने जीवन की आसक्ति की पराकाष्ठा देखी थी तो दूसरी ओर उन्हें तप और संन्यास की चरम सीमा का भी अनुभव था। जहाँ उन्हें कटु से कटु निन्दा सुननी पड़ी और नाना विरोधों का सामना करना पड़ा वहाँ उन्हें आशातीत आदर और सम्मान भी मिला। उन्होंने नाना पुराण और निगमागम का अध्ययन

किया था और साथ-साथ लोकप्रिय साहित्य का गहन अध्ययन किया था। उन्होंने अपने समय में प्रचलित समस्त काव्य पद्धतियों को आत्मसात् किया था। भारत के नाना-धर्म, दर्शन, समाज और साहित्यगत विरोधों और असंगतियों को देख कर उनकी समन्वयात्मक बुद्धि में सहिष्णुता और स्याद्वाद की विमल भावनाओं का उदय हुआ। यह उनकी एक मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ थी और इसका सदुपयोग करते हुए अपने युग की नाड़ी को टटोला। इस प्रकार उन्होंने अपने युग के सभी विरोधी तत्त्वों का परिहार एवं समाज के विकृत रूप का परिष्कार करते हुए धर्म, दर्शन, साहित्य और समाज में समन्वय की भावना को मूर्त रूप दिया तथा सच्चे लोक-धर्म की प्रतिष्ठा करके प्रशस्त लोक-नेतृत्व का दायित्व पूरा किया। इस सबका श्रेय उनकी सारग्राहिणी समन्वयातिमका बुद्धि को है। अब हम उनके भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में किये गए समन्वय की विवेचना करेंगे।

धार्मिक क्षेत्र—तुलसीदास एक महान् स्रष्टा और **जीवन-द्रष्टा** कवि हैं। इन्होंने मध्ययुगीन भारत की सम्पूर्ण चेतना को काव्यमयी वाणी दी है। तुलसी से पूर्ववर्ती दार्शनिक विचार-धाराओं और सम्प्रदायों के परस्पर विरोध का कारण केवल मात्र सैद्धान्तिक नहीं था बल्कि सामाजिक वास्तविकता की परस्पर विरोधी परिस्थितियाँ भी थीं। तुलसी ने इन दोनों का मूल निदान खोजा। उन्होंने शाक्तों और विशेषतः वामपक्षियों की निन्दा इसलिए की क्योंकि उसमें लोक-विद्वेष थी और धर्म के नाम पर अधर्म का प्रचार था—

"तजि श्रुति पंथ बाम पथ चलहीं, बंचक बिरचि बेष जग छलहीं।

वर्ण व्यवस्था के समर्थक तुलसी ने कबीर की जात-पाँत-विरोधी अलखोपासना को जन-सामान्य के लिए अश्रेयस्कर समझा और कहा—

हम लखि लखहि हमार, लख हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखहि, राम नाम जपु नीच॥

उन्होंने नाथपंथियों की कृच्छ्र योग साधना को लोक-विद्वेषिणी मानकर उसे अनुचित ठहराया—"गोरख जगायो जोग, भगति भगायो भोग।" इधर प्रेममार्गियों की उपासना-पद्धति को श्रेयस्कर न समझते हुए "कहि-कहि उपाख्यान······" कह कर अवांछनीय ठहराया। तुलसी के समय में शैवों और वैष्णवों में पर्याप्त कटुता आ चुकी थी। इन्होंने अपनी रामायण में अनेक स्थलों पर राम को शिव का और शिव को राम का उपासक बताकर उनकी अभिन्नता द्वारा पारस्परिक वैमनस्य का परिहार किया है। तुलसी के राम की स्पष्ट घोषणा है—

शिव द्रोही मम दास कहावा।
सो नर मोहिं सपनेहु नहिं पावा॥

उन्होंने सगुण, अगुण, ज्ञान, भक्ति, कर्म का उचित स्थान निर्धारित करते हुए उनके महत्त्व का प्रतिपादन किया है। गोस्वामी जी को भक्ति एक मात्र अभीष्ट है।

भक्ति का साधन ज्ञान है और ज्ञान की प्राप्ति के लिए जप, तप, व्रत, अध्ययन और सन्त समागम आदि कर्म आवश्यक हैं—

अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं श्रुति पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख जग जोई। भक्ति प्रेम बस सगुन सो होई॥

तुलसी ने यह सब कुछ पक्षपात रहित होकर कहा है। उनमें कहीं भी गर्व और गुमान नहीं है। उन्होंने लोक संग्रहात्मक वेद, पुराण तथा सन्त मत का बखान किया है। उन्होंने द्वैतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद तथा शुद्धाद्वैतवाद— अपने समय के सभी दार्शनिक सिद्धान्तों का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए सब में समन्वय प्रस्तुत किया है। उनका सब मतावलम्बियों से विनम्र निवेदन है—

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोई मानै।
तुलसिदास परिहरहि तीनि भ्रम, सो आपुन पहिचानै॥

तुलसी का विश्वास है कि जगत् को सत्यासत्य, सत्य और मिथ्या मानने वालों के भ्रम से ऊपर उठने पर ही सिया-राममय जगत् की पहचान हो सकती है जो कि परम काव्य है—

सियाराममय सब जग जानी, करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।

इस प्रकार तुलसी ने अपने समय के प्रचलित विभिन्न देवी-देवताओं की वन्दना पौराणिक प्रतीकों के रूप में की है और लोक-प्रचलित मंगलकारी ईश्वर के सभी रूपों की वन्दना की। किन्तु उनके दार्शनिक समन्वय को देखते हुए यह नहीं भूलना चाहिये कि तुलसी लोक-मर्यादा, वर्ण-व्यवस्था, सदाचार व्यवस्था सबका श्रुति सम्मत होने का सदा ध्यान रखते हैं। डॉ० शिवदानसिंह चौहान इस सम्बन्ध में लिखते हैं—
"इन तमाम दार्शनिक विचारों और उपासना-रूपों तथा देवी-देवताओं के कुछ न कुछ वर्णन तुलसी-साहित्य में होने से कोई उन्हें अद्वैतवादी, कोई विशिष्टाद्वैतवादी, कोई केवल दास्यभाव का भक्त, कोई केवल वैष्णव, तो कोई स्मार्त वैष्णव मानते हैं, किन्तु तुलसी इनमें सबको साथ लेकर इन सबसे अलग थे। वह नाना पुराण-निगमागम की बात कहते हुए भी लोक-धर्म की उपेक्षा नहीं करते थे। उनका दार्शनिक समन्वयवाद सामाजिक मर्यादाओं को वर्ण और वेद के अनुसार प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न था, जिस पर सामन्ती संस्कारों की छाप थी, किन्तु लोक-कल्याण में उनकी आस्था उनके उदार मानवतावाद की परिचायक है जिसकी व्यापक प्रेरणा से वे इतनी विभिन्नताओं का विराट् समन्वय करके युग को अपने अनुकूल बनाने की महान् कला-साधना सम्पन्न कर सके।"

सामाजिक क्षेत्र—तुलसी के समय का समाज आदर्श-विहीन, संस्कृति-रहित पथ-भ्रष्ट, मर्यादा-पतित तथा नितान्त ह्रासोन्मुख था। उनके 'कलि महिमा' वर्णन में तत्कालीन अधोमुख समाज का नग्न चित्र और उनके 'राम-राज्य' वर्णन में उसके आदर्श रूप की कल्पना की गई है। तुलसी ने सामाजिक जीवन का मूल्यांकन आचार

की कसौटी पर किया है। उनका दृढ़ विश्वास है कि कोई भी समाज अथवा राष्ट्र आचार के बल पर जी सकता है। पुरातन धार्मिक तथा सांस्कृतिक मर्यादाओं का अतिक्रमण करने वाले समाज का नाश अवश्यम्भावी है। व्यक्ति और परिवार आदर्श समाज की आधार शिलाएँ हैं। सीता आदर्श पत्नी हैं, कौशल्या आदर्श माता हैं लक्ष्मण और भरत आदर्श भाई हैं, हनुमान आदर्श सेवक हैं और सुग्रीव आदर्श सखा हैं। तुलसी ने राम रसायन के पुटपाक द्वारा मुमूर्षु हिन्दू राष्ट्र के जर्जर शरीर में अपार बल और अदम्य शक्ति का संचार किया जिसके कारण वह समय के विकट से विकट थपेड़ों को खाकर भी तनिक विचलित नहीं हुआ। आज का हिन्दू धर्म तुलसीकृत धर्म है और आज का हिन्दू राष्ट्र तुलसी-निर्मित राष्ट्र है। तुलसी की मान्यता के अनुसार आदर्श समाज के लिए वर्ण-व्यवस्था का पालन आवश्यक है—

बरनाश्रम निज धरम, निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि, भय शोक न रोग ॥

तुलसीदास लोक-मंगल भावना की दृष्टि से समाज में समर्याद छोटी-बड़ी श्रेणियों का विधान अनिवार्य मानते हैं। मर्यादा के बिना समाज उच्छृंखल हो जाता है और उसका शरीर जीर्ण, शीर्ण हो जाता है। समन्वयवादी होते हुए भी वे मर्यादा-वाद के प्रबल समर्थक हैं। उन्हें समझौते के नाम पर मर्यादा-विरोधी तथा लोक विद्वेषिणी असत् प्रवृत्तियों के सम्मुख झुकना कदापि इष्ट नहीं है। हाँ, वे अपने इस मर्यादावाद से किसी को अनावश्यक ठेस भी नहीं पहुंचाना चाहते हैं। आदर्श एवं स्वस्थ जीवन में वे सन्तुलन के पक्षपाती हैं। उनके राम में शील-शक्ति, सौन्दर्य का समन्वय है और वे मर्यादा की मेंड से एक तिल भर भी नहीं हटते। सच तो यह है कि तुलसी ने अपने समय की सामाजिक परिस्थितियों का निदान वर्ण-व्यवस्था के प्रतिपादन के साथ-साथ उदार भक्ति-परम्परा के निरूपण में उचित समझा। उन्होंने न्याय और समता की व्यवस्था का आदर्श सामने रखकर लोक-संघर्ष को प्रेरणा दी।

साहित्यिक क्षेत्र में भी तुलसीदास ने अपने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। डॉ० हजारीप्रसाद के शब्दों में—"उन्होंने नाना पुराणों और निगमागम का अध्ययन किया था और साथ ही लोकप्रिय साहित्य और साधना-मार्ग की नाड़ी पहचानने का उन्हें अवसर मिला था। उस युग में प्रचलित सब प्रकार की काव्य-पद्धतियों को उन्होंने अपनी शक्तिमती भाषा की सवारी पर चढ़ाया था। उनकी काव्य-पद्धति का अध्ययन करने से उनकी अद्भुत समन्वयात्मिका बुद्धि का परिचय मिलता है। शिक्षित जनता में जितने प्रकार की काव्य-पद्धतियों का प्रचलन था, उन सबको उन्होंने सफलतापूर्वक अपनाया था। चन्द के छप्पय, कुंडलियाँ, कबीर के दोहे और विनय के पद, सूर और विद्यापति की लीला-गान-विषयक भाव-प्रधान गीतिपद्धति, जायसी, ईश्वरदास आदि की दोहा-चौपाइयों की शैली, गंग आदि भाट कवियों की सवैया-कवित्त की पद्धति, रहीम के बरवै, सबको उन्होंने अपनी अद्भुत ग्राहिका

शक्ति के द्वारा आत्मसात् कर लिया। उस समय पूर्व भारत में अनेक प्रकार के मंगल काव्य प्रचलित थे······तुलसीदास ने इस शैली को भी अपनाया। उन्होंने पार्वती-मंगल और जानकी मंगल नाम के काव्य लिखे थे। इस प्रकार उन दिनों साधारण जनता में प्रचलित सोहर, नहछू गीत, चांचर और वसन्त आदि रोगों में भी उन्होंने काव्य लिखे। इस प्रकार साधारण जनता में प्रचलित गीति पद्धति से लेकर शिक्षित जनता में प्रचलित काव्य-रूपों को उन्होंने अपनाया है।" इस प्रकार इनमें प्रबन्ध और मुक्तक, श्रव्य और दृश्य, ब्रज और अवधी, भाषा और संस्कृत, भाषा और भाव छन्द और अलंकार, भक्ति और कविता, लोकहित और मर्यादा सबका कलात्मक सामंजस्य है। समाज, साहित्य, संस्कृति और दर्शन सभी क्षेत्रों में तुलसीदास के समन्वयकारी व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण है। प्रोफेसर बलदेव प्रसाद मिश्र के शब्दों में—"गीता का अनासक्तियोग, बौद्धों और जैनों का अहिंसावाद, वैष्णवों और शैवों का अनुराग, शाक्त का जप, शंकर का अद्वैतवाद, रामानुज की भक्ति भावना, निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद, रामोपासना, बालकृष्णोपासना, चैतन्य का प्रेम, गोरखादि योगियों का संयम, कबीर आदि सन्तों का नाम-महात्म्य, रामकृष्ण परम-हंस का समन्वयवाद, ब्रह्म-समाज की बाह्य कृपा, आर्य समाज का आर्य-संगठन और गाँधीवाद की सत्य, अहिंसा-मूलक आस्तिकतापूर्ण लोकसेवा आदि सब कुछ तो उसमें हैं ही, साथ ही मुसलमानों का मानव-बन्धुत्व और ईसाइयों का श्रद्धा तथा करुणा से पूर्ण सदाचार भी क्रीड़ा कर रहा है।"

जनता के प्रतिनिधि कवि तुलसी—प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का यह कथन अक्षरशः सत्य है—भारतीय जनता का प्रति-निधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं तो इसी (तुलसी) महानुभाव को ही। इसमें व्यक्तिगत साधना के साथ लोकधर्म की अत्यन्त उज्ज्वल छटा वर्तमान है।" कविता उनका साधन है—साध्य है राम भक्ति। किन्तु अपने साध्य तक पहुंचने के लिए गोस्वामी जी ने जिस साधन को स्वीकार किया, उसे इतना पूर्ण और समर्थ बना दिया उस वैयक्तिक साधना में इतनी मात्रा में समष्टिगतता आ गई कि उनका मानस जन-मानस हो गया। उनका साहित्य स्वान्तः सुखाय होते हुए भी सर्वहिताय सिद्ध हुआ। उनके अन्तः संघर्ष में लोक संघर्ष और उनकी भक्ति में लोक-संग्रह सन्निहित है। भक्ति और साहित्य दोनों क्षेत्रों में उन्हें जितनी सफलता मिली है उतनी अन्य किसी कवि को नहीं मिली। उनकी कविता में मानव-जीवन की अधिक से अधिक दशाओं का सन्निवेश हुआ है। अन्य कवि जीवन के किसी एक अंग या पक्ष को लेकर चले हैं—वीरगाथा काल के कवि उत्साह को, भक्ति काल के दूसरे कवि प्रेम और ज्ञान को, रीति काल के कवि शृंगार को, पर इनकी वाणी की पहुंच मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों तक है।

निःसन्देह तुलसी पहले भक्त हैं और बाद में कुछ और। उन्होंने स्वान्तः—सुखाय साहित्य की सृष्टि की पर वह सर्वसुखाय सिद्ध हुई। उनका कविता सम्बन्धी

दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक और उदात्त है—

"कीन्हें प्राकृत जन गुनगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।"

अथवा

कीरति भनिति भूमि भलि सोई, सुरसरि सम सब कहँ हित होई।

उनकी वाणी एक ओर तो व्यक्तिगत साधना के मार्ग में विरागपूर्ण शुद्ध भक्ति-मार्ग का उपदेश देती है तो दूसरी ओर लोक-पक्ष में आकर पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का सौन्दर्य दिखाकर मुग्ध करती है। रामचरित के भक्ति-सरोवर में जहाँ तुलसी स्वयं मज्जन करके निष्कलुष बने वहां जनता को उनका रसामृत पान कराके युगों तक अमर बना दिया। वे कोरे भक्त नहीं और न ही उनके रामचरितमानस को कोरी भक्ति का ग्रन्थ कहा जा सकता है। उसमें लोक-संग्रह की भावना अत्यन्त उभरी हुई है। उनकी भक्ति में ऐकान्तिक साधना नहीं बल्कि उसमें अन्तः संघर्ष के साथ लोक-संघर्ष छिपा हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास ने काम क्रोध, लोभ, मद और मोह को मनुष्य का प्रवल शत्रु बताया है किन्तु इनका मर्यादित रूप जन-जीवन से लिये आवश्यक नहीं अनिवार्य भी है। इनकी अतिशयता अवांछनीय एवं त्याज्य है। रामचरितमानस में रावण और शूर्पणखा ने काम की मर्यादा का अतिक्रमण किया किन्तु तुलसी ने उचित दंड भी दिलवाया। नारद को अपने ब्रह्मचर्य पर घमंड हो गया और उसने काम का सर्वथा परित्याग कर दिया, किन्तु वही नारद काम के फेर में ऐसे पड़ते हैं कि जग-हँसाई होती है। इसके विपरीत राम में काम का मर्यादित रूप है अतः उसे किसी प्रकार की उलझन का सामना करना नहीं पड़ता। तुलसी ने रावण और परशुराम में मद की अतिशयता दिखाई हैं। उन्हें इतना गर्व हो गया कि यथार्थ का ज्ञान तक न रहा। इनके विपरीत राम को भी अपनी वीरता पर गर्व है लेकिन गर्व अपनी सीमायें नहीं लांघता। राम नम्रता, किन्तु दृढ़ता के साथ परशुराम को चेतावनी देते हैं। परशुराम में क्रोध की अतिशयता को तुलसी ने हास्यास्पद बताया है किन्तु राम के समुद्र के प्रति प्रकट किये गये क्रोध को उचित ठहराया है क्योंकि राम ने कोप या क्रोध की मर्यादा बाँधी। राम आदर्श पुत्र, आदर्श पति और आदर्श राजा हैं, सीता आदर्श पत्नी हैं, कौशल्या आदर्श माता हैं, लक्ष्मण और भरत आदर्श राजा है, हनुमान आदर्श सेवक हैं और सुग्रीव आदर्श सखा हैं। राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। मर्यादा और आदर्श की प्रतिष्ठा ही उनके जीवन का एक मात्र उद्देश्य है। राम जीवन की विकट से विकट परिस्थिति का सामना अपने अपार मनोबल से करते हैं। उन्होंने विपत्ति में विचलित होना सीखा ही नहीं। सच यह है कि रामचरितमानस के पात्रों द्वारा तुलसीदास ने जिन नैतिक मूल्यों की स्थापना की वे जनता के मनोबल को दृढ़ करने वाले थे, उसे संघर्ष के रास्ते पर आगे बढ़ाने वाले थे। वस्तुतः तुलसीदास ने समग्र उत्तरी भारत के जीवन को राममय बना दिया है। आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"तुलसी के मानस से जो शील, शक्ति

सौन्दर्यमयी स्वच्छ धारा निकलती है, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति में पहुंचकर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिम्ब झलका दिया है। रामचरित की इसी जीवन व्यापकता ने उनकी वाणी को 'राजा-रंक, धनी-दरिद्र, मूर्ख-पंडित सबके हृदय और कंठ में सब दिन के लिए बसा दिया है। किसी श्रेणी का हिन्दू हो वह अपने जीवन में राम को पाता है। सम्पत्ति में, विपत्ति में, वन में, रण-क्षेत्र में, आनन्दोत्सव में, जहाँ देखिये वहीं राम।...उनकी वाणी की प्रेरणा से आज हिन्दू जनता अवसर के अनुकूल सौन्दर्य पर मुग्ध होती है, महत्त्व पर श्रद्धा करती है, शील की ओर प्रवृत्त होती है, सन्मार्ग पर पैर रखती है, विपत्ति में धैर्य धरती है, कठिन कर्म में उत्साहित होती है, दया से आर्द्र होती है, बुराई पर ग्लानि करती है, शिष्टता का अवलम्बन करती है, मानव जीवन के महत्व का अवलम्बन करती है।" इसी प्रकार तुलसी अपने राम के समान जनता के जीवन में घुल-मिल गये हैं। उन्होंने जन-जीवन के अध्यायों को ध्यान से पढ़ा और समझा और कदाचित् जीवन की व्याख्या उन्होंने रामत्व की कल्पना में प्रस्तुत की।

तुलसीदास सकल जगत को राममय जानते हैं और इस विश्वास का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने धर्म की जो कल्पना की वह बड़ी विशाल थी। इस विशाल कल्पना के फलस्वरूप वे धार्मिक सम्प्रदायों का समन्वय कर सके।

रामत्व की रावणत्व पर विजय की जो कल्पना इन्होंने की है, उनके मूल में तत्कालीन भारत की राजनीतिक दुरावस्था थी, जिससे दुखित होकर उन्होंने प्रच्छन्न रूप से संकेत किया है। एक युग-प्रवर्त्तक कवि के लिए ऐसा करना आवश्यक भी था उनके रामत्व की रामणत्व पर विजय की कल्पना केवल भारतीय समाज के लिए ही नहीं प्रत्युत विश्व समाज के लिए पथ-प्रदर्शिका है। यह वह आलोक है जो गाँधी जी का पथ प्रशस्त करता रहा। तुलसीदास कोरे वैरागी बाबा नहीं, विरक्त होकर भी आसक्त हैं, वे भारत के ऋणी हैं, वे अपने समाज का मुख, वाणी और मस्तिष्क हैं। तुलसी-साहित्य में तत्कालीन भारतीय समाज मुखरित हो उठा है। कृष्ण-भक्त कवियों के समान उनकी मथुरा तीन लोक से न्यारी नहीं हैं और न ही इन्होंने समाज के प्रति अपनी आँखें बन्द की हुई हैं। इनके साहित्य में तत्कालीन समाजिक, धार्मिक और राजनीतिक घात-प्रतिघात सजीव हो उठे हैं। राष्ट्र और समाज के साथ उनका पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन का आदर्श अत्यन्त भव्य है। रामचरितमानस पारिवारिक और व्यक्तिगत आदर्शों का खजाना है। उनकी धारणा थी कि व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज तथा समाज से राष्ट्र का निर्माण सम्भव है। कदाचित् यही करण है कि उन्होंने वर्णाश्रम-धर्म व्यवस्था पर अत्यधिक बल दिया है क्योंकि इससे समाज में उच्छृंखलता एवं विशृंखलता के स्थान पर मर्यादा और एकता की प्रतिष्ठा होती है। किसी आलोचक विद्वान् के तुलसीदास के प्रति कहे गये शब्द अत्यन्त भाव पूर्ण हैं—"तुलसी कवि थे, भक्त थे, पंडित थे,

सुधारक थे, लोक नायक थे और भविष्य के स्रष्टा थे। इन रूपों में इनका कोई भी रूप घटकर नहीं था। यही कारण था कि उन्होंने सब ओर से समता की रक्षा करते हुए एक अद्वितीय काव्य सृष्टि की जो अब तक उत्तर भारत का मार्ग दर्शक रहा है और उस दिन भी रहेगा, जिन दिन नवीन भारत का जन्म हो गया होगा।" तुलसी के काव्य ने जिस रूप और जिस मात्रा में जन-मन-वाहन की सवारी की है शायद ही हिन्दी के किसी अन्य कवि के काव्य को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। इन्होंने धर्म और संस्कृति, समाज और साहित्य सभी क्षेत्रों में भारतीय जनता का सफल नेतृत्व किया है। सद्गुरुशरण अवस्थी के शब्दों में—"गोस्वामी भारतवर्ष के उऋण ऋणी हैं। भारतीय संस्कृति की वे कीर्ति हैं। सच्चे साधु हैं, निश्छल भक्त हैं, छिपे हुए शिक्षक और धीमे सुधारक हैं। मर्त्य और स्वर्ग का ऐसा अनूठा सोहाग विश्व के साहित्य में कदाचित् ही मिले।" विदेशी विद्वान् नौक्स (Kuox) का कहना है कि—"भारत का किसान भी दूसरे देशों के नेताओं से अधिक संस्कृत है। इस बात का श्रेय बिना किसी पक्षपात के तुलसी को दिया जा सकता है क्योंकि आज के भारत का धर्म और संस्कृति तुलसी-सम्मत धर्म और संस्कृति हैं।"

तुलसी का काव्य-कौशल—"गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव को हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिए। हिन्दी काव्य की शक्ति का पूर्ण प्रसार इनकी रचनाओं में पहले-पहल दिखाई पड़ा।"—आचार्य शुक्ल। विषयव्यापकता, काव्य-सौष्ठव और भाषा का परिमार्जित रूप तथा उसकी अभिव्यक्ति-शक्ति इनके काव्य में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंची हुई हैं। इन्हें भाषा के सहज मर्म की परख है और नाना शैलियों पर इनका पूर्ण अधिकार है।

विषय-व्यापकता—वीरगाथाओं के कर्त्ता चारण कवियों के भावों का दायरा सीमित था। उन्होंने प्रधानतः वीर तथा शृंगार रस का चित्रण किया। उनके साहित्य का सर्जन स्वामिनः सुखाय हुआ और उसमें प्राकृत जन-गुणगान है। जन जीवन के साथ उस कविता का कोई सरोकार नहीं। उसमें सर्वत्र आभिजात्य वर्ग का जीवन है।

कबीर का काव्य जन-जीवन को तो साथ लेकर चला, किन्तु उसकी भर्त्सना मयी अटपटी वाणी से शिक्षित जन समुदाय तथा उच्च वर्ग तिलमिला उठा। उनके द्वारा की गई कर्मकांड की निन्दा तथा वर्णव्यवस्था के विरोध में एक प्रकार से लोक धर्म का विरोधी स्वरूप सन्निहित था और इससे समाज के विश्रृंखल हो जाने की निश्चित रूप से आशंका थी और साथ-साथ शास्त्र मर्यादा के विध्वस्त हो जाने का भी भय था। सम्भव है कि तुलसी को कबीर और योगपंथियों की अन्तःसाधना तथा कोठों के भीतर की बातें सुनकर प्रतिवाद रूप में कहना पड़ा था—"अलखहि-अलखहिं का जपै राम नाम जप नीच" तथा "अन्तर्जामिहु ते बड़ बाहिरजामी।" इस प्रकार तुलसी ने भक्ति की महिमा का प्रतिपादन करके लोक-धर्म, रीति-नीति तथा मर्यादा की प्रतिष्ठा की।

प्रेममार्गी कवि प्रेम के एकांगी क्षेत्र को लेकर चले। वे जीवन के समूचे रूप को न देख सके। लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना भले ही उन्होंने की किन्तु उसकी पद्धति भारतीयता के अनुकूल नहीं थी। अतः वह भारतीय समाज के लिए कवच का काम न दे सकी।

कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण के रंजक रूप को सामने रखकर मुक्तकंठ से उनके प्रेम के गीत गाये। समाज कहाँ जा रहा था। इस बात की उन्हें तनिक चिन्ता नहीं थी। वे राधा और कृष्ण की प्रणय-लीला और बालगोपाल के भाव-चित्र उतारने में लगे रहे। उनमें भक्ति और शुद्ध कला की अभिव्यक्ति हुई, किन्तु लोक-संग्रह की भावना उपेक्षित रही।

तुलसीदास का गृहीत विषय अत्यन्त व्यापक था। उन्होंने जीवन के किसी एक अंग विशेष का ग्रहण न कर उसके समूचे रूप का चित्रण किया। उनकी पहुंच मानव-जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म दशाओं और वृत्तियों तक थी। उन्होंने राम-जीवन के व्यापक आदर्श से समस्त उत्तरी भारत के जीवन को राममय बना दिया। उनके काव्य में ऐकान्तिक रूप से भक्ति ही नहीं, प्रत्युत सामाजिक पक्ष भी बराबर चलता रहता है। उन्हें लोक-धर्म और लोक-मर्यादा का सदा ध्यान रहा है। उनका काव्य समविभक्तांग (Balanced) है। उनमें सभी रसों का कलात्मक चित्रण हुआ है। उनके काव्य में प्रबन्ध-सौष्ठव, चरित्र-चित्रण और कलात्मक सौन्दर्य पूर्ण परिपाक को पहुंचे हुए हैं। यह सब कुछ साहित्य जगत् में एक महत्त्वपूर्ण घटना है तथा एक अद्भुत चमत्कार है। तुलसी स्वयं महान् हैं, उनका काव्य-सम्बन्धी आदर्श 'स्वान्तः सुखाय' एवं 'कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कहँ हित होई' महान् है, अतः उनका काव्य भी महान् है। उसमें हिन्दी काव्य की सम्पूर्ण शक्ति साकार हो उठी है। उनका काव्य मर्त्य और स्वर्ग का एक अनूठा सोहाग है। उसमें व्यक्तिगत साधना के साथ लोक-धर्म भी बराबर चलता रहा। तुलसी धर्म, संस्कृति और साहित्य के अभिनव भागीरथ हैं।

परिमार्जित भाषा—वीरगाथाओं के कवि भाषा के पुराने रूप को लेकर एक विशिष्ट शैली को निभाते रहे। चलती भाषा का संस्कार और उन्नति उनके द्वारा न हुई। कबीर ने चलती बोली में अपना सन्देशा सुनाया, पर वह बेठिकाने की थी, उसका कोई नियत रूप नहीं था। शौरसेनी अपभ्रंश या नागर अपभ्रंश का जो सामान्य रूप साहित्य के लिए स्वीकृत हो चुका था, उससे कबीर का लगाव न था। उन्होंने सधुक्कड़ी बोली से काम चलाया। अशिक्षित होने के कारण उनकी भाषा का कोई निश्चित एवं स्थिर रूप नहीं था। कभी-कभी तो वे अपनी सांध्य भाषा में नदिया में नाव डुबाने की पहेली-बुझौवल ही डालते रहे।

सगुणोपासक भक्त कवियों द्वारा प्रचलित भाषा को कुछ प्रश्रय मिला। भक्तवर सूरदास ब्रज की चलती हुई भाषा को परम्परा से चली आती हुई काव्य

भाषा के बीच पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करके साहित्यिक भाषा को लोक-व्यवहार के मेल में ले आये। परन्तु उनमें भी क्रियाओं के कुछ पुराने रूप तथा सर्वनाम के कुछ घिसे-पिटे रूप बने ही रहे। आचार्य शुक्ल तुलसी और सूर की भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं—"उनकी (तुलसी) सी भाषा की सफाई और किसी कवि में नहीं। सूरदास में ऐसे वाक्य के वाक्य मिलते हैं जो विचार आगे बढ़ाने में कुछ भी योग देते नहीं पाये जाते, केवल पाद-पूर्त्यर्थ ही लाये हुए जान पड़ते हैं। इसलिए तुकान्त के लिए शब्द तोड़े-मरोड़े हैं। पर गोस्वामी जी की वाक्य रचना अत्यन्त प्रौढ़ और सुव्यवस्थित है। उसमें एक भी शब्द फालतू नहीं है।"

अवधी भाषा का स्वरूप ईश्वरदास की 'सत्यवती' कथा में तथा मुसलमान कवियों जायसी आदि ने अपने ग्रन्थों में निर्धारित किया था। तुलसी ने संस्कृत के परम पंडित होते हुए लोक-भाषा को अपने काव्य के लिए चुना। पूर्वी अवधी और पश्चिमी अवधी इन दोनों पर उनका समान अधिकार था। उन्होंने लोक-प्रचलित भाषा के रूप को अपनाते हुए उसे स्थायी साहित्य रूप दिया। इसके साथ-साथ तुलसी ने व्रजभाषा का भी साधु प्रयोग किया। इनकी व्रजभाषा में सूरदास के समान पाद-पूर्ति के लिए भरती के शब्दों का प्रयोग नहीं। इनकी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है उसमें संस्कृत की कोमल-कांत पदावली की सुमधुर झंकार तथा विदेशी भाषा के शब्दों का हिन्दी की प्रकृति के अनुसार प्रयोग नहीं। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों में—"भाषा की दृष्टि से तुलसी की तुलना हिन्दी के किसी अन्य कवि से नहीं हो सकती। उनकी भाषा में एक समन्वय की चेष्टा है। तुलसीदास की भाषा जितनी लौकिक है उतनी ही शास्त्रीय। उसमें संस्कृत का मिश्रण बड़ी चतुरता के साथ किया गया है। जहाँ जैसा विषय होता है भाषा अपने आप उसके अनुकूल हो जाती है। तुलसीदास से पूर्व किसी ने इतनी मार्जित भाषा का प्रयोग नहीं किया था। काव्योपयोगी भाषा लिखने में तो तुलसीदास कमाल करते हैं।"

विविध शैलियाँ—तुलसी के समय में काव्याभिव्यक्ति के लिए अनेक शैलियाँ प्रचलित थीं, जिनमें प्रमुख पाँच हैं। गोस्वामी जी ने पाँचों शैलियों का सफल प्रयोग किया है :—

(क) वीरगाथा काल की छप्पय-पद्धति—यद्यपि इस रचना पद्धति पर उन्होंने अधिक नहीं लिखा पर जो कुछ लिखा उसमें इनकी निपुणता झलकती है। राम-जीवन के ओजस्वी चरित्रों तथा युद्ध-वर्णनों में उनकी उक्त पद्धति दर्शनीय है—

कतहुं विटप भूधर, उपारि पर सेन बरक्खत।
कतहुं बाजि सो बाजि मर्दि गजराज करक्खत॥ आदि

(ख) विद्यापति और सूरदास की गीति-पद्धति—यद्यपि विद्यापति और सूरदास इस पद्धति का प्रवर्तन कर चुके थे। पर सूरदास की रचना में संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली और अनुप्रासों का उतना सफल प्रयोग नहीं है जो तुलसीदास

में है। गोस्वामीजी के गीत संस्कृतगर्भित होते हुए भी शुद्ध देश-भाषा के माधुर्य से संवलित हैं। इनमें संस्कृत का लालित्य और देश-भाषा का माधुर्य दोनों समन्वित हैं। इनके गेय पदों में प्रसंगानुकूल कोमलता और कर्कशता दोनों मिलती हैं। गेयता की दृष्टि से इनकी विनयपत्रिका अत्यन्त उत्तम बन पड़ी है। गीतावली के मधुर पदों में हृदय के विभिन्न भावों की अभिव्यंजना अतीव मर्मस्पर्शिनी है। भारत की आत्म-ग्लानि का एक चित्र देखिए—

जो पै हौं मातुमते महँ ह्वै हौं।
तौ जननी ! जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं ?

(ग) गंग आदि भाटों की कवित्त सवैया पद्धति—उनकी कवितावली की रचना इसी पद्धति पर हुई है। उन्होंने इस पुस्तक में सारी राम-कथा को बड़ी रसात्मकता और विदग्धता से कह डाला है। इसमें नाना रसों का समावेश है। शब्दयोजना एकदम रसानुकूल है—

राम को रूप निहारति जानकि, कंकन के नग की परछाहीं।
याते सबै सुधि भूल गई, कर टेकि रही, पल टारति नाहीं॥

(घ) नीति के उपदेश की सूक्ति पद्धति—काव्य की यह पद्धति भारतीय साहित्य की पुरानी परम्परा के अनुकूल अपभ्रंश साहित्य में प्रचलित थी। तुलसी, दास ने इस पद्धति का प्रयोग अपने रामचरितमानस तथा दोहावली में बड़ी सफलता से किया है—

लोगन भलो मनाव जो, भलो होन की आस।
करत गगन को गेंडुआ, सो सठ तुलसीदास।

(ङ) दोहा-चौपाई की प्रबन्ध पद्धति—मलिक मुहम्मद जायसी आदि प्रेम-मार्गी कवि इस शैली को पहले अपना चुके थे, किन्तु गोस्वामी जी ने अपने राम-चरितमानस में इसे अपने चरम विकास पर पहुंचा दिया। जायसी और तुलसी दोनों की भाषा अवधी है पर दोनों के पदविन्यास में अन्तर है। जायसी में केवल ठेठ अवधी भाषा का माधुर्य है जबकि गोस्वामी जी में अवधी का माधुर्य और संस्कृत का लालित्य दोनों हैं। तुलसी शास्त्र-पारंगत विद्वान् थे अतः उनकी शब्द योजना साहित्यिक है। उदाहरणार्थ—

जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किए तिलक गुन गन बस करनी॥

आचार्य हजारीप्रसाद ने तुलसी के दस काव्य-रूपों की गणना की है—(१) दोहा, चौपाई वाले चरित काव्य, (२) कवित्त-सवैया, (३) दोहों में अध्यात्म और नीति के उपदेश, (४) बरवै छन्द, (५) सोहर छन्द, (६) विनय के पद, (७) लीला के पद, (८) वीर-काव्यों की छप्पय-पद्धति, (९) दोहों में सगुन विचार, (१०) मंगल काव्य। काव्यरूपों में तुलसीदास ने मुक्तक और प्रबन्ध दोनों रूपों में समान अधिकार दिखाया है। इनके गेयपद लालित्यपूर्ण हैं और प्रबन्ध रचनाओं में

जीवन की सर्वांगीणता है। रस, रीति, गुण, अलंकार छन्द और शब्द-शक्तियों पर उनका पूर्ण अधिकार है। वे अपनी रचना में शब्दाडंबर के भद्देपन और व्यर्थ के प्रदर्शन को नहीं आने देते। सारांश यह है कि इन्होंने काव्य-अभिव्यक्ति के समस्त उपकरणों के सत्प्रयोग से हिन्दी की अभिव्यक्ति शक्ति को अपनी पूर्ण पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया है। डॉ० बलदेवप्रसाद के रामचरितमानस के सम्बन्ध में प्रकट किये गये उद्‌गार अवलोकनीय हैं—हिन्दी भाषा की पाचन-शक्ति का बढ़िया नमूना देखना हो तो रामचरित-मानस देखा जाय। भाषा के प्रसाद, ओज और माधुर्य गुण की सच्ची बानगी देखनी तो हो रामचरित मानस देखा जाय। शब्दों की अभिधा-लक्षणा और व्यंजना शक्तियों के चमत्कार देखने हों तो रामचरितमानस देखा जाय। मुहावरों का सफल प्रयोग, उनका मूल्य और हृदयहारिता देखनी हो तो रामचरितमानस देखा जाय।"

प्रबन्ध-सौष्ठव—रचना-कौशल, प्रबन्ध-पटुता और भाव-प्रवणता आदि सभी गुणों का इनमें एक अपूर्व समाहार मिलता है। रामचरितमानस में कथा के सभी अवयवों का उचित योग है। इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार-वर्णन, काव्य-व्यंजना और संवाद सभी में आवश्यक सन्तुलन हैं। न, तो अयोध्यापुरी की शोभा, बाल-लीला, नख-शिख-वर्णन, वाटिका में जानकी-दर्शन, अभिषेकोत्सव आदि के वर्णन इतने लम्बे हो पाये हैं और न ही पात्रों के संवादों में प्रेम, शोक आदि भावों की व्यंजना विस्तृत हो पाई है। इतिवृत्त की शृंखला कहीं भी नहीं टूटती। इस काव्य की कथा बड़े सौष्ठव के साथ ग्रंथित है। रामायण का आरम्भ बड़ी धूम-धाम से होता है। रामावतार की आवश्यकता का प्रतिपादन है तथा इसके अनन्तर कथा अपने वेग के साथ आगे बढ़ती है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने कथानक में नाना पुराण, निगमागम तथा लोक-प्रचलित राम-सम्बन्धी सामग्री का सदुपयोग किया है। उन्होंने बाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, प्रसन्नराघव, हनुमन्नाटक आदि ग्रंथों का आधार लेकर भी कथा में कई नवीन प्रसंगों की उद्‌भावना की है। रामचरितमानस में चार वक्ता और चार श्रोता हैं। तुलसी राम के ब्रह्मत्व का स्मरण दिला कर पर करने लगते हैं और अपने पाठकों को राम के ब्रह्मत्व का प्रतिपादन स्थान-स्थान चेतावनी देते जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कवि को अपने पाठकों की मेधा शक्ति पर अविश्वास है। कदाचित् यही कारण है कि ऐसे प्रसंगों में पाठक के अहंभाव को चोट पहुंचती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसे प्रसंगों में अस्वाभाविकता भी आ गई है और साथ-साथ आवृत्ति भी। किन्तु अनेक वक्ता और श्रोता होने के कारण वे आवृत्ति दोष से मुक्त हो जाते हैं। वस्तु विन्यास, चरित्र-चित्रण, रस-वर्णन, कल्पना सृष्टि, अलंकार-विधान, उक्ति वैचित्र्य, प्रकृति-वर्णन, भाषा और छन्द आदि की दृष्टि से इनका प्रबन्ध-काव्य रामचरितमानस सफल बन पड़ा है। इसमें महाकाव्य के सभी लक्षण देखे जा सकते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम इसके धीरोदात्त नायक हैं। इसमें सभी रसों का कलात्मक समावेश है। महाकाव्योचित वीर, शान्त

और शृंगार रसों से यह अनुप्राणित है और प्रमुख है इसमें शान्त रस । चतुर्वर्ग की प्राप्ति इसका महान् आदर्श है । किसी प्रबन्ध-काव्य की सफलता उसमें मर्मस्पर्शी स्थलों के नियोजन में निहित होती है । इस दृष्टि से भी रामचरितमानस सफल प्रबन्ध काव्य कहा जा सकता है । ऐसे प्रसंगों में कवि की भावप्रणता और मानव हृदय की सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियों की पहचान का ज्ञान होता है । मानस में सीता-राम का परस्पर दर्शन, राम वन-गमन, दशरथ-मरण, भरत की आत्म-ग्लानि, वन-मार्ग में जाते हुए सीता और राम के साथ स्त्री पुरुषों की सहानुभूति, सीताहरण, युद्ध में लक्ष्मण को शक्ति लगना आदि प्रसंग अत्यन्त हृदयहारी बन पड़े हैं । तुलसी ने इसमें तीन प्रकार के पात्रों का समावेश किया है सात्विक, राजसिक और तामसिक । अन्त में रामत्व की रावणत्व पर विजय दिखला कर धर्म की अधर्म पर विजय दिखलाई है । चरित्र-चित्रण में तो तुलसी सिद्धहस्त ही हैं । राम, सीता, लक्ष्मण, कौशल्या, भरत, हनुमान और सुग्रीव आदि के चरित्र हमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक नवीन सन्देश देते हैं । तुलसी ने देव, मनुज, दनुज यहाँ तक कि पशु-पक्षियों की अन्तः प्रकृति के चित्रण में अपनी मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ का अच्छा परिचय दिया है । इसमें सात कांड हैं आरम्भ में मंगलाचरण है, सज्जनों की प्रशंसा तथा दुर्जनों की निन्दा की गई है, नदी, पर्वत, नगर, संध्या, प्रातः आदि वस्तु-वर्णन भी विद्यमान है, प्रधान कथानक को प्रासंगिक कथायें बल देती हुई दृष्टिगोचर होती हैं, और अपेक्षित छन्द परिवर्तन भी है । एक सच्चे महाकाव्य के समान इसमें एक उज्जवल जातीय-सांस्कृतिक-प्रतिबिम्ब भी है । सौष्ठव की दृष्टि से रामचरित मानस का स्थान हिन्दी-साहित्य में अत्युच्च है । पार्वती मंगल और जानकी मंगल भी इनके प्रबन्ध काव्य हैं । वस्तु-विन्यास की दृष्टि से पार्वती मंगल अच्छा बन पड़ा है ।

रस—यद्यपि कविता इसका साधन है साध्य नहीं है, साध्य तो है इनकी भक्ति, फिर भी तुलसी एक रससिद्ध कवीश्वर हैं । उनका समस्त काव्य भक्ति के दिव्य रस से ओत-प्रोत है । इनका काव्य समविभक्तांग है और उसमें सभी रसों का कलात्मक चित्रण है । कारण, तुलसी की मानव-मन के अन्तस्तल तक पहुंच थी और वे सभी अवस्थाओं एवं परिस्थितियों में मानव-हृदय की सूक्ष्म मनोवृत्तियों के सफल जानकार थे । उन्होंने मानव-जीवन के विविध रूपों को गहराई से देखा था और उसके मर्मों को पहचाना था । आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"मानव-प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ गोस्वामी जी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं उतना अधिक हिन्दी भाषा के और किसी कवि के हृदय का नहीं । यदि कहीं सौन्दर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्ष, पुलक गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पाखंड है तो कुढ़न, शोक है तो करुणा, आनन्दोत्सव है तो उल्लास उपकार है तो कृतघ्नता, महत्व है तो दीनता, तुलसीदास के हृदय में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से विद्यमान हैं ।" वस्तुतः उनका काव्य विराट् है । उसमें काव्य के सभी उपकरण यथास्थान अवस्थित

हैं। मर्यादावाद के कारण यद्यपि तुलसी का शृंगार रस अधिक प्रस्फुटित नहीं हुआ फिर भी इसमें संयोग और वियोग की अच्छी झाँकी मिल जाती है। पुष्प-वाटिका प्रसंग में सीता के आभूषणों की ध्वनि से राम की मनःस्थिति का कवि ने अच्छा परिचय दिया है किन्तु वहाँ पर भी वे अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ते। कवितावली में विवाह के पश्चात् के वर्णन में शृंगार रस का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत किया गया है—

राम को रूप निहारति जानकी, कंकन के नग की परछाहीं।
याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥

वन मार्ग पर ग्राम-वधुओं द्वारा पूछी गई सीता के उत्तर में शृंगारी चेष्टाओं का सुन्दर निरूपण हुआ है —

बहुरि वदन विधु अंचल ढांकीं, पिय तन चितै भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि, निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥

इनका वियोग-वर्णन भी समर्याद है। राम के विरहोन्माद की ये पंक्तियाँ अत्यंत प्रसिद्ध हैं—

हे खग मृग हे मधुकर स्रैनी, तुम देखी सीता मृगनैनी।

करुण रस के मानस में अनेक प्रसंग हैं, जिनमें दशरथ-मरण, राम-वनवास, लक्ष्मण को शक्ति लगना तो अत्यन्त ही हृदयस्पर्शी हैं। लक्ष्मण की मूर्च्छा के प्रसंग में राम के ये शब्द "जौ जनतेहु वन बन्धु विछोहू" कितने हृदयद्रावक हैं। नारद-मोह में हास्य रस की अच्छी सृष्टि हुई है—

"जप तप कछु न होइ तेहि काला, हे विधि मिलै कवन विधि बाला।"

मानस में लंकाकांड और सुन्दरकांड में वीर रस का अच्छा परिपाक हुआ है। लक्ष्मण की यह दर्पोक्ति दर्शनीय है—

"जौ तुम्हार अनुशासन पाऊँ, कन्दुक इव ब्रह्मांड उठाऊँ।"

लक्ष्मण-परशुराम-संवाद तथा राजा दशरथ के वर न देने पर कैकेयी की क्रोधाभिव्यक्ति के प्रसंगों में रौद्र रस का अच्छा परिपाक हुआ है। लंकादाह के प्रसंग में भयानक और वीभत्स रसों का सुन्दर निर्वाह देखा जा सकता है। कवितावली की निम्न पंक्तियों में क्रम से इनके उदाहरण देखिये—

"लागि-लागि आगि, भागि-भागि चले जहाँ तहां।"

तथा

"सोनित सो सानि-सानि गूदा खात सतुआ से।"

शान्त रस तो सारे तुलसी-काव्य में ओत-प्रोत है। सारी राम कथा का पर्यवसान शान्त रस में हुआ है। विनयपत्रिका और कवितावली के उत्तर कांड में शुद्ध शान्त रस है। विनयपत्रिका का एक उदाहरण देखिये—

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाइ हरि पद भजु, करम बचन अरु ही तें।

राम के ब्रह्मत्व के प्रसंगों में भी अद्भुत रस की सृष्टि हुई है। हनुमान के पहाड़ ले आने के प्रसंग में भी अद्भुत रस की सृष्टि हुई है। वात्सल्य रस के वर्णन के लिए रामचरितमानस तथा गीतावली के बालकांड द्रष्टव्य हैं।

अलंकार—रससिद्ध कवि तुलसीदास केशव के समान अलंकारों के पीछे मारे-मारे नहीं फिरे। बल्कि अलंकार उनके काव्य में सहज रूप में आये हैं। यही कारण है कि इनकी वाणी बाह्य चमत्कार के भद्दे खिलवाड़ में कहीं नहीं उलझी। इन्होंने अलंकारों का प्रयोग भावों के उत्कर्ष दिखाने, वस्तुओं के रूप, गुण, और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने के लिए किया है। पात्रों का गुण तथा स्वभाव के चित्रण में इन्होंने उत्प्रेक्षा, उदाहरण तथा दृष्टान्त अलंकारों का प्रयोग किया है। भावों और मनोवेगों के चित्रण में कवि ने उत्प्रेक्षा, रूपक तथा उपमा अलंकारों का अधिक उपयोग किया है। वस्तु चित्रण में भी कवि अधिकतर उत्प्रेक्षा का प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने सन्देह, प्रतीप, उल्लेख, व्यतिरेक, परिणाम, परिसंख्या, अर्थान्तरन्यास, प्रश्नोत्तर तथा अनुप्रास आदि का भी साधु प्रयोग किया है। इनके अलंकारों के कुछ उदाहरण देखिये—

सन्त हृदय नवनीत समाना, कहा कविन पै कहइ न जाना।
निज परिताप द्रवै नवनीता, पर दुख द्रवै सन्त सुपुनीता॥ (व्यतिरेक)

निम्न पद में एकत्र ही रूपक और अतिशयोक्ति की छटा देखिये—

जो छबि सुधा पयोनिधि होई परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु मन्दर सिंगारू, मथहि पानिपंकज निज मारू॥
एहि बिधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि संकोच समेत कबि कहहि सीय समतूल॥

छन्द—हम ऊपर कह चुके हैं कि तुलसी एक पारंगत विद्वान् थे। उनका भाषा, शैली, अलंकार तथा छन्दों पर अबाध अधिकार था। भाषा के सम्बन्ध में इन्होंने दृढ़तापूर्वक कह दिया था—"का भाषा का संस्कृत भाव चाहिए साँच। काम जु आवे कामरी का लै करै कमाच।" इनकी कामरी ही कमाच से अधिक मूल्यवान सिद्ध हुई। उन्होंने अपने समय की सभी प्रचलित शैलियों का जिस विदग्धता से उपयोग किया, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके है। साहित्य-क्षेत्र में उनकी समन्वयात्मकता के प्रसंग में हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि उनका अनेक छन्दों पर भी असामान्य अधिकार था।

अभिव्यंजना-शैली तथा उक्ति-वैचित्र्य—शैली की दृष्टि से इन्होंने प्रबन्ध तथा मुक्तक, दोनों प्रकार की पद्धतियों में काव्य-रचना की। तुलसी की प्रारम्भिक कृतियों में शैली में प्रौढ़ता नहीं। रामलला नहछू, वैराग्य संदीपनी, रामाज्ञा प्रश्न आदि रचनायें भाषा तथा भाव की दृष्टि से इतनी परिपक्व नहीं है जितनी कि इनकी बाद की रचनायें। बाद की रचनाओं में एक अनुपम प्रांजलता और विविधता है,

जिससे यह स्पष्ट है कि तुलसी महान् शैली-निर्माता और ज्ञाता हैं । डॉ० माताप्रसाद गुप्त इनकी शैली के सम्बन्ध में लिखते हैं—"तुलसी की शैली के मौलिक गुण हैं उसकी ऋजुता, उसकी सरलता, उसकी सुबोधता, उसकी निर्व्याजता, उसकी अलंकारप्रियता, उसकी चारुता, उसकी रमणीयता और उसका प्रवाह। ऐसा प्रतीत होता है कि शैली की ये विशेषतायें अपेक्षाकृत उसके जीवन का एक प्रतिरूप उपस्थित करती हैं। ये वास्तव में कवि के सुलझे हुए मस्तिष्क को, उसके सादे जीवन और और उच्च विचार के आदर्श को, उसकी स्वभावगत सरलता और आडम्बरविहीनता को, उसके ध्येय की एकाग्रता को, और इन सबसे अधिक अपने विषय में उसकी पूर्ण आत्मविस्मृत और उसके साथ पूर्ण तल्लीनता को किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा व्यक्त करती है। इस प्रकार तुलसी का व्यक्तित्व उनकी शैली में भली भाँति वर्तमान है।" इसके अतिरिक्त उनका उक्ति-वैचित्र्य भी दर्शनीय है । उनकी उक्तियाँ बड़ी ही मार्मिक और प्रभावशालिनी हैं। राम-वन-गमन के समय जब राम, सीता को साथ न ले जाने की युक्तियाँ बार-बार देते हैं तो उस समय राम को निरुत्तर कर देने वाली सीता की यह उक्ति देखिये—

"मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू, तुमहि उचित तप मो कहँ भोगू।"

राम को उस समय की उक्ति, जब वह देखना तो जनकपुरी को स्वयं चाहते हैं किन्तु लक्ष्मण के ब्याज से वशिष्ठ से कहते हैं—

नाथ लखनपुर देखन चहहीं, प्रभु संकोच उर प्रकट न कहहीं।"

इसमें पर्यायोक्ति की कितनी विलक्षण भव्यता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि तुलसी-काव्य में कलापक्ष और भावपक्ष अपने अत्यन्त प्रौढ़ रूप में हैं जो उन्हें एक अप्रतिम प्रतिभाशाली, क्रान्तदर्शी कवि सिद्ध करते हैं। उनकी रचना स्वान्तःसुखाय होते हुए भी सर्वातः सुखाय है। यद्यपि साध्य उनकी भक्ति थी, फिर भी उसमें कलागत सभी उपकरण प्रचुर परिमाण में हैं । भाव, भाषा-शैली, अलकार, रस, पदलालित्य, कथावस्तु, विन्यास ये सारी की सारी वस्तुएँ अपने इतने उच्च स्तर पर हैं कि इस विषय में शायद ही हिन्दी का कोई अन्य कवि इनकी प्रतिद्वन्द्विता कर सके। तुलसी की कला की कृतार्थता भक्ति के साथ व्यापक मानवता तथा लोक-संग्रह भावना के चित्रण में है। इसी मौलिकता के कारण उनका नाम विश्व के मूर्धन्य कलाकारों में निःसंकोच लिया जा सकता है । डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के शब्दों में—"तुलसी हिन्दी कविता-कानन का सबसे बड़ा वृक्ष है । उस वृक्ष की शाखा-प्रशाखाओं के काव्य-कौशल की चारुता और रमणीयता चारों ओर बिखरी पड़ी है।" यह सच है कि तुलसी-प्रणीत राम-रसमयी कविता—मंजरी पर बैठा पाठकों का मन-भ्रमर रस लेते आघाता ही नहीं। उसमें नित्य नवीन सौन्दर्य है। तुलसी कला के द्वारा उपकृत नहीं हुए प्रत्युत कला उनसे उपकृत हुई है—

"कविता करके तुलसी न लसे, पै कविता लसी पा तुलसी की कला।"

उनके काव्य में मर्त्य और स्वर्ग का एक अनूठा सोहाग है। गोस्वामी भारत-वर्ष के उऋण ऋणी हैं और वे अभिनव भारतीय संस्कृति के अभिनव भगीरथ हैं। अन्त में हम डॉ० हजारीप्रसाद के शब्दों में कह सकते हैं – "तुलसीदास के काव्य में उनका निरीह भक्त रूप बहुत स्पष्ट हुआ है, पर वे समाज-सुधारक, लोकनायक, कवि, पंडित और भविष्य-स्रष्टा भी थे। यह निर्णय करना कठिन है कि इनमें से उनका कौन-सा रूप अधिक आकर्षक था और अधिक प्रभावशाली था। इन सब गुणों ने तुलसी में एक अपूर्व समता ला दी। इसी संतुलित प्रतिभा ने उत्तर भारत को वह महान् साहित्य दिया जो दुनिया के इतिहास में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानता।"

तुलसी का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण

तुलसी की नारी के प्रति क्या धारणा थी, इस बहु विवादास्पद विषय में न पड़ते हुए यह स्वीकार करना उचित है कि नारी के विषय में एक युग कवि होने के नाते वे इतना ऊँचा नहीं उठ सके हैं जितना कि अपेक्षित था। उनका दोष बस इतना ही है इससे अधिक नहीं। नारी सम्बन्धी हीनोक्तियों की संस्कृत साहित्य की विशाल परम्परा उनके सामने थी और उन्होंने उसका उपयोग भी किया। चाहे राम हों या भरत, सती हों या अनुसूया, सीता हों या मन्दोदरी, समुद्र हो या रावण अथवा कवि स्वयं हो या कोई अन्य पात्र, रामायण में जिस किसी माध्यम से नारी के विषय में अभिव्यक्त किये गये कटु विचारों के पीछे मातृ-सत्ता-युग की समाप्ति के पश्चात् क्रमशः स्वार्थी पुरुष द्वारा नारी के अधःपतन तथा उनके दम-घोट्टू शोषण का इतिहास सन्निहित है। मध्ययुगीन नारी इस प्रकार आत्म-विश्वास से वंचित और हीनता-ग्रंथियों से युक्त हो गई थी कि वह स्वयं अपनी भर्त्सना के लिए संकोच नहीं करती। इससे उसका स्वरूप विस्मरण ही समझना चाहिए जिसका आभास आज भी स्वतन्त्र प्रजातन्त्रवादी भारत में लक्षाधिक मनोबलहीन नारियों में मिल जाता है। अस्तु !

समुद्र द्वारा कहलवाई गई तुलसीदासजी की चिरनिन्दित अर्धाली:—

ढोल गंवार शूद्र पशु नारी,
ये सब ताड़न के अधिकारी।

का आधार गर्ग संहिता का एक श्लोक है। इसमें तुलसीदास की निजी कोई भी धारणा नहीं है। हमारा विद्वद्वर्ग से यह विनम्र निवेदन है कि उक्त अर्धाली में ताड़न शब्द का वाच्यार्थ न लेकर इसे कामशास्त्रीय आलोक में ग्रहण करें। इसमें ही इसके वास्तविक अर्थ की संगति है। इस विषय में हम अपने विचार एक स्वतन्त्र लेख के रूप में प्रकट करेंगे।

सूर-सूर तुलसी-ससि—सूर और तुलसी दोनों मां-भारती के दो उज्ज्वल नेत्र हैं—एक दायाँ और एक बायाँ। दोनों ही श्रेष्ठ हैं, इनमें कोई बड़ा और कोई छोटा नहीं। रामचरित-गान करने वालों में तुलसी सर्वश्रेष्ठ हैं और कृष्ण-चरित गान

करने वालों में सूरदास। दोनों को अपने दृष्टिकोणों के अनुसार अपने-अपने क्षेत्रों में अपूर्व सफलता मिली है। दोनों के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं पर दोनों ने अपने-अपने क्षेत्रों में काव्य का ऐसा स्वरूप उपस्थित किया है जो अपनी दिशा में सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ है।

प्रतिभा-क्षेत्र — भागवत के कृष्ण ब्रह्म हैं, गीत-गोविन्द में वे नटवर हैं तथा गोपीवल्लभ हैं, महाभारत में वे नीतिविशारद हैं, शिशुपाल-वध के कृष्ण वीरनायक हैं, पर सूर के कृष्ण नन्दनन्दन, बालगोपाल, गोपीवल्लभ और राधावल्लभ हैं। सूर द्वारा गृहीत कृष्ण उनकी निजी उद्भावना का प्रतिफल है। सूर के कृष्ण मनमोहन और रसिक शिरोमणि हैं। भ्रमरगीत की कल्पना उनकी अपनी मौलिक देन है। बाद के कवियों ने इस परम्परा का अनुकरण तो किया पर वे इस दिशा में कृतकार्य नहीं हो सके। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में सूर अद्वितीय हैं। वात्सल्य का तो वे कोना-कोना झाँक आये हैं। सूर वात्सल्य और वात्सल्य सूर है।

तुलसीदास ने नाना पुराण-निगमागम, वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्म रामायण, रघुवंश तथा हनुमन्नाटक आदि का आधार लिया है पर फिर भी इन्होंने अपने कथानक के बीच अनेक नवीन प्रसंगों की उद्भावना की है। तुलसी के राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं जो नर होकर नारायण हैं। उनमें शील, शक्ति और सौन्दर्य का समन्वय है। एक ओर तुलसी में वाल्मीकि और कालिदास का कवित्व है तो दूसरी ओर अध्यात्म रामायण की आध्यात्मिकता और धार्मिकता। एक ओर इनका रामचरितमानस हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है तो दूसरी ओर वह एक महान् पवित्र धर्म-ग्रंथ। अपने-अपने क्षेत्रों तथा विषयों में सूर तथा तुलसी बहुत ऊँचे हैं।

दृष्टिकोण — सूर-काव्य की सृष्टि स्वान्तःसुखाय हुई है। सूर विशुद्ध रूप से लीलावादी कलाकार हैं। इनके कृष्ण लोकरंजक हैं। इनके काव्य का उद्देश्य है केवल आनन्द। सूर अध्यात्म पक्ष में इतने ऊँचे हैं कि लोकपक्ष को भूल गये। वे कृष्ण के माधुर्य और प्रेममय रूप में इतने तन्मय हो गये कि वे स्वयं गोपाल हैं, स्वयं गोपी हैं, स्वयं नन्द और स्वयं यशोदा हैं। वे पुष्टि सम्प्रदाय के जहाज हैं और शुद्धाद्वैतवाद के कर्णधार।

तुलसी भक्त, सुधारक, महात्मा, कवि, राजनीतिज्ञ और लोकनायक सब कुछ हैं। इनके काव्य का दृष्टिकोण अधिक उदार तथा व्यापक है। इनके काव्य में भक्ति के साथ-साथ लोकनीति, समाजनीति तथा राजनीति भी हैं। राम मर्यादापुरुषोत्तम तथा लोकरक्षक हैं। उनमें शील, शक्ति, सौन्दर्य का समन्वय है। तुलसीदास 'कीरति भनति भूति भलि सोई' के सिद्धान्त के अनुयायी हैं। तुलसी राम-काव्याकाश में इतने ऊँचे उठे कि इस दिशा में इन तक कोई भी न पहुंच सका। यह एक बड़ी आश्चर्य-जनक बात है कि तुलसी के पश्चात् राम-साहित्य का विकास प्रायः अवरुद्ध सा हो गया। कदाचित् इसका कारण परवर्ती राम कवियों का तुलसी की महत्ता को न पहुंच पाना था। अस्तु! दोनों की महत्ता अपने-अपने क्षेत्रों में अक्षुण्ण है।

भक्ति—सूर में सख्य भाव, माधुर्य भाव और दैन्य भाव की भक्ति दृष्टि-गोचर होती है पर प्रधानता सख्य भाव की है। कृष्ण केवल सुन्दर हैं, अतः इन्होंने उनके लोकरक्षक रूप को न के बराबर दिखाया है और वह भी लीला ही लीला में उनके द्वारा राक्षसों का नाश करवा दिया है। सूर अपनी वृत्ति में मस्त रहने वाले जीव हैं। समाज किधर जा रहा है इस बात की उन्हें परवाह नहीं है। इन्होंने कृष्ण-जीवन के कोमलतम अंशों को अपने वर्णन का विषय बनाया है।

तुलसीदास दास्य-भाव के भक्त हैं, अतः उन्हें मर्यादा और नैतिकता का पग-पग पर ध्यान है। इनके काव्य में लोकपक्ष अत्यन्त उभरा हुआ है। राम जैसा आदर्श-चरित्र अन्यत्र नहीं मिल सकता। राम लोकरक्षक हैं और उनमें शील-शक्ति-सौन्दर्य का समन्वय है। तुलसी की भक्ति में सर्वांगीण जीवन का चित्रण है, जिसे मानवता की की व्याख्या कहा जा सकता है।

रस—सूर में वात्सल्य शृंगार तथा शान्त रस का प्रमुख रूप से चित्रण है। प्रथम दो रसों में तो तुलसी ही क्या कोई भी कवि उन तक नहीं पहुंच सका। आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य-क्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की विभिन्न दशाओं का समावेश हो, पर जिस परिमित पुण्य भूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहां तक इनकी दृष्टि पहुंची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"गोस्वामी तुलसीदास ने गीतावली में बाल-लीला को इनकी देखादेखी बहुत अधिक विस्तार दिया तो सही, पर उसमें बालसुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रूप-वर्णन की ही प्रचुरता रही। बालचेष्टाओं के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कहीं नहीं।" इस क्षेत्र में तुलसी की असफलता का कारण है, उनकी दास्य-भक्ति और मर्यादावाद। वे भगवान् राम के त्रिभुवन-मोहक ऐश्वर्य पर दूर से ही विमुग्ध हो जाते हैं। सेव्य-सेवक भाव की भक्ति 'खेलन में को काको गुसैयाँ वाली अभिन्नता और नैकट्य में व्यवधान उपस्थित करती है। सच यह है कि इन दो क्षेत्रों में सूरदास ने भगवान् को भगवान् से मिलाया है।

तुलसीदास में मानव-जीवन की समूची दशाओं और उनकी सारी वृत्तियों—प्रेम, भक्ति, उत्साह, धैर्य, क्रोध, घृणा और शोक आदि—का चित्रण है। तुलसी के सर्वांगीण काव्य में सभी रसों का उचित समावेश है। वात्सल्य और शृंगार रस को छोड़कर तुलसी अन्य रसों के वर्णन में सूर से निश्चित रूप से आगे निकल गये हैं। तुलसीदास का रस-वर्णन संयत है। उसमें सूरदास के समान गलदश्रुपन नहीं है। उसमें भावना और चिन्तन में बराबर सन्तुलन बना रहता है।

अन्तः प्रकृति और बाह्य प्रकृति-चित्रण—मानव की अन्तःप्रकृति के चित्रण

में तुलसी निश्चय ही श्रेष्ठ हैं। बाह्य प्रकृति के चित्रण में भी तुलसी सूर से बढ़ जाते हैं। वैसे तो तुलसी का प्रकृति-चित्रण भी सूर के समान उद्दीपन रूप में हुआ है, पर उसमें कहीं-कहीं संश्लिष्ट योजना के द्वारा प्रकृति का जीता-जागता रूप भी उपस्थित कर दिया गया है। चित्रकूट के वर्णन में कवि की वृत्ति खूब रमी है। भले ही तुलसी काव्य में संस्कृत कवियों जैसा प्रकृति का बिम्बग्राही रूप है, किन्तु सूर की अपेक्षा इनका प्रकृति वर्णन काफी अच्छा है। मुद्राओं के वर्णन में भी तुलसी को पर्याप्त सफलता मिली है। मानव-प्रकृति-चित्रण में दोनों ने अत्यन्त मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ से काम लिया है। चरित्र-चित्रण में निश्चित रूप से तुलसी सूर से आगे हैं। डॉ० हजारीप्रसाद के शब्दों में—"चरित्र-चित्रण में तुलसीदास की तुलना संसार के गिने-चुने कवियों के साथ की जा सकती है। उनके सभी पात्र उसी प्रकार हाड़-माँस के जीव हैं, जिस प्रकार काव्य का पाठक, परन्तु फिर भी उनमें अलौकिकता है। सबसे अद्भुत बात यह है कि इन चरित्रों की अलौकिकता समझ में आने वाली चीज है। जीवन्त-पात्र सिर्फ श्वास-प्रश्वास ही नहीं लेते, सिर्फ हमारी भाँति नाना प्रकार की संवेदनाओं को ही नहीं अनुभव करते बल्कि वे आगे बढ़ते हैं, पीछे हटते हैं, अपनी उदात्तवाणी और स्फूर्तिप्रद क्रियाओं से हमारे अन्दर ऊपर उठने का उत्साह भरते हैं, हमें साथ ले लेते हैं, हम उनका संग पा जाने पर उल्लसित होते हैं, उमंगते हैं और सन्मार्ग पर चलने में जो विघ्न बाधायें आती हैं, उन्हें जीतने का प्रयास करते हैं। तुलसीदास के जीवन्त पात्र इस श्रेणी के हैं।"

शैली—सूर ने गीत-शैली में लिखा है और उनकी यह शैली अपने, पूर्ण परिपाक में दृष्टिगोचर होती है। उनकी यह शैली विद्यापति, तानसेन तथा ब्रज की लोक-प्रचलित गीति-पद्धति से प्रभावित है। सूर एक उत्तम गायक हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल लिखते हैं—"सूर का संगीत वर्णन" प्रेम-संगीतमय जीवन की गहरी चलती धारा है, जिसके अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई पड़ता। राधा कृष्ण के रंग रहस्य के इतने प्रकार के चित्र सामने आते हैं कि सूर का हृदय नाना उमंगों का अक्षय भंडार प्रतीत होता है।" सूर में उपर्युक्त गीति शैलियों के संकलन होने पर भी उनमें अपनी एक विशेषता है जो सूर को सूर बना देती है।

तुलसी मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार के काव्यों के लेखक हैं और उन्हें दोनों रूपों में आशातीत सफलता मिली है। इस सम्बन्ध में देशी-विदेशी दोनों विद्वानों ने इनकी मुक्तकंठ से सराहना की है। इन्होंने अपने समय में प्रचलित सभी शैलियों का सुन्दर प्रयोग किया है, जिनकी चर्चा हम पीछे कर चुके हैं।

भाषा—सूर ने लोक प्रचलित ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप दिया है जो कि काफी सुन्दर है, किन्तु उसे सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। उसमें वाक्यदोष और लिंग दोष सम्बन्धी त्रुटियाँ हैं। कई शब्दों की पादपूर्ति के लिये निरर्थक आवृत्ति

है। कहीं-कहीं पर क्रियाओं के पुराने रूपों का व्यवहार किया गया है।

तुलसी ने ब्रज और अवधी का समान सफलता के साथ प्रयोग किया है। सूर की अपेक्षा ब्रजभाषा पर तुलसी का अधिक अधिकार है। तुलसी की भाषा शुद्ध और परिमार्जित है, उसमें संस्कृत की कोमल कान्त पदावली की मधुर झंकार है। ये सभी बातें तुलसी के पांडित्य की परिचायक हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि तुलसी की ब्रजभाषा शुद्ध भले ही है पर सफलता उन्हें अवधी में मिली है।

छन्द — दोनों ने विषयानुसार मात्रिक छन्द, रोला, चौपाई, हरिगीतिका, कुंडलिया, छप्य, सोरठा आदि छन्दों का प्रयोग किया है। दोनों में अनेक राग-रागनियां हैं। इस क्षेत्र में तुलसी ने सूर की अपेक्षा अधिक छन्दों का प्रयोग किया है, पर इस का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि इस विषय में वे सूर की अपेक्षा बहुज्ञ है।

अलंकार—दोनों ने सादृशमूलक अलंकार का अधिक प्रयोग किया है। तुलसी उपमा और रूपक के प्रयोग में सिद्धहस्त हैं तो सूर उत्प्रेक्षा के प्रयोग में गुरु हैं।

वाग्वैदग्ध्य उक्ति का अनूठापन काव्य के उत्कर्ष में विशेष महत्त्व रखता है। उक्ति-वैचित्र्य दोनों में है जो कि अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। विद्वानों का कहना है कि सूर तुलसी को अपेक्षा इस क्षेत्र में अधिक सफल हुए हैं। सूर के काव्य में उपालंभ, कसावट, मीठी-तीखी चोट दर्शनीय हैं— "उर में माखन चोर गड़े", "ऊधौ मन नाहीं दस बीस", "वह मथुरा काजर की कोठरी जे आवहिं ते कारे", "लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटे", "जोग ठगोरी ब्रज न बिकैहै" आदि उक्तियाँ सीधे ही हृदय को पकड़ती हैं। तुलसी में भी यह उक्ति वैचित्र्य तो है पर उस मार्के का नहीं जैसा सूर में।

निष्कर्ष — दोनों कवियों का दृष्टिकोण और क्षेत्र भिन्न भिन्न हैं। अपने-अपने क्षेत्र में दोनों कवि पूर्णतया सफल रहे हैं। ऐसी दशा में एक को सूर्य और दूसरे को चन्द्रमा कहना उचित नहीं। प्रत्येक कवि को उस समय की परिस्थितियों के आलोक में परखना न्याय होगा। तुलसीदास के महान् सन्देश है। उन्होंने जन-जीवन को आलोकित किया है। जीवन के दोषों को दूर कर उसे गुणों की ओर अग्रसर किया है। उन्होंने राम के आदर्श से समाज को आदर्शमय बनाना चाहा, संस्कृति की रक्षा की और शुद्ध भक्ति का निरूपण किया। तुलसी-काव्य मानव-जीवन के प्रत्येक पक्ष को लेकर चला अतः वह सर्वांगीण है। तुलसी ने सूर्य के समान अपने प्रकाश से मानव-मन से मोह, भ्रम और ह्रास के अन्धकार को दूर किया। सूर ने अपनी रसवती प्रांजल ज्योति से तथा आमोद-प्रमोद और रस-रंग की धारा से मानव-जन की अनुरंजनकारी वृत्ति को रस-स्निग्ध किया। सूर की ज्योति में तेज की वह प्रखरता नहीं, उसमें तो चन्द्रमा का सौम्य तथा आह्लादकत्व है। अतः यह कहना होगा कि यमक के किसी लोभी ने 'सूर-सूर तुलसी ससि' कह दिया अन्यथा इसका रूप होना चाहिए था—"तुलसी रवि ससि सूर हैं" अथवा "सूर चन्द्र तुलसी रवि।" प्रश्न उठता है तब ऐसी उक्ति क्यों ? हाँ, इसका एक कारण अवश्य यह हो सकता

है कि काल-क्रमानुसार सूर पहले आते हैं और तुलसी बाद में। सूर्य पहले आता है चन्द्रमा बाद में। तुलसी ने सूर का यथेष्ट अनुकरण किया और बहुत कुछ लिया भी। चन्द्रमा अपने प्रकाश को सूर्य से लेता है। इस दृष्टि से सूर सूर हो सकते हैं और तुलसी ससि। किसी को भी चन्द्रमा और सूर्य कह लीजिये, इससे इन दोनों के महत्त्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। दोनों ही हिन्दी-साहित्य और हिन्दू समाज के गौरव तथा शृंगार हैं।

सगुण साहित्य में मधुर एव रसिक भक्ति

बहुत से विद्वानों का विश्वास है कि राम-भक्ति में मधुर उपासना की परम्परा का प्रवेश तुलसी से पूर्व हो चुका था, किन्तु तुलसी के प्रखर व्यक्तित्व के सामने वह उभर न सकी। इसका एक कारण मधुर उपासना की प्रकृतिगत सहज गोपनीयता है। अस्तु ! हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्य युग के आरम्भिक काल में उक्त उपासना पद्धति ने एक सुदृढ़ सम्प्रदाय का महत्त्व दिया गया। "संप्रदाय की विभिन्न शाखायें—जानकी संप्रदाय, रहस्य संप्रदाय, जानकी-वल्लभ संप्रदाय आदि नामों से प्रसिद्ध हैं, किन्तु सामूहिक रूप से इन सब को रसिक-संप्रदाय के नाम से अभिहित किया जाता है। इन सब में राम के रसिक या भोग विलासी रूप की कल्पना कर ली गई है। इस संप्रदाय के उपासक अपने आप को रसिक भक्त कहना अधिक पसन्द करते हैं।"

मधुर रस की कल्पना—'हनुमत संहिता' और 'महा-कौशल ग्रंथ' राम भक्ति के रसिक-संप्रदाय के दो आकार ग्रन्थ माने जाते हैं। हनुमत-संहिता के अनुसार मधुर रस में माधुर्य-मूर्ति कमनीय किशोर श्री रामचन्द्र विषयालंबन हैं, प्रेयसी गण आश्रयालंबन, सौशील्य माधुर्य, कामनीय किशोरत्व, भूषणालंकार, वसन्त, कोकिल-कूजन आदि उद्दीपन-विभाव हैं। कटाक्ष, स्मित, भ्रू विक्षेप, आदि अनुभाव हैं। रोमांच, वैवर्ण्य, प्रस्वेद आदि सात्त्विक भाव हैं। आलस्य निर्वेदादि संचारी भाव है। प्रियता-रति, स्थायी भाव है। उक्त संहिता में राम की मधुर उपासना को परम गोपनीय तथा शृंगार रसाश्रित कहा गया है। बड़े आश्चर्य की बात है कि जिस भक्ति को रामानन्द तथा कबीर ने जन साधारण की वस्तु बताया था, वह रसिक सम्प्रदाय में परम गोपनीय बन गई और उसका सम्बन्ध केवल रसिक भक्तों तक ही सीमित रह गया। भारतीय रस-साधना में जहां शृंगार रस को सर्व सम्बन्ध और संप्रेषनीय कहा गया है, वहां रसिकों की शृंगार-रसाश्रित मधुर-उपासना परम गुह्य हो गई। इस का कारण कदाचित् मधुर उपासना में भगवदाश्रित काम-केलियों की उन्मुक्त विवृति है।

रसिक सम्प्रदाय में शृंगार वर्णन

रसिक-संप्रदाय में रसिक भक्त, रसिक-राम और रसिया सीता की रस रंग पूर्ण प्रेम केलियों को सखी के रूप में बड़े मनोयोग से देखते हैं। राम भक्ति के रसिक संप्रदाय वालों ने संभोग शृंगार के अन्तर्गत वन-विहार, जल-विहार वसन्त विहार, हास-परिहास, सखियों का नृत्य, हिंडोला, राम क्रीड़ा काम की रह केलियों; नर्म-

सखाओं के कला-कौशल, अष्टयामी लीलाओं और नख-शिख आदि को चित्रित किया है। इनकी रचनाओं में अंकित राम रसिक-शिरोमणि हैं तथा सीता सुन्दरी सुरसिका। रसिकता में कृष्ण और राधा से बढ़ कर हैं। अतः राम भक्ति के रसिक संप्रदाय वालों ने प्रत्येक क्षेत्र में राम के विलासी एवं रसिक रूप की कल्पना कृष्ण से कई गुणा अधिक की।

महात्मा बाल-अली के राम रस के ख्याल से रमण करने के लिए केलि भवन जाते हैं और सखियां उन्हें देखकर निहाल हो जाती हैं। महात्मा बाल-अली की वास्तविक तृप्ति तो तभी होती है जब वे राम और सीता को युगनद्ध रूप में आबद्ध देखते हैं। रसिक संप्रदाय वालों के ऐसे शृंगार-वर्णन निश्चित रूप से अतीव स्थूल और कामोत्तेजक हैं। इन के राम और सीता के केलि भवन नागरोचित मनोविनोद के सभी उपकरणों से सुसज्जित हैं। इन रसिक भक्तों ने बेचारी सीता को अमरूक की-नायिका जैसा रूप दे डाला है। सखियें सीता से रति-रस के मधुर अनुभवों के बारे में पूछती हैं। वह थोड़ी सकुचाती है, किन्तु पास में पंजर-स्थित वाचाल शुक रति के दृश्यों को बताने की आतुरता प्रकट करता है। बेचारी सीता को तोते के मुख में भूषण-नग देकर उसे चुप कराना पड़ता है। महाराज कृपा-निवास ने राम के द्वारा रस-लोलुप चपल नायक के समान नीची स्रंसन आदि व्यापारों को संपन्न करवा दिया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि राम-भक्ति के रसिक संप्रदाय में भक्ति के आश्रय में रसिकता का चित्रण अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। कामुकता की इतनी उन्मुक्त विवृत्ति शायद कृष्ण-भक्ति के संप्रदायों में भी नहीं हुई जितनी कि राम भक्ति के रसिक संप्रदाय में हुई है।

राम-काव्य तथा कृष्ण-काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन

भक्ति काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन करते समय हम बता चुके हैं कि ईश्वर भक्ति, आत्म-समर्पण, ईश्वर के अनुग्रह पर विश्वास, नामरूप कीर्तन और गुरु-भक्ति की प्रवृत्तियां भक्ति काल के साहित्य की सभी धाराओं में समान रूप में मिलती है पर निर्गुण भक्तिधारा और सगुण भक्ति-धारा में अन्तर है। जैसे, निर्गुण धारा के अन्तर्गत सन्त काव्य तथा सूफी प्रेम काव्य में भेद है, इसी प्रकार सगुण काव्य में जहाँ साम्य है वहाँ दोनों काव्यों—राम-काव्य तथा कृष्ण-काव्यों—में अन्तर भी है। सगुण राम-काव्य के राम और कृष्ण-काव्य के कृष्ण दोनों विष्णु के अवतार हैं। दोनों के प्रति सगुण भक्ति का विधान है और दोनों के प्रति आत्म समर्पण तथा अनन्य निष्ठा प्रदर्शित की गई है परन्तु फिर भी दोनों काव्यों में सिद्धान्तगत तथा शैलीगत पर्याप्त अन्तर है और दोनों में दृष्टिकोण सम्बन्धी काफी भेद हैं।

सिद्धान्तगत भेद—राम-काव्य में दास्य भाव की भक्ति है जो कि वैधी भक्ति के अन्तर्गत आती है। इसमें मर्यादा पर अत्यधिक बल दिया गया है। राम-

काव्य में वर्णाश्रम धर्म, कर्मकांड और वेद-मर्यादा आदि पर पूर्ण आस्था प्रकट की गई है। रामानुज विशिष्टाद्वैतवाद के समर्थक एवं प्रवर्तक हैं जिसके अनुसार जीव ब्रह्म का अंश है अतः ब्रह्म के साथ-साथ जीव भी सत्य है। यही कारण है कि तुलसी सियाराममय जगत् को कर जोरि प्रनाम करते हैं। राम-काव्य में ब्रह्म को जीव मर्यादा का पालन करते हुए दिखाया गया है। राम नारायण होते हुए भी नर हैं और नर होते हुए नारायण हैं। राम-काव्य के अन्य पात्र विभीषण, अंगद, हनुमान्, लक्ष्मण, भरत और जानकी किसी न किसी रूप में राम के दास्य भाव के भक्त चित्रित किये गये हैं। सेव्य-सेवक भाव की भक्ति में, जो कि लोक संग्रह की दृष्टि से अत्यन्त हितकर है, मर्यादा का तिल भर भी अतिक्रमण वर्जित है। यही कारण है कि राम-काव्य प्रत्येक क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक संयत और संतुलित है। हाँ, आगे चलकर इस काव्य में भी कृष्ण काव्य की भाँति अतिरिक्त रसिकता का समावेश हो गया। रसिक सम्प्रदाय के काव्य में कदाचित् मर्यादा का अतिक्रमण भी देखा जा सकता है। इसके विपरीत कृष्ण-काव्य में सख्य और माधुर्य भाव की भक्ति प्रधान रूप से है, जो कि रागानुराग भक्ति के अन्तर्गत है। प्रेम-लक्षणा भक्ति में मर्यादा के लिए कोई स्थान नहीं है। पुष्टि मार्ग के शुद्धाद्वैत के अनुसार ब्रह्म और जीव में कोई मर्यादा नहीं, दोनों में अभेद है। कृष्ण-भक्त कवि कृष्ण के सखा हैं। सख्य में कोई बड़ा और कोई छोटा नहीं होता "खेलन में को काको गुसैयाँ।" इसी प्रकार माधुर्य भाव की भक्ति में भी ब्रह्म जीव की दूरी का नितान्त तिरोधान हो जाता है। ऐसी दशा में वेद मर्यादा तथा कर्मकांड आदि सब बाह्य उपकरण निष्फल हो जाते हैं। पुष्टि मार्ग के अनुसार जीवन का साफल्य कृष्ण-लीला में एकमात्र तादात्म्य है। शुद्ध भक्ति की दृष्टि से वैधी भक्ति को ईश्वर-सान्निध्य का यदि प्रथम सोपान स्वीकार किया जा सकता है तो रागानुगा भक्ति को उसका अन्तिम सोपान। राम-काव्य में जहाँ लोक-संग्रह एवं लोक-रक्षक की भावना की प्रधानता है वहाँ कृष्ण-काव्य में लोक रंजन की। शुद्ध कला की दृष्टि से कृष्ण-काव्य काफी कुछ खरा उतरा है। राम-काव्य में किसी प्रकार की कोई आध्यात्मिक-प्रतीकात्मकता नहीं जब कि कृष्ण-काव्य के सभी पात्र प्रतीकात्मक हैं।

जन-सम्पर्क—इस दृष्टि से राम-काव्य अधिक समृद्ध है। यह प्रायः स्वान्तः सुखाय होते हुए भी सर्व सुखाय है। निःसन्देह इस काव्य का मूल उद्देश्य भक्ति की अभिव्यक्ति है, पर वह ऐकान्तिक रूप में भक्ति नहीं है। उसमें व्यक्तिगत साधना के साथ-साथ लोक-धर्म की उज्ज्वल छटा भी वर्तमान है। राम-काव्य में तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का सजीव घात-प्रतिघात है। तुलसी साहित्य में इससे सम्बद्ध यत्र-तत्र संकेत हैं। तुलसी काव्य के पात्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अलौकिक होते हुए भी हम जैसे लगते हैं जो जीवन की प्रत्येक विकट परिस्थिति में हमें प्रेरणा तथा स्फूर्ति देते हैं। यही कारण है कि राम-चरित-मानस का प्रचार रंक की कुटिया से लेकर राजा के महल तक है। लोकप्रियता

में तुलसी-काव्य अपने आधार-ग्रन्थों बाल्मीकि-रामायण आदि से भी बढ़कर है। आचार्य शुक्ल तुलसी की वाणी के प्रसार और प्रभाव के सम्बन्ध में लिखते हैं—"उनकी वाणी की प्रेरणा से आज जनता अवसर के अनुकूल सौन्दर्य पर मुग्ध होती हैं, ममत्व पर श्रद्धा करती है, शील की ओर प्रवृत्त होती है, सन्मार्ग पर पैर रखती है, विपत्ति पर धैर्य धारण करती है, कठिन काम में उत्साहित होती है; दया से आर्द्र होती है, बुराई से घृणा करती है, शिष्टता का आलम्बन करती है और मानव-जीवन का महत्त्व अनुभव करती है।" विराट् जन-समूह का इतना विशाल पथ-प्रदर्शन शायद ही हिन्दी का अन्य कवि करता हो। इसके विपरीत कृष्ण-काव्य पर मानो युग की कोई छाप ही नहीं है। कृष्ण-भक्त मथुरा और आगरा में बैठे हुए भी दिल्ली में होने वाले घात-प्रतिघातों में अछूते रहे हैं। उनकी मथुरा सचमुच तीन लोक से न्यारी रही है। वे अपनी भक्ति और आध्यात्मिकता में इतने तन्मय थे कि इन्होंने समाज का तनिक भी ध्यान नहीं किया कि वह कहाँ और किधर जा रहा है। वे आध्यात्मिकता के आवेश में लीन होकर 'नीवी खोलत धीरे यदुराई" कहते रहे किन्तु समाज और साहित्य पर इसका क्या अनिष्ट प्रभाव पड़ेगा, यह बात इन्होंने नहीं सोची। मानो एक प्रकार से इन्होंने समाज की ओर से अपनी आँखें बन्द कर ली थीं। यह ठीक है कि भक्तिकाल की राम-भक्ति का परवर्ती साहित्य रसिकता की भावना से ओत-प्रोत हो गया, उसमें मर्यादा-पालन का विशेष ध्यान नहीं रखा गया, किन्तु फिर भी राम-काव्य में कृष्ण-काव्य की अपेक्षा जन-जीवन का संपर्क अधिक है, वह सर्वांगीण काव्य है और उसमें नाना रसों का सम्यक् सन्निवेश है।

भाषा—राम-काव्य में अवधी भाषा का प्रयोग हुआ है जो राम की जन्म-भूमि अवध से सम्बन्धित है। व्याकरण की दृष्टि से अपेक्षाकृत यह परिमार्जित और शुद्ध है। इसके अतिरिक्त तुलसी ने अपने काव्य में ब्रज भाषा का भी सफल प्रयोग किया है। उनका दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है। कृष्ण-काव्य में केवल ब्रज भाषा का व्यवहार हुआ है। नन्ददास भले जड़िया कवि हैं, पर अन्य कृष्ण काव्यकारों की भाषा ब्रज की लोक-प्रचलित भाषा का साहित्यिक रूप है। भाषा की शुद्धि और संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली जो तुलसी में है वह कृष्ण-काव्य में कदाचित् ही दृष्टिगोचर हो।

रचना-शैली—सिद्धान्तगत भिन्नता के कारण इन दोनों काव्यों के रूपों, प्रकारों एवं परिमाण में भी अन्तर रहा है। राम-काव्य में प्रबन्ध काव्यों का प्रणयन हुआ जबकि कृष्ण-काव्य मुक्तक शैली को लेकर चला। दोनों काव्यों में यह अन्तर स्वाभाविक भी है, क्योंकि राम का चरित्र विभिन्न राष्ट्रीय आदर्शों को आत्मसात् किये हुए है। वे आदर्श पुत्र, आदर्श राजा और आदर्श स्वामी हैं। उनका चरित्र जीवन की विभिन्न ऊँची-नीची भूमियों पर स्थित है, अतः वह महाकाव्य का विषय है। राम-भक्ति-साहित्य में महाकाव्य की परम्परा भक्तिकाल से लेकर आधुनिक काल तक बराबर चली आ रही है। इसके अतिरिक्त राम-साहित्य में मुक्तक शैली

का भी प्रयोग हुआ है। तुलसी ने अपने समय की सभी प्रचलित शैलियों का सुन्दर प्रयोग किया है। इस साहित्य में दृश्य काव्यों का भी प्रणयन हुआ। कृष्ण काव्य में मुक्तक शैली के अपनाये जाने का कारण यह है कि अधिकांशतः कृष्ण का चरित्र बालकृष्ण के रूप में चित्रित किया है और वह अतिमानव के रूप में। इन कवियों ने कृष्ण जीवन के कोमलतम अंशों का चित्रण किया है जो प्रबन्ध काव्यों के अनुरूप नहीं थे, अतः उनकी अभिव्यक्ति मुक्तक गीतों में हुई। राम में शील, शक्ति और सौन्दर्य का समाहार है जबकि कृष्ण सुन्दरम् के प्रतीक हैं। राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। तुलसीदास ने काव्य में मर्यादावाद का पूर्ण पालन किया है, परन्तु इस धर्म का निर्वाह प्रत्येक कवि के बस की बात नहीं। यही कारण है कि मात्रा और परिमाण की दृष्टि से राम काव्य कृष्ण काव्य की अपेक्षा न्यून रह गया, पर काव्य-रूपों और शैली की विविधता की दृष्टि से यह काव्य पर्याप्त समृद्ध है।

दृष्टिकोण—राम भक्तों और कृष्ण भक्तों ने अपने-अपने दार्शनिक दृष्टिकोणों के अनुसार अपने उपास्यों के प्रति भक्ति की नाना विधाओं को अपनाया। राम-काव्य में दास्य भाव की भक्ति है जबकि कृष्ण-काव्य में सख्य और माधुर्य भाव की। कृष्ण-साहित्य में मधुरा रति का महत्त्व सबसे अधिक माना गया है। राम—काव्य समन्वय के व्यापक दृष्टिकोण को लेकर चला है। भाव, भाषा, शैली, छन्द तथा इष्टदेव सब क्षेत्रों में इसमें समन्वय है। निःसन्देह तुलसी ने राम को अत्यधिक महत्त्व दिया है, किन्तु इन्होंने कृष्ण तथा अन्य देवी-देवताओं की स्तुति की है। सूर को छोड़कर कृष्ण-भक्ति के पुष्टिमार्गी कवि अपनी साम्प्रदायिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार राम-काव्य और कृष्ण-काव्य मूलतः सगुणवादी काव्य होते हुए भी बहुत-सी बातों में परस्पर भिन्न हैं। हाँ, दोनों काव्यों को देखकर यह अवश्य कहा जा सकता है कि सगुणवादी कवि केवल चिन्तनशील भक्त ही नहीं बल्कि कवि भी हैं। इनके काव्यों में आलंकारिकता, कला तथा कवित्व का सुन्दर सामंजस्य मिलता है।

तुलसी के बाद राम-साहित्य का विकास—प्रायः यह कह दिया जाता है कि "तुलसी के पश्चात् राम-साहित्य का विकास एकमात्र अवरुद्ध हो गया" किन्तु यह धारणा सर्वथा निर्मूल है। हाँ, यह दूसरी बात है कि तुलसी के बाद उसके द्वारा निर्मित पद्धति पर राम-भक्ति-साहित्य का विकास न हो सका। तुलसी के अनन्तर राम-साहित्य का एक नवीन दिशा में निश्चित रूप से विकास हुआ और वह नवीन दिशा है राम-भक्ति साहित्य में रसिक भावना का समावेश। यह भावना तुलसी के पूर्व भी विद्यमान थी और कदाचित् वे उससे थोड़े प्रभावित हुए थे। तुलसी के पश्चात् तो यह धारा अबाध गति से प्रवाहित हुई। वास्तव में इस पद्धति के साधक कवियों की संख्या इतनी अधिक है कि तुलसी अपने समकालीन भक्ति-क्षेत्र में प्रसृत शृंगारी भक्ति के एक अपवाद से प्रतीत होते हैं। यह दूसरी बात है कि इस सम्प्रदाय का इतना विशाल प्रतिभासम्पन्न कोई कवि नहीं जो तुलसी की समकक्षता

में आ सकता। दूसरी बात यह है कि रामोपासना की इस पद्धति का प्रचार भक्तों के एक सम्प्रदाय विशेष तक सीमित था, और इसके सिद्धान्तों की गोपनीयता इसके द्रुत विकास में बाधक सिद्ध हुई। गोस्वामी जी मर्यादावादी हैं। अतः उनका यह मर्यादावाद जीवन के समान काव्य-क्षेत्र में भी अक्षुण्ण रहा। तुलसी के राम मर्यादा के रक्षक लोक-विरोधी तत्त्वों के उन्मूलक और लोक-धर्म के प्रवर्तक हैं। तुलसी के राम में शील-शक्ति-सौन्दर्य का समन्वय है। तुलसी ने अपूर्व दक्षता के कारण राम के मर्यादावादी चरित्र में रागात्मकता का भी समावेश कर लिया, किन्तु बाद के राम भक्त कवियों के लिये मर्यादा के साथ रागात्मकता को निभा पाना दुष्कर था, अतः उन्होंने तुलसी की पद्धति का अनुसरण न करके अग्रअली की माधुर्य भाव की उपासना को अपनाया, अतः तुलसी की ऐश्वर्य-प्रधान पद्धति उपेक्षित रह गई।

तुलसी में एक अद्वितीय काव्य-कौशल की अद्भुत प्रतिभा थी। उन्होंने अपनी असामान्य दक्षता से राम के व्यापक चरित्र के विविध सूत्रों को सन्तुलित रूप में सम्भाले रखा। अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण तथा अपने सर्वग्रासी व्यक्तित्व के कारण धर्म, दर्शन, समाज, साहित्य, लोकनीति और राजनीति सभी क्षेत्रों में वे इतने ऊँचे उठे कि परवर्ती राम कवि वहाँ तक पहुंचने में असमर्थ थे। निसन्देह केशव ने रामचरितमानस की होड़ में रामचन्द्रिका का प्रणयन किया, किन्तु वह मानस के समान विविध भावों और विषयों-रूप मणिरत्नों से परिपूर्ण सरोवर न होकर विविध छन्दों और अलंकारों की मंजूषा मात्र रह गई। जयशंकरप्रसाद हिन्दी नाटक-क्षेत्र के सम्राट् थे, किन्तु उनके समकालीन नाटककार प्रसाद का अनुकरण न करके एक भिन्न दिशा में चले, क्योंकि उनके लिए प्रसाद के व्यक्तित्व की गम्भीरता और दार्शनिकता सहज अनुकरणीय नहीं थी। संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि और कालिदास में जो स्वाभाविकता, गम्भीरता और काव्य-सौष्ठव हैं वे परवर्ती संस्कृत में अनुकरणीय न हो सके। भक्ति काव्य में रामचरित्र की उज्ज्वलता के स्थान पर व्याकरण और छन्दों का कौशल आ गया। ठीक यही बात तुलसी के साथ समझनी चाहिए। इसके अतिरिक्त तुलसी में राम-भक्ति-काव्य का विकास इतने भव्य रूप और सर्वांगीण रूप में हुआ कि उस विषय पर लिखने की तनिक भी गुंजाइश नहीं रही। परिणामतः तुलसी से भिन्न दिशा में राम-भक्ति-साहित्य का विकास हुआ और इस दिशा में विपुल साहित्य की रचना हुई। परिमाण की दृष्टि से सम्पूर्ण राम-भक्ति-साहित्य का दो-तिहाई से अधिक भाग रसिक भक्तों के द्वारा रचा गया, क्योंकि इस दिशा में लिखने के लिए पर्याप्त अवकाश था। राम-भक्ति का रसिक साहित्य निश्चित रूप से तुलसी-साहित्य के समान जन-मानस को आकृष्ट नहीं कर सका। कारण, तुलसी-साहित्य के सौष्ठव और व्यापकता में जनता की मनोवृत्ति इस रूप से रमी कि उसने इस दिशा में रचे गये साहित्य की परवाह न की। जिस प्रकार सूर के वात्सल्य-वर्णन के पश्चात् उस क्षेत्र में अन्य कवियों के लिए जूठन रह गयी

और जिस प्रकार महाभारत में सब विषयों के सांगोपांग-वर्णन के अनन्तर अन्य कवियों के लिए केवल मात्र उन विषयों की आवृत्ति रह गई, इस प्रकार तुलसी द्वारा मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र के सर्वांगीण वर्णन के पश्चात् परवर्ती राम-कवियों के लिए कुछ भी नहीं रह गया था और यदि कुछ रहा था तो वह था कृष्ण के समान राम का छैल-छबीला रूप। आगे चलकर राम के इसी रूप पर प्रभूत साहित्य का निर्माण हुआ।

राम के उपर्युक्त रूप के लिए तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियाँ भी कोई कम उत्तरदायी नहीं है। तुलसी सम्राट् अकबर के समकालीन थे। अकबर के समय तक देश में शान्ति और व्यवस्था बनी रही। अकबर के पश्चात् जहाँगीर तथा शाहजहाँ के शासन-काल में राजनीति एवं समाज विकासोन्मुख हो गये। स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति में तुलसी-काव्य का लोक-रक्षक और मर्यादावादी रूप जनता की चित्तवृत्ति को संतुष्ट नहीं कर सकता था। उस समय की जनता की चित्तवृत्ति भगवान् के मधुर रूप के लिए लालायित थी। इस माँग की पूर्ति तुलसी की वैधी भक्ति में न होकर कृष्ण-भक्त कवियों की प्रेम-लक्षणा भक्ति में निहित थी, जहाँ कृष्ण का रूप एकमात्र प्रेममय है, और जहाँ किसी मर्यादा-विशेष के पालन की आवश्यकता नहीं थी। कृष्ण-काव्य जनता की चित्तवृत्ति के अनुकूल पड़ा, क्योंकि उसमें जन-मन-रंजन की पर्याप्त क्षमता थी। निःसन्देह कृष्ण-भक्ति काव्य में अत्यन्त सूक्ष्म आध्यात्मिकता एवं प्रतीकात्मकता भी थी किन्तु साधारण जनता का उससे कोई सरोकार नहीं था, उसके रीझने के लिए तो कृष्ण का साँवला सलोना रूप ही काफी था। यही कारण है कि राम-काव्य की अपेक्षा कृष्ण काव्य अधिक लोकप्रिय हुआ। इसके फलस्वरूप तुलसी के परवर्ती राम-साहित्य में रसिकता का खुलकर समावेश हुआ तथा इस साहित्य का राजाओं तथा जनता में अभीष्ट प्रसार एवं प्रचार हुआ। राम भक्ति साहित्य में रसिकता की भावना के समावेश का आंशिक कारण राजदरबारों में लगने वाले फारसी और उर्दू कवियों के दंगल भी हैं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि ब्रजभाषा के साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने पर अवधी साहित्यासन से अपदस्थ हो गई और इसीलिए राम-काव्य का प्रवाह क्षीण हो गया, क्योंकि राम-काव्य के लिए अवधी अत्यंत उपयुक्त भाषा थी। हमारे विचारानुसार प्रथम तो राम-भक्ति-साहित्य का विकास क्षीण हुआ ही नहीं और फिर अवधी भाषा ही रामचरित के लिए उपयुक्त है, यह कोई जरूरी नहीं। कंबन ने दक्षिण भारत की भाषा में रामायण लिखी। संस्कृत कवियों ने संस्कृत को रामचरित की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और वे अत्यंत सफल रहे। सफलता के लिए कलाकार की निपुणता आवश्यक है, कोई भाषा-विशेष नहीं।

कृष्ण-भक्ति साहित्य

कृष्ण-काव्य की आधारशिला—भारतीय धर्म-साधना, संस्कृति, साहित्य तथा

कलायें कृष्ण के विलक्षण व्यक्तित्व से जिस रूप में प्रभावित हैं उतनी वे किसी अन्य चरित से नहीं। यह प्रभाव ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी में जितना गहरा और लोक-व्यापी हुआ उतना शायद ही पहले कभी हुआ हो। कृष्ण-आख्यान की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है जो कि भारतीय साहित्य में विविध रूपों में उपलब्ध होती है। वैदिक और संस्कृत साहित्य में कृष्ण के तीन रूप मिलते हैं—(१) ऋषि एवं धर्मोपदेशक, (२) नीति विशारद क्षत्रिय राजा, (३) बाल और किशोर रूप में विभिन्न प्रकार की अलौकिक तथा लौकिक लीलाकारी अवतारी पुरुष। प्रथम रूप का विकास गीता में, दूसरे का महाभारत में तथा तीसरे का पुराणों में हुआ।

कृष्ण (आंगिरस) का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है, जिसके अनुसार वे एक स्त्रोता ऋषि सिद्ध होते हैं। वहाँ वे अपने पौत्र विष्णापु के पुनर्जीवन के लिए अश्विनीकुमारों की प्रार्थना करते हैं। ऋग्वेद में कृष्ण नाम के एक असुर का भी उल्लेख हुआ है जो कि अपने सहस्र योद्धाओं के साथ इन्द्र द्वारा पराजित किया गया था। आंगिरस कृष्ण और कृष्णासुर एक ही हैं, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि "प्रसिद्ध कृष्णाख्यान में कृष्ण के सम्मुख प्रसिद्ध वैदिक देवता इन्द्र को जो हीन और निर्वीय चित्रित किया गया है, उसे वैदिक कृष्णासुर के संदर्भ की प्रतिक्रिया समझा जाय तो असंगत न होगा।" किन्तु हमारे विचारानुसार यह कल्पना निराधार है। वास्तविकता यह है कि वैदिक काल में विष्णु एक अप्रधान देवता के रूप में था और बाद के पौराणिक साहित्य में विष्णु को सर्वप्रमुख देव मान लिया गया। कृष्ण के विष्णु के अवतार होने के कारण उसके सम्मुख इन्द्र को हीन निश्चित रूप से चित्रित किया जा सकता है। अस्तु! छान्दोग्य उपनिषद में कृष्ण का उल्लेख देवकी के पुत्र, घोर आंगिरस के शिष्य एवं एक वैदिक ऋषि के रूप में प्राप्त होता है। महाभारत के प्रारम्भिक भागों में कृष्ण पांडवों के सखा एक प्रभावशाली राजनीतिज्ञ के रूप में चित्रित किये गये हैं तथा अन्तिम अंशों में विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित हुए हैं। सभा पर्व में शिशुपाल के कुछ शब्दों के अतिरिक्त महाभारत में कृष्ण के गोप जीवन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। परवर्ती पुराणों—हरिवंश, ब्रह्म, विष्णु, भागवत और ब्रह्म-वैवर्त आदि में उनकी बाल्यावस्था सम्बन्धी आख्यानों और गोप-जीवन-सम्बन्धी क्रीड़ाओं में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। कृष्ण की रासलीला एवं गोपियों के प्रेम का विस्तृत रूप में चित्रण लगभग नवीं शताब्दी में रचित भागवत पुराण में हुआ है। इसमें कृष्ण की एक विशेष आराधिका गोपबाला का भी उल्लेख हुआ है जो कि ब्रह्म-वैवर्त पुराण में गोपियों में सर्वाधिक प्रभावशालिनी राधा के रूप में चित्रित हुई है। वस्तुतः कृष्ण के उपर्युक्त तीनों रूप भागवत धर्म की तीन भिन्न अवस्थाओं के परिचायक हैं। आरम्भ में भागवत धर्म में सरल और भावपूर्ण उपासना की प्रधानता थी जिसका प्रतिपादन छान्दोग्य उपनिषद् और गीता के कृष्ण द्वारा हुआ है। महाभारत युग में भागवत धर्म, भावना-प्रधान होते हुए भी कर्म का विरोधी

नहीं, अतः उसमें कृष्ण की कर्मशीलता का चित्रण हुआ है। सम्भवतः महाभारत में चित्रित व्यक्तित्व कृष्ण का मूल ऐतिहासिक रूप है, जो परवर्ती साहित्य में धीरे-धीरे परिवर्तित, विकसित एवं विकृत होता गया। पौराणिक युग में भागवत धर्म बौद्ध, जैन, शैव, महायान, वज्रयान एवं तांत्रिकों की प्रतिद्वन्द्विता के कारण कामुकता और विलास से पूर्ण होता गया जिससे वह जनसाधारण के आकर्षण का केन्द्र बन सके। डॉ० भंडारकर गोपाल कृष्ण को वासुदेव कृष्ण से भिन्न मानते हैं, किन्तु उनका यह मत भ्रामक सिद्ध हो चुका है। डॉ० ए० डी० पुसाल्कर ने लिखा है कि कृष्ण ने गोकुल में गोपियों के साथ सामूहिक नृत्य गानादि में भाग लिया था जो उनके कला-प्रेम का द्योतक है। आगे चलकर इसी को प्रणय-क्रीड़ा का रूप दे दिया गया। अतः मूलतः गोकुल के कृष्ण के चरित्र में कोई ऐसा दोष नहीं मिलता जिससे उनकी सत्ता महाभारत के कृष्ण या गीता के कृष्ण से भिन्न मानी जाये।

ग्रियर्सन, केनेडी और वेबर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने अनुमान लगाया था कि गोपाल कृष्ण का बाल चरित्र जिसे वैष्णव भक्तों ने प्रेमाभक्ति के अवलम्बन रूप में अपनाया क्राइस्ट के बाल चरित का अनुकरण है। किन्तु यह मत सर्वथा भ्रामक है—पूतना को वर्जिल तथा प्रसाद को लवफीस्ट मानने का विचार सर्वथा अमान्य है।

सम्भावना यह है कि गोपाल कृष्ण मूलतः शूरसेन प्रदेश के सात्वत वृष्णि-वंशी पशु-पालक क्षत्रियों के कुल-देव थे और उनके क्रीड़ा-कौतुक की मनोरंजक कथायें खूब लोक-प्रचलित थीं। कुछ जातियों में आज तक बाल और किशोर कान्ह की ललित लीलायें जातीय उत्सवों का विषय बनी हुई हैं। मध्यकालीन भाषा-कवियों ने भी कृष्ण की मधुर और ललित कथाओं को जो कि लोक-गीतों और लोक-कथाओं के माध्यम से प्रचलित थीं, अपने साहित्य का विषय बनाया। उनका ध्यान महाभारत तथा पुराणों में वर्णित कृष्ण के ऐश्वर्य एवं पराक्रमपूर्ण चरित्र पर नहीं गया। अस्तु! हरिवंश तथा अन्य पुराणों में कृष्ण के शृंगारी रूप के दो पक्ष मिलते हैं—एक उसका राजसी वैभव-विलास का ऐश्वर्यपूर्ण चरित्र तथा दूसरा उनका गोपाल रूप में ग्रामीण केलिक्रीड़ा का माधुर्यपूर्ण चरित। हरिवंश और विष्णुपुराण में गोपाल कृष्ण की लीला भागवत, पद्म और वैवर्त की अपेक्षा बहुत संक्षिप्त रूप में दी गई है। पुराणों में सबसे पहले भागवत में ही गोपाल कृष्ण का जन्म से लेकर द्वारिका-प्रवास तक का सम्पूर्ण चरित्र विस्तृत रूप से दिया गया है। इसमें कृष्ण के ऐश्वर्य और मधुर रूपों का एक अद्भुत सम्मिश्रण है। मध्यकालीन भाषा कवियों पर भागवत का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। ऐसा जान पड़ता है कि भागवत-कार ने भी गोपाल कृष्ण की लोक-विश्रुत कथाओं और अप्रचलित लोक वार्ताओं का सदुपयोग करके अपनी उर्वरा कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है। गोपाल कृष्ण की ललित कथा के लोक-प्रचलित होने के प्रमाण कुछ पाषाण मूर्तियों तथा शिला-पट्टों पर उत्कीर्ण चित्रों में भी मिले हैं। इनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर छठी,

सातवीं शताब्दी तक है। अस्तु ! कृष्ण-जीवन के इन तीनों रूपों—ऋषि, राजनीतिज्ञ नरेश और बाल गोपाल—का अध्ययन अत्यन्त रोचक तथा कौतूहलजनक है। भारतीय साहित्य और संगीत, धर्म और अध्यात्म, संस्कृति और सभ्यता कृष्ण के चरित्र से अद्वितीय रूप में प्रभावित हुई हैं।

कृष्ण-भक्ति काव्य की परम्परा और विकास—महाभारत में अनेक ऐसे स्थल देखे जा सकते हैं जहाँ कृष्ण के पूजे जाने के उल्लेख हैं। महाभारत के कृष्ण केवल नीति विशारद न होकर धर्मात्मा भी हैं। अर्जुन और युधिष्ठिर उन्हें पूज्य बुद्धि से देखते हैं। वेद व्यास जैसे ऋषि ने कृष्ण को अपने से अधिक धर्म-धुरंधर स्वीकार किया है। महाभारत के पश्चात् शताब्दियों तक कृष्ण-पूजा का प्रचार अधिक नहीं हो सका किन्तु जातियों और प्रदेशों में कृष्ण-पूजा का प्रचलन अवश्य रहा। चौथी शताब्दी ईसा के पूर्व में मथुरा के आस-पास कृष्ण-पूजा के प्रचलन का उल्लेख मेगस्थनीज के यात्रा-विवरण में मिलता है। आगे चलकर जैनों और बौद्धों की प्रतियोगिता में भागवत धर्म के प्रचारकों ने विष्णु के अवतार राम-कृष्ण की उपासना एवं भक्ति का प्रचार किया। फिर भी मौर्य-युग तक बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के कारण कृष्ण-भक्ति का अधिक प्रचार नहीं हो सका। चौथी-पाँचवीं शताब्दी में गुप्त सम्राटों ने भागवत धर्म स्वीकार करके उसकी खूब उन्नति की। सातवीं-आठवीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में कृष्ण-भक्ति का प्रचार जोरों से हुआ। यहाँ के प्रसिद्ध आलवार भक्तों में से अनेक कृष्ण के भक्त थे। कृष्ण-भक्ति को अत्यन्त आकर्षक रूप प्रदान करने वाले भागवत पुराण की भी दक्षिण में ही रचना हुई।

संस्कृत काव्यों में कृष्ण-भक्ति का स्वरूप बहुत प्राचीन काल से विकसित हो गया था। अश्वघोष (प्रथम शताब्दी) के बुद्ध चरित में गोपाल कृष्ण की लीला का उल्लेख मिलता है। हाल सातवाहन (प्रथम शती) ने लोक-प्रचलित प्राकृत गाथाओं का संग्रह करवाया। उनमें कृष्ण, राधा, गोपी और यशोदा आदि का उल्लेख हुआ है। इन गाथाओं में कृष्ण की अनेक लीलाओं का उल्लेख है। यद्यपि इन गाथाओं में भक्ति-भावना के दर्शन नहीं मिलते फिर भी इन गाथाओं का कृष्ण-भक्ति में काफी उपयोग हुआ। आलवार सन्तों में कृष्ण-भक्ति के विकास के सम्बन्ध में हम पहले ही लिख चुके हैं। भट्टनारायण (८वीं शती) ने अपने वेणीसंहार नाटक में नांदी के श्लोक में रास के अन्तर्गत राधा के केलि-कुपित होने पर कृष्ण के अनुनय का उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन (९वीं शती) के ध्वन्यालोक तथा दसवीं शताब्दी के कवीन्द्र-वचन-समुच्चय में कृष्ण-लीला-सम्बन्धी पद उपलब्ध होते हैं। बारहवीं शताब्दी में हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में राधा-कृष्ण-सम्बन्धी दो पद उद्धत किये हैं। इस बात के अनेक प्रमाण मिल चुके हैं कि बारहवीं शती में राधा-कृष्ण-सम्बन्धी अनेक नाटकों और काव्यों का प्रणयन हुआ। लीलाशुक का कृष्णमत स्तोत्र इसी शताब्दी की रचना है। जयदेव का गीत-गोविन्द राधा-माधव के उद्दाम शृंगार का वर्णन करते हुए भी एक धार्मिक काव्य है। विद्यापति गीत-गोविन्दकार

से अत्यधिक प्रभावित दिखाई देते हैं। गीत-गोविन्द के अनुकरण पर संस्कृत साहित्य में अनेक कृष्ण काव्यों की रचना हुई। बारहवीं शताब्दी के बाद अनेक कृष्णचरित सम्बन्धी प्रबन्ध-काव्य लिखे गये। सोलहवीं शती में गौड़ीय वैष्णव मत के अनुयायी विद्वान् रूप-गोस्वामी ने नाटक चन्द्रिका में केशव-चरित तथा उज्ज्वल-नीलमणि में गोविन्द-विलास के नामोल्लेख-सहित उद्धरण प्रस्तुत किये। रूप गोस्वामी की उज्ज्वल-नीलमणि ने मध्यकालीन कृष्ण-काव्य को अत्यधिक प्रभावित किया। डॉ० व्रजेश्वर वर्मा इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"इस प्रकार आधुनिक भाषाओं में कृष्ण-भक्ति-साहित्य की रचना होने से पहले प्राकृत और संस्कृत साहित्य की एक लम्बी परम्परा थी। इस साहित्य का लोक-गीतों तथा लोक-गाथाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध था तथा वह अधिकतर गीति तथा मुक्तक रूप में था। जो रचनायें प्रबन्ध-काव्य और नाट्य के रूप में हुई; उनमें भी कदाचित् गीति-भावना प्रधाना ही रही होगी। सम्भवतः इसी कारण संस्कृत साहित्य में उन्हें अधिक गौरव का स्थान नहीं मिल सका। परन्तु आगे चलकर परिस्थितियाँ बदल गईं, जिसके फलस्वरूप काव्य की प्रेरणा, भावना, रूप और भाषा में आमूल परिवर्तन हो गया। इस परिवर्तन के क्रम में हिन्दी-कृष्ण-काव्य को जन्म मिला, जिसकी प्रकृति मूलतः धार्मिक है।"

आठवीं-नवीं शताब्दी में कुमारिल और शंकर के मायावाद के फलस्वरूप भक्ति-आन्दोलन तेजी से नहीं चल सका, परन्तु आगे चलकर रामानन्द (११ वीं शती), मध्व (११९९-१३०३), निम्बार्क (१२-१३वीं शती), वल्लभ (१४७९ से १५३०) चैतन्य (१६ वीं शती), हित हरिवंश (१७ वीं शती) आदि आचार्य हुए, जिन्होंने भक्ति विरोधी सिद्धान्तों का खंडन करके भक्ति का प्रचार किया तथा अपने-अपने सम्प्रदायों की स्थापना की। कृष्ण-भक्ति से सम्बन्धित सम्प्रदाय हैं—निम्बार्क, चैतन्य, वल्लभ और राधावल्लभ। हिन्दी के भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य पर वल्लभ सम्प्रदाय का बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा।

हिन्दी में कृष्ण-काव्य का आरम्भ बहुधा विद्वानों ने विद्यापति से माना है किन्तु इस सम्बन्ध में स्मरण रखना होगा कि विद्यापति-पदावली में राधा और कृष्ण के मादक शृंगारी चित्र हैं जिनमें भक्ति का अभाव है और वासना का रंग गहरा है। विद्यापति पदावली को विशुद्ध रूप से कृष्ण-भक्ति काव्य के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है। यह सिद्ध हो चुका है कि विद्यापति शैव भक्ति थे। कृष्ण काव्य में सरसता और प्राणों का संचार करने का श्रेय महाकवि सूरदास को है। सूर के द्वारा कृष्ण-काव्य की अत्यन्त लोकप्रियता मिली। सम्भव है कि इसी लोकप्रियता के परिणामस्वरूप तुलसी ने अपनी "कृष्ण गीतावली" में कृष्ण की सरस लीलाओं का चित्रण किया हो। पुष्टि मार्ग के अन्तर्गत अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण-भक्ति के प्रसार एवं प्रचार में अमूल्य योगदान दिया। सूरदास इन कवियों में सर्वप्रथम हैं। सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कवि हैं कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास। इनमें भी नन्ददास तथा कृष्णदास का साहित्यिक और ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व है।

अष्टछाप के इन कवियों के अतिरिक्त कृष्ण-भक्ति से सम्बद्ध अन्य सम्प्रदायों—राधावल्लभी सम्प्रदाय, गौड़ीय सम्प्रदाय तथा निम्बार्क सम्प्रदाय—के कवियों ने भी कृष्ण-भक्ति काव्य के विकास में सक्रिय सहयोग दिया। इस दिशा में राधावल्लभी सम्प्रदाय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गोस्वामी हितहरिवंश राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं और बहुत ही उच्चकोटि के कवि भी हैं। गदाधर भट्ट का सम्बन्ध गौड़ीय सम्प्रदाय से है। जहाँ ये संस्कृत के महान् पंडित थे वहाँ व्रज भाषा में कृष्ण-भक्ति अत्यन्त सरस कविता भी किया करते थे। स्वामी हरिदास निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे। ये गायन-विद्या में अत्यन्त निपुण थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि बैजूबावरा इनका शिष्य था। स्वामी हरिदास में कविता और संगीत कला का अद्भुत सम्मिश्रण है। श्री भट्ट भी निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इनके कृष्ण की रस-रूपोपासना सम्बन्धी पदों में मधुर रस की अत्यन्त उज्ज्वल छटा है।

इस दिशा में राजस्थान की प्रसिद्ध कवयित्री मीरावाई भी विशेष उल्लेखनीय है। इनकी भक्ति दांपत्य भाव की है और इन्होंने राधा का स्थान स्वयं ही ग्रहण कर लिया। इनका काव्य भक्ति के गांभीर्य, सरसता और तन्मयता की दृष्टि से अपूर्व बन पड़ा है। अकबर के समकालीन कवि सूरदास मनमोहन गौड़ीय सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इनके कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी पद अत्यन्त सरस हैं और वे सूर साहित्य में इस रूप से घुल मिल गये हैं कि उन्हें पृथक नहीं किया जा सकता है। हरिराम व्यास राधावल्लभी सम्प्रदाय में दीक्षित थे। ये कृष्ण की रासलीला के बड़े प्रेमी थे। इनके राधा-विषयक पद अत्यन्त हृदयहारी बन पड़े हैं। ध्रुवदास भी राधा-वल्लभी सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। इन्होंने प्रेमाभक्ति विषयक सुन्दर पदों की रचना की है। सुदामा-चरित के प्रसिद्ध लेखक कवि नरोत्तमदास अपनी प्रेममयी रचना के लिए अत्यन्त लब्ध प्रतिष्ठ हैं। अकबर दरबार के कवियों में गंग, रहीम, रसखान, बीरबल और टोडरमल प्रमुख हैं। कृष्ण-भक्ति स्त्री-कवियित्रियों में प्रवीणराय, कुंवरिवाई, साईं, रसिक बिहारी, रत्निकुंवरि तथा सुन्दरकुंवरि आदि ने कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी सुन्दर रचनाएं की हैं। रीतिकाल के कृष्णोपासक कवियों में नागरी-दास, अलवेली, अलि जी, चाचा हितवृन्दावन दास, भगवत रसिक, ललित किशोरी तथा सहचरीगण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। रामधारीसिंह दिनकर का कहना है कि भक्तिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों में जो स्थान सूरदास का है रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों में वही स्थान आनन्दघन का हैं। भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य तथा रीतिकालीन कृष्ण काव्य में प्रेरणा और उद्देश्य का मौलिक अन्तर है। आधुनिक काल में भारतेन्दु तथा द्विवेदी काल में कृष्ण-सम्बन्धी रचनाएँ लिखी गईं, किन्तु उनमें भक्ति की अपेक्षा देश प्रेम और सुधार की भावनाओं की अधिकता है। आधुनिक कृष्ण-काव्य में मौलिकता बहुत कम है। पिष्टपेषण प्रायः सबमें पाया जाता है। आधुनिक कृष्ण-काव्य में कृष्ण को मानव रूप में चित्रित किया गया है जो कि कदाचित् बुद्धिवादी युग का प्रभाव है। आधुनिक कवियों में भारतेन्दु, जगन्नाथदास रत्नाकर, सत्यनारायण

कविरत्न, वियोगी हरि, अयोध्यासिंह उपाध्याय तथा मैथिलीशरण गुप्त का नाम लिया जा सकता है।

उपर्युक्त अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष-रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय धर्म-साधना, संस्कृति, साहित्य और कलायें बहुत प्राचीन काल से आज तक कृष्ण के विलक्षण व्यक्तित्व से अद्वितीय रूप से प्रभावित हुई हैं। यह प्रभाव ईसा की पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में कृष्ण-भक्त भाषा कवियों में अत्यन्त ही गहरा और लोकव्यापी हो गया जो शायद ही कभी पहले इतना गहरा और व्यापक हुआ हो। हिन्दी के मध्यकालीन कृष्णभक्त कवियों के साहित्य में सरसता, माधुर्य, तल्लीनता और काव्य सुधा अनुपम हैं। वस्तुतः हिन्दी साहित्य को कृष्ण-भक्त कवियों पर गर्व है।

मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति के नाना सम्प्रदाय

श्रुति और स्मृति पर आधृत वैष्णव, भक्ति के नाना सम्प्रदायों से मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-साहित्य अत्यधिक प्रभावित हुआ है। अतः उपर्युक्त साहित्य के पोषक तत्वों की सम्यक् जानकारी के लिए उक्त सम्प्रदायों का अवबोध आवश्यक है। इन सम्प्रदायों में रामानुजाचार्य का भी सम्प्रदाय, विष्णु गोस्वामी का रुद्र सम्प्रदाय, निम्बार्काचार्य का निम्बार्क सम्प्रदाय, माध्व का द्वैतवादी माध्व सम्प्रदाय, रामानन्द जी का विशिष्टाद्वैतवादी रामानन्द सम्प्रदाय, वल्लभाचार्य का पुष्टि सम्प्रदाय, चैतन्य महाप्रभु का गौड़ीय अथवा चैतन्य सम्प्रदाय, हित हरिवंश का राधावल्लभी सम्प्रदाय तथा हरिदासी सम्प्रदाय महत्वपूर्ण हैं। इन सबका मूल उद्देश्य शंकर के मायावाद का खडन कर भक्ति की स्थापना करना है।

बिष्णु सम्प्रदाय—विष्णु सम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णु गोस्वामी की स्थिति कब और कहाँ थी अभी तक यह बात विवादास्पद है। इस विषय में बहुत सी किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कई विद्वानों का विचार है कि वल्लभाचार्य विष्णु गोस्वामी की उच्छिन्न गद्दी पर बैठे थे और उन्होंने अपने पुष्टी मार्गी सम्प्रदाय की दार्शनिक भित्ति विष्णु स्वामी के दर्शन के आधार पर खड़ी की। इस विषय में कतिपय विद्वानों का यह कहना है कि महाराष्ट्र के भागवत प्रचलित धर्म पर आधृत बारकरी सम्प्रदा विष्णु-स्वामी की दार्शनिक मान्यताओं का रूपान्तर मात्र है। प्रसिद्ध भक्त नामदेव और ज्ञानदेव का सम्बन्ध बारकरी सम्प्रदाय से जोड़ा जाता है इस संप्रदाय को रुद्र संप्रदाय की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। यह सम्प्रदाय शुद्धाद्वैतवादी है।

निम्बार्क सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक निम्बार्काचार्य निम्बादित्य, निम्ब भास्कर तथा नियमानन्दाचार्य आदि कई नामों से प्रसिद्ध हैं। निम्बार्क आदि नामों के पीछे एक अतीव मनोरंजक किंवदन्ती है। अस्तु ! यह सम्प्रदाय द्वैताद्वैतवादी है। निम्बार्क द्वारा लिखे हुए दो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं—'वेदान्त पारिजात सौरभ" तथा "दश श्लोकी"। ये दोनों इस सम्प्रदाय के मूल-भूत ग्रन्थ हैं और इन दोनों का आधार ब्रह्म सूत्र है।

माध्व सम्प्रदाय—निम्बार्क के समान इन्हें भी कई दूसरे नामों से अभिहित किया जाता है। मध्वाचार्य के अतिरिक्त इनके "रामानन्द तीर्थ" तथा "पूर्व प्रतिज्ञ" नाम भी मिलते हैं। इन्होंने शंकर के मायावाद और अद्वैतवाद का खंडन कर द्वैतवाद की स्थापना की। मध्वाचार्य रामानन्द के बाद में हुए हैं। इनके दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रेरणा स्रोत ग्रन्थ भागवत पुराण है। इनके अनुसार परम ब्रह्म कृष्ण-भक्ति से प्राप्य है। इस सम्प्रदाय में राधा को कोई मान्यता नहीं दी गई है।

रामानुज का श्री सम्प्रदाय श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है। इन्हें शेष का अवतार माना जाता है। इन्होंने शंकर के मायावाद तथा अद्वैतवाद का खंडन कर जीव की स्थिति में सत्य की स्थापना की। पदार्थत्रय की स्थिति में इनका पूर्ण विश्वास है। इनके अनुसार परम ब्रह्म (विष्णु) चित् (जीव) तथा अचित् (अचेतन दृश्य जगत्) ये तीनों अनश्वर हैं। चित् और अचित् परम स्वतन्त्र परम ब्रह्म पर निर्भर करते हैं। इनके तीन ग्रंथ वेदार्थ-संग्रह, श्री भाष्य तथा गीता भाष्य इनके श्री सम्प्रदाय की दार्शनिक मान्यताओं के ज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

रामानन्दी सम्प्रदाय—चौदहवीं शती के आरम्भ में श्री रामानन्द ने रामानुजाचार्य के श्री-सम्प्रदाय को लोक-व्यापी और सर्वप्रिय बनाने में भरसक चेष्टा की। इस सम्प्रदाय में भी विशिष्टाद्वैतवाद को मान्यता प्रदान की गई है। रामानुजाचार्य के विष्णु अथवा नारायण के स्थान पर राम और उनकी भक्ति की बलवती स्थापना की। रामानुजाचार्य ने उपासना-क्षेत्र में कर्म-कांड को भी महत्त्व दिया था किन्तु इन्होंने उसकी उपेक्षा कर एकमात्र भक्ति को भगवत्प्राप्ति का अन्यतम साधन माना। भक्ति-क्षेत्र में इन्हें जाति-पांति का भेद अस्वीकार्य है। राम और सीता की मर्यादापूर्ण भक्ति की स्थापना में रामानन्द अग्रणी हैं। यह इनकी भक्ति-विषयक उदाराशयता का परिणाम है कि जहाँ एक ओर सम्प्रदाय में स्वनामधन्य गोस्वामी तुलसीदास दीक्षित हुए वहाँ कवीर भी।

वल्लभ सम्प्रदाय—पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक वल्लभाचार्य महाप्रभु चैतन्य के समकालीन थे। इनका दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद का है जिसमें शंकर की माया के लिए कोई स्थान नहीं है। वल्लभ सम्प्रदाय की दार्शनिक मान्यताएँ विष्णु स्वामी तथा निम्बार्क के सिद्धान्तों पर निर्भर करती हैं। वल्लभ के अनुसार ब्रह्म सत्, चित्, और आनन्द के रूप में सर्वव्यापक है। वह ब्रह्म अपने गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव से प्रकट होता है। अग्नि से चिंगारियों के समान ब्रह्म से जीव और प्रकृति से आविर्भूत होते हैं। यह सब कुछ उसकी रचनात्मिक शक्ति का परिणाम है। इसमें माया के लिये कोई स्थान नहीं है। ब्रह्म-स्वरूप कृष्ण के अनुग्रह से ही उसकी अनुभूति होती है। वह अनुग्रह ही पोषक है जिसे पुष्टि के नाम से अभिहित किया जाता है। इसी कारण वल्लभ सम्प्रदाय पुष्टि मार्ग कहलाया। इस सम्प्रदाय साहित्य में वात्सल्य और सख्य भाव की भक्ति का प्राधान्य है।

चैतन्य सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु वल्लभ के समकालीन हैं। चैतन्य का जन्म बंग प्रान्त में हुआ। उस समय बंग प्रान्त में शाक्तों का अत्यधिक प्रभाव था। बंगाल में वैष्णव भक्ति के प्रचार का सारा श्रेय चैतन्य जी को है। चैतन्य जी की भक्ति-पद्धति परकीया भाव की है जिसका प्रेरणा-स्रोत भागवत पुराण है। कृष्ण के साथ राधा की उपासना को महत्त्व देना इस सम्प्रदाय की विशेषता है। चैतन्य महाप्रभु गलदश्रु भाव से चंडीदास जयदेव और विद्यापति के पदों का नृत्यपूर्ण गान करते हुए आत्मविभोर हो जाया करते थे। यद्यपि चैतन्य सम्प्रदाय की दार्शनिक भित्ति रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी के समय हुई फिर चैतन्य जी की निजी आस्था निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद पर अधिक थी। निःसन्देह चैतन्य सम्प्रदाय के दार्शनिक पक्ष का वल्लभ सम्प्रदाय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु विट्ठलनाथ के समय वल्लभ सम्प्रदाय में माधुर्य भाव की भक्ति, चैतन्य की कीर्तन-पद्धति नृत्य और वाद्यों का अनुकरण किया जाने लगा। रूप गोस्वामी विरचित उज्ज्वल नीलमणि के अनुकरण पर नन्ददास ने रस मंजरी जैसे नायक-नायिका-प्रख्यापक रसशास्त्रीय ग्रंथ की रचना की। सूरदास आदि पुष्टि मार्गी कवियों ने अपने भाव रस-शास्त्र में चर्चित प्रेम की नाना परिस्थितियों के अन्तर्गत व्यक्त किये। गौड़ देश में अत्यधिक प्रचलन के कारण चैतन्य सम्प्रदाय को गौड़ीया सम्प्रदाय भी कहा जाता है। इसे चित्याचित्य-भेद सम्प्रदाय भी कहा जाता है।

राधा वल्लभी सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री हित हरिवंश जी हैं। इसका प्रचलन पुष्टि मार्गी कवियों के समकाल में हुआ। स्वामी हित हरिवंश पहले माध्व और निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे किन्तु बाद में इन्होंने राधा कृष्ण की पूजा का प्रचार किया। इन्होंने कर्म और ज्ञान का खंडन कर भक्ति में एक मात्र प्रेम स्थापना की। यद्यपि इन्होंने युगल उपासना में परमानन्द की प्राप्ति मानी है। किन्तु कृष्ण की अपेक्षा राधा की पूजा और भक्ति को महत्त्वशाली बताया है। यह सम्प्रदाय एक साधन मात्र था। बाद में इसका दार्शनिक पक्ष तैयार हुआ। राधा कृष्ण की गुप्त केलियों को निहारना इस सम्प्रदाय में परम काम्य माना गया है।

श्री राधा चरण प्रधान हृदै अति सुहृद उपासी।
कुंज केलि दंपति तहाँ की करत खवासी॥

नाभादास ने इस साधना-पद्धति को दुरूह बताया है। श्री राधा-कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं में विधि-निषेध का ध्यान न रखकर आनन्द लेना और अपनी लौकिक वासनाओं का उन्नयन करना वस्तुतः एक कठिन योग है। यह सब कुछ था तो वासना के उन्नयन का प्रयत्न किन्तु इससे हुआ वृत्तियों का अवनमन ही। इस सम्प्रदाय वालों का विश्वास है कि जिन लोगों की मनोवृत्ति लौकिक रति में अत्याधिक लिप्त है और जिनका मन दास्य भाव में नहीं रमता है वे वासना-कृत्यों को राधा कृष्ण की शृंगार लीलाओं में देखें। अस्तु! इस प्रकार भक्ति का प्रभाव जन-सामान्य पर अच्छा नहीं पड़ा। इस सम्प्रदाय में संयोग-शृंगार की विविध लीलाओं

का चित्रण है। शृंगार के वियोग-पक्ष का अभाव है। उक्त सम्प्रदाय वालों ने राधा-कृष्ण की कुंज लीलाओं के भनन तथा निहारने को परम रस या माधुरी भाव कहा है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि इस सम्प्रदाय का आविर्भाव पुष्टि मार्ग के समकाल हुआ। अतः इस सम्प्रदाय के शृंगारी पदों का प्रभाव वल्लभ के उत्तर भाग में तथा विट्ठलनाथ के समय अष्टछापी कवियों पर निश्चित रूप से पड़ा और सूरदास तक भी उक्त प्रभाव से अछूते नहीं रहे।

हित जी के दो ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं—"राधा सुधानिधि" (संस्कृत), "हित चौरासी पद।"

हरिदासी अथवा सखी सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास थे जो कि प्रसिद्ध गायक तानसेन के गुरु थे। इनकी भक्ति का उद्देश्य राधा-कृष्ण युगल की उपासना थी। ये राधा-कृष्ण की विहार-लीलाओं का आनन्द सखी भाव के अवलोक में से लूटा करते थे। अतः यह सम्प्रदाय सखी या हरिदासी कहलाया। स्वामी हरिदास परम रसिक थे और गान-विद्या में गन्धर्व के समान थे। रसिकता, तन्मयता और मधुरता पूर्वक गाये हुए इनके सखी भाव के पदों का जन सामान्य पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। अकबर जैसे राजा तक इनके दर्शन को आया करते थे।

चैतन्य और राधा-वल्लभी सम्प्रदायों के समान सखी सम्प्रदाय में भी पहले साधन पक्ष की प्रधानता थी। इसका दर्शन-पक्ष बाद में तैयार हुआ। "ललित प्रकाश" में इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त और गुरु परम्परा का क्रमात्मक विकास दिया हुआ है।

इन मुख्य-मुख्य संप्रदायों के अध्ययन के उपरान्त यह विदित होता है कि इनमें श्री संप्रदाय के प्रवर्तक रामानुजाचार्य ने विष्णु या नारायण की भक्ति पर बल दिया। इसी परम्परा में श्री रामानन्द ने विष्णु या नारायण के दो अवतारों कृष्ण और राम में से राम की मर्यादापूर्वक भक्ति पर अत्यधिक बल दिया। निम्बार्क, मध्व और विष्णु गोस्वामी ने कृष्ण-भक्ति पर जोर दिया। इन तीनों के सम्प्रदाय के दर्शन का आधार ब्रह्म सूत्र थे। वल्लभ ने अपने पुष्टि मार्ग का दार्शनिक आधार निम्बार्क और माध्व के संप्रदायों की मान्यताओं पर खड़ा किया। इन्होंने कृष्ण-भक्ति में सख्य भाव और वात्सल्य पर अत्यधिक बल दिया। चैतन्य, हित हरिवंश तथा स्वामी हरिदास के संप्रदाय पहले साधन-पक्ष प्रधान थे। इनके दार्शनिक आधार बाद में तैयार हुए। चैतन्य ने कृष्ण-भक्ति में परकीया-भाव की मधुर भक्ति पर अत्यधिक बल दिया। हित जी के राधा-वल्लभी संप्रदाय में भक्ति तो स्वकीया भाव की थी, किन्तु इसमें कृष्ण की अपेक्षा राधा की भक्ति को प्रश्रय दिया गया और राधा कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के अवलोकन में परमानन्द रस की उपलब्धि बताई गई है। हरिदासी या सखी संप्रदाय में राधा कृष्ण की कुंज-केलियों को खवासी (षवासी) के स्थान पर सखी भाव से देखने पर जोर दिया गया है। चैतन्य राधा वल्लभी तथा हरिदासी

संप्रदायों का प्रधान प्रेरणा स्रोत भागवत पुराण है। इन संप्रदायों ने भगवान् के लोक-रक्षक तथा लोक-रंजक रूपों के प्रचार के साथ-साथ जनता की भाषा का धर्म-प्रचार तथा साहित्य-रचना के क्षेत्र में प्रशस्य प्रयोग किया है।

चैतन्य की प्रेमलक्षणा परकीया भाव की मधुरा भक्ति, हित हरिवंश का राधा-कृष्ण की काम केलियों को खवासी भाव से देखना तथा स्वामी हरिदास का चिन्तार्पण के लिये राधा-कृष्ण की रह-केलियों को सखी भाव से निहारना आदि सैद्धान्तिक दृष्टि से भले ही विधि सम्मत और समीचीन हों किन्तु व्यावहारिक जगत् में इन सबका दुष्परिणाम निकला। यह हुआ तो सब कुछ वासनाविमुख चित्तवृत्तियों के परिष्कृतीकरण के लिये था, किन्तु हुआ उनसे विकृतीकरण ही। इन सम्प्रदायों से काम का उन्नयन नहीं हुआ, बल्कि उसे प्रोत्साहन मिला।

कृष्ण भक्ति-काव्य की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि—भारतीय धर्म-साधना-क्षेत्र में शंकराचार्य के अद्वैतवाद के सिद्धान्त की प्रतिक्रिया स्वरूप में अनेक धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना हुई जिनका उद्देश्य शंकर के मायावाद का खंडन करके भक्ति का प्रचार करना था। सोलहवीं शताब्दी में स्थापित सम्प्रदायों में, विशेष रूप से जहाँ तक कृष्ण-भक्ति-साहित्य का संबंध, वल्लभ का पुष्टिमार्ग, चैतन्य का गौड़ीय, स्वामी हित हरिवंश का राधावल्लभी तथा स्वामी हरिदास का सखी या टट्टी सम्प्रदाय है। इन सम्प्रदायों में पुष्टिमार्ग को छोड़कर शेष सभी सम्प्रदाय साधना पक्षी थे और उनमें कोई विशेष दार्शनिक विवेचन नहीं था किन्तु बाद में इन सम्प्रदायों में भी दार्शनिक भित्ति को सुदृढ़ बनाने का प्रयास जारी रहा। कृष्ण-भक्ति-साहित्य पर विशेषत: वल्लभ के पुष्टिमार्ग तथा हित हरिवंश के राधावल्लभी सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा।

ब्रह्म—वल्लभ के अनुसार ब्रह्म के अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और जीव जगत् उसी के चित् और सत् के अंश हैं। ब्रह्म आनन्दमय है। प्रकृति, जीव तथा अनेक देवी-देवता उसी ब्रह्म के काल, कर्म और स्वभाव के अनुसार प्रकट होने वाले रूपान्तर हैं। श्री कृष्ण का नाम भी ब्रह्म है, वह नित्य है। वल्लभ का यह सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है। चैतन्य के अचिंत्य भेदाभेदवाद के अनुसार परम तत्त्व एक है और वह अनन्त शक्तियों का आगार है। उसकी शक्तियाँ अचिंत्य है; क्योंकि उसमें एक साथ ही पूर्ण एकत्व और पृथकत्व तथा अंशभाव और अंशी भाव विद्यमान रहते हैं। सभी संप्रदायों के अनुसार ब्रह्म सगुण है और पूर्ण रस-मय है जो साक्षात् कृष्ण हैं। सभी संप्रदाय वालों ने कृष्ण को भगवान मानकर उनमें मानवीय गुणों का आरोप किया है। श्रीकृष्ण का धाम गोलोक है जो नित्य और आनन्द स्वरूप है। गोप, गोपी, यमुना, वन, वृक्ष, लता, कुंज आदि कृष्ण से अभिन्न हैं। इनमें अंशांशीभाव है। सभी संप्रदायों ने कृष्ण और राधा को अपना इष्टदेव माना है। किन्तु संप्रदाय में बाल-गोपाल की उपासना-पद्धति चलाई थी किन्तु स्वामी विट्ठलनाथ के समय राधा की महत्ता बढ़ गई। राधावल्लभी तथा चैतन्यमत में

राधा को अधिक महत्ता प्रदान की गई। सभी संप्रदायों में प्रेमा भक्ति को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है।

कृष्ण-भक्ति का एकमात्र आधार प्रेम—प्रेम को सभी संप्रदाय वालों ने अत्यधिक महत्व दिया है। प्रेम के सामने कर्म कांड के विधि-निषेध केवल उपेक्षणीय ही नहीं बल्कि अतिक्रमणीय भी हैं। कृष्ण के प्रति प्रेम जब अदम्य आसक्ति के रूप में उत्पन्न हो जाय तब सांसारिक विषय-विलासादि के प्रति विरक्ति स्वतः पैदा हो जाती है। इस प्रकार इन वैष्णवों के प्रेम में प्रवृत्ति और निवृत्ति का एक अद्भुत अथच कलात्मक सामंजस्य हुआ है। कृष्ण के प्रति किया गया प्रेम रति है जो कि भक्तों के स्वभाव भेद पर निर्भर करता है। कृष्ण-भक्ति साहित्य में दैन्य भाव की भक्ति को महत्त्व नहीं दिया गया है। कृष्ण-भक्त अपने भगवान् से अधिकाधिक ममता और घनिष्ठता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, अतः वह दैन्य पूर्ण वचनों से सन्तुष्ट नहीं रहता। स्वभाव-भेदानुसार यह प्रेम कृष्ण-भक्तों में वात्सल्य, सख्य और माधुर्य इन तीन रूपों को धारण कर लेता है। प्रेम का चरम रूप माधुर्य-मयी भक्ति में है, क्योंकि इसमें भक्त और भगवान् में कोई व्यवधान रह ही नहीं जाता।

माधुर्य भाव का स्वरूप—कृष्ण की माधुर्य भाव की भक्ति का प्रतिपादन सभी सम्प्रदायों में हुआ। पर उसके स्वरूप में थोड़ा बहुत अन्तर विद्यमान है। निम्बार्क सम्प्रदाय में कृष्ण की राधा और गोपियों के साथ की गई लीलाओं का विशद चित्रण है, किन्तु उनका यह माधुर्य भाव स्वकीया-प्रेम तक सीमित है और इसमें संयोग को अधिक महत्त्व दिया गया है। चैतन्य सम्प्रदाय ने परकीया प्रेम में माधुर्य भाव की चरम परिणति मानी है। उनका कहना है कि जो तीव्रता परकीया प्रेम में है वह स्वकीया-प्रेम में नहीं। प्रेमानुभूति की अनुरंजकता, विविधता और नित्य नवीनता की दृष्टि से भी परकीया प्रेम अधिक अनुकूल पड़ता है। चैतन्य के इस परकीया-प्रेम का इतना व्यापक प्रसार हुआ कि आगे चलकर वल्लभ सम्प्रदाय वालों ने भी परकीया भाव को अपना लिया। राधावल्लभी सम्प्रदाय में परकीया भाव की अस्वीकृति है। उसके अनुसार निकुंज लीला का नित्य वृन्दावन-रस नित्य मिलन-रूप में मिलता है। राधावल्लभी सम्प्रदाय के अनुसार राधा और कृष्ण नित्य विहार लीला में लीन रहते हुए दूसरे के सुख के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। राधा वल्लभी सम्प्रदाय को छोड़कर अन्य सभी संप्रदायों ने विरह को भी अत्यन्त महत्त्व दिया है, क्योंकि विरह में प्रेम की तीव्रता और अतीन्द्रियता सहज सुलभ हैं। उसमें मानसिकता की प्रधानता है और मांसलता का अभाव है। कृष्ण-भक्तों के इस परकीया भाव में किसी प्रकार की अश्लीलता एवं अनैतिकता की कल्पना करना व्यर्थ ही होगा। वस्तुतः परकीया भाव आदर्श प्रेम का प्रतीक मात्र है। राधा-कृष्ण एवं गोपियां वास्तव में एक दूसरे से अभिन्न हैं। लौकिक दृष्टि से देखने पर उसमें स्वकीय भाव ही दृष्टिगोचर होगा। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के शब्दों में—"वस्तुतः

पति तो एकमात्र कृष्ण ही हैं, उनसे भिन्न जो भी है, चाहे वह लीला के हेतु स्वयं राधा या गोपियाँ हों, या माधुर्य भाव को अपनाने वाले उनके अंश रूप स्त्री-पुरुष भक्तगण वे सब उन्हीं प्रियतम कृष्ण की प्रेमिकायें हैं। स्पष्ट है कि प्रेम का यह स्वरूप सर्वथा अतिन्द्रिय तथा अलौकिक है। लौकिक अर्थ में वह जितना निकृष्ट और गर्हित है भक्ति के संदर्भ में उतना ही परिष्कृत और उदात्त है।"

प्रेमा-भक्ति में साधन-निरपेक्षता—कृष्ण-भक्त कवि का एकमात्र विश्वास है कि समस्त चेतना रागमय तथा कृष्णमय हो जाना सच्चा ज्ञान है और यह ज्ञान प्रेम लक्षणा भक्ति के द्वारा भक्तों के लिए सुलभ है, ज्ञानियों के लिए नहीं। ज्ञानियों के ज्ञान के लिए वैराग्य का होना अनिवार्य है, किन्तु पुष्टिमार्गी भक्त को यह सब कुछ प्रभु के अनुग्रह से सहज सुलभ है। कृष्ण-भक्तों के निकट प्रेम का पंथ ही बड़ा है, उसके सामने जप, तप, योग तुच्छ है। यही कारण है कि कृष्ण भक्ति में वेद मर्यादा, कर्मकांड के विधि-निषेधों तथा दूसरे बाह्याचारों की अवहेलना की है। यह दूसरी वात है कि कलान्तर में कृष्ण भक्ति में अनेक प्रकार का कर्मकांड विकसित हो गया।

सत्संग तथा गुरु-महिमा—मध्य युग के अन्य भक्ति-संप्रदायों की भाँति कृष्ण-भक्ति संबंधी संप्रदायों में सतसंगाचरण पर बहुत बल दिया गया है। कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत हरि विमुखों, असाधुओं और अभक्तों के परित्याग का उपदेश दिया गया है। कृष्ण-भक्ति संप्रदायों में गुरु महिमा का भी खुल कर वर्णन किया गया है। वल्लभ संप्रदाय में नन्ददास ने वल्लभ तथा विट्ठलनाथ को भगवानवत् मानकर स्तुति की है। राधावल्लभी संप्रदाय में हितहरिवंश को ही हरि रूप माना गया है। आगे चलकर इनके विग्रहों की पूजा होने लगी। गुरु की कृपा से ही भक्त साधना में प्रवेश पाता है तथा वह उसमें दृढ़ संकल्पशील रहता है।

निवृत्ति और प्रवृत्ति का समन्वय—मूल रूप में यह भक्ति संप्रदाय निवृत्ति-प्रधान होते हुए भी प्रवृत्ति का पोषक रहा है। कृष्ण भक्ति का उद्देश्य है सर्वात्मना अपने आपको कृष्णार्पण करना। मनोविकारों और इंद्रियों की सभी प्रवृत्तियों को कृष्णोन्मुख करने के लिए कृष्ण-लीलाओं का अधिकाधिक वर्णन किया गया है तथा मन्दिरों में राधा कृष्ण की मूर्तियों का साज-शृंगार किया गया है। मन, आंखों तथा कानों के आकर्षण के लिए मुरली की अवतारणा की गई है। अपने मन को विषय वासना से हटाने के लिए कृष्ण नाम का स्मरण, उनकी लीला और गुणों का गान किया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक प्रकार से नवधा भक्ति कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत आ जाती है। कृष्ण-भक्ति और उनके साहित्य का महत्त्व बतलाते हुए डॉ० व्रजेश्वर वर्मा लिखते हैं—'कृष्ण-भक्ति का यह रूप जिस साहित्य के माध्यम से उद्घाटित हुआ है उसमें हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य का अन्यतम स्थान है। कृष्ण-भक्ति की प्रकृति में ही जीवन के आध्यात्मिक और ऐहलौकिक पक्षों का जो अद्भुत सम्मिश्रण है, उसमें मध्य-कालीन हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य को जहाँ

धर्म संप्रदायों के अन्तर्गत अत्यन्त सम्मानित, उच्च, धार्मिक साहित्य होने का गौरव मिला वहां दूसरी ओर उसने सहज ही लोक की सामान्य भावनाओं का उन्मुक्त प्रकाशन करके जन-साधारण के हृदय में भी ममतापूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया। यही कारण है कि संप्रदायों के तत्वाधान में रचे जाने पर भी उसमें संकीर्णता और कट्टरता का प्राय: एकांत अभाव है।"

कृष्ण-भक्ति साहित्य और साम्प्रदायिकता—आलोचकों के एक वर्ग का कहना है कि कृष्ण-भक्ति-साहित्य रामभक्ति साहित्य की अपेक्षा अधिक सांप्रदायिक है। निःसंदेह कृष्ण-भक्ति साहित्य के मूल में धर्म भावना काम कम कर रही है परन्तु इस संदर्भ में एक बात का स्मरण रखना होगा कि मध्यकालीन कृष्ण भक्ति काव्य का उद्देश्य था रस, आनन्द और प्रेम की मूर्ति श्रीकृष्ण और राधा-कृष्ण की लीला गायन करना। सम्पूर्ण कृष्ण भक्ति साहित्य पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि सांप्रदायिकता का आग्रह सभी कवियों में नहीं है और कम से कम भाव प्रवण कवि से सिद्धान्तों की व्याख्या की आशा नहीं की जा सकती है। सैद्धांतिक विवेचन उनकी सामर्थ्य से बाहर था। न तो उसमें वैसी योग्यता और विद्वत्ता थी और न उसकी रुचि या प्रवृत्ति इस ओर थी। उसके पास सिद्धांत विवेचन के अनुकूल न तो भाषा थी और न ही शैली। सूरदास तुलसीदास के समान तीनों भ्रमों से दूर थे वे पुष्टिमार्गी होते हुए भी निम्बार्क, चैतन्य और हितहरिवंश से प्रभावित हैं। सूरदास पुष्टिमार्ग के जहाज कहे जाते हैं किन्तु उनके सूरसागर के आधार पर वल्लभ के शुद्धाद्वैतवाद या पुष्टिमार्गी दर्शन का सम्यक् ज्ञान असम्भव है। यह तो प्रसिद्ध है ही कि बार-बार कहने पर सूर ने गुरु की प्रशस्ति में रचना नहीं की थी। सूरदास किसी सैद्धान्तिक वाद विशेष के संबंध में चिन्तित नहीं हैं। उन्होंने पुष्टिमार्ग के अनुसार कृष्ण लीलाओं का वात्सल्य और सख्य रूप से चित्रण किया है किन्तु उनकी तन्मयता और आसक्ति अपेक्षाकृत माधुर्य भाव या कान्ता भाव में अधिक दृष्टिगोचर होती है। सूर द्वारा चित्रित इन लीलाओं में परकीया-भाव स्वकीया-भाव निकुंज-केलि, नित्य विहार, सखीभाव, युगल उपासनादि कृष्ण भक्ति के वे सभी पक्ष मिल जाते हैं जिनका उल्लेख पृथक्-पृथक् रूप से निम्बार्क, चैतन्य, हितहरिवंश या हरिदास में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त सूरदास ने कृष्ण-लीला-गान के साथ सूरसागर में रामचरित-गान भी बड़ी तन्मयता से किया है। हां, भागवत के आधार पर जहाँ सूरदास ने भक्ति का सैद्धान्तिक निरूपण अपने सागर में करना चाहा है वहाँ वे असफल रहे हैं। इनके भक्ति-निरूपक स्थल भाषा और शैली की दृष्टि से शिथिल हैं तथा विचार की दृष्टि से अस्पष्ट एवं अपर्याप्त हैं। सामूहिक रूप से कहा जा सकता है कि सूरदास सांप्रदायिक संकीर्णता की परिधि से बाहर हैं। वस्तुत: कोई भी सच्चा कवि सांप्रदायिक सिद्धांत विवेचन की उलझन में उलझना नहीं चाहता। यही कारण है कि सूरसागर में घुल मिल गये हित हरिवंश, हरिराम व्यास तथा सूरदास मनमोहन के पदों को पृथक् कर पाना यदि असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है।

सूरदास को छोड़कर अष्टछाप के अन्य कवियों में सांप्रदायिकता के प्रति आग्रह अपेक्षाकृत अधिक है। इस दिशा में नन्ददास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनमें पुष्टिमार्गीय सिद्धांत-सम्मत कथन तो यत्र-तत्र मिलते ही हैं साथ-साथ उन्होंने वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ, उनके पुत्रों का नामोल्लेख करके उनकी प्रशस्तियाँ और वधाइयां भी गाई हैं। उनके भंवरगीत के गोपी-उद्धव संवाद में शुद्धाद्वैतवाद की व्याख्या मिल जाती है। उनके रास पंचाध्यायी, सिद्धान्त पंचाध्यायी और दशम स्कंध में पुष्टिमार्गी भक्ति पद्धति के स्वरूप के प्रतिपादन की चेष्टा देखी जा सकती है। भले ही कृष्णदास अधिकारी ने संकुचित मनोवृत्ति के कारण बंगाली वैष्णवों के प्रति दूषित व्यवहार किया परन्तु उनके पदों में सांप्रदायिक संकीर्णता का अभाव है।

निम्बार्क संप्रदाय के प्रवर्त्तक की रचनाओं में उक्त संप्रदाय का दार्शनिक आधार प्रतिपादित है। श्री भट्ट निम्बार्क संप्रदाय के अनुयायी हैं जो कि प्रकांड पंडित और शास्त्रार्थ महारथी हैं, किन्तु उनकी रचना युगल शतक के आधार पर निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद का ज्ञान संभव नहीं है। इस संप्रदाय के अन्तर्गत भगवत रसिक अपेक्षाकृत अधिक सांप्रदायिक जान पड़ते हैं। इन्होंने द्वैत अद्वैत और विशिष्टाद्वैत आदि शब्दों का प्रयोग किया है किन्तु दार्शनिक मतवाद का विवेचन उनकी शक्ति से बाहर का है।

वल्लभ संप्रदाय के बाद राधावल्लभी संप्रदाय ने मध्यकालीन कृष्ण-काव्य को अत्यधिक प्रभावित किया है। इस संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हितहरिवंश स्वयं[1] एक रससिद्ध भक्त कवि थे। उनकी रचनाओं में सिद्धान्तवाद का सीधा प्रतिपादन नहीं है बल्कि भक्ति रस का सुन्दर उद्घाटन है। इस संप्रदाय में अनेक सिद्धान्तवादी विवेचक हुए हैं। श्री सेवक ने जहाँ हितहरिवंश की वाणी की सांप्रदायिक व्याख्या की वहाँ उन्होंने राधावल्लभी रसरीति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया तथा रसिक भक्तों के लक्षणों का भी निरूपण किया। निःसन्देह इन्होंने भाव परक कृष्ण-लीलाओं का भी वर्णन किया परन्तु इनकी वृत्ति जितनी सिद्धान्त पक्ष में रमी उतनी काव्य के भाव पक्ष में नहीं। इस संप्रदाय के अनुयायी हरिराम व्यास ने राधावल्लभी सिद्धान्तों के साथ-साथ भक्ति-धर्म के स्वरूप को भी स्पष्ट किया, परन्तु इनकी एक विशेषता है कि ये अपने सिद्धांत विवेचन को कवित्व से समन्वित करते जाते हैं। उक्त संप्रदाय के सिद्धान्तवाद को समझने के लिये चतुर्भुजदास, ध्रुवदास और चाचा हितहरिवंश की रचनायें महत्त्वपूर्ण बन पड़ी हैं।

कृष्ण-भक्ति के अनेक परवर्ती कवियों को किसी संप्रदाय के सिद्धान्तवाद के चौखटे में बन्द नहीं किया जा सकता। प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त कवि रसखान को पुष्टि मार्गी कहा गया है, परन्तु उनकी रचनाओं में सांप्रदायिक मतवाद ढूंढना व्यर्थ है। इसी प्रकार घनानन्द को, उनकी रचनाओं के आधार पर निम्बार्क मतानुयायी कहना

कठिन है। प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त मीराबाई को कृष्ण भक्ति के किसी संप्रदाय विशेष का अनुयायी नहीं कहा जा सकता है। एक ओर तो उनके काव्य पर निर्गुण सन्तमत का प्रभाव है तो दूसरी ओर उसमें "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई" का भरपूर आख्यान है। वे कृष्ण में राम और राम में कृष्ण को देखती हैं। उनका काव्य अद्वितीय है। सच तो यह है कि सच्चे भावप्रवण भक्तों की दृष्टि में साम्प्रदायिक संकीर्णता, ऊँच-नीच और व्यवस्था आदि के भेद नगण्य थे। भक्ति उनका उद्देश्य था और उस उद्देश्य की पूर्ति का माध्यम था कविता।

इस बात के भी अनेक उदाहरण मिल जाते हैं कि मध्यकालीन कृष्ण भक्ति के संप्रदाय पारस्परिक द्वेष वैमनस्य, कट्टरता और संकीर्णता के भी शिकार थे। इस सम्वन्ध में "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रंथ में मीराबाई जैसे भक्त के सम्वन्ध में अनेक कटु वातें हैं। कारण कृष्णदास अधिकारी के प्रयत्न करने पर भी मीराबाई पुष्टिमार्ग में दीक्षित नहीं हुई थीं, अतः वार्ताकार की भृकुटि मीरा के प्रति चढ़ी हुई है। श्रीनाथ के मन्दिर से बंगाली वैष्णवों को निकालने के लिए कृष्णदास ने जघन्य से जघन्य उपायों का व्यवहार किया। अस्तु, फिर भी एक सच्चा भावुक कवि राजनीति के इन दाँव-पेचों और साम्प्रदायिक संकीर्णता से दूर रहकर अपने कवि कर्म में ही लीन रहा। अन्त में डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के शब्दों में—"वे सभी कृष्ण भक्त कवि जो वस्तुतः कवि कहलाने के अधिकारी हैं संप्रदायों की संकीर्ण परिधियों के भीतर रहते हुए भी कृष्ण और राधा-कृष्ण की उस भक्ति के व्यापक और सम्मिलित संप्रदाय के अनुयायी थे। उन सबका समान रूप से एक ही उद्देश्य था—रस, आनन्द और प्रेम की मूर्ति श्री कृष्ण और राधा-कृष्ण की लीला का गायन। 'वे सदा ब्रज रस' कृष्ण रस एवं राधा रस का सतत पान करते रहे।

कृष्ण-भक्ति काव्य की सामान्य प्रवृत्तियां

(१) **कृष्ण-लीला-वर्णन** – हम देख चुके हैं कि कृष्ण के चरित्र में उत्तरोत्तर धार्मिकता और भक्ति-भावना का समावेश होता गया। कृष्ण के तीन रूपों—धर्मोपदेष्टा ऋषि, नीतिविशारद क्षत्रिय नरेश तथा गोपालकृष्ण एवं गोपीवल्लभ कृष्ण में से अन्तिम रूप १५ वीं सोलहवीं शताब्दी में प्रधान हो गया। मध्यकालीन कृष्ण-भक्त भाषा कवियों ने लोकरंजनकारी कृष्ण की लीलाओं का उन्मुक्त गान किया। उनकी लीला का प्रयोजन लीलानन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं। लीला का उद्देश्य अखण्ड आनन्द में जीवन की आध्यात्मिक परिपूर्णता की अभिव्यंजना करना है। इस लीला के उन्होंने अनेक रूप कल्पित किये। बालगोपाल की वात्सल्यपूर्ण लीलायें, सख्य रूप में लीलायें तथा माधुर्य भावपूर्ण लीलायें ही समस्त मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य में व्याप्त है। कवियों ने उस अखण्ड आनन्द का चरम रूप स्त्री-पुरुष के रतिभाव में कल्पित किया। निम्बार्क, चैतन्य, हरिवंश और हरिदास

इन सभी कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों में माधुर्य भाव का सर्वाधिक महत्त्व है। राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण की प्रेम लीलाओं का श्रवण, स्मरण, चिन्तन एवं गायन ही कविकर्म की इतिश्री बन गया। इस प्रकार समूचा कृष्ण-भक्ति-काव्य माधुर्य भाव में ही केन्द्रीभूत हो गया और वल्लभ सम्प्रदाय भी इनसे अप्रभावित न रह सका। सूर-काव्य में कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का सबसे अधिक विस्तार है। राधावल्लभी, चैतन्य के गौड़ीय और हरिदास से सखी सम्प्रदाय के सभी कवि कृष्ण की प्रणय-लीलागान में लीन रहे। सूरदास ने कृष्ण की प्रणय लीला वर्णन में एक निश्चित विवेक, एक निश्चित एवं सूक्ष्म अध्यात्म-भावना, मानसिक वीतरागत्व तथा स्वस्थ संयम से काम लिया, जो कि बाद के कृष्ण-भक्त कवियों ने भुला से दिए। इन कवियों के प्रेम-वर्णन कुछ चुने हुए प्रसंगों तक सीमित रह गए। कृष्ण का क्रीड़ास्थल केवल यमुना-कुंज, लता-निकुंज और अन्तःपुर प्रकोष्ठ ही रह गया। उनमें सूक्ष्मता के स्थान पर स्थूलता और आध्यात्मिकता के स्थान पर ऐहलौकिकता आ गई। परिणामतः कृष्ण-भक्ति-दीपक की उज्ज्वल आभा से कज्जल की प्रभूत कालिमा ही एकत्रित हुई। कृष्ण की प्रणय-लीलायें आगे चलकर रीति काल में घोर लौकिक शृंगारिकता में परिणत हो गई।

(२) **विषय-वस्तु में मौलिक उद्भावना**—हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य की रचना से पूर्व संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में कृष्ण सम्बन्धी काव्य की सृष्टि प्रचुर मात्रा में हो चुकी थी और इसके साथ-साथ विविध कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों की भी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इस सकल कृष्ण-काव्य का उपजीव्य काव्य भागवत पुराण है। मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य भी वैष्णव धर्म के अक्षय स्रोत भागवत का आधार लेकर चला है, क्योंकि मध्यकाल में भागवत इतना लोकप्रिय था कि उसे आधार बनाये बिना कवि कर्म एवं आचार्य पद की पूर्ति असम्भव थी। किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति काव्य भागवत का अनुवादमात्र है। मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवि ने पर्याप्त मौलिक उद्भावना से भी काम लिया है। उदाहरणार्थ—भागवतकार के कृष्ण निर्लिप्त हैं, वे गोपियों की प्रार्थना पर लीला में शरीक होते हैं जबकि हिन्दी कवियों के कृष्ण गोपियों की ओर स्वयं उन्मुख होते हैं और अपनी हृदयाहारी लीलाओं से उनके हृदयों को जीतते हैं। भागवत में आदि से अन्त तक कृष्ण का ब्रह्मत्व और उनके चरित का अलौकिकत्व बने रहते हैं, जबकि हिन्दी-कवियों के कृष्ण में बहुत कम स्थानों पर अलौकिकता है—वे बाल रूप में बाललीलायें और युवा रूप में प्रणय-लीलायें करते हैं। भागवत में कृष्ण के साथ प्रेम करने वाली एक गोपी का वर्णन है, उसमें राधा का नामोल्लेख नहीं है जबकि सूरदास आदि कवियों ने राधा की कल्पना द्वारा प्रणय-चित्रण में एक अलौकिक भव्यता ला दी है। भागवत में गोपियों के प्रेम की पवित्रता निष्कलंक नहीं रहती, कृष्ण की अनुपस्थिति में मदिरोन्मत बलराम उनसे व्यवहार करने लगते हैं, किन्तु हिन्दी-काव्य में गोपियों को सर्वत्र एकोन्मुख दिखाया गया है। हिन्दी कवियों ने

जयदेव तथा विद्यापति का आधार लेते हुए भी यथेष्ट कल्पना-शक्ति से काम लिया है। विद्यापति में राधा और कृष्ण के प्रेम-वर्णन में जहाँ स्थूलता और उद्दामता है वहाँ इनमें आध्यात्मिक सूक्ष्मता एवं संयम है। वस्तुतः हिन्दी कवियों ने कृष्ण चरित में नवीन रूप-रंग भर कर उसे उभार तथा निखार दिया है। इन्होंने लोक-प्रचलित कृष्ण लीलाओं का सदुपयोग करके कृष्ण-भक्ति की अभिवृद्धि में एक नवीन योगदान दिया। अपने युग तथा समाज के वातावरण के अनुसार इन कवियों ने अनेक नवीन प्रसंगों की उद्भावना की है।

(३) **रस-चित्रण**—हिन्दी कृष्ण काव्य में एक ही रस है और वह है ब्रजरस या भक्तिरस। इस दृष्टि से इस साहित्य में रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। यदि शास्त्रीय शब्दावली में इस रस को संज्ञा देना चाहें तो वात्सल्य, शान्त तथा शृंगार रस कह सकते हैं। भले ही इन रसों में विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों का पृथक्-पृथक् रूप से विन्यास न हुआ हो पर इससे रस-वर्णन में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। रस की दृष्टि से कृष्ण-साहित्य अत्यन्त भव्य बन पड़ा है। सूर और मीरा में यत्र-तत्र निर्वेद का चित्रण हुआ है। कुछ अन्य कवियों ने भी संसार-माया, भ्रम-अविद्या, अज्ञान-अन्धकार की विगर्हणा की है। ऐसे स्थलों पर शान्त रस की अभि-व्यक्ति हुई है। सांसारिक जीवन के प्रति वैराग्य जगाना ही उनका लक्ष्य है। प्रायः सभी कृष्ण-भक्त कवि संसार को त्याग कर या कम से कम मानसिक संन्यास का संकल्प लेकर अपनी साधना में प्रवृत्त हुए थे। अस्तु ! सामूहिक रूप से कृष्ण भक्ति साहित्य में निर्वेद की भावना को कोई प्रत्यक्ष महत्त्व नहीं दिया गया है। भक्ति में दैन्य-भावना का पाया जाना आवश्यक होता है। सूर के प्रारम्भिक पदों में दैन्य भावना मिल जाती है। मीरा के कतिपय पदों में भी उच्च भावना उपलब्ध होती है, किन्तु समूचे रूप से कृष्ण-भक्ति-साहित्य में इसकी उपेक्षा की गई है, क्योंकि अतुल सौन्दर्य-राशि, आनन्द के परमधाम कृष्ण के रूप के साथ इसकी संगति नहीं बैठती। दूसरे प्रेम में जो आत्मीयता है वह दैन्य में नहीं। कदाचित् यही कारण है कि वल्लभ, चैतन्य, हितहरिवंश और हरिदास आदि ने दैन्य को कृष्ण-भक्ति के अनुकूल नहीं माना। कृष्ण-भक्ति साहित्य में दैन्य, स्थायीभव की अपेक्षा संचारी रूप में अधिक आया है, पर यह एक दूसरी बात है कि उस संचारी भाव में एक विशेष प्रकार की निरन्तरता है।

वात्सल्य और शृंगार के चित्रण में कृष्ण-भक्त कवि अद्वितीय हैं। सूर वात्सल्य है और वात्सल्य सूर है। वात्सल्य के चित्रण में 'जितने विविध प्रसंगों और उसके संदर्भ में उठने वाले नाना भावों की उद्भावना सूर ने की है, उनका साहित्य-शास्त्रियों द्वारा परिगणित संचारियों में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। सूर की निम्नांकित पंक्तियों—"मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायो", "मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी", "संदेशो देवकी सों कहियो" में जो मार्मिकता है वह अकथनीय है।

वात्सल्य ही नहीं, सख्य भाव के चित्रण में भी कृष्ण-भक्त कवियों ने अद्वितीय कौशल दिखाया है। केवल वात्सल्य ही नहीं, बल्कि सख्य चित्रण में भी सूर अप्रतिम है। कृष्ण भक्ति के अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा वल्लभ-सम्प्रदाय के कवियों ने सख्य भाव का अत्यन्त मनोविज्ञान-सम्मत वर्णन किया है। कृष्ण-भक्ति काव्य का सर्वाधिक लोकप्रिय क्षेत्र है-- माधुर्य रति का चित्रण, जिसे काव्यशास्त्र की भाषा में शृंगार की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। माधुर्य भाव या शृंगार का कोई ऐसा पक्ष नहीं है जो सूर की दृष्टि से बच पाया हो। राधा और कृष्ण तथा कृष्ण और गोपियों के प्रणय का विकास मनोविज्ञान के धरातल पर अत्यन्त सहज रूप में हुआ है। सूर को मनुष्य के भाव-लोक का इतना गहन परिचय है कि शायद ही किसी अन्य कवि को हो। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का वर्णन अतीव मनोरम बन पड़ा है। कृष्ण-भक्ति काव्य में संयोग की अपेक्षा वियोग-वर्णन उत्कृष्ट बन पड़ा है। सूरदास तथा हितहरिवंश ने तो इस दिशा में कमाल ही कर दिया है। सूर और मीरा को मिलन में भी वियोग का आभास होता है। उदाहरण के लिये सूर के कुछ पद देखिये—

अँखियाँ हरि दरशन की भूखी।

× × × **तथा**

हरि बिछुरत फाट्यो न हियो।

भयो कठोर वज्र ते भारी, रहिके पापी कहा कियो।

× × ×

इन रसों के अतिरिक्त प्रासंगिक रूप से कृष्ण-भक्ति काव्य में वीर, अद्भुत तथा हास्य रस आदि का भी चित्रण हुआ है।

(४) **भक्ति-भावना**—कृष्ण भक्ति के मूल में एकमात्र भगवद्-रति काम कर रही है जो कि पात्र के स्वभाव-भेद के अनुसार वात्सल्य, सख्य और कान्ता-भाव में परिणत हो जाती है। कृष्ण-भक्ति-काव्य की यह प्रेमलक्षणा भक्ति वैधी भक्ति से भिन्न है। कृष्ण-प्रेम के सामने सामाजिक विधि-निषेध, लोक, वेद और शास्त्र की मर्यादा सभी नगण्य हैं, यहां तक कि उल्लंघनीय हैं जब कि वैधी भक्ति में मर्यादा की सत्ता अक्षुण्ण है। यह ठीक है कि भक्ति श्रद्धा और प्रेम पर आधारित होती है और प्रेम वैधी भक्ति में भी उपलब्ध होता है किन्तु स्मरण रखना होगा कि दोनों के प्रेम में आनुपातिक अन्तर है। वैधी भक्ति में भगवान् के ऐश्वर्यमय रूप की प्रधानता रहती है जब कि प्रेमा भक्ति में उसके सौन्दर्यमय रूप की। वैधी भक्ति में लोक संग्रह की चिन्ता अधिक बनी रहती है। साधना क्षेत्र में वैधी भक्ति प्रथम सोपान है जब कि रागानुगा भक्ति अन्तिम सोपान। कृष्ण-भक्ति के सभी सम्प्रदायों में कान्ताभाव की भक्ति को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। निम्बार्क सम्प्रदाय में स्वकीया-भाव पर बल दिया गया है और चैतन्य सम्प्रदाय में परकीया-प्रेम में माधुर्य भाव की चरम

परणिति मानी गई है। आगे चलकर वल्लभ-सम्प्रदाय में भी परकीया भाव की भक्ति का प्रचलन हो गया। राधावल्लभी सम्प्रदाय में परकीया भाव की अस्वीकृति है। कृष्ण-भक्तों के इस परकीया भाव में किसी प्रकार की अश्लीलता तथा अनैतिकता की शंका करना व्यर्थ है। वस्तुतः परकीया भाव आदर्श प्रेम का प्रतीक मात्र है। भक्ति की इन विधाओं के अतिरिक्त कृष्ण-भक्ति काव्य में दास्य भाव की भक्ति तथा नवधा भक्ति के अन्य अंगों का भी चित्रण मिलता है किन्तु प्रधानता रागानुराग भक्ति को ही दी गई है।

(५) **पात्र एवं चरित्र चित्रण**—राम-काव्य में पात्रों के चरित्र के जैसे विविध पक्ष हैं वैसे कृष्ण-भक्ति काव्य में नहीं। तुलसी ने राम के समूचे जीवन को प्रबन्ध काव्य का विषय बनाया जबकि कृष्ण-कवियों ने कृष्ण-जीवन के कोमलतम अंशों को अपने काव्य का विषय बनाया जिसमें प्रेम की बहुविध झाँकियाँ नहीं आ सकीं। कृष्ण-कथा के नायक श्रीकृष्ण में मानव और अतिमानव के विरोधी तत्वों का सम्मिश्रण है। इन भक्तों के कृष्ण महाभारत के नीति कुशल, व्यवहारवादी योद्धा कृष्ण नहीं हैं वे हैं बालगोपाल तथा साँवले-सलौने छलिया कृष्ण। कृष्ण के साथ सम्बद्ध पात्र हैं नन्द-यशोदा, गोपी-गोप, जो कि कृष्ण के प्रति वात्सल्य और सख्य रूप में प्रेम को दर्शाते हैं। कृष्णावतार का उद्देश्य लीला है और इन पात्रों का उद्देश्य है लीला में शामिल होना। राधा रसरूपिणी है जिसके चरित्र के दो पक्ष हैं—वास्तव में वह कृष्ण से अभिन्न है, किन्तु व्यवहार में उसे कृष्ण-प्रेम को उत्तरोत्तर विकसित करने के लिए चित्रित किया गया है। कृष्ण के सखाओं में उद्धव का चरित्र महत्वपूर्ण है। इन भक्त कवियों ने उद्धव के माध्यम से बुद्धि और तर्क पर भाव की, मस्तिष्क पर हृदय की, ज्ञान पर भक्ति की और निर्गुण पर सगुण की विजय दिखलाई है।

कृष्ण-काव्य के इन पात्रों के चित्रण की एक विशेषता है—प्रतीकात्मकता। राधा माधुर्य-भाव की भक्ति का उच्चतम प्रतीक है। वह आनन्द-स्वरूप कृष्ण से अभिन्न और उन्हीं की ह्लादिनी शक्ति है। माधुर्य-भाव से प्रेम करने वाली गोपियाँ भी कृष्ण से अभिन्न हैं। वामन पुराण में गोपियों को वेद भगवान् की ऋचाएँ कहा गया है। श्रीकृष्ण ने अपने आनन्दमय रूप का परिचय देने के लिए नित्य वृन्दावन का एक दृश्य दिखाया है और भविष्य में गोपिका बन कर उस लीला में भाग लेने का वरदान दिया। श्रीकृष्ण परमात्मा हैं और गोपियाँ जीवात्मायें। वे निरन्तर प्रेम से व्याकुल होकर परम आनन्दधाम कृष्ण में लीन होने के लिए व्याकुल रहती हैं। किन्तु स्मरण रखना होगा कि समस्त कृष्ण काव्य की व्याख्या प्रतीकात्मकता के आधार पर सम्भव है क्योंकि उसका आधार लोक-विश्रुत कथायें तथा पुराण हैं और उसके उपकरण इन्द्रियग्राह्य हैं।

(६) **प्रकृति चित्रण**—कृष्ण-भक्ति साहित्य भावात्मक काव्य है। बाह्य प्रकृति का चित्रण इसमें यां तो भाव की पृष्ठभूमि में हुआ है या उद्दीपन भाव के लिए अथवा अलंकारों के अप्रस्तुत विधान के रूप में। प्रकृति के स्वतन्त्र रूप का चित्रण

प्रायः न के बराबर है। परन्तु यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि प्रकृति मनोरम और अनुकूल, भयानक और प्रतिकूल रूपों के चित्रण में कृष्ण भक्त कवियों ने अपने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। डॉ० ब्रजेश्वर के शब्दों में—"दृश्यमान जगत् का कोई भी सौन्दर्य उनकी आँखों से छूट नहीं सका। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश, जलाशय, वन प्रान्त, यमुना-कूल, तथा कुंज-भवन की सम्पूर्ण शोभा इन कवियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में निःशेष कर दी है। इन कवियों ने मानव-प्रकृति-चित्रण में भी अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय दिया है—"मानव-हृदय के अमूर्त सौन्दर्य-चित्रण, अर्थात् रस- निरूपण में भी कृष्णभक्त कवियों की भावना और कल्पना जिन मधुमती वीथियों में विचरण करती है उनमें से अनेक ऐसी हैं जिनका पूर्ववर्ती कवियों को परिचय भी नहीं था।"

(७) **रीति-तत्व का समावेश**—कृष्ण-भक्ति काव्य में शृंगारिक चित्रणों के साथ-साथ रीति-तत्त्व का भी उल्लेख मिलता है। सूरदास तथा नन्ददास की कृतियाँ इसका प्रमाण हैं। सूरदास की साहित्य-लहरी में नायिका-भेद तथा अलंकारों का वर्णन मिलता है। यद्यपि कुछ आलोचकों ने इसे भक्त कवि सूरदास की रचना न मानने का आग्रह किया है, किन्तु हमारा निजी विश्वास है कि यह कृति कदाचित् सूरदास ने रीति-शिक्षा के उद्देश्य से लिखी होगी। उन्होंने इसका प्रणयन शायद नन्ददास अथवा कृष्णदास के निमित्त किया था। सूरदास के समय में ही विट्ठल जी ने शृंगार रस में उन्हीं जैसा रीति परक ग्रंथ लिखा। उस समय चैतन्य-सम्प्रदाय में भक्ति को काव्य शास्त्र का सांगोपांग रूप देने के लिए भक्ति रसामृत सिन्धु और "उज्ज्वलनीलमणि" की रचना हो चुकी थी। चैतन्य सम्प्रदाय का पुष्टि मार्गी कवियों पर असंदिग्ध प्रभाव है। नन्ददास की एक मंजरी में नायिका-भेद, हाव, भाव, हेला रति आदि का विस्तृत विवेचन है। विरह-मंजरी में विरह के अनेक काव्य शास्त्रीय भेदों की चर्चा है। रूप-मंजरी में यद्यपि किसी प्रकार के काव्य शास्त्रीय भेदों का तो उल्लेख नहीं है पर उसमें भी परोक्ष रूप से वयः सन्धि तथा प्रथम समागम आदि की दशाओं का वर्णन है। अष्टछाप के अन्य कवियों में भी नायिका-भेद के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

(८) **प्रेम की अलौकिकता**—कतिपय विद्वानों ने कृष्ण भक्ति साहित्य में चित्रित रति को चिदुन्मुख कह कर इसे शृंगार रस से भिन्न मधुर रस की कोटि में रखा है तथा इसके प्रेम की अलौकिकता घोषित की है, किन्तु स्मरण रखना होगा मधुर या उज्ज्वल रस शृंगार रस से भिन्न नहीं है। उज्ज्वल नीलमणि में प्रति-पादित उज्ज्वल रस के आलंबन-आश्रय-नायक, नायिका उनका सहायता वर्ग, आदि सब बातें हैं और शृंगार रस को उज्ज्वल नाम से भी अभिहित किया है। हमारा विचार है कि मधुर रस की स्थापना कदाचित् कृष्ण और राधा के प्रेम-व्यापारों के उन्मुक्त वर्णन के व्याज से की गई है। यदि कृष्ण और भक्ति-काव्य में चित्रित शृंगारी वर्णनों में कवियों के सूर आदि उपमानों को पृथक् कर दिया जाय तो वे वर्णन निश्चित रूप

से जयदेव विद्यापति तथा रीतिकालीन शृंगारी परम्परा में परिगणित किये जा सकेंगे। कृष्ण-भक्ति-साहित्य में विपरीत-रति जैसे प्रसंगों की बलात् आध्यात्मिक व्याख्या बौद्धिक व्यायाम के सिवाय और कुछ भी नहीं है। कृष्ण-भक्ति-काव्य में घोर शृंगारिक वर्णनों के कई कारण मौजूद थे—एक तो मन्दिरों का वातावरण क्रियात्मक रूप से विलास-प्रधान होता गया, दूसरा अधिकारी वर्ग का दृष्टिकोण भी विलासोन्मुख हो गया था। भगवान् कृष्ण के लिए सुन्दर भोजनों की व्यवस्था की जाने लगी। युवा कृष्ण के मनोरंजन के लिए रूपवती वेश्यायें बुलाई जाने लगीं। गोस्वामियों को भगवान् का प्रतिरूप मानकर सेविकायें सर्वात्मना अपने आपको उनके अर्पण करने लगीं। कृष्ण भक्ति-साहित्य पर चैतन्य, हित हरिवंश, हरिदास तथा राधा स्वामी के सम्प्रदायों के प्रभाव ने भी राधाकृष्णाश्रित शृंगार के लौकिक चित्रणों की भूरि प्रेरणा दी। इस दिशा में जयदेव और विद्यापति तो पथ प्रशस्त कर ही चुके थे।

(९) सामाजिक पक्ष—यद्यपि कृष्ण-भक्ति-काव्य लीलावादी काव्य है और लीला लीला के लिए होती है, लोक मंगल भावना या समाज से कोई विशेष सरोकार नहीं होता, परन्तु फिर भी इस काव्य में उस समय की सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक दशा का यत्किंचित् यथार्थ वर्णन मिल जाता है। सूर के पदों में जहाँ वे सांसारिक विषय-वासना से अभिभूत अपने आपकी विगर्हणा करते हैं वहाँ परोक्ष रूप से समाज की भी झलक है। सूर ने परीक्षित के पश्चात्ताप तथा भागवत के कुछ अन्य प्रसंगों को चुनकर तत्कालीन जीवन की उद्देश्यहीनता एवं इन्द्रिय परायणता की आलोचना की है। उद्धव-गोपी संवाद में अलखवादी, निर्गुणिया, सन्तों, पांडि-त्याभिमानी, अद्वैत-वेदान्तियों, निष्फल कायाकष्ट में निरत हठयोगियों आदि की अच्छी खबर ली है। कलियुग के प्रभाव का वर्णन करते हुए इन कवियों ने वर्णाश्रम-धर्म पतन, समाजिक कुरीतियों और धार्मिक विडम्बनाओं का चित्र प्रस्तुत किया है। कृष्ण-भक्त कवियों की साधना वैयक्तिक होते हुए भी लोक-मंगल भावना से नितान्त शून्य नहीं है।

(१०) ऐतिहासिक पक्ष—निःसन्देह मथुरा और वृन्दावन में बैठे हुए कृष्ण भक्त कवि पर दिल्ली में होते राजनीतिक घात-प्रतिघातों की छाया नहीं है, किन्तु इसके साहित्य में उनके अपने ढंग की ऐतिहासिकता अवश्य हैं। भक्तों की स्तुतियाँ और प्रशस्तियाँ, ऐतिहासिक दृष्टि से कोई कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कवियों ने वल्लभ कुल का परिचय दिया। राधावल्लभी भक्तों ने हित हरिवंश को अवतार मानकर उनका यशोगान किया है। कई भक्त कवियों ने अनेक भक्तों के चरित्रों को अंकित किया है। इन सबका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व है। अष्टछाप के कवियों में तत्कालीन सुन्दर सांस्कृतिक झाँकी मिलती है।

(११) **काव्यरूप**—कृष्ण कवियों का साहित्य प्रमुख रूप से गेय मुक्तक रूप में लिखा गया है। इन कवियों ने कृष्ण के जीवन के जिस अंश को अपने काव्य के लिए चुना वह सर्वथा मुक्तक के उपयुक्त था। संपूर्ण कृष्ण-काव्य में प्रबन्ध रचना बहुत कम पाई जाती है। फिर भी कृष्ण भक्त-कवियों में कृष्ण-जीवन के किसी विशेष अंश की क्रम-बद्ध कल्पना अवश्य मिल जाती है भले ही उस कथा का प्रत्येक पद अपने आप में स्वतन्त्र भी है। सूरदास के काव्य में ब्रजवासी कृष्ण की संपूर्ण कथा देने का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। कृष्ण की सम्पूर्ण कथा देने का प्रयत्न ब्रज विलासदास ने अपने ब्रजविलास में किया है। नन्ददास के भंवरगीत, रुक्मिणी मंगल और रास पंचाध्यायी आदि में कथात्मकता की मनोवृत्ति देखी जा सकती है। इस दिशा में हित वृन्दावनदास का लाड़ सागर भी उल्लेखनीय है। सम्पूर्ण कृष्ण-काव्य पर दृष्टिपात करने के अनन्तर हमें उसमें इन कथात्मक सूत्रों—कृष्ण-जन्म, गोकुलआगमन, शिशु-लीला, नामकरण, अन्न-प्राशन, वर्षगाँठ आदि संस्कारों तथा जागने कलेऊ करने, खेलने, हठ करने, भोजन करने, सोने आदि का पता चलता है।

इस काव्य में ब्रजभाषा गद्य का भी थोड़ा बहुत प्रयोग हुआ है। चौरासी वैष्णवन की वार्ता और दो सौ बावन की वार्ता इस बात के प्रमाण हैं। राधावल्लभी भक्त अनन्य अली का "स्वप्न प्रसंग" ध्रुवदास का "सिद्धान्त विचार" तथा प्रियादास का "राधानेह" गद्य की रचनायें हैं। इन रचनाओं में गद्य का स्वरूप शिथिल और अशक्त है।

(१२) **शैली**—कृष्ण-भक्ति-काव्य में मुख्य रूप से गीतिशैली का व्यवहार किया गया है। इन कवियों के साहित्य में गीति शैली के सभी तत्व—भावात्मकता, संगीतात्मकता, वैयक्तिकता संक्षिप्तता तथा भाषा की कोमलता आदि पूर्ण रूप में मिलते हैं। राधा-कृष्ण की प्रेम की कहानी के वर्णन में यद्यपि इन कवियों के लिए व्यक्तिकता अभिव्यंजना के लिए कोई विशेष क्षेत्र नहीं था फिर भी इन्होंने गोपियों की अनुभूतियों के माध्यम से व्यक्तिकता का कलात्मक रूप से समावेश कर लिया है। कृष्ण-भक्त कवियों में अनेक अभिव्यंजना-शैलियों के दर्शन होते हैं। अकेले सूर-सागर में भावव्यंजना की अनेक शैलियाँ मिल जाती हैं। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के शब्दों में—"जहाँ एक ओर वर्णनात्मक प्रसंगों में विषय के अनुकूल सरल ग्रामीण अथवा धार्मिक पदावली में वाच्यार्थ ही प्रधान हैं, वहाँ दूसरी ओर गम्भीर भाव-चित्रण में—विशेष रूप से विरह के प्रसंग में, लाक्षणिकता की भरमार है तथा अत्यन्त सरल और ठेठ शब्दों में भी ऐसी गूढ़ और मार्मिक व्यंजनायें की गई हैं कि कवि की अनुभूति की गंभीरता तथा उसके भाषा-अधिकार पर आश्चर्य होता है।" नेत्रादि अंगों के न जाने इन्होंने कितने नवीन से नवीन उपमान जुटा दिए हैं। शब्द-शक्ति, अलंकार, काव्य गुण अदि सभी काव्य के उपकरणों के कृष्ण-साहित्य-सम्पन्न है। सूरदास के दृष्ट-कूटों को इस बात का अपवाद समझना होगा। संभव है कि विषय की गोपनीयता एवं गूढ़ता के कारण सूरदास ने ऐसा किया हो। डॉ० वर्मा साभूहिक रूप से इस काव्य के शिल्प-विधान की चर्चा करते हुए लिखते हैं—"उनके द्वारा भाषा की

मधुरता, अर्थव्यंजकता और काव्योपयुक्त चित्रण-शक्ति की अतीव वृद्धि हुई है। उन्होंने भाव, भाषा, अलंकार उक्तिवैचित्र्य, छन्द-योजना, संगीतात्मकता आदि की ऐसी अनूठी सम्पत्ति अपने बाद की पीढ़ियों के लिए इकट्ठी की कि जिसके अंश मात्र को लेकर कितने ही महान् कवि बन गये। परवर्ती रीतिकाल की समस्त कवि-चातुर्य नखशिख-वर्णन, अलंकार-योजना, नायिका-भेद, ऋतु-वर्णन, सूक्ति-सौष्ठव सभी कुछ कृष्ण-भक्ति काव्य की देन है, अन्तर केवल यही है कि जहाँ भक्ति काव्य में ये विषय भावाश्रित है जहाँ रीतिकाल में उन्हीं की प्रधानता है। कृष्ण काव्य के कलापक्ष की विशेषताएँ ब्रजभाषा के कवियों की अविरल परम्परा में आधुनिक काल तक चली आई हैं।"

(१३) **छन्द**—भावात्मक काव्य होने के नाते अधिकतर इस साहित्य में गीतिपदों का प्रयोग हुआ है। कलात्मक प्रसंगों में चौपाई, चौबोला, सार तथा सरसी छन्दों का प्रयोग किया है। नन्ददास ने रूप-मंजरी तथा रासमंजरी आदि ग्रंथों में दोहा और चौपाई दोनों का प्रयोग किया है। दोहा-रोला और रोला-दोहा का मिश्रित रूप भी इस काव्य में प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त कृष्ण-भक्ति-काव्य में कवित्त, सवैया, छप्पय, कुण्डलिया, गीतिका, हरिगीतिका, अरिल्ल तथा कुछ और छन्दों का भी प्रयोग मिलता है।

(१४) **भाषा**—इस काव्य में ब्रजराज की जन्म-भूमि ब्रज की लोक-प्रचलित भाषा प्रयुक्त हुई है और वह इतनी लोकप्रिय हुई कि समस्त उत्तरी भारत में साहित्य भाषा के रूप में स्वीकृत हुई। उसने सुदूर बंगाल की भाषा को भी प्रभावित किया परवर्ती रीतिकाल में ब्रजभाषा का निरन्तर प्रयोग हुआ और यहाँ तक कि आधुनिक युग के भारतेन्दु-काल के कवियों का इस भाषा के प्रति अगाध मोह बना रहा। परन्तु एक बात इस सम्बन्ध में स्वीकार करनी होगी कि भाषा के परिमार्जन, रूप-निर्धारण, स्थिरीकरण और व्याकरण-व्यवस्था की ओर न तो कृष्ण-भक्त कवियों ने ध्यान दिया और न ही रीतिकालीन कवियों ने। ब्रजभाषा के अच्छे से अच्छे कवियों में शब्दों की तोड़-मरोड़, लिंग-सम्बन्धी गड़बड़, अर्थभेद, अप्रयुक्त एवं ग्राम्य प्रयोग आदि मिल जाते हैं, भले ही नन्ददास आदि एक दो कवि इसके अपवाद हों। अस्तु ! इस भाषा की आश्चर्यजनक व्यापकता को देखते हुए यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि—"बिना किसी आन्दोलन के साहित्यकार किसी भाषा की प्रतिष्ठा में किस प्रकार अभिवृद्धि कर सकते हैं।"

कृष्ण-भक्ति साहित्य आनन्द और उल्लास का साहित्य है। इसमें सर्वत्र ब्रज-रस व्याप्त है जो कि एकदम अद्भुत और विलक्षण है। शुद्ध कलात्मक दृष्टि से यह साहित्य अनुपमेय है। इस साहित्य की अपनी विशेषतायें भी हैं और अपनी परिसीमायें भी। आचार्य द्विवेदी इस साहित्य के गुणों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—"मनुष्य की रसिकता को उद्बुद्ध करता है, उसकी अन्तर्निहित अनुराग-लालसा को ऊर्ध्वमुखी करता है और उसे निरन्तर रससिक्त बनाता रहता है।" आगे चलकर वे

इस साहित्य की परिसीमा का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—"यह प्रेम-साधना एकान्तिक है, वह अपने भक्त को जागतिक द्वन्द्व और कर्तव्यगत संघर्ष से हटाकर भगवान् के अनन्यगामी प्रेम की शरण में ले जाती है। यही उसका दोष है क्योंकि जीवन केवल प्रेम-निष्ठा तक ही सीमित नहीं, यह केवल उसका एक पक्ष है।"

अष्टछाप : कतिपय प्रमुख कवि

अष्टछाप—हिन्दी में कृष्ण-काव्य का बहुत कुछ श्रेय श्री वल्लभाचार्य को है क्योंकि इन्हीं के चलाये हुए पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने अत्यन्त मूल्यवान् कृष्ण-साहित्य की रचना की। वल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत अष्टछाप के सूरदास आदि आठ कवियों की मंडली अष्टसखा के नाम से भी अभिहित की जाती है। सम्प्रदाय की दृष्टि से ये आठों कवि भगवान् कृष्ण के सखा हैं। गुसाईं विट्ठलनाथ ने सं० १६०२ के लगभग अपने पिता वल्लभ के ८४ शिष्यों में से चार तथा अपने २५२ शिष्यों में चार को लेकर सम्प्रदाय के इन आठ प्रसिद्ध भक्त कवि तथा संगीतज्ञों की मंडली की स्थापना की। अष्टछाप में महाप्रभु वल्लभ के चार प्रसिद्ध शिष्य थे—कुम्भनदास, परमानन्ददास, सूरदास तथा कृष्णदास अधिकारी और गुसाईं विट्ठलनाथ के प्रसिद्ध शिष्य थे—गोविन्द स्वामी, छीत स्वामी, चतुर्भुजदास तथा नन्ददास। इन अष्टछाप के कवियों में सबसे ज्येष्ठ कुम्भनदास थे तथा सबसे कनिष्ठ नन्ददास थे। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से इनमें सर्वप्रथम स्थान सूरदास का है तथा द्वितीय स्थान नन्ददास का। पद-रचना की दृष्टि से परमानन्ददास का है। गोविन्द स्वामी प्रसिद्ध संगीत-मर्मज्ञ हैं। कृष्णदास अधिकारी का साहित्यिक दृष्टि से तो कोई महत्त्व नहीं है पर ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। कृष्ण-भक्तों में साम्प्रदायिकता, लीलाओं में आध्यात्मिकता के स्थान पर ऐहलौकिकता, श्रीनाथ के मन्दिर में विलास-प्रधान ऐश्वर्य, कृष्ण-भक्ति साहित्य में नख-शिख तथा नायिका-भेद के वर्णन का बहुत कुछ दायित्व इन्हीं पर है। इस बात के सम्यक् ज्ञान के लिए दौ-सौ बावन वैष्णवन की वार्ता का अध्ययन उपयोगी रहेगा। अष्टछाप के शेष कवियों की प्रतिभा साधारण कोटि की है।

अष्टछाप के ये आठों भक्त समकालीन थे। ये पुष्टि सम्प्रदाय के श्रेष्ठ कलाकार, संगीतज्ञ और कीर्तनकार थे। ये सभी भक्त अपनी-अपनी पारी पर श्रीनाथ के मन्दिर में कीर्तन, सेवा तथा प्रभुलीला सम्बन्धी पद रचना करते थे। गुसाईं विट्ठलनाथ ने इन अष्ट सखाओं पर अपने आशीर्वाद की छाप लगाई अतः इनका नाम अष्टछाप पड़ा।

हिन्दी-साहित्य में महत्त्व—हिन्दी साहित्य में अष्टछाप का साहित्यिक, साम्प्रदायिक, धार्मिक, कलात्मक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण स्थान है। अष्टछाप के सभी कवि भगवान् कृष्ण की नैमित्तिक लीलाओं से सम्बद्ध पदों की रचना किया करते थे। इन सब कवियों में भगवान् के माधुर्यमय रूप के वर्णन की प्रवृत्ति पाई जाती है। प्रेम-लोक की विविध भावदशाओं का जो

अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक वर्णन इन कवियों ने किया है, वह इनके काव्य-कौशल का उत्कृष्ट नमूना है। सूर के सम्बन्ध में अक्सर कहा जाता है—'न भूत न भविष्यति।' नन्ददास आधुनिक कवि पन्त के समान शब्दों के कुशल शिल्पी हैं—"अन्य कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया।" परमानन्ददास के पद सौरस्यपूर्ण हैं और गोविन्द स्वामी में प्रशंसनीय संगीत का मधुर रस है। अष्टछाप के कवि प्रतिभाशाली साहित्यकार, सुकीर्तनकर्ता एवं अच्छे गायक हैं अतः इनके साहित्य में काव्य-कला तथा संगीतकला का प्रशस्य गंगा-यमुना संयोग है। ब्रजभाषा का काव्य-क्षेत्र में निरन्तर कई शताब्दियों तक जो एकाधिपत्य बना रहा, वह इन्हीं महानुभावों के कारण हैं। इन कवियों की परिमार्जित एवं प्रौढ़ भाषा को देखकर सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उसकी एक सुनिश्चित परम्परा थी। वह कोई एक दिन की गढ़ी हुई भाषा नहीं। यद्यपि अष्टछाप के कवियों ने स्वयं कोई भी रचना ब्रजभाषा गद्य में नहीं लिखी फिर भी उनके प्रासंगिक चरित ब्रजभाषा गद्य में लिखे गये। इस सम्बन्ध में 'अष्टसखान की वार्ता', 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के नाम उल्लेखनीय हैं।

कवित्व की सबसे ऊँची वस्तु है तन्मयता और तल्लीनता, कविता का यह गुण सूरदास आदि कवियों में अपनी चरमसीमा पर पहुँचा हुआ दिखाई देता है। आचार्य द्विवेदी इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"इन भक्ति भाव की रचनाओं के प्रचार के बाद लौकिक रस की परम्परा फीकी पड़कर निर्जीव हो गई। इन कवियों ने उसमें नया प्राण संचारित किया और नया तेज भर दिया। परवर्ती काल की ब्रजभाषा को लीलानिकेत भगवान् कृष्ण के गुणगान के साथ एकान्त भाव से बाँध देने का श्रेय इन्हीं कवियों को प्राप्त है।" यह दूसरी बात है इन कवियों की कविता का एक निश्चित विषय है, उसमें विविधता के लिए अवकाश नहीं है।

अष्टछाप का धार्मिक और साम्प्रदायिक महत्त्व भी अक्षुण्ण है। ये आठों कवि श्रीनाथ के अन्तरंग सखा हैं और जो उनकी नित्य लीला में शरीक होते हैं। गिरिराज निकुंज के आठ द्वार हैं और यह उन द्वारों के अधिकारी हैं। लौकिक लीला में वे भौतिक शरीरों से इन द्वारों पर स्थित रहते हैं और लीला की समाप्ति पर भौतिक शरीर को त्याग कर अलौकिक रूप से नित्य लीला में लीन हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त नन्ददास का साहित्य पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों को जानने के लिए तथा कृष्ण-भक्ति की साम्प्रदायिकता के बोध के लिए उपयोगी है। इनके साहित्य से तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति का भी परोक्ष रूप से बोध हो जाता है। कलि-प्रभाव-वर्णन और गोपी उद्धव संवाद आदि में इस बात के स्पष्ट संकेत हैं। तत्कालीन सरल ग्रामीण जीवन की सहज छटा इनके साहित्य से मिल जाती है। उत्सवों, पर्वों तथा लीलाओं के वर्णनों में उस समय की सांस्कृतिक झाँकी एवं कलाप्रियता का बोध हो जाता है। इन्होंने विभिन्न नैमित्तिक उत्सवों के लिए

बिविध राग-रागनियों में पदों की रचना की, जो आज तक भी गायकों के गले का हार बने हुए हैं।

महाकवि सूरदास—जीवन-परिचय—बड़े आश्चर्य का विषय है कि हिन्दी-साहित्याकाश के सूर्य महात्मा सूरदास का, जिसमें भक्ति, काव्य, संगीत का एक अभूतपूर्व समन्वय था, जीवन वृत्तान्त पूर्णतया ज्ञात नहीं है। आज से कुछ वर्ष पहले उस पर विल्व मंगल आदि अन्य सूरदासों की जीवन-घटनायें इस प्रकार आच्छादित थीं कि इनका वास्तविक जीवन-वृत्त दब सा गया था।

सूर-साहित्य के अंतःसाक्ष्य तथा समकालीन और परवर्ती रचनाओं के बहिः-साक्ष्य के आधार पर सूर के शोधकर्त्ता विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सं० १५३५ की बैसाख शुक्ल ५ को इनका जन्म हुआ था। इनका जन्म स्थान वल्लभगढ़ (गुड़गाँव) के निकटवर्त्ती सीही नामक गाँव है। वे एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण के चतुर्थ पुत्र थे। इसके अतिरिक्त इनके माता-पिता, कुटुम्बी जनों एवं बन्धु-बांधवों का कुछ भी पता नहीं है। कुछ विद्वानों ने अकबर के दरबारी गायक बाबा रामदास को इनका पिता माना है किन्तु यह मत अब अप्रमाणित हो चुका है। सूर की साहित्य-लहरी में इनकी वंशावली का परिचय इस प्रकार मिलता है—वे ब्रह्म भट्ट थे और चन्दवरदायी के वंशज थे, किन्तु विद्वानों ने साहित्य-लहरी के उस पद को जिसमें उक्त वंश का परिचय है, प्रक्षिप्त माना है। बहुत से विद्वान् तो साहित्य-लहरी को ही अप्रामाणिक मानते हैं।

यह तो निर्विवाद है कि सूरदास नेत्र-विहीन थे। किन्तु वे जन्मांध थे अथवा बाद में अन्धे हुए थे, यह विवादग्रस्त है। सूर-काव्य में दृश्य जगत् के सूक्ष्मातिसूक्ष्म यथार्थ, पारदर्शी और सर्वांगीण वर्णन को देखकर यह विश्वास नहीं होता है कि वे जन्मांध थे। इसलिए आज के अनेक विद्वान् सूर की जन्मांधता पर विश्वास नहीं करते हैं, अन्यथा उनके पास जन्मांधता के विरुद्ध कोई ठोस प्रमाण नहीं है। सूरदास ने जहाँ अपने आपको जन्मांध तथा अभागा कहा है वहाँ कदाचित् उन्होंने आत्मग्लानि वश कहा है। ऐसे स्थलों में अक्षरार्थ को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। ऐसे प्रसंगों में लाक्षणिकता और प्रतीकात्मकता है। सम्भव है कि ज्ञान चक्षुओं के अभाव के द्योतन के लिए ऐसा कहा गया हो। सूरदास का साहित्य किसी जन्मांध व्यक्ति का लिखा हुआ नहीं हो सकता है।

चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार सूरदास अपने बहुत से सेवकों के साथ संन्यासी-वेष में मथुरा के बीच गऊघाट पर रहा करते थे। प्रभु वल्लभाचार्य जब अडेल से व्रज पधारे तब गऊघाट पर सूर ने उनसे भेंट की। वल्लभ के कहने पर सूर ने बड़ी तन्मयता से "प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ" गाया जिसे सुनकर आचार्य जी ने कहा, "जो सूरे ह्वैके ऐसो काहे को घिघियात है। कछु भगवत-लीला वर्णन करि।" वल्लभ ने इन्हें अपने सम्प्रदाय में दीक्षित करके भागवत के आधार

पर लीलापद रचना के लिए कहा । तत्पश्चात् सूरदास आचार्य की आज्ञा से श्रीनाथ के मन्दिर में कीर्तन करने लगे और नित्य सुललित पदों से भगवान कृष्ण की पावन लीलाओं का गान करने लगे । श्रीनाथ जी के मन्दिर से कुछ दूरी पर पारसौली नामक स्थान में सूरदास रहा करते थे । वहाँ प्रतिदिन श्रीनाथ जी के मन्दिर में प्रतिदिन आकर कीर्तन करना और सायं-काल को वापस लौट जाना उनका दैनिक कार्य-क्रम था । उन्होंने लगभग अपनी ३३ वर्ष की अवस्था में श्रीनाथ के मन्दिर में कीर्तन करना आरम्भ किया था और वे अपने देहावसान काल १६६० तक नियमित रूप से लीला-गान में निरत रहे । अपने १०५ के सुदीर्घ जीवन काल में उन्होंने प्रायः एक लाख पदों की रचना की थी जो कि बाद में सूर की कृतियों में संकलित किये गये हैं । पारसौली में गुसाईं विट्ठलनाथ, रामदास, कुम्भनदास, गोविन्द स्वामी और चतुर्भुजदास आदि की उपस्थिति में, इन्होंने अपने महाप्रयाण के समय "खंजन नैन रूप रस माते" पद का गान करते हुए अपने भौतिक शरीर को छोड़ा और कृष्ण के नित्य लीला-धाम में प्रविष्ट हुए ।

पूर्व संस्कार, जन्मजात प्रतिभा, गुणियों के सत्संग और निजी अभ्यास के कारण छोटी आयु में ही सूरदास विभिन्न विद्याओं के ज्ञाता हो गये । इनकी ख्याति गायक और महात्मा के नाते खूब फैली । कहा जाता है कि सम्राट अकबर ने मथुरा में इनसे भेंट की थी । गोस्वामी तुलसीदास भी इनसे मिले थे । उस समय सूरदास अतिवृद्ध थे और अपने अधिकांश काव्य की रचना कर चुके थे, जबकि तुलसीदास युवा थे और उन्होंने अपनी काव्य-रचना का आरम्भ ही किया था । तुलसीदास सूर के लीला-पदों से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने बाद में सूर की शैली पर भगवान राम की बाल-लीलाओं का वर्णन किया । तुलसीदास की गीतावली में ऐसे कई प्रसंग हैं जो सूरदास से स्पष्ट प्रभावित हैं ।

रचनायें—सूरदास ने श्रीमद्भागवत के आधार पर कृष्ण-लीला-सम्बन्धी अनेक पदों की रचना की थी जिनकी सख्या सवा लाख बताई जाती है । उनके जीवन काल में ही इतने असंख्य पद सागर कहलाने लगे थे जो कि बाद में संगृहीत होकर सूरसागर कहलाने लगे । परन्तु अब सूरसागर के चार-पांच हजार पद प्राप्त होते हैं । इसके अतिरिक्त काशी नागरी प्रचारिणी सभा की अनुसंधान विवरण पत्रिका और आधुनिक विद्वानों की खोज के अनुसार सूर-प्रणीत चौबीस ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है । इनमें से साहित्य-लहरी, सूरसारावली आदि उल्लेखनीय है । सूरदास के इन दोनों ग्रंथों की प्रामाणिकता विवादास्पद है ।

सूरसारावली में ११०३ तक पद हैं । संग्रहकार ने पुस्तक के प्रारम्भ में लिख दिया है कि रचना सूरकृत है तथा यह सूरसागर का सार एवं उनके पदों की अनुक्रमाणिका हैं । परन्तु उक्त ग्रंथ के अध्ययन से विदित होता है कि यह अनुक्रमाणिका न होकर स्वतन्त्र ग्रंथ है । दूसरे सूरसारावली में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनका उल्लेख सूरसागर में नहीं है । इन दोनों ग्रंथों में कृष्ण-जीवन-सम्बन्धी घटनाओं में वैषम्य

पाया गया है। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा की धारणा है कि संभव है कि इस ग्रंथ का प्रणेता सूरसागर के कर्ता सूरदास से विभिन्न कोई दूसरा हो। अस्तु। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है।

साहित्य लहरी को सूरसागर का अंश बताया गया है इसमें सूरदास के वे पद हैं जिनमें नायिका भेद, अलंकार एवं रस निरूपण है। इसमें अनेक दृष्टकूट के पद भी संकलित हैं। किंवदन्ती है कि अष्टछाप के दूसरे प्रमुख कवि नन्ददास को रसरीति से परिचित कराने के लिये इस ग्रंथ का प्रणयन किया गया था। साहित्य लहरी के ११२ वें पद में सूर का वंश-परिचय दिया गया है जिसमें उसे चन्दवरदाई का वंशज माना है। इसमें यह भी बताया गया है कि किस प्रकार जनमांध सूर कुएं में गिरे और भगवान ने सातवें दिन उन्हें निकाला और फिर अन्तर्ध्यान हो गये। भगवान ने उन्हें यह भी बताया कि दक्षिण के ब्राह्मण कुल से शत्रु का नाश होगा। दक्षिण के ब्राह्मण कुल से पेशवाओं का बोध होता है। अधिकतर विद्वानों ने इस पद को प्रक्षिप्त माना है। आचार्य द्विवेदी ने इस सारी की सारी रचना को संदेहास्पद माना है। उनका कहना है कि यह बहुत अजब है कि सूरदास जैसा सहज भक्त अलंकार और नायिका-भेद के प्रदर्शन की उलझन में उलझा हो, दूसरे ग्रंथ के १०९ पद में ग्रंथ की तिथि और समाप्ति का निर्देश कर चुकने के बाद वह अपने वंश और जाति का उल्लेख करने लगेगा। इस ग्रंथ का निर्माण समय १६२० ई० पड़ता है जो कि सूरदास की मृत्यु के बाद का समय है। जहाँ तक द्विवेदी जी के प्रथम तर्क का सम्बन्ध है वह कोई इतना पुष्ट नहीं। कृष्णदास अधिकारी की प्रेरणा से सूरदास को नन्ददास से लिए अलंकार, नायिका-भेद, और रस-रीति पर कुछ लिखना पड़ा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। सूर-साहित्य में कई घोर शृंगारिक पद मिलते हैं जिन्हें अधिकारी जी का प्रभाव कहा जा सकता है। ऐसे पदों का आध्यात्मिक अर्थ लगाना केवल अटकल पच्चू मात्र होगा। अस्तु! द्विवेदी जी के अन्य दो तर्क बड़े सबल हैं। यह बहुत सम्भव है कि साहित्य लहरी किसी अन्य सूरदास की रचना हो और इसमें सूरदास के भी कुछ पद मिल गये हों। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा का अनुमान है कि यह किसी भाट का सूरदास को स्वजातीय बनाने का प्रयत्न है डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी इस कृति को सूरदास-कृत नहीं माना है। अस्तु! इस पुस्तक को इतना अधिक महत्त्व देना उचित नहीं।

सूरसागर इनकी एक मात्र प्रामाणिक रचना है। यह एक गेय मुक्तक काव्य है जिसमें भगवान की लीलाओं का विस्तारपूर्वक फुटकर पदों में वर्णन किया गया है श्रीमद्भागवत के समान इसमें भी बारह स्कन्ध हैं। यह ग्रंथ भागवत को आधार बना कर लिखा गया है किन्तु इसे भागवत का अनुवाद समझना भूल होगी। इसमें सूरदास ने पर्याप्त मौलिक उद्भावना से काम लिया है। सूरसागर के दशम स्कन्ध में ३६३२ पद हैं जो कि कृष्ण-भक्ति-काव्य का गौरव और सूर साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है। भागवतकार कृष्ण के समूचे जीवन को लेकर चला है जबकि सूर ने कृष्ण

के जीवन के कोमलतम अंशों पर असंख्य लीला-पद रचे और दूसरे प्रसंगों को चलता-सा किया। भागवत में कृष्ण की अनन्य प्रेमिका किसी गोपी का उल्लेख है जब कि यहाँ प्रेम-रस में आमूल-चूल सिक्त राधा की कल्पना की गई है। भ्रमर-गीत की कल्पना उनकी कृष्ण-भक्ति काव्य को एक मौलिक देन है। सूरदास ने लोक-प्रचलित कृष्ण की प्रेम कथाओं का अपने सागर में स्तुत्य प्रयोग किया है। सूरदास का काव्य मुक्तक काव्य होते हुए भी प्रबन्धात्मकता के सूत्रों को भी सम्भाले हुए है। इनके लीलापदों में कृष्ण जीवन की क्रमात्मक कथा मिल जाती है। आचार्य द्विवेदी इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"शिल्प में गीतिकाव्यात्मक मनोरागों को आश्रय करके महाकाव्यात्मक शिल्प का निर्माण हुआ है। ताजमहल ऐसी ही महाकाव्यात्मक शिल्प है, जिसका मूल मनोराग गीतिकाव्यात्मक या लिरिकल है। सूरसागर भी इसी प्रकार का महाकाव्यात्मक शिल्प है जिसका मूल मनोराग लिरिकल या गीतिकाव्यात्मक है।"

भक्ति-भावना—सूरदास की भक्ति-भावना का मेरुदंड पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त भगवदनुग्रह है। इसी को आधार मान कर वे वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भाव की नाना पद्धतियों में भाव व्यंजना में लीन रहे। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के पूर्व वे विनय के पदों की रचना किया करते थे। उनके कुछ पद ऐसे भी हैं जिनमें निर्गुण साधना-पद्धति का संकेत मिलता है—

नैननि निरखि स्याम स्वरूप।
रह्यो घट-घट व्यापि सोई जोति रूप अनूप। - सूरसागर

ऐसे पदों में सूर ने ब्रह्मज्ञानियों के समान माया का वर्णन किया है। वैष्णव भक्ति परम्परा में विनय-भक्ति की भावना में सात भूमिकायें—दीनता, मानमर्षता भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा स्वीकार की गई हैं। सूरदास ने दीनता का अच्छा परिचय दिया है। वल्लभ की साधना-पद्धति लीला-प्रधान है। दास्य भाव की भक्ति में भक्त भगवान् के समकक्ष नहीं हो सकता। यह बात लीला सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ती है। वल्लभ सम्प्रदाय में लीला के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि भगवान् का साक्षात्कार बड़ी बात नहीं, बड़ी बात है भगवत्प्रेम। भगवान् के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है और लीला उसी प्रेम का प्रपंच है। लीला का प्रयोजन लीला ही है। वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी होने के पश्चात् सूर ने विनय भाव और दास्य भक्ति को छोड़कर सख्य भाव की भक्ति को अपनाया। उन्होंने भगवान् की लीला का गान करते हुए नवधा भक्ति के कीर्तन, स्मरण आदि सभी रूपों का वर्णन किया। पुष्टिमार्ग में भगवान् के अनुग्रह पर सर्वाधिक बल दिया गया है। भगवान् का अनुग्रह ही भक्त का कल्याण कर सकता है। इस साधना पद्धति में ज्ञान, योग और कर्म को निरर्थक कहा गया है। सूर-साहित्य में नारद-भक्ति सूत्र का ग्यारह आसक्तियों का वर्णन है पर उनका मन सख्य, वात्सल्य, रूप, कान्ता और तन्मयता शक्ति में अधिक रमा है। भ्रमर-गीत में विरहाशक्ति का अत्यन्त उत्कृष्ट रूप देखा जा सकता है। सूर-साहित्य में जहाँ दार्शनिक विवेचन हुआ है वह वल्लभ के शुद्धाद्वैतवाद के

अनुसार है। सूर ने जहाँ राम-कथा का उल्लेख किया है वहाँ विष्णु के अवतार होने के नाते कृष्ण और राम की भक्ति को रागानुराग कहा जा सकता है। व्यक्तिगत सम्बन्ध की निकटता और अनन्यता की दृष्टि से कांता-भाव की भक्ति सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। सूर ने गोपियों के माध्यम से माधुर्य भाव की अभिव्यंजना की है। सूर द्वारा वर्णित गोपी-कृष्ण-प्रेम में ऐन्द्रियता नहीं बल्कि हृदय की पवित्रता, उदारता, अनन्यता और सर्वात्म-समर्पण हैं। उनमें किसी प्रकार की अश्लीलता नहीं। सूरदास ने माधुर्य भाव की भक्ति द्वारा स्वयं भी व्रज रस का खुल कर पान किया और ब्रजवासियों को आकंठ उस रस से आप्यायित किया।

सूर की भक्ति और समाज – सूर भक्ति-क्षेत्र में इतने आगे निकल गये कि समाज की आवश्यकताओं का उन्हें ध्यान ही नहीं रहा। वे पहले भक्त है और बाद में कवि। शुद्ध लीलावादी कवि होने के नाते कला कला के लिए समान उनका काव्य स्वान्तः सुखाय है। लीला का प्रयोजन लीला ही है। सूर में तुलसी की भांति लोक-संग्रह भावना नहीं मिलती है। वस्तुतः वे कृष्ण के रंग में इतना लीन हो गये थे कि समाज चाहे नष्ट हो जाए या रहे, उन्हें कोई परवाह नहीं थी। वे सांसारिक प्रलोभनों से दूर थे, यहां तक कि कृष्ण के समक्ष भी उन्हें कोई प्रलोभन नहीं था। एक उदारात्मा खिलाड़ी के समान विजय, पराजय से उन्हें कोई सरोकार नहीं है उन्हें तो प्रेम की संकरी गली में कृष्ण-लीलानन्द का खेल खेलना है। सूर के साम्राज्य में केवल वे और कृष्ण ही रहे। सूर का अपना एक छोटा-सा प्रेम का एक संसार है जिसमें वे हैं और उनका बाल-गोपाल है, गोप और गोपियाँ हैं, मनसुखा और राधा है, रास और रंग हैं, लीला और विहार है, मुरली और तानपूरा है, माखन और दूध है, गौएँ और बछड़े हैं, यमुना और कुंज हैं, यशोदा और नन्द हैं, जहाँ सदा उल्लास, माधुर्य और आनन्द है। वहाँ विषाद का चिन्ह नहीं है, खिन्नता का आभास नहीं। वहाँ नित्य नवजीवन और यौवन-उन्माद है। सचमुच उनकी मथुरा तीन लोक से न्यारी है जोकि एक मात्रकृष्ण-लीलाधाम है। उनमें रीति और नीति का प्रवेश नहीं है।

सूर का युग वही है जो कि तुलसी का है। तुलसी-साहित्य में उस युग की राजनीतिक छाप स्पष्ट है जिसे वे प्रच्छन्न रूप से रामत्व की रावणत्व पर विजय की कल्पना से अभिव्यक्त करते हैं। उनके 'कलि-महिमा' वर्णन में तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र है और राम-राज्य में आदर्श भावी समाज का। सूर का साहित्य तत्कालीन राजनीतिक घात-प्रतिघातों तथा सामाजिक क्रियाओं प्रतिक्रियाओं से एकदम अछूता है। उनके साहित्य में सर्वत्र कृष्ण के प्रेम-रस की मधुर मुहर लगी हुई है। समाज किधर जा रहा है, शासक क्या कर रहे हैं, समय की गतिविधि क्या है, इन प्रश्नों से मानों उन्हें कोई लगाव ही नहीं था। सूरदास उस अष्टछाप के अन्यतम कवि हैं, जिसके एक कवि का कहना है—"सन्तन कौ कहा सीकरी सौ काम।" सूर के समाज के प्रति इस तटस्थता में पुष्टिमार्गी दार्शनिकता का भी कोई कम हाथ नहीं।

उसके अनुसार संसार दुःखमय है। जीव को आनन्द का आविर्भाव करने के लिए आनन्दस्वरूप श्रीकृष्ण की लीलाओं में प्रवेश करना है, कृष्ण के असुरनिकन्दन या दुष्टदलन रूप में नहीं। राक्षस वध, कोई पूर्व नियोजित वस्तु नहीं । पूतना-वध, वकासुर और अघासुर वध, तथा कालियदमन आदि तो कृष्ण की लीला ही लीला में सम्पन्न हो गये हैं। पुष्टिमार्गी भक्त भगवदनुग्रह के अतिरिक्त अन्य किसी साधन पर विश्वास नहीं रखता। लोभादर्श सदसद्विवेक आदि का इस भक्ति-पद्धति में प्रवश नहीं है। पुष्टिमार्ग में कृष्णार्पणम् की भावना ही प्रमुख है।

माधुर्य-भाव की उपासिका गोपियाँ समाज-सम्बन्ध तोड़कर कृष्ण लीला में सम्मिलित होती हैं। सूरदास स्वयं एक गोपी के रूप में उस लीला-विहारी के साथ बिहार करते होंगे। प्रेम का पूर्ण निर्वाह लोक-समाज और शास्त्र की अवहेलना में है न कि उनकी मर्यादाओं के पालन में। सूरदास का कहना है—

> प्रेम प्रेम ते होई, प्रेम ते पारहिं पइए।
> प्रेम बन्ध्यौ संसार, प्रेम परमारथ लहिए॥
> एकै निश्चय प्रेम कौ, जीवन मुक्ति रसाल।
> सांचौ निश्चय प्रेम कौ, जहिरं मिलें गोपाल॥

प्रेमी अपने प्रेम-पात्र के सौन्दर्य पर सदा न्यौछावर होता है। सूर की गोपियां सौन्दर्य के अथाह सागर श्रीकृष्ण में आजीवन गोते लगाती रहीं और उसकी थाह प्राप्त करने का यत्न करती रहीं, उनके पास समाज और संसार की थाह पाने का अवकाश ही कहाँ था? सूर के कृष्ण सुन्दर के प्रतीक हैं। सुन्दर का चित्रण कोई आसान कार्य नहीं, क्योंकि सौन्दर्य क्षण-प्रतिक्षण नित्य नवीन होता है।

प्रबन्ध-काव्य में समाज का चित्रण सहज में होता है, किन्तु वैयक्तिकता-प्रधान गीति काव्य में ऐसा होना सम्भव नहीं है। गीत-काव्य में भावों की तीव्रानुभूति होती है और उसकी परिमित परिधि में व्यापक लोकचेतना का समावेश होना कठिन है। सूरदास गीतिकार थे। उनके गीतों में छायावादी गीतों के समान सामाजिकता नहीं आ सकती थी।

सूरदास की एक ही आशा और अभिलाषा है—कृष्ण-लीलागान। उनकी सख्य भाव की भक्ति में किसी प्रकार की मर्यादा-नियम, विधि-विधान एवं आदर्श की अपेक्षा नहीं। कृष्ण-भक्ति के अनुसार कृष्ण ही केवलमात्र पुरुष है, शेष सभी जीवात्मायें हैं जो कि सदा कृष्ण-लीला और विहार में लिप्त रहती हैं। उन्हें समाज की कोई चिन्ता नहीं है। सूरदास राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के चित्रण में इतने तन्मय थे और शुद्ध भावना से उन्हें इतना आध्यात्मिक रूप दिया कि "नीवी खोलत धीरे यदुराई" तक निःसंकोच कह डाला और राधा-कृष्ण के शुद्ध प्रेम को, उनके विहार और रति भावना को अनेक तरल पदों में गा दिया। उन्हें कदाचित् यह ज्ञात

नहीं था कि इसका प्रभाव साधारण जन-समाज पर क्या पड़ेगा। उन्हें यह भी पता नहीं था कि उनके राधा और कृष्ण रीतिकालीन कवियों के अनाधिकारी हाथों में पहुंच कर साधारण नायिका और नायक बन जाएँगे। रीति कवि ने राधा और कृष्ण की आड़ में मानसिक फफोले फोड़े इससे हिन्दी-साहित्य का विद्यार्थी भली भाँति परिचित है। यहाँ तक कि रीति काल के कवि ने "केलि राति अघाने नहिं..." आदि में विपरीत रति-सुख का वर्णन राधा-कृष्ण की आड़ में कर डाला।

सूरदास ने यशोदा और नन्द के स्वस्थ-गृहस्थी जीवन का चित्र भी खींचा है, उसमें कृष्ण अपनी लीलायें दिखाते हैं। ऐसे दृश्य हम अपने साधारण घरों में नित्यप्रति देखते हैं। किन्तु कृष्ण के व्यापक जीवन से केवल इतने ही अंश का समाज के साथ सम्बन्ध नगण्य-सा है। वास्तव में बात तो यह है कि सूर ने कृष्ण के जीवन के मृदुल एवं माधुर्यमय अंशों पर अपने तानपुरे का ऐसा सुर अलापा कि वहाँ समाज का कोलाहल पहुंच ही नहीं पाया। सूर का मस्त कलाकार निःशंक रूप से गाता रहा—

देखो माई सुन्दरता को सागर।

तथा

प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ।

आचार्य द्विवेदी के शब्दों में "भक्तों में मशहूर है कि सूरदास उद्धव के अवतार थे। यह उनके भक्त और कवि-जीवन की सर्वोत्तम आलोचना है।"

सूर की काव्य-साधना—सूर हिन्दी साहित्य के कमनीय कलाकार हैं। उनके साहित्य में न तो कबीर के समान कलापक्ष की अवहेलना है और न ही तुलसी के समान मर्यादा और नैतिकता का आग्रह। "यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य-क्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की विभिन्न दशाओं का समावेश हो पर जिस परिमित पुण्य-भूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुंची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं।" सूर का समस्त काव्य-विनय, वात्सल्य और शृंगार की त्रिवेणी है। उनमें भक्ति, कविता और संगीत इस रूप से घुल-मिल गये हैं कि उन्हें पृथक करना सहज व्यापार नहीं है।

विनय के पद—वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व सूरदास दैन्यपूर्ण पदों की रचना किया करते थे। इन पदों में भक्त-हृदय की समस्त ग्लानि, दीनता, पश्चात्ताप, निरीहता, संसार के प्रति विरक्ति, आत्मविस्मृति और सर्वभावेन आत्म-समर्पण ओत-प्रोत हैं। इन पदों में किसी प्रकार की दार्शनिकता नहीं है बल्कि इनमें हैं भक्त का कातर तथा निश्छल हृदय। इन पदों में उनका आत्मनिवेदन अतीव सुन्दर बन पड़ा है—"माधव नैकु हटको गाइ", "प्रभु हौं पतितन को टीकौ" तथा "जैसेहिं राखौ तैसेहिं रहौं।"

वात्सल्य-वर्णन—सूर वात्सल्य हैं। और वात्सल्य सूर हैं। यह एक बड़ी ही आह्लादक एवं आश्चर्यपूर्ण बात है कि सूर से पूर्व किन्हीं हिन्दी कवि ने वात्सल्य रस का चित्रण नहीं किया पर सूर ने पहली बार इस क्षेत्र में इतना सुन्दर कहा कि इस सम्बन्ध में औरों के लिए कुछ कहने को नहीं रहा। सूर के वात्सल्य वर्णन के बाद सब उसकी जूठन। सूर वात्सल्य रस का कोना-कोना झांक आये हैं। उन्होंने बाल्य जीवन की साधारण से साधारण घटनाओं और चेष्टाओं का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक और कलात्मक वर्णन किया है। इनके वात्सल्य रस के वर्णन में पृथ्वी भी स्वर्ग बन जाती है। इस प्रसंग में सूर का पाठक सूर के स्वर में स्वर मिलाकर कह उठता है—

"जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ, सो नित जसुमति पावै।"

सूर को माता-पिता के हृदय और बालकों के मन की गहरी पहचान हैं। सूर गोपाल कृष्ण का कभी भी साथ छोड़ते नहीं हैं। कभी तो यशोदा के ममतापूर्ण हृदय में बैठकर गोपाल कान्ह की नयनाभिराम लीलाओं को निहारते हैं तो कभी बाबा नन्द के दिल की गहराइयों में पैठकर कन्हैया की स्नेहमय झांकियाँ देखते हैं। कभी वे रेता, पेंता और मनसुखा बनकर कृष्ण के साथ माखन चुराने, दूध और दधि लुढ़काने और गौएँ चराने में कृष्ण के साथ-साथ बने रहते हैं, तो कभी इस सम्बन्ध में गोपियों के द्वारा कृष्ण को दिलाये गये उपालंभों में मीठा आनन्द लेते हैं तो कभी बलराम और कृष्ण की परस्पर की छेड़ छाड़ में रसास्वादन करते हैं, कभी वे यशोदा के द्वारा भिजवाये करुणार्द्र संदेशों में द्रवित होते हैं तो कभी ब्रजवासी वृद्ध गोप और गोपियों के प्रेमोद्‌गारों में गद्‌गद् हो उठते हैं। सूर के कलाकार का भोले-भाले बालक का सा हृदय है। उनकी विराट् प्रतिभा के सामने बाल्य जीवन की कोई भी वृत्ति तिरोहित न रही। कृष्ण के बाल्य जीवन से सम्बद्ध सम्पूर्ण क्रीड़ाओं—कृष्ण-जन्म, नाल-छेदन, नामकरण वर्षगाँठ, कृष्ण का पालन में झूलना, अंगूठा चूसना, लोरियों के साथ सोना, प्रभातियों के साथ जागना, हँसना, मचलना, बहाने बनाने का अत्यन्त सूक्ष्म और विशद विवेचन सूर ने किया है।

नन्द और यशोदा को प्रौढ़ अवस्था में बालक कृष्ण की प्राप्ति होती है। उनका कृष्ण के प्रति अतिशय स्नेह स्वाभाविक था। जैसे कृष्ण-साहित्य में राधा प्रेमरूपिणी हैं वैसे ही यशोदा वात्सल्य-रसधारिणी हैं। उनका समस्त व्यक्तित्व ही कृष्ण प्रेम में घुलमिल गया है। उठते-बैठते, सोते जागते, खाते-पीते चौबीसों घंटे उन्हें कृष्ण का ही ध्यान है। वे कृष्ण को सुलाती, झूला झुलाती और लोरियाँ गाती हैं—"जसोदा हरि पालने झुलावै" वे कृष्ण के घुटनों के बल चलने और उसकी दँतुलियों के निकलने पर उल्लसित हो उठती है। वे उसे आँगन में अंगुली के सहारे चलना सिखाती हैं, और नाना प्रलोभन देकर दूध पिलाती हैं और उन्हें कृष्ण की मीठी-मीठी बातों "मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी" के सुनने का सुअवसर मिलता है। बालकों में सहज ईर्ष्या का चित्र भी कितना हृदयहारी बन पड़ा है—"मैया मोहिं दाऊ

बहुत खिजायौ" तथा "तू मोहिं कौ मारन सीखी दाउहिं कबहुं न खीझै।" गोपियों के उलाहना देने पर कृष्ण का चातुर्यपूर्ण उत्तर—"मैया मैं नाहिं माखन खायौ" सूर की बाल मनोविज्ञान की गहरी पहचान का परिचायक है और अन्ततोगत्वा कृष्ण की माँ को खरी तीखी बात—"मैया मैं न चरैहों गैयाँ" कितनी मर्मिक और रसपूर्ण बन पड़ी है। कृष्ण के खेलने के लिए दूर चले जाने पर ममतामयी माँ का हृदय आशंका से भर जाता है और वह कह उठती है—"खेलन दूर जात कित कान्हा।" कहने का तात्पर्य यह है कि सूर ने बालक-सुलभ हृदय की किसी वृत्ति या भाव को छोड़ा ही नहीं। सूर के वात्सल्य वर्णन का वैशिष्ट्य इस बात में है कि उनके कृष्ण तुलसी के राम के समान जन-जीवन से अलग नहीं हैं। आज भी सद्गृहस्थियों के घर कृष्ण-जैसे बालकों की क्रीड़ाओं, हर्ष, उल्लास, हास्य और परिहास से भर जाते हैं और लाखों यशोदायें खिल उठती हैं। तुलसी ने भी बालभाव का वर्णन किया है किन्तु वे अपनी ऐश्वर्योपासना के कारण यह नहीं भूलते कि उनके राम राजकुमार हैं। उनके बालक राम भी मर्यादा में बंधे हैं। तुलसी ने सूर के समान कोशल्या से पालनादि भुलवाया है, पैदल चलना सिखाया है और बड़े होने की अभिलाषा भी प्रकट की है किन्तु राजकुमार राम में शील का प्राबल्य है। उनके पास रेता, पेता और मानसुखा की पहुंच नहीं है। सूर के कृष्ण अपने सखाओं के साथ गौएं चराते हैं। उन पर खीजने पर सुननी भी पड़ती है—"खेलन में को काको गुसैयां।" तुलसीदास राम के प्रति दास्य भाव को भूल नहीं सके। वात्सल्य के लिए जो स्वतन्त्रता चाहिए वह तुलसीदास अपने बालचरित वर्णन में नहीं ला सके। वस्तुतः सूरदास इस क्षेत्र में असंदिग्ध रूप से सम्राट है। आचार्य द्विवेदी जी इस संबंध में लिखते हैं—'संसार के सहित्य की बात कहना तो कठिन हैं क्योंकि वह बहुत बड़ा है और उसका एक अंश मात्र हमारा जाना है। परन्तु हमारे जाने हुए साहित्य में इतनी तत्परता, मनोहारिता और सरसता के साथ लिखी हुए बाललीला अलभ्य हैं। बालकृष्ण की एक-एक चेष्टाओं के चित्रण में कवि कमाल की होशियारी और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है। न उसे शब्दों की कमी होती है, न अलंकार की, न भावों की, न भाषा की।" सूर काव्य की यह अपनी विशेषता है उसमें पुनरुक्तियां होते हुए भी हृदय पर द्विगुणित प्रभाव डालता है। ईश्वरोपासना में बालभाव अपनी निरीहता और निश्छलता के लिए प्रशस्त माना है। क्राइस्ट (Christ) ने कहा था "Suffer little children to come unto me for theirs is the kingdom of Heaven." मनु कृतात्मा के लिए कहते हैं—"बालवज्जड-वच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्।"

शृंगार-वर्णन—सूर ने शृंगार रस की विश्व व्यापक भावभूमि को भक्त की उच्चतम भव्यता प्रदान करके उसे उज्ज्वल रस की संज्ञा से विभूषित किया है। सूर ने शृंगार रस को भक्ति रस के पुटपाक से जितना सौम्य और भव्य बनाया है वह कदाचित् ही अन्यत्र मिले। सूर के शृंगार रस में रति स्थायीभाव का पूर्ण और

अलौकिक परिपाक हुआ है। गोपियों और राधा का प्रेम एक आकस्मिक घटना न होकर सचमुच एक बिरवा या बेल के समान बढ़ा है। उनके शैशव का प्रेम यौवन के माधुर्य रस में परिणत हो गया—

"लरिकाई को प्रेम कहौ अलि कैसे छूटत।"
"बारे ते बलवीर बढ़ाई, पोसी प्याई पानी॥"

सूर की गोपियों में प्रेम के संस्कार पक्के हैं। इनमें विद्यापति की गोपियों के समान रूपलिप्सा नहीं वरन् सहचार (Fellowship) की भावना है। वे भावना प्रधान हैं, नन्ददास की गोपियों के समान वकील नहीं। "वास्तव में सूरदास की राधिका शुरू से आखिर तक सरल बालिका है। उनके प्रेम में चण्डीदास की राधिका की तरह पग-पग पर सास-ननद का डर भी नहीं है और विद्यापति की किशोरी राधिका के समान रुदन में हास और हास में रुदन की चातुरी भी नहीं हैं। इस प्रेम में किसी प्रकार की जटिलता भी नहीं है। घर में, वन में, घाट पर, कदम्ब तले हिंडोले पर जहाँ कहीं भी इसका प्रकाश हुआ है, वहीं पर अपने आप में ही पूर्ण है, मानो वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता और न कोई दूसरा ही उसकी खबर रखता है।" सूर ने आलंबन के रूप में कृष्ण के रूप और सौन्दर्य का विस्तृत चित्रण किया है और गोपियों के रूप माधुर्य का इस रूप में बहुत कम वर्णन किया है। हम भले ही इस रूप में सूर के श्रृंगार को एकाकी कह सकते हैं, किन्तु श्रृंगार के इस एकांगी रूप में भी उन्होंने प्रेम की विविध दशाओं का वर्णन किया है। "सूर ने बड़ी सच्चाई के साथ प्रेमी हृदय में रति की उत्पत्ति, प्रिय-मिलन की लालसा, प्रिय मिलन का हर्ष और चापल्य, प्रियस्मृति, लोक-लाज, प्रेम की विकलता, साहस और उन्माद का ऐसा प्रभावोत्पादक विशद चित्रण किया है कि एकांगीपन खटकता नहीं पनघट, यमुना स्नान, दान-लीला और रस के प्रसंगों में गोपियों का प्रेम उज्ज्वल-तम है। गोपियों का यह प्रेम विलास नहीं, बल्कि वह आत्मानुराग का स्वच्छन्द प्रकाशन है, उसमें किसी प्रकार का लुकाव-छिपाव नहीं। गोपियों के स्वीकीया-प्रेम में सात्विकता है।"

सूर ने गोपियों और राधा के माध्यम से अपने हृदय को द्राक्षारस के समान निचोड़ कर रख दिया है। इन्होंने राधा और कृष्ण के प्रेम-वर्णन में प्रेम का चरम आदर्श उपस्थित किया है। राधा और कृष्ण की युगल लीलाओं के वर्णन में सूर ने अपनी समस्त प्रतिभा और सकल काव्य-कौशल का उपयोग किया है। इन्होंने भागवतकार की अपेक्षा कृष्ण, गोपियों और राधा के प्रेम-निरूपण में अधिक कला का परिचय दिया है। प्रेम के इस व्यापक चित्रण—नखशिख और संयोगादि में कहीं कहीं पर रीतिशास्त्र का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है, किन्तु उसमें किसी प्रकार का वासना-कालुष्य नहीं। यह सारी प्रेम-कहानी आध्यात्मिक भूमि पर प्रतिष्ठित है। उसमें आत्मा का उज्ज्वलतम प्रकाशन है और सर्वत्र है भक्ति रस।

विप्रलम्भ शृंगार—सूर का संयोग चित्रण जितना सुखद और उल्लासमय है वियोग चित्रण उतना करुण, मर्मस्पर्शी और हृदयग्राही है। कारण, कृष्ण की वियोगानुभुतियों का निरूपण वल्लभ भक्ति के अत्यन्त अनुकूल पड़ता है। सूर संयोग और वियोग चित्रण में दुनिया को भूल अपने आप में मस्त है। "सूर का प्रेम संयोग के समय सोलह आने संयोगमय हैं और वियोग के समय सोलह आने वियोगमय है क्योंकि उनका हृदय बालक का था। जो अपने प्रिय के क्षणिक वियोग में अधीर हो उठता है, क्षणिक सम्मिलन में सब कुछ भूल कर किलकारियाँ मारने लगता है।" इनका वियोग-वर्णन अत्यन्त संयम एवं मनोवैज्ञानिक है। इन्होंने जायसी की भांति प्रत्येक वस्तु में विरह की झलक नहीं दिखाई और न ही गेहूं का हृदय विरह से विदीर्ण दिखाया है। इन्होंने विरह-वर्णन में उन वस्तुओं को लिया है जो कृष्ण से सम्बद्ध हैं। तुलसी की कौशल्या और सूर की यशोदा का विरह एक जैसा है, किन्तु सूर में जो अनोखी व्यंजना है वह तुलसी में नहीं। तुलसी का मर्यादावाद पग-पग पर अड़ जाता है। राम के एक पत्नी व्रत होने के कारण उसमें उपालंभ और असूया का अभाव है।

सूर-साहित्य में वियोग शृंगार का आरम्भ कृष्ण के मथुरागमन से होता है। कृष्ण मथुरा क्या गये कि समस्त ब्रज का उल्लास और आनन्द समाप्त हो गया। माता यशोदा का हृदय विरह-व्यथा से पीडित है और वह शतशः फटा जा रहा है। गोपियों के आँसुओं से ब्रज डूबने को हो जाता है। गौएँ, बछड़े व्याकुल हो उठते हैं। गोपी और कृष्ण के सखाओं का बुरा हाल हो जाता है। प्रकृति उन्मनी हो जाती है। मानो समस्त ब्रज की कलिकाओं पर तुषारपात हो जाता है। यशोदा मानसिक सन्ताप से विक्षिप्त होकर नन्द से लड़ने लगती है। वह दीनताभरी आवाज में कह उठती है—"नन्द ब्रज लीजै ठोंक बजाय।" ब्रजेश के विरह में गोपियों का दुःख अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। वे एक मात्र जड़ हो जाती हैं कृष्ण के बिछु-ड़ते समय उनका हृदय टुकड़े-टुकड़े क्यों न हो गया, ये निर्मोही अभागे प्राण चले क्यों न गये, बस इसी भर्त्सना में उन बिचारियों के पहाड़-जैसे दिन बीतते हैं। कृष्ण से सम्बद्ध ब्रज की प्रत्येक वस्तु इन्हें खाने को दौड़ती है। पावस के धन और शीतल शशि उन्हें दाहकारी लगते हैं। रात उन्हें सांपिन सी प्रतीत होती है—"पिया बिनु-साँपिन कारी रात।" इस प्रकार गोपियों का कोमल हृदय करुणा की सहस्त्रधा तरल-तरंगों में द्रवित हो जाता है। यही नहीं, कृष्ण के विरह में प्रकृति की प्रत्येक वस्तु इसका अनुभव करती है। उसकी प्यारी गौएँ दीन और हीन हो गई हैं और वे कृष्ण को न देखकर पछाड़ खाकर गिर जाती हैं। गोपियों की आशा-लता तो एक दम छिन्न-भिन्न तथा विदीर्ण हो गई। ये बार-बार सोचती हैं कि यदि उस सांवले का पुनर्मिलन होना होता तो वे बता कर तो जाते या कम से कम मथुरा से सन्देश तो भेजते। बस, कृष्ण की यही हृदय-कठोरता उन्हें रात-दिन आँसू बहाने पर विवश कर देती है।

राधा के वियोग-वर्णन में सूर ने और भी कमाल कर दिया है। सूर ने राधा

के माध्यम से प्रेम का जो परिमार्जित रूप उपस्थित किया है वह शायद ही भारतीय साहित्य में मिले। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में—"वियोग-समय की राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है वह भी इस प्रेम के योग्य है। मिलन समय की मुखरा, लीलावती, चंचला और हंसौड़ राधिका, वियोग के समय मौन, शांत और गम्भीर हो जाती है। उद्धव के साथ अन्य गोपियाँ काफी बक झक करती हैं पर राधिका वहाँ जाती भी नहीं। उद्धव ने श्रीकृष्ण से उनकी जिस मूर्ति का वर्णन किया है उसमें पत्थर भी पिघल जाता है।" उन्होंने राधिका की आँखों से निरन्तर आँसुओं को गिरते देखा था। आँखें धँस गई थीं और शरीर कंकाल मात्र रह गया था। राधा दरवाजे में आगे नहीं बढ़ सकी। प्रिय के लिये सन्देश माँगने पर वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। वह माधव-माधव रटते-रटते स्वयं माधव हो गई थी। सच यह है कि सूर का यह एकान्त, विरह अमर है। उनका भ्रमर गीत विरह और उपालंभ काव्य का चरम निदर्शन है। वैसे तो सूर ने कृष्ण की संयोग-लीलाओं में पर्याप्त रस लिया है पर वियोग-पक्ष में उनकी वृत्ति अधिक रमी है। कारण, रति की आध्यात्मिक परिणति वियोग-विरह से जितनी संभव है, वह संयोग के मिलन-सुख से नहीं, क्योंकि मिलन में एक प्रकार की जड़ता है और विरह में क्रियाशीलता है। सच तो यह है कि श्रृंगार का रसराजत्व कदाचित् उसके वियोग-पक्ष से है।

सौभाग्यवश सूरदास ने विशाल आयु प्राप्त की, अतः उनके साहित्य पर नाना प्रभाव पड़े। पुष्टि मार्गी प्रभाव के कारण जहाँ उन्होंने वात्सल्य और सख्य भावों का निरूपण किया वहाँ चैतन्य और हरिवंश के संप्रदायों से प्रभावित होकर उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रणयात्मक जीवन के सरस पद भी लिखे। कहीं-कहीं तो सूर पर हरिवंश जी का इतना प्रभाव है कि दोनों के पदों को पृथक् करना भी कठिन हो गया है। चैतन्य संप्रदाय में राधा-कृष्ण के प्रेम का चित्रण परकीयाभाव से किया गया है किन्तु सूरदास ने अपनी मौलिकता को अक्षुण्ण रखते हुए राधा कृष्ण के प्रेम का चित्रण स्वकीया-भाव से किया है।

सूर के विरह-वर्णन पर एक आक्षेप—आचार्य शुक्ल सूर के विरह-वर्णन के सम्बन्ध में लिखते हैं – "सूर का वियोग-वर्णन वियोग वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते-करते किसी कुंज या झाड़ी में जा छिपते हैं, या यों कहिए कि थोड़ी देर के लिए अन्तर्ध्यान हो जाते हैं, बस, गोपियाँ मूर्च्छित गिर पड़ती हैं। उनकी आँखों में आँसुओं की धारा उमड़ चलती है। पूर्ण वियोग दशा उन्हें आ घेरती है। यदि परिस्थिति का विचार करें तो ऐसा विरह-वर्णन असंगत प्रतीत होता है।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"सूर की गोपियों का विरह ठाली बैठे का-सा कार्य दिखाई देता है। उनके विरह में गम्भीरता नहीं है। चार कोस पर मथुरा में बैठे हुए कृष्ण से गोपियाँ क्यों नहीं मिल आतीं ?" हमारे विचारानुसार आचार्य शुक्ल का यह आक्षेप आक्षेप के लिए है और कदाचित् सूर के भक्ति-सिद्धान्त को न समझने का परिणाम है। यह आपेक्ष कदाचित् तुलसी को सूर

से अधिक प्रश्रय देने के लिए भी हो सकता है। दूसरे, शुक्ल की आलोचना के मानदण्ड रामचरितमानस पर आधारित हैं। वे तुलसी की नैतिकता मर्यादा और लोक-संग्रह की भावना को सूर में भी देखना चाहते हैं, जबकि ऐसा करते समय सूर के कविता सम्बन्धी दृष्टिकोण को भूलना नहीं चाहिए। वस्तुतः मानस और सागर भिन्न-भिन्न वातावरण में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करते हैं। अतः सागर को सूर के दृष्टिकोण से देखना समीचीन होगा।

सूरदास में रहस्यात्मकता और आध्यात्मिकता हैं जिन्हें शुक्ल भी स्वीकार करते हैं। आत्मा-परमात्मा का अंश होने के कारण उसमें लीन होने के लिए छटपटाता है। जलबिन्दु नाना रूपों में सागर में मिलती है। कृष्ण परमात्मा हैं और गोपियाँ जीवात्माएँ। कृष्ण के ओझल हो जाने पर गोपियों का मूर्च्छित हो जाना इसी बात का द्योतक है। जायसी के वियोग-वर्णन में भी इसी प्रकार की आध्यात्मिकता है।

कृष्ण बिना किसी आश्वासन के मथुरा चले जाते हैं। गोपियों की आशा-लता छिन्न-भिन्न हो जाती है। कृष्ण का इस प्रकार जाना गोपियों के आत्मा-विश्वास और श्रद्धा की न्यूनता का सूचक है। गोपियों के हृदय में स्त्री-सुलभ मान की भी कमी नहीं। वे अपनी जिद पर अड़ी हैं-क्यों जावें हम, वह क्यों न आये। यह मान नारी जाति के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं है। गुप्त की यशोधरा के शब्दों में:—

भक्त नहीं जाते कहीं, आते हैं भगवान।
यशोधरा के अर्थ है अब भी यह अभिमान॥

गोपियों का प्रेम सर्व प्रकार से पवित्र है। वे अपने प्रेम का ढोल नहीं पीटती। वे उद्धव को कृष्ण का अभिन्न सखा मानकर उनसे अपना हाल कृष्ण तक पहुँचाने के लिए कहती हैं। स्त्री अन्य किसी पर-पुरुष से अपने रतिजन्य भावों को भूलकर भी नहीं कहती। गोपियों ने कृष्ण की चिट्ठी के प्रत्युत्तर में किसी प्रकार की पत्रिका नहीं भेजी। भेजे अपने आँसू, आहें और संचित मधुर स्मृतियाँ, जो कि एक सच्चा प्रेमी अपने प्रियतम के पास भेज सकता है। गोपियों के प्रेम में किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं बल्कि स्वाभाविकता है। प्रेम में दो मील की दूरी और हजार मील की दूरी एक-सी होती है। दूरी आखिर दूरी है। स्वच्छ और स्वच्छन्द प्रेम एक वह नशा है जो सदा एक-सा रहता है। संयोग-दशा में जब कृष्ण उनके जीवन के आधार हैं तो वियोग-दशा में उनके लिए शेष था ही क्या—विरहोद्गारों में अपने प्यारे को देखना। गोपियों के मथुरा न जाने का कारण स्पष्ट है—उन्हें कंस की मथुरा से उत्कट घृणा है। वे उस ओर मुँह भी करना नहीं चाहती। निपट गँवार अहीरियों का महाराज कृष्ण के पास जाने में सुदामा के समान संकोच स्वाभाविक था। सुदामा पुरुष हैं। स्त्री द्वारा धकेले जाने पर वे यथाकथचित् चले भी जाते हैं पर ग्वालिनें

कैसे जा सकती हैं। आज के युग और उस युग में आखिर भेद है ही। गोपियों का मथुरा जाने का सबसे प्रधान कारण है सौतिया-डाह। सौत से डाह मनोवैज्ञानिक घरेलू सत्य है। कुब्जा गोपियों के लिए एक जहर की बेली है। कृष्ण कुब्जा के रंग में मस्त होकर उन्हें और सता रहे हैं। उनका उद्धव को भेजना जले पर नमक छिड़कना हैं। गोपाल के पास नहीं, ऐसे निष्ठुर और राजा कृष्ण के पास जाकर गोपियों के लिए अनुनय-विनय करना और न्याय की भीख माँगना, उनके स्वभाव के प्रतिकूल था और उनके आत्म-सम्मान को एक चुनौती।

गोपियों की लरिकाई का प्रेम यौवन में परिणित हो गया। यह प्रेम एक झटके से टूटने वाला नहीं था। यह वह प्रेम था जो नाना धाराओं में फूट निकला, जिससे कदाचित सूरदास को ब्रज को डूबने की आशंका नहीं हुई होगी किन्तु आधुनिक आलोचक अपेक्षाकृत अधिक चिन्तित और शंकित हो उठा है। अस्तु! सूर के विरह-वर्णन में—"इन्तहाय लांगरी" और बिहारी की पैंडुलम जैसी नायिका वाली अतिरंजना, अतियोक्ति या हास्यास्पदता नहीं है और न ही इसमें काटरों के चलने तथा रक्त बहने आदि के बीभत्स दृश्य हैं।

गोपियों का प्रेम लौकिक या अलौकिक होते हुए भी न्यायसंगत, लोक-व्यवहार की दृष्टि से सुन्दर तथा अभिनन्दनीय है। गोपियों के प्रेममय साम्राज्य में भारत के नवीन संविधान की धाराओं और ताजीराते हिन्द के कानूनों को लागू करना भूल होगा।

सूर के भ्रमरगीत—सूर सागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वैदग्ध्यपूर्ण अंश भ्रमर गीत है। जहाँ कवित्त और शास्त्र एकाकार हो गये हैं। भ्रमर गीत में सगुण ने निर्गुण पर, सरसता ने शुष्कता पर, प्रेम ने दर्शन पर, भक्ति ने ज्ञान पर, राग ने वैराग्य पर, आसक्ति ने अनासक्ति पर और संयोग ने वियोग पर विजय पाई है। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में—"भक्तों में मशहूर है कि सूरदास उद्धव के अवतार थे। यह उनके भक्त और कवि जीवन की सर्वोत्तम आलोचना है। सूर ने अपने काव्य में एक ही जगह भगवान का साथ छोड़ा है—भ्रमर गीत में। और इस बात में कोई सन्देह नहीं कि इस अवसर पर सूरदास को दूना रस मिला था।" आचार्य शुक्ल का कहना है कि—"ऐसा सुन्दर उपालंभ काव्य दूसरा नहीं मिलता। उसमें गोपियों की वचन वक्रता अत्यन्त मनोहारिणी है। गोपियों की वियोग-दशा का जो धारा-प्रवाह वर्णन है उसका तो कहना ही क्या है। न जाने कितनी मानसिक दशाओं का संचार उसके भीतर है, कौन गिन सकता है? सूर ने ऐसे भावों का वर्णन किया है जिनकी गणना आचार्यों ने संचारी आदि भावों में नहीं की है। इसके लिये अलग नामों के आविष्कार की आवश्यकता है। शृंगार रसराज कहलाता है, इस दृष्टि से यदि सूरदास को रस सागर कहें, तो वेखटके कह सकते हैं।"

उद्धव कृष्ण-भक्त होने के साथ निर्गुण मार्ग के अनुयायी भी थे। कृष्ण ने उनके ज्ञान को दूर करने के लिए उन्हें गोपियों के पास अपना सन्देश कहने क

भेजा। वे उद्धव को भक्ति और प्रेम की तीव्रता का अनुभूत कराना चाहते थे। उद्धव कृष्ण का सन्देश लेकर गोपियों के पास पहुँच गये। वे अपने निर्गुण ब्रह्म पर व्याख्यान देने लगे। उद्धव और गोपियों के बीच अनेक मान-मिलाप नोंक-झोंक और तर्क-वितर्क हुए। अन्त में उद्धव निराश हृदय से हारे हुए योद्धा के समान लौटकर कृष्ण को गोपियों के अनन्य प्रेम की करुण कहानी सुनाते हैं। पर इस छोटे से स्थल में जो वचन-वक्रता, वाग्वैदग्ध्य और कलात्मकता है वह अत्यन्त सुन्दर है। सूर ने इस प्रसंग में अनेक मौलिक उद्भावों से काम लिया है। भागवत में उद्धव यशोदा और नन्द को सन्देश देने आते हैं। गोपियां उन्हें एकान्त में बुलाकर कुछ सुनती और सुनाती हैं। किन्तु यहाँ सूर ने नवीन कल्पना की है। उद्धव गठरी को सँभाले ही आ रहे थे कि उनके रथ को दूर से देखकर गोपियाँ सगबग भागी जाती हैं और उद्धव से अपने प्रियतम के कुशल-अनामय का प्रश्न पूछती हैं। उन्हें यह पता ही नहीं था कि उनके हृदय पर निराकार और योग की गाज इतने निर्मम रूप से पड़ेगी। यहाँ गोपियों और उद्धव के बीच नन्द और यशोदा का व्यवधान नहीं है। सूरदास की अलि, भ्रमर और मधुप आदि की योजना अत्यन्त मनोहारिणी है। उद्धव गोपियों के अतिथि और प्रियतम के सन्देश वाहक थे। आदरणीय अतिथि को बुरा-भला कहना आतिथ्य धर्म के प्रतिकूल था। अतः भ्रमर के व्याज से उन्होंने अपने अरमान निकाले। उद्धव और कृष्ण दोनों भ्रमर व्रतधारी हैं। ऊपर से तो काले थे ही भीतर से भी काले थे—"यह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे।" भ्रमर प्रेम की रीति नहीं जानता। यह रस-लोभी होता है। कृष्ण भी गोपियों को छोड़कर कुब्जा में रम गये थे अतः वे भ्रमर ही हैं। सूरदास ने अपने इस गोपी-उद्धव संवाद में राधा को तटस्थ दिखाया है।

सूर के इस भ्रमरगीत-काव्योद्यान का अपना वैभव और एक अपना लावण्य है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

विवशता—"ऊधो मन नहीं हाथ हमारे।" "ऊधो मन नाहीं दस बीस"

सारल्य—"उर में माखन चोर गड़े।" "निर्गुन कौन देश को बासी ?"

तर्क-वितर्क—काहे को रोकत मारग ऊधो।
सुन मधुप निर्गुन कंटक से राज पंथ को रूंधो॥

व्यंग्य, हास, उपालंभ—"यह मथुरा काजर की कोठरी जे आवहिं ते कारे।"
"आयो घोष बड़ो व्योपारी।" "जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।"
"सूर श्याम जब तुम्हें पठत बाये नैकहु मुसकाने।"

गोपियों की विजय—मौन ह्वै रह्यौ ठग्यौ सूर सो, सबै मति नासी।"
"उनौ कर्म कियो मातुल वधि मदिरा मत्त प्रमाद।
सूरश्याम एते अवगुन ते, निर्गुन ते अति स्वाद॥

सच यह है कि सूर ने भ्रमरगीत में गोपियों के माध्यम से अपने हृदय के समस्त मधुर रस को द्राक्षारस के समान निचोड़ कर रख दिया है जहाँ सब ओर

रस ही रस और माधुर्य ही माधुर्य है। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में—'जिसने सूरसागर नहीं पढ़ा उसे यह बात सुनकर कुछ अजीब सी लगेगी, शायद वह विश्वास हीन कर सके, पर बात सही है। काव्य गुणों की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस स्मरणीय उद्यान के समान नहीं जिसका सौन्दर्य पद-पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाया करता है, बल्कि उस अकृत्रिम वन भूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना में ही घुल-मिल गया है।" सूरदास का यह भ्रमर गीत चाहे भागवत का आधार लेकर चला है फिर भी अपनी मौलिकता और नवीनता के कारण बिहारी की सतसई और कालिदास के मेघदूत के समान अनेक भ्रमर गीतों की परम्परा का कारण बना है।

नन्ददास के भ्रमर गीत में तर्क प्रमाण एवं बुद्धितत्त्व की अधिकता है। वहाँ गोपियाँ एक चतुर वकील हैं। उनमें और उद्धव में एक बड़ा विवाद ही चल पड़ता है, उद्धव—"जो उनके गुन होय वेद क्यों नेति बखानें।" गोपियाँ—"जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते।" इसमें उद्धव का उद्देश्य उपदेश है—"ऊधो का उपदेश सुनो ब्रज नागरी" "कहि सन्देसो नन्द लाल को बहुरि मधुपुरी जाऊँ।" इसमें परिहास और भर्त्सनामयी उक्तियाँ भी हैं—"यह नीची पदवी हुती गोपी नाथ कहाय।" नन्ददास के जड़िया होने के कारण इनका यह भ्रमर गीत भाषा की दृष्टि से उत्तम बन पड़ा है। भावों के क्षेत्र में सूर का भ्रमर गीत बहुत आगे है। रत्नाकर में सूरदास की भावुकता, नन्ददास का तर्क और रीतिकालीन आलंकारिकता का सम्मिश्रण है। इनके उद्धव शतक का आरम्भ भी बड़ा विचित्र हुआ है। भावपेशलता में ये सूर को नहीं पहुँच सके। उपाध्याय जी के प्रियप्रवास में चाहे भ्रमरगीत नाम का उल्लेख नहीं फिर भी गोपी-उद्धव-संवाद अवश्य है। यहाँ नन्द और यशोदा को नवीन रूप दिया गया है। राधा और कृष्ण से देशभक्ति का सन्देश दिलवाया गया है। सत्यनारायण कविरत्न में गोपी हैं ही नहीं। यशोदा पर मातृभूमि का आरोप किया गया है और कंस-वध के समान अंग्रेज-वध की प्रार्थना की गई है। यह गोपियों का भ्रमर गीत न होकर भारत का करुण विलाप है।

वात्सल्य और शृंगार के चित्रण के अतिरिक्त सूरसागर में प्रासंगिक रूप से वीर, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक और वीभत्स रसों का भी चित्रण हुआ है पर वे रमे वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्र में हैं। इन दोनों रसों के ये सम्राट् हैं और हिन्दी का कोई भी कवि इनकी तुलना नहीं कर सकता।

प्रकृति-चित्रण सूर-काव्य का निर्माण ब्रज मंडल में प्रकृति के परिवेश में हुआ, अतः उनका प्रकृति-चित्रण नैसर्गिक और विशद है। सूर ने प्रकृति-चित्रण स्वतन्त्र रूप में न करके कृष्ण-लीलाओं की पृष्ठभूमि के रूप में किया है। वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्र में इन्होंने प्रकृति को उद्दीपन रूप में ग्रहण किया। कृष्ण-जीवन के समान इन्हें प्रकृति का भी कोमल रूप अधिक प्रिय लगा है। इनके काव्य में प्रकृति और मानव हृदय के उद्‌गारों में सुन्दर सामंजस्य है। इनमें न तो केशव के समान

पांडित्य का प्राबल्य है और न ही तुलसी के समान नीति एवं दर्शन का आग्रह। संस्कृत कवियों के समान प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रों की आशा सूर से तो क्या हिन्दी के किसी भी कवि से नहीं की जा सकती है।

कलापक्ष—सूर का भाव-पक्ष तो उज्ज्वल है ही, कला-पक्ष भी पर्याप्त निखरा हुआ है। आचार्य द्विवेदी इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"सूरदास जब अपने विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकार शास्त्र हाथ जोड़ कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है, उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में स्वयं कवि बह जाता है। वह अपने आपको भूल जाता है। काव्य में इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है। पद-पद पर मिलने वाले अलंकारों को देखकर भी कोई अनुमान नहीं कर सकता कि कवि जान-बूझकर अलंकारों का उपयोग कर रहा है। पन्ने पर पन्ने पढ़ते जाइए, केवल उपमाओं और रूपकों की छटा, अन्योक्तियों का ठाठ, लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार—यहाँ तक कि एक ही चीज दो-दो, चार-चार, दस-दस बार तक दुहराई जा रही है, फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रवाह कहीं भी आहत नहीं हुआ।"

सूर-काव्य चलती हुई ब्रज भाषा के साहित्यिक रूप का उत्तम नमूना है। उनकी भाषा समृद्ध, सुडौल, परिमार्जित, प्रगल्भ एवं काव्यांगपूर्ण है। भले ही उस में लिंग और वाक्य व्यवस्था सम्बन्धी गड़बड़ है किन्तु भाषा के प्रवाह में कुछ खटकता नहीं और भावों की उदात्तता में पाठक आगे बहने-सा लगता है। "वास्तव में सूर के शब्द-प्रयोग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने शब्दों के निर्वाचन में साहित्यिक-असाहित्यिक अथवा शिष्ट-अशिष्ट का कोई विचार नहीं किया। और परिस्थिति के विचार से जिन शब्दों को उन्होंने उपयुक्त समझा उनका प्रयोग करने में उन्हें इस बात का संकोच नहीं हुआ कि वे किस श्रेणी अथवा किस उद्गम के हैं। इनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द, खड़ी बोली, पूर्वी हिन्दी, बुन्देलखंडी, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, अरबी और फारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिनसे इनकी भाषा को और भी अधिक बल मिला है। इन्होंने वात्सल्य और शृंगार रस के वर्णन में माधुर्य और प्रसाद गुणों का समुचित प्रयोग किया है। शब्द-चयन भाषानुसार है। वाक्य व्यवस्था काफी सजीव है। लोकोक्तियों, मुहावरों और अलंकारों के सफल प्रयोग से अर्थ में सौन्दर्य एवं गाम्भीर्य गुणों का समावेश हुआ है। भक्तमालकार के निम्नांकित शब्द सूर-काव्य पर अक्षरशः चरितार्थ होते हैं—

उक्ति चोज अनुप्रास वरन अस्थिति अतिभारी।
वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुकधारी।

सूर काव्य में भक्ति, कविता और संगीत की सुन्दर त्रिवेणी है। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में—सूर की कविता में संगीत की धारा इतनी सुकुमार चाल से चलती है कि हमें यह ज्ञात होने लगता है कि हम स्वर्ग के किसी पवित्र भाग में

मन्दाकिनी की हिलती हुई लहरों का स्पर्शानुभव कर रहे हैं। सूरदास तो स्वभावतः ही उत्कृष्ट गायनाचार्य थे। इस कारण उन्होंने जितने पद लिखे हैं उनमें संगीत की ध्वनि इतनी समधुर रीति से समाई है कि वे पद संगीत के जीते-जागते अवतार से हो गये हैं।" सूर के गीत सहृदय-संवेद्य हैं। उनमें एक अनुपम तन्मयता और भावानुभूति है। इसीलिए तो कहा जाता है—

सूर कवित सुनि कवि कौन जो नहि सिर चालन करै।

तथा

किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यौ, बध्यो सकल शरीर॥

सूर काव्य सहृदयों और संगीत-रसिकों दोनों के लिए गले का हार है। भले ही उन्होंने कृष्ण के रंजनकारी रूप को चित्रित किया है जिसकी चित्रपटी में जीवन के गौण चित्रण और लोक-मंगल का अंकन तुलसी जैसा नहीं हो सका, पर अपनी स्वीकृत परिमित पुण्य भूमि में जितने दूर तक इनकी वाणी ने संचरण किया है वहाँ तक तुलसी तो क्या हिन्दी का कोई भी कवि नहीं पहुँच सका। यह निश्चित है कि विशुद्ध काव्यात्मक दृष्टि से सूरदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनके कृतित्व और महत्त्व की अनेक प्रशस्तियों से हिन्दी-साहित्य भरा पड़ा है—

सूर-सूर तुलसी ससी, उडुगन केशव दास।
अबके कवि खद्योत सम, जहुं तहुं करत प्रकाश।
उत्तम पद कवि गंग के, कविता को बलवीर।
केशव अर्थ गम्भीरता, सूर तीन गुन धीर॥

नन्ददास—जीवन-वृत्त—इसका जन्म संवत १५७० के लगभग सूकर क्षेत्र (जि० एटा) के समीपवर्ती ग्राम रामपुर में हुआ। कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास इनके चचेरे भाई थे। माता-पिता के देहांत हो जाने के कारण इनका लालन-पालन इनकी दादी के द्वारा हुआ। संस्कृत और संगीत में इन्होंने अभीष्ट दक्षता प्राप्त कर ली थी। एक स्त्री पर लट्टू होने की वात इनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है ही। उसके पीछे ये गोकुल जा पहुँचे जहाँ विट्ठलनाथ ने अपने सदुपदेश से पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया। उस समय तक इनके हृदय में वासना के अंकुर थे और वैराग्य की दृढ़ता उत्पन्न नहीं हुई थी, अतः इन्हें सूरदास के सत्-संग में रहने के लिए पारसौली भेज दिया गया था। सूरदास ने नन्ददास की तात्कालिक रुचि के अनुसार माधुर्य भक्ति द्वारा ही उनका निरोध करने के लिए रस-रीति के ग्रंथ साहित्य लहरी के पदों का प्रणयन किया था। कहते हैं कि सूरदास ने इन्हें विवाह कर लेने का परामर्श दिया था। फलस्वरूप इन्होंने अपने ग्राम रामपुर में कमला नाम की कन्या से विवाह कर लिया था। इनके एक कृष्णदास नाम का पुत्र भी हुआ। कुछ काल तक गृहस्थ सुख भोगने के पश्चात् ये विरक्त होकर गोवर्धन पर आकर

रहने लगे । इनका देहांत सं० १६४० में हुआ । यह बड़े विचित्र संयोग और आश्चर्य की बात है कि अष्टछाप के अधिकांश कवियों की मृत्यु सं० १६४०-४२ के बीच हुई ।

रचनाएँ—नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-पत्रिका के अनुसार इन्होंने १६ ग्रंथ तथा कुछ फुटकर पदों की रचना की, जिनमें से इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं—भँवरगीत, रास पंचाध्यायी, दशम स्कन्ध भागवत, विरह मंजरी और रस मंजरी । इनमें भी भँवरगीत और रास पंचाध्यायी प्रसिद्ध हैं । सूर और नन्ददास के भँवरगीत का विवेच्य विषय एक ही है किन्तु नन्ददास के भँवरगीत में उपदेश, तर्क और बुद्धितत्त्व की प्रधानता है । एक मित्र की प्रेरणा से इन्होंने रास पंचाध्यायी का निर्माण किया था । यहाँ इन्होंने पाँच अध्यायों में कृष्ण की रास-लीला, कृष्ण का नख-शिख वर्णन, गोपियों के विलाप और उपालंभ, और प्रकृति के उन्माद दृश्यों का अत्यन्त भव्य चित्रण किया है । इसका आधार ग्रंथ भागवत ही है ।

"रस मंजरी", "रूप मंजरी" तथा "विरह मंजरी" इनके रीति-विषयक ग्रंथ कहे जा सकते हैं । रस मंजरी में रति, नायक और नायिका आदि भेदों का निरूपण है । विरह मंजरी में विरह के अनेक प्रकार मे विरह के काव्य शास्त्रीय भेदों का वर्णन है । उन्होंने इन ग्रंथों का निर्माण एक अपने मित्र को रस-रीति की शिक्षा देने के लिए किया था क्योंकि इसके जाने बिना रति की आस्वादन-क्षमता आनी दुष्कर है । डॉ० हरिकांत श्रीवास्तव ने अपने शोध प्रबंध भारतीय प्रेमाख्यान काव्य में रूप मंजरी को एक अन्योपदेशिक ग्रंथ कहकर इसमें आध्यात्मिकता का आरोप किया है जो कि हमें सर्वथा अमान्य है । हमारा विश्वास है कि रूप मंजरी में नायक स्वयं नन्ददास है और नायिका उनकी प्रेमिका है जिसे इन्होंने रसिक मित्र कहा है जिसकी शिक्षा के लिए इन्होंने रीति सम्बन्धी ग्रंथों का प्रणयन किया ।

काव्य-सौष्ठव—अष्टछाप के कवियों में सूरदास के पश्चात् नन्ददास का नाम विशेष प्रसिद्ध है । अष्टछाप के कवियों में सिर्फ नन्ददास ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने पद-रचना के अतिरिक्त कृष्ण चरित सम्बन्धी खण्ड काव्यों की रचना की और इन्हें इस कार्य में सफलता भी मिली । कारण, नन्ददास की वृत्ति कथात्मकता में विशेष रमती थी । भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की ओर इन्होंने विशेष जागरूकता से काम लिया है, शब्दों के तो ये कुशल शिल्पी ही हैं और कदाचित् इसीलिए इनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है—"अन्य कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया ।" कृष्ण-भक्त कवियों में नन्ददास का नाम शैलीकार के नाते उल्लेखनीय है—"सूरदास की अधिकांश रचना पदों में है, भिन्न शैलियों में कम है, किन्तु नन्ददास की रचना पदों में कम और भिन्न शैलियों में अधिक है ।" इन्होंने जायसी और तुलसी की चौपाई-शैली में भी काव्य रचना की है । नन्ददास की काव्य-प्रतिभा में मौलिकता की मात्रा विशेष नहीं है । इनके अत्यन्त प्रसिद्ध काव्यों भँवरगीत और रास पंचाध्यायी पर भागवत तथा सूरदास का विशेष प्रभाव है । नन्ददास में भक्ति और शृंगारी कवि के रूपों का सम्मिश्रण है । यहाँ इस विवाद में पड़ना

अप्रासंगिक होगा कि वह पहले भक्त हैं या श्रृंगारी कवि, किंतु इतना तो निश्चित है कि श्रृंगारी और भक्त की वृत्तियाँ दोनों बराबर चलती रही हैं। व्रजभाषा के जड़ाव कार्य में नन्ददास निःसन्देह अग्रणी हैं। सूर ने स्वाभाविक चलती भाषा का ही अधिक आश्रय दिया है, अनुप्रास और चुने हुए संस्कृत पदविन्यास आदि की ओर प्रवृत्ति नहीं दिखाई, पर नन्ददास में ये बातें पूर्ण रूप में पाई जाती हैं। लोकोक्तियों तथा मुहावरों के प्रयोग से इनकी भाषा में प्रभावशीलता आ गई है। इनकी भाषा की अनुप्रासिकता, ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता और चित्रोपमता दर्शनीय हैं। नन्ददास भक्त, उच्चकोटि के कवि, प्रकांड पण्डित, रीतितत्त्वज्ञ, संगीतज्ञ, जड़िया और शैलीकार हैं। कृष्ण-भक्ति-काव्यों की साम्प्रदायिकता अष्टछाप के कवियों में से इनमें सबसे अधिक है। वियोगी हरि के शब्दों में इनकी रास पंचाध्यायी को हिन्दी का गीत गोविन्द कहा जा सकता है।

गोस्वामी हितहरिवंश – जीवन वृत्त राधावल्लभ-सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोस्वामी हितहरिवंश का जन्म १५५९ में मथुरा से चार मील दूर दक्षिण बाद गाँव में हुआ था। पं० गोपाल प्रसाद शर्मा ने इनका जन्म सं० १५३० में माना है जो कि ठीक नहीं है। ये जाति से गौड़ ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम केशवदेव मिश्र था और माता का नाम तारावती। हितहरिवंश के चार पुत्र और एक कन्या हुई। पहले ये मध्व सम्प्रदाय के अनुयायी थे। पीछे इन्हें स्वप्न में राधिका जी ने मन्त्र दिया और इन्होंने अपना एक अलग सम्प्रदाय चलाया। वृन्दावन में राधावल्लभ की मूर्ति की स्थापना की और राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। गोस्वामी हितहरिवंश के नाम के पहले हित शब्द उनका उपनाम मात्र नहीं, उनके द्वारा उद्घाटित परम तत्त्व हित (प्रेमतत्त्व) का सूचक है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी इन्हें श्री कृष्ण की वंशी का अवतार मानते हैं। ये संस्कृत और भाषा काव्य के अच्छे विद्वान् थे।

रचनाएँ—हित हरिवंश जी ने हिन्दी में केवल चौरासी पद (हित चौरासी) और २७ फुटकर पद रचे हैं। संस्कृत में भी राधा-सुधानिधि तथा यमुनाष्टक उनकी दो रचनाएँ हैं। इन सब रचनाओं में राधा और कृष्ण के प्रेम-तत्त्व का सम्यक् उद्-घाटन किया गया है। श्री हितहरिवंश की वाणी का वर्ण्य विषय राधा-कृष्ण की प्रेम काममयी क्रीड़ाओं का गान करना है। परन्तु जिस रस की दृष्टि से इन्हें चित्रित किया गया है, वह हित जी की वाणी की अपनी वस्तु है। उसका आश्रय लिए बिना राधावल्लभ की रस-रीति का वर्णन सम्यक् रूप से नहीं किया जा सकता है। हित जी ने कृष्ण की प्रगट और अप्रगट दोनों प्रेम-लीलाओं का वर्णन किया है जिसे इन्होंने प्रेम रस वृन्दावन रस कहा है। इनके अनुसार प्रेम में मधुकरी वृत्ति उत्तम है। हितहरिवंश की माधुर्यमयी वाणी का प्रभाव तत्कालीन सभी कृष्ण-भक्त कवियों पर पड़ा।

काव्य-सौष्ठव—इतनी अल्प रचना होते हुए भी हित हरिवंश जी उत्तम कोटि के भक्त माने जा सकते हैं। इनकी ब्रज भाषा में रचित हित चौरासी अत्यन्त सरस और हृदयहारिणी रचना है। ब्रजभाषा की काव्य-श्री के प्रसार में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। "वास्तव में स्वयं पद रचना करके उत्तम आदर्श उपस्थित करने से भी अधिक हित हरिवंश का महत्त्व उस वातावरण के निर्माण में है जिसमे प्रेरणा पाकर कितने ही भक्त और कवि बन गए। हरिराम व्यास ने इनके गोलोकवास पर बड़े चुभते पद कहे हैं। सेवक जी, ध्रुवदास आदि इनके शिष्य बड़ी सुन्दर रचना कर गए हैं। इनके हित चौरासी पर लोकनाथ कवि ने एक टीका लिखी। वृन्दावनदास ने इनकी स्तुति और वन्दना में हित जी की सहस्र नामावली और चतुर्भुज दास ने 'हितजू को मंगल' लिखा है। इसी प्रकार हित परमानन्द जी और ब्रज जीवनदास ने इनकी जन्म बधाइयाँ लिखीं। इनकी हित चौरासी पर प्रेमदास ने ब्रज भाषा गद्य में एक अत्यन्त विस्तृत टीका लिखी।

इनके पदों में भावों की सरसता, संगीत माधुर्य और कलात्मकता, जयदेव, विद्यापति तथा सूरदास के ही काव्यों में उपलब्ध होती है। उदाहरण के लिए उनकी कतिपय पंक्तियाँ देखिए—

चलहिं किन मानिनि कुंज कुटीर
तो दिन कुंवर कोटि वनिता जुत मद्यत मदन की पीर।
गद गद सुर विरहाकुल पुलकित श्रवन विलोचन भीर॥

मीराबाई—जीवन-वृत्त—मीरा का जन्म राठौरों की मेड़तिया शाखा के अंतर्गत राव दूदा जी के चतुर्थ पुत्र रत्नसिंह के घर में, कुड़की गाँव में संवत् १५५५ के आस-पास हुआ। शैशव में माता के देहांत हो जाने के कारण इनका पालन-पोषण पितामह दादू के द्वारा हुआ जो कि परम वैष्णव भक्त थे। इन्हीं के संसर्ग से मीरा के हृदय में कृष्ण-भक्ति के संस्कार पड़े जो कि बाद में माधुर्य-भाव की भक्ति में विकसित हुए। १२ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह चित्तौड़ के महाराणा साँगा के बड़े पुत्र भोजराज से हुआ, परन्तु कुछ वर्षों के बाद पति के देहांत हो जाने के कारण कृष्ण की अनन्य अनुरागिणी हो गई। वह बाल्यकाल से ही गिरधर गोपाल को अपना पति समझती थीं। वह साधु संगति, भजन एवं कीर्तन में मग्न रहने लगीं। इनके लिए उन्होंने राजमर्यादा लोकलाज को छोड़ा और राजकुल का अत्यन्त कठोर विरोध भी सहा। सं० १६०३ में द्वारिका में इनकी मृत्यु हुई। किंवदन्ती है कि रणछोड़ जी की मूर्ति ने इन्हें अन्तर्हित कर लिया था—

"अब मिलि बिछुरन नहिं कीजै।"

ऐसा प्रसिद्ध है कि मीरा ने घर वालों के व्यवहार से तंग आकर गोस्वामी तुलसीदास को एक पद लिखकर भेजा था और उनसे परामर्श माँगा था जिसके उत्तर में गोस्वामी जी ने "जाके प्रिय न राम वैदेही" लिखकर भेजा। मीरा के गुरु के

सम्बन्ध में इतना जान लेना आवश्यक है कि इन पर सन्त समुदाय और चैतन्य मतानुयायी दोनों का प्रभाव पड़ा था।

रचनायें— निम्नांकित रचनायें इनके नाम से सम्बद्ध बताई जातीं हैं—नरसी जी का माहरो, गीत गोविन्द की टीका, मीरानी गरबी, मीरा के पद, राग सोरठ के पद, राम गोविन्द। नरसी जी का माहरो में नरसी मेहता के भात भरने की कथा का उल्लेख है। गीत गोविन्द की टीका अभी तक अप्राप्य है। रास गोविन्द के सम्बन्ध में अनुमान है कि इन्होंने रचा होगा। राग सोरठ के पद में मीरा, कबीर और नामदेव के पदों का संग्रह है। मीरानी गरबी या गीता के गीत राम मंडली के गीतों के समान गाये जाते हैं। मीरा के फुटकर पद कोई २०० के करीब मिले हैं। पुरोहित हरिनारायण जी उनके पदों की संख्या ५०० बताते हैं। मीरा के पद गुजराती राजस्थानी, पंजाबी, खड़ी बोली आदि में मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि "दास मीरा लाल गिरधर" अथवा "मीरा के प्रभु गिरधर नागर" नाम से अनेक पद बाद में जोड़े जाते रहे हैं। मीरा के अन्य ग्रंथ या तो मिलते ही नहीं और जो मिलते भी हैं वे अपूर्ण हैं। अतः मीरा के साहित्य के महत्त्व के अंकन के लिए इनके उपलब्ध पदों पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

काव्य-सौष्ठव—मीरा भारत के प्रधान भक्तों में तो है ही, साथ-साथ हिन्दी काव्य में एक उच्च स्थान की अधिकारिणी हैं। उनका काव्य आंसुओं के जल से सिक्त, पल्लवित एवं पुष्पित प्रेम-बेल की मनोहारिणी सुगन्ध से सुधासित है। "काव्य और प्रेम दोनों नारी हृदय की सम्पत्ति है। काव्य का परम उत्कृष्ट एवं निखरा हुआ रूप नारी-हृदय में ही उगता, पल्लवित और पुष्पित होता है। प्रेम का अधिकारी भी वस्तुततः नारी का हृदय ही है। प्रेम एवं काव्य संवेदन-अनुभूति अंगज है।" मीराबाई की भक्ति माधुर्य-भाव की है और सचमुच वह इस क्षेत्र में तुलसी और सूर से बढ़ जाती है। तुलसी की दास्य भाव की भक्ति में मर्यादावाद राम की अत्यन्त निकटता में बाधक है। सूर ने अपनी माधुर्य-भाव की भक्ति में गोपी और राधा के माध्यम से कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करना चाहा है पर मीरा स्वयं राधा बन गई हैं। उनके साँवलिया और उनमें कोई दुराव एवं छिपाव नहीं है। मीरा ने प्रेम के अत्यन्त सजीव एवं अनुभूतिमय चित्र उतारे हैं। उनके पदों में वियोगजन्य दुःख को नापना कोई सुगम नहीं है। उनमें मिलन, उत्सुकता, आशा और प्रतीक्षा से सम्बद्ध पद सभी अनुपम हैं। मीरा के पदों में रहस्यात्मकता है। कारण, माधुर्य भाव की भक्ति में रहस्यात्मकता का समावेश आवश्यक है, साथ-साथ इस पर संतों के निर्गुण का भी प्रभाव है। दूसरे, इस ढंग की उपासना का प्रचार उस समय सूफी लोग भी कर रहे थे। अतः उनका संस्कार भी कुछ इन पर अवश्य पड़ा। एक बात का ध्यान इस सम्बन्ध में रखना होगा कि इनकी शृंगारी कविता में वासना लेश मात्र भी नहीं है। वह सर्वत्र आध्यात्मिक रंग से रंगी हुई है। मीरा का काव्य गीति-काव्य का एक आदर्श प्रस्तुत करता है। भले ही इनके गीतों में सूर जैसी साहित्यिकता नहीं परन्तु

अनुभूति की तीव्रता अवश्य हे । लोक गीत होने के कारण मीरा के गीतों में सूरदास के पदों की अपेक्षा साधारणीकरण की मात्रा अधिक है। सूर जैसा काव्योत्कर्ष तो मीरा में नहीं मिलता। शब्द चयन, अलंकार विधान, चुभती उक्तियाँ सूर में अधिक हैं, परन्तु मानना पड़ेगा कि हृदय की जो गहराई मीरा में है वह सूर में सर्वत्र उपलब्ध नहीं होतीं। मीरा का दर्द-दीवानापन उनके काव्य को निराला बना जाता है। प्रायः आधुनिक कवयित्री महादेवी वर्मा की तुलना मीरा से की जाती है पर हमारे विचार में महादेवी जी को मीरा-जैसी तन्मयता लाने के लिए न जाने कितनी देर तक साधना की अपेक्षा है। मीरा के कुछ पद तो राजस्थानी मिश्रित भाषा में हैं और कुछ विशुद्ध साहित्यिक व्रज भाषा में। पर सबमें प्रेम की तल्लीनता समान रूप से पाई जाती है। मीरा के काव्य में सूर की क्रीड़ा, तुलसी की दृढ़ता और कबीर की रहस्यात्मकता के साथ-साथ प्रेम का ऐसा पुनीत उन्माद था, जो आज भी पाठक के हृदय को पिघलाकर नेत्रों के द्वारा अपना महान् प्रभाव प्रत्यक्ष कराता है।

रसखान— रसखान दिल्ली के एक पठान सरदार थे। इन्होंने प्रेमवाटिका में अपने आपको शाही खानदान का कहा है। इसके अतिरिक्त इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कुछ भी प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता है। दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता में जो इनकी एक बनिये के लड़के के प्रति आसक्ति का उल्लेख है, तथा उसमें जो इन्हें गोस्वामी विट्ठलनाथ का कृपापात्र शिष्य कहा गया है, इन सारी बातों को आचार्य चन्द्रबली पांडेय ने निराधार ठहराया है उनका कहना है कि यह सब कुछ अन्तःसाक्ष्य से मेल नहीं खाता है। पांडेय जी ने निश्चयपूर्वक लिखा है कि रसखान न तो विट्ठलनाथ के शिष्य थे और न उनका कृष्ण-काव्य पुष्टिमार्ग की भक्तिपद्धति पर लिखा गया है। इनके काव्य में सूफियों के प्रेम की पीर की प्रधानता मिली है। रसखान ने प्रेम पीर का कृष्ण को मूर्त अवलंबन बना दिया है। इनके विषय में प्रचलित किंवदन्तियों से इतना निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रसखान एक रसिक जीव थे और उनका लौकिक-प्रेम अलौकिक-प्रेम में बदल गया था। पांडेय जी ने उनकी भक्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि रसखान नारदी भक्त थे, वल्लभी नहीं। प्रेम उनके जीवन और काव्य का मूल आधार है—

आनन्द अनुभव होत नहीं, बिना प्रेम जग जान।
कै वह विषयानन्द कै, ब्रह्मानन्द बखान॥

रचनाएँ— इनकी दो छोटी-छोटी पुस्तकें 'प्रेमवाटिका' और 'सुजान रसखान' प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रथम पुस्तक में प्रेम विषयक दोहों का संग्रह है और दूसरी में कवित्त-सवैया छंद में एकनिष्ठ प्रेम की मार्मिक अभिव्यंजना की है। इन्होंने कृष्ण-भक्त कवियों के समान गीति काव्य का आश्रय न लेकर कवित्त-सवैया को भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है।

काव्य-सौष्ठव—रसखान सचमुच रसखान हैं। आचार्य शुक्ल इनके सम्बन्ध

में लिखते हैं —" प्रेम के ऐसे सुन्दर उद्गार इनके सवैयों में निकले कि जन-साधारण प्रेम या शृंगार-सम्बन्धी कवित्त-सवैयी को ही रसखान कहने लगे — जैसे कोई रसखान सुनाओ।" सूफी काव्य के दीदार और दीवाना की भाँति विलोकना और बिकाना इनके काव्य की पृष्ठभूमि में काम करते हैं। झाँकना और मन्द-मन्द मधुर मुस्कान का भी इनके काव्य में महत्वपूर्ण योग है। सच तो यह है कि रसखान ने ब्रजलीला को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना विलोकन और मुसकान को। इन्होंने संयोग और वियोग शृंगार के दोनों पक्षों का सुन्दर वर्णन किया है। रसखात का मन जितना किशोर लीला में रमा है उतना बाल लीला में नहीं। हाँ, दान लीला में भी रसखान का मन खूब रमा है। रास और चीरहरण-लीला को उन्होंने चलता-सा बना दिया है। बाँसुरी के चमत्कार और कुब्जा पर इनकी पैनी दृष्टि पड़ी है। ब्रज-भूमि सम्बन्धी पद काफी सरस बन पड़े हैं। रसखान में केवल रस ही नहीं, कला भी है। इनकी भाषा बहुत चलती, सरस और शब्दाडम्बरयुक्त है। शुद्ध ब्रजभाषा का जो चलतापन और सफाई इनकी और घनानन्द की रचनाओं में है वह अन्यत्र दुर्लभ है। रसखान अलंकारों और छन्दों के अनावश्यक आडम्बर में नहीं फँसे। कदाचित् ऐसे सहृदय कवियों के प्रेम-विह्वल भक्ति के उद्गारों को लक्ष्य रखकर भारतेन्दु जी ने कहा था —

"इन मुसलमान हरिजन पै कोटिन हिन्दुन वारिये।"

रसखान की कविता का उद्घोष है —

ऐसे ही भये तौ कहा दीख रसखान जु पै।
चित्त दै न कीन्हीं प्रीत पीत पटवारे सों॥

कृष्ण भक्ति काव्य के प्रेम में स्थूलता के समावेश के कारण

जनमन-कुलुष निकन्दिनी, कृष्ण-भक्ति-काव्य धारा-मन्दाकिनी में, क्रमशः शैवाल और कर्दम एकत्र होने लगे। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में नवनीत प्रिय कृष्ण की उपासना की पद्धति प्रचलित थी। उसमें वात्सल्य और सख्य भावों का प्राधान्य था, किन्तु आगे चलकर राधावल्लभ गोपी प्रिय कृष्ण के शृंगारी पदों का उन्मुक्त गान होने लगा पुष्टि मार्ग में राधा की उपासना को विशेष महत्व नहीं था किन्तु वल्लभ के जीवन के उत्तरकाल में और विट्ठलनाथ जी के समय में चैतन्य, राधावल्लभी दासी तथा राधा स्वामी सम्प्रदायों के प्रभाव स्वरूप राधा और कृष्ण के प्रणय-जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव-भंगियों की खुल कर अभिव्यक्ति होने लगी। चैतन्य सम्प्रदाय में परकीया भाव की भक्ति प्रचलित थी। यह परकीया भाव केवल भक्ति-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था, बल्कि किंवदन्तियों के अनुसार चैतन्य और चंडीदास ने निज व्यावसायिक जीवन में भी इस भाव का अनुभव किया था। चैतन्य महाप्रभु आत्मविभोर होकर जयदेव विद्यापति और चंडीदास के पदों को गाया करते थे। जयदेव और विद्यापति के पदों में विलास, कला, हरि-स्मरण, संगीत और काव्य-कलाओं का अद्भुत मिश्रण था। हमारे विचार में जयदेव और विद्यापति में राधा

और कृष्ण के प्रेमी जीवन में नायक और नायिका के विविध कार्यकलापों में रस रीतिवाद (काम केलियों) का प्रतिपादन प्रधान हो गया और भक्ति का स्वर अत्यन्त क्षीण पड़ गया। इसके अतिरिक्त चैतन्यमहाप्रभु के गौड़ीय सम्प्रदाय में शृंगार रस के दिव्यीकरण के अनेक प्रयत्न हुए। भक्ति रसामृत सिन्धु तथा 'उज्ज्वल नील मणि' इस प्रयत्न के साक्षात् निदर्शन हैं। यह सब कुछ राधा और कृष्ण के प्रणय-जीवन के नाना कृत्यों का उन्मुक्त गान करने के व्याज से हुआ। उज्ज्वल नीलमणि में राधा कृष्णाश्रित शृंगार को मधुर या उज्ज्वल रस की संज्ञा से अभिहित किया गया है। उज्ज्वल नील मणि के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि तथाकथित मधुर रस उज्ज्वल रस तथा भक्ति रस और भरत मुनि प्रतिपादित शृंगाररस में सात्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है। पहले के रस-शास्त्रियों ने भगवदाश्रित रति को भाव के अन्तर्गत रखा था किन्तु उज्ज्वल नीलमणि कार रूप गोस्वामी ने राधाकृष्णाश्रित रति को शृंगार रस के समान स्वतन्त्र रस प्रतिष्ठित किया। इन दोनों रसों में नाम-भेद के अतिरिक्त और कोई भी मौलिक भेद नहीं है।

कुछ विद्वानों ने शृंगार रस में चर्चित रति को जड़ोन्मुख कह कर इसे काम-प्रधान और मधुर रस में रति को चिन्दुन्मुख बतला कर इसे अलौकिक और आध्यात्मिक प्रेम का रूप प्रदान करना चाहा है। इस विषय में हमारा यह विनम्र निवेदन है कि कृष्ण-भक्ति-काव्य में आलंबन और आश्रय रूप में ग्रहीत राधा और कृष्ण में चिन्दुन्मुखता का कोई चिह्न नहीं है। मधुर रस के अन्तर्गत शृंगार रस के समस्त स्थूल कार्य व्यापारों—संभोग, आलिंगन, चुंबन, अधरपान, नख-क्षत, नायक-नायिका समागम तथा क्रीड़ाजन्य रसानुभूति आदि का विस्तृत उल्लेख मिलता है। तथाकथित मधुर या उज्ज्वल रस में भी शृंगार रस के समान नायक के दक्षिण, अनुकूल, शठ और धृष्ठादिभेद, नायिकाओं के संभोग-दुखिता, खंडिता आदि भेद, नम सचिवों, नाना भूमिकाओं तथा अनेक विध प्रेमविहारों का चर्चा मिलता है। काम के परिष्कृती करण और सुसंस्कृतीकरण की प्रक्रिया यदि कहीं मध्यकालीन साहित्य में उपलब्ध होती है तो वह कबीर और मीरा आदि में है। वहाँ रति की चिदुन्मुखता भले ही हो किन्तु कृष्ण-भक्ति काव्य के रति के उन्मुक्त वर्णनों, जहाँ सांकेतिकता और कलात्मकता से काम नहीं लिया है, में विलास की मात्रा अधिक है उसमें कोई अलौकिकता या आध्यात्मिकता नहीं। ऐसे प्रसंगों के आध्यात्मिक अर्थ लगाना कृष्ण भक्ति काव्य के प्रणय-चित्रण के सही मर्म को भ्रम-कुहेलिका में आवृत करने के सिवाय और कुछ भी नहीं होगा। मधुर रस एक त्राणात्मक कवच था जिसे पहन कर कृष्ण-भक्त कवि ने राधा कृष्ण के प्रणय-जीवन के स्थूल से स्थूल कार्यकलापों को निधड़क रूप से कह दिया। नन्ददास के शब्दों में—

रूप प्रेम आनन्द रस जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरधर देव को निधरक बरनौं ताहि॥

कृष्ण-भक्ति-काव्यकारों का परिचय साक्षात् रूप से जयदेव और विद्यापति से संभावित है, और यदि ऐसा न भी हुआ हो, तो चैतन्य के माध्यम से जयदेव और विद्यापति का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा। विट्ठलनाथ के समय में वृन्दावन बंगालियों का उपनिवेश सा बन गया था। चैतन्य स्वयं वृन्दावन आये थे और उनके आने पर ब्रज के एक छोर से दूसरे छोर तक जयदेव, विद्यापति, चंडीदास तथा उमापति के पदों की संगीत लहर गूंज उठी। वल्लभ ने माधवेन्द्र पुरी को गोवर्द्धन पूजा का काम सौंपा था। उस समय कृष्ण दास मन्दिर के अधिकारी थे। तब बंगाली पुजारी पूजा का काम किया करते थे। उनके द्वारा भजन और कीर्तन में गाये गये विद्यापति आदि के पदों से कृष्ण-भक्त-कवियों का परिचय होना सुनिश्चित है। बंगाली अर्चन-पद्धति में सेवा, भजन, मंगल, शयन, भोग आदि का विधान था। इस पद्धति का प्रभाव पुष्टिमार्गी, राधावल्लभी, सखी तथा राधा स्वामी सब सम्प्रदायों पर पड़ा। पूजन-पद्धति आगे चलकर अपनी सूक्ष्मता का परिहार करती हुई विकृत हो गई और इसका अनिष्ट प्रभाव कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों पर पड़ना अवश्यंभावी था।

कृष्ण-भक्ति-काव्य के शृंगार में स्थूलता का एक महत्वपूर्ण कारण श्रीनाथ जी के मन्दिर का विलासी वातावरण है। मन्दिरों और मठों का ऐवश्र्यप्रधान विलासी वातावरण तत्कालीन राजा नवाबों की ईर्ष्या का विषय बन गया था। एक ओर तो गोस्वामी विट्ठलनाथ ने शृंगार-रस-मंडन लिखकर राधाकृष्ण की शृंगारी लीलाओं के चित्रण के लिए द्वार खोल दिया, दूसरी ओर मन्दिर में ठाकुर जी की वैभव-वृद्धि के लिए सारी व्यवस्थायें जुटाई जाने लगीं। ठाकुर जी के दुग्धपान के लिए सैंकड़ों गायें रखी गई, बाल गोपाल के चलने के लिए हाथी, घोड़ों और पालकियों की व्यवस्था की जाने लगी, ठाकुर जी के मनोविनोदार्थ प्रसिद्ध रूपवती नर्तकियों और वेश्याओं को निमंत्रित किया जाने लगा। एक ओर सेवक-सेविकाओं को ब्रह्म-सम्बन्ध की स्थापना के लिए उन्हें ठाकुर जी को सर्वात्मा समर्पण का उपदेश दिया गया तो दूसरी ओर गोस्वामियों को ठाकुर जी का प्रतिरूप घोषित कर उन्हें भी सेविकाओं के भोग का अधिकारी बना दिया गया। वैसे नायक-नायिका-भेद का द्वार जयदेव, विद्यापति तथा रूपगोस्वामी खोल चुके थे। अब कृष्ण-भक्ति के छल से राधा और गोपियों के खंडिता, संभोग-दुखिता, गर्विता आदि के भेदों के उदाहरण की सृष्टि की जाने लगी। कान्ह को कोक कलाओं की शिक्षा दी जाने लगी, जिनका वह संभोग क्षेत्र में सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकें। ऐसे ऐश्वर्य-प्रधान विलासी वातावरण में कृष्ण भक्ति काव्य के शृंगार में स्थूलता का आ जाना स्वाभाविक था। औरों की बात ही क्या, भक्तवर सूरदास और हित हरिवंश तक के कृष्ण काक-कला प्रवीण बन गये और विपरीत रति का आनन्द लेने लगे। ऐसी दशा में सूरदास का साहित्य लहरी और नन्ददास का रसमंजरी, तथा विरह मंजरी आदि नायिका भेद और शृंगार-रस-सम्बन्धी ग्रंथों को बनाना आश्चर्यजनक नहीं है। कुछ विद्वानों ने नन्ददास की रूप मंजरी को अन्यायदेशिक ग्रंथ कहा है जो कि उचित नहीं

है। रूप मंजरी का नायक स्वय नन्ददास है और रूप मंजरी कोई प्रेमिका या सेविका है जिसके प्रति रसिक नन्ददास आकर्षित हुए थे। इन पर आत्मा और परमात्मा का आरोप करना निरर्थक है।

कृष्ण-भक्ति-काव्य में राधावल्लभी हरिदासी तथा राधा सम्प्रदायों के प्रभाव परिणाम-स्वरूप राधा-कृष्ण के कुंज-विहारों, काम-केलियों का अमर्याद वर्णन होने लगा। अब भक्त कवि सखी और दासी रूप में उन गुप्त लीलाओं को निहारने लगा। फलतः कृष्ण-भक्ति काव्य में गुह्यता और स्थूल शृंगारिकता का अबाध समावेश होने लगा। निःसन्देह दार्शनिक दृष्टि से ऐसा हुआ तो लौकिक वासनाओं के उन्नयन के लिए, किन्तु हुई उनकी विकृत विवृति ही। भारतीय धर्म-साधना में बौद्धों, तांत्रिकों, सिद्धों आदि में काम के उदात्तीकरण के लिए भरसक प्रयत्न हुए किन्तु काम अपने अदम्य स्वभाव के कारण परिष्कृत या दमित न होकर अपने उग्र रूप में प्रगट हुआ। कृष्ण-भक्ति-काव्य में भी वासनाओं के उन्नयन की कहानी की भी यही दशा समझनी चाहिए। यह दशा केवल कृष्ण-भक्ति-काव्य की ही नहीं हुई बल्कि राम-भक्ति-काव्य में भी मधुर भाव के प्रवेश से मर्यादापुरुषोत्तम राम सरयू तट-बिहारी, छैल छबीले नायक के रूप में चित्रित होने लगे।

भक्ति काल : एक स्वर्ण युग

भक्ति काल का साहित्य अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती कालों के साहित्य से निश्चित रूप से उत्तम है। हिन्दी-साहित्य का आदि काल और रीतिकाल तो इसकी प्रतिद्वन्द्विता में बिल्कुल नहीं ठहर सकते। हाँ, आधुनिक काल का साहित्य अपनी व्यापकता और विविधता की दृष्टि से कुछ अंशों में भक्ति काल से आगे निकल जाता है। परन्तु अनुभूति की गहनता और भावप्रवणता के क्षेत्र में वह भी हिन्दी के भक्ति-साहित्य की समकक्षता में नहीं आ सकता है। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में "समूचे भारतीय इतिहास में अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है।" यह साहित्य एक महत्ती साधना और प्रेमोल्लास का देश है, जहाँ जीवन के सभी विषाद, नैराश्य और कुंठाएँ धुल जाती हैं। भारतीय जनता भक्ति-साहित्य के श्रवण श्रावण से उस युग में आशान्वित होकर सान्त्वना प्राप्त करती रही है, आज भी उसे तृप्ति मिल रही है भविष्य में भी यही साहित्य उसके जीवन का संबल बना रहेगा। भक्ति-काव्य जहाँ उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है वहाँ उसमें उच्चकोटि के काव्य के भी दर्शन होते हैं। इसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवन-स्रोत रस है, उसका शरीर मानवी है। रस की दृष्टि से भी यह काव्य श्रेष्ठ है। यह साहित्य एक साथ हृदय, मन और आत्मा की भूख को तृप्त करता है। यह काव्य एक साथ लोक तथा परलोक का स्पर्श करता है यह साहित्य परम भक्ति का साहित्य है, इसमें आडम्बरविहीन एक शुचितापूर्ण सरल जीवन की सरल झाँकी है।" डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में "जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे रससिद्ध कवियों और महात्माओं

को दिव्य वाणी उनके अन्तःकरणों से निकलकर देश के कोने-कोने में फैली थी, उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्ति-युग कहते हैं। निश्चित ही वह हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण युग था।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"हिन्दी काव्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाय तो जो बचेगा वह इतना हल्का होगा कि हम उस पर किसी प्रकार का गर्व न कर सकेंगे। लगभग ३०० वर्ष की इस हृदय और मन की साधना के बल पर ही हिन्दी अपना सिर अन्य प्रान्तीय साहित्यों के ऊपर उठाए हुए है। तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, मीरा, रसखान, हित हरिवंश, कबीर इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे पास ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिन्दी भारती के कण्ठमाल हैं।" यह साहित्य एकदम अनुपम और विलक्षण है। यह साहित्य कविता सम्बन्धी दृष्टिकोण, काव्य-सौष्ठव, भावपक्ष और कलापक्ष, संगीत, भारतीय संस्कृति और सभ्यता, भिन्न-भिन्न काव्य रूपों, लोक-मंगल, लोकरंजन और भाषा सभी दृष्टियों से सर्वोत्तम बन पड़ा है।

काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण—भक्ति काव्य के साहित्यकार का कविता-सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यन्त उदात्त है। उसने अपनी वाणी का उपयोग प्राकृत जन-गुणगान में नहीं किया। इनका काव्य आदि काल और रीति काल के कवि के समान राज्याश्रय में पल्लवित एवं पुष्पित नहीं हुआ, बल्कि आत्म-प्रेरणा का फल है अतः यह स्वामिनः सुखाय न होकर स्वान्तःसुखाय अथवा सर्वान्तःसुखाय सिद्ध हुआ। भक्ति-काल के कलाकार को न तो सीकरी से कोई सरोकार था और न ही किसी नरेश की फरमाइश की परवाह, उसका साहित्य निश्छल आत्माभिव्यक्ति है, जिसमें सत्य, उल्लास, आनन्द और युगनिर्माणकारिणी प्रेरणा है।

भावपक्ष और कलापक्ष—भक्ति काव्य में मर्त्य और अमर्त्य लोक का एक सुखद संयोग है। उसमें भावपक्ष और कलापक्ष परस्पर इतने घुलमिल गये हैं कि उन्हें पृथक् करना सहज व्यापार नहीं है। भक्ति-काव्य का अनुभूति-पक्ष और अभिव्यक्ति-पक्ष संतुलित, सशक्त और परस्पर पोषक है। कविता में तुलसी की शोभा नहीं बढ़ी, प्रत्युत तुलसी के द्वारा कविता महिमा-सम्पन्न हुई है। सूर का काव्य भक्ति कविता और संगीत की सुन्दर त्रिवेणी है। कबीर, जायसी, मीरा, रसखान, हित हरिवंश, नन्ददास और नानक की कलाकृतियों पर हिन्दी साहित्य-विश्व-साहित्य के सम्मुख गर्व कर सकता है। भक्ति-काव्य विश्व-जनित एवं शाश्वत काव्य है। रीतिकाल के साहित्य का भावपक्ष की अपेक्षा शिथिल और कलापक्ष की अपेक्षा अधिक सबल है। रीतिकाव्य में अलंकरण तथा प्रदर्शन की प्रवृत्तियों का प्राधान्य है अतः प्रायः उसमें आत्मा की सहज स्फूर्ति और प्राणों के स्पन्दन का अभाव है। सीमित परिधि में नायिका-भेद की रूढ़ियों तथा आलंकारिक चमत्कार का प्रदर्शन ही रीति कवि का उद्देश्य बन गया था। उसमें यह व्यापकता नहीं जो भक्ति-काव्य में उपलब्ध होती है। इसमें कविता के बहाने राधा-कान्ह का स्मरण होता रहा और साथ-साथ शास्त्र कर्म के निर्वाह की भी लालसा बनी रही। परिणामतः कला के सहज

उद्रेक से रीति-काव्य शून्य ही रहा। अस्तु! अपवाद तो सर्वत्र मौजूद होते ही हैं। आदिकाल की प्रायः रचनायें संदिग्ध और अप्रामाणिक हैं। ऐसी स्थिति में उनके भावपक्ष और कलापक्ष के विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ कह सकना कठिन है। किन्तु एक बात तो निश्चित है कि आदिकाल का साहित्य प्रामाणिक होने की दशा में भी भक्ति-काव्य की प्रतिद्वन्द्विता में खड़ा नहीं हो सकता।

भारतीय संस्कृति— भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति और सभ्यता, आचार और विचार सभी कुछ भक्ति-काव्य के सुदृढ़ एवं सुन्दर कलेवर में सुरक्षित हैं। जैसे राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस की स्वतन्त्रता प्राप्ति के निमित किये आन्दोलन का सही इतिहास जानने के लिए मुन्शी प्रेमचन्द के साहित्य का अध्ययन आवश्यक है, उसी प्रकार मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के सम्यक् अवबोध के लिए भक्ति-काव्य का अवलोकन अनिवार्य है। इसमें सगुण-निर्गुण भक्ति, योग दार्शनिकता, आध्यात्मिकता और आदर्श जीवन के भव्य चित्र सन्निहित हैं। तुलसी के रामचरितमानस का उत्तरी भारत में वही स्थान है जो यूरोप में बाइबिल का। आधुनिक भारतीय धर्म और संस्कृति तुलसी-निर्मित हैं। तुलसी का मानस नाना पुराण-निगमागम का सार है। उन्होंने भक्ति, ज्ञान और कर्म की समन्वयात्मक त्रिवेणी से मुमूर्ष राष्ट्र के शरीर में अमर प्राणों का संचार किया। भारत के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इनके किसान भी दूसरे देशों के नेताओं से अधिक सुसंस्कृत हैं, यदि यह सत्य है तो इसका समूचा श्रेय प्रातःस्मरणीय तुलसी को ही है। भक्ति काव्य में ऐसी धार्मिक भावनाओं का समावेश है जिनका मुसलमानी धर्म से कोई विरोध नहीं बल्कि उसमें भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व सन्निहित हैं। मेरे विचार में भक्तिकाल का समस्त साहित्य समन्वय की विराट् चेष्टा है। आदिकाल के साहित्य में युग पुरुषों का चित्रण इतना अतिरंजनापूर्ण है कि वे इतिहास के व्यक्ति न रहकर कोरे काव्यगत पात्र रह गये हैं। रीतिकाल के कवि ने कविता के ब्याज से राधा-कृष्ण का स्मरण किया, किन्तु राधा-कृष्ण साधारण नायिका और नायक से ऊपर नहीं उठ सके। उसने राधा और कृष्ण के नाम पर मानसिक फफोले फोड़े जिससे अजस्र वासना की धारा बही। उसने अपनी सारी शक्ति-नायिका के कच और कुच के महीन से महीन चित्र उतारने में लगा दी। "तुलसी के राम और सीता तो अलौकिक और आदर्श व्यक्ति हैं ही, सूर, नन्ददास आदि के कृष्ण तथा राधा भी समग्र रूप में रीतिकालीन राधा-कृष्ण के समान असंयत नहीं हैं। वे पति पावन बहुत अधिक हैं और लीला-विलासी बहुत कम। कुल मिलाकर भक्ति-कालीन साहित्य तत्कालीन जनता का उन्नायक, प्रेरक एवं उद्धर्ता है, तथा भारतीय संस्कृति और आदर्श का सशक्त उपदेष्टा है, वह राम, श्याम-सुन्दर, गिरधर-गोपाल, अलख निरंजन और ओंकार का स्मारक है, जो आज भी हिन्दू जन-जीवन के लिए प्रातःस्मरणीय है।"

संगीत भक्तिकाल में भाषा और भाव, काव्य और संगीत का मणि-कांचन योग है। काव्य में संगीतात्मकता के सन्निवेश के लिए जिस आत्म-विश्वास, तीव्रानु-

भूति, सहज स्फूर्ति और अन्तःप्रेरणा की आवश्यकता होती है, भक्त कवि में वह पर्याप्त मात्रा में थी। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में गीतिकाव्य का निर्माण पहले से हो चुका था किन्तु गीति की अवतारणा हिन्दी में सर्वप्रथम भक्ति काव्य में हुई जो कि परवर्ती रीतिकाल में प्रायः लुप्त हो गई, क्योंकि रीतिकवि में गीत-अपेक्षित आत्मविश्वासादि आवश्यक उपकरणों की कमी थी। सूर, मीरा, तुलसी, कबीर, परमानन्ददास और नानक के पद भक्त, साहित्य-रसिक और गायक सबके हृदयों और कंठों में आज तक रहे हैं और रहेंगे। कौन है जो सूर की कविता को सुनकर झूमने नहीं लगता और दरद-दीवानी मीरा के पदों को सुनकर भाव-विह्वल और मस्त न होता होगा।

काव्य-रूप—काव्य-रूपों की विविधता की दृष्टि से भी भक्तिकाल काफी समृद्ध है। इसमें प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक-काव्य, सूक्ति-काव्य, संगीत-काव्य, गेय, नाटक, कथा-काव्य, जीवन-चरित्र, गद्य-काव्य और उपदेश-काव्य सभी कुछ उपलब्ध होता है। काव्य-रूपों की विविधता की दृष्टि से आधुनिक काल निःसन्देह भक्तिकाल से उत्कृष्ट है, पर जहाँ तक आदि काल और रीतिकाल का प्रश्न है, वे भक्ति काव्य के सम्मुख इस दिशा में नगण्य है।

भाषा—अवधी और ब्रजभाषा दोनों ही भक्ति-काव्य में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंची हुई दृष्टिगोचर होती हैं। एक ओर तुलसी के द्वारा अवधी का खूब परिमार्जन और परिष्करण हुआ तो दूसरी ओर ब्रजभाषा सूर और नन्ददास आदि कृष्ण-भक्त कवियों के द्वारा सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत हुई। उसकी पाचन शक्ति और व्यापकता में अपूर्व उन्नति हुई। यह ठीक है कि भक्ति-काव्य में ब्रजभाषा के अपेक्षित व्याकरण का सम्मत रूप तैयार न हो सका, किन्तु रीतिकाल में प्रयुक्त ब्रज भाषा की अपेक्षा उसका रूप साधु था। रीति-काल में ब्रज भाषा के साथ खिलवाड़ हुआ और शब्दों की कलाबाजी के कारण उसका रूप विकृत हो गया। आदि काल की भाषा संक्रमण काल की भाषा है।

लोकरक्षण एवं लोकरंजन—निर्गुणवादी कबीर तथा जायसी ने अपने-अपने माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम, धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता के लिए प्रयत्न किया। तुलसी के राम में शील, शक्ति और सौन्दर्य का सुखद समन्वय है। सूर के कृष्ण में सुन्दर की प्रधानता है। तुलसी ने जहाँ मृतप्राय हिन्दू राष्ट्र की धमनियों में नव-निर्माण के नवीन रक्त का संचार किया वहाँ सूर के जीवन में सौन्दर्य पक्ष का उद्घाटन करके जीवन के प्रति आसक्ति और आस्था को प्रतिष्ठित किया। भक्ति काव्य जहाँ एक ओर परलोक की ओर झाँकता है वहाँ दूसरी ओर इस लोक को भी पैनी दृष्टि से देखता है। भक्ति-काव्य एक साथ हृदय, मन और आत्मा की बुभुक्षा को शान्त करता है। हृदय और मन के लिए उच्चकोटि का काव्य सौन्दर्य और धार्मिकता अपेक्षित है और आत्मा की तृप्ति के लिए आध्यात्मिकता।

ये सभी वस्तुएँ भक्ति-काव्य में हैं। सचमुच भक्ति-काव्य मर्त्य और अमर्त्य का एक अनूठा सोहाग है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि विचारों की उत्तमता, भावनाओं और अनुभूतियों की प्रकृष्टता, काव्य-सम्बन्धी-उद्देश्य और दृष्टिकोण की उदारता कला-पक्ष और भावपक्ष की उच्चता, भावनाओं की मधुरता, संगीत की आस्वादनीयता काव्यात्मक रूपों, शैलियों तथा भाषाओं की विविधता, सहज रसनीयता और भारतीय संस्कृति की भास्वरता आदि की दृष्टि से भक्ति-कालीन साहित्य अतुलनीय है। ऐसा वरिष्ठ साहित्य किसी देश को बड़े सौभाग्य से ही रिक्थ में प्राप्त हुआ करता है। भक्ति-साहित्य के पीछे एक बलवती साधना है, अतएव उसका साध्य उच्च अभिनन्दनीय तथा परम रमणीय है। किन्तु भक्ति साहित्य की कतिपय परिसीमायें भी हैं। उसने जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को इतना अधिक महत्त्व दे दिया कि उसका भौतिक पक्ष उपेक्षणीय रह गया। इसके अतिरिक्त इसमें गद्य-काव्य के नाना रूपों— उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध, आलोचना और एकांकी आदि का सर्वथा अभाव है। अतः इसमें साहित्य के नाना रूपों की विविधता और व्यापकता नहीं आ सकी। कविता-क्षेत्र में निःसन्देह भक्तिकाल हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण युग है किन्तु गद्य और पद्य दोनों की उच्चता, गहनता और व्यापकता की सामूहिक दृष्टि से आधुनिक काल प्रकृष्ट है।

———

रीतिकाल

साहित्य में एक नवीन मार्ग

रीतिकाल का साहित्य हिन्दी-साहित्य में एक नवीन प्रकार का साहित्य है। भक्ति-काल में पारलौकिकता की प्रधानता रही। हिन्दी-साहित्य के आदि काल में अनेक साहित्यिक गतिविधियों का सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है, जबकि रीतिकाल के साहित्य में परलोक तथा मोक्षादि की चिन्ता नहीं। इस साहित्य में जीवन के प्रति भौतिक दृष्टिकोण को अपनाया गया, अतः इसे भौतिकवादी साहित्य के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है, किन्तु इसे लोक-साहित्य (Secular Literature) नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि लोक-साहित्य में वैयक्तिकता का उभरा हुआ होना अनिवार्य होता है। पर रीतिकालीन साहित्य में इस तत्त्व का नितान्त अभाव है। राजनीति के घोर पराजयमय उस युग में रीतिकालीन साहित्यकार में वैयक्तिकता का उभरना तनिक असम्भव भी था। अस्तु ! न ही तो इस साहित्य को शुद्ध शास्त्रीय साहित्य की कोटि में रखा जा सकता है और न ही इसे पूर्णतः लौकिक साहित्य कहा जा सकता है। इस साहित्य की अपनी ही कोटि है जो लोक-साहित्य तथा सिद्धान्त-साहित्य के बीच की वस्तु है। रीतिकाल में पाण्डित्य प्रदर्शन-प्रवृत्ति का सभी क्षेत्रों में साम्राज्य स्थापित हो चुका था। साहित्यिक क्षेत्र में भी उसी प्रदर्शन-प्रवृत्ति का बोल-बाला रहा। पांडित्य-प्रदर्शन की इस प्रवृत्ति के परिणाम-स्वरूप रीति-साहित्य में कवि कर्म तथा आचार्य कर्म का एक साथ निर्वाह होता रहा। इस काल की कविता में भावुकता और कला का अद्भुत समन्वय हुआ। वास्तव में हिन्दी वाङ्मय के इतिहास में रीतिकालीन कवि ने ही काव्य को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया। रीतिकालीन कविता अपना साध्य स्वयं थी। अपने शुद्ध रूप में रीति कविता न तो धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी और न ही सामाजिक सुधार अथवा राजनीतिक सुधार की प्रचारिका थी। इस काल के साहित्य का अपना ही महत्त्व था। इस काल के साहित्य में ऐहिकतामूलक सरस कवित्व है। रीतिकालीन साहित्य के जीवन तथा काव्य के प्रति इस नवीन दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण डॉ० भागीरथ मिश्र के इन शब्दों में भली-भाँति हो जाता है—"रीति-काव्य की परम्परा ने शुद्ध-काव्य के लिये एक निश्चित मार्ग खोल दिया। इसके बिना प्रबन्ध-काव्यों में या तो इतिहास-ग्रन्थ थे और वे राजा महाराजाओं अथवा वीरों की अतिशय गुण-गाथा से ओत-प्रोत थे अथवा वे धार्मिक एवं आध्यात्मिक ग्रन्थ थे

जिनमें धर्मगाथा कही गई है। ऐसी ही मुक्तक काव्य नीति-उपदेश-भरे अथवा स्तोत्र और कीर्तन के रूपों में ही सीमित था। उस रीति-परम्परा ने एक नवीन मार्ग कवि-प्रतिभा के विकास के लिए खोल दिया जिसका अवलम्बन करके अपनी प्रवृत्ति और अभिरुचि के अनुसार कुछ भी लिखा जा सकता था। लौकिक जीवन से अनुराग रखने वाले राज्याश्रित कवियों के लिए यह मार्ग विशेष रूप से सहायक हुआ, क्योंकि उन्हें चारण-कवियों के समान केवल यशोगान के स्थान में रीति-पद्धति पर लिखकर आश्रयदाता को चमत्कृत करने तथा रिझाने का अवसर मिला। इस प्रकार रीति-परम्परा का अपने युग के लिए ऐतिहासिक महत्व है। हिन्दी के रीतिकाल का साहित्य जनपथ का साहित्य न होकर राजपथ का साहित्य है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश-भाषाओं के साहित्य में यह परम्परा पहले से ही विद्यमान थी। रीतिकालीन साहित्य में पुरानी परम्परा से हट कर कुछ नवीनता का समावेश हुआ। संस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओं के साहित्य में कलात्मक विलासिता थी, किन्तु हिन्दी के रीति-साहित्य में क्रमशः विलासिता का प्राधान्य होने लगा। रीतिकालीन-साहित्य के विलासी, ऐश्वर्यमय वातावरण को देखकर उसे तत्कालीन जनता की मनोवृत्ति का परिणाम या फल कहना बड़ी-भारी भूल होगी।

नामकरण

सामान्यतया सं० १७००-१९०० के काल को हिन्दी-साहित्य में रीतिकाल के नाम से अभिहित किया जाता है। हिन्दी-साहित्य के आदि काल के समान रीति-काल के नामकरण के सम्बन्ध में भी मतभेद है। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में काल-विभाजन इस प्रकार किया है—(१) आदि काल या वीरगाथा काल (१०५०-१३७५); (२) मध्य काल (१३७५-१९००) तक। उन्होंने इस काल के भी दो भेद कर दिये (क) पूर्वमध्य काल या भक्ति काल (१३७५-१७००); (ख) उत्तर मध्य काल या रीति काल (१७००-१९००); (३) आधुनिक काल य गद्य काल (सं० १९०० से अब तक)।

आचार्य शुक्ल के हिन्दी-साहित्य के इतिहास से पूर्व 'मिश्रबन्धु विनोद' लिखा जा चुका था जिसमें हिन्दी-साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन आदि, मध्य और अन्त या आधुनिक भागों में किया गया था। आचार्य शुक्ल ने भी परम्परा से प्राप्त ये उक्त नाम तो दिये ही साथ-साथ प्रवृत्तियों की मुख्यता की दृष्टि से भी एक विशिष्ट नाम जोड़ दिया। इस प्रकार चारों कालों के दोहरे नाम देकर प्रत्येक काल की विशिष्ट प्रवृत्ति को भी द्योतित कर दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल जी के इस काल-विभाजन के दो आधार हैं—मानव-मनोविज्ञान तथा तत्कालीन प्रमुख प्रवृत्ति। मानव-मनोविज्ञान किसी भी कालावधि को सामान्यतया तीन भागों में विभक्त करता है—आदि, मध्य और अन्त या आधुनिक। शुक्ल जी को आदि काल में वीरगाथाओं की प्रमुखता दिखाई दी, अतः आदि काल को वीरगाथा काल नाम

दिया, हालांकि विद्वानों को आदि काल का यह नामकरण स्वीकार नहीं है। मध्य-काल में दो भिन्न प्रवृत्तियाँ परिलक्षित हुई अतः शुक्ल जी ने उसे दो भागों में विभक्त कर दिया। प्रथम भाग को पूर्व मध्य काल या भक्ति काल कहा जिससे तत्कालीन साहित्य की भक्तिपरक प्रवृत्ति का पता पाठक को सहज में लग सके। दूसरे भाग को उत्तर मध्य काल कहकर उसे रीति काल की संज्ञा दी जिससे कि उस काल की साहित्यिक प्रवृत्ति अवगत हो सके। आधुनिक काल में गद्य-लेखन की प्रमुखता देखकर उसे-गद्य-काल के नाम से अभिहित किया। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि शुक्ल जी के नामकरण का प्रमुख आधार तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ हैं।

साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन कृति, कर्त्ता, पद्धति और विषय की दृष्टि से किया जा सकता है। कभी-कभी नामकरण के किसी दृढ़ आधार के उपलब्ध न होने पर उस काल के किसी अत्यन्त प्रभावशाली साहित्यकार के नाम पर ही उस काल का नामकरण कर दिया जाता है। जैसे भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, प्रसाद युग आदि। कभी-कभी साहित्य-सृजन की शैलियों के आधार पर काल-विभाजन कर दिया जाता है। जैसे, छायावादी युग, प्रगतिवादी युग, तथा प्रयोगवादी युग।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि आचार्य शुक्ल का उत्तर मध्य काल का रीति काल नामकरण पद्धति-विशेष के आधार पर है जो कि नितान्त समीचीन है, क्योंकि इस काल में रीति-पद्धति पर लिखने की प्रवृत्ति का बोलबाला रहा। उस समय का वातावरण ही कुछ ऐसा था। उस युग के प्रायः प्रत्येक कवि ने रीति-परम्परा के साँचे में ढलकर ही लिखा, क्योंकि तभी उसे समुचित प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती थी। डॉ० भागीरथ के शब्दों में "उसे रस, अलंकार, नायिका भेद, ध्वनि आदि के वर्णन के सहारे ही अपनी कवित्व-प्रतिभा दिखाना आवश्यक था। इस युग में उदाहरणों पर विवाद होते थे। इस बात पर कि उसके भीतर कौन-सा अलंकार है? कौन-सी शब्द-शक्ति है? कौन सा रस या भाव है? उसमें वर्णित नायिका किस भेद के अन्तर्गत है? काव्यों की टीकाओं और व्याख्याओं में काव्य-सौन्दर्य को स्पष्ट करने के लिए भी उसके भीतर अलंकार, रस, नायिका भेद को भी स्पष्ट किया जाता था। कवि-गोष्ठियों में भी यही प्रवृत्ति थी। अतः यह युग रीति-पद्धति का ही युग था। और इसमें इससे सम्बन्धित असंख्य ग्रन्थ लिखे गये।" यह है भी तथ्य कि रीतिकालीन साहित्य के रसास्वादन के लिए रस, अलंकार, नायिका भेद आदि के ज्ञान के विना काम नहीं चल सकता रीतिवद्ध कवियों के साहित्य के समझने का रहस्य तो नायिका आदि भेद में निहित है ही, साथ-साथ रीति-सिद्ध और रीति-मुक्त कवियों के ग्रन्थों की पार्श्वभूमि में भी नायिका भेद, रस और अलंकारादि का प्रौढ़ ज्ञान काम करता हुआ-सा दिखाई देता है।

हिन्दी-साहित्य के कुछ विद्वानों ने रीति काल को अलंकरण काल, अलंकृत काल, कला काल तथा शृंगार काल के नामों से भी अभिहित किया है। इन नामों के

जिनमें धर्मगाथा कही गई है। ऐसी ही मुक्तक काव्य नीति-उपदेश-भरे अथवा स्तोत्र और कीर्तन के रूपों में ही सीमित था। उस रीति-परम्परा ने एक नवीन मार्ग कवि-प्रतिभा के विकास के लिए खोल दिया जिसका अवलम्बन करके अपनी प्रवृत्ति और अभिरुचि के अनुसार कुछ भी लिखा जा सकता था। लौकिक जीवन से अनुराग रखने वाले राज्याश्रित कवियों के लिए यह मार्ग विशेष रूप से सहायक हुआ, क्योंकि उन्हें चारण-कवियों के समान केवल यशोगान के स्थान में रीति-पद्धति पर लिखकर आश्रयदाता को चमत्कृत करने तथा रिझाने का अवसर मिला। इस प्रकार रीति-परम्परा का अपने युग के लिए ऐतिहासिक महत्व है। हिन्दी के रीतिकाल का साहित्य जनपथ का साहित्य न होकर राजपथ का साहित्य है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश-भाषाओं के साहित्य में यह परम्परा पहले से ही विद्यमान थी। रीतिकालीन साहित्य में पुरानी परम्परा से हट कर कुछ नवीनता का समावेश हुआ। संस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओं के साहित्य में कलात्मक विलासिता थी, किन्तु हिन्दी के रीति-साहित्य में क्रमशः विलासिता का प्राधान्य होने लगा। रीतिकालीन-साहित्य के विलासी, ऐश्वर्यमय वातावरण को देखकर उसे तत्कालीन जनता की मनोवृत्ति का परिणाम या फल कहना बड़ी-भारी भूल होगी।

नामकरण

सामान्यतया सं० १७००-१६०० के काल को हिन्दी-साहित्य में रीतिकाल के नाम से अभिहित किया जाता है। हिन्दी-साहित्य के आदि काल के समान रीति-काल के नामकरण के सम्बन्ध में भी मतभेद है। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में काल-विभाजन इस प्रकार किया है—(१) आदि काल या वीरगाथा काल (१०५०-१३७५); (२) मध्य काल (१३७५-१६००) तक। उन्होंने इस काल के भी दो भेद कर दिये (क) पूर्वमध्य काल या भक्ति काल (१३७५-१७००); (ख) उत्तर मध्य काल या रीति काल (१७००-१६००); (३) आधुनिक काल य गद्य काल (सं० १६०० से अब तक)।

आचार्य शुक्ल के हिन्दी-साहित्य के इतिहास से पूर्व 'मिश्रवन्धु विनोद' लिखा जा चुका था जिसमें हिन्दी-साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन आदि, मध्य और अन्त या आधुनिक भागों में किया गया था। आचार्य शुक्ल ने भी परम्परा से प्राप्त ये उक्त नाम तो दिये ही साथ-साथ प्रवृत्तियों की मुख्यता की दृष्टि से भी एक विशिष्ट नाम जोड़ दिया। इस प्रकार चारों कालों के दोहरे नाम देकर प्रत्येक काल की विशिष्ट प्रवृत्ति को भी द्योतित कर दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल जी के इस काल-विभाजन के दो आधार हैं—मानव-मनोविज्ञान तथा तत्कालीन प्रमुख प्रवृत्ति। मानव-मनोविज्ञान किसी भी कालावधि को सामान्यतया तीन भागों में विभक्त करता है—आदि, मध्य और अन्त या आधुनिक। शुक्ल जी को आदि काल में वीरगाथाओं की प्रमुखता दिखाई दी, अतः आदि काल को वीरगाथा काल नाम

दिया, हालांकि विद्वानों को आदि काल का यह नामकरण स्वीकार नहीं है। मध्य-काल में दो भिन्न प्रवृत्तियाँ परिलक्षित हुई अतः शुक्ल जी ने उसे दो भागों में विभक्त कर दिया। प्रथम भाग को पूर्व मध्य काल या भक्ति काल कहा जिससे तत्कालीन साहित्य की भक्तिपरक प्रवृत्ति का पता पाठक को सहज में लग सके। दूसरे भाग को उत्तर मध्य काल कहकर उसे रीति काल की संज्ञा दी जिससे कि उस काल की साहित्यिक प्रवृत्ति अवगत हो सके। आधुनिक काल में गद्य-लेखन की प्रमुखता देखकर उसे-गद्य-काल के नाम से अभिहित किया। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि शुक्ल जी के नामकरण का प्रमुख आधार तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ हैं।

साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन कृति, कर्त्ता, पद्धति और विषय की दृष्टि से किया जा सकता है। कभी-कभी नामकरण के किसी दृढ़ आधार के उपलब्ध न होने पर उस काल के किसी अत्यन्त प्रभावशाली साहित्यकार के नाम पर ही उस काल का नामकरण कर दिया जाता है। जैसे भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, प्रसाद युग आदि। कभी-कभी साहित्य-सृजन की शैलियों के आधार पर काल-विभाजन कर दिया जाता है। जैसे, छायावादी युग, प्रगतिवादी युग, तथा प्रयोगवादी युग।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि आचार्य शुक्ल का उत्तर मध्य काल का रीति काल नामकरण पद्धति-विशेष के आधार पर है जो कि नितान्त समीचीन है, क्योंकि इस काल में रीति-पद्धति पर लिखने की प्रवृत्ति का बोलबाला रहा। उस समय का वातावरण ही कुछ ऐसा था। उस युग के प्रायः प्रत्येक कवि ने रीति-परम्परा के साँचे में ढलकर ही लिखा, क्योंकि तभी उसे समुचित प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती थी। डॉ० भागीरथ के शब्दों में "उसे रस, अलंकार, नायिका भेद, ध्वनि आदि के वर्णन के सहारे ही अपनी कवित्व-प्रतिभा दिखाना आवश्यक था। इस युग में उदाहरणों पर विवाद होते थे। इस बात पर कि उसके भीतर कौन-सा अलंकार है? कौन-सी शब्द-शक्ति है? कौन सा रस या भाव है? उसमें वर्णित नायिका किस भेद के अन्तर्गत है? काव्यों की टीकाओं और व्याख्याओं में काव्य-सौन्दर्य को स्पष्ट करने के लिए भी उसके भीतर अलंकार, रस, नायिका भेद को भी स्पष्ट किया जाता था। कवि-गोष्ठियों में भी यही प्रवृत्ति थी। अतः यह युग रीति-पद्धति का ही युग था। और इसमें इससे सम्बन्धित असंख्य ग्रन्थ लिखे गये।" यह है भी तथ्य कि रीतिकालीन साहित्य के रसास्वादन के लिए रस, अलंकार, नायिका भेद आदि के ज्ञान के बिना काम नहीं चल सकता रीतिबद्ध कवियों के साहित्य के समझने का रहस्य तो नायिका आदि भेद में निहित है ही, साथ-साथ रीति-सिद्ध और रीति-मुक्त कवियों के ग्रन्थों की पार्श्वभूमि में भी नायिका भेद, रस और अलंकारादि का प्रौढ़ ज्ञान काम करता हुआ-सा दिखाई देता है।

हिन्दी-साहित्य के कुछ विद्वानों ने रीति काल को अलंकरण काल, अलंकृत काल, कला काल तथा शृंगार काल के नामों से भी अभिहित किया है। इन नामों के

औचित्य एवं अनौचित्य पर विचार करने के लिए रीति काल तक पहुँचते-पहुँचते रीति शब्द के अर्थ को समझ लेना आवश्यक है।

संस्कृत काव्य शास्त्र में सर्वप्रथम वामन (९वीं शती) ने रीति-शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार 'विशिष्टा पद-रचना रीतिः' है। वामन ने इसे काव्य की आत्मा स्वीकार किया। इसके तीन भेद हैं—वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली। पर आगे चलकर आनन्दवर्धन के समय में ध्वनि-सम्प्रदाय की काव्य जगत् में विशेष प्रतिष्ठा हुई। काव्य के अन्य सम्प्रदायों—अलंकार, वक्रोक्ति—के समान रीति-सम्प्रदाय की महत्ता भी नष्ट हो गई। अब रीति रस की उपकारक मात्र ही रह गई। हिन्दी में रीति शब्द का अर्थ विद्यापति के समय से एक अन्य अर्थ में होने लगा, वह है काव्य-रचना-पद्धति तथा उसका निदशक शास्त्र। रीतकालीन आचार्य-कवियों ने इसी अर्थ में पंथ शब्द का भी प्रयोग किया है। रीति काल में इस अर्थ में अन्य भी बहुत से शब्द प्रयुक्त हुए। जैसे—कवित्त-रीति, कवि-रीति, काव्य-रीति, छन्द-रीति, अलंकार-रीति, मुक्तक-रीति, वर्णन-रीति, कविपंथ और कविता-पंथ। अतः रीति काल तक आते-आते रीति-शब्द का अर्थ रस, अलंकार, शब्द-शक्ति, छन्द आदि काव्यांगों का निरूपण ही रह गया और वामन द्वारा गृहीत अर्थ से इसका व्यापक रूप हो गया। अतः रीति कवि या रीति ग्रन्थ में प्रयुक्त रीति शब्द का सम्बन्ध काव्य-शास्त्र से समझना चाहिए। निःसन्देह संस्कृत साहित्य में रीति-शब्द का व्यवहार विशिष्टि पद-रचना के अर्थ में हुआ है, परन्तु जब हम हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत रीति-शब्द का व्यवहार करते हैं, तब हमारा तात्पर्य इस प्रकार की विशिष्ट पद-रचना से नहीं होता वरन् उपयुक्त सभी काव्य सिद्धातों के आधार पर काव्य-अंगों के लक्षण-सहित या उनके आधार पर लिखे गये उदाहरणों के आधार पर होता है। अतः हिन्दी में रीति-काव्य का अपना एक विशिष्ट अर्थ है—लक्षणों के साथ अथवा अकेले उनके आधार पर लिखा गया काव्य। रीति काल का मूल भूत आधार कवि-शिक्षा थी। यह प्रवृत्ति मध्यप्रदेश में बहुत पुराने समय से प्रचलित थी। हिन्दी में जब रीति-सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, उस समय मराठी, गुजराती तथा पंजाबी आदि भाषाओं में भी रीति-विषयक ग्रन्थ लिखे गए। यह दूसरी बात है कि तत्कालीन हिन्दी में प्रणीत रीति-ग्रन्थों का आकार और प्रकार अन्य प्रादेशिक भाषाओं की अपेक्षा अधिक समृद्ध है। सच तो यह है कि इस प्रकार की परम्परा का श्री गणेश राजशेखर की काव्य-मीमांसा से हो गया था। इसी परम्परा की प्रति-ध्वनि केशव तथा ठाकुर आदि में सुहाई पड़ती है:—

समुझैं बाला बालकहु वर्णन पंथ अगाध।
कवि प्रिया केशव करी छमियो कवि अपराध॥ (केशव)
चित्र हूं आप लिखे समझैं,
कवितान की रीति में बार ते पार॥ (घनानन्द)

उक्त अर्थ के लिए रस-रीति, रस-रहस्य, रस प्रबोध, रस-विलास, भावविलास तथा भाव-विनोद आदि अन्य अनेक शब्द प्रचलित थे। यहाँ रस शब्द से भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित रस का काव्य-शास्त्रीय गम्भीर विवेचन अपेक्षित नहीं है। यहाँ रसिकता के लिए शृंगार रस आदि का सामान्य वर्णन मात्र है।

इस काल के साहित्य के लिए रीति शब्द का प्रयोग आचार्य शुक्ल का कोई नवीन आविष्कार नहीं है, परन्तु उसके कवि ने ही इसी अर्थ में रीति शब्द का प्रयोग कर दिया था। 'मिश्रबन्धु विनोद' में भी रीति-शब्द की इसी अर्थ में व्याख्या की गई है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की इतनी देन अवश्य स्वीकरणीय है कि उनके पूर्व रीति-शब्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नहीं था। ऐसे ग्रंथों में जिनमें रीति-कथन तो नहीं था, परन्तु रीति बन्धन अवश्य था, आचार्य शुक्ल ने उन्हें भी रीति के अन्तर्गत परिगणित किया। शुक्ल जी का मन्तव्य था कि जिसने लक्षण-ग्रन्थ रचा हो केवल वह ही रीति कवि नहीं है, बल्कि जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो वह भी रीति कवि है।

अब विचारणीय प्रश्न यह उठता है कि रीति काल को अलंकृत काल या कलाकाल कहना कहाँ तक उपयुक्त है? हमारे विचार में इन दोनों नामों के विवेच्य काल की सामान्य प्रवृत्ति का बोध नहीं हो पाता है। रीतिकाल की सर्वप्रमुख प्रवृत्ति रीति-परम्परा है। इन उक्त दोनों नामों से उसकी सर्वथा उपेक्षा हो जाती है। फिर यहाँ अलंकृत या अलंकरण शब्दों से क्या समझा जाये? ऐसी कविता जिसमें अलंकारों का प्राधान्य हो या ऐसी कविता जिसमें अलंकरण पर अधिक बल दिया गया हो। ये दोनों प्रकार की कल्पनायें सार्थक प्रतीत नहीं होती हैं। यदि यह स्वीकार कर लिया जाये कि प्रस्तुत काल में अलंकारों का लक्षणोदाहरण रूप में निरूपण हुआ, अतः इसे अलंकृत काल की संज्ञा से अभिहित किया गया है तो भी संगत नहीं, क्योंकि अलंकारों के साथ-साथ काव्य के अन्य अंगों का भी तो इस काल में निरूपण हुआ। और फिर रीतिकालीन कवि कविता-कामिनी बाह्य अलंकरण में उलझा रहा हो, ऐसी बात भी नहीं, क्योंकि रीतिकालीन साहिय में उस समय के भावुक और रसिक कवि के भाव-प्रवण हृदय के सरस और मनोरम भाव-रत्न भी तो प्रचुर मात्रा में विद्यमान है।

मिश्रबन्धुओं द्वारा इस काल को अलंकृत काल के नाम से पुकारा गया है, जबकि उन्होंने स्वयं रीतिकालीन कवियों के ग्रंथों को रीति ग्रंथ और उनके विवेचन को रीति-कथन कहा है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'मिश्रबन्धु विनोद' में उस काल की प्रमुख प्रवृत्ति रीति की व्याख्या इन शब्दों में की है—"इस प्रणाली के साथ रीति ग्रंथों का भी प्रचार बढ़ा और आचार्यता की वृद्धि हुई। आचार्य लोग तो स्वयं कविता करने की रीति सिखलाते थे। मानो वे संसार से यों कहते हैं कि अमुक-अमुक विषयों

के वर्णन में अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनुपयोगी।" आश्चर्य होता है कि मिश्रबन्धुओं ने उस काल की सामान्य प्रवृत्ति रीति की इतनी स्वच्छ व्याख्या करते हुए तथा उस समय में इसकी प्रधानता देखते हुए भी अपने काल विभाजन का आधार उसे क्यों नहीं बनाया ?

रीतिकालीन साहित्य में कला-पक्ष की प्रधानता को देखकर इसे कला-काल कहना भी असमीचीन है। तथ्य तो यह है कि साहित्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष परस्पर इस प्रकार संपृक्त होते हैं कि उनमें विभाजक रेखा खींचना कठिन व्यापार है और फिर इस काल के साहित्य में हृदय-पक्ष का उद्घाटन भी अत्यन्त अनुपम है। मिश्र-बन्धुओं के शब्दों में—"इसी से इन कवियों की रचना में वाणी के ऐश्वर्य का बहुत बड़ा कोश मिलता है। वाणी के विस्तार की सीमा वस्तुतः ये ही जानते थे। भावों का कोश वाणी के प्रतीकों द्वारा उद्घाटित करने की शक्ति इन्हीं में थी।" ये शब्द उन्होंने घनानन्द आदि के सम्बन्ध में कहे हैं। इन शब्दों से रीतिकालीन कवियों के भाव-उत्कर्ष एवं प्रकर्ष का सहज में ही अनुमान हो जाता है। घनानन्द के स्व-सम्बन्ध में कहे हुए शब्द एक मात्र सत्य हैं:—

"लोग हैं लागि कवित्त बनावत,
मोहिं तो मोरे कवित्त बनावत।"

वस्तुतः सौन्दर्य एवं प्रेमोपासक रीतिकालीन कवि की वाणी मनोमुग्धकारिणी है। उसमें भाव पक्ष की उपेक्षा हो ऐसी बात नहीं।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अनेक युक्तियों के द्वारा हमारे विवेच्य काल का नाम शृंगार काल सिद्ध किया है। शृंगार रस की प्रमुखता को लक्ष्य रखकर उन्होंने रीतिकाल को शृंगार काल कहा है। इस सम्बन्ध में हमें इतना नम्र निवेदन करना है कि क्या रीतिकालीन कवियों से शृंगार रस के समूचे अंगों का सम्यक् विवेचन किया है ? और फिर शृंगार रस के रति स्थायीभाव, तथा उसके आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारियों का विशद निरूपण उनके साहित्य में कहां तक बन पड़ा है ? समस्त रीतिकालीन कविता के विहंगम अवलोकन के पश्चात् कहा जा सकता है कि तत्कालीन कृतियों में ऐसी परिपाटी नहीं रही है। फिर कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि शुद्ध शृंगार रस न होकर शृंगाराभास हो। इस काल में शृंगार की प्रधानता सर्वनिश्चित है, परन्तु वह स्वतन्त्र नहीं, सर्वत्र रीति पर आश्रित है। विद्वानों ने इस काल के समस्त कवियों को तीन वर्गों में विभाजित किया है—(१) रीति-बद्ध (२) रीति-सिद्ध, और (३) रीति-मुक्त। इस प्रकार हम देखते हैं कि रीति-परम्परा का प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सभी पर है। इस प्रसंग में हमें रीति शब्द के व्यापक अर्थ को समक्ष रखना होगा। रीति शब्द का अर्थ है विशिष्ट पद-रचना तथा लक्षण-ग्रन्थ। रीतिबद्ध कवियों ने तो अपने लक्षण ग्रन्थों में साक्षात् रूप से रीति-परम्परा का निर्वाह किया ही, रीति-सिद्ध कवियों की रचनाओं

की पृष्ठभूमि में भी अप्रत्यक्ष रूप से रीति-परिपाटी काम कर रही है। रही रीति मुक्त कवियों की बात, उनमें भी एक प्रकार की कवित्त्वपूर्ण पद-रचना का वैशिष्ट्य पाया जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण रीति साहित्य में सीधे या टेढ़े रूप से रीति-परम्परा ही घूम एवं चक्र लगा रही है। ऐसी स्थिति में शृंगार की प्रमुखता का प्रश्न ही नहीं उठता और न ही शृंगार काल के नाम का। शृंगार काल की संज्ञा रीतिकाल की आन्तरिक प्रवृत्ति का ठीक तरह से प्रतिनिधित्व नहीं करती है। यही कारण है कि हिन्दी-जगत् में शृंगार काल के नाम का अनुसरण नहीं किया गया है। आज हिन्दी के लगभग सभी विद्वान्, आलोचक और इतिहासकार अपने इस विवेच्य काल को रीतिकाल के नाम से पुकारते हैं। अतः हिन्दी-साहित्य के उत्तर मध्यकाल को रीति काल के नाम से अभिहित करना अधिक उपयुक्त है। इस प्रसंग में यह कहना कि प्रस्तुत काल में रीतिबद्ध और रीतिमुक्त धारा के कवियों में शृंगार की प्रधानता रही है अतः इस काल का नाम शृंगार काल उपयुक्त है, उचित नहीं। शृंगार रस की प्रधानता तो इस काल में असंदिग्ध है परन्तु स्मरण रखना होगा कि वह शृंगार रीति के परिवेष्टन के रूप में आया है। इस साहित्य में प्रमुखता रीति प्रवृत्ति की है। आचार्य शुक्ल ने अपने इन शब्दों में स्वयं उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार किया है—"वास्तव में शृंगार और वीर इन दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार रस की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगार काल कहे तो कह सकता है।" शुक्ल जी के इस कथन में 'कोई' शब्द विशेष रूप से साभिप्राय है। इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि उन्हें स्वयं इस काल को रीतिकाल के नाम से अभिहित करना अभिप्रेय था क्योंकि उन्हें प्रस्तुत काल के साहित्य में व्यापक रूप से रीति की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हुई। शुक्ल जी के उक्त शब्दों में काल विभाजन सम्बन्धी उनकी असंतुष्टि का अनुमान लगाना कदाचित् उन्हें अच्छी प्रकार न समझने का परिणाम है। हम पहिले ही कह चुके हैं कि रीतिकाल के नामकरण से रीतिमुक्त कवियों—बोधा, आलम और घनानन्द आदि—की किसी भी प्रकार से उपेक्षा नहीं होती है। शेष रही शुक्ल जी द्वारा फुटकर खाता खोलने की बात, सो विवेच्य काल को शृंगार काल के नाम से अभिहित करने पर ही फुटकर खाता तो रखना ही पड़ेगा क्योंकि किसी काल की प्रमुख प्रवृत्ति उस समय के सभी साहित्यकारों में पाई जाये, यह आवश्यक नहीं और है भी स्वाभाविक। वृन्द, गिरधर आदि सूक्तिकारों को रीति काल अथवा शृंगार काल, दोनों नामकरणों की दशा में फुटकर खाते में ही रखना पड़ेगा। रीतिकालीन कविता की सभी गतिविधियों का निरीक्षण करने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उस काल की व्यापक और प्रमुख प्रवृत्ति रीति है अतः हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल के नाम से अभिहित करना अधिक उपयुक्त है। अलंकृत काल और शृंगार काल नाम उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति का ठीक तरह से प्रतिनिधित्व नहीं करते। इस विषय में डॉ० भागीरथ मिश्र के निष्कर्ष को उपन्यस्त करना अधिक संगत प्रतीत होता है, "कला काल कहने से कवियों

की रसिकता की उपेक्षा होती है, शृंगार काल कहने से वीर रस और राज-प्रशंसा की। रीतिकाल कहने से प्रायः कोई भी महत्त्वपूर्ण वस्तुगत विशेषता उपेक्षित नहीं होती और प्रमुख प्रवृत्ति सामने आ जाती है। यह युग रीति-पद्धति का युग था। यह धारणा वास्तविक रूप से सही है।"

रीति काल की पूर्वापर सीमा

सभ्यता और संस्कृति के समान साहित्य के इतिहास के युग की कालावधि निश्चित तिथि एवं सम्वत् में निर्धारित करना अतीव कठिन है। किसी भी साहित्यिक प्रवृत्ति के पुष्ट रूप के पीछे यदि कुछ शताब्दियाँ नहीं तो एक सुदीर्घ समय तो अवश्य काम कर रहा होता है। किसी काल की सीमा निर्धारित करते समय उस समय में प्रचलित अनेक विचारधाराओं में प्रबल प्रवृत्ति का आश्रय लेकर सीमा निर्धारण करना श्रेयस्कर होगा। रीतिकाल से पूर्व भक्ति-काल में प्रेम एवं शृंगार का वर्णन करने वाले अनेक भक्त कवि हुए किन्तु प्रवृत्ति का दृष्टि से भक्ति काव्य की आत्मा शृंगारनिष्ठ न होकर भक्तिनिष्ठ है। अतः उसे भक्ति काल की संज्ञा मिली। इसी प्रकार उत्तर मध्यकाल में भक्ति-भावना का सर्वथा लोप नहीं हुआ, अनेक भक्त कवि अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में भी हुए किन्तु रीति काव्य की प्रचुरता ने उस समय भक्ति की विरल धारा को आच्छादित कर लिया। अतः उसका नाम रीतिकाल पड़ा। इस काल की सीमा निर्धारित करते हुए हमें यह ध्यान रखना होगा कि रीति काव्यों का प्रणयन-कार्य प्रचुरता से कब आरम्भ हुआ। वैसे तो रीति-काव्यों का प्रारम्भ भक्ति-काल में कृष्ण भक्ति कवियों में देखा जा सकता है। कुछ कवियों ने कृष्ण-भक्ति के परिवेश में अलंकार तथा नायिका भेद आदि का वर्णन किया। सूर की साहित्य लहरी इस बात का उदाहरण है। नन्ददास की 'रस मंजरी' भानुदत्त की 'रस मंजरी' के आधार पर लिखी गई है। इसमें प्रत्यक्ष रूप से नायिका भेदों का उल्लेख है। कृपाराम ऐसे कवि हुए जो सर्वप्रथम रस अलकार आदि काव्यांग निरूपण में प्रवृत्त हुए। उनकी "हित तरंगिणी" कवि शिक्षा के लिए लिखा गया एक शुद्ध रीति ग्रंथ है। कृपाराम के पश्चात् सत्रहवीं शती से करनेस, रहीम, बलभद्र मिश्र और गंग के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इस सम्पूर्ण रीति काव्यकारों ने संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के आधार पर रस, अलंकार तथा नायिका भेद आदि का वर्णन किया। परन्तु रीति-ग्रन्थों की प्रणयन परम्परा को रीति काव्य की काल सीमा के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है। कारण वे भक्ति की अजस्र गति से बहने वाली वेगवती धारा में विलीन होकर अस्तित्वहीन हो जाते हैं। भले ही भक्तिकाल में रीति-काव्यों का प्रणयन आरम्भ हो गया था, परन्तु इस काल की काव्यात्मा रीति-ग्रंथों में न होकर भक्ति-ग्रन्थों में है।

रीतिकाल का वास्तविक आरम्भ विक्रम संवत् १७०० से मानना चाहिए क्योंकि इस काल के शृंगार-प्रधान रीतिकाव्य ने भक्ति-धारा के प्रबल वेग को

एकमात्र कुंठित कर दिया। रीतिकाव्य का यह व्यापक प्रभाव १९०० शती तक रहा। अतः रीतिकाल की पूर्व सीमा सं० १७०० और उत्तर सीमा सं० १९०० स्वीकार करनी चाहिए। वैसे तो भारतेन्दु-युग में भी रीति-परम्परा पर रचना करने वालों की विशाल परम्परा मिलती है और यह क्रम १९५० सं० तक चलता रहा। परन्तु इस काल को रीतिकाल की अवर सीमा नहीं माना जा सकता है। संवत् १९५० तक रीतिकाव्य लिखा अवश्य गया किन्तु इस काल में रीतिकालीन शृंगार-परम्परा का प्राधान्य न होकर नवीन काव्य-चेतना की प्रधानता थी। वास्तव में भारतेन्दु युग को हम रीति-शृंगार का उपसंहार काल कह सकते हैं। इस काल में कुछ परम्परा-वादी कवि रीति-परम्परा का पिष्टपेषण करते रहे। भारतेन्दुकालीन सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलनों द्वारा रीतिकालीन रीति शृंगार की कविता अपदस्थ कर दी गई थी। यथार्थ में रीति-परम्परा के विस्तार का समय सं० १७०० से १९०० तक ही है। इस परम्परा से पूर्व के और बाद के रीति-काव्यों को इस काल की भूमिका और उपसंहार के रूप में समझना चाहिए।

रीतिकालीन परिस्थितियां

किसी भी काल की साहित्यिक गतिविधियों को यथार्थ रूप में समझने के लिये उस समय के साहित्य को तत्कालीन बाह्य परिस्थितियों के आलोक में देखना अनिवार्य सा हो जाता है। इस दृष्टि से रीतिकालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, कलात्मक और साहित्यिक परिस्थितियों का अध्ययन कर लेना आवश्यक होगा।

राजनीतिक परिस्थितियां—हिन्दी-साहित्य में रीतिकाल सं० १७०० से १९०० तक स्वीकार किया जाता है। इस समूचे समय में व्यक्तिवादी, निरंकुश राजतन्त्र का बोलबाला रहा। रीतिकाल के पूर्व सम्राट् अकबर ने अपनी सहिष्णुता की नीति के द्वारा तथा हिन्दू तथा मुस्लिम, दोनों जातियों के पारस्परिक सांस्कृतिक समन्वय के द्वारा विशाल मुगल-साम्राज्य की प्रतिष्ठा की। अकबर के पश्चात् जहाँगीर ने राज्य के सम्बन्ध में कोई योगदान नहीं दिया, हाँ उसकी सुरा और सुन्दरी के प्रति अदम्य लोलुपता और असंतुलित लालसा उत्तराधिकारियों को विरासत में अवश्य मिली। शाहजहाँ में एक ओर तो धार्मिक सहिष्णुता थी और दूसरी ओर उसमें सांस्कृतिक और कलागत उदारता। यह समय प्रायः सुख-शान्ति तथा समृद्धि का काल था। ऐसी स्थिति में निरंकुश राजतन्त्रीय शासक शाहजहाँ प्रदर्शन प्रधान प्रवृत्तियों का जाग उठना स्वाभाविक था। कदाचित् इस प्रदर्शन प्रधान प्रवृत्ति का समस्त हिन्दी-साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। सं० १७७५ में शाहजहाँ रोगग्रस्त हुआ। उसने राज-गद्दी के लिए लड़ते हुए हिंस्र पशुओं के समान अपने पुत्रों को देखा। दारा की मृत्यु क्या हुई, मानों मानवता की हत्या हुई और प्रायशः मुगल वंश में धार्मिक सहिष्णुता और उदारता खंड-खंड हो गई। औरंगजेब की साम्राज्य-विस्तार-लिप्सा बढ़ती ही गई जिसने उसे आजीवन आराम से बैठने नहीं दिया। उसकी अतीव धार्मिक कट्टरता

की नीति तथा अमानुषिक व्यवहारों से अनेक देशी नरेश बौखला उठे तथा हिन्दू जनता विक्षुब्ध हो उठी। इसी नीति के परिणामस्वरूप उसे मराठों और सिक्खों से चिरकाल तक लोहा लेना पड़ा। औरंगजेब का व्यक्तित्व रागात्मक तत्त्वों से सर्वथा विहीन था। साहित्य, संगीत, कला, सौंदर्य, ऐश्वर्य तथा विलास के प्रति उसे घोर चिढ़ थी। कदाचित् उसने संगीत का तो जनाजा भी निकलवा दिया था। वेश्यावृत्ति तथा मद्यपान के पूर्ण निषेध सम्बन्धी उसने सरकारी फरमान भी जारी करवा दिये थे। परन्तु इनका बन्द हो जाना सरल नहीं था। उस समय अनेक सामन्तों के अनेक हरम थे और उनमें असंख्य रक्षिताएँ और नर्तकियां भी थीं। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् राजनीतिक स्थिति अत्यन्त विकट तथा शोचनीय हो गई। राजनीति की दृष्टि से इस काल को घोर निराशा और अन्धकार का युग समझना चाहिए। औरंगजेब के उत्तराधिकारी एकदम अयोग्य, असमर्थ, विलासी, पंगु एवं नपुंसक सिद्ध हुए। केन्द्रीय शासन के जीर्ण हो जाने से अनेक प्रदेशों के शासक स्वतन्त्र हो गए। आगरे में जाटों, राजस्थान में राजपूतों तथा पंजाब में बन्दा वैरागी ने बहादुरशाह और फर्रुखसियर को बुरी तरह तंग कर रखा था। दक्षिण में मराठा शक्ति पूर्णतया अपना सिर उठा चुकी थी। नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों से मुगल राज्य की रीढ़ की हड्डी टूट गई। समस्त देश में फैले वैमनस्य का लाभ उठाते हुए अंग्रेजों ने बक्सर की लड़ाई में शाहआलम को पराजित करके एक प्रकार से मुगल शासन की इतिश्री कर दी। मुगल वंश के नाम-शेष सम्राट् अंग्रेजों के हाथों में कठपुतलियाँ बन कर रह गये। यह है उस समय की राजनीतिक गतिविधियों की दारुण एवं करुण कहानी। औरंगजेब के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी मुगल सम्राट् अमीर वर्ग के हाथों की कठपुतलियाँ बन कर रह गये। सम्राट् जहांदाराशाह के सम्बन्ध में एक कवि ने लिखा है कि वह दर्पण और कंघा हाथ में लिए हुए एक सुन्दर स्त्री के समान अपने केशों का पुजारी था। लालकुँवर वेश्या का उस पर अत्यधिक प्रभाव था। सारा राज्य-कार्य रक्षिता लालकुँवर के संकेतों पर चलने लगा। उस वेश्या के अनेक सम्बन्धियों को उच्च पदों पर नियुक्त किया गया, जिन्होंने जन-सामान्य पर मनमाने अत्याचार किये। नगर के श्रेष्ठ प्रासाद उन्हें दे दिये गये। इस प्रसंग में एक प्रसिद्ध इतिहासकार के शब्द विशेष उल्लेखनीय हैं—"गिद्धों के नीड़ों में उल्लू रहने लगे तथा बुलबुलों का स्थान कागों ने ले लिया।" सारंगी-वादक तथा तबलचियों की नियुक्ति उच्च पदों पर की गई। जाहिरा कुंजड़िन को बड़ी-बड़ी जागीरें दी गईं। सम्राट् मुहम्मदशाह को तो इतिहासकारों ने रंगीले की उपाधि दी है। वह अपना समय नाच रंग तथा मदिरापान में व्यतीत किया करता था। उसका मन्त्री कमरुद्दीन उसका साथी था। शाह को वेश्या ऊधमबाई से अनन्य प्रेम था। उससे उत्पन्न ही उसका पुत्र उत्तराधिकारी बना। वास्तव में यह युग घोर नैतिक पतन की पराकाष्ठा का काल है। जिसके राजमहलों में वेश्याओं और हिजड़ों की ऐसी तूती बोलती हो उसके नैतिक-स्तर का सहज में अनुमान लगाया जा सकता

है। देशी नरेशों के हरमों में भी वेश्याओं और रक्षिताओं की कमी नहीं थीं। उनके महल भी विलास में मुगल-हरमों की होड़ ले रहे थे। यह है शासक-वर्ग की जीवन-चर्या तथा चरित्र की एक झाँकी, जिसमें उनके मनोबल का सरासर दिवाला है।

सामाजिक परिस्थितियाँ—"यथा राजा तथा प्रजा" की उक्ति इस काल पर पूर्णतया चरितार्थ होती है। कुल मिलाकर इस युग को विलास-प्रधान युग कहा जा सकता है। यों तो मुगल वंश के ऐश्वर्य और वैभव में विलासिता की प्रधानता आरम्भ काल से चली आ रही थी फिर भी बाबर, हुमायू तथा अकबर ने अपने आपको बहुत कुछ नियंत्रित रखा। शराब के नशे में मखमूर रहने वाले तथा नूरजहाँ पर कुर्बान होने वाले जहाँगीर के व्यक्तित्व में विलासिता उग्र रूप में प्रकट हुई। शाहजहाँ की वैभवप्रियता, विलासलिप्सा और प्रदर्शन-प्रवृत्ति का तत्कालीन सामन्तीय जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। महलों में लगने वाले रूप-बाजारों का प्रभाव जन-सामान्य पर भी पड़ा। फलस्वरूप पौरुष का ह्रास हुआ, आभिजात्य संस्कृति के नाम पर केवल विलास और प्रदर्शन की प्रवृत्ति शेष रह गई। मनोबल की कमी के साथ समाज का बौद्धिक स्तर भी बहुत नीचा हो गया। अनेक छोटे-मोटे सामन्तों के पास रखेलों की भरमार थी। एक पत्नी व्रत का अनादर पहले से ही मुगल सम्राटों के द्वारा हो चुका था। अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ की अनेक पत्नियाँ थीं। उनके महलों में रखेलों और परिचारिकाओं की भी कमी नहीं थी। नारी को केवल मनोरंजन और विलास की सामग्री समझा गया। सामन्तीय युग की दृष्टि का प्रसार उसके शारीरिक लावण्य एवं कोमलता तक ही सीमित रहा, उसकी अनुपम शक्ति सम्पन्न अन्तरात्मा तक न पैठ सकी। सामन्तीय जीवन आरम्भ से जीवन की विकृतियों से भली-भाँति परिचित हो जाता था। जीवन के संघर्षों से उसका कोई सरोकार नहीं था। यौन-सम्बन्ध में उस समय के जीवन के लिए किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं था। मद्यपान तथा द्यूत-क्रीड़ा उनके जीवन का अंग बन गये थे।

जन-साधारण में अंध-विश्वास तथा रूढ़ियाँ घर कर गईं थी। ज्योतिषियों की वाणी, शकुन-शास्त्र तथा सामुद्रिक शास्त्र पर उनका अगाध विश्वास था। उस समय की जनता में विलास की प्रधानता के कारण भक्ति की भावना मन्द पड़ गई थी। जनता प्रायः अशिक्षित थी। उनमें बाल-विवाह और बहु-विवाह की प्रथायें चल निकली। सर्वत्र सुन्दर दासियों की मांग प्रबल हो उठी। जनता में नागरिकता का पूर्ण अभाव था। स्वार्थान्ध होकर विलास के उपकरण एकत्रित करना उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य रह गया था। उत्तरी भारत में प्रशासन क्षेत्र में जागीरदारों का दबदबा था। श्रमिक वर्ग अत्याचार से पीड़ित था। उस समय के युग को कई महामारियों का प्रकोप भी सहना पड़ा। कृषक समाज जीविका-निर्वाह के साधनों से रहित था। कला-कौशल और व्यापार को भी शासकों की ओर से उपेक्षित होने पर महान् आघात पहुंचा। इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति के ह्रास के साथ-साथ उस युग को महान् आर्थिक संकट भी देखना पड़ा।

धार्मिक परिस्थितियाँ—रीतिकालीन समय संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से ह्रास का युग है। नैतिक बन्धन ढीले पड़ चुके थे और अनुदिन बौद्धिक ह्रास हो रहा था। इस विकट दशा में धर्म के किसी भी उदात्त रूप की आशा दुराशा मात्र है। इस युग में अन्धविश्वासों, रूढ़ियों और बाह्याडबरों ने धर्म का स्थान ग्रहण कर लिया था। पंडित और मुल्ला लोग इस क्षेत्र में सर्वेसर्वा समझे गये। उस समय की जनता के लिये उनके कथन तथा फरमान वेदवाक्य और कुरान थे।

सूरदास आदि के द्वारा प्रतिपादित राधा और कृष्ण की सात्त्विकता मधुरा भक्ति में सूक्ष्मता के स्थान पर स्थूल ऐन्द्रियता और पवित्रता के स्थान पर लोलुपता और कामुकता की भावनाएं आ गईं। कृष्ण-भक्तों की रागात्मिका भक्ति के रहस्य को समझने की शक्ति न तो रीतिकाल के अनाधिकारी कवियों में थी और न ही उस समय की अपरिष्कृत-मस्तिष्क जनता में। राधा और कृष्ण की आड़ में कामुकता की खुलकर अभिव्यक्ति हुई। यहाँ तक कि शायद अगले जन्म में राधा को अपना 'राधा' नाम भी बदलना पड़े। मंदिरों और मठों के पुजारियों तथा महन्तों के जीवन में दिव्य पुन्य-प्रेम के स्थान पर वासना ने घर कर लिया। चैतन्य और बल्लभ सम्प्रदाय की गद्दियां तक सस्ती रसिकता में निमग्न हो गईं।

राम-भक्ति में विभिन्न सम्प्रदायों की भी यही गति थी। शक्ति के प्रतीक, लोकरक्षक, मर्यादापुरुषोत्तम राम अब एक छैल-छबीले बांके नायक के समान सरयू के किनारे काम-क्रीड़ा करने लगे। आदर्श की मूर्ति सती सीता अब एक विलासप्रिय सामान्य रमणी के रूप में चित्रित होने लगी। राम-भक्ति में रसिक सम्प्रदाय चल निकला, जिसके भक्त राम और सीता की संयोग लीलाओं को सखी बनकर निहारने लगे। राम-भक्ति में पौरुष के स्थान पर स्त्रैण भावना आ गई।

उस समय निर्गुण भक्ति परम्परा में भी अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे। इन का आचार-व्यवहार भक्ति के सगुण सम्प्रदायों की अपेक्षा उन्नत था, किन्तु इन पर भी युग की विलासपरक दृष्टि का प्रभाव अवश्य पड़ा। तत्कालीन सूफियों के अनेक सम्प्रदायों में स्थूल शृंगार, नखशिख-वर्णन एवं नायिका-भेद का समावेश होने लगा।

कलात्मक परिस्थितियाँ—इस युग में जीवन के अन्य क्षेत्रों के समान कलाक्षेत्र में प्रदर्शन-प्रवृत्ति की ही प्रधानता रही। सामन्ती वातावरण में फूलने-फलने वाली कला में वासनात्मकता का आ जाना नैसर्गिक था। रीतिकाल में परम्परावद्ध दृष्टिकोण का निर्वाह होता रहा, उसमें मौलिक प्रतिभा और सप्राणता का नितांत अभाव है, इसके स्थान पर उसमें नग्नता की मात्रा अधिक है। 'स्वामिनः सुखाय' उद्भूत कला में सात्विकता की अपेक्षा बाजारूपन अधिक होता है। प्रदर्शन-प्रधान रीतिकालीन चित्रकला नायक-नायिकाओं की बँधी-बँधाई प्रतिकृतियाँ (Models) तैयार होती रहीं। उस समय की चित्रकला में नायक-नायिकाओं के रूढ़िबद्ध चित्र, पौराणिक कथाओं पर आधृत चित्र, तथा राग-रागनियों के प्रतीक-चित्रों का बाहुल्य है। इन चित्रों में कलाकार की आत्मा की निश्छल अभिव्यक्ति नहीं हो पाई। युग-रुचि के

अनुसार उनमें रुग्ण शृंगारिकता का आधिक्य है। कृष्ण और राधा के तो उस युग में अश्लील चित्र बने ही, साथ-साथ शिव और पार्वती को भी उसी कोटि में लाकर नत्थू और कल्लू के रूप में खड़ा कर दिया गया। तत्कालीन कला में आत्म-प्रेरणा के तत्त्व के अभाव के कारण उसमें प्रशस्ति-तत्त्व अधिक है। उस समय की मूर्ति-निर्माण-कला की भी यही दशा रही। उसमें रीतियुगीन सभी प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। परम्परा-बद्ध शैली अलंकरण की अतिशयता, चमत्कार-वृत्ति रोमानी वातावरण की सृष्टि, दरबारी अदब कायदों की जकड़ बन्दी—ये सभी प्रवृत्तियाँ साहित्य के समान कला-क्षेत्र में भी दृष्टिगोचर होती हैं। रही संगीत-कला, उसके सम्बन्ध में संक्षेप में इतना जान लेना उपयोगी होगा कि "वास्तव में रीतिकालीन कवि और संगीतज्ञ दोनों की एक ही दशा थी, दोनों ही आश्रयदाता की रुचि पर पल रहे थे, अतएव उनकी प्रसन्नता के लिए दोनों को ही शृंगारपरक प्रतिपाद्य और कला-प्रधान चमत्कारवादिता को अपनाना पड़ा।

साहित्यिक परिस्थितियां—रीति काल का आरम्भ शाहजहाँ के शासनकाल के उत्तरार्ध से होता है। उस युग में प्रदर्शन और अलंकरण की प्रवृत्तियों की प्रधानता थी। प्रदर्शन-प्रधान रीतिबद्ध काव्य-शैली तथा काव्य में रसिकता-प्रधान शृंगार की अभिव्यक्ति का बहुत कुछ श्रेय उस युग की उक्त प्रवृत्तियों को है। देशव्यापी समृद्धि एवं शांति शाहजहाँ की रंगीन-मिजाजी, साहित्य और कला की ओर उसकी रुचि, साहित्य के विकासप्रदायी हैं। प्रतिभावान कलावन्तों के लिए शाह का दरबार सदा खुला था। उस युग में कलाकारों में भी प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा की भावनाएँ चलती ही थीं। सामन्तों की भी यही दशा थी। वह निज गुण-गान के लिए उत्तम कलाकार की सदा ताक में रहता था।

मुगल दरबार की भाषा फारसी थी। उस समय फारसी में दो शैलियाँ प्रचलित थीं—एक भारतीय-ईरानी शैली और दूसरी शुद्ध ईरानी। प्रथम शैली के प्रतिनिधि लेखक अबुल फजल थे। उनकी शैली में अलंकरण की एकमात्र प्रधानता थी। उस समय फारसी शैली में लैला मजनूं आदि की रोमानी कहानियाँ भी निबद्ध हो रही थीं, जिनका प्रभाव रीतिकालीन हिन्दी काव्य पर भी स्पष्ट देखा जा सकता है। शाहजहाँ आत्म-प्रशंसा सुनने का अत्यन्त प्रेमी था। अतः उसके दरबार में कसीदे (प्रशस्ति-गान) बड़ी शानोशौकत के साथ पढ़े जाते थे। तत्कालीन नवाबों, सामन्तों और छोटे-छोटे नरेशों में भी यह प्रवृत्ति अत्यन्त जोरों पर थी। फलस्वरूप दरबारी कवि-दंगलों में तत्कालीन तथाकथित कविपुंगवों के द्वारा "बख्त बुलन्द महाराज तेरे चाहिये" के नारे बुलन्द होने लगे।

हम प्रायः रीतिकालीन कवि द्वारा राधा और कृष्ण के नाम पर उतारे गये कुत्सित एवं हीन शृंगारी चित्रों को देखकर उससे खीजने और नाक-भौं चढ़ाने लगते हैं और यहाँ तक कि हम तत्कालीन साहित्य को गन्दी नालियों में बहाने को भी तैयार हो जाते हैं। किन्तु मेरे विचार में यह सारे का सारा दोष रीतिकालीन

साहित्यकार पर नहीं मढ़ा जा सकता। इसका बहुत कुछ दायित्व तत्कालीन नरेशों की मनोवृत्ति और उस समय के चतुर्दिग् व्याप्त वातावरण पर है। हिन्दी कवि को उस समय के दरबारी फारसी के कवि से होड़ लेनी थी। भारतीय साहित्य-परम्परा में गजल की शृंगारिकता, गुलो बुलबुल, लैला-मजनूँ, शीरी-फरयाद के साहसिक प्रेम की बातें नहीं थीं। भारतीय नायक के आदर्श राम और कृष्ण थे और नायिकाओं की सीता तथा राधा। भले ही भारतीय-साहित्य में राधा का परकीया का रूप भी प्रचलित था, परन्तु उसमें भी मांसलता और चांचल्य की अपेक्षा सूक्ष्मता अधिक थी। रीति कवि को फारसी के कवि की प्रतियोगिता में आने के लिए तथा उससे बाजी मारने के लिये परिस्थितियों से बाध्य होकर राधा और कृष्ण का रूप फारसी नायक और नायिकाओं के अनुरूप गढ़ना पड़ा। हिन्दी रीति कवि को कामसूत्रकार वात्स्यायन मुनि से ऐसा करने के लिए नैतिक अनुमति पहले से मिल चुकी थी। फिर क्या था, उसने खुलकर खेला, और घुटनशील वातावरण में घोर शृंगारिक चित्र उतारे। इसे मनोवैज्ञानिक रूप से क्षति-पूर्ति ही समझना होगा।

शाहजहाँ के समय से ही हिन्दी-कवियों ने राजाओं के दरबारों में आश्रय लेना आरम्भ कर दिया था। भले ही उसके द्वारा हिन्दी और संस्कृत को कुछ संरक्षण भी मिला, परन्तु दबदबा उसके दरबार में फारसी का था। औरंगजेब की कट्टर नीति से तो मुगल दरबार से हिन्दी का बहिष्कार ही हो गया। अतः रीतिकालीन कविता को सामन्ती छत्र-छाया में पोषण मिला। राजस्थान के नरेशों तथा सामन्तों की छत्र-छाया में हिन्दी कविता का दरबारी रूप पनपा। ओरछा, कोटा, बूंदी, जयपुर, जोधपुर और यहाँ तक कि महाराष्ट्र के राजदरबारों में भी वही प्रदर्शन-प्रधान और शृंगार-परक जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति में काव्यधारा चलती रही। संरक्षण में पनपने के कारण उसमें गम्भीर प्रेरक तत्त्वों का अभाव रहा और उसका स्तर छिछला बना रहा। उस समय का सामन्ती जीवन अपेक्षाकृत कम जटिल और कम समस्यामय था, अतः रीति काव्य में जीवन-संघर्षों का स्वर उभर न सका, वह नायिका के शारीरिक सौन्दर्य की संकीर्ण परिधि में चलता रहा। विवेकहीन विलास उस युग का प्रधान स्वर हो गया था। यही कारण है कि राज्याश्रित कवियों की वाणी वैभव और विलास की मदिरा पीकर बेसुध हो उठी। ऐसी स्थिति में साहित्य-सर्जन का उद्देश्य चमत्कार तथा पांडित्य-प्रदर्शन और आश्रयदाता की रुचि का प्रसादनमात्र रह गया। रीतिकाव्य में नवीन उद्‌भावनाओं और मौलिकता के अभाव का मूल कारण कदाचित् उनका महलों के बन्द घेरे में रहना है। जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण सर्वथा ऐहिक और सामन्तीय रह गया। परन्तु ऐहिकता और सामन्तवाद की शक्ति अब उनमें नहीं रही थी, केवल भोगवाद ही शेष था।

रीतिकालीन साहित्यिक परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए हम देखते हैं कि उस समय के साहित्यकार ने एक साँस में कवि और दूसरे साँस में आचार्य बनने

का प्रयत्न किया। शृंगारिता और आचार्य दोनों परस्पर अभिन्न रूप से गुथे हुए मिलते हैं। उस काल के हिन्दी कवि की शृंगारिकता का प्रायः वही स्वरूप रहा जो कि बिहारी के समकालीन एक उर्दू कवि वली के शब्दों में उर्दू कविता में था :—

शुग़ल बेहतर है इश्कबाजी का,
क्या हकीकी क्या मजाजी का ।।

उर्दू और फारसी के कवि के—शीशे, मैं और पैमाने का अपने रूप में साहित्यीकरण करते हुए हिन्दी का कवि भी पुकार रहा था: —

सेज हैं, सुराही है, सुरा और प्याला है।
सुबाला है, दुशाला है, विशाल चित्रशाला है ।।

ऐसे लगता है जैसे कि रीति-कवि के पास कामसूत्रकार के नागरिक के भोग-ऐश्वर्य के सभी उपकरण मौजूद हों।

रीतिकालीन शृंगार के मूल कारणों का विवेचन करते हुए प्रायः इतिहास-लेखक यह कह उठते हैं कि मुगल शासन-काल की शान्ति और समृद्धि, विलास तथा भोगमय वातावरण ही उसके अश्लील और रसिकता-प्रधान होने के ऐकान्तिक कारण हैं। इसमें संदेह नहीं कि किसी भी काल का साहित्य तत्कालीन परिस्थितियों की उपज हुआ करता है, पर तत्कालीन परिस्थितियाँ ही एकमात्र उसके स्वरूप का विधान करती हों यह भी आवश्यक नहीं। साहित्य अपने अतीत के अनेकविध स्रोतों से भी प्रेरणा लिया करता है, उस प्रेरणा का माध्यम परोक्ष हो या प्रत्यक्ष वह एक दूसरी बात है। रीतिकालीन शृंगार पर वात्स्यायन के कामसूत्र का प्रभाव असंदिग्ध रूप से पड़ा। उक्त प्रभाव केवल शृंगार के स्वरूप तक ही सीमित नहीं समझना चाहिए, बल्कि वह रीति काव्य के शास्त्रीय पक्ष पर भी पड़ा। इसका हम विस्तृत विवेचन 'रीतिकालीन काव्य के प्रेरणा-स्रोत' नामक शीर्षक में करेंगे।

निष्कर्ष रूप से हम कह सकते हैं कि उत्तर मध्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था में राजतन्त्र और सामन्तवाद के प्रधान्य ने साहित्य और कला को अपने रूप में नितान्त रंग दिया। डॉ० सावित्री कुमारी सिन्हा के शब्दों में "स्वार्थपरायण राजनीतिक व्यवस्था, सामन्तीय वातावरण, राजनीतिक विकेन्द्रीकरण और सामाजिक अव्यवस्था तथा विलासमूलक वैभवजन्य, प्रदर्शन-प्रधान अलंकरण-प्रवृत्ति का तत्कालीन साहित्य एवं विविध ललित कलाओं की गति-विधि पर बड़ा प्रभाव रहा है। तद्युगीन कलाकार की आत्मा पर ये बाह्य परिस्थितियाँ एक प्रकार से हावी हो गई थीं। चेतना के सूक्ष्म, सार्वभौम और नित्य तत्त्व बाह्य जीवन की स्थूल साधना में लुप्त हो गये थे। स्थूल की सूक्ष्म पर विजय के कारण ही युग में रीति-काव्य लिखा गया।"

रीतिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियां

रीतिकालीन साहित्य की सृष्टि सामन्तीय वातावरण में हुई। उस समय के

राज दरबारी कवि से 'स्वान्तः सुखाय' रचना की आशा नहीं की जा सकती है। प्रदर्शन-प्रवृत्ति-प्रधान युग का कवि भक्तिकालीन कवि में साहित्य-सम्बन्धी आदर्शों 'सन्तन को कहा सीकरी सों काम' तथा 'प्राकृत जन कीन्हें गुण गाना'—को सर्वथा छोड़कर स्वामि-मनस्तोष की छोटी सी तलैया की वासनात्मक अथवा संकीर्ण लहरियों में आकंठ निमग्न हो बेसुध बह गया। उसकी वाणी में सूर और तुलसी जैसी तन्मयता, सात्विकता, ऊर्जस्विता और उदात्त चेतना नहीं है। रीतिकालीन कवि की समस्त अन्तश्चेतना सुरा, सुन्दरी और सुराही के इर्द-गिर्द चक्र लगा रही थी। दरबारी वेश्याओं तथा रक्षिताओं के मणि मंजीर की मधुर ध्वनि को छोड़कर वह विशाल जन-कोलाहल को सुनने के लिए कभी भी बाहर नहीं निकला। भाव सौन्दर्य की अपेक्षा उसे रूप सौन्दर्य अधिक आकर्शित करता रहा। रीतिकालीन कवि ने अपनी समस्त शक्ति नारी-शरीर के रूप-चित्रण में लगा दी, उसकी अन्तरात्मा तक वह कभी नहीं जा सका। रीति कवि की इस प्रवृत्ति का प्रधान कारण उस समय का घुटनशील वातावरण है। विदेशी प्रभुसत्ता के सामने देशी रजवाड़े नतमस्तक होकर हतप्रभ हो चुके थे। सत्तागत तेज के हत हो जाने के कारण उस समय का नरेश-वर्ग उस कमी की पूर्ति के लिए कृत्रिम वैभव और ऐश्वर्य के उपकरणों के भोग द्वारा अपना गम गल्त करना चाहता था। जब मन की गाँठ बाहर नहीं खुल पाई तो वह नारी शरीर में चतुर्दिक केन्द्रित हो गई, और रीतिकालीन कवि नारी-शरीर के महीन से महीन चित्र उतार कर क्षतिपूर्ति के साधन जुटाने लगा। फलतः उस समय में श्रृंगार रस की प्रधानता में प्रेम का स्थान रसिकता ने ले लिया। इस रसिकता की अभिव्यक्ति उस काल के कवि ने सर्वत्र रीति के परिवेश में की।

(१) **श्रृंगारिकता**—श्रृंगारिकता की प्रवृत्ति रीतिकाल में सर्वत्र प्रचुरता के के साथ दृष्टिगोचर होती है। भक्ति काव्य परम्परा से उन्हें अपने अनुकूल कुछ ऐसी सामग्री प्राप्त हो गई थी जिससे श्रृंगारिक और कभी-कभी घोर श्रृंगारिक कविता लिखने के लिए उस काल के कवि के लिए द्वार खुल गया। निर्गुण-उपासक सन्त कवि "रति इक तन में संचरे" कहकर प्रेम को जीवन का सार कह चुके थे। प्रेम-पीर के साधक सूफी कवि लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना कर चुके थे, कृष्ण भक्ति में जीवन के मृदुल अंश प्रेम-भाव का व्यापक वर्णन हो चुका था, साथ-साथ राम भक्ति काव्य में भी रसिक भाव की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। अतः रति को या प्रेम भाव को प्रधान मानकर श्रृंगार की रसराज के रूप में प्रतिष्ठा उस युग के लिए स्वाभाविक सी बात थी। उस समय का भौतिक वातावरण भी रीतिकालीन श्रृंगारिक मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल था। इसको शास्त्रीय आधार-भूमि संस्कृत काव्य शास्त्र के रस-नायिका-भेद और अलंकार ग्रंथों से प्राप्त हो चुकी थी। अपभ्रंश और प्राकृत के लोक श्रृंगार परक काव्यों से भी इस प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रेरणा मिली। नैतिक अनुमति उसे काव्य शास्त्रीय ग्रंथों से मिल चुकी थी। भक्ति-काल में राजनैतिक दासता के शिकार होते हुए भी यहाँ के निवासियों की आध्यात्मिक

ज्योति सलीन नहीं पड़ी थी, जीवन के प्रति उनकी आस्था का दीप बुझा नहीं था, किन्तु रीतिकाल के वैभव-विलास के उन्मादक वातावरण में उस समय के कवि की समूची वृत्तियां छिछले शृंगार के चित्रण में रम गईं। किन्तु इस बात का सारा दोष रीतिकालीन कवि पर नहीं मढ़ा जा सकता, इसका बहुत-कुछ दायित्व उस युग के सामन्तों की मनोवृत्ति को है।

शृंगार-वर्णन रीति काव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य है। यद्यपि रीतिकालीन कवियों का प्रमुख वर्ण्य विषय नायिका-भेद, नख-शिख, अलंकार आदि का लक्षण प्रस्तुत करना है, फिर भी उनके माध्यम से शृंगार का प्रतिपादन किया है। वास्तव में यही उनका प्रमुख प्रतिपाद्य है। "सांच चाहे जैसा भी रहा हो इसमें ढली शृंगारिकता ही।" इसकी अभिव्यक्ति में उन्होंने किसी प्रकार से संकोच नहीं किया। इसलिये उनकी शृंगारिकता में अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रंथियां नहीं हैं, न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित-अनुचित प्रयत्न। जीवन की वृत्तियां उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से चाहे वंचित नहीं रही हों, परन्तु शृंगारिक कुंठाओं से ये मुक्त थीं। इसी कारण इस युग की शृंगारिकता में घुमड़न अथवा मानसिक छलना नहीं है।" डॉ० नगेन्द्र के उपर्युक्त शब्दों में रीतिकालीन शृंगारिकता का एक विशद एवं निष्पक्ष विवेचन है।

शृंगार रस को मोटे रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—संयोग और वियोग। दर्शन, श्रवण, स्पर्श और संलाप संयोग शृंगार में पाये जाते हैं। उक्त भावों को हाव-अनुभाव के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। हाव-क्रीड़ापरक है जबकि अनुभाव व्रीड़ापरक। चमत्कारप्रिय रीतिकालीन कवि हावों के चित्रण में विदग्ध है। इस दिशा में बिहारी का निम्न दोहा एक सुन्दर निदर्शन है :—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहन हँसै दैन कहे नटि जाय॥

रीतिकालीन कवियों ने संयोग में स्पर्श सुख का भी खुल कर वर्णन किया है। देव का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :—

स्वेद बढ़्यो तन, कंप उरोजनि, आंखिन आंसू, कपोलनि हांसी।

इन कवियों ने संयोग शृंगार में सुरत-वर्णन के अवसर को भी हाथ से जाने नहीं दिया। "करति कोलाहलु किंकिनी—गह्यो मौन मंजीर" लिखना उस कवि के लिए अस्वाभाविक ही नहीं था। अस्तु ! इतना ही नहीं उसने तो विपरीत रति के घिनौने चित्र तक उतार दिये हैं। संयोग के प्रसंग में हास-परिहास का भी विशेष स्थान होता है, इससे प्रेम में निविड़ता और गहनता आ जाती है तथा कथन में एक विशेष भंगिमा के दर्शन होने लगते हैं। इस सम्बन्ध में बिहारी की निम्न पंक्ति दर्शनीय है :—

गोरसु चाहत फिरत हौ, गोरस चाहत नाहि।

यहाँ नायिका ने नायक पर एक तीखा तथा चोखा व्यंग्य बाण छोड़ा है। नख-शिख के चित्रण में अनेक सुन्दर पंक्तियाँ हैं, परन्तु इनमें पुनरुक्ति दोष भी हैं।

रूप-लोलुप रीति-कवियों ने संयोग-पक्ष में स्वयं पावस का उतना प्रभावोत्पादक वर्णन नहीं किया जितना इससे सम्बद्ध हिंडोला और तीज-त्यौहार का। पावस में जहाँ प्रेमी-प्रेमिका का प्रेम मिलन हुआ वहाँ कवि रम सा गया। तीज के पर्व पर नायिका के मानसिक उल्लास को देखिये :—

काम झूलै उर में, उरोजनि में दाम झूलें,
श्याम झूलै प्यारी की अनियारी अँखियान में।

संयोग-पक्ष के रूप चित्रण में रीतिकालीन कवि विशेष सिद्धहस्त है। इस तथ्य का अनुमान इन शब्दों से भली-भाँति लगाया जा सकता है - "परन्तु जहाँ तक रूप अर्थात् विषयगत सौन्दर्य का सम्बन्ध था, वहां इन कवियों की पहुंच गहरी थी। दूसरी ओर मतिराम, देव, पद्माकर जैसे रससिद्ध कवि रूप-सौन्दर्य का वर्णन करने में पूर्ण रूप से रमे हैं। उदाहरण के लिए नयनों के कटाक्षों और चंचलता का इतना सुन्दर वर्णन विद्यापति को छोड़ कर प्राचीन साहित्य में दुर्लभ है। जैसे—पद्माकर :—

"पैरे जहाँ ही जहाँ वह बाल तहाँ-तहाँ ताल में होत त्रिबेनी।"

शृंगार का अन्य पक्ष है वियोग। इसमें पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण आते हैं। रीतिकालीन साहित्यकारों में देव ने मुग्धा का चित्रण अधिक किया है क्योंकि उसमें भावुकता का अतिरेक होता है। प्रायः सभी रीति-कवियों ने वियोगिनी की दसों दशाओं का मनोरम वर्णन किया है। इन दस दशाओं में स्मृति, गुणकथन और प्रलाप के द्वारा प्रियतम के हृदय का विश्लेषण किया है। देव ने नायक और नायिका के स्मृति-चित्रों का अच्छा वर्णन किया है। पद्माकर की नायिका अपने नायक के गुण का कथन करती हुई कहती है :—

"छलिया छबीलो छैल छाती छ्वै चलो गयो।"

प्रलाप दशा में प्रिय के मिलन-परिरम्भण आदि के सुख का बखान किया जाता है। इन दशाओं का वर्णन करते समय रूपासक्ति पग-पग पर लक्षित होती है। इन दशाओं का वर्णन करते समय इन्होंने कंडिता, मानवती आदि नायिकाओं का उपयोग किया है। बिहारी, देव, मतिराम, पद्माकर सबने ऐसी नायिकाओं के वियोग शृंगार का वर्णन किया है। नायिका के मानसिक अवसाद का वर्णन देव ने अत्यन्त बारीकी से किया है :—

साथ में राखिये नाथ उन्हें,
हम हाथ में चाहती चार चुरी है।

इसमें कितना दैन्य, कितना विषाद और विवशता भरी हुई है!

इन कवियों ने वियोग-वर्णन में परम्परात्मक रूप से ऋतु-वर्णन भी किया है, उसमें किसी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को नहीं अपनाया। रीतिकालीन नायिका

को शुभ्र चन्द्रमा कसाई प्रतीत होता है, किंशुक और अनार उसे अंगार से लगते हैं, चन्दन, चाँदनी और बादल उसके लिए आग बरसाते हैं।

रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों की शृंगारिकता के पर्यवेक्षण के अनन्तर निष्कर्ष रूप में इनके शृंगार रस के सम्बन्ध में हम डॉ० भागीरथ मिश्र के शब्दों में कह सकते हैं—"शृंगारिकता के प्रति उनका दृष्टिकोण मुख्यतः भोगपरक था, इसलिए प्रेम के उच्चतर सोपानों की ओर वे नहीं जा सके। प्रेम की अनन्यता, एकनिष्ठता, त्याग, तपश्चर्या आदि उदात्त पक्ष भी उनकी दृष्टि में बहुत कम आए हैं। उनका विलासोन्मुख जीवन और दर्शन सामान्यतः प्रेम या शृंगार के बाह्य पक्ष शारीरिक आकर्षण तक ही सीमित रह कर रूप को मादक बनाने वाले उपकरण ही जुटाता रहा। यह प्रवृत्ति नायिका भेद, नख-शिख-वर्णन, ऋतु-वर्णन, अलंकार-निरूपण सभी जगह देखी जा सकती है।" इन कवियों का प्रेम-वर्णन रसिकता की कोटि से ऊपर नहीं उभर पाया है। हाँ, घनानन्द आदि रससिद्ध रीतिमुक्त कवियों का शृंगार इस बात का अपवाद समझना चाहिए। इनकी कविता में शुद्ध हृदय से निःसृत प्रेम के उदात्त उद्-गार हैं। इनके शृंगार में वासना की दुर्गन्ध नहीं है और न ही इन्होंने राधा-कन्हाई के सुमिरन के बहाने अपने मानसिक फफोले फोड़े हैं। रीतिबद्ध कवियों की शृंगार-भावना में जो रुग्ण भावना है वह इनमें नहीं है। बाबू श्यामसुन्दरदास ने इन्हीं कवियों की सृष्टि को मनोमुग्धकारिणी कहा है। वस्तुतः इन सौन्दर्योपासक प्रेमी कवियों का शृंगार-वर्णन काफी स्वस्थ और मनोरम है। इस दृष्टि से रीतिकाल में इन कवियों का स्थान अमर है।

(२) आलंकारिकता—रीति-काव्य की दूसरी प्रधान प्रवृत्ति है आलंकारिकता। प्रदर्शन, चमत्कार और रसिकता—प्रधान युग में इस प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक भी था। वैसे तो साहित्य में जनव्यवहृत भाषा की अपेक्षा प्रभविष्णुता तथा ग्रहणशीलता की मात्रा अधिक होती है, किन्तु उक्ति चमत्कार के द्वारा पाठक और श्रोता के मन को आकृष्ट कर लेना इस युग के कवियों का लक्ष्य और सफलता का माप-दंड बन गया था। एक तो उस समय का विलासी राजदरबारी वातावरण था, दूसरा जन-सामान्य की मनोवृत्ति भी कुछ इस प्रकार की बन चुकी थी कि राजदरबारी कवि को अपने काव्य को कृत्रिम भड़कीले रंगों में रँगना पड़ा। इस आलंकारिकता का एक अन्य कारण था अलंकार शास्त्र के अनुसार अपनी कविता-कामिनी को साँचों में ढालना। बहुत सारे कवियों ने अलंकारों के लक्षण और उदाहरण रचे। परन्तु जिन्होंने केवल उदाहरण रचे, उनके मन में भी अलंकारों के लक्षण और स्वरूप काम कर रहे थे। अलंकारशास्त्र के ज्ञान के बिना उस समय के कवि को सम्मान मिलना कठिन था, इसलिए आलंकारिकता इस युग में खूब फूली-फली, और यहाँ तक कि अलंकार साधन से साध्य बन गए और कविता-कामिनी की शोभा बढ़ाने की अपेक्षा उसके सौन्दर्य के विघातक बन गए। उसके फलस्वरूप काव्य का आंतरिक पक्ष निर्बल पड़ गया।

काव्य में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का विधान, भावप्रेषणीयता और गहनता तथा तरलता लाने के लिए जरूरी हुआ करता है, किन्तु इन दोनों का रम्यविधान वही कवि कर सकता है, जिसे जीवन और जगत् का विस्तृत अनुभव हो। किन्तु सीमित कठघरे में वन्द रीतिकालीन कवि के पास यह वस्तु थी ही कब। वह तो पिटी राह का राही था। वह संस्कृत के अलंकार शास्त्र के रूढ़िगत उपमानों को लेकर उनका ही पिष्ट-पेषण करता रहा। इस सम्बन्ध में उसने किसी नवीन मौलिक उद्भावना से काम नहीं लिया। परिणामतः उसके नख-शिख-वर्णन रूढ़िवद्ध और अवैयक्तिक ही बने रहे। रूप-सादृश्य-मूलक अप्रस्तुत-विधान की अपेक्षा धर्म-सादृश्य-विधान-सूक्ष्मतर होता है। रीतिबद्ध कवियों में इस प्रकार के अप्रस्तुतों के विधान की कमी है। घनानन्द में भले ही इस विधान की प्रचुरता है। रीतिबद्ध कवियों में देव ने धर्म-सादृश्य-मूलक विधान का अधिक प्रयोग किया है। प्रभाव सादृश्य का प्रयोग रीति साहित्य में अत्यन्त विरल है क्योंकि इसमें धर्म सादृश्य की अपेक्षा और भी अधिक सूक्ष्मता वांछनीय होती है। सम्भावनामूलक उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग इस काल के कवि ने खूब किया है। इसका कारण यह है कि इसमें कल्पना की उड़ान और चमत्कार-प्रदर्शन की काफी छूट रहती है। चमत्कार प्रिय होने के नाते यह अलंकार रीति कवि को खूब रुचा। चमत्कारमूलक अलंकारों में से श्लेष, यमक और अनुप्रास का अधिक प्रयोग हुआ। विहारी ने ऐसे चमत्कारमूलक अलंकारों का अधिक प्रयोग किया है, जिन्हें देखकर पाठक आश्चर्यचकित होकर दाद देने पर भी कभी-कभी वाध्य हो जाता है, किन्तु स्मरण रखना होगा कि कोरे शाब्दिक चमत्कार-प्रदर्शन में रसोद्रेक की क्षमता बहुत कुछ समाप्त-सी हो जाती है। प्रभाव-उत्पादन के लिए यदि सीमा के अन्तर्गत अतिशयमूलक अलंकारों का प्रयोग किया जाए तो निश्चित रूप में काव्य सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है, किन्तु जब कवि सीमा का अतिक्रमण करके दूर की कौड़ी पकड़ने लगता है. तो वहाँ हास्यास्पदता आ जाती है। विहारी और केशव ने चमत्कार की अतिस्पृहा से ऐसे ऊहात्मक प्रयोग किए हैं कि शोभासृष्टि के स्थान पर अशोभनता आने लगी है। शुक्ल जी ने कदाचित् बिहारी की इसी अतिरंजना को देखकर उसकी साँसों के हिंडोले में झूलने वाली नायिका को घड़ी के पैंडुलम की उपमा दे दी। केशव तो अलंकारों के मोह में इतने ग्रस्त थे कि उन्होंने रामचंद्र को उल्लू की उपमा दे डाली और ग्रामीण वालाओं से श्लेष अलंकार में वार्तालाप कराने लगे। रीतिकालीन इस आलंकारिकता के विवेचन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि प्रायः उन कवियों ने परम्परा-मुक्त अलंकारों का प्रयोग किया है। इससे काव्य-सौन्दर्य में कोई विशेष अभिवृद्धि नहीं हुई। निःसंदेह कहीं-कहीं तो अलंकारों से वोझिल पंक्तियाँ भी मिलती हैं, परन्तु कहीं-कहीं अलंकारों के रूप में सुन्दर अप्रस्तुत-विधान की योजना भी की गई है। जहाँ कवि एकमात्र अलंकार के चमत्कार के पीछे दौड़ा है वहाँ तो काव्य-रूप की विकृति हो गई है अन्ततः अधिकांश प्रसंगों में अलंकार अनुभूति को तीव्र करने के लिए आए हैं। प्रतिनिधि रीति काव्यों

में बिहारी सतसई को छोड़कर शेष में चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति की बहुलता नहीं मिलेगी।

(३) **भक्ति और नीति** — रीति-काव्य में भक्ति और नीति सम्बन्धी सूक्तियाँ यत्र-तत्र बिखरी हुई मिल जाती हैं, पर इनके आधार पर हम रीति कवि को न तो अनन्य भक्त कह सकते हैं और न उसे राजनीतिनिष्णात। भक्ति के बारे में उसने सुकविताई के प्रख्यापन की सोची थी। इस बात का नीचे की पंक्तियों में स्पष्ट संकेत है—

रीझि हैं सुकवि जो तो जानो कविताई,
न तो राधिका-सुमिरन को बहानो है ॥

राधा-कृष्ण के नामोल्लेख मात्र से रीति कवि को भक्त-परम्परा में बिठाना नितांत भ्रांत होगा। रीतिकालीन कवि का मुख्य प्रयोजन था किसी न किसी आश्रयदाता या रसिक को रिझाना। उनके रीझने पर ही कवि अपनी रचना को सफल काव्य मानने को तैयार है, नहीं तो अगर वह न रीझे तो बाद में वह सन्तोष कर लेगा कि चलो कविता न सही तो राधा-कृष्ण का सुमिरन तो हो ही गया। उनकी रचनाओं में राधा-कृष्ण सम्बन्धी भक्तिपरक उद्‌गार कभी भी स्वीकार नहीं किए जा सकते। इस सम्बन्ध में हमें उस युग की परिस्थितियों को भूल नहीं जाना होगा।

अपनी समसामयिक परिस्थितियों से तंग आकर बेचारे ग्वाल कवि को राधा-कृष्ण से क्षमा माँगनी पड़ी होगी।

श्री राधा पदपदम को, प्रनमि प्रनमि कवि ग्वाल।
छमवत है अपराध को, कियो जु कथन रसाल ॥

नीति और भक्ति-सम्बन्धी उक्तियाँ शतक ग्रंथों में उपलब्ध हो जाती हैं। रस ग्रंथों में भक्ति-सम्बन्धी उक्तियों की कमी नहीं। कदाचित् इस युग की इन उक्तियों का मूलस्रोत ये ही ग्रंथ हैं। नीति-सम्बन्धी उक्तियों के लिए जीवन के जिन घात-प्रतिघातों के अनुभव की आवश्यकता होती है वह विलासोन्मुख रीति कवि के पास कहाँ थी। वस्तुत: वह युग अनेक स्वादों का युग था और उस समय के कवि ने अनेक स्वादों से अपने ग्रंथों को भरना चाहा है और कुछ नहीं। इस सम्बन्ध में बिहारी के शब्द द्रष्टव्य हैं—

"करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद"

रीतिकालीन भक्ति के सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र के विचार विशेष द्रष्टव्य हैं— "यह भक्ति भी उनकी शृंगारिकता का अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबड़ा उठते होंगे तो राधा-कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्म भीरु मन को आश्वासन देता होगा। इसी प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी तरह उसका आँचल पकड़े हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्ति-

भावना से हीन नहीं है—हो भी नहीं सकता था, क्योंकि भक्ति उसके लिए एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए उसके विलासजर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति रस में अनास्था प्रगट करते या उसका सैद्धांतिक निषेध करते। इसलिए रीति काल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यतः वर्तमान है और नायक-नायिका के लिए बार-बार हरि-हरि और राधिका शब्दों का प्रयोग किया गया है।

सच तो यह है कि नीति और भक्ति उनके जीवन के अवसान और थकान की द्योतक हैं, राग की अतिशयता से ऊबकर मनुष्य या तो भक्ति और वैराग्य की साधना करता है या म्रियमाण नैतिकता का आँचल पकड़ता है। रीतिकाव्यों के रचयिता इस बात के अपवाद नहीं थे।

(४) **काव्य रूप**—रीति कवि के काव्य की सृष्टि का उद्देश्य उस युग के राजाओं और रईसों की रसिकता की वृत्ति को संतुष्ट करना था। वह सर्वतः राजदरबारी वातावरण से घिरा हुआ था। ऐसी स्थिति में चमत्कार उत्पादनार्थ तथा वाह-वाही प्राप्ति के लिए उसे मुक्तक काव्य-शैली अधिक अनुकूल पड़ी। वह समय प्रबन्ध-काव्य निर्माण के लिए सर्वथा अनुपयुक्त था। जिन राजदरबारों में कविपुंगवों के दंगल लगते हों, और वहाँ पर एक दूसरे से बाजी मार जाने की होड़ चलती हो, वहाँ प्रबन्ध-काव्य-निर्माण का प्रश्न ही नहीं उठता और फिर इस दिशा में जो थोड़ा बहुत साहस किया भी गया तो वह निषेध फलीभूत भी नहीं हुआ। सम्बन्ध काव्यों के लिए निरन्तर एकरसता और धैर्य की आवश्यकता होती है, ये दोनों वस्तुएँ न तो उस समय के कवि के पास थीं और न ही श्रोता के पास।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में मुक्तक के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल लिखते हैं—"मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने आपको भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध-काव्य विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, कोई एक रमणीय खंड दृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मन्त्र मुग्ध सा हो जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं या व्यापारों का एक छोटा-सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है।" उपर्युक्त कथन से स्पष्ट ध्वनित है कि आचार्य शुक्ल ने रसमग्नता की दिशा में मुक्तकों को उपेक्षणीय दृष्टि से देखा है। परन्तु स्मरण रखना होगा कि भले ही मुक्तकों में अविच्छिन्न रस धारा के दर्शन नहीं होते किन्तु उनमें गहराई अवश्य पाई जाती है। संस्कृत साहित्य में कवि अमरुक के एक-एक मुक्तक पद्य को शत-शत प्रबन्ध काव्यों की क्षमता रखने

वाला कहा गया है। हिन्दी के विद्यापति, सूरदास, घनानन्द के मुक्तक पद्यों के सम्बन्ध में भी उक्त तथ्य पूर्णतः चरितार्थ होता है। बिहारी के कुछ दोहों में पूरी गहराई और रसोद्रेक-क्षमता के दर्शन होते हैं। देव में भी रसोद्बोधन की पर्याप्त मात्रा है। रीतिकाव्य के सम्बन्ध में समष्टि रूप से यह कहा जा सकता है कि उनकी मुख्य विशेषता रसोद्रेक में न होकर चमत्कार-प्रदर्शन में है।

रीतिकाव्य में, अधिकांशतः कवित्त, सवैया और दोहा जैसे छन्दों का प्रयोग किया गया है। यद्यपि बीच-बीच में छप्पय, बरवै, हरिपद आदि छन्दों का भी प्रयोग किया गया है किन्तु रीति-कवियों की प्रवृत्ति अधिकतर दोहा, सवैया और कवित्त में ही रमी है। कारण, कि ये छन्द ब्रजभाषा की प्रकृति के विशेष अनुकूल पड़ते थे और जिन भावों का वर्णन इनमें किया गया उनके भी ये उपयुक्त पड़ते थे। अवधी भाषा का बरवै छन्द भी लालित्य में इनके समान बैठता है अतः उसका प्रयोग भी इस काल में किया गया। रीतिकालीन कवि चमत्कारप्रिय थे। इस चमत्कार प्रदर्शन के लिए जिन शब्दालंकारों — यमक, अनुप्रास आदि का आश्रय लिया है तथा अर्थालंकारों का ग्रहण किया है, उनके द्योतन के लिए भी उपर्युक्त छन्द अनुकूल पड़ते थे। दूसरे, रीति कवि को ये छन्द अपने पूर्ववर्ती साहित्य से परम्परा-रूप में भी प्राप्त हुए थे फिर इन्हें निज युगानुकूल पाकर उन लोगों का सारा ध्यान इन्हीं छन्दों पर ही केन्द्रित हो गया। रीतिकाल में शृंगार रस का अधिक उपयोग हुआ है। ये छन्द उसकी प्रकृति के भी सर्वथा अनुकूल थे। नीति और सूक्तियों को भी दोहा जैसे छोटे छंद में सफलतापूर्वक लिखा जा सकता है। कवित्त और सवैया जैसे छंद वीर रस की अभिव्यक्ति के लिए बड़े सफल सिद्ध हुए।

वैसे तो इस युग में कुछ प्रबन्ध काव्य भी लिखे गये परन्तु वे मुक्तक काव्यों की अजस्रधारा के सामने विशेष प्रसिद्धि को प्राप्त नहीं हो सके।

(५) ब्रजभाषा की प्रधानता - ब्रजभाषा इस युग की प्रमुख साहित्यिक भाषा है। आलंकारिकता-प्रधान युग में भाषा के सजाव और शृंगार के सम्बन्ध में कवि को विशेष सतर्कता और जागरूकता से काम लेना पड़ता है। भारतीय-साहित्य में लालित्य के क्षेत्र में संस्कृत भाषा के पश्चात् ब्रजभाषा का स्थान आता है। एक तो यह मध्यदेशीय भाषा थी, दूसरे यह प्रकृति से मधुर थी और साथ ही कोमल रसों की सुन्दर अभिव्यक्ति की इसमें अपार क्षमता थी। यही कारण है कि रामचरित-मानस तथा पद्मावत जैसे अवधी भाषा में लिखे हुए काव्यों के होने पर भी रीति-कवि ब्रजभाषा के प्रति आकर्षित हुआ, उसे सजाया, संवारा और निखारा। डॉ० नगेन्द्र इस काल के कवि की भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं—"भाषा के प्रयोग में इन कवियों ने एक खास नाजुक मिजाजी बरती है। इनके काव्य में किसी भी ऐसे शब्द की गुंजाइश नहीं जिसमें माधुर्य नहीं है, जो माधुर्य गुण के अनुकूल न हो। अक्षरों के गुम्फन में इन्होंने कभी भी त्रुटि नहीं की। संगीत के रेशमी तारों में इनके शब्द

माणिक्य मोती की तरह गुंथे हुए हैं। नागरिकता और मसृणता इस काल की भाषा के मुख्य तत्त्व हैं। ऐसी रंगोज्ज्वल शब्दावली अन्यत्र दुर्लभ है।"

वर्ण-मैत्री, अनुप्रासत्व, ध्वन्यात्मक, शब्दगति, शब्द-शोधन, अनेकार्थता, व्यंग्य आदि की विशेषता इस काव्य में प्रचुर मात्रा में मिलती है। यह काल ब्रजभाषा की चरमोन्नति का काल है। इस समय ब्रजभाषा में विशेष निखार, माधुर्य और प्रांजलता का समावेश हुआ और भाषा में इतनी प्रौढ़ता आई, कि भारतेन्दु-काल तक कविता-क्षेत्र में इनका एकमात्र आधिपत्य रहा और आगे के समय में भी इसके प्रति मोह बना रहा। यह ब्रजभाषा के माधुर्य का परिणाम था कि हिन्दी में मुसलमान कवियों ने भी इसी भाषा का प्रयोग किया और बंगाल के कुछ वैष्णव भक्त-कवियों ने भी इसका प्रयोग किया। दास ने तो ब्रजभाषा की सीमा ही बढ़ा दी। वे केवल ब्रजमंडल में बोली जाने वाली भाषा को ही ब्रजभाषा कहने को तैयार नहीं वरन् ब्रजभाषा तो अपने मधुर रूप में कवियों की रचनाओं में ही मिलती है। परिणामतः उसमें अवधी, राजस्थानी और बुन्देलखण्डी के शब्दों का भी समावेश हुआ। पूर्वी और छत्तीसगढ़ी आदि अनेक बोलियों के कोमल तथा व्यंजक शब्द इसमें समाविष्ट हुए। अपनी उदार प्रवृत्ति के कारण इसने अरबी और फारसी जैसी विदेशी भाषाओं से शब्दों का चयन किया। एक ओर तो ब्रजभाषा में बोलियों के सम्मिश्रण की प्रक्रिया चलती रही दूसरी ओर कवियों ने उनके शुद्ध व्याकरण-सम्मत रूप के प्रयोग पर विशेष ध्यान नहीं दिया बल्कि स्वेच्छानुसार उसे तोड़ा-मरोड़ा भी। ऐसे कवियों में भूषण और देव का नाम खासतौर पर बदनाम है। भूषण ने ब्रजभाषा के शब्दों के साथ-साथ अरबी, फारसी के शब्दों की तोड़-मरोड़ की है। देव ने तुक, अनुप्रास तथा यमक के आग्रह से शब्दों की तोड़-मरोड़ में मनमाना व्यवहार किया है। पद्माकर की भाषा भी उक्त दोष से रहित नहीं है। बिहारी की भाषा में अवधी, बुंदेलखण्डी, राजस्थानी आदि प्रादेशिक भाषाओं की गहरी छाप है। रीतिबद्ध कवियों की भाषा में कारक-चिह्नों की गड़बड़ी, लिंग-सम्बन्धी दोष, क्रिया रूपों की अनेकरूपता, पद-विन्यासगत शिथिलता आदि के दोष देखे जा सकते हैं। हाँ, इन कवियों में बिहारी की कविता भाषा अपने कतिपय दोषों के बावजूद भी टकसाली भाषा का नमूना है। हालांकि रीतिकाल तक पहुंचते-पहुंचते ब्रजभाषा में च्युत संस्कृति आदि दोषों का सर्वथा परिहार हो जाना चाहिये था पर वह हुआ नहीं, यह एक आश्चर्य की बात है और कदाचित् यही कारण है कि ब्रजभाषा में गद्य-लेखन की क्षमता नहीं आ सकी। इस काल की भाषा की इस त्रुटि को लक्ष्य रखकर आचार्य हजारीप्रसाद ने ठीक ही कहा है—"भाषा के भी विश्रामदायक और विनोदन गुणों का इस काल में खूब मार्जन हुआ परन्तु उसे इस योग्य बनाने का यत्न किसी ने नहीं किया कि वह गम्भीर विचार-प्रणाली का उपयुक्त वाहन बन सके।"

परन्तु इसका मतलब यह कदापि नहीं कि इस काल में परिनिष्ठित भाषा लिखने वाले थे ही नहीं। रसखान और घनानन्द की भाषा को सब लोगों ने परिनिष्ठित ब्रजभाषा माना है। बिहारी की भाषा अपनी त्रुटियों के बावजूद भी

टकसाली कही जायगी। भाषा प्रयोग के क्षेत्र में कहीं-कहीं तो इन्होंने तुलसीदास को भी पीछे छोड़ दिया है। कोमल-कान्त पदावली की दृष्टि से देव और पद्माकर ने तुलसी को पीछे छोड़ दिया है। भाषा की जो मसृणता और लचकीलापन देव और पद्माकर में दिखाई देता है वह तुलसी में नहीं। तुलसी का कवित्व बहुत कुछ वर्णनात्मक होकर रह गया है। जबकि देव और पद्माकर में वातावरण-निर्माण और मूर्ति-योजना की गहरी क्षमता दिखाई देती है।

रीति मुक्त कवियों—बोधा और घनानन्द आदि की भाषा के विषय में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के विचार अवलोकनीय हैं—"घनानन्द और ठाकुर ने ब्रजभाषा को बहुत शक्ति दी है। वागयोग का ऐसा विधान शब्दों का मनमाना और निरर्थक प्रयोग करने वालों में कहाँ लोकोक्तियों का जैसा विनियोग ठाकुर ने किया है हिन्दी के किसी दूसरे कवि ने नहीं। घनानन्द की रचना में तो भाषा स्थान-स्थान पर अर्थ की सम्पत्ति से समृद्ध होकर सामने आती है। वाक्य ध्वनि और पदध्वनि तो दूर रही पदांश-ध्वनि से भी जगह-जगह काम लिया है। इसका एक हा उदाहरण पर्याप्त होगा :—

"मेरी मनोरथ हु बहिये अरु है मो मनोरथ पूरनकारी।"

तात्पर्य यह है कि रीतिमुक्ति कवि भाषा के प्रयोग में पूर्णतः सक्षम थे किन्तु अधिकांश रीति-कवियों की भाषा ने शुद्धता की ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया।

(६) **लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण**—रीतिकाल में कवि-कर्म और आचार्य कर्म एक साथ चलते रहे। रीतिमुक्त कवियों को छोड़कर प्रायः इस काल के सभी कवियों ने लक्षण ग्रंथों का निर्माण किया है। रीतिसिद्ध कवियों ने तो सीधे रूप में लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किया। रीतिसिद्ध कवियों ने केवल उदाहरण जुटाये, उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से काव्यांग-सम्बन्धी किसी लक्षण को नहीं लिखा पर उनके सभी उदाहरणों की पृष्ठभूमि में रीति शास्त्र काम कर रहा है। इस प्रसंग में इतना स्मरण रखना होगा कि ये दोनों कार्य—कवि-कर्म और आचार्य-कर्म—परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं। कवि के लिए मातृ का सा भावप्रवण हृदय अपेक्षित होता है। आचार्य-कर्म की सफलता के लिए प्रौढ़ मस्तिष्क और सर्वांग-पूर्ण संतुलित विवेचन-शक्ति की अपेक्षा हुआ करती है। रीतियुगीन साहित्यकार सर्वप्रथम भावुक हृदय वाला एक कोमल भावनाओं का चितेरा है, आचार्य-कर्म को तो उसे परम्परावश निभाना पड़ा, उस युग में कुछ ऐसी परिपाटी चल पड़ी थी कि कोई भी कवि रीतिशास्त्र के ज्ञान के बिना राजदरबार में आदर का पात्र नहीं बन सकता था। फलतः सभी कवियों ने पांडित्य प्रदर्शन किया परन्तु लक्षण-ग्रंथों के निर्माण में इन लोगों की सफलता संदिग्ध है। आचार्य शुक्ल ने रीतिकालीन इस प्रवृत्ति को लक्ष्य रखकर ठीक ही कहा है कि इन रीतिकारों के रीति-ग्रंथों पर निर्भर रहने वाले व्यक्तियों का ज्ञान अधूरा समझना होगा क्योंकि इन्हें स्वयं भी रीतिशास्त्र का परिपक्व ज्ञान नहीं था। निःसन्देह इन रीतिग्रंथों में काव्यांगों का कोई प्रौढ़ विवेचन प्रस्तुत नहीं किया गया बल्कि कई

स्थलों पर तो भद्दी भूलें भी की हैं। प्रौढ़ विवेचन तो दूर रहा, कुछ ने तो संस्कृत के आधारभूत शास्त्रीय ग्रंथों का अनुवाद भी सम्यक् रूप से नहीं किया। वस्तुतः प्रौढ़ विवेचन तभी सम्भव होता है जबकि काव्य के विभिन्न सम्प्रदायों की उस क्षेत्र में स्थापना हो चुकी हो। हिन्दी के रीति-कवियों के निर्माण के समय हिन्दी में ऐसा नहीं बन पड़ा था। दूसरे रीतियुग के आचार्य ने या तो ह्रासोन्मुख संस्कृत साहित्य के उस समय के काव्य शास्त्रीय ग्रंथों का आश्रय लिया जब कि काव्य के अंग और अंगों का भेद भी स्पष्ट नहीं हो पाया था। उन्होंने मम्मट या ध्वनिकार के ग्रंथों को अपने आश्रय रूप में ग्रहण नहीं किया। यदि ग्रहण किया भी है तो बहुत थोड़े आचार्यों ने। दूसरे, उस रसिकताप्रधान युग के व्यक्ति की काव्य सम्बन्धी प्रौढ़ ज्ञान के प्राप्त करने के लिए अभिरुचि भी कहाँ थी? उन्हें तो रीतिशास्त्र का प्रारम्भिक ज्ञान अपेक्षित था और उसकी पूर्ति इन लक्षण-ग्रंथों से निश्चित रूप में हुई। डॉ० भागीरथ के शब्दों में, "वास्तविक तथ्य तो यह है कि इन हिन्दी लक्षणकारों या रीतिग्रंथकारों के सामने कोई वास्तविक काव्यशास्त्रीय समस्या नहीं थी। इनका उद्देश्य विद्वानों के लिए काव्यशास्त्र के ग्रंथों का निर्माण नहीं था, वरन् कवियों और साहित्य-रसिकों को काव्यशास्त्र के विषयों से परिचित करना था। संस्कृत के आचार्यों की परिपाटी यह नहीं बन पाई थी कि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का खंडन या मंडन करके किसी सिद्धान्त या काव्यादर्श को आगे बढ़ाते। अतः यह तथ्य है कि हिन्दी काव्यशास्त्र या रीति-ग्रंथों के द्वारा भारतीय काव्यशास्त्र का कोई महत्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया। फिर भी काव्य-क्षेत्र में और हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों के अध्ययन में इस प्रकार के काव्य का महत्वपूर्ण स्थान है। इस परम्परा को लेकर लिखे गये ग्रन्थों की संख्या भी बहुत बड़ी है।"

(७) **वीररस की कविता**—वैसे रीति-युग प्रायः शान्ति और समृद्धि का समय है किन्तु औरंगजेब के क्रूर और आतंकमय शासन ने भारतीय प्रशान्त वातावरण को विक्षुब्ध कर दिया। अब पूर्ववर्ती सम्राटों की उदारता की नीति का स्थान औरंगजेब की कट्टर असहिष्णुता की नीति ने लिया। उसने हिन्दू-जनता पर अकथनीय अत्याचार किये। फलतः चिरकाल से प्रसुप्त वीरात्मक प्रवृत्तियाँ पुनः जाग उठीं। दक्षिण में महाराज शिवाजी, पंजाब में गुरु गोविन्दसिंह, राजस्थान में महाराणा राजसिंह और जसवन्तसिंह का सेनापति दुर्गादास तथा मध्य प्रदेश में छत्रसाल आदि वीर स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए औरंगजेब के साथ लोहा लेने को उठ खड़े हुए। अपने आश्रयदाताओं की धमनियों में अपने आततायी के विरुद्ध खड़े होकर सबल टक्कर लेने के लिए नवीन रक्त का संचार करने के लिए कवियों ने भी वीर रसात्मक कविताओं की रचना की। इस प्रकार शृंगार की प्रधान धारा के साथ क्षीण रूप में वीर रस की धारा भी इस काल में बहती रही। यह इन दो विरोधी रसों का एक विलक्षण सम्मिश्रण है। भूषण, सूदन, पद्माकर आदि कवियों ने बड़ी ओजस्विनी भाषा में वीर रसात्मक काव्य की सृष्टि की। इन वीर

रस के कवियों में राष्ट्रीयता का स्वर प्रधान है। कुछ लोग इन कवियों की राष्ट्रीयता पर आपत्ति उठाया करते हैं। उनका कहना है कि इनमें जातीयता है। अस्तु, इस सम्बन्ध में हमें कहना है कि प्रत्येक युग के राष्ट्रीयता के मापदण्ड भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। किसी युग की राष्ट्रीयता का निर्धारण करते समय उस युग की परिस्थितियों को भुला देना ज्यादा संगत है।

(८) **आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण**—रीति-काव्य में प्रकृति का चित्रण आलम्बन रूप में हुआ। प्रकृति आश्रय रूप अथवा स्वतन्त्र रूप में बहुत ही कम चित्रण हुआ है और यह स्वाभाविक भी था क्योंकि रीति-कवि दरबारी कवि था, उसके पास प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में विचरने का अवकाश भी कब था अतः उसके काव्य में बाल्मीकि, कालिदास का-सा प्रकृति का बिम्बग्राही रूप नहीं मिलता है। प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण भी परम्परा-भुक्त है। प्रकृति का चित्रण नायक और नायिका की मानसिक दशा के अनुकूल ही किया गया है। संयोग में उसका मनोमुग्धकारी उत्फुल्ल रूप है और वियोग में विदग्धकारी रूप। प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण षट्ऋतु और बारहमासे की चित्रण-पद्धति पर हुआ है। संयोग-पक्ष में पावस का उतना प्रभावोत्पादक वर्णन नहीं, जितना इससे सम्बद्ध हिंडोले और तीज-त्यौहार का। पावस में प्रेमी-प्रेमिका के मिलन-अवसर पर कवि का मन खूब रमता हुआ-सा दिखाई देता है। रीति-कवि की नायिका को वियोग-काल में शुभ्र चन्द्रमा कसाई का काम करता हुआ दिखाई देता है। पपीहे की पी-पी प्राण लेने लगती है। उसके लिए चन्दन और चांदनी आग बरसाते हैं। इन रीति कवियों में सेनापति को प्रकृति-चित्रण में काफी सफलता मिली है। वैसे रीतिकालीन कवि प्रयः प्रकृति के प्रति तटस्थ थे। जहाँ संस्कृति में प्रकृति की एक-एक अदा पर संस्कृत कवि का मन थिरकने लगता है, जहाँ आषाढ़ का प्रथम दिन उसे पूरा काव्य निर्माण की प्रेरणा देता है, वहाँ हिन्दी में, रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि बिहारी ने एक-एक दोहे में एक-एक ऋतु का वर्णन करके छुट्टी पा ली। रीति-काव्य में प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र नहीं मिलते हैं। कहीं-कहीं तो इन लोगों ने इस प्रसंग में अपने अज्ञान का भी परिचय दिया है। प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी इनके दृष्टिकोण का परिचय केशव के निम्न शब्दों में भली भाँति मिल जाता है :—

"तातें मुख मुखै सखि कमलौ न चन्द री।"

(९) **अभिव्यंजना-पद्धति**—किसी भी युग के साहित्यकार की अभिव्यंजना-पद्धति या प्रणाली उसकी वैयक्तिकता का प्रतीक होती है जो कि उसके साहित्य में सहजरूप में समाविष्ट हो जाती है। कवि अनुभूतियों को मूर्त रूप देने के लिए विशिष्ट शब्दों, मुहावरों, विशेषणों तथा लोकोक्तियों का चयन अपनी व्यक्तिक अभिरुचियों के अनुसार किया करता है। अतः रीति-काव्यों की शैलीगत विशेषताओं के उद्घाटन के लिए हम उनके द्वारा गृहीत शब्दों, विशेषणों, मुहावरों तथा लोकों-

क्तियों का विवेचन करेंगे और इसके साथ-साथ उनकी भावाभिव्यंजना की नाना प्रणालियों का भी विश्लेषण करेंगे।

मानव-जीवन के समान शब्दों का जीवन भी नाना विलक्षणताओं से परिपूर्ण होता है। कुछ शब्द किसी विशिष्ट युग में नवीन अर्थवत्ता ग्रहण कर लेते हैं। भक्तिकाल में राधा और कृष्ण शब्दों में जो सात्विकता लिपटी हुई थी उसका रीतिकाल में सर्वथा परिहार हो गया और वे साधारण नायक-नायिका नत्थू और कल्लू के अर्थों में प्रयुक्त होने लगे। यही नहीं, रीतिकाल के अन्तिम चरण में कन्हैया और साँवलिया में नई अर्थवत्ता ही नहीं भरी गई वरन् व्यावहारिक जीवन में भी लोग कन्हैया और साँवलिया का नाटक खेलने लगे। रीतिकाल में प्रयुक्त लाल और लला शब्दों का भी यही हाल समझना चाहिए। कविता में वातावरण-निर्माण के लिए ध्वन्यात्मक शब्दों का विशेष महत्व है। इस अभिाप्रय की पूर्ति के लिए रीति-कवि ने तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है, रणनात्मक, अनुकरणात्मक तथा लक्षणात्मक। बिहारी, देव, दास तथा पद्माकर आदि ने इन शब्दों का बहुधा प्रयोग किया है। जैसे "झाँझरिया झनकेंगी खरी" "रणत भृंग घंटावली" "फहर-फहर होत पीतम को पीत पट", इन शब्दों से उपस्थित किया गया एन्द्रिय वातावरण उस काल के उपभोगात्मक दृष्टिकोण का परिचायक है। रीति कवि द्वारा प्रयुक्त विशेषणों में चित्रोपम सौन्दर्य निहित है।

यह बात पहले हम स्पष्ट कर चुके हैं कि रीतिकाल में सामन्ती वातावरण चतुर्दिक फैला हुआ था। बेशक मुगल शासकों के दरबार में हिन्दी को भी थोड़ा बहुत संरक्षण मिला हुआ था परन्तु जो प्रश्रय फारसी और उर्दू तथा उनके कवि को मिल रहा था वह हिन्दी कवि को नहीं फलतः रीति-कवि को उनसे होड़ लेनी थी। कदाचित् यही कारण है कि उसने फारसी कवि जैसी ऊहात्मक पद्धति को अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए अपनाया।

(१०) नारी-चित्रण - हम पहले बता चुके हैं कि मुगल शासन की निरंकुश सत्ता के सम्मुख देशी रजवाणों के नरेशों का तेज आहत हो चुका था। मुगल दरबार के प्रचुर विलास का अनुकरण करना ही उनके जीवन का उद्देश्य बन गया था। मानो यह एक मनोवैज्ञानिक रूप से क्षतिपूर्ति थी। राज्याश्रित कवि नारी के कुच-कटाक्ष के महीन से महीन विलासात्मक रंगीले और भड़कीले चित्र उतार कर अपने स्वामी के गहरे मानसिक विषाद को दूर करने में प्रयत्नशील थे। उनके सामने नारी का एक ही रूप था और वह था विलासिनी प्रेमिका का। नारी उनके लिए एकमात्र भोगविलास का उपकरणमात्र थी। नारी के अनेक रूपों—गृहणी, जननी, देवी, भगिनी आदि—पर उनकी दृष्टि नहीं पड़ी। वे नारी शरीर के सौन्दर्य सरोवर में सतह पर ही गोते खाते रह गये। एक साहसी मरजीवा के समान उनकी आत्मा के सौन्दर्य के तल पर नहीं पहुंच सके। और यह उनसे सम्भव ही नहीं था, क्योंकि वे कुछ ऐसे वातावरण में चारों ओर से आबद्ध थे कि वे जीवन को व्यापक

दृष्टिकोण से नहीं देख सके और न वे नारी-जीवन की अनेकरूपता को अवगत कर सके। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—"रीति काव्य आध्यात्मिक तो है ही नहीं, परन्तु वस्तु रूप में भौतिक भी नहीं—अर्थात् न उसमें आत्मा की अतल जिज्ञासा है न प्रकृति की दृढ़ कठोरता। वह तो जैसे जीवन का एक विराम स्थल है जहाँ सभी प्रकार की दौड़-धूप से श्रान्त होकर मानव नारी की मधुर अंचल-छाया में बैठकर अपने दुःखों और पराभवों को भूल जाता है। उसका आधारफलक इतना सीमित है कि जीवन की अनेकरूपता के लिए उसमें स्थान ही नहीं है, उस पर अंकित जीवन-चित्र भी स्वभावतः एकांगी है।"

इस एकांगी दृष्टिकोण के कारण वह नारी-जीवन के सामाजिक महत्त्व, उसके श्रद्धामय रूप और उसकी मातृ-शक्ति को देख नहीं सका। वह केवल तनद्युति का अनुरागी था और उसका वह अनुराग यहाँ तक बढ़ चुका था कि वह अपनी आराध्य देवी के भी शारीरिक लावण्य पर ही रीझता रहा है—'तजि तीरथ हरि-राधिका तन दुति करु अनुराग'। रीतिकालीन कवि की नारी अपने प्रांगण में लाल के द्वारा उड़ाये हुए पतंग की छाया को चूमती फिरती है और कदाचित् पुत्र की हथेली को इसलिए चूमती है कि उसमें अपने प्रियतम का प्रतिबिम्ब मिलता है, जैसे कि वात्सल्य नाम की वस्तु उसमें रह ही नहीं गई। कभी-कभी वह जारज योग का स्मरण करती हुई मुस्करा रही है। ऐसे लगता है कि मानो वासना ही उसके जीवन का खाना-पीना, ओढ़ना-बिछौना सब कुछ हो। आचार्य हजारीप्रसाद का रीतिकालीन शृंगार भावना में रुग्णभावना बतलाना उपयुक्त ही है।

रीतिबद्ध कवियों के द्वारा तो नारी के सामाजिक जीवन के महत्त्व का उद्घाटन हो ही नहीं पाया, रीतिमुक्त कवियों में भी उसका यह महत्त्व व्यक्त नहीं हो पाया। सभी बँधी-बँधाई लकीर पर उसके अंग-प्रत्यंग की शोभा, हाव-भाव और विलास चेष्टाओं का वर्णन करते रहे। इस सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद के शब्द विशिष्ट रूप से अवलोकनीय हैं—"यहाँ नारी कोई व्यक्ति या समाज के संघटन की इकाई नहीं है, बल्कि सब प्रकार की विशेषताओं के बन्धन से यथासम्भव मुक्त विलास का एक उपकरण मात्र है। देव ने कहा है—

कौन गनै पुर बन नगर कामिनि एकै रीति।
देखत हरै विवेक को चित्त हरै करि प्रीति॥

इससे इतना स्पष्ट है कि नारी की विशेषता इनकी दृष्टि में कुछ नहीं है, वह केवल पुरुष के आकर्षण का केन्द्र भर है।" नारी-जीवन के प्रति रीति कवि के इस संकुचित दृष्टिकोण का दायित्व एक तो उस समय के वातावरण पर है और दूसरा है कामशास्त्रीय ग्रंथों के प्रभाव पर। नायिका-भेद पर दृष्टिपात करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रीति-कवि ने सर्वत्र रूप के प्रति गहरी आसक्ति प्रदर्शित की है। नायिका होने के लिए किसी स्त्री का सुन्दर होना पहली शर्त है—

मानो रची छवि मूरति मोहिनी,
श्रीधर ऐसी बखानत नायिका।

(११) **मनोवैज्ञानिक चित्रण**—रीतिकाल में स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों की महत्त्वपूर्ण चर्चा की गई है। हमारे भारत में कामशास्त्रीय ग्रंथों की एक विशाल परम्परा है और कदाचित् रीतिकालीन कवि ने अपने साहित्य में उसका उपयोग भी किया है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक फ्राइड ने स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों की अतीव दूरगामी चर्चा की है। वे प्रत्येक क्रिया-कलाप का उत्स काम को मानते हैं, जो कि हमें अस्वीकार्य है। रीतिकालीन कवि इस दिशा में संस्कृत साहित्य की परम्परा से प्रभावित हुआ है। रीतिकाल के समय में समाज में विलासिता और कामोत्तेजना की प्रवृत्तियाँ अत्यधिक बढ़ चुकी थीं, अतः रीतिकालीन साहित्य में स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों के वर्णन में निर्बाध कामुकता और ऐन्द्रियता का समावेश हुआ। पद्माकर के शब्दों में :—

निसि जागी लागी हिय प्रीति उमगत गात।
उठी न सकत आलस वलित सहज सलोने गात॥

रीतिकाल में नायिका-भेद के अन्तर्गत पद्मिनी, चित्रणी आदि के भेद कवि के कामुक दृष्टिकोण के परिचायक हैं। रीतिकालीन साहित्य यौन-विज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण सामग्री जुटाता है।

(१२) **प्रतियोगिता की भावना**—रीतिकालीन कवि के व्यक्तित्व में आचार्यत्व और कवित्व की प्रवृत्तियों के साथ-साथ प्रतियोगिता की भावना भी प्रबल रूप से विद्यमान है। वह अपने काव्य-भाषा और सिद्धान्तों के प्रतिपादन से अपने समान धर्मी कवियों से निज उत्कृष्टता की स्थापना के कार्य में व्याकुल है। यद्यपि उक्त भावना संस्कृत के कवियों में भी मिलती है, किन्तु उसमें अपेक्षाकृत गम्भीरता बनी रही। रीतिकाल में इसका क्रमात्मक ह्रास होने लगा। इसका कारण कदाचित् बादशाहों के महलों में लगने वाले उर्दू और फारसी के कवियों के दंगल हैं। राज-दरबार में अपनी सर्वोत्कृष्टता की सिद्धि की तीव्र लालसा ने रीतिकाल के आचार्य और कवियों में इस प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया।

(१३) **पराश्रयिता की भावना**—रीतिकालीन कवि और समाज अपेक्षाकृत अधिक पराश्रित हैं। रीति-कवि एवं आचार्य का व्यक्तित्व, आजीविका और भावाभिव्यक्ति के लिए आश्रयदाता की कृपा दृष्टि पर अवलम्बित है। उसके द्वारा किये गये नायिका-भेद तथा उसके विस्तार-प्रसार में उसके निजी स्फुरण की न्यूनता है। उसके नायिका-भेद विस्तार के पीछे संस्कृत कवि से बाजी मारने की भावना काम कर रही है। वह अपने साहित्य और काव्यशास्त्रीय ज्ञान के लिए संस्कृत कवियों तथा आचार्यों पर अधिकतर निर्भर रहा है। इस प्रकार रीतिकालीन कवि द्वारा वर्णित समाज तथा उसके काव्य साहित्य ज्ञान पर पराश्रयिता की स्पष्ट छाप है। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि रीतिकाल के कवि ने सब कुछ उधार

लिया हुआ है या उसका साहित्य विशिष्ट व्यक्तित्व से शून्य है। सच यह है कि संस्कृत साहित्य की विशाल परम्परा उसे रिक्थ में मिली थी और उसने उसका सम्यक् उपयोग किया और इसके साथ-साथ उसने विशाल संसार को भी अपनी आँखों से देखा। हाँ, इस विषय में रीतिकालीन कवि की संस्कृति साहित्य पर अत्यधिक आवलम्बिता अवश्य चिन्त्य है। रीतिकालीन कविमें स्वतन्त्र चिन्तन के प्रति अवज्ञा का यह भाव खटकता अवश्य है।

(१४) **विविधमुखी साहित्य**—रीतिकाल भारतीय संस्कृति और साहित्य का पुनरुत्थान काल है। इस युग में ज्ञान-संग्रह के रूप में अनेक विषयों से सम्बद्ध ऐसे ग्रंथ मिलते हैं, जिनमें ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र, रमल शालिहोत्र, कामशास्त्र, राजनीति, पाकशास्त्र, सुरापान, संगीत शास्त्र आदि का निरूपण है। इससे उस समय के साहित्व की व्यापकता का जहाँ आभास होता है, वहाँ ऐहिकता के प्रति तत्कालीन जागरूकता का भी परिचय मिलता है। रीतिकालीन साहित्य को केवल शृंगार रस तथा काव्यशास्त्रीय विषय की दृष्टि से देखना और उसका मूल्यांकन करना समीचीन न होगा। उसे उसके बृहत् परिपार्श्व में देखना हितकर होगा।

(१५) **वर्णक शैली तथा रीति कवि का व्यक्तित्व**—प्रायः रीति कवि ने अपने काव्य में मध्यकालीन साहित्य की वर्णक-शैली का आश्रय लिया है। यह-शैली संस्कृत कवि बाण के समय में प्रचलित थी और उसका प्रयोग रीतिकाल तक निरन्तर होता रहा है। संस्कृत के 'अलंकार शेखर' तथा 'शृंगार-तिलक' ज्योतिरीश्वर ठाकुर का 'वर्णरत्नाकर' तथा केशव की 'कवि-प्रिया' आदि ग्रंथ वर्णक-शैली के प्रतिपादक ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों में कवि के प्रतिपाद्य विषयों का निर्धारण कर दिया गया है। बाद में परिवर्तित-परिस्थितियों और आवश्यकतानुसार उक्त शैली के अन्तर्गत नवीन विषयों का भी समावेश कर लिया गया। इस शैली में जंगल, बाग-बगीचों के वर्णन, वृक्षों, पुष्पों, पक्षियों की घिसी-पिटी सूचियों, उद्यान क्रीड़ा, सलिल क्रीड़ा, हाथियों-घोड़ों के भेद-प्रभेद तथा उनकी चालों की वर्णन करने की परम्परा थी। बाद में इसमें ज्योतिष, कामशास्त्र, पौराणिक विषय तथा पकवानों का भी शनैः-शनैः समावेश होता गया। कहने का तात्पर्य यह है कि जो २ विषय जन रुचि के अधिक निकट पहुंचते गये उन सबका समावेश कवियों ने उक्त शैली के अन्तर्गत कर लिया। हमारा दृढ़ विश्वास है कि अब्दुर्रहमान का 'सन्देश रासक', विद्यापति की 'कीर्तिलता', जायसी का 'पद्मावत', केशव की कविप्रिया तथा बिहारी की सतसई वर्णक शैली के अन्तर्गत हैं। बिहारी सतसई में अनेक स्वादों के भरने की प्रवृत्ति—(करी-बिहारी सतसई, भरी अनेक स्वाद) उक्त शैली की ज्ञापक है। बिहारी-सतसई में ज्योतिष, पुराण तथा गणित सम्बन्धी उक्तियों के आधार पर बिहारी की उपर्युक्त विषयों में विशेषज्ञता अथवा अपार-पांडित्य की दुहाई देना निरर्थक है। मध्य युग में अनेक विषयों के वर्णन की परम्परा परिनिष्ठित हो चुकी थी और बिहारी आदि ने भी उसी का अनुसरण किया है।

व्यक्तित्व और शैली परस्पर अपरिच्छिन्न वस्तुएँ हैं। रीतिकवि के सामन्ती वातावरण में राज-सभा में प्रवेश पाने और राजसम्मान प्राप्त करने के लिए अनेक विषयों की जानकारी का प्रमाण प्रस्तुत करना होता था। निम्नस्थ कथनों में उपर्युक्त तथ्य की सम्यक् परिपुष्टि हो जाती है :—

(क) जानन हौं ज्योतिष पुराण और वैद्यक को,
जोरि जोरि आखर कवित्तन को उच्चरौं।
बैठि जानौं सभा मांझ राजा को रिझाय जानौं,
अस्त्र बांधि खेत मांझ सत्रुन सों हौं लरौं।
राग धरि गाऊँ और कुदाऊँ घोड़े बाग धरि,
कूप ताल बावरीन नारन में हौं तरौं।

(ख) विद्या पढ़ेऊ करू संगीता, सामुद्रिक जोतिक गुन गीता।
काव्य कोक आगम हूं बखानहूं, षट् राग रागिनि संग गाउँ।
नृत्य चतुर्गन बैद बिनानी, खेल चातुरी उक्ति कहानी।
पसुभासा और जल तरन धातु रसाइन जानु।
रतन परख और चातुरी सकल अंग सरभानु॥

(१६) जीवन-दर्शन—रीति काव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है यथार्थ जीवन के प्रति गहरी अभिरुचि। इस काल के कवि का मुख्य उद्देश्य है जीवन और यौवन के वास्तविक और रमणीय स्वरूप का चित्रण करना। उसके बीच-बीच आई हुई आध्यात्मिकता या तो परम्परागत संस्कारवश आई है अथवा सामाजिक आघातों से बचने के लिए कवि ने उसे कवच बनाया है। नायिका-भेद और रस निरूपण में जो चित्र उपन्यस्त किए गए हैं वे किसी अतीन्द्रिय लोक के नहीं, वे इसी लोक के हैं। डा० भागीरथ के शब्दों में—"ऐसे लगता है कि रीति-कविता के रचयिता यौवन और वसन्त के कवि हैं। जीवन का फूलता हुआ सुघर रूप ही उन्हें प्रिय है। पतझड़, संघर्ष और विनाश सम्भवत: स्वत: जीवन में इतने घोर रूप में विद्यमान था कि कवि काव्य में भी उसको उतार कर नैराश्य और निवृत्ति की भावना को जगाना नहीं चाहता है। वह तो फूलते-फलते जीवन का भ्रमर है। उसने जीवन का एक ही स्वरूप लिया, एक ही पक्ष लिया, यह इस धारा के कवि की संकीर्णता है, दुर्बलता है और एकांगिता है। परन्तु जिस पक्ष को इसने लिया है उसके चित्रण में उसने कोई कसर उठा नहीं रखी। उसके समस्त वैभव और विलास के चित्रण में उसने कलम तोड़ दी है।"

नि:सन्देह रीति कवि में रूढ़िवद्धता, अवैयक्तिकता और यांत्रिकता हैं; परन्तु इनके लिए हम रीति-कवि को सर्वथा दोषी नहीं ठहरा सकते। रीति-काव्यों में पाई जाने वाली यांत्रिकता तत्कालीन जीवन की यांत्रिकता है। राजा तथा प्रजा दोनों एक बँधी-बँधाई लीक पर चल रहे थे। रीति-कवि की रूढ़िवद्धता का मुख्य कारण इसका

अवैयक्तिक दृष्टिकोण है। उसके अभाव में रीति-काव्यों में चित्रित नर-नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व कहीं नहीं दिखाई पड़ता—दीखती हैं केवल बँधी-बँधाई उन्मादक चेष्टाओं तथा स्वभाव और गात्रज अलंकारों के वृत में चक्कर काटती हुई खेल-खिलौनों-सी नारियाँ। रीति-कवि का जीवन दर्शन एक सीमित कठघरे में बंधा हुआ है। इस घेरे से बाहर जाकर उसने कभी नीति और भक्ति की सूक्तियाँ भी कहीं, किन्तु वह शीघ्र ही अपने घेरे में लौटकर आराम की सांस लेता है। ऐसी दशा में उससे व्यापक जीवन दर्शन की आशा कैसे की जा सकती है? इस व्यापकता के अभाव में उसके काव्य में जीवन के विविध उतार-चढ़ाव, उत्थान-पतन और जीवन की स्फूर्तिदायिनी शक्तियों का न मिलना स्वाभाविक भी है। इस व्यापकता के अभाव के कारण उसमें गहराई और गम्भीर चिन्तन नहीं आ पाये हैं। ये आ भी कैसे सकते थे क्योंकि एक तो वह रसिकता प्रधान युग था और दूसरे, उस समय का कवि संस्कृत की ह्रासोन्मुख परम्परा का अन्धानुकरण कर रहा था। फलतः चिन्तन का स्थान प्रदर्शन और अलंकरणप्रियता ने ले लिया और उसके काव्य में हल्कापन आ गया। किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि रीति-कवि के गृहीत जीवन दर्शन से उस समय का समाज तथा हिन्दी-साहित्य कुछ भी उपकृत नहीं हुए। इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र के निम्न शब्द विशेष विचारणीय हैं—"उसमें न आत्मा की अतुल जिज्ञासा है न प्रकृति की दृढ़ कठोरता। वह तो जैसे जीवन का एक विराम स्थल है। जहाँ सभी प्रकार की दौड़ धूप से शान्त होकर मानव नारी की मधुर अंचल छाया में बैठकर अपने दुःखों और पराभवों को भूल जाता है। उसका आधारफलक इतना सीमित है कि जीवन की अनेकरूपकता के लिए स्थान नहीं है। उस पर अंकित जीवन चित्र भी स्वभावतः एकांगी है परन्तु उसमें एक मधुर रमणीयता, मन को विश्राम देने का गुण अवश्य है। घोर निराशा के इस युग में कवि किसी न किसी रूप में रस संचार करते रहे। मैं समझता हूं, कम से कम इसके लिए तत्कालीन समाज को उनका कृतज्ञ अवश्य होना चाहिए।"

निःसन्देह इनके दृष्टिकोण में अवैयक्तिकता, रूढ़िबद्धता और यांत्रिकता है, परन्तु इन्होंने जीवन को अपनी आँखों से देखने के कार्य को बन्द नहीं कर दिया था यह दूसरी बात है कि इनका गृहीत क्षेत्र अत्यन्त सीमित था परन्तु उस सीमिति क्षेत्र का चित्रण निश्चित रूप से स्तुत्य ही माना जायगा। आचार्य हजारी प्रसाद के शब्द इस सम्बन्ध में विशेष द्रष्टव्य हैं—"कवियों ने दुनिया को अपनी आँखों से देखने का कार्य बन्द नहीं कर दिया। नायिका भेद की संकीर्ण सीमा में जितना लोक चित्र आ सकता था इसका उतना चित्र निश्चय ही विश्वसनीय और मनोरम है उनका दोष जरूर है कि यह चित्र असम्पूर्ण और विच्छिन्न है।"

रीतिकालीन साहित्य में ऐन्द्रियता को देखकर इस साहित्य को गन्दी नालियों में फेंक देने की रट लगाने वाला आलोचक रीति कवि और उसके साहित्य के प्रति घोर अन्याय करेगा। ऐन्द्रियता छायावादी कविता शेफालिका आदि के वर्णन में भी

है। उसे किसी प्रकार की अश्लील अथवा शालीनता की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। हां अन्तर केवल इतना है कि रीतिकालीन नायिका का वर्णन ऐन्द्रिय मान लिया गया है और छायावाद की शेफालिका का वर्णन अतिन्द्रिय। डॉ० भगीरथ के शब्दों में—'इस धारा के कवि ने जीवन के लिए एक अदम्य वासना जागृत कर दी है, सौन्दर्यानुभूति और सुरुचि की एक सुकुमार कसौटी प्रदान की है। रूप-विवेचन का विवेक और भावों की परख की दृष्टि इस काव्य में मिलती है। यह काव्य रमणीय है जो इसे निन्दनीय और उपेक्षणीय समझते हैं वे यौवन के भावों और वसन्त के विकास को भी गर्हित करने की चेष्टा करते हैं। इस काव्य की प्रवृत्तियाँ विश्व-काव्य में भी सर्वत्र प्रचुर मात्रा में मिलती है और हिन्दी-साहित्य के भी प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों ही काव्यों में इन प्रवृत्तियों की सत्ता कम या अधिक मात्रा में खोजी जा सकती है। केवल एक चेतावनी इस काव्य के सम्बन्ध में दी जा सकती है और वह यह कि उसे चुने हुए रूप में पढ़ना अधिक श्रेयस्कर है।" तथ्य यह है कि इन्होंने साहित्य देवता के चरणों पर केवल घोंघे ही नहीं चढ़ाये वरन् बहुमूल्य रत्न भी अर्पित किये हैं। इस काल के कवि परम्परागत प्रवृत्तियों के ही आश्रित नहीं रहे वरन् उन्होंने नवीन उद्भावनायें भी की हैं और अपनी प्रतिभा द्वारा हिन्दी-साहित्य को अलंकृत भी किया है। आचार्य शुक्ल जैसे लोकसंग्रह के पक्षपाती आलोचक को भी इन कवियों के साहित्यिक सौन्दर्य के सम्बन्ध में लिखना पड़ गया था—'ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण-ग्रंथों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।' डॉ० नगेन्द्र के शब्द इस विषय में और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन पड़े हैं—"परन्तु जहाँ तक रूप अर्थात् विषयगत सौन्दर्य का सम्बन्ध था वहाँ इन नयनों की प्यास अमिट थी। वास्तव में इन कवियों से अधिक रूप पर रीझने की आदत और किसमें हो सकती थी। एक ओर बिहारी जैसे सूक्ष्मदर्शी कवि की निगाह सौन्दर्य के बारीक से बारीक संकेत को पकड़ सकती थी, तो दूसरी ओर मतिराम, घनानन्द, पद्माकर जैसे रससिद्ध कवियों की तो सम्पूर्ण चेतना ही जैसे रूप के पर्व में ऐन्द्रिय आनन्द का पान करके उत्सव मनाने लगती थी। नयनोत्सव का ऐसा रंग विद्यापति को छोड़कर प्राचीन साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।"

रीति काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों के विवेचन के पश्चात् रीति-काव्य की विशेषताओं का परिचय हम इस प्रकार दे सकते हैं :—

(१) रीति काल का काव्य यद्यपि शृंगार-प्रधान है पर इस शृंगार रस की साधना में जीवन के संतुलित दृष्टिकोण का नितांत अभाव है। इसमें ऐन्द्रियता की प्रचुरता है और रसिकता की प्रधानता है।

(२) प्रदर्शन-प्रधान युग में काव्य के बाह्य पक्ष अलंकरण की ओर कवि ने सर्वाधिक रुचि दिखाई। अलंकरण के इस अनावश्यक मोह के कारण कहीं-कहीं पर कविता कामिनी की आत्मा बुरी तरह से अभिभूत हो गई है। इस युग में वीर रसात्मक कविता भी हुई है।

(३) घुटनशील वातावरण से ऊब कर कभी-कभी उसने भक्ति और नीति-सम्बन्धी सूक्तियाँ भी लिखी हैं परन्तु उसका मन अपने सीमित घेरे में ही रमा है। भक्ति-सम्बन्धी दोहों के आधार पर उन्हें भक्त कवि नहीं कहा जा सकता है। भिन्न रुचि वालों के मनोरंजन के लिए रीति कवि ने शृंगार नीति, भक्ति, और वैराग्य विषयकउक्तियों का सृजन किया है :—

शृंगारे रमति चैकः वैराग्ये चरित चापरः।
नीतौ शिलसति चैकः रूचि भेदः हि कारणम् ॥

(४) उसने प्रायः मुक्तक काव्य लिखे क्योंकि वह युग काव्य के इसी स्वरूप के अनुकूल था। कवित्त, सवैया, दोहा और छप्पय छन्दों का प्रयोग किया गया।

(५) उसमें भाषा का परिमार्जन, सौष्ठव और प्रौढ़ता, उक्ति का वैचित्र्य और चमत्कार तथा भाव की मर्मस्पर्शिनी अभिव्यंजना मिलती है। इनकी भाषा ब्रज है पर उसमें अन्य बोलियों का भी सम्मिश्रण है। च्युत-संस्कृति का दोष उसमें अधिकांश कवियों में मिल जाता है।

(६) इस काव्य में लक्षण ग्रंथों के आधारभूत ग्रंथ प्रायः संस्कृत काव्यशास्त्र अथवा पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य-शास्त्र के ग्रंथ हैं। इनमें काव्य की विशेषताओं के समझने और समझाने का प्रयत्न किया है। इसमें काव्य शास्त्री-सम्बन्धी प्रौढ़ विवेचन का अभाव है, इन काव्यों में लक्षणों की अपेक्षा उदाहरण खंड अधिक लोकप्रिय उत्कृष्ट एवं सुन्दर हैं।

(७) यद्यपि रीतिकाव्य में शृंगारी-कविता की प्रधानता है किन्तु वीररस की क्षीण धारा भी उसके साथ-साथ प्रवाहित होती रही है। भूषण, लाल और सूदन आदि कवियों ने ओजस्विनी भाषा में वीर रसात्मक काव्य की सृष्टि की है।

(८) प्रकृति का परम्परा-भुक्त रूप में चित्रण है। आलम्बन रूप में उसका ग्रहण किया गया है। प्राय रीति कवि प्रकृति के प्रति तटस्थ-सा दीख पड़ता है।

(९) इन कवियों की अभिव्यंजना-प्रणाली विशेष मनोरम है। इनके नयनों में रूप की प्यास अमिट थी। बिहारी, मतिराम, घनानन्द पद्माकर जैसे कवियों की सम्पूर्ण चेतना सौन्दर्य से आमूल-चूल स्नात है।

(१०) सामन्ती वातावरण में साँस लेने वाले कवि का नारी-जीवन के प्रति अत्यन्त संकुचित और सीमित दृष्टिकोण रहा है। नारी उसके लिए एक मात्र भोग का उपकरण है, उसका सामाजिक महत्त्व कुछ भी नहीं।

(११) रीति कवि ने स्त्री पुरुष के यौन सम्बन्धों का चित्रण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है। इस दिशा में उन पर भारतीय काम शास्त्र का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा है।

(१२) राज सभा के कवियों में परस्पर स्पर्धा और प्रतियोगिता की भावनाओं का चलना अनिवार्य होता है। रीतिकवि भी इसका अपवाद नहीं है। राजदरबार में

अपनी उत्कृष्टता की सिद्धि की उत्कट लालसा ने रीति कवि में प्रतियोगिता और स्पर्धा की भावनाओं को खूब प्रोत्साहित किया।

(१३) रीति कवि के काव्य शास्त्री ग्रंथ तथा उसका शृंगारी काव्य संस्कृत के काव्य शास्त्र और उसकी शृंगारी परम्पराओं का अनुसरण करते रहे हैं, अतः उनमें मौलिकता और चिन्तन का अभाव है। रीति कवि में स्वतन्त्र चिन्तन के प्रति अवज्ञा एक खलने वाली वस्तु है।

(१४) रीति काल में केवल-शृंगारी-साहित्य का ही प्रणयन नहीं हुआ, बल्कि उसमें ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र, रमल शालिहोत्र काम शास्त्र, राजनीति, पाक शास्त्र, सुरादान तथा संगीत शास्त्र आदि का भी निर्माण हुआ है। रीति काल का साहित्य विविध-मुखी है, अतः उसे उसके वृहत् परिपार्श्व में देखना हितकर होगा।

(१५) रीति कवि ने वर्णक शैली का प्रयोग किया है। केशव और बिहारी का साहित्य उक्त शैली का निर्देशन है। रीति कवि का व्यक्तित्व उसकी व्यवहृत वर्जक शैली की अनुरूपता में है।

(१६) इनका जीवन-दर्शन रूढ़िबद्ध, अवैयक्तिक और यांत्रिक है। इनके द्वारा खचित जीवन चित्र अत्यन्त संकीर्ण और सीमित है पर वह निश्चित रूप से विश्वसनीय और मनोरम है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यह रीति-काव्य शास्त्र की दृष्टि से चाहे इतना महत्त्वपूर्ण न हो परन्तु कवित्व की दृष्टि से बड़ा मनोरम है। इस काव्य का साहित्यिक और ऐतिहासिक मूल्य अक्षुण्ण है।

रीति-कवि का रीति-निरूपण (आचार्यत्व)

हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल में रीति-निरूपण अथवा आचार्य कर्म का निर्वाह दो रूपों में सम्पन्न हुआ है। रीतिवद्ध कवियों ने साक्षात् रूप में लक्षण ग्रंथ लिखकर काव्यांगों का निरूपण किया है परन्तु रीतिसिद्ध कवियों ने लक्षण ग्रन्थ न लिखकर लक्ष्य ग्रंथों का निर्माण किया है, परन्तु इनके लक्ष्य ग्रंथों के उदाहरणों की पृष्ठभूमि में रीतिशास्त्र अवश्य काम कर रहा है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि रीतिसिद्ध कवि भी शास्त्र के पंडित अवश्य थे। इस प्रकार प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से रीति ग्रंथों का प्रणयन उस काल में प्रचुर रूप से हुआ। इस काल के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों को लक्ष्य रख कर हिन्दी के समर्थ आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में लिखा है—'हिन्दी में लक्षण ग्रंथों की परिपाटी पर रचना करने वाले सैंकड़ों कवि हुए हैं, वे आचार्य कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे।" आगे चलकर वे फिर लिखते हैं—"इन रीति-ग्रंथों पर निर्भर रहने वाले का ज्ञान कच्चा और अधूरा ही समझना चाहिए।"... "इन रीति ग्रंथों के कर्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना।"

आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त कथनों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे रीति-कालीन लक्षण-ग्रन्थकारों को आचार्य न मानकर कवि स्वीकार करते हैं। उन्होंने अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए अनेक युक्तियाँ भी दी हैं जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे। उनका कथन है कि हिन्दी-साहित्य में यह एक अनूठा दृश्य खड़ा हुआ। संस्कृत-साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न-भिन्न श्रेणियों के व्यति रहे हैं। हिन्दी काव्य-क्षेत्र में यह भेद लुप्त सा हो गया। यहाँ पर कवि और आचार्य कर्म को एक ही व्यक्ति ने निभाना चाहा। संस्कृत-साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति रहे हैं। संस्कृत-साहित्य में जिन लोगों ने कवि और आचार्य कर्म का एक साथ निर्वाह करना चाहा है वे आचार्य के नाते प्रसिद्ध हैं कवि के नाते नहीं। उदाहरणार्थ, आचार्य विश्वनाथ, क्षेमेन्द्र, राजशेखर और पंडितराज जगन्नाथ को विशेष सफलता और ख्याति आचार्यत्व के क्षेत्र में मिली है। तथ्य तो यह है कि दोनों परस्पर विरोधी कर्म हैं। एक में हृदय पक्ष की प्रधानता होती है तो दूसरे में मस्तिष्क पक्ष की। इन दोनों का साथ निभ सकना टेढ़ी खीर है। अस्तु, अपवाद तो सर्वत्र हुआ करते हैं। आचार्य शुक्ल ने रीति-कालीन कवियों को आचार्य मानने के पक्ष में निम्न दलीलें दी हैं :—

(क) आचार्यत्व के लिये जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन-शक्ति की आवश्यकता हुआ करती है उसकी इन लोगों में कमी थी।

(ख) इन हिन्दी-रीतिकाव्यों में काव्यांगों के विस्तृत निरूपण का अभाव है। तीक्ष्ण तर्कों द्वारा खंडन-मंडन नहीं हुआ है। इनमें नये-नये सिद्धांतों का कुछ भी प्रतिपादन नहीं हुआ है जब कि इनके बिना आलोचना के किसी भी प्रौढ़ सिद्धांत की स्थापना नहीं हो सकती है।

(ग) काव्यांगों के तर्कपूर्ण विवेचन के लिए सुव्यवस्थित और सुविकसित गद्य का होना आवश्यक होता है किन्तु रीतिकाल में गद्य का समुचित विकास नहीं हो पाया था और न ही इन लोगों ने विवेचनार्थ गद्य का अपेक्षित प्रयोग किया है जैसा कि संस्कृत-साहित्य में। दूसरा इन लोगों ने "चन्द्रालोक" की पद्धति को अपनाया। इस पद्धति से अभीष्ट स्पष्टीकरण आ ही नहीं सकता है।

(घ) उस काल में आचार्यत्व का परिस्थिति-जन्य मोह-सा उत्पन्न हो गया था। बिना आचार्यत्व के ज्ञान के राज्याश्रय-प्राप्ति असम्भव थी। राजा स्वयं कविता करने के लोलुप थे। केशव जैसे आचार्य उन्हें इस सम्बन्ध में शिक्षा दिये करते थे।

(ङ) इन रीति कवियों ने उप-रूपक और कुवलयानन्द अलंकार-ग्रन्थों को अपना आधार बनाया जबकि उक्त ग्रन्थों के रचना काल तक अलंकार और अलंकार्य का भेद भी स्पष्ट नहीं हो पाया था, तब उन ग्रन्थों के अनुकर्ता काव्यांगों का विवेचन कर पाते यह संभव भी कैसे था ?

(च) जब तक साहित्य के क्षेत्र में निश्चित वादों और काव्य-संप्रदायों की

स्थापना न हो जाये तब तक किसी भी साहित्यिक धारा की समुचित मीमांसा नहीं हो सकती है।

(छ) वस्तुतः ये रसिक कवि थे और इनका उद्देश्य भी कविता करना था। श्रृंगार के सरस पद्यों का तो इन्होंने सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया है किन्तु शास्त्रीय विषय को वे ठीक रूप से उपन्यस्त नहीं कर सके।

(ज) इन कवियों ने संस्कृत-साहित्य के उत्तरकालीन ह्रासोन्मुख शास्त्रीय ग्रंथों की शैली को अपनाया जबकि खंडन-मंडन की पद्धति समाप्त हो चुकी थी।

आचार्य शुक्ल ने इन रीति-कवियों द्वारा विवेचित काव्य-विशेष के आधार पर भी इनके आचार्यत्व को दिखलाया है।

(क) **रस**—इस क्षेत्र में इन्होंने किसी मौलिक उद्भावना से काम नहीं लिया है। मुख्य रूप से श्रृंगार रस का विवेचन किया गया है अन्य रसों की तो नाम-मात्र गणना है। रौद्र और बीभत्स जैसे विरोधी रसों को अन्तर्निहित कर दिया गया है। श्रृंगार रस भी क्या है नायक-चित्रण मात्र है। संस्कृत-साहित्य से भी अधिक संख्या में इन्होंने नायिकाओं की पलटनें खड़ी कर दी हैं। मानो इन्होंने अपनी सारी शक्ति, बुद्धि और कल्पना नायिका के भेदोपभेदों पर लगा दी हो। किन्तु इस नायिका भेद का कोई शास्त्रीय महत्त्व नहीं है। हाँ, देव ने संचारी भावों में एक ३४ वें संचारी भाव "छल" की कल्पना अवश्य की है, परन्तु वह भी निरर्थक हैं, क्योंकि छल का—अवहित्था नामक संचारी भाव में अन्तर्भाव हो जाता है।

(ख) **अलंकार**—इस क्षेत्र में प्रायः शब्दालंकारों को तो छोड़ ही दिया गया है। कुछ अलंकारों के लक्षण और उदाहरण अत्यन्त भ्रामक दिये गये, जैसे—भ्रम, सन्देह, स्मरण। भाविक छवि अलंकार की नवीन कल्पना निरर्थक है क्योंकि इसका अन्तर्भाव भाविक में ही हो जाता है। दास द्वारा आविष्कृत नवीन अलंकार—"सम्भावनातिशयोक्ति" सम्वंधातिशयोक्ति है और कुछ नहीं। केशव द्वारा निरूपित रूपकालंकार के भेद – अद्भुत, विरुद्ध और रूपकातिरूपक-नितांत असंगत हैं।

(ग) **शब्द-शक्ति**—शब्द-शक्ति-सम्बन्धी विवेचन विरलों ने किया है। उपमान-लक्षण का लक्षणोदाहरण असंगत है। देव ने जो "तात्पर्या" नाम की चतुर्थ शब्द-शक्ति का उल्लेख किया है। वह उसकी कोई नवीन उद्भावना नहीं है उसकी चर्चा "साहित्य-दर्पण" में पहले से ही हो चुकी थी। फिर सच तो यह है कि अभिधा के होने पर तात्पर्या की आवश्यकता ही नहीं।

(घ) **दृश्य-काव्य**—इन्होंने श्रव्य काव्य-सम्बन्धी विवेचन किया, दृश्य काव्य को तो बिल्कुल छोड़ ही दिया है। श्रव्य-काव्य के भी कतिपय अंगों का विवेचन किया है, काव्य-रूपी पुरुष के सभी अंगों का सामूहिक रूप से विवेचन नहीं किया।

आचार्य श्यामसुन्दरदास ने भी रीति-कवियों के आचार्यत्व-निरूपण के कार्य को एकांगी बताया है और आचार्य हजारीप्रसाद ने इस क्षेत्र में उनके स्वाधीन चिन्तन

के प्रति अवज्ञा के भाव को बताया है। इस प्रसंग में इन दोनों के कथन भी विशेष द्रष्टव्य हैं—

"आचार्य और कवित्व के मिश्रण ने भी ऐसी खिचड़ी पकाई जो स्वादिष्ट होने पर भी हितकर न हुई। आचार्यत्व में संस्कृत की बहुत कुछ नकल की गई और वह भी एकांगी।"
(आचार्य श्याम सुन्दरदास)

"शास्त्र मत की प्रधानता ने इस काल के कवि को अपनी स्वतन्त्र उद्भावना शक्ति के प्रति अति सावधान बना दिया। इन्होंने शास्त्रीय मत को श्रेष्ठ और अपने मत को गौण मान लिया। इसलिए स्वाधीन चिन्तन के प्रति एक अवज्ञा का भाव आ गया।"
(आचार्य हजारीप्रसाद)

हिन्दी रीति-ग्रन्थों के सम्बन्ध में ऊपर दिये गये विश्लेषण के अन्तर हमारे मन में स्वाभाविक रूप से कुछ प्रश्न उठने लगते हैं। क्या रीति-ग्रन्थकर्ता अपने उद्देश्य में एकमात्र असफल रहे हैं? क्या उसका रीति-सम्बन्धी ज्ञान अपरिपक्व था? क्या उनमें नवीन मौलिक उद्भावनाओं का अभाव था? क्या उससे हिन्दी-साहित्य कुछ भी उपकृत नहीं हुआ?

हिन्दी रीति-ग्रन्थों का परीक्षण करते समय हमें उनके दृष्टिकोण तथा उस युग की रुचि को कभी भी भुलाना नहीं होगा। रीति-ग्रन्थ कर्ता हिन्दी कवि के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए डॉ० भागीरथ मिश्र अपनी पुस्तक "हिन्दी-काव्य शास्त्र का इतिहास" में लिखते हैं—"वास्तविक तथ्य तो यह है कि इन हिन्दी लक्षण-कारों या रीति-ग्रन्थकारों के सामने कोई वास्तविक काव्यशास्त्रीय समस्या नहीं थी। इनका उद्देश्य विद्वानों के लिए काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों का निर्माण नहीं था, वरन् कवियों और साहित्य रसिकों को काव्यशास्त्र के विषयों से परिचित कराना था। संस्कृत के आचार्यों के समान हिन्दी-आचार्यों की परिपाटी यह नहीं बन पाई थी कि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का खंडन या मंडन कर के किसी सिद्धान्त या काव्यादर्श को आगे बढ़ाते। अतः यह एक तथ्य है कि हिन्दी-काव्यशास्त्र या रीति-ग्रन्थों के द्वारा भारतीय काव्यशास्त्र का कोई महत्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया। फिर भी काव्य के क्षेत्र में और हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियों के अध्ययन में इस प्रकार के काव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस परम्परा को लेकर लिखे गये ग्रंथों की संख्या भी बहुत बड़ी है।"

अब हम उक्त प्रश्नों का समाधान डॉ० नगेन्द्र द्वारा लिखित "रीति काव्य की भूमिका" नामक पुस्तक के आधार पर करेंगे।

मौलिक विवेचना—मम्मट के समन्वयकारी निरूपण के पश्चात् मूल सिद्धान्त-विषयक उद्भावनायें प्रायः निःशेष हो गईं। संस्कृत साहित्य में भी मम्मट के पश्चात् काव्य-सिद्धान्तों का केवलमात्र सम्पादन और स्पष्टीकरण ही होता रहा। फिर हिन्दी रीतिकार से उस मौलिक उद्भावना एवं स्वतन्त्र चिन्तन की आशा किस

प्रकार की जा सकती है। यदि हिन्दी लक्षणकार सिद्धान्तों का उचित विवेचन और स्पष्टीकरण कर देते तो भी खैर थी, परन्तु वैसा न कर सकने के कुछ कारण थे—

(१) संस्कृत साहित्य के उत्तरकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों को आश्रय रूप में ग्रहण करना।

(२) हिन्दी लक्षणकार द्वारा रचित रीति-ग्रंथों के श्रोता रसिक थे, पंडित नहीं। रसिकों में अन्तर्विश्लेषण की सूक्ष्मताओं को ग्रहण करने के लिए धैर्य कहाँ था ?

(३) गद्य के अभाव के कारण मार्मिक विवेचन सम्भव नहीं था।

(४) कुछ रीतिकवियों का रीति-सम्बन्धी ज्ञान अपरिपक्व था। उन्होंने काव्यशास्त्र सम्बन्धी गुत्थियों को सुलझाने की अपेक्षा उलझाया अधिक है। परिणामतः इस विषय में कई भ्रांतियाँ हुई।

(५) उनका उद्देश्य शौकीन मिजाज राजा, रईसों और रसिक नागरिकों को काव्यांगों का साधारण-सा ज्ञान कराना था। मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन उनका लक्ष्य नहीं था।

हाँ, हिन्दी के सभी रीतिकारों का ज्ञान अपरिपक्व था, वे स्वयं अधकचरे और अधूरे थे या वे संस्कृत से काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का अनुवाद भर भी प्रस्तुत नहीं कर सके हैं, सो ऐसी बात नहीं। इस वस्तु का ज्ञान हमें भली-भाँति उस समय के लक्षणकारों की निरूपण शैलियों के देखने के पश्चात् होगा। इस काल में काव्यांग-निरूपण की प्रधानतः तीन शैलियाँ रही हैं—काव्य प्रकाश के आधार पर, शृंगार-तिलक के आधार पर, चन्द्रालोक के आधार पर। काव्यप्रकाश की शैली पर लिखने वालों ने काव्य के सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। शृंगार तिलक की पद्धति पर नायिका के भेदोपभेदों का वर्णन किया गया है और चन्द्रालोक के आधार पर अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

काव्य प्रकाश की शैली पर लिखने वाले हैं—चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, श्रीपति, रसिक गोविन्द, सोमनाथ और जसवन्त सिंह। शताब्दियों के विस्तृत रीति-युग में यदि वास्तविक आचार्यत्व के कुछ अधिकारी कवि हुए हैं तो यही छः-सात ही। इन्होंने बड़ी गम्भीरतापूर्वक विषय का प्रतिपादन किया है। इनके आचार्यत्व में सन्देह एवं शंका की तनिक भी गुंजायश नहीं।

इसमें सन्देह नहीं कि कई लक्षणकारों के लक्षण और उदाहरण भ्रामक हैं तथा अस्पष्ट हैं और यह भी ठीक है कि इन पर निर्भर रहने वाले व्यक्ति का ज्ञान कच्चा और अधूरा होगा। परन्तु इनका अपना ज्ञान कच्चा और अधूरा था ऐसा कहना उनके प्रति महान् अन्याय करना होगा। प्रायः ये सभी रीतिशास्त्र के गम्भीर पंडित थे और इनका अध्ययन व्यापक था, किन्तु दुर्भाग्यवश उनके काव्य विवेचन का माध्यम गद्य नहीं था।

यह कहते समय कि हिन्दी लक्षणकार शब्द-शक्तियों और अलंकारों के पार्थक्य प्रदर्शन में उलझे रहे हैं और उनमें स्पष्टता नहीं ला सके क्योंकि हमें उन विषयों की नैसर्गिक जटिलता और सूक्ष्मता को भी भुलाना नहीं होगा कि ये विषय तो ऐसे हैं कि संस्कृत के अनेक आचार्य इसमें सफल नहीं उतर पाये। गुणों और रीतियों का विवेचन इसका प्रमाण है।

इन रीति-ग्रंथों में आई हुई अस्पष्टता का भी कारण स्पष्ट है। संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में सर्वप्रथम सूत्र, तदन्तर उस पर कारिका और फिर उस कारिका की विस्तृत व्याख्या गद्य में की गई है। तत्पश्चात् कोई सुपरिचित उदाहरण उपन्यस्त किया है। इस क्रम से संस्कृत साहित्य में अभीष्ट स्पष्टता आ पाई है। पर रीति-ग्रंथों में कवियों ने अपने उदाहरणों को घड़ा है। इस प्रकार कवित्व और पांडित्य का बड़ा अद्‌भुत सम्मिश्रण होता रहा। उन्होंने विषय की विस्तृत विवेचना के लिए गद्य का भी आश्रय नहीं लिया है, फिर अपेक्षित विवेचन-तत्व का उनके साहित्य में आ पाना असम्भव भी था। पर सारे के सारे लक्षणकार अधकचरे और अधूरे थे, ऐसा कहना तो अपनी अल्पज्ञता को प्रदर्शित करना होगा, दूसरा उस समय के लक्षणकार के प्रति अन्याय भी करना होगा। कुलपति मिश्र, दास, और रसिक गोविन्द ने पद्य को अपर्याप्त समझ कर व्याख्या के लिए गद्य का भी आश्रय लिया है। उन्होंने अनेकआचार्यों के विभिन्न मतों को भी उपन्यस्त किया है। इनका अनुवाद भी सर्वथा दोषरहित है।

हम ऊपर रीति-ग्रंथकारों की तीन शैलियों की चर्चा कर चुके हैं। इसमें दूसरी शैली है नायिका-भेद-निरूपण की। इसमें इनका विवेचन तर्क-सिद्ध न होकर रस-सिद्ध है। तीसरी शैली अलंकार-निरूपण की है। इसमें इनका उद्देश्य अलंकार निरूपण एवं विवेचन है। इस उद्देश्य में वे सफल रहे हैं। इन्होंने शब्द-अलंकारों की जो अपेक्षा की है उसका कारण चन्द्रालोक है।

इन लक्षण-ग्रंथकारों ने इस क्षेत्र में बिल्कुल भी किसी नवीन उद्‌भावना से काम नहीं लिया है, ऐसा कहना भी समीचीन नहीं है इस क्षेत्र में कुछ नवीन उद्‌भावना भी हुई हैं। जैसे रसराज शृंगार में सभी रसों की अन्तर्निहिति, शृंगार के भेद जैसे—प्रच्छन्न और प्रकाश। देव ने रस के लौकिक और अलौकिक दो भेद किये हैं। उन्होंने फिर अलौकिक रस के तीन भेद कर दिये हैं स्वाप्निक मनोरथिक तथा औपनायिक। भाव वर्णन के क्षेत्र में केशव ने जुगुप्सा के लिए निन्दा का प्रयोग किया है। अब नायिका भेद को लीजिए। हिन्दी का नायिका भेद संस्कृत की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत और व्यवस्थित है। आखिर पूरे दो सौ वर्षों तक हिन्दी के रीति-कवियों ने किया ही क्या है। उनके इस वर्णन को अशास्त्रीय भी नहीं कहा जा सकता है। नायिका का वात, पित और कफ के आधार पर विभाजन किया गया है जो कि प्रकृति के आधार पर

है। वात्स्यायन के कामसूत्र में भी नायिका के भेदों का विभाजन इसी आधार पर किया गया है। अलंकार क्षेत्र में जो भयंकर अव्यवस्था है इसका एकमात्र कारण चन्द्रालोक है। एक दोष इनका यह भी है कि इन्होंने अलंकारादि के निरूपण के समय अन्धानुकरण से काम लिया है। अपने युग का ध्यान नहीं रखा, अन्यथा कुछ अलंकारों को भी छोड़ा जा सकता था। इन्हें निरूपण के लिऐ जिस सुगम शैली को अपनाना चाहिए था उसे भी नहीं अपनाया।

यदि गम्भीरतापूर्वक देखें तो मालूम होगा कि इन बेचारों की सीमायें इतनी अधिक थीं कि सन्तोषजनक सफलता किसी को भी न मिल सकी। उनमें वांछित काव्य-मर्मज्ञता तो थी पर उसके पास उसे व्यक्त करने का उपयुक्त माध्यम नहीं था। दूसरे संस्कृत के प्रभाव से मुक्त होकर स्वतन्त्र विवेचन का साहस भी उनके पास नहीं था। अतः प्रथम कोटि के आचार्यों में तो इनकी गणना नहीं हो सकती और द्वितीय कोटि के व्याख्याकारों में इनका स्थान नीचे रह जाता है, परन्तु हिन्दी साहित्य में इनको आचार्य माना जा सकता है।

अन्त में हम उपर्युक्त विवेचन के सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में यह कह सकते हैं—"सारांश यह है कि इस युग में काव्य-मर्मज्ञ अनेक हुए हैं। प्रकांड विद्वानों की भी कमी नहीं थी। परन्तु एक तो युग की रुचि गम्भीर नहीं रह गई थी, लोग मीमांसा का नहीं, रसिकता का आदर करते थे। इसलिए इनकी दृष्टि संस्कृत के उत्तरकालीन अधोगत साहित्य-शास्त्र से ऊपर नहीं जा पाती थी। दूसरे, सबसे बड़ा अभाव गद्य का था जिसके कारण सूक्ष्म विश्लेषण संभव ही नहीं था। परिणाम यह हुआ कि इनका रीति-निरूपण वर्णनात्मक ही रह गया, विवेचनात्मक नहीं हो पाया।"

सच तो यह है कि रीतिकाल भारतीय संस्कृति और साहित्य का पुनरुत्थान काल है। इस काल में प्रायः संस्कृत-साहित्य के सभी विषयों के ग्रंथों का अनुवाद हिन्दी में हुआ, जिसका उद्देश्य उन सब विषयों का परिचय मात्र कराना था। ऐसी दशा में वर्णनात्मकता ही स्वाभाविक थी। यदि रीति-कवि को विवेचनात्मकता अपेक्षित होती तो वह निश्चित रूप से गद्य का प्रयोग कर सकता था। उसके समय में गद्य का सर्वथा अभाव नहीं था, बल्कि उसने इसकी जरूरत ही नहीं समझी। गद्य का प्रादुर्भाव भक्ति काल में हो चुका था और उसका यथावसर सदुपयोग भी किया जा चुका था।

इन लक्षण-ग्रंथकारों की आलोचना करते समय हमें यह भी याद रखना होगा कि वे जिस युग में सांस ले रहे थे वह रसिकता-प्रधान युग था और उसकी परितृप्ति ही इनका मुख्य उद्देश्य था फिर इनके विवेचन में अपेक्षित प्रौढ़ता, गंभीरता और परिपक्वता का आना सम्भव भी कैसे था। दूसरी बात एक और भी है, वह यह कि यह युग इन लक्षण-ग्रन्थों का प्रारम्भिक युग था। प्रारम्भ में गहनता और प्रौढ़ता का आना तनिक दुष्कर व्यापार है। संस्कृत साहित्य की इस दिशा में जो

प्रौढ़ता और अत्युच्च विवेचनात्मकता आ पाई है, वे शताब्दियों के चिन्तन और मनन का परिणाम हैं।

रीति-कालीन कवि का व्यक्तित्व बड़ा विलक्षण है। उसमें चारण, सभा कवि, राज-गुरु, आचार्य और भक्त का न्यूनाधिक समन्वय है :—

जानत हौं ज्योतिष पुराण और वैद्यक को,
जोरि २ आखर कवित्तन को उच्चारौं।
बैठि जानौ सभा मांझ राजा को रिझाय जानौं,
अस्त्र बांधि खेत मांझ सत्रुन सौं हौं लरौं,
राग धीर गाऊं और कुदाऊं घोड़े बाग धरि।
कूप ताल बरवरीन नारन में हौं तरौं।
दीनबन्धु दीनानाथ ये ते गुन लिये फिरौं,
करम न यारी देत ताको मैं कहा करौं॥

ये एक साथ कवि थे और शिक्षक भी। कवि होने के नाते इन्होंने शृंगार रस से परिपूर्ण प्रसंशापरक रचनाओं का निर्माण किया और शिक्षक होने के नाते विभिन्न काव्यांगों का परम्परागत शास्त्रीय विवेचन भी प्रस्तुत किया। उसके रीतिग्रंथ इस दोहरे उद्देश्य का लक्ष्य रखकर लिखे गये। इससे एक लाभ तो यह हुआ कि इन कवियों को शृंगार रस की धारा प्रवाहित करने के लिए साधन रूप में बहुत सी सामग्री अनायास मिल गई। दूसरा लाभ यह कि विलासप्रिय एवं कामुक राजाओं तथा उनके दरबारियों के लिये शृंगाररस के चषकों के साथ-साथ काव्यशास्त्र की शिक्षा भी श्रवण-श्रावण अथवा पठन-पाठन रूप में प्रस्तुत की जाती रही। इस प्रकार इन्होंने काव्यशास्त्र का एक प्रकार से द्वार खोल दिया जिसने हिन्दी के भावी काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों के लिये नींव का काम दिया। कम से कम उसके लिये हिन्दी साहित्य संसार को इनका उपकृत रहना होगा। हिन्दी के आचार्यों का उद्देश्य हिन्दी साहित्य-सम्बन्धी नवीन काव्यशास्त्र का निर्माण करना नहीं था, ये संस्कृत काव्य-शास्त्र का हिन्दी उल्था प्रस्तुत करना चाहते थे। इस कार्य में इन्हें थोड़ी बहुत सफलता मिली है।

रीति-कवि और आचार्य का दृष्टिकोण लगभग वही था जो कि १७६१ में कोक मंजरी के रचयिता आनन्द का है :—

मनुज रूप ह्वै अवतरयौ तीन बस्तु को जोग।
द्रव्य उपार्जन, हरि भजन अरु कामिनि संग भोग॥

इस प्रकार के दृष्टिकोण की ध्वनि बिहारी के "तंत्रीनाद कवित्त रस" में स्पष्ट रूप से मिलती है। ऐसी स्थिति में रीति कवि से किसी गहन शास्त्रीय विवेचन की आशा व्यर्थ होगी। रीति-काल में रीति-सम्बन्धी ग्रंथ दो प्रकार के निर्मित हुए हैं:—आचार्यत्व की दृष्टि से और रस-रीति की दृष्टि से। जिन ग्रंथों के नामों के पीछे विलास, विनोद, रहस्य, सागर तथा प्रबोध आदि शब्द लगे हुए हैं, वे रसिकता की

शिक्षा के उद्देश्य से लिखे गये हैं। ऐसे ग्रंथों को देखकर रीति कवि के आचार्यत्व के कच्चे और अधूरेपन की दुहाई देना अनुचित है। इसके अतिरिक्त रीति-सम्बन्धी कतिपय ऐसे ग्रंथ लिखे गये हैं जिनके नामों में कवि या काव्य शब्दों का प्रयोग मिलता है :—जैसे काव्य निर्णय, काव्य-कल्पद्रुम, काव्य-सरोज आदि। इनमें काव्य का सर्वांगीण विवेचन है जो कि पर्याप्त सन्तोषजनक है। रीति-ग्रंथों का एक तीसरा वर्ग यह है जिसमें अलंकार-निरूपण है। इस प्रकार के ग्रंथों में भूषण के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग मिलता है। विशुद्ध रीति की दृष्टि से पिछले दो प्रकार के ही ग्रंथ लिखे गये हैं अतः रीति-कवि के आंचार्यत्व की शक्तियों और परिसीमाओं के निर्णय करने से पहले हमें काव्यरीति और रसरीति के भिन्न २ उद्देश्यों से लिखे गये ग्रंथों के अन्तर को अवश्य जान लेना चाहिए। रसरीति के दृष्टिकोण से लिखे गये ग्रंथों में आचार्यत्व खोजना एक विफल प्रयास होगा।

हिन्दी में रीति ग्रंथों की परम्परा और आचार्य केशव

हिन्दी साहित्य में रीति-परम्परा का प्रवर्तन कोई आकस्मिक घटना नहीं है। इसका एक निश्चित आधार है और यह एक सुविकसित परम्परा के सहारे चली है। वैसे यह एक कथन चाहे हमें अतिशयोक्ति प्रतीत हो कि "हिन्दी में रीति का उदय उसके जन्म काल से हो गया था, परन्तु इतना तो निश्चित है कि उसकी इस प्रवृत्ति के प्रेरणा-स्रोत संस्कृत काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ हैं। यह प्रेरणा उसे अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश-काव्य से नहीं मिली। उसमें इसकी कोई परम्परा नहीं। दो-एक ग्रंथ छन्द, व्याकरण आदि पर अवश्य हैं जिनमें गौण रूप से किसी ग्रंथ के बीच में नायिका भेद, श्रृंगारादि का विवेचन है। परन्तु भक्ति और वीरगाथा-वर्णन की परम्परायें अपभ्रंश से रीतिकाव्य में नहीं आईं। इसका मुख्य प्रेरणा-स्रोत तो संस्कृत साहित्य ही है।

भक्ति-युग के उत्तर काल में रीतिकाव्य की परम्परा पड़ी और इस धारा के प्रवर्तन का श्रेय निश्चित रूप से आचार्य केशवदास को है। यद्यपि इस दिशा में केशव से पूर्व छिटपुटे प्रयत्न हुए किन्तु उनमें रीति धारा को प्रेरणा देने की सामर्थ्य नहीं थी। हिन्दी साहित्य के कई इतिहासकारों ने पुण्य या पुष्प (सं० १७७०) को जिसने संस्कृत के किसी अलंकार-ग्रंथ के आधार पर हिन्दी में अलंकार ग्रंथ लिखा, हिन्दी का प्रथम रीति कवि स्वीकार किया है परन्तु इस ग्रंथ का अस्तित्व संदिग्ध है। यदि वास्तव में उस समय का कोई ऐसा ग्रंथ मिल सके, तो वह न केवल रीतिकाव्य का वरन् हिन्दी का प्रथम ग्रंथ ठहरता है।

रीति काव्य में लिखा गया सबसे पहला ग्रंथ कृपाराम (१५९८) की "हित तरंगिणी" है। इसका आधार भरत का नाट्यशास्त्र और भानुदत्त की "रस मंजरी" है। मोहन लाल मिश्र का "श्रृंगार-सागर" (सं० १६१६), रहीम के "बरवै नायिका भेद", नन्ददास कृत "रस मंजरी"—ये तीनों नायिका भेद सम्बन्धी ग्रंथ हैं। रहीम ने

केवल नायिका-भेद के उदाहरण दिए हैं। नन्ददास की "रस-मंजरी" भानुदत्त की "रस-मंजरी" पर पूर्णतः आधृत है। सूरदास कृपाराम के सम-सामयिक थे। उनके अपने "सूर सागर" तथा "साहित्य लहरी" में नायिका-भेद तथा चित्रालंकारों का आभास परोक्ष रूप में मिल जाता है। अकबर के समकालीन कवि करनेस बन्दीजन ने "कर्णाभरण भूषण", "श्रुति भूषण" और "भूप भूषण" नामक तीनों ग्रंथ अलंकार विषय पर लिखे। निःसन्देह केशवदास से पूर्व इन उपर्युक्त रीतिग्रंथों का प्रणयन हो चुका था परन्तु इनमें से कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव रखने वाला ग्रंथ नहीं है। इन ग्रंथों में रीतिधारा की अखंडता नहीं है। इन कवियों में से किसी ने काव्य के एक ही अंग का विस्तृत वर्णन कर दिया है तो दूसरे ने काव्य के किसी दूसरे लघु अंग पर अपना लक्ष्य मात्र प्रस्तुत कर दिया है। सच यह है कि जिस युग में इन काव्यों का प्रणयन हुआ वह भक्तिनिष्ठ युग था। ये रीतिकाव्य परिमाण और गुणवत्ता में भक्तिकाव्यों से वरिष्ठ और श्रेष्ठ नहीं है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रीतिकाव्य की परम्परा डालने वाले सबसे पहले आचार्य केशवदास ही हैं। इन्होंने रीतिकाव्य का, अपनी रसिक-प्रिया और कविप्रिया में सर्वांग निरूपण किया है।

केशवदास ने भाषा कवियों के सामने हिन्दी काव्य-रचना का एक नवीन मार्ग खोल दिया जो शुद्ध साहित्यिक रचना का मार्ग था। इसलिए केशव का महत्त्व भारतेन्दु हरिश्चन्द के सामने उनके परवर्ती लेखकों ने बराबर स्वीकार किया है। इस नवीन मार्ग को खोलते हुए भी उन्होंने पूर्ववर्ती परम्परा का त्याग नहीं किया। उन्होंने वीर-गाथा वर्णन परम्परा को अपनाते हुए "वीरदेवसिंह चरित" तथा "जहाँगीर जस चांद्रिका" लिखी। ज्ञान और भक्ति की काव्य परम्परा में "विज्ञान गीता" और "राम-चंद्रिका" का प्रणयन किया। साथ ही कविप्रिया और रसिकप्रिया को लिखकर उन्होंने रीतिकाव्य की परिपाटी भी डाली। इस प्रकार भक्तिकाल में होते हुए भी इन्होंने एक सुनिश्चित रीतिकाव्य-परम्परा का प्रवर्तन किया। केशव ने "रसिकप्रिया" और "कवि-प्रिया" में काव्यशास्त्र के लगभग सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। उन्होंने भाषा का कार्य, कवि की योग्यता, कविता का स्वरूप और उद्देश्य, कवियों के प्रकार, काव्य-रचना के ढंग, कविता के विषय, वर्णन के विविध रूप, काव्य-दोष, अलंकार, रस, वृत्ति आदि विषयों पर अपने निजी ढंग से प्रकाश डाला है। हम पहले कह चुके हैं कि केशव ने काव्य के सभी सौन्दर्य-विधायक धर्मों को अलंकार कहा है। इस प्रकार केशव द्वारा गृहीत अलंकार बहुत व्यापक हैं, उसे काव्य-शास्त्र के परम्परात्मक सीमित अर्थ में समझना सगत न होगा। उसमें शब्द, अर्थ और शब्दार्थ अलंकारों के अतिरिक्त—भूमि भूषण—भूतल के प्राकृतिक दृश्यों, राज्यश्री भूषण - राजा सम्बन्धी वस्तुओं का सवि-स्तार वर्णन आदि अनेक विषय समाविष्ट हैं। इस प्रकार केशव के अलंकार में प्राकृतिक दृश्य, तथा समाज का व्यापक निरीक्षण भी समाहित है। हमें ऐसे लगता है कि केशव ने अलंकार के अन्तर्गत मध्यकाल के वर्णक कवि के सभी वर्ण्य-विषयों का यत्किंचित समावेश कर लिया है। इनमें यद्यपि विषयों का पूर्ण विवेचन, पूर्ण ज्ञान और

मौलिक सिद्धांत सर्जन की क्षमता का अभाव है। वे चमत्कार-प्रिय और अलंकारवादी कवि हैं। उनका सिद्धांत वाक्य है—

जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त ।।

उन पर पूर्व ध्वनि-काल का प्रभाव स्पष्ट है। केशव ने भामह, दंडी और केशव मिश्र आदि संस्कृत के आचार्यों का अनुकरणमात्र किया है, उन्होंने किसी भी मौलिक काव्य सिद्धांत को जन्म नहीं दिया है। परन्तु इतना होने पर भी केशव का हिन्दी-क्षेत्र में प्रथम आचार्यत्व असंदिग्ध है। रीति-परम्परा के प्रवर्त्तन का श्रेय केशव को छोड़कर न तो उनके किसी पूर्ववर्ती हिन्दी कवि को दिया जा सकता है और न उनके किसी परवर्ती कवि को। कृपाराम का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है, सर्वांग-निरूपण की दृष्टि से उनका कोई स्थान नहीं है। चिन्तामणि भी केशव की समकक्षता में नहीं आ सकते। चिन्तामणि के बाद रीतिकाव्य ग्रंथों की अविच्छिन्न परम्परा चल पड़ने से उन्हें रीति-मार्ग-प्रवर्तन का श्रेय मिलना एक संयोग मात्र है।

किन्तु आचार्य शुक्ल ने रीति परम्परा का प्रवर्तक आचार्य केशव को न मान कर चिन्तामणि को माना है। शुक्ल जी का इस सम्बन्धामें कहना है कि—"हिन्दी में रीति-ग्रंथों की अविरल और अखण्डित परम्परा का प्रवाह केशव की कविप्रिया के ५० वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को नहीं।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"हिन्दी रीति-ग्रंथों की अखंड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए।" हिन्दी लक्षणकारों ने केशव के आदर्श को न अपनाकर भिन्न-आदर्श को अपनाया — इस बात को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—"केशव के दिखाये हुए पुराने आचार्यों (भामह, उद्भट आदि) के मार्ग पर न चलकर परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली जिस में अलंकार, अलंकार्य का भेद हो गया था। हिन्दी के अलंकार ग्रंथ अधिकतर चंद्रालोक और कुवलयानन्द के अनुसार निर्मित हुए। कुछ ग्रंथों में काव्य प्रकाश और साहित्यदर्पण का भी आधार पाया जाता है। काव्य के स्वरूप और अंगों के सम्बन्ध में हिन्दी के रीतिकार कवियों ने संस्कृत के इन परवर्ती ग्रंथों का मत ग्रहण किया। इस प्रकार देवयोग से संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास की एक संक्षिप्त उद्धरणी हिन्दी में हो गई।" आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त शब्दों के अध्ययन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि उन्होंने निम्न कारणों के आधार पर केशव को रीति ग्रंथों का प्रवर्तक नहीं माना है :—

(१) एक तो रीति की अखण्ड परम्परा केशव के पचास वर्ष बाद में चली।

(२) परवर्ती रीतिकारों ने भिन्न आदर्श को अपनाया और केशव का स्मरण तथा अनुसरण तक नहीं किया।

(३) केशव तुलसी के समकालीन हैं अतः वे भक्ति युग में ठहरते हैं। कदाचित् शुक्ल ने इसीलिए केशव को भक्ति युग के फुटकर कवियों में रखा है।

इस अध्ययन के अनन्तर हमारे सम्मुख आचार्य केशव से संबद्ध नाना प्रश्न उपस्थित होते हैं।

(१) क्या उनके रसिकप्रिया और कविप्रिया रीति-परम्परा से बाहर ठहरते हैं ? क्या उनमें काव्यशास्त्र के अंगों का सर्वांग-निरूपण नहीं हुआ ?

(२) क्या केशव ने रीतिशास्त्र का सर्वांग-निरूपण करके रीति-परम्परा का प्रवर्तन नहीं किया ?

(३) क्या रीति-परम्परा के भिन्न आदर्श को ग्रहण करके केशव के ५० वर्ष पश्चात् प्रवाहित होने से उन्हें (केशव को) इस श्रेय से वंचित कर दिया जाय ?

(४) क्या हम प्रवर्तक का यह अर्थ लगायें कि जिससे परवर्ती लोग प्रेरणा पाकर उसका अनुकरण करें ?

इस तथ्य से हिन्दी-साहित्य का कोई विद्वान् इन्कार नहीं करता कि रसिकप्रिया और कविप्रिया में काव्य का सर्वांग-निरूपण है। अतः इन ग्रंथों को रीति-परम्परा के बाहर कदापि नहीं रखा जा सकता। यह ठीक है कि केशव के अलंकारवादी तथा चमत्कारवादी होने के कारण इन ग्रंथों में काव्य-समीक्षा संतुलित और सुव्यवस्थित नहीं है, उसमें कदाचित् एकांगिता है। पर दृष्टिकोण की एकांगिता के लिए केशव को रीति-परम्परा के प्रवर्तन के श्रेय से वंचित करना असंगत होगा। वक्रोक्तिकार तथा 'रीतिकार' के दृष्टिकोण भी तो संकुचित थे पर क्या उन्हें इनके सम्प्रदायों के प्रवर्तन के श्रेय से वंचित किया जाता है ? निःसन्देह केशव के पचास वर्ष पश्चात् एक भिन्न आदर्श को लेकर रीति-परम्परा प्रवाहित हुई और वह भी चिन्तामणि से। इस सम्बन्ध में हम पहले ही कह चुके हैं कि इसे एक सुयोग ही समझना चाहिए। केशव के युग में कवियों और जनता की मनोवृत्ति रीति-परम्परा के प्रति उतनी झुक नहीं पाई थी और यह स्वाभाविक भी था क्योंकि केशव से तो इस परम्परा का सुनिश्चित आरम्भ ही हुआ था। हम कह सकते हैं कि केशव को इतनी अच्छी परिस्थितियाँ नहीं मिलीं जितनी कि चिन्तामणि को।

शेष रही भिन्न आदर्श को लेकर चलने की बात और केशव के अनुकरण एवं स्मरण का प्रश्न। सच तो यह है कि न ही तो चिन्तामणि ने किसी निजी मौलिक आदर्श की स्थापना की है और न ही केशव ने। केशव ने अलंकार सम्प्रदाय का अनुसरण किया है और चिन्तामणि ने किसी भिन्न सम्प्रदाय का। दोनों ने संस्कृत काव्यशास्त्र का अनुसरण किया है और परवर्ती रीति-कवियों ने भी संस्कृत के काव्य-शास्त्र का अनुसरण कियां है। आचार्य मम्मट से पूर्व संस्कृत साहित्य में कितने ही सम्प्रदाय प्रचलित थे और कितने ही काव्यशास्त्रीय ग्रंथ; पर उन्होंने अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण और पैनी दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती काव्य-सम्प्रदायों का एक संतुलित सामंजस्य अपने 'काव्यप्रकाश' में उपस्थित किया। बाद में संस्कृत आचार्यों ने मम्मट का अनुकरण किया। पर इसका तात्पर्य यह कभी भी नहीं कि मम्मट से पूर्ववर्ती

काव्य-सम्प्रदाय और उनके प्रवर्तकों के महत्व और अस्तित्व निःशेष हो जायेंगे। हमें वामन को रीति-सम्प्रदाय का तथा कुन्तक को वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का प्रवर्तक मानना ही पड़ेगा, भले ही उनके परवर्ती आचार्यों ने उनके आदर्श का अनुकरण न भी किया हो और फिर काव्यशास्त्र में खंडन-मंडन तथा एक नवीन आदर्श की प्रतिष्ठा की बात तो चलती ही रहती है। ऐसी बात नहीं कि परवर्ती हिन्दी के रीति-कवियों ने केशव का स्मरण न किया हो। केशवदास के प्रति देव और दास जैसे महाकवियों ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है, किन्तु किसी ने चिन्तामणि का आचार्य कवि के रूप में स्मरण नहीं किया।

केशव तुलसी के समकालीन होने के नाते भक्ति-युग में आते हैं, जबकि रीतिकाल का आरम्भ सं० १७०० वि० से है। इस आधार पर भी केशव को प्रवर्तक आचार्य के पद से वंचित नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में आचार्य श्यामसुन्दर-दास के विचार पठनीय हैं—"यद्यपि समय-विभाग के अनुसार केशवदास भक्ति-काल में पड़ते हैं और यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास आदि के समकालीन होने तथा राम-चन्द्रिका आदि ग्रंथ लिखने के कारण ये कोरे रीतिवादी नहीं कहे जा सकते, परन्तु उन पर पिछले काल के संस्कृत-साहित्य का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वे अपने काल की काव्यधारा से पृथक् होकर चमत्कारवादी कवि हो गये और हिन्दी में रीति-ग्रंथों की परम्परा के आदि आचार्य कहलाये।"

हम केशव के बहुमुखी व्यक्तित्व की तुलना पहले ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से कर चुके हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समान उनके परवर्ती लेखकों ने उनका महत्व बराबर स्वीकार किया है। केशव ने रीति-परम्परा के इस नवीन मार्ग को खोलते हुए भी अपनी पूर्ववर्ती परम्परा का त्याग नहीं किया। उन्होंने वीरगाथा परम्परा को अपनाते हुए 'वीरसिंहदेवचरित' तथा 'जहाँगीर जस चन्द्रिका' लिखी। ज्ञान और भक्ति काव्य की परम्परा में विज्ञान-गीता और रामचन्द्रिका का प्रणयन किया, साथ ही कविप्रिया और रसिकप्रिया को लिखकर उन्होंने रीतिकाव्य की परिपाटी भी डाली। रीतिकालीन कवियों और आचार्यों ने थोड़े-बहुत हेर-फेर के पश्चात् केशव-काव्य की प्रवृत्तियों का अनुसरण अपने काव्यों में किया है। अतः केशव केवल रीति-परम्परा के ही प्रवर्तक नहीं ठहरते प्रत्युत रीतिकालीन साहित्य में उपलब्ध होने वाली अन्य प्रमुख प्रवृत्तियों के भी प्रवर्तक ठहरते हैं। हम यह निःसंकोच भाव से कह सकते हैं कि रीति-परम्परा को सुप्रवर्तित और पूर्णतः प्रतिष्ठित करने का श्रेय केशव को ही है। वे केवल रीतिकाल और रीति-परम्परा के प्रवर्त्तक आचार्य ही नहीं है बल्कि हिन्दी-रीतिकाव्य में रस-रीति के प्रतिष्ठापक भी हैं, अतः इन दोनों दृष्टियों से केशव का महत्त्व अक्षुण्ण है।

केशव के पश्चात् चिन्तामणि का नाम आता है। उन्होंने काव्यशास्त्र को अत्यन्त सरल रूप में प्रस्तुत किया है और इस प्रयत्न में वे सफल भी रहे हैं। रीति

ग्रन्थकारों में सरल और सुबोध शैली में लिखने वाला चिन्तामणि-जैसा और कोई भी दूसरा आचार्य नहीं है। इन्होंने 'पिंगल', 'रस मंजरी', 'शृंगार-मंजरी' तथा 'कविकुल कल्पतरु' नाम के ग्रन्थ लिखे हैं।

चिन्तामणि के साथ मतिराम और भूषण का नाम आता है। ये दोनों पारिवारिक तथा साहित्यिक दृष्टि से चिन्तामणि से प्रभावित हैं, परन्तु फिर भी इनका अपना अलग व्यक्तित्व, महत्व और क्षेत्र है। मतिराम ने शृंगार रस का चित्रण किया है, जबकि भूषण ने वीररस का। भूषण का 'शिवराज भूषण' अलंकार ग्रन्थ है पर रीति ग्रन्थ की दृष्टि से अलंकार निरूपण के विचार से यह ग्रन्थ उत्तम नहीं कहा जा सकता। लक्षणों की भाषा स्पष्ट नहीं है और उदाहरणों में भी कई-कई जगह अव्यवस्था है। मतिराम ने 'रस राज' और 'ललित ललाम' दो रीति ग्रन्थ लिखे हैं। रस और अलंकार की शिक्षा के लिए ये ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी हैं। अपनी सरसता और स्पष्टता के कारण ये दोनों ग्रन्थ रीतिकाल में अत्यन्त प्रिय हुए।

इन रीति-ग्रन्थकारों में कुलपति, सुखदेव और देव के नाम भी उल्लेखनीय हैं। कुलपति का 'रस रहस्य' मम्मट के काव्यप्रकाश के आधार पर लिखा गया है। इसमें ध्वनि-सिद्धान्त का सम्यक् प्रतिपादन है। सुखदेव मिश्र ने छन्दों और रसों को लेकर लिखा है। इनके उदाहरण अत्यन्त रोचक और महत्वपूर्ण हैं। देव में आचार्यत्व और कवित्व दोनों की ही उत्कृष्टता विद्यमान है। इनके आचार्यत्व के सम्बन्ध में शुक्ल जी लिखते हैं—"कुलपति और सुखदेव ऐसे साहित्यशास्त्र के अभ्यासी पंडित भी विशद रूप में सिद्धान्त-निरूपण का मार्ग नहीं पा सके।···अतः आचार्य के रूप में देव को भी कोई विशेष स्थान नहीं दिया जा सकता।"

देव के उपरान्त और आधुनिक युग के पूर्व तक लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक रीति-काव्य का खूब विस्तार हुआ। इस बीच के लक्षणकारों में सुविख्यात कालिदास, सूरतिमिश्र, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, दुलह, वैरीसाल, पद्माकर, वेनी रसिक-गोविन्द, प्रतापसाहि आदि हैं। इनके द्वारा रीति परम्परा को एक निश्चित और दृढ़ स्वरूप प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त सैंकड़ों अन्य कवियों ने भी इस रीतिपद्धति का अवलम्बन करके अपनी काव्य-रचना इस युग में की। वास्तव में यह समय ही ऐसा था कि रीति या लक्षण-ग्रन्थों की न केवल राज दरबारों में बल्कि जनता के बीच में भी प्रशंसा होती थी।

कालिदास ने "वधू-विनोद" नामक ग्रंथ नायिका भेद पर लिखा परन्तु इनकी ख्याति का आधार ग्रंथ 'कालिदास हजारा' है। इसमें एक सहस्र कवियों की रचनाओं का चुना हुआ संग्रह है। सूरति मिश्र का प्रधान ग्रंथ 'काव्य-सिद्धान्त' है जिसमें काव्य-शास्त्र के लगभग सभी अंगों का विवेचन अधिकारपूर्ण ढंग से किया गया है। इस काल के अति प्रसिद्ध आचार्यों में श्रीपति और भिखारीदास हैं। श्रीपति ने प्रायः काव्य के सभी अंगों का मार्मिक वर्णन किया है। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों और आचार्यों के दोषों का भी निर्देशन किया है। आचार्य भिखारी दास पर इनके बहुत कुछ प्रभाव

है। इनका लक्षण ग्रन्थ है 'काव्य सरोज।' सोमनाथ ने 'रसपीयूषनिधि' एक विशाल काव्य रीति-ग्रंथ लिखा है। ये ध्वनि-सिद्धान्त के अनुयायी हैं। इन्होंने काव्य के सभी अंगों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है। सोमनाथ वास्तव में श्रीपति और भिखारीदास के ही समकक्ष ठहरते हैं।

भिखारी दास रीति काल के अन्तिम बड़े आचार्य हैं। इनके ग्रन्थ हैं – 'काव्य निर्णय', 'शृंगार निर्णय', 'छन्दोर्णव विमल' और 'रस सारांश'। इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य निर्णय' है। यह साहित्यशास्त्र का उत्कृष्ट ग्रंथ है। इसमें दास जी का विवेचन बड़ा ही सुलझा हुआ और वैज्ञानिक है। इन्होंने काव्यशास्त्र सम्बन्धी कुछ नवीन उद्भावनायें भी की हैं। वस्तुतः आचार्य भिखारीदास काव्यशास्त्र के एक गम्भीर एवं प्रकाण्ड पंडित थे।

दूलह कवि ने अलंकारों पर 'कवि कुल कंठाभरण' नामक ग्रंथ लिखा। इसमें लक्षण-उदाहरण एक साथ चलते हैं। ऐसा ही वैरीसाल का 'भाषाभरण' भी अलंकारों पर लिखा गया सुन्दर ग्रन्थ है।

रीति-काल के अन्तिम अति प्रसिद्ध कवि पद्माकर रीति-परम्परा के वास्तव में अन्तिम प्रतिभासम्पन्न कवि थे। इन्होंने 'जगद्विनोद' और 'पद्माभरण' दो रीति-ग्रन्थ लिखे हैं। इनका 'जगद्विनोद' मतिराम के 'रसराज' के समान रसिकों और काव्य अभ्यासियों दोनों का कंठहार रहा है। वास्तव में यह शृंगार रस का सार ग्रन्थ प्रतीत होता है। बेनी का 'नव रस तरंग' भी काव्य की दृष्टि से उत्कर्ष है। परन्तु लक्षण महत्व के नहीं हैं। रसिक गोविन्द का "रसिक गोविन्दानन्द घन" काव्यशास्त्र पर लिखा गया काव्य-ग्रन्थ है। इसमें नाटक शास्त्र, साहित्य-दर्पण और काव्यप्रकाश का आधार लिया गया है। प्रतापसाहि का प्रमुख ग्रन्थ 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' है। संक्षिप्त शैली होने के कारण यह ग्रन्थ अत्यन्त गूढ़ बन पड़ा है।

इन लक्षणकारों के अतिरिक्त रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त कवियों ने इस परम्परा में परोक्ष रूप से लिखा है। इन्होंने लक्षण नहीं दिये केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किये हैं। इन पर भी रीति-परम्परा का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य ही है। बिहारी की सतसई की पृष्ठभूमि में निश्चित रूप से रीति-परम्परा काम कर रही है। स्वच्छन्द रीति से लिखने वाले प्रेमी कवि हैं घनानन्द, बोधा, सीतल, ठाकुर आदि। इनमें हमें स्वछन्द प्रेमोक्तियाँ मिलती हैं जो पद्माकर, मतिराम, देव आदि के छन्दों के समान ही हैं। अतः इस पर भी परोक्ष रूप से रीति-परम्परा का प्रभाव देखा जा सकता है।

रीतिकाव्य की परम्परा रीतिकाल तक ही समाप्त नहीं हो जाती वरन् आधुनिक समय तक यह बराबर चलती आ रही है। सं० १९०० वि० के पश्चात् भी लक्षण-ग्रन्थ लिखे गये, परन्तु इन ग्रन्थों की विशेषता यह है कि इनमें अधिकांश में लक्षण और व्याख्या गद्य में ही प्रस्तुत किये गये हैं। इन्होंने अपने उदाहरण न जुटा

कर पूर्ववर्ती कवियों के उदाहरण दिये हैं। इन ग्रंथों में विषय के स्पष्टीकरण पर अधिक बल दिया है। आधुनिक युग के प्रमुख रीतिकार और प्रमुख रीति ग्रंथ हैं—रामदास का 'कवि कल्पद्रुम', ग्वाल के 'कविदर्पण' आदि बहुत से ग्रंथ, लछिराम के ग्रंथ, मुरारिदान का जसवन्त भूषण, प्रताप नारायण का रस कुसुमाकर, भानु का काव्य प्रभाकर, पोद्दार का काव्य कल्पद्रुम, रसाल का अलंकार पीयूष, केडिया का भारतीभूषण, हरिऔध का रस कलश, बिहारीलाल भट्ट का साहित्य सागर, मिश्र न्धु का साहित्य पारिजात आदि ग्रंथ।

रीति-काल की रीतिबद्ध और रीतिमुक्त धारा

रीतिकालीन कवियों को स्पष्ट रूप में दो प्रमुख धाराओं या भागों में रखा जा सकता है—एक है रीतिबद्ध और दूसरी है रीतिमुक्त। इन भागों के बीच का एक और उपविभाग किया जा सकता है जिस उपविभाग या धारा में आने वाले कवियों को हम रससिद्ध या रीतिकाव्य-कवि के नाम से अभिहित कर सकते हैं।

रीतिबद्ध (लक्षणबद्ध) काव्य—रीतिबद्ध काव्य-लेखक वे हैं जिन्होंने शास्त्र स्थित-सम्पादन किया है। इन्होंने संस्कृत के काव्य शास्त्र के आधार पर काव्यांगों के लक्षण देते हुए उनके सुन्दर उदाहरण जुटाये हैं। इन्हें शास्त्र-कवि भी कह सकते हैं। इन आचार्य कवियों ने अपने आपको "कवि शिक्षक" के पद से भी अभिहित किया है। इन्होंने उस समय के राजा, रईसों, कवि, समाज तथा रसिक जनों के लिए काव्यांगों का निरूपण किया है। इनका उद्देश्य था संस्कृत साहित्यशास्त्र का हिन्दी में अनुवाद भर प्रस्तुत कर देना, किसी काव्य-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करना नहीं। अतः हिन्दी के लक्षण-ग्रंथों में कोई विशेष गहराई नहीं आ पाई जैसा कि संस्कृत के काव्यशास्त्र में। इन पर संस्कृत साहित्य के रस, अलंकार तथा ध्वनि-सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ा है। ये एक बँधी-बँधाई परिपाटी पर चलते रहे, किसी नवीन मौलिक उद्भावना को जन्म नहीं दे सके। इन्होंने विषय-सामग्री-चयन में सरल मार्ग का अवलम्बन लिया। प्रायः ये नायक-नायिका भेद तथा अलंकार-निरूपण में लगे रहे काव्य-शास्त्र की किसी जटिल समस्या को नहीं छुआ। और जहाँ इस दिशा में प्रयास किया भी है वहाँ असफल रहे हैं। इन आचार्य-कवियों ने काव्यांग-निरूपण में पद्यात्मक शैली को अपनाया और इसीलिए उनमें यत्र-तत्र अस्पष्टता आ गई।

रीतिबद्ध आचार्य-कवियों में कवित्व और आचार्यत्व का एक अद्भुत एकीकरण मिलता है। एक ओर तो इन्होंने विशुद्ध लक्षण-ग्रंथ लिखे जिनमें पद्यात्मक लक्षण के उपरान्त सरस उदाहरण जुटाये, पर दूसरी ओर इन्होंने लक्षणों के भार से मुक्त शृंगार-रस-संवलित काव्य-ग्रंथ भी लिखे, परन्तु यहाँ भी इनकी 'कविता-कामिनी रीति के भार से कुछ अभिभूत सी हो गई है। ऐसे ग्रंथों में भी कलापक्ष की प्रधानता है और पच्चीकारी की प्रचुरता है। इसमें पग-पग पर श्रम-साध्यता और यांत्रिकता है। इन ग्रंथों में भी राजदरबारी आचार्य-कवि का उद्देश्य पाँडित्य और

काव्य-कौशल का प्रदर्शन रहा है। सर्वत्र उसके अहं की प्रधानता है और उसने आलंकारिक शैली में पहेलियां बुझाई हैं। इन कवियों में स्वतन्त्र भावना का मार्ग प्रायः मानो अवरुद्ध-सा हो गया था।

इस वर्ग में दो प्रकार के कलाकार हुए। एक तो वे जिन्होंने लक्षण-ग्रंथ भी लिखे और साथ लक्ष्य-ग्रंथ भी। इस कोटि में देव, मतिराम, चिन्तामणि, केशव, पद्माकर आदि आते हैं। इनके दोनों प्रकार के काव्यों में रूढ़िबद्धता लक्षित होती है। दूसरे वे हैं जिन्होंने केवल लक्षण-ग्रंथ लिखे। ये काव्यशास्त्राभ्यासी पंडित थे, जैसे श्रीपति आदि।

रीतिसिद्ध कवि या रीतिबद्ध काव्य—ऊपर हम रीतिबद्ध रीतिकालीन-साहित्यकारों को दो भागों में विभक्त कर चुके हैं। रीतिबद्ध आचार्य-कवि वे हैं, जिन्होंने लक्षण ग्रंथ और लक्ष्य-ग्रंथ दोनों लिखे हैं। दूसरा वर्ग है रीतिबद्ध आचार्यों का जिन्होंने केवल लक्षण-ग्रंथों का निर्माण किया। इसके अतिरिक्त एक ऐसा वर्ग है जिसके कवियों ने रीति-काव्य की बंधी हुई परिपाटी में आस्था रखते हुए भी लक्षण-ग्रंथों का प्रणयन नहीं किया। इन्होंने स्वतन्त्र ग्रंथों के द्वारा अपनी कवि-प्रतिभा का परिचय दिया। राजशेखर ने ऐसे कवियों के लिए 'काव्य-कवि' के पद का प्रयोग किया है। हिन्दी साहित्य के विद्वानों ने ऐसे कवियों के लिए रीतिबद्ध शब्द का व्यवहार किया है। आचार्य कवियों ने अपने ग्रंथों में कवि शिक्षक होने की अभिलाषा का स्पष्ट संकेत किया है। पर इन काव्य-कवियों में रीति का बन्धन स्वीकार करने पर भी इस अभिलाषा के ठीक विपरीत कवि-गौरव की अभिलाषा है, आचार्य या कवि शिक्षक होकर वे पाठ्य-ग्रंथ तैयार करने में कोई रुचि नहीं रखते थे। इसी कारण इन कवियों को रीतिबद्ध काव्य-कवि के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इन काव्य-कवियों की एक और भी विशेषता है कि वे कवित्व के लोभ में चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ बांधने में लीन रहते थे। उन्हें अपनी कविता को लक्षण-विशेष के सांचे में ढालने के लिए विशेष चिन्ता नहीं रहती थी। इन्होंने स्वानुभूति के आधार पर मौलिक काव्य की रचना की। स्वतन्त्र उद्भावना के लिए जितना अवकाश उन कवियों के पास था उतना रीतिबद्ध आचार्य कवि के पास नहीं था। यही कारण है कि इन कवियों में वैयक्तिकता अपेक्षाकृत अधिक उभरी है। काव्य कवियों ने भाव-पक्ष और कलापक्ष को समान रूप में महत्व दिया है। इन कवियों की कविता आत्मा रीति के भार से अधिक आक्रान्त नहीं हुई क्योंकि इन्होंने स्वतन्त्र रूप से लक्षण ग्रंथों की रचना नहीं की, भले ही कविता की पृष्ठभूमि में कहीं-कहीं रीति-परम्परा भी काम कर रही है। भावाभिव्यक्ति के लिए इन्होंने भी आलंकारिक शैली का अवलंबन लिया। बिहारी रीति-कवियों के इसी वर्ग में आते हैं। रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों में स्पष्ट रूप में विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है, क्योंकि इन दोनों के उद्देश्य में पर्याप्त अन्तर है। हिन्दी के कुछ विद्वानों ने बिहारी को रीतिबद्ध आचार्य-कवि सिद्ध करने का प्रयास किया है किन्तु बिहारी

रीतिबद्ध कवि ठहरते हैं। उनकी सतसई के प्रत्येक दोहे में नायक-नायिका भेद या अलंकारों की पृष्ठभूमि बताना ठीक नहीं है। नायिका भेद या अलंकार, रस, ध्वनि आदि का वर्णन तो सभी रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों में भी उपलब्ध होता है। घनानन्द, आलम आदि में ये तत्व पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो जाते हैं तो उन्हें भी आचार्य कवि कहा जायगा।

रीतिमुक्त धारा—यद्यपि १७ वीं शताब्दी के बाद के साहित्य में रीतिबद्ध काव्य लिखने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बलवती होती गई तथापि यह कभी भी नहीं समझना चाहिये कि इस काल में रीतिमुक्त काव्य लिखे ही नहीं गये। रीति काल में कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं जिन्होंने केशव, मतिराम और चिन्तामणि के समान न तो कोई लक्षण ग्रंथ लिखा और न ही विहारी की भांति कोई रीतिबद्ध रचनलिखी। ऐसे कवियों की संख्या पचास के लगभग है। इनमें कुछ कवि ऐसे हैं जिन्होंने लक्षण-बद्ध रचना नहीं की और जो अपने स्वच्छन्द प्रेम की पीर जनता को सुनाते रहे। इनमें घनानन्द, आलम, बोधा और ठाकुर आदि आते है। दूसरा वर्ग उन कवियों का है जिन्होंने कथा-प्रबन्धकाव्य लिखे, जैसे लाल कवि का छत्रप्रकाश, सूदन का सुजान-चरित आदि। तीसरे वर्ग में दान लीला, मान लीला आदि पर वर्णनात्मक प्रबन्ध काव्य लिखने वाले कवि आते हैं। चौथे वर्ग में रीति सम्बन्धी पद्य और सूक्तियाँ लिखने वाले आते हैं वृन्द, गिरधरदास आदि। पाँचवें वर्ग में ब्रह्मज्ञान, वैराग्य और भक्ति पर लिखने वाले कवि आते हैं। छठे वर्ग में वीररस के फुटकर पद्य लिखने वाले आते हैं। उपर्युक्त वर्गों के सभी कवि रीतिमुक्त धारा के अन्तर्गत आयेंगे क्योंकि इन्होंने न तो कोई लक्षण-ग्रंथ लिखा और न लक्षण ग्रंथों से प्रभावित होकर अथवा बँधकर काव्य-रचना की। इनके काव्यों में भाव-पक्ष की प्रधानता है। इनकी शैली आलंकारिकता के अनावश्यक बोझ से भी नहीं दबी है। इनकी कविता में सामाजिक अवहेलना भी नहीं है और न रुग्ण शृंगारिकता। भाषा के क्षेत्र में भी अधिक सफाई से उतरे हैं।

हिन्दी रीतिकाव्य के मूल प्रेरणा-स्रोत

हम रीतिकाल का सामान्य परिचय देते समय बता चुके हैं कि इस साहित्य में एक नवीन दृष्टिकोण को लेकर एक नवीन प्रयोग हुआ। यह भी नवीनता दो रूपों में दृष्टिगोचर होती है—एक तो विषयगत और दूसरी रूप और आकारगत। हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य न तो लोक साहित्य है और न ही शास्त्रीय काव्य। लोक साहित्य इसलिए नहीं क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष लोक-जीवन से स्फूर्ति और प्रेरणा लेने की प्रक्रिया अत्यन्त गौड़ रही है और फिर यह जन-मानस पर इतना अधिकार भी नहीं जमा सका। भले ही इसमें राधा और कृष्ण के रूप में नन्थू और कल्लू के नाम पर सामान्य लोक-जीवन के नायक और नायिकाओं के प्रेम का चित्रण हुआ फिर भी इस साहित्य की आत्मा में सामन्तीपन है क्योंकि इस साहित्य का सर्जन और प्रणयन अधिकतर राजदरबारी वातावरण में हुआ। संस्कृत साहित्य और हिन्दी

के रीति काव्य में स्थूल अन्तर इतना है कि संस्कृत के पात्र अभिजात्य वर्ग के हैं, वह सम्राटों की छत्रछाया में पला और नागरिकों के लिए उसका प्रणयन हुआ। इधर रीति साहित्य का संरक्षण और संवर्धन राजदरबार में हुआ, इसमें नागरिक का स्थान सामान्य रसिक ने ले लिया और अभिजात्य वर्ग के पात्रों के स्थान पर राधा और कान्ह आ गये जिन्होंने प्रतिनिधित्व सामान्य नायक और नायिका का ही किया। अतः इसे विशुद्ध रूप में लोक-साहित्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता। शास्त्रीय साहित्य की संज्ञा से अभिहित करना भी इसलिए असमीचीन लगता है क्योंकि हिन्दी लक्षण-ग्रंथों में कोई विशेष सूक्ष्म और गम्भीर विवेचना नहीं और न ही किसी नूतन काव्यादर्श की प्रतिष्ठा हुई है। इस काल का साहित्य शास्त्र की उंगली पकड़ कर आगे बढ़ा। अतः इस साहित्य को लोक-साहित्य और शास्त्र-काव्य के बीच की कड़ी समझना होगा। इस साहित्य में आध्यात्मवाद, मोक्षवाद तथा कर्मकांड नहीं है। यहाँ आमुष्मिकता के स्थान पर ऐहिकता है और विरक्ति के स्थान पर जीवन के प्रति घोर आसक्ति है रीतिकाव्य में इस नवीन प्रयोग एवं नूतन दृष्टिकोण की एक सुनिश्चित परम्परा है जिसका उल्लेख करना प्रस्तुत प्रकरण में हमें अभीष्ट है।

उपर्युक्त इस नवीन दृष्टिकोण के अतिरिक्त रीतिकाव्य की अन्य भी बहुत सी सामान्य प्रवृत्तियाँ हैं। जैसे—शृंगारिकता, नायिका-भेद, लक्षण ग्रंथ-प्रणयन, रतिमुक्त प्रवाह के अन्तर्गत स्वच्छन्द प्रेम-वर्णन, शृंगार-संवलित भक्ति तथा विशुद्ध भक्ति के पद्य, चरित काव्य, लीला-वर्णन, ब्रह्म और ज्ञान-सम्बन्धी पद्य, नीति के दोहे तथा सूक्तियाँ और वीर-रसात्मक कविता। इन सबसे मूल स्रोतों की खोज रीतिकाव्य के सम्यक् अध्ययन के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

कुछ आलोचकों ने रीतिकालीन साहित्य के इस प्रकार के विषयगत और आकारगत स्वरूप के लिए तत्कालीन विलासप्रधान वातावरण तथा फारसी के प्रभाव को उत्तरदायी ठहराया है किन्तु इस विचार को सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता है। निःसन्देह किसी भी साहित्य पर उसके समय का और उस समय पर तत्कालीन साहित्य का घात प्रतिघात अवश्य हुआ करता है किन्तु वातावरण ही किसी समय के साहित्य के रूप-निर्माण का एकमात्र समवायि हेतु होता हो ऐसी बात नहीं है। रीति-साहित्य में साहित्य की जो धारा प्रस्फुटित हुई वह कोई आकस्मिक नहीं था उसके पीछे एक निश्चित शास्त्रीय और साहित्यिक आधार था।

रीतिकाल के लक्षण ग्रंथों पर संस्कृत साहित्य के तीन प्रमुख संप्रदायों का प्रभाव पड़ा। वे सम्प्रदाय हैं—अलंकार, रस और ध्वनि सम्प्रदाय। संस्कृत साहित्य के रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदायों का इस काल के शास्त्रीय साहित्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। हिन्दी साहित्य के इस काल के काव्य के साथ रीति शब्द को जुड़ा हुआ देखकर यह समझ लेना कि इस साहित्य में वैदर्भी, गौड़ी तथा पाँचाली रीतियों का विवेचन हुआ होगा, गलत होगा। इस काल तक आते-आते रीति शब्द एक विशिष्ट अर्थ में रूढ़ हो चुका था और वह था कवित्त-रीति। रीति-काल में नायिका

भेदोपभेदों का इतना अधिक विस्तार हुआ कि इस दिशा में रीतिकालीन कवियों और आचार्यों ने संस्कृत-साहित्य को भी पीछे छोड़ दिया। यह दूसरी बात है कि इस संख्या-विस्तार से शास्त्रीय और साहित्यिक विवेचन में कोई महत्त्वपूर्ण वृद्धि नहीं हुई। रीतिकाल के नायिका-भेद पर संस्कृत के नायिका-ग्रंथों का तो प्रभाव पड़ा ही, इसके अतिरिक्त इस दिशा में कामशास्त्रीय ग्रंथों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इस बात का हम आगे उल्लेख करेंगे।

अलंकार सम्प्रदाय के मूल आधार हैं भामह, दंडी और उद्भट। संस्कृत के इन आचार्यों ने अलंकार को काव्य की आत्मा तथा सर्वस्व स्वीकार करते हुए भी काव्य के अन्य उपकरणों रस, ध्वनि आदि का समावेश भी उसमें कर दिया। इस दृष्टि से हिन्दी के रीति काल का कोई भी आचार्य ऐकान्तिक दृष्टि से अलंकारवादी नहीं ठहरता। हिन्दी में अलंकारों का निरूपण दो प्रकार से हुआ। कुछ सर्वांग निरूपक आचार्य-कवियों ने मम्मट और विश्वनाथ के समान अपने काव्य-ग्रन्थों में अलंकार-प्रकरण को एक भाग के रूप में अपनाया। ऐसे आचार्य हैं—चिन्तामणि, जसवन्तसिंह, कुलपति, देव, सूरति मिश्र, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास आदि। इनके अतिरिक्त मतिराम, भूषण, पद्माकर, रघुनाथ, दूलह आदि ने भट्टोजी अप्पय दीक्षित के समान अलंकार-प्रकरण पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं। केशव ने इस सम्बन्ध में कुछ मौलिक उद्भावनाओं से भी काम लिया है पर वह विशेष सार्थक नहीं कहा जा सकता है। भूषण ने सादृश्य-मूलक, सन्देह, स्मरण तथा भ्रान्तिमान् जैसे अलंकारों के लक्षणोदाहरणों में बड़ी गड़बड़ कर दी है। केशव ने अलंकार शब्द को अत्यन्त व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। उन्होंने काव्य के सभी सौन्दर्य-विधायक तत्त्वों को अलंकारों के अन्तर्गत परिगणित कर लिया है।

रस-सम्प्रदाय के उद्भावक भरत मुनि हैं। उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र में सूत्र रूप में रस के सम्बन्ध में लिखा है—"विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः।" रस-सूत्र के व्याख्याकारों में भट्टलोलट्ट, श्री शंकुक, भट्ट नायक तथा अभिनव गुप्त का नाम प्रमुख है। रस की सर्वांगीण वैज्ञानिक व्याख्या अभिनव गुप्त के द्वारा निष्पन्न हुई। मम्मट और आनन्दवर्धनाचार्य ने इसका अत्यन्त संतुलित रूप प्रस्तुत किया। आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' कहकर अपने आपको पूर्ण रसवादी आचार्य घोषित किया, किन्तु इन्होंने भी ध्वनि-सिद्धान्त की अवहेलना नहीं की। ध्वनि उनके रस में अन्तर्भुक्त हो गई है। रीतिकाव्य के सर्वांग-निरूपक आचार्यों ने प्रायः उक्त आचार्यों का अनुकरण किया। देव ने संचारियों में 'छल' नाम के एक संचारी-भाव की नवीन कल्पना भी की, परन्तु उसका अन्तर्भाव अवहित्था नामक संचारीभाव में हो जाता है।

आनन्दवर्धक ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं। सुना जाता है कि आनन्दवर्धक से भी पूर्व किसी अज्ञातनामा व्यक्ति ने ध्वनि-सिद्धान्त का प्रवर्तन कर दिया था और उसके आधार पर आनन्दवर्धक ध्वनि का इतना परिष्कृत रूप दे सके। आचार्य

मम्मट का दृष्टिकोण समन्वयवादी है। उन्होंने अपने काव्यप्रकाश नामक ग्रन्थ में अपने पूर्ववर्ती काव्य-सम्प्रदायों का सामंजस्य प्रस्तुत करते हुए ध्वनि-सिद्धान्त की महत्ती विजय-घोषणा की है। पंडितराज आचार्य जगन्नाथ भी ध्वनि-सिद्धान्त के प्रबल समर्थक हैं। चिन्तामणि, जसवन्तसिंह, प्रतापसाहि, भिखारीदास आदि रीति-काल के प्रमुख आचार्यों ने मम्मट के काव्यप्रकाश के अनुकरण पर अपने लक्षण ग्रंथों का निर्माण किया है।

भारतीय साहित्य में नायक-नायिका-भेद-वर्णन की परिपाटी सुदूर अतीत काल से चली आ रही है। नाट्यशास्त्रकार भरत से पूर्व वात्स्यायन मुनि ने अपने कामसूत्र में देश, स्वभाव और रति-आनन्द आदि के आधार पर नायिकाओं का वर्णन किया है। वात्स्यायन का यह प्रभाव नाट्यशास्त्रकार भरत पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। ऐसा अनुमान लगाना असमीचीन नहीं होगा कि काम सूत्रकार से भी पूर्व नायिका-भेद-वर्णन की परम्परा इस देश में प्रचलित थी। काम सूत्रकार ने काम-विषय पर अपने अनेक पूर्ववर्ती लेखकों का नामोल्लेख किया है। कुछ काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी नायिका-भेद यथास्थान उपलब्ध होता है। वे ग्रन्थ हैं, धनंजय का दशरूपक, सागरनन्दी का नाटक लक्षण रत्नकोष और रामचन्द्र गुणचन्द्र का नाटक दर्पण। श्रृंगार रस के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद निरूपक ग्रन्थ हैं रुद्रट का काव्यालंकार, भोज का सरस्वती कंठाभरण और श्रृंगार प्रकाश तथा विश्वनाथ का साहित्यदर्पण। इन ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य भी कई काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में नायिका-भेद का उल्लेख है, पर उनमें कोई विशेष नवीनता नहीं। केवल नायक-नायिका-भेद निरूपक ग्रंथों में दो ग्रंथ अति प्रसिद्ध हैं—भानुमिश्र की रस मंजरी तथा रूप गोस्वामी की उज्ज्वल नीलमणि। रूप गोस्वामी के उज्ज्वल नीलमणि ग्रंथ में नायक-नायिका-भेद जैसे शुद्ध श्रृंगार रस के प्रसंग को मधुर रस के रूप में ढालकर नवीन पथ-प्रदर्शन के साथ-साथ नायक-नायिका भेद से प्रभावित भक्त कवियों को श्रृंगारी कवि कहाने के लांछन से मुक्त करने का सुन्दर प्रयास किया है। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य नायक-नायिका भेद के लक्षण पक्ष में भानुमिश्र से प्रायः प्रभावित हैं और लक्ष्यपक्ष में रूप गोस्वामी से। इन्होंने उदाहरण निर्माण के लिए प्रायः रूप गोस्वामी के समान गोपी और कृष्ण को नायिका और नायक के भेदों का माध्यम बनाया है। प्राकृत और अपभ्रंश में तो बहुत पहले से गोपियों के साथ गोपालकृष्ण की चर्चा है, पर संस्कृत में इसका सर्वप्राचीन उल्लेख आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में है, ग्यारहवीं शताब्दी में लीलाशुक के कृष्ण कर्णामृत की रचना हुई। उसके बाद कवि जयदेव के गीत गोविन्द में गोपी-कृष्ण प्रेम की यह भावप्रवणता अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुंच गई। इसके बाद विद्यापति, चंडीदास और सूरदास की रचनाओं में, जो लोक-भाषा में हैं, राधा-कृष्ण और गोपियों की ये प्रेम-लीलायें अपने विकसित रूप में पहुंच गईं। चैतन्य और उनके दो प्रमुख शिष्यों, रूप सनातन और जीव गोस्वामी, ने इन प्रेम-लीलाओं में सक्ष्मता और आध्यात्मिकता का आरोप किया। इससे पूर्व बंगाल

के वैष्णव भक्तों ने नायक-नायिकाओं का इस प्रकार वर्गीकरण किया था कि उसके बहाने गोपी और गोपाल की केलिगाथाएँ गाई जा सकें, परन्तु उनका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी साहित्य पर नहीं पड़ा। रूप गोस्वामी की उज्ज्वल नीलमणि ने वस्तुतः रीतिकालीन रूप-लोलुप नायिका-प्रेमी कवि के लिए एक सुरक्षित और विशद द्वार खोल दिया। उज्ज्वल नीलमणि में पहली बार 'रस राज' शृंगार को उज्ज्वल रस के नाम से अभिहित किया गया। रसिकशिरोमणि कृष्ण को उसका अधिष्ठाता घोषित किया गया, राधा और कृष्ण के रहःकेलियों के देखने का अधिकारी पात्र भक्तरूपी सहृदयता को ठहराया गया। फिर क्या था, रीतिकालीन कवियों और आचार्यों ने राधा और कृष्ण की आड़ में अपने मानसिक फफोले फोड़े और स्वकीया-परकीया के व्याज से उन्मुक्त प्रेम के उच्च से उच्च राग अलापे। राधा और कृष्ण का तो उसने नाम ही लेना था, करनी तो उसे थी कविताई।

रीझि हैं सुकवि जो तो जानो कविताई,
न तो राधिका-गोविन्द सुमिरन को बहानो है।

हाँ रीतिकालीन कवियों ने नायिका-भेद-विस्तार के क्षेत्र में तो कमाल ही कर दिया है। संस्कृत साहित्य में नायिका-भेद का इतना विस्तार नहीं हुआ है। रूप गोस्वामी की उज्ज्वल नीलमणि में भी १६३ प्रकार की भिन्न-भिन्न स्वभाव और नाम वाली गोपियों की चर्चा की गई है, किन्तु रीति-काल में तो नायिकाओं की संख्या बेशुमार हो गई है। देव ने इस सम्बन्ध में खूब कल्पना दौड़ाई है।

रीति-काल की एक अत्यन्त प्रबल धारा है शृंगार रस की मुक्तक शैली अभिव्यक्ति। यह भी भारतीय साहित्य की परम्परा का एक नियमित विकास है। यह परम्परा प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत तथा हिन्दी के भक्ति-काव्य के माध्यम से रीति काव्य में अवतरित हुई। इतिहास लेखकों का कहना है कि जब आभीर जाति भारत में आकर बस गई और आर्यों की शिक्षा तथा संस्कृति से आभीरों का सम्पर्क हुआ तो भारतीय जीवन में परलोक की चिन्ता से मुक्त नित्यप्रति के गृहस्थ जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा। यह प्रभाव केवल जीवन तक ही सीमित नहीं रहा काव्य-क्षेत्र में भी पड़ा जिसका स्पष्ट परिणाम है हाल की सतसई की रचना। अस्तु! सम्भव है आभीरों के सम्पर्क से भारतीय जीवन और काव्य में यह नया मोड़ आया हो, परन्तु इस काल के ऐहिकतापरक जीवन के दृष्टिकोण के लिए केवल आभीर सम्पर्क ही पर्याप्त नहीं है। भारतीय दर्शनों में चार्वाक दर्शनकार का जीवन के प्रति एक मात्र भौतिकवादी दृष्टिकोण है। उस काल के ऐहिकतापरक जीवन को उक्त दर्शन से अवश्य प्रेरणा मिली होगी। हाल की सतसई प्राकृत की गाथाओं में रचित एक ग्रंथ है जिसमें प्राकृत जीवन के सहज सरल प्रतिघातों के चित्र हैं। इसका कवि आकाश गंगा के सरस मनोहर जल से अपनी कल्पना-तृषा के तृप्त करने की लालसा छोड़ कर धरातल के जन-जीवन कूप-जल से उसे शान्त करता है। हाल की सतसई में प्रेम और करुणा के भाव, प्रेम की रसमयी क्रीड़ाय और उनके घात-प्रतिघात हैं। इसमें अहीर

और अहीरनियों की प्रेम-गाथायें, ग्राम वधूटियों की शृंगार-चेष्टायें, चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई सुन्दरियों के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओं का भावोत्तेजन आदि बातें इतनी सरस, इतनी सजीव और इतनी हृदयस्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इसकी ओर आकृष्ट हो जाता है । इस ग्रंथ में चित्रित वातावरण सर्वथा गृहास्थिक है और यौन-सम्बन्धों के वर्णन में बेहद स्पष्टता पाई जाती है । हाल की सतसई रीतिकाव्य का सर्वप्रथम प्रेरक ग्रंथ है। बिहारी, मतिराम आदि पर इस ग्रंथ का प्रभाव स्पष्ट है । कहीं-कहीं तो इन हिन्दी-कवियों ने इस ग्रंथ की गाथाओं का छायानुवाद ही प्रस्तुत किया है । हाल की सतसई के पश्चात् शृंगार-मुक्तकों के दो ग्रंथ संस्कृत-साहित्य में मिलते हैं । एक अमरुक कवि का अमरुक शतक और दूसरी रचना है गोवर्धन की आर्या सप्तशती । इन दोनों ग्रंथों में नागरिक जीवन की कृत्रिमता आ गई है । इन दोनों में अभिव्यक्ति में अलंकरण तथा अतिशयोक्ति के प्रति मोह बढ़ चला है । इनके अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य में कतिपय अन्य मुक्तक काव्यों की भी रचना हुई जैसे शृंगारतिलक, घटकर्पर, भर्तृहरिकृत शृंगारशतक, विल्हण की चौरपंचाशिका आदि । इन ग्रंथों का भी हिन्दी के शृंगारी-साहित्य पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा । संस्कृत-साहित्य में शृंगार के इन मुक्तकों के साथ-साथ भक्ति-परक मुक्तकों की भी एक परम्परा चल पड़ी थी । चंडीशतक, वक्रोक्ति पंचाशिका और कृष्ण जीवन से सम्बद्ध अनेक स्तोत्र ग्रंथ हैं—जैसे कृष्ण-लीलामृत आदि । निःसन्देह इन स्तोत्र ग्रंथों की आत्मा में भक्ति निहित है परन्तु वाह्य रूप में शृंगार की प्रधानता है । इनमें शिव-पार्वती और राधा-कृष्ण की लीलाओं का शृंगारपरक वर्णन किसी भी शृंगारी काव्य को पीछे छोड़ सकता है । १२ वीं से १४ वीं शताब्दी तक बंगाल और बिहार में राधा-कृष्ण की भक्ति के जो छन्द रचे गये वे काम के सूक्ष्म रहस्यों से ओत-प्रोत हैं, विद्यापति के पद्य इन्हीं के तो हिन्दी-संस्करण हैं और फिर रूप गोस्वामी की उज्ज्वल नीलमणि ने एक विराट् द्वार ही खोल दिया । संस्कृत के इन शृंगार-परक भक्ति-स्तोत्रों ने रीतिकालीन शृंगार को असंदिग्ध रूप में प्रभावित किया । साथ-साथ ये ग्रंथ रीतिकालीन हिन्दी कवि के राधा-सुमिरन के बहाने के लिये भी उत्तरदायी हैं ।

अपभ्रंश-साहित्य में शृंगार-मुक्तकों की कोई न कोई परम्परा अवश्य रही होगी किन्तु उसका कोई प्रामाणिक रूप हमारे सामने नहीं है । केवल जयवल्लभ और हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में स्फुट गीत छन्द मिलते हैं जिनमें शृंगार रस का हृदयहारी वर्णन है । हेमचन्द्र के ग्रंथ में उद्धृत मंजु के दोहे अपभ्रंश और हिन्दी के बीच की कड़ी हैं । इस परम्परा का भी हिन्दी के रीतिकालीन शृंगार पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा । आचार्य हजारीप्रसाद 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' में लिखते हैं—'रीतिकाल की कविता का कंठ स्वर पश्चिमी अपभ्रंश से अधिक मिलता-जुलता है । बिहारी आदि की कविताओं में तो भाषा, भाव, भंगी सब कुछ उन्हीं से मिलती है । कभी-कभी बिहारी के समालोचकों ने ऐसे भाव बिहारी में पाये हैं जो उनके मत से मुसल-

मानी संसर्ग के फल हैं। वियोग ताप से गुलाब की शीशी का फूटना या दृष्टि का हृदय वेध कर मार डालना, ऐसी उक्तियाँ बताई गई हैं। यह स्पष्ट अतिरंजना है। हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण में अपभ्रंशों के प्रकरण में इन भावों के दोहे आये हैं जो विहारी के निश्चित रूप से मार्गदर्शक होंगे।" हमें हिन्दी-साहित्य के उन आलोचकों की मनोवृत्ति से निश्चित रूप से दुःख होता है जो यत्र-तत्र व्यर्थ में ही साहित्य पर ऐसे निराधार आरोप लगाने का दुराग्रह करते हैं। रीतिकालीन शृंगारिकता मुगल दरबार की उपज नहीं है और न ही रीतिकालीन शृंगार में पाई जाने वाली अतिशयोक्तियाँ जिनमें हास्यास्पदता भी आ गई है, मुसलमानी फारसी-साहित्य का प्रभाव मानी जा सकती हैं। हिन्दी के रीति-काव्य में पाई जाने वाली अतिरंजनापूर्ण उक्तियाँ और अश्लील शृंगारिकता, अलंकरणप्रियता तथा प्रदर्शन प्रवृत्ति की प्रधानता आदि बातें संस्कृत साहित्य के शिशुपाल वध, नैषध चरित तथा किरातार्जुनीय महाकाव्यों में देखी जा सकती है। इन संस्कृत ग्रंथों का प्रभाव निश्चित रूप से हिन्दी रीतिकाव्य पर पड़ा है। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि रीतिकालीन कवि ने प्रत्यक्ष रूप में प्राकृत और अपभ्रंश के शृंगारी-साहित्य से प्रेरणा न लेकर सीधे संस्कृत-साहित्य से प्रेरणा प्राप्त की। रीतिकाल में प्रणीत रीति-काव्यों का आधार तो संस्कृत काव्य के रमणीक ग्रंथ हैं ही, इसके साथ-साथ शृंगारिकता की बहुत कुछ प्रेरणा उसे अमरुक, गोवर्धन, भर्तृहरि, हाल तथा शृंगार के अन्य फुटकर लेखकों से प्राप्त हुई। इस विषय में फारसी तथा अन्य किसी विदेशी प्रभाव की चर्चा असमीचीन होगी। रीति-काव्य की मूल भावना शृंगार है, स्त्री-पुरुष के प्रेम का वर्णन यौवन-विकास के विलास द्वारा परिहास, मनोविनोदों तथा संयोगजन्य अन्य विषयों का समावेश हिन्दी के प्रारम्भिक काल में ही हमारे साहित्य में हो चुका था।

वस्तुतः हिन्दी रीति-काव्य की पृष्ठभूमि में संस्कृत साहित्य का वह समूचा काव्य और आचार्यत्व आ जाता है जो कि कई शताब्दियों पूर्व भारतीय नरेशों के राजदरबारों में विकसित हुआ था। रीतिकाल के साहित्य का अध्ययन करते समय यदि इस व्यापक पृष्ठ-भूमि को ओझल कर दिया जाय तो फारसी-साहित्य के अनावश्यक प्रभाव की अनेक ऐसी समस्यायें खड़ी हो जावेंगी जिनका सुलझना सहज नहीं होगा। हिन्दी के रीति-साहित्य पर विद्वानों को जिस फारसी के प्रभाव का आभास हुआ है वह संस्कृत के परवर्ती कवियों के ढंग पर ग्रहण किया गया है। "इस प्रकार रीति-काव्य की आत्मा संस्कृत के परवर्ती काव्य से बल पाती है। वह मूलतः भारतीय है यथार्थ (वह है) वासना ऐश्वर्यमूलक। हाँ उस युग की स्थूल प्रेरणा रीतिकाव्य पर अवश्य स्वीकार की जा सकती है।"

रीतिकाल की शृंगारिकता के लिए बहुत कुछ आधार भक्ति काल में ही तैय्यार हो चुका था। निर्गुण उपासक सन्त कवि भी प्रेम को जीवन का सार कहते थे। सूफी कवि भी प्रेम की पीर के साधक थे। कृष्ण भक्ति में तो प्रेम व्यापक भाव है ही। राम-भक्ति में भी रसिक भाव प्रवाहित था। अतः प्रेम को या रति-भाव को

प्रधान मानकर शृंगार की 'रसराज' रूप में प्रतिष्ठा स्वाभाविक थी। एक तो भक्ति काव्य से भगवदाश्रित प्रेम की प्रेरणा मिल चुकी थी, दूसरे, रीतियुगीन कवि के सम्मुख संस्कृत-साहित्य का व्यापक स्त्रोत-साहित्य था जिसमें शिव-पार्वती तथा राधा और कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के अनेक शृंगारमय चित्र थे। बस, इन दोनों से प्रेरणा लेकर भक्त के बहाने से इन्होंने राधा और कृष्ण के नाम पर नायक और नायिकाओं का खूब चित्रण किया। कभी-कभी तो आधुनिक युग का आलोचक रीति-काव्यों की इस मनोवृत्ति को देखकर उनके साहित्य को गन्दी नालियों में बहा देने की बात तक कह देता है। अस्तु, रीति-युग का कवि विशुद्ध रूप से भक्त था या नहीं, इस सम्बन्ध में कुछ न कह कर यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवि काफी ईमान्दार था। रीति-युग के नीति, सूक्ति, चरित-काव्य तथा वैराग्य-सम्बन्धी पद्यों का मूल स्त्रोत हिन्दी की भक्ति-धारा, वीरगाथाओं, अपभ्रंश, प्राकृत तथा संस्कृत साहित्य में खोजा जा सकता है।

वात्स्यायन के कामसूत्र ने भारतीय शृंगार-परम्परा के विभिन्न अंगों के विकास में विशेष महत्त्वपूर्ण योग दिया। कामसूत्र का रचना-काल यद्यपि सन्दिग्ध है परन्तु फिर भी इसे ईसा से दो शताब्दी पूर्व का ग्रंथ माना जाता है। उस समय भारत में अनेक कामविषयक ग्रंथ लिखे जा चुके थे। वात्स्यायन के कामसूत्र का प्रौढ़ विवेचन यह सिद्ध करता है कि यह इस विषय का प्रारम्भिक ग्रंथ नहीं है। इसके पीछे चिन्तन की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। कामसूत्र के अध्ययन से यह स्पष्ट विदित होता है कि तत्कालीन जीवन में शृंगार का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

कामसूत्र के रीति-वर्णन, शृंगार-चेष्टाओं, और रति-शय्याओं के ऐश्वर्यपूर्ण वातावरण एवं विभिन्न पर्वों तथा अवसरों पर नायिकाओं के साथ सुरापान व क्रीड़ाओं का जो वर्णन किया है उससे तत्कालीन समाज के ऐहिक जीवन की सम्पन्नता का पता चलता है। कुछ विद्वानों ने भारतीय शृंगार-परम्परा में और साहित्य में सुरा, सुन्दरी तथा संगीतादि कलाओं के एकत्र योग को देखकर इसे मुसलमानी विलासिता का प्रभाव कहा है, किन्तु कामसूत्र से यह सिद्ध होता है कि मुसलमानों के आगमन से बहुत पूर्व हमारे यहाँ विलास के रंगी साधनों का एक अच्छा विकास हो चुका था। कामसूत्रकार के समय जीवन का दृष्टिकोण आध्यात्मिकता से हट-कर ऐहिकतोन्मुख हो गया था। उस समय स्वकीया को केवल सन्तानोत्पत्ति का साधन माना जाता था जब कि आनन्द प्राप्ति के लिए परकीयाओं और वेश्याओं का आश्रय ग्रहण किया जाता था।

कामसूत्र ने भारतीय साहित्य को कहाँ तक प्रभावित किया, इस सम्बन्ध में भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा। भारतीय शृंगारी कवियों ने वेश्याओं को तो इतना स्थान नहीं दिया किन्तु परकीया को इस साहित्य में बहुत प्रश्रय मिला है। इन कवियों को ऐसा करने की नैतिक अनुमति संभवतः कामशास्त्रीय ग्रन्थों से मिली होगी। रीतिकालीन कवियों के लिए कहा जाता है कि उन्होंने राधा-कृष्ण के स्मरण

के बहाने परकीया का ही चित्रण किया। हमारे विचारानुसार उसे भी ऐसा करने का नैतिक समर्थन कदाचित् इन्हीं ग्रंथों से मिला होगा।

नायिका भेद परम्परा के सम्बन्ध में भी स्मरण रखना होगा कि वात्स्यायन का नायिका-भेद भरतमुनि के नायिका-भेद से प्राचीन है क्योंकि भरत का नायिका-भेद अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ पर परिष्कृत है और फिर भरत ने अपने ग्रंथ में काम-सूत्र का उल्लेख भी किया है। संस्कृत साहित्य के नायिका-भेद-ग्रन्थों पर कामसूत्र का प्रभाव असंदिग्ध है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के नायिका-भेद पर कामसूत्रकार का विशिष्ट प्रभाव है। कामसूत्रकार ने जाति भेद के आधार पर जो नायिकाओं का भेद किया है, तदनुसार रीतिकालीन आचार्य-कवि देव ने भी किया है। दूतिकाओं के कार्य-साधन के उपायों का वर्णन कामसूत्रकार ने किया है। उनका प्रयोग साहित्य-क्षेत्र में बराबर होता रहा। दूतिकाओं की परम्परा हमारे यहाँ छठी सती से लेकर १८वीं सती तक के साहित्य में चलती रही है। अभिसारिकाओं एवं खंडिताओं का वर्णन, उनके मान-मोचन के लिए नायक का उनके चरणों पर गिरना ये सब बातें रीतिकालीन तथा दूसरे भारतीय काव्यशास्त्र में उपलब्ध होती हैं। नायिका की संभोगेच्छासूचक चेष्टाओं और हाव-भावों का जो सूक्ष्म-विवेचन कामसूत्रकार ने किया है, आचार्यों तथा कवियों ने उसका पूरा-पूरा लाभ उठाया है। कामसूत्रकार ने विपरीत रति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और कदाचित् रीति कालीन साहित्य में इसका स्पष्ट प्रभाव है।

यदि कुछ विद्वानों को रीतिकाव्य पर ईसा-पूर्व रचित कामसूत्र के प्रभाव के विषय में कुछ शंका या आपत्ति हो, तो इस सम्बन्ध में एक तथ्य तो स्मरणीय है कि रीतिकाल पर कामशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रभाव निश्चय रूप से पड़ा है। काम शास्त्रीय ग्रंथों की एक विशाल परम्परा है। भारतीय इतिहास के मध्यकाल में कक्कोक (कोका पंडित) का "रतिरहस्य", ज्योतीरीश्वर ठाकुर का "पंच सायक" तथा कल्याण मल्ल का "अनंग रंग" आदि कामशास्त्रीय ग्रन्थ खूब प्रसिद्ध रहे हैं और इन ग्रन्थों से रीतिकवि के परिचय के अनेक असंदिग्ध प्रमाण मिले हैं। कोका पंडित मध्यकाल में इतने अत्यधिक प्रसिद्ध रहे हैं कि उनका प्रभाव सूरदास तथा हित-हरिवंश जैसे भक्त-कवियों पर भी पड़ा है, फिर रसिकता प्रधान रीतकवि पर तो उक्त प्रभाव का पड़ना अवश्यंभावी प्रतीत होता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संस्कृत और हिन्दी साहित्य के कवियों पर काम-सूत्र का गहन प्रभाव पड़ा है। हिन्दी का रीति-कालीन साहित्य भले ही विलास प्रधान मुगल दरबारों तथा तत्कालीन सामाजिक विलासिता में पनपा हो परन्तु फिर भी उसका आधार हजारों वर्ष पुरानी वह श्रृंगार परम्परा है जिसका परिचय काम-सूत्र से मिलता है। अधिकांश रीतिकालीन साहित्य काम-सूत्र के विभिन्न वर्णनों का एक परिवर्द्धित साहित्यिक संस्करण-सा है। अतः जब भी रीति-

कालीन नायिका-भेद, दूतिकाभेद, शृंगारस्थल, अभिसार-आयोजन, बालाओं के हाव-भाव, शृंगार-चेष्टाओं एवं पारस्परिक प्रेम-व्यवहारों का अध्ययन किया जाये उस समय काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों की पृष्ठभूमि को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

ऊपर हमने रीतिकाव्य के मूल प्रेरणा स्रोतों का उल्लेख किया है किन्तु इससे यह कदापि नहीं समझना होगा कि रीतिकालीन साहित्य में सब कुछ उधार लिया हुआ है या सब सैकिंड हैंड है। उस समय के साहित्यकार के पास बहुत कुछ अपना भी है। अन्त में आचार्य हजारीप्रसाद के शब्दों में रीतियुग के साहिन्य तथा उसके कवि के सम्बन्ध में कह सकते हैं—"यह स्पष्ट करके समझ लेना चाहिए कि रीतिकाल में लक्षण ग्रन्थों की भरमार होने पर भी वह उस प्राचीन भाषा के लोक साहित्य का विकास था, जो कभी संस्कृत-साहित्य को अत्यधिक प्रभावित कर सका था। इस विशेष काल में जब कि शास्त्र-चिन्ता लोक-चिन्ता का रूप ग्रहण करने लगी थी, वह पुरानी लौकिकतापरक लोक काव्य-धारा शास्त्रीय मत के साथ मिलकर देखते-देखते विशाल रूप ग्रहण कर गई। कवियों ने दुनिया को अपनी आँखों से देखने का कार्य बन्द नहीं कर दिया। नायिका-भेद की संकीर्ण सीमा में जितना चित्र आ सकता था, इसका उतना चित्र निश्चय ही विश्वसनीय और मनोरम है। इतना दोष जरूर है कि वह चित्र असंपूर्ण और विच्छिन्न है। शास्त्र मत की प्रधानता ने इस काल के कवियों को अपनी स्वतन्त्र उद्भावना शक्ति के प्रति अतिरिक्त सावधान बना दिया, उन्होंने शास्त्रीय मत को श्रेष्ठ और अपने मत को गौण मान लिया, इस लिए स्वाधीन चिन्तन के प्रति एक अवज्ञा का भाव आ गया यह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और वही इस युग में सबसे अधिक खतरनाक बात थी।"

भक्ति-कालीन एव रीति-कालीन कृष्ण-काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

भक्ति-कालीन कृष्ण-काव्य—सगुणवाद के विकास में रामानुज, निम्बार्क, राघवानन्द, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, वल्भाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों का प्रमुख स्थान है। हिन्दी के कृष्ण-भक्ति कवि प्रायः निम्बार्क, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी तथा वल्लभाचार्य से प्रभावित हैं। हिन्दी के भक्ति-युग के कुछ ऐसे भी कवि हैं जो निजी विश्वासानुसार कृष्ण का गुणगान गाते रहे हैं। हिन्दी में वैष्णव साहित्य के जन्मदाता विद्यापति ऐसे कवियों में से हैं। इनकी कविता पर जयदेव के भौतिक प्रेम की स्पष्ट छाप है। विद्यापति में आध्यात्मिकता ढूँढ़नी व्यर्थ है उन्होंने यौवन-विकास तथा वयः संधि के वर्णनार्थ राधा-कृष्ण का चित्रण किया। डॉ नगेन्द्र के शब्दों में हम विद्यापति के सम्बन्ध में कह सकते हैं—"इसलिये विद्यापति के सब चित्र ऐन्द्रिय उल्लास से दीपित होते हुए भी अधिक स्थूल नहीं हो पाये हैं। उनमें एक सूक्ष्म तरलता है। दूसरे, रूप के प्रति भी उनका दृष्टिकोण भावगत है, वस्तुगत नहीं। उनका धरातल नित्यप्रति के गार्हस्थ्य जीवन तक नहीं उतरा। इसलिए उसमें वह मूर्खता नहीं जो रीतिकाल के शृंगार-चित्रों में अनिवार्यतः मिलती है। इन्हीं दो कारणों से

विद्यापति रीतिकाव्य की परम्परा से थोड़ा बच जाते हैं अन्यथा उनमें रीति-संकेतों का प्राचुर्य असंदिग्ध है।"

हिन्दी में कृष्ण-काव्य की रचना का समस्त श्रेय वल्लभाचार्य को है। इनके चलाये हुए पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त से प्रभावित होकर सूरदास आदि ने कृष्ण-काव्य की रचना की। कृष्ण काव्य के परिमाण के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि एक ओर तो अकेला कृष्ण-भक्ति-साहित्य और दूसरी ओर हिन्दी-साहित्य के प्रथम तीन कालों का साहित्य।

भक्ति-कालीन कृष्ण-काव्य में वैयक्तिक तथा साम्प्रदायिक कितनी ही शैलियों के भेद मिलते हैं। कुछ कवि राधावल्लभी सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। इन्होंने राधा-कृष्ण की युगलमूर्ति की पूजा पर बल दिया है। इन्होंने कृष्ण की अपेक्षा राधा को अधिक महत्व दिया है। किसी-किसी ने गोपालकृष्ण की आराधना पर अधिक बल दिया है। इनके सिद्धान्तों में न्यूनाधिक अन्तर होते हुए भी सबने सूरदास के काव्य का अनुसरण किया है और सबने पुष्टि-मार्ग पर अपनी आस्था दिखाई है।

मीरा की भक्ति स्वतन्त्र शैली है। उसने कृष्ण-लीला को अपेक्षा कृष्ण के प्रेममय स्वरूप का चित्रण किया है। उसकी भक्ति दाम्पत्य-भाव की है। कृष्ण को रिझाने के लिए वह राधा को बीच में नहीं लाई है बल्कि स्वयं राधा बन गई है। मीरा में रहस्यवाद के भी संकेत स्पष्ट मिल जाते हैं। इस दिशा में उस पर निर्गुण सन्तों का प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है।

भक्त कवियों ने कृष्ण के मनोरंजक रूप को उपस्थित किया है, इन्होंने कृष्ण के लोक रक्षक रूप को हृदयंगम नहीं किया। यहाँ कृष्ण सौन्दर्य के प्रतीक है, राधा-वल्लभ और गोपीनाथ हैं। इन कवियों में नख-शिख-वर्णन तथा नायक-नायिका-चित्रण की परम्परा चल निकली थी।

कृष्ण भक्त-कवियों ने अपनी रहस्यात्मक उक्तियों में चकई, सखि, भृंगी और सुवे का भी सम्बोधन किया है। ये सब आत्मा के प्रतीक हैं। राधा और कृष्ण भी प्रकृति और ब्रह्म के प्रतीक हैं।

कृष्ण भक्त कवियों में तन्मयता और प्रेमानुभूति की मात्रा अपनी चरमसीमा पर पहुंची हुई हैं, भक्त कवि के हृदय की भाव प्रवणता मुस्तक काव्य के रूप में प्रकट हुई है, क्योंकि यह भक्ति-पद्धति प्रबन्ध काव्य के उपयुक्त नहीं थी।

इस साहित्य में राधा-कृष्ण की भक्ति कई रूपों में प्रकट हुई है। सूर की भक्ति सख्य-भाव की है और मीरा की दांपत्य-भाव की। इसके अतिरिक्त दास्य-भाव और वात्सल्य भाव की भक्ति के नमूने भी मिलते हैं। आत्मनिवेदन, विनय, गुरु-प्रशंसा, उपदेश तथा नीति आदि का वर्णन भी इन भक्त कवियो में देखा जा सकता।

कृष्ण-भक्ति साहित्य में दो रस प्रधान हैं, वात्सल्य और शृंगार। वत्सल्य

रस कृष्ण के बालगोपाल रूप से सम्बद्ध है जबकि शृंगार रस के आश्रय हैं राधा-वल्लभ और गोपीकृष्ण। इन दोनों रसों का चित्रण अत्यन्त मनोवैज्ञानिक बन पड़ा है। इस साहित्य में अनुग्रह-याचना के प्रकरण में शान्त रस की सृष्टि हुई है। कृष्ण के अलौकिक रूप चित्रण में अद्भुत रस का अंकन हुआ है। भ्रमरगीत प्रसंग में हास्य रस के अच्छे छींटे हैं। कृष्ण के वीरकृत्यों में, जैसे दुष्ट दैत्यदलन कार्य में, वीर रस का भी चित्रण हुआ है।

तत्कालीन कृष्ण-काव्य ब्रजभाषा में लिखा गया है और उसमें ब्रजभाषा का लोक-प्रचलित रूप है। जड़िया नन्ददास ने भाषा में जड़ने का कार्य किया है मीरा की भाषा में एकरूपता नहीं है। उसमें राजस्थानी का भी पुट है।

कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में संगीत-तत्त्व की एक अनुपम छटा है। सबने पद लिखे हैं, जोकि भगवान् की मूर्ति के सामने कीर्तन के समय गाये जाते थे। नन्द-दास आदि कुछ कवियों ने दोहा, रोला और चौपाई आदि छन्दों का भी प्रयोग किया है, परन्तु इस काव्य में अधिकता राग-रागनियों की है।

कृष्ण भक्त कवि की एक मुख्य विशेषता है—तल्लीनता, तन्मयता और अपने आराध्य के प्रति अटूट, अनन्य, सात्त्विक निष्ठा। इस दृष्टि से कृष्ण-भक्ति साहित्य उच्चकोटि का साहित्य है। इस साहित्य की सहृदयता, सरसता और तल्लीनता विश्व-साहित्य में आदरणीय रहेगी।

रीतिकालीन कृष्ण-काव्य – रीतिकालीन ग्रंथकारों ने प्रायः राधा-कृष्ण के प्रेम का सहारा लेकर शृंगारिकता की सृष्टि की है। इन कवियों ने कृष्ण के सौन्दर्य, राधा की कामक्रीड़ा और गोपियों के विलासमय जीवन का चित्रण किया है। इनका प्रधान उद्देश्य कविता-कौशल-प्रदर्शन था न कि भक्ति। जैसे

रीझि हैं सुकवि जो तो जानो कविलाई।
न तो राधिका-गुबिंद सुमिरन को बहानो है ॥

इस युग में शृंगार रस की प्रधानता है। रीतिभक्त कवि द्वारा चित्रित प्रेम रसिकता से ऊपर नहीं उठ पाया है। इनके शृंगार में जीवन की संतुलित दृष्टि का नितान्त अभाव है। इसकी शृंगारिकता अश्लीलता और नग्नता में परिणित हो गई है। इनके राधा और कृष्ण सामान्य नायिका और नायक बनकर रह गये हैं।

इस युग के कवि ने राधा और कृष्ण के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं के प्रति दास्य और विनय की भावनाए प्रगट की हैं। इस दिशा में इन पर संस्कृत के स्तोत्र साहित्य का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है। इस काल में भैरव, दुर्गा और शिव आदि के स्तोत्रों की भी सृष्टि हुई है। इन लोगों ने तीर्थ-स्थानों की महिमा का भी गान किया है।

रीतियुग भी मुक्तक-काव्य के लिए अधिक उपयुक्त था। कवित्त, सवैया, अरिल्ल, घनाक्षरी आदि मधुर छन्दों का इन कवियों ने अधिक प्रयोग किया है। इस

काल में दोहा और चौपाई छन्द प्रधान रूप से अपनाये गए।

रीतिकालीन कृष्ण काव्य की भाषा एकमात्र ब्रजभाषा है, जिसमें बुन्देलखण्डी तथा अवधी भाषा का भी पुट है। इस काल के कवियों ने भाव-सौंदर्य की अपेक्षा भाषागत सौंदर्य पर अधिक ध्यान दिया है। प्रदर्शन-प्रवृत्ति और अलंकारिकता का मोह इस काल के कवि में खूब बढ़ा-चढ़ा हुआ था। इनमें यमक, अनुप्रास, उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का बाहुल्य है।

रीतियुगीन कृष्ण-काव्यकार में न तो एक अनन्य भक्ति वाली निष्ठा है, न वह तल्लीनता और न वह अनुभूति। रूपलोलुप रीति-काव्यकार की दृष्टि की पहुंच केवल शारीरिक सौन्दर्य तक ही रही है, आत्मा के सौन्दर्य तक वह कभी भी नहीं पहुंच सकी, वह भक्तिमय वर्णन करता हुआ भी तन को नहीं भूलता।

"तजि तीरथ हरि राधिका तन दुति करु अनुराग।"

तथा

"जा तन की झांईं परे स्याम हरित दुति होय।" —अस्तु।

उक्ति-चमत्कार उस काल के कवि को विशेष प्रिय लगा। एतदर्थ कहीं-कहीं पर भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति भी भव्य-सी बन पड़ी है। इस उक्ति-चमत्कार के लिए बिहारी और देव का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

रीतिकालीन कृष्णकाव्यकारों पर किसी सम्प्रदाय विशेष का प्रभाव नहीं है, जैसा कि भक्तियुग के इस धारा के कवियों पर, अतः इन्होंने प्रेम वर्णन केवल प्रेम-वर्णन के लिए किया है। इस काल में कुछ कवियों ने भक्ति-भाव वश प्रेम का अत्यन्त उदात्त वर्णन किया है। रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों में घनानन्द का वही स्थान है जो भक्तिकाल के कृष्ण-भक्त कवियों में सूरदास का।

रीतिकालीन कृष्ण-काव्य में आगत नग्नता और अश्लीलता का एकमात्र कारण है—तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति मुस्लिम प्रभाव, विलासमय राजनीतिक वातावरण और पूर्व साहित्य की परम्परायें। यही कारण है कि इस काल में भक्तिकालीन आध्यात्मिकता भौतिकता का रूप ले बैठी और सूक्ष्मता के स्थान पर स्थूलता आ गई।

उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर एक बात स्पष्ट है कि राधा और कृष्ण के प्रेम को भक्ति युग के कृष्ण-भक्त कवियों ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ भावनाओं का माध्यम बनाया, परन्तु आगे के रीतिकालीन कवियों ने उन्हीं को लेकर उन्मादकारिणी उक्तियों से साहित्य को भर दिया। राधा-कृष्ण भक्ति की जो सूक्ष्मता भक्ति काल में थी उसका आगे चलकर सर्वथा लोप-सा हो गया। इस बात के कारणों का विवेचन कर लेना यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा।

इसके कारण हैं—राधा और कृष्ण का मधुर व्यक्तित्व, प्रेमलक्षणा भक्ति की अति गहनता, सत्य भाव की भक्ति जिसमें मर्यादा का सर्वथा अभाव था, कृष्ण-

भक्ति का दार्शनिक पक्ष, राधा और कृष्ण की अलौकिक लीलायें—रास, पनघट, चीरहरण आदि व्यष्टि में समष्टि का आरोप, पुष्टिमार्ग की अनुग्रहपरक धारणा, वेद-मर्यादादि की अवहेलना, भक्ति के क्षेत्र में श्रद्धा का बहिष्कार, ऐन्द्रिय भोग एवं ऐश्वर्य के उपकरणों का समावेश, तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक विलासितामय वातावरण।

वल्लभ-सम्प्रदाय के पुष्टिमार्ग की भक्ति की एक सुदृढ़ दार्शनिक भित्ति थी। वल्लभ के समय में तथा उसके बाद में काफी समय तक उक्त भक्ति मार्ग में सात्विकता बनी रही, किन्तु शनैः-शनैः उस सात्विकता में ह्रास होने लगा। फलतः उक्त भक्ति में भोग और विलास की प्रधानता हो गई। कृष्ण-मन्दिर महल बन उठे। राधा और कृष्ण के संयोग और वियोग के चित्र साधारण नायक और नायिकाओं के साँचों में ढालकर उतारे जाने लगे। वल्लभ-सम्प्रदाय में अब गद्दी-परम्परा चल निकली। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि उसके गद्दीनशीन विलासप्रिय महन्तों का भोग-ऐश्वर्य संपंन जीवन उनके समय के राजा नवाबों तथा रईसों के लिए होड़ का विषय बन गया था, यहाँ तक कि इन मठों और मन्दिरों में देवदासी प्रथा की पुनरावृत्ति भी होने लगी। सूरदास आदि ने कृष्ण-भक्ति के जिस विशाल पादप को अपने हृदय की शुद्ध भक्ति के रस से सींचा था, अब इसे अनधिकारी पात्रों द्वारा मलिन हृदय के कलुषित वासना जल से सींचा जाने लगा। कुछ तो विद्यापति इनकी राह पहले ही बना चुके थे, कुछ उस समय का वातावरण सामूहिक रूप से इस प्रकार का बन चुका था और फिर परकीया के उन्मुक्त प्रेम के चित्र उतारने की नैतिक अनुमति कामशास्त्रीय ग्रंथों तथा उज्ज्वल नीलमणि से मिल चुकी थी, फलतः कृष्ण-भक्ति की पावन सुरसरी सात्विकता के उच्च श्रृंग से उतर कर वासना की मटमैली भूमि पर बहने लगी। रीतिकालीन कवि की दमित-वासना राधा-कान्ह के सुमिरन का बाना पहन कर श्रृंगार की संकीर्ण नालियों में फूट पड़ी। रीति कवि का मुख्य उद्देश्य 'रसराज' श्रृंगार का वर्णन करना था, उस श्रृंगार के अधिष्ठाता देवता कृष्ण और राधा के कोमल अथवा मधुर व्यक्तित्व को किशोर और किशोरी के रूप में ढाल दिया गया। इस युग के कवि का कथन है—

बाणी को सार बखान्यौ सिंगार,
सिंगार को सार किसोर किसोरी।

तथा

नव रस में सिंगार की पदवी राज विशाल,
सो सिंगार रस के प्रभु हैं श्री कृष्ण रसाल।

किसी आलोचक का रीतिकालीन कवि की इस उक्त मनोवृत्ति को लक्ष्य रखकर कहा हुआ निम्न कथन अत्यन्त उपयुक्त है—"काव्य सरोवर में एक कमल खिल रहा था, उसे भक्ति काल के कवि रूपी हस्ती ने तोड़ लिया। बाद में लोगों के

हाथों में केवल कीचड़ ही लगी। इस कीचड़ को लेकर रीतिकालीन कवियों ने राधा-कृष्ण के सौम्य रूप पर खूब कीचड़ उछाली।"

सूर-काव्य में आध्यात्मिकता अपने प्रकृष्ट रूप को पहुंची हुई है। सूरदास पुष्टि मार्ग के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ के शिष्य हैं जिन्हें पुष्टि-मार्ग का जहाज भी कहा जाता है। पुष्टि-मार्ग के अनुसार ब्रह्म सगुण है और नित्य है। ब्रह्म कारण है और जगत् कार्य है। जीव का धर्म पति-रूप में कृष्ण की सेवा करना है तभी वह शुद्ध अवस्था में पहुंचता है। भगवान् जीव में योग्यता नहीं देखते वरन् उस पर अनुग्रह करते हैं। संक्षेप में सर्वात्मना समर्पण तथा सर्व-कर्म फल-त्याग पुष्टि मार्ग का सार है। जीव को केवल कृष्ण की प्रसन्नता के लिए समस्त भौतिक चेष्टाएँ करनी हैं अतः जीव को लोक और परलोक का भय नहीं रहता। पुष्टि की भक्ति में लोक-परलोक आचार-विचार, सब धर्म-कर्म सभी प्राकृतिक वस्तुएँ कृष्ण के सामने कुछ महत्त्व नहीं रखती। कृष्ण सुन्दर के प्रतीक हैं और त्रिलोकातिगामिनी छवि के पुष्कल पुंज हैं।

गोपियाँ कृष्ण से अभिन्न हैं। दान-लीला, मान लीला, रास लीला, चीर हरण और पनघट ये सब कुछ अपने आपको कृष्णोन्मुख करने के उपकरण हैं तथा विषय-विलास से मुक्ति के साधन हैं। सूर-साहित्य में "नींवी खोलना", "चोली बन्द तोड़ना" और "गोरस हरण" ये सब अत्यन्त सूक्ष्म आध्यात्मिकता से संचालित हैं। इन सबके सांकेतिक अर्थ ग्रहण करना ही यहाँ अभीष्ट है। चोलीवन्द तोड़ना या नींवी खोलने आदि में स्पष्ट रूप से प्रपत्तिवाद है। कृष्ण परम ब्रह्म हैं, गोपियाँ जीवात्माएँ हैं। कृष्ण अवतार हैं इसलिए मायापति हैं। मायाग्रस्त गोपियों को मुक्त करना उनका काम है। यदि यह सब कुछ अनुचित था तब कोई तो गोपी इसका विरोध करती।

चीरहरण—आत्मायें भक्ति रस की सरिता में डुबकी लगाती हैं। उनकी भक्ति प्रेमलक्षणा है पर उन पर माया का पर्दा है। उस आवरण को हटाना चीर-हरण है। दान-लीला के रूप में गोपी भक्त के रूप में अपना सब कुछ अर्पण कर रही है। रास रूपी एक महामिलन है, प्रेमी प्रेमिका के प्रेम की अन्तिम परिणति है। यह युगल-प्रेम प्रकृति और ब्रह्म की अनन्यता तथा कला और काव्य का मिलन है। कृष्ण एक अपार शक्ति हैं और गोपी रूपी ऐटम्स (Atoms) सतत गति से उसके इर्द गिर्द घूम रहे हैं। आधुनिक युग के प्रसिद्धतम वैज्ञानिक आईंस्टीन की भी विश्व के रहस्य के सम्बन्ध में ऐसी ही धारणा है। अस्तु !

घुटनशील वातावरण में साँस लेने वाले, वैयक्तिकता से विहीन एवं जीवन के विविधमुखी मूल्यों के प्रति चिन्तनशून्य, 'सन्तन कौ कहा सीकरी सों काम' के स्थान पर राजदरबारी का जय जय गान करने वाले, 'स्वान्तः सुखाय' के स्थान पर 'स्वामिनः सुखाय' रचना करने वाले रीति-काल के कलाकार के पास सूर की भक्ति की आध्यात्मिकता की गहनता के चिन्तन एवं मनन का अवकाश कहाँ था ? उसका

मानसिक क्षितिज "तिय छवि" से संपूर्ण रूप से आवृत था। बस, वह उस संभित घेरे में ही चक्र लगाता रहा बल्कि उसने राधा को भी अपनी आवश्यकतानुसार ढाल लिया। रीतिकालीन कवि की राधा और कृष्ण वृन्दावन की कुंजों में विचरने तथा रास रचाने वाले नहीं बल्कि वे तो आगरा और जयपुर की गलियों में परस्पर छेड़-छाड़ करने वाले छैल-छबीले, अल्हड़, मन फेंक नायक और नायिका हैं। उनमें तीखी नोंक-झोंक चलती है। वाणी के चातुर्य में वे दोनों सिद्धहस्त हैं। जैसे—

गोरस चाहत फिरत हौ गोरस चाहत नाहिं।

उनके तीखे नुकीले नयन-बाणों का कहना ही क्या, एक बाँकी अदा से और तिरछी चितवन से लाल-बेहाल हो जाते हैं "कहाँ लड़ैते दृग करें परे लाल बेहाल" कवि राधा और कृष्ण की जोड़ी में अभिधामूलक व्यंजना से गाय और बैल के युगल की बातें सोचने लगा। रीतिकालीन कवि को लाल की चित्रकारी का उपयुक्त निशाना उरोज ही दीख पड़े। उनके राधा और कृष्ण लुक-छिपकर परस्पर अभिसार के गुप्त स्थलों का संकेत करने वाले रह गए। दरअसल यह बात इस काल के साहित्य में सबसे बड़ी खतरनाक है। इस प्रकार इस टट्टी की आड़ में शिकार खेलने की मनोवृत्ति के दोष के लिए केवल उस समय का साहित्यकार ही उत्तरदायी नहीं बल्कि उस समय का समाज भी उत्तरदायी है।

हिन्दी रीति-ग्रंथों के निर्माता प्रमुख आचार्य-कवि

हिन्दी-साहित्य के दो सौ वर्षों के रीति-काल में अनेक लक्षण-ग्रंथों का निर्माण हुआ। विषय की दृष्टि से हम उन लक्षण-ग्रंथों को निम्न वर्गों में रख सकते हैं—

(१) रस-विषयक ग्रंथ।
(२) अलंकार-विषयक ग्रंथ तथा पिंगल-शास्त्र-सम्बन्धी रचनाएँ।
(३) काव्य के सर्वांग-निरूपक ग्रंथ।

इन ग्रंथों में रीति-ग्रंथकारों ने दो प्रकार का प्रयास किया है, एक तो काव्य के विविध अंगों के लक्षण प्रस्तुत करना, दूसरे सुन्दर तथा सरस उदाहरण जुटाना। अतः नीचे के प्रकरण में उनके आचार्यत्व तथा कवि-कर्म की समीक्षा करना हमें अभीष्ट है।

आचार्य-कवि केशवदास – जन्म स्थानादि—केशवदास का जन्म एक सनाढ्य ब्राह्मण कुल में हुआ। इनके पिता का नाम काशीनाथ था जो कि संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् थे। संस्कृत के "शीघ्र बोध" नामक ज्योतिष ग्रंथ का निर्माण इन्होंने किया था, केशव का सम्बन्ध पण्डितों के उस परिवार से था जहाँ दास-वर्ग भी संस्कृत भाषा का व्यवहार किया करता था। कदाचित् यही कारण है कि केशव को भाषा में कविता करते समय कुछ ग्लानि का अनुभव हुआ था और इस क्षति-पूर्ति का स्पष्ट प्रमाण उन का यत्र-तत्र पांडित्य-प्रदर्शन देखा जा सकता है। केशव ओरछा-नरेश महाराज इन्द्र-

जीत की राज सभा में रहा करते थे जहाँ इनका बहुत मान था। ओरछा-नरेश इन्हें अपना गुरु स्वीकार करते थे और उन्होंने इन्हें २१ गाँव दान में दिए थे केशवदास हिन्दी के विशेष लोक-प्रिय कवि बिहारी के पिता थे। इनका जन्म अनुमानतः स० १६१२ विक्रमी माना जाता है और मृत्यु सं० अनुमानतः १६७४।

ग्रन्थ—निम्नलिखित रचनायें केशव की प्रामाणिक रचनाएँ मानी जाती हैं—रसिकप्रिया, नखशिख, कविप्रिया, छन्दमाला, रामचन्द्रिका, वीरसिंह देव चरित, रतन बावनी, विज्ञान गीता और जहाँगीर जस चन्द्रिका। इनमें प्रथम चार ग्रंथ काव्यशास्त्र से सम्बद्ध हैं। रामचन्द्रिका एक महाकाव्य है जिसमें रामचरित का गान वाल्मीकि की रामायण के आधार पर किया गया है। वीरसिंह देव चरित, रतन बावनी तथा जहाँगीर जस चंद्रिका नाम के ग्रंथों में तत्तद्नामों से सम्बन्धित राजा-महाराजाओं की वीरगाथायें एवं यशोगान हैं। विज्ञान गीता एक आध्यात्मिक ग्रंथ है, जिसका निर्माण प्रबोध-चन्द्रोदय की पद्धति पर हुआ है। इन ग्रंथों के वर्ण्य विषय के आधार पर कहा जा सकता है कि उनमें काव्य-निर्माण की विविध शैलियों की क्षमता थी। रामचन्द्रिका महाकाव्य शैली का निदर्शन है, तो वीरसिंह देव चरित, रतन बावनी और जहाँगीर जस चन्द्रिका आदिकालीन वीर-चरितात्मक शैली का उदाहरण है। एक ओर उन्होंने विज्ञान गीता में नाटक की रूपक शैली को अपनाया तो दूसरी ओर उन्होंने अपने काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों के द्वारा रीति-निरूपण की नूतन पद्धति का सुव्यवस्थित रूप से प्रवर्तन किया। इस दृष्टि से केशव का व्यक्तित्व बहुत कुछ भारतेन्दु जैसा लगता है।

आचार्यत्व—हिन्दी-साहित्य में केशव का आचार्य के नाते जितना महत्त्व है उतना कवि के नाते नहीं। कारण, केशव की चित्त-वृत्ति काव्य शास्त्रीय निरूपण में अधिक रमी है। इनकी रामचन्द्रिका विविध छन्दों और अलंकारों का पिटारा मात्र है। केशव की "रसिकप्रिया" रस-विवेचन से सम्बद्ध ग्रंथ है, जिसमें प्रमुखतः श्रृंगार रस का वर्णन है, अन्य रसों का इन्होंने गौण रूप से वर्णन किया है। इस ग्रंथ के अन्त में अन-रस नाम से पाँच रस दोषों का भी निरूपण किया है। श्रृंगार रस निरूपण में नायक-नायिका भेद का भी निरूपण किया गया है। इस सम्बन्ध में केशव पर भानुमिश्र की रसमंजरी, विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण, भोज के श्रृंगारप्रकाश और काम सम्बन्धी ग्रंथों का प्रभाव असंदिग्ध है। केशव ने श्रृंगार को रसराज माना है और उसमें अन्य सभी रसों का अन्तर्भाव कर दिया है। श्रृंगार का रस-राजस्व तो ठीक है पर अन्य रसों और विशेषतः श्रृंगार के विरोधी रसों का अन्तर्भुक्त हो जाना नितांत अशास्त्रीय है। केशव ने सभी रसों का वर्णन श्रृंगार रस के अधिष्ठाता कृष्ण को आलम्बन बना कर किया है। यह सब कुछ सरस और सुन्दर उदाहरण जुटाने की लालसा से है। अस्तु ! केशव की इस मान्यता पर रूप गोस्वामी की उज्ज्वल नीलमणि का प्रभाव स्पष्ट है। केशव ने श्रृंगार रस के संयोग और वियोग के अतिरिक्त प्रच्छन्न और प्रकाश दो और भी भेद किए हैं। वास्तव में प्रच्छन्न को तो रस की संज्ञा ही प्राप्त

नहीं होती क्योंकि विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के संयोग से निष्पन्न—व्यक्त—स्थायी भाव ही रस-दशा को प्राप्त होता है। केशव की कविप्रया में कवि-शिक्षा, अलंकार-निरूपण और दोषों का वर्णन है। कवि-शिक्षा प्रकरण में कवि के कर्त्तव्यों और कवियों के उत्तम, मध्यम, अधमादि भेदों का उल्लेख किया है। केशव के इस काव्य-विभाजन पर भर्तृहरि का प्रभाव स्पष्ट है और उनका यह भेद कोई समीचीन भी नहीं है। केशव ने कुल मिलाकर २३ दोषों का वर्णन किया है। कविप्रिया के प्रथम पाँच दोष अंध, बधिर, पंगु, नग्न और मृतक आदि का नाम बड़ा विचित्र सा लगता है और सम्भव है कोई आलोचक उन्हें इस मौलिक उद्भावना की दाद भी दे किन्तु प्रथभ चार का तो मम्मट-वर्णित दोषों में अन्तर्भाव हो जाता है। और उसका मृतक तो काव्य-दोष जान ही नहीं पड़ता, क्योंकि जहाँ शब्द और अर्थ मृत प्रायः होंगे वहाँ काव्यत्व संभव ही नहीं।

केशव ने काव्य के सभी सौन्दर्य विधायी उपकरणों को अलंकार कहा है। केशव की इस अलंकार सम्बन्धी परिभाषा पर भामह, उद्भट, दंडी का प्रभाव है, जब कि इन आचार्यों के समय में अलंकार और अलंकार्य का भेद स्पष्ट नहीं हो पाया था। केशव के अलंकारों के साधारण और विशिष्ट भेद भी तर्कसंगत नहीं। केशव ने अपने अनुकार्य संस्कृत-आचार्यों के समान नव रसों का रसवत् अलंकार के अन्तर्गत वर्णन किया है जो वैज्ञानिक नहीं है। उन्होंने अंगी का अन्तर्भाव अंग में कर दिया है। केशव ने सर्वगुण-सम्पन्न अलंकार-रहित कविता को भी उसी प्रकार शोभाहीन माना है जिस प्रकार सर्वगुण-सम्पन्न आभूषणरहित नारी को। केशव की इस अति अलंकरण-प्रियता को देखकर उन्हें अलंकारवादी आचार्य भी कहा जा सकता है, परन्तु उन्होंने रस की सर्वथा अवहेलना की हो ऐसी बात नहीं। केशव अपने आधारभूत अलंकारों का निर्भ्रांत रूप से निरूपण नहीं कर पाए हैं। कहीं इनके लक्षण, कहीं उदाहरण और कहीं दोनों भ्रामक हैं। अलंकार निरूपण में जहाँ उन्होंने कुछ मौलिकता का प्रदर्शन करना चाहा है वहाँ वे असफल ही रहे हैं। आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध मे लिखते हैं—"नामों में अवश्य कहीं-कहीं थोड़ा हेर-फेर मिलता है जिससे गड़बड़ी के सिवाय और कुछ नहीं हुआ है। उपमा के जो-जो भेद केशव ने रखे हैं उनमें १५ ज्यों के त्यों दण्डी के हैं, ५ के केवल नाम भर बदल दिए गए हैं। शेष रहे दो भेद—संकीर्णोपमा और विपरीतोपमा; इनमें विपरीतोपमा को तो अलंकार कहना ही व्यर्थ है। इसी प्रकार आक्षेप के जो ६ भेद केशव ने रखे हैं उनमें चार तो ज्यों के त्यों दंडी के हैं। पाँचवा मरणाक्षेप दंडी का मूर्च्छाक्षेपा है। कविप्रिया का प्रेमालंकार दण्डी के प्रेयस् का ही नामान्तर है। उत्तर अलंकार के चारों भेद वास्तव में पहेलियाँ हैं। कुछ भेदों को दण्डी से लेकर केशव ने उनका और अर्थ का और समझा है।"

केशव का छन्द-सम्बन्धी ग्रंथ है 'छन्दमाला'। यह एक छोटी सी पुस्तिका है जिसमें साधारणरूप से छन्द-सम्बन्धी शिक्षा दी गई है। इस ग्रंथ का ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व है, विषय-विवेचन की दृष्टि से नहीं।

इस संक्षिप्त विवेचन के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनके काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में काव्यांगों का कोई गंभीर और प्रौढ़ विवेचन नहीं है। उन्होंने संस्कृत-काव्यशास्त्र का हिन्दी-रूपान्तर प्रस्तुत किया है और उसमें भी इन्होंने काव्य के अनेक नियमों को स्पष्ट नहीं किया, बल्कि उनका सही अनुवाद भी नहीं किया। उदाहरणों में वे प्रायः विषयेतर हो जाते हैं। लक्षण लिखते समय उनकी स्पष्टता की ओर ध्यान न देकर उन्हें काव्य-चमत्कार से युक्त बनाना चाहते हैं। उदाहरण लिखते समय उन्हें एक से अधिक अर्थ या एक से अधिक उद्देश्य सिद्ध करने की लगी रहती है। परिणामतः उनके दोनों काम कच्चे रह जाते हैं। केशव की दशा उस घुड़सवार जैसी हुई है जो दो घोड़ों पर एक साथ सवारी करना चाहता हो।

अन्त में हम आचार्य केशव के संबंध में डॉ० भगीरथ मिश्र के शब्दों में कह सकते हैं—"केशवदास का महत्त्व सचमुच इस बात में है कि उन्होंने पहले काव्य-शास्त्र के लगभग सभी अंगों पर प्रकाश डाला। केशवदास ने चाहे उनकी रचना कितनी अपूर्ण हो, संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य-शास्त्र के लगभग सभी अंगों पर विचार किया है। और संक्षेप में लक्षण कहकर उनको अपने द्वारा बनाये उदाहरणों में युक्त किया है। केशव की मौलिकता बहुधा उदाहरण में और कहीं-कहीं नये वर्गीकरण में देखी जा सकती है।"

कवित्व हिन्दी के मध्य युग के साहित्य में केशव ने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार के काव्यों का प्रणयन किया है। विज्ञान-गीता, वीरसिंहदेव चरित, रतन-बावनी, जहाँगीर जस चन्द्रिका इनके प्रबन्ध काव्य हैं। विज्ञान गीता में आध्यात्मिक विषयों की चर्चा है जबकि बाकी के तीन काव्यों में प्राकृतजन गुण-गान है। रतन-बावनी में ५२ पद्यों के स्थान पर आज ६८ पद्य मिलते हैं। इससे स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि कुछ पद्य इसमें प्रक्षिप्त हैं। केशव की 'रामचन्द्रिका' में मर्यादापुरुषोत्तम राम के चरित का गान है। केशव के इन ग्रंथों के आधारभूत ग्रंथ हैं—वाल्मीकि रामायण, हनुमन्नाटक तथा प्रसन्नराघव। केशव ने इस ग्रंथ के संबंध में लिखा है कि वाल्मीकि मुनि ने स्वप्न में कहा कि "तू भला बुरा तो गुनता नहीं बेकार की बात लिखा करता है, कुछ राम का चरित गा नहीं तो तुझे स्वर्ग ही नहीं मिलेगा।" इससे यह तो स्पष्ट है कि केशव ने रतन-बावनी आदि ग्रंथों में जो उन्मुक्त कठ से गान किया था, उससे उन्हें आत्मग्लानि होने लग गई थी। पर एक बात इस प्रसंग में स्मरण रखनी होगी कि रामचन्द्रिका में जहाँ राम के पुनीत चरित का गान करना कवि का मुख्य उद्देश्य था वह गौण-सा हो गया और वहाँ भी वे वाग्जाल पांडित्य प्रदर्शन, छन्द और अलंकारों के पचड़ों में पड़ गये। आज का आलोचक केशव की रामचन्द्रिका के महाकाव्यत्व को सन्देह की दृष्टि से देखता है। उसका कहना है कि इसमें कथा-प्रवाह स्थल-स्थल पर उखड़ा-पुखड़ा है, कथा-क्रम में यत्र-तत्र व्याघात है, कथा-प्रसंग अपनी रुचि के अनुसार तोड़े-मरोड़े गये हैं, अव्यवस्थित और असंतुलित हैं। चरित-चित्रण और शैली की दृष्टि से भी इस रचना को महाकाव्य की उदात्तता

प्राप्त हो पाई है। कथा के बीच मार्मिक स्थलों की ओर केशव का ध्यान नहीं गया और दरअसल ऐसे ही स्थलों पर सच्चे कवि-हृदय की पहचान हुआ करती है। ऐसे स्थलों को या तो इन्होंने छोड़ दिया है या इतिवृत्त मात्र कह कर चलता कर दिया है। वन पथ पर राम को देखकर लोगों से यह कहलवाना "किधौं मुनि शापहत, किधौं ब्रह्मदोष रत, किधौं कोऊ ठग हौ" सन्देह अलंकार के मोह में पड़कर अपनी हृदय-हीनता का परिचय देना है। केशव में आलंकारिक चमत्कार का मोह इतना बढ़ा-चढ़ा हुआ है कि कहीं-कहीं पर अत्यन्त घटिया उपमानों का प्रयोग कर बैठते हैं। राम की वियोग-दशा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं :—

'बासर की संपति उलूक ज्यों न चितवत'

इसी प्रकार इन्होंने पंचवटी के वर्णन के प्रसंग में शब्द-साम्य के आधार पर श्लेष के खिलवाड़ खड़े किये हैं—"केशव-केशव राय मनौ कमलासन के सिर ऊपर सोहे।" इसी प्रकार सीता के साथ वन-बालाओं का श्लेष अलंकार में बातें करवाना भी नितान्त असंगत है। लगता है कि केशव केवल उक्ति-वैचित्र्य और शब्द-क्रीड़ा के प्रेमी थे। जीवन के नाना गम्भीर और मार्मिक पक्षों पर उनकी दृष्टि नहीं थी। सम्भव है केशव की उक्त प्रवृत्ति को तथा उनकी छिछली रसिकता को देखकर आलोचकों ने उन्हें कठिन काव्य का प्रेत एवं हृदयहीन कवि कहा हो। आचार्य हजारीप्रसाद केशव के सम्बन्ध में लिखते हैं—"कवि को जिस प्रकार का संवेदनशील और प्रेषण धर्मवाला हृदय मिलना चाहिये वैसा केशवदास को नहीं मिला था।" अस्तु !

केशव के पाठक के सम्मुख कुछ प्रश्न स्वतः उठने लगते हैं। क्या केशव कठिन काव्य के प्रेत हैं? क्या उन्हें कवि के नाते कुछ भी सफलता नहीं मिली? क्या उनके काव्य में रस नाम की वस्तु को ढूंढना ऐसे है जैसे कि मरुस्थल में जल? मेरे विचार में केशव का मूल्यांकन करते समय या तो हीनोक्ति से काम लिया गया है या अतिशयोक्ति से। केशव के कवि में वे सभी परिसीमायें हैं जो कि एक राजदरबारी कवि के जीवन में होनी स्वाभाविक हैं। पर जहाँ केशव का हृदय रमा है वहाँ उनका कवि-रूप उभर आया है। युद्ध, सेना की तैय्यारी, उपवन, राज-दरबार के ठाट-बाट तथा शृंगार और वीररस के वर्णन के प्रसंगों में केशव को काफी प्रशस्य सफलता मिली है। संवाद-नियोजन की कला तो उनकी अनुपम ही है और इस दिशा में उन्हें तुलसी से भी अधिक सफलता मिली है। यदि वे प्रबन्ध-काव्य न लिखकर नाटक रचना करते तो उन्हें आशातीत सफलता मिलती।

निःसन्देह उनकी अभिव्यंजना शैली सदोष है। उनकी भाषा में च्युत-संस्कृति और न्यूनपदत्व आदि के दोष भी हैं, वाग्जाल और पांडित्य का मोह उनके काव्य-सौन्दर्य को यत्र-तत्र ध्वस्त कर देता है, आलंकारिक चमत्कार वृत्ति और भौंडी रसिकता उन्हें उदात्तभाव योजना नहीं करने देती, प्राकृतिक वर्णनों के प्रति वे प्रायः तटस्थ हैं, परन्तु फिर भी वे अपनी कतिपय विशिष्टताओं के कारण सूर और तुलसी

के बाद में स्थान को पाते आये हैं। पंडित समाज में उनकी रामचन्द्रिका का आज भी यथेष्ट सम्मान है। वे हिन्दी की रीति-परम्परा के प्रवर्तक हैं और इस दिशा में कुछ न कुछ अनुकरणीय भी रहे हैं। उन्होंने हिन्दी काव्य सरणि को भक्ति पथ से रीति पथ की ओर अग्रसर किया, भले ही वे स्वयं इस नूतन पथ के सफल यात्री सिद्ध न हो सके हों और फिर केशव के इस राह पर चलने वाले परवर्ती राहियों की दशा तो और भी विचित्र हो गई।

केशव के पश्चात् हिन्दी कविता—केशव के अनन्तर हिन्दी कविता अपने ऊँचे शिखर से गिरकर अलंकारादि के मायाजाल में ऐसी फँसी कि वह हृत्तंत्री को बजाने वाली और समस्त सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्वन्ध को स्थापित करने वाली न रही। इसके कारण स्पष्ट हैं।

भक्ति-काल में कविता का उद्देश्य अत्यन्त उदात्त था। वे लोग पहले भक्त थे बाद में कवि। उन्होंने दुनिया को आँखों से देखा था और वे अनुभूति के धनी थे। उन्होंने जन-सामान्य को मंगलमय सन्देश सुनाया। उनका उद्देश्य था—"कीरति भनिति भूति भलि सोई।" उन्हें स्वान्त:सुखाय कविता करनी थी और उन्हें सीकरी से कोई सरोकार नहीं था। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा और जायसी के हृदयोद्गारों में जनमानस को सदियों तक उद्वेलित करने की अपार क्षमता है। उनकी कविता में भावपक्ष को अभीष्ट प्रश्रय मिला है। काव्य के कलापक्ष को सबल और प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में ग्रहण किया गया हालाँकि इसकी ओर कोई विशेष रुचि नहीं थी। उनका आदर्श था 'भाव उत्तम चाहिये भाषा कैसी होय'। भक्ति काल का रससिद्ध कवि अलंकार आदि कविता के बाह्य उपकरणों के पीछे बेतहाशा भागा नहीं, परन्तु ये उसकी रसमयी वाणी में स्वत: आ गये। इसके विपरीति रीति काल की कविता-कामिनी एक विचित्र बाना पहन कर काव्यशास्त्र की उँगली पकड़ कर बड़ी सज-धज से बाहर निकली। उसने अलंकार को अपने ऊपर इतना लाद लिया कि कदाचित् मुक्त गति से चल भी न सकी और न ही सामाजिक वातावरण में उन्मुक्त श्वास ले सकी। भक्ति-काल में हृदय-पक्ष की प्रधानता थी, जबकि रीतिकाल में कलापक्ष की। रीति-काल का कवि शब्दचयन, स्वरलहरी, लाक्षणिक वक्रता, उक्ति-वैचित्र्य, पेचीदे मजमून, ऊहात्मकता और अलंकारों की खिलवाड़ में बुरी तरह रम गया। रीति-काल के कवि की दृष्टिजन-जीवन के प्रतिदिन के संघर्षों से अपरिचित थी। वह महलों में विलासमय जीवन के चित्र उतारने में लगी रही।

जिस राम के पावन-चरित्र पर तुलसी ने 'रामचरितमानस' जैसा अमर ग्रंथ लिख डाला, वही रामचरित केशव के लिए छन्द और अलकारों के प्रदर्शन की सामग्रीमात्र बन गया 'रामचन्द्र की चन्द्रिका बरनन हौं बहुछन्द'। एक प्रबन्ध के बीच मर्मस्पर्शी स्थलों के नियोजन के लिए जो सूक्ष्म-शक्ति और सहृदयता अपेक्षित होती है वे केशव में नहीं थीं और न ही किसी अन्य रीति के पथ के राही में। वे कविता कामिनी की शारीरिक साजसज्जा में लीन रहे, आत्मा तक नहीं पहुँच सके

ग्रौर साथ-साथ ग्रलंकारों के भार से कविता-कान्ता को रुद्ध-श्वास बना दिया। उसका हृदय-पक्ष निकल जाने से वह बुद्धि का खिलवाड़ मात्र रह गई। उसमें मन को रमाने की शक्ति न रही, वह केवल चमत्कार मात्र रह गई ग्रौर वह भी हाथी दाँत पर खुदे बेल बूटों तथा महीन चित्रों के समान जो क्षणिक मनोरंजन मात्र कर सकते हैं। भले ही रीतिमुक्त कवि घनानन्द ग्रादि इसके ग्रपवाद भी कहे जा सकते हैं।

रीति-काल में ग्रधिकांश कवियों ने लक्षण ग्रंथों की रचना की। इन लक्षण ग्रंथकारों का उद्देश्य हृदय के तारों को झंकृत करना नहीं था, वरन् लक्षण-उदाहरणों से ग्रपना पांडित्य-प्रदर्शन था। लक्षण ग्रंथों के मोह में वे इतने बेसुध हुए कि उन्हें कविता की भी सुध न रही। वे संस्कृत के ग्राचार्यों के लक्षण-ग्रंथों के ग्रनुवाद एवं भावानुवाद में प्रवृत्त रहे ग्रौर नायिका-भेद के चक्रव्यूह में फँस कर ग्रपनी सारी शक्ति लगा दी। यहाँ तक कि इस रीति-कल्लोलिनी की उत्तल तरंगों के प्रखर छींटों से वीर रस के उत्थापक कवि भूषण भी ग्रपने ग्राप को बचा न सके। बिहारी ने कोई स्वतन्त्र लक्षण ग्रंथ नहीं लिखा, परन्तु फिर भी उनके बहुत से दोहों की पृष्ठभूमि में यह शास्त्र काम कर रहा है। ग्रन्यथा देव, बिहारी, मतिराम, भूषण ग्रौर पद्माकर भावप्रवण कवि हैं, इनमें कवित्व की खूब शक्ति थी। यदि वे इस परम्परा में न बहते तो कितना ग्रच्छा होता।

रीति-युग का कवि राजाश्रित था। उस युग में कविता हुक्म, ग्राज्ञा या Order पर बनती रही। रीति-कवि की ग्रपनी परिसीमायें थीं ग्रौर वह उनसे विवश था। परिणामतः उसकी सहज ग्रनुभूतियों ग्रौर कल्पना-शक्ति का समुचित दिशा में विकास नहीं हो सका। सच यह है कि नौकरी ग्रौर शायरी दो विरोधी वस्तुएं हैं। प्रदर्शन-प्रधान उस युग में कवि ग्रालंकारिक चमत्कार में मस्त रहा ग्रौर रस ग्रपेक्षाकृत उपेक्षित सा रह गया। फलस्वरूप कवित्व की ऊँची से ऊँची वस्तु रीतिकाल में नहीं ग्रा पाई। एक उर्दू कवि के शब्दों में—

भरते हैं मेरी ग्राह को वे ग्रामोफोन में।
कहते हैं ग्राह खेंचिये ग्रौर दाम लीजिये।।

शुक्ल जी के कथनानुसार रीति काल में पेचीदे मजमून हैं, सीधे ग्रौर सरल भाव नहीं हैं। इन मजमून बांधने वालों में बिहारी, देव ग्रौर पद्माकर का नाम मुख्य है। बिहारी ने बहुत दूर की कौड़ी पकड़नी चाही है। बिहारी की इस उक्ति में 'दृग उरझत टूटत कुटुम्ब' ग्रसंगति ग्रलंकार के ग्रतिरिक्त ग्रौर कुछ भी नहीं। ग्रौर देव की इस उक्ति में 'वा चकई कौ भयो चित्रचीतो' ग्रनुप्रास तथा उत्प्रेक्षा की झड़ी मात्र है, हृदय को पकड़ लेने वाली कोई भी वस्तु नहीं है। ऐसी उक्तियों में एकमात्र श्रमसाध्यता है, भावनाग्रों का सहज उद्रेक नहीं है। कहीं-कहीं पर इनकी ग्रतिरंजना-पूर्ण कल्पनाएँ हास्यास्पद भी बन गई हैं। इनका प्रधान कारण भौंड़ी रसिकता ग्रौर तत्कालीन विलासितामय वातावरण है। इस दिशा में विदेशी साहित्य का प्रभाव भी ग्रांशिक रूप से कारण माना जा सकता है। ऐसी उक्तियाँ कविता न होकर

खिलवाड़ मात्र हैं और पहेली बुझौवल है। बिहारी के निम्न दोहे इस प्रसंग में द्रष्टव्य हैं—

> इत आवति चलि जाति उत चली छः सातक हाथ।
> चढ़ी हिंडोरे सी रहे लगी उसासन साथ॥
> आड़े दे आले बसन जाड़े हू की राति।
> साहस कै कै नेह बस सखी सरैं ढिग जाति॥

प्रकृति-वर्णन में भी इन्होंने अपने हृदय की कृपणता का परिचय दिया है। इनमें प्रकृति के विम्बग्राही चित्रण की शक्ति नहीं थी। संस्कृत के बाल्मीकि, कालिदास तथा भवभूति को तो जाने दीजिये। इन्होंने इस दिशा में तुलसी और सूर जैसी भी तन्मयता नहीं दिखलाई है। एक ऋतु पर एक-एक दोहा लिखकर बिहारी जैसे कवि ने प्रकृति-चित्रण कार्य से छुट्टी पा ली। इन लोगों ने प्रकृति का चित्रण उद्दीपन रूप में किया है और वह भी परम्परा-पालनार्थ। केशव जैसे के लिए मुख की विद्यमानता में चन्द्र और कमल कुछ अर्थ ही नहीं रखते। केशव ने प्रकृति-चित्रण में कहीं-कहीं भद्दी भूलें भी की हैं। प्रकृति इनके लिए उद्दीपन का उपकरणमात्र बन कर रह गई, उसे इन्होंने सजीव इकाई के रूप में चित्रित नहीं किया, फिर इनसे अशेष प्रकृति के साथ रागात्मकता की आशा की बात तो दूर रही।

केशव में फिर भी यथाकथंचित् कुछ मर्यादा या शिष्टता बनी रही। केशव को निज समय में ही कविता के अधोमुखी ह्रास का आभास होने लगा था। उन्होंने अपनी कविप्रिया में तीन प्रकार के कवियों का वर्णन करते हुए उनकी मनोवृत्तियों और कविता-सम्बन्धी दृष्टिकोणों का भी विश्लेषण किया है—

> केशव तीनहु लोक में त्रिविध कविन के राय।
> मति पुनि तीन प्रकार की बरनत सब सुख पाय।
> उत्तम मध्यम अधम कवि उत्तम हरि रस लीन।
> मध्यम मानत मानुषनि दोषनि अधम प्रवीन॥
> है अति उत्तम ते पुरुषारथ जे परमारथ के पथ सोहै।
> केशवदास अनुत्तम ते नर संतत स्वारथ संजुत जो हैं॥
> स्वारथ हूँ परमारथ भोग न मध्यम लोगनि के मन मोहैं।
> भारत पारथ मित्र कह्यौ, परमारथ स्वारथ हीन ते कोहैं॥

निःसन्देह केशव ने राम और सीता को शृंगारी रूप दे दिया है और वे तुलसी के समान मर्यादा का पालन नहीं कर सके फिर भी उन्होंने शृंगार-वर्णन में इतना हल्कापन नहीं आने दिया, जितना कि परवर्ती अन्य रीति-कवियों में है। केशव के पश्चात् जो रीतिकालीन कवियों ने राधा और कृष्ण के नाम पर शृंगार की वे गन्दी नालियाँ बहाई हैं कि कदाचित् सड़ांध तो अब भी उनमें मौजूद है। सूरदास ने अत्यन्त सात्त्विकता के साथ राधा और कृष्ण के शृंगार का आध्यात्मिक स्तर पर

वर्णन किया था, किन्तु इन अनधिकारी के हाथों में पड़कर वे साधारण नायक और नायिका ही बन कर रह गये और इनकी आड़ में रीतिकालीन कवि लगे मानसिक फफोले फोड़ने। इन्होंने अपनी आवश्यकता—पूर्ति के लिये स्वकीया के वृत्त को भी बढ़ा लिया। इस काल में काम की सार्वभौम उपासना हुई और अश्लीलता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। इस काल का प्राय: प्रत्येक कवि उस्ताद ही निकला। समय पलटे-पलटे प्रकृति के अनुसार कवि लोग स्वयम् महाराज के कानों में मकरध्वज की पिचकारियां छोड़ने लगे तथा शृंगार-चषक-पिलाने लगे। इस सम्बन्ध में रीति युग के कुछ कवियों की निम्न उक्तियां द्रष्टव्य हैं—

बिहारी—१. लरिका लैवे के मिसन……।
२. बिहँसि दुलाई विलोकि उन……।
३. कन दैबो सौंप्यो ससुर……।
४. राधा हरि, हरि राधिका बनि आये संकेत।

मतिराम—केलि की राति अघाने नहीं प्रभु……।

पद्माकर—नींवी और बार संभारिवे की सुभई सुधि नारि को चार घरी में।

ग्वाल—१. हाय हम आगे जबही कछु करन लागे।
तब ही उलट पापी पलक जुदे भये।
२. जैसी पालाहरन सकित प्यारी बाला में।

सचमुच ये लोग इस दिशा के वात्स्यायन तथा फ्रायड के भी उस्ताद निकले हैं। इनकी दृष्टि में सामाजिक महत्त्व तो था ही कुछ नहीं। ऐसी रचनाएँ काम शास्त्र की कोटि में भले ही आ जायें इन्हें उदात्त कविता की कोटि में नहीं रखा जा सकता, जहाँ काम अंग न रहकर अंगी रूप में चित्रित हुआ है। आचार्य शुक्ल ने एक स्थान पर बिहारी की कविता को लक्ष्य रखकर कहा है—"भावों का बहुत उत्कृष्ट और उदात्त रूप विहारी में नहीं मिलता। कविता उनकी शृंगारी है पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुँचती, नीचे रह जाती है।" यह कथन प्राय: रीति काल के सभी कवियों पर चरितार्थ होता है। देव के अष्टयाम में रात दिन के भोगविलास की दिनचर्या है जो उस काल के अकर्मण्य और विलासी राजाओं के काल-यापन के उद्देश्य से लिखी गई। रीति काल की कविता एकदम हीन है, ऐसी बात भी नहीं है। भले ही उस युग के कवि सूर और तुलसी की समकक्षता में नहीं आ सकते, फिर भी वे अच्छे हैं और उनका यह महत्त्व तत्कालीन परिस्थितियों के आलोक में देखने से और और भी बढ़ जाता है।

रीतिकालीन कवियों को रीतिबद्ध और रीतिमुक्त दो कोटि में रखा गया है। बिहारी, देव, मतिरात, भूषण, पद्माकर आदि रीतिबद्ध हैं, परन्तु वे प्रगलभ-प्रतिभा-सम्पन्न भावुक कवि हैं। यदि ये लक्षण-परम्परा की दलदल में न पड़ते तो निश्चित रूप से उनकी कविता का सुन्दर विकास हो सकता। रीतिमुक्त कोटि में

घनानन्द, बोधा और ठाकुर आदि का नाम लिया जा सकता है। इनकी कविता में हृदय की मार्मिक अनुभूतियाँ हैं। रीतिबद्ध कवियों के सम्बन्ध में हिन्दी-साहित्य के अत्यन्त विचारशील आलोचक रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"इन कवियों का उद्देश्य कविता करना था न कि शास्त्रीय पद्धति पर काव्यांगों का निरूपण करना। अतः इनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों और अलंकारों के बहुत से सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए हैं। ऐसे मनोहर और सरस उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण ग्रंथों से चुनकर इकट्ठे किये जायें तो भी उनकी संख्या अधिक न होगी।"

भले ही रीतिकाल की कविता बाह्य आडम्बर प्रधान है, उसमें भक्तिकालीन शालीनता और उदारता नहीं, सामाजिकता की उसमें घोर अवहेलना है और वह केवल सुन्दरं को ही प्रश्रय देती रही है फिर भी उनमें वे तत्त्व तो हैं ही जिनसे तत्कालीन समाज का मन बहलता रहा है और आज भी वह कविता मन बहला रही है।

आचार्य चिन्तामणि—जन्म-स्थानादि-चिन्तामणि तिकवांकुर (कानपुर) के निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र थे। भूषण, मतिराम और जटाशंकर ये तीनों इनके भाई थे। इन सबको त्रिपाठी बन्धु के नाम से पुकारा जाता है। चिन्तामणि का जन्म काल सं० १६६६ के लगभग माना जाता है। ये बहुत दिनों तक नागपुर में सूर्यवंशी भौंसला मकरन्द शाह के यहाँ रहे थे।

ग्रंथ—इनके बनाये हुए पांच ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। काव्य विवेक, कविकुल कल्पतरु, काव्यप्रकाश, रसमंजरी, पिंगल और रामायण। उपर्युक्त ग्रंथों में से केवल दो ही उपलब्ध हैं, कविकुल कल्पतरु और पिंगल। कविकुल कल्पतरु में इन्होंने काव्य के सभी अंगों का निरूपण किया है। केवल गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण नहीं हुआ है। काव्य-स्वरूप, शब्द शक्ति, ध्वनि, गुण, दोष-प्रकरणों में ये आचार्य मम्मट से प्रभावित हैं। रस-प्रकरण में इन पर मम्मट और विश्वनाथ दोनों का प्रभाव है। अलंकार-प्रकरण में इन्होंने उक्त आचार्यों के अतिरिक्त धनंजय और दीक्षित के ग्रंथों से भी सहायता ली है। नायिका-भेद में ये विश्वनाथ और भानुमिश्र दोनों से प्रभावित हैं। लक्षणों का प्रतिपादन दोहा और सोरठा छन्दों में किया गया है और उदाहरणों के लिए कवित्त, सवैया को अपनाया गया है। कोई दो-चार स्थलों पर स्पष्टीकरण के लिए गद्य का भी आश्रय लिया गया है। इन्होंने लक्षण निर्माण के समय संस्कृत के आचार्यों के लक्षणों का शाब्दिक अनुवाद ही प्रस्तुत किया है। शब्द-शक्ति और गुण-प्रकरण को छोड़कर इनकी शैली गम्भीर, व्यक्तिगत और विषयानुकूल रही है। शब्द-शक्तियों के विवेचन में इनका मन रमा ही नहीं। इस प्रकार काव्य के सभी अंगों के निरूपण का मार्ग सर्वप्रथम हिन्दी में इन्होंने ही चलाया और इसका अनुसरण परवर्ती लेखकों ने भी किया। चाहे हम

इसे एक संयोग भी कह लें किन्तु यह तो निश्चित है कि समन्वयवादी मम्मट की काव्य-निरूपण की पद्धति का श्रीगणेश इन्होंने ही किया।

चिन्तामणि का छन्द-सम्बन्धी ग्रंथ है पिंगल और इसका आधारभूत ग्रंथ है प्राकृत पिंगल। आचार्य शुक्ल ने चिन्तामणि के इस पिंगल ग्रंथ का नाम "छन्द विचार" कहा। इसमें विविध छंदों के लक्षण, उदाहरण सरल ब्रज भाषा में प्रस्तुत करते हुए इन्होंने कुछ हिन्दी के नूतन छन्दों का भी उल्लेख किया है। कुल मिलाकर यह ग्रंथ साधारण कोटि का बन पड़ा है।

कवित्व - आचार्य-कर्म के साथ-साथ इनका कवि-कर्म भी महत्त्वपूर्ण है। रसवादी होने के कारण इनके काव्य में विशेषतः श्रृंगार रस का सम्यक् परिपाक बन पड़ा है। इन्होंने अपनी सहज अनुभूतियों को सरल भाषा में अभिव्यक्त किया है। डॉ० महेन्द्र कुमार के शब्दों में हम इनके सम्बन्ध में कह सकते हैं कि—"इनका काव्य देव और परवर्ती कवियों के समान नहीं है—न तो इनमें देव का सा आवेग ही आ पाया है और न वैसी चित्रमयता ही। कल्पना की ऊँची उड़ान भी ये नहीं भर पाये। केवल मतिराम के समान सीधी सादी शब्दावली में अपनी सच्ची अनुभूति को व्यंक्त कर गये हैं। यही कारण है कि इनके काव्य में बिहारी की सी नक्काशी के स्थान पर ऐसी स्वाभाविकता देखने को मिलती है, जिससे इनकी रचनाओं को मतिराम के समकक्ष कहने में संकोच नहीं होता।"

इस प्रकार आचार्यत्व और कवि दोनों दृष्टियों से चिन्तामणि अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यदि इन्हें रीति-परम्परा का प्रवर्त्तक आचार्य न भी मानें तो भी हिन्दी के सर्वांग-निरूपक सर्वप्रथम सफल आचार्य तो ये हैं ही और कवित्व की दृष्टि से भी इन्हें मतिराम जैसा सम्मान प्राप्त है।

मतिराम—रस-सिद्ध कवि मतिराम, चिन्तामणि और भूषण के भाई थे। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। मतिराम का जन्म-काल संवत् १६६० के लगभग और स्वर्गवास १७५० के लगभग माना जाता है। मतिराम अनेक राजाओं के आश्रय में रहे थे। इनमें स्वछन्द-कविता की मनोहारिणी प्रतिभा है और ये सरस ललिता एवं सुकुमार रचना के धनी हैं।

ग्रंथ—मतिराम की प्रसिद्ध रचनायें ये हैं—ललित ललाम, रसराज, फूल-मंजरी, छन्दसार-पिंगल, मतिराम सतसई, साहित्यसार, लक्षण-शृंगार और अलंकार पंचाशिका। रसराज और ललितललाम इनके प्रसिद्धतम ग्रंथ हैं। साहित्य सार और लक्षण-शृंगार इनके छोटे-छोटे ग्रंथ हैं। साहित्यसार में नायिका-भेद का वर्णन है और लक्षण-शृंगार इनके छोटे-छोटे ग्रंथ हैं। साहित्यकार में नायिका-भेद का वर्णन है और लक्षण-शृंगार में भावों और विभावों का वर्णन। शुक्ल जी इनके रसराज और ललितललाम के सम्बन्ध में लिखते हैं—"रसराज और ललितललाम मतिराम के ये दो ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं, क्योंकि रस और अलंकार की शिक्षा में इनका उपयोग बराबर चलता आया है'। वास्तव में अपने विषय के ये अनुपम ग्रंथ है। उदाहरणों

की रमणीयता से अनायास रसों और अलंकारों का अभ्यास हो जाता है। रसराज का कहना ही क्या है। ललितललाम में भी अलंकारों के उदाहरण बहुत ही सरस और स्पष्ट हैं।"

आचार्यत्व—इनके रसराज में शृंगार रस का वर्णन है परन्तु प्रधानतः इसमें नायिका-भेद का विस्तार है। नायिका मतिराम के विचार के अनुसार वह है जिसको देखकर चित्त के भीतर स्वभाव की उत्पत्ति होती है। इनका नायिका-भेद भानुमिश्र की रस-मंजरी पर आवृत है। नायिका-भेद विवेचन में कोई मौलिकता नहीं है। हाँ नायिका-भेद के उदाहरण अत्यन्त सरस हैं जो कि काव्य का सुन्दर नमूना हैं उदाहरणार्थ :—

> **कुन्दन को रंग फीको लगे, झलके अति अँगनि चारु गोराई।**
> **आँखिन में अलसानि, चितौन में मँजु विलासन की सरसाई॥**
> **को बिनु मोल बिकात नहीं मतिराम लहे मुसकानि मिठाई।**
> **ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई॥**

इनका ललितललाम ग्रंथ अलंकारों पर लिखा गया है। अलंकारों के लक्षण दोहों में दिये गये हैं और उदाहरण कवित्त और सवैयों में। अलंकारों के शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से इस ग्रंथ का कोई विशेष महत्त्व नहीं है; हाँ कविता की दृष्टि से यह ग्रंथ काफी सुन्दर है। रस और अलंकार इन दो विषयों को छोड़कर मतिराम ने काव्यशास्त्र की अन्य समस्याओं पर प्रकाश डाला। अतः आचार्य की दृष्टि से इनका कोई अधिक महत्त्व नहीं है। वे मुख्य रूप से कवि हैं और इनमें आचार्यत्व की अपेक्षा कविता की लगन प्रधान है। चिन्तामणि की दशा इनसे सर्वथा विपरीत है, वे पहले आचार्य हैं और उनमें आचार्यत्व की लगन प्रधान है।

कवित्व—मतिराम की कविता सुकुमार, सुन्दर और कोमल कल्पना के गुणों से सम्पन्न है। उसमें कहीं भी भावों में कृत्रिमता नहीं है। वह शब्दाड़म्बर से सर्वथा मुक्त है। भाव-व्यंजना अत्यन्त स्वच्छ और स्वाभाविक भाषा में हुई है। इनके चित्रण व्यक्ति, वस्तु, भाव को सजीव रूप से प्रस्तुत करने की विशेषता रखते हैं। आचार्य शुक्ल इनकी भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं—"रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में पद्माकर को छोड़ और किसी कवि में मतिराम की सी चलती भाषा और सरल व्यंजना नहीं मिलती, बिहारी की प्रसिद्धि का बहुत कुछ कारण उनका वाग्वैदग्ध्य है।"

आचार्य शुक्ल ने अन्य स्थान पर इनके सम्बन्ध में लिखा है—"भाषा के समान मतिराम के न तो भाव कृत्रिम हैं और न उसके व्यंजक व्यापार और चेष्टायें। भावों को आसमान पर चढ़ाने और दूर की कौड़ी लाने के फेर में ये नहीं पड़े हैं। नायिका के विरहताप को लेकर बिहारी के समान मजाक इन्होंने नहीं किया है। इनके भाव-व्यंजक व्यापारों की शृंखला सीधी और सरल है, बिहारी के समान

चक्करदार नहीं। वचनवक्रता भी इन्हें बहुत पसन्द नहीं थी। जिस प्रकार शब्द-वैचित्र्य को ये वास्तविक काव्य से पृथक् वस्तु मानते थे, उसी प्रकार ख्याल की झूठी बारीकी को भी। इनका सच्चा कवि-हृदय था। ये यदि समय की प्रथा के अनुसार रीति की बँधी लकीरों पर चलने के लिये विवश न होते, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार चलने पाते, तो और भी स्वाभाविक और सच्ची भाव-विभूति दिखाते, इसमें कोई सन्देह नहीं।" मतिराम के काव्य में गृहस्थ जीवन के अतीव सरस, सुन्दर, स्वस्थ और हृदयग्राही चित्र मिलते हैं। रीतिकाल के कवियों में दाम्पत्य जीवन के ऐसे विशुद्ध निरीह एवं निष्कपट चित्र उतारने की कला इन्हीं में ही है।

भूषण—चिन्तामणि और मतिराम के भाई भूषण हिन्दी के सर्वप्रसिद्ध और सर्वश्रेष्ठ वीर रस के कवियों में हैं। वस्तुतः ये वीर रस के उत्थापक कवि हैं। इनका वास्तविक नाम क्या था, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। भूषण की उपाधि इन्हें चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्रदेव से प्राप्त हुई थी। वे कई आश्रयदाताओं के पास रहे। महाराज छत्रसाल और शिवाजी इनको अधिक प्रिय लगे। भूषण के काव्य का उद्देश्य वाणी को कलियुग के कलुषित स्त्रैंय वातावरण से निकालकर वीरत्व की दीप्त सरिता को पवित्र करना था। घोर शृंगार रस के युग में वीर रस की अपूर्व कविता लिखकर अपना प्रमुख स्थान बना लेने में ही भूषण कवि का कृतित्व है। इनका काल है सं० १६७०-१७७२ तक।

ग्रन्थ—कवि भूषण की ६ रचनायें मानी जाती हैं। शिवराज भूषण, शिवा बावनी, छत्रसाल दसक, भूषण उल्लास, दूषण उल्लास तथा भूषण हजारा। इनमें प्रथम तीन ग्रंथ ही प्राप्य हैं। शिवराज भूषण अलंकार ग्रंथ है। शिवा बावनी तथा छत्रसाल दशक वीर रस सम्बन्धी छोटे-छोटे ग्रंथ हैं जिनमें शिवाजी और छत्रसाल के वीर कृत्यों का गौरवमय गान है।

आचार्यत्व—'शिवराज भूषण' नामक ग्रंथ में इन्होंने अलंकारों के लक्षण देकर उदाहरणों में शिवाजी तथा उनकी वीरता और यश पर कवित्त और सवैये लिखे हैं। अलंकारों का लक्षण सम्बन्धी विवेचन तो प्रौढ़ नहीं है वरन् कहीं-कहीं पर तो भ्रान्त है, पर उदाहरण अत्यन्त सरस और उत्कृष्ट बन पड़े। भूषण उल्लास और दूषण उल्लास अलंकारों और दोषों पर लिखे गये ग्रंथ हैं। पर वे अप्राप्य हैं। शिवराज भूषण में इन्होंने १०५ अलंकारों का नाम गिनाया है। इनमें से केवल अधिक प्रसिद्ध अलंकारों का वर्णन किया है। बहुत से अलंकारों तथा उनके भेद प्रभेदों को छोड़ दिया गया है। अधिकांश स्थलों पर इनके लक्षण अस्पष्ट तथा अनुपयुक्त हैं। लक्षणों की गड़बड़ी पंचम प्रतीप, संकर, विरोध, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास भ्रम, सन्देह और स्मरण अलंकारों में है तथा उदाहरणों की गड़बड़ी परिणाम, लुप्तोपमा, निदर्शना, सम, परिकर, विभावना, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास और निरुक्ति में है। इससे स्पष्ट है कि इनमें आचार्यत्व की प्रेरणा केवल ऊपर की है अतः इस क्षेत्र में इनका कोई महत्त्व नहीं। हाँ, उदाहरणों से स्पष्ट है कि उनमें प्रबन्ध-काव्य लिखने

की भी अद्भुत क्षमता थी किन्तु रीति के प्रवाह में बह जाने के कारण वह उसका सदुपयोग नहीं कर सके।

कवित्व—भूषण वीर रस के ही कवि थे। उनके दो-चार पद्य शृंगार के भी मिलते हैं पर वे गिनती के योग्य नहीं हैं। वस्तुतः वे वीर रस के उन्नायक और उत्थापक हैं। उन्होंने शिवाजी और छत्रसाल की वीरता की अत्यन्त प्रशंसामयी उक्तियाँ लिखी हैं पर उनमें चापलूसी और खुशामद की गंध तक नहीं, अतः वे आदिकालीन तथा रीतिकालीन आश्रयदाताओं के अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसामयी कविता लिखने वाले कवियों से बहुत ऊपर उठ जाते हैं। आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"पर भूषण ने जिन दो नायकों की कृति को अपने वीर काव्य का विषय बनाया वे अन्याय-दमन में तत्पर, हिन्दू धर्म के रक्षक दो इतिहास प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति भक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा हिन्दू-जनता के हृदय में उस समय भी थी और आगे भी बराबर बनी रही या बढ़ती गई। इसी से भूषण के वीर रस के उद्गार सारी जनता के हृदय की सम्पत्ति हुए। भूषण की कविता कीर्ति सम्बन्धी एक अविचल सत्य का दृष्टान्त है। जिसकी रचना को जनता का हृदय स्वीकार करेगा उस कवि की कीर्ति तब तक बनी रहेगी जब तक स्वीकृति बनी रहेगी।"

डॉ० ओमप्रकाश भूषण की कविता के सम्बन्ध में लिखते हैं—"भूषण के काव्य में वीर रस का अपूर्व प्रवाह है। उनकी उक्तियों में दर्प और आतंक के ओजपूर्ण चित्र हैं। इनकी तुलना खुशामदी कवियों से नहीं की जा सकती। यह सत्य है कि भूषण ने अपने आश्रयदाता की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की है, परन्तु यह भी सत्य है कि वह आश्रयदाता उस युग का नेता था और वह केवल अपने स्वार्थ के लिए ही युद्ध न करके जनता की स्वत्व रक्षा के लिए जीवन अर्पण कर बैठा था। यह प्रशंसा जीवन को पवित्र, महान् तथा उदार बनाने वाली है। अस्तु और शृंगारी घटनाओं में बिजली के समान चमकने वाली भूषण की ओजस्विनी प्रतिभा आश्रयभोगी कवियों की प्रशंसामयी रुचि से तुलनीय नहीं है। निश्चय ही भूषण आदि काल और रीतिकाल के कवियों से अधिक गौरव के भागी हैं।"

निःसन्देह भूषण की अभिव्यंजना-पद्धति ओजपूर्ण है पर उनकी भाषा अधिकतर अव्यवस्थित है। उसमें प्रायः व्याकरण का उल्लंघन है। वाक्य-रचना में भी प्रायः गड़बड़ी है। इसके अतिरिक्त इन्होंने शब्दों को स्वेच्छा से बुरी तरह तोड़ा-मरोड़ा है। कहीं-कहीं तो एकदम गढ़न्त शब्द हैं। पर सर्वत्र इनकी भाषा में गड़बड़झाला हो, ऐसी बात नहीं। इनके कई कवित्त अत्यन्त सशक्त और प्रभावशाली हैं। हाँ, जहाँ ये आलंकारिक चमत्कार के मोह में अधिक पड़े हैं, वहाँ भाषा में काफी गड़बड़ी आ गई है।

हिन्दी-साहित्य में भूषण का महत्त्व वीर रस के कवि के नाते है, आचार्य के नाते नहीं। आचार्य कर्म तो एक परम्परा-निर्वाह मात्र था। भूषण के कवि का महत्त्व तत्कालीन परिस्थितियों के आलोक में देखने से और भी अधिक बढ़ जाता है।

वे हिन्दी-साहित्य में वीररस के उत्थापक कवि हैं। उनकी कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

(क) कंप कदली में, बारि बुन्द बदली में,
शिवराज अदली के राज में यों राजनीति है।

(ख) आयो-आयो सुनत ही, सिव सरजा तुव नांव।
वैरि नारि दृग जलन सौं, बूड़ि जात अरि गांव॥

(ग) इन्द्र जिमि जंभ पर, बाड़व सु अम्ब पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल राज हैं।
पौन वारिवाह पर शुम्भ रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं।
दावा द्रुम दंड पर, चीता मृग झुंड पर,
भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥

भूषण की कविता में राष्ट्रीयता—आधुनिक युग के कतिपय आलोचक भूषण के साहित्य में नीचे की पंक्तियों को देखकर इसमें जातीयता तथा साम्प्रदायिकता की संकीर्ण भावनाओं का आरोप कर बैठते हैं। वे पंक्तियां ये हैं :—

वेद राखे बिदित पुराण राखे सारयुत।

तथा

हिन्दुअन की चोटी राखी रोटी राखी है सिपाहिन की।

तथा

राख्यो हिन्दुआनी, हिन्दुआन को तिलक राख्यो।

किन्तु उनकी यह धारणा सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं कही जा सकती। भूषण की कविता में आये हुए वेद, पुराण, हिन्दू, तिलक और चोटी शब्दों को देखकर उन्हे राष्ट्रीय कवि के सम्मान से वंचित नहीं किया जा सकता, ऐसा करना उनके साथ सरासर अन्याय होगा। भूषण के युग की राष्ट्रीयता के सम्यक् ज्ञान के लिए हमें आधुनिक युग के राष्ट्रीयता के चश्मों को उतार कर परे रखना होगा। भूषण के समय व्यक्ति विशेष के द्वारा अधिकृत एक भू-भाग राष्ट्र समझा जाता था और उसके प्रति प्रेम और स्वार्थ-त्याग राष्ट्रीयता समझी जाती थी। उस समय राष्ट्रीयता का स्वरूप आज जैसा व्यापक नहीं था जिसमें हिमालय से लेकर कन्याकुमारी पर्यन्त रहने वालों में "हिन्दू-मुसलिम सिख ईसाई, सब आपस में भाई-भाई" की भावना आ पाती। भूषण ने उस युग की राष्ट्रीयता के अनुसार अपना कर्त्तव्य पूरा सोलह आने निभाया है, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

भूषण साहित्य में हिन्दू, पुराण और वेद की दुहाई निश्चित रूप में मिलती है किन्तु किसी भी नागरिक के लिए निज जाति और संस्कृति का प्रेम अनुचित नहीं

होता। वस्तुतः ये विश्व प्रेम की सीढ़ियाँ हैं। इसके साथ-साथ एक बात और भी है कि किसी भी युग के प्रतिनिधि सजग कलाकार का यह प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अन्याय, अत्याचार और शोषण का डटकर विरोध करे। औरंगजेब घोर अत्याचारी तथा कट्टर असहिष्णु था। भूषण ने अपने साहित्य में जो औरंगजेब की निन्दा की है उसे व्यक्तिगत समझना चाहिए। भूषण ने मुसलमान जाति या मुस्लिम धर्म की निन्दा नहीं की। यदि औरंगजेब की निन्दा के कारण भूषण अराष्ट्रीय कवि है तो अंग्रेजों की शोषण-नीति का विरोध करने वाले आधुनिक युग के गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी तथा दिनकर जैसे राष्ट्रीय कवियों को तथा नेहरू जैसे नेताओं को भी उसी कोटि में रखना पड़ेगा, किन्तु ऐसा करना नितान्त असमीचीन है। सच यह है कि भूषण को मुस्लिम जाति से विरोध करना अभीष्ट नहीं है, उन्हें यदि अभीष्ट है तो औरंगजेब का विरोध करना, और उसके अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध आवाज बुलन्द करना। इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह विरोध केवल भूषण ने ही नहीं किया वरन् देश के कोने-कोने से हुआ। भूषण ने बराबर हमायूँ और अकबर की सहिष्णुतापूर्ण समन्वयात्मक नीति की इन शब्दों में "बाबर, अकबर, हुमायूँ हदि बाँधि गये" मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। जातिय विरोध औरंगजेब के समय में अपनी चरम सीमा तक पहुंच गया था और उसका भूषण ने विरोध किया। भूषण ने किसी भी राष्ट्र-विरोधी शासक का विरोध किया है चाहे वह मुसलमान था या हिन्दू। उन्होंने जसवन्तसिंह और उदयभानुसिंह की कड़ी निन्दा की है हालांकि वे हिन्दू नरेश थे।

शिवाजी की नीति अत्यन्त उदार थी। उनके दरबार में मुसलमान उच्च पदों पर नियुक्त थे। शिवाजी का आदेश था कि कोई भी किसी मुसलमान स्त्री, उनके धर्मग्रंथ और मस्जिद आदि को हानि न पहुंचाये। सच तो यह है कि शिवाजी को उस महत्ती राष्ट्रीय क्रांति में जो आशातीत सफलता मिली उसका श्रेय हिन्दू और मुसलमान दोनों को है। फिर शिवाजी का राज्याश्रित कवि मुसलमानों के प्रति विष उगलता यह सम्भव भी कैसा था। शिवाजी केवल शासक ही नहीं थे नेता भी थे और जनता की पूर्ण सहानुभूति उन्हें प्राप्त थी।

भूषण की कविता किसी संकीर्ण भावना, साम्प्रदायिकता अथवा चाटुकारिता के उद्देश्य से नहीं लिखी गई। वह राष्ट्रीय उत्थान के लिये लिखी गई और इसीलिये वह शाश्वत और अमर है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल के शब्द विशेष स्मरणीय हैं—"पर भूषण ने जिन दो नायकों की कृति को अपने वीर काव्य का विषय बनाया वे अन्याय-दमन में तत्पर, हिन्दू-धर्म के संरक्षक दो इतिहास-प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति भक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा हिन्दू-जनता के हृदय में उस समय भी थी और आगे भी बराबर बनी रही या बढ़ती गई। इसी से भूषण के वीररस के उद्गार सारी जनता के हृदय की सम्पत्ति हुए। भूषण की कविता कविकीर्ति-सम्बन्धी एक अविचल सत्य का उद्घाटन है। जिसकी रचना को जनता का हृदय स्वीकार करेगा उस कवि

की कीर्ति तब तक बराबर बनी रहेगी जब तक स्वीकृति बनी रहेगी।"

सच यह है कि भूषण की कविता शिवाजी के चरित्र का शृंगार है और शिवाजी हमारी राष्ट्रीयता के पावन किरीट हैं। शिवाजी भूषण को पाकर धन्य हुए तो भूषण शिवाजी को पाकर।

आचार्यकवि देव—जीवन वृत्त—देव का पूरा नाम देवदत्त था। देव इनका उपनाम है। देव इटावा (उत्तरप्रदेश) के निवासी थे। ये काश्यप गोत्री, कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १७३०-३१ है और मृत्यु १८२४-२५ में मानी जाती है। इस प्रकार इनकी कुल आयु ९४-९५ वर्ष की ठहरती है। इन्हें जीविका-निर्वाह के लिये अनेक आश्रयदाताओं के पास जाना पड़ा था। इनके आश्रयदाताओं के नाम ये हैं—आजमशाह, भवानी दत्त वैश्य, कुशलसिंह, उदोतसिंह और राजा भोगीलाल। अन्ततोगत्वा इनका मन भोगीलाल के यहाँ अधिक रमा।

ग्रन्थ इनके ग्रंथों की संख्या ७२ कही जाती है। आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में इनके उपलब्ध २५ ग्रंथों का नामोल्लेख किया है। इनके मुख्य ग्रंथ ये हैं :—

भाव-विलास, अष्टयाम, भवानी-विलास, प्रेमतरंग, कुशल-विलास, देवचरित्र जाति विलास, रस विलास, प्रेम चन्द्रिका, सुजानविनोद या रसानन्द लहरी, शब्द रसायन या काव्य रसायन, सुखसागर तरंग, रागरत्नाकर प्रेम पच्चीसी, तत्त्व दर्शन पच्चीसी, आत्म दर्शन-पच्चीसी, जगद्दर्शन पच्चीसी तथा देवमाया प्रपंच। वर्ण्य-विषय के आधार पर इनके ग्रंथों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—काव्यशास्त्रीय ग्रंथ तथा अन्य ग्रंथ। प्रेमचन्द्रिका, रागरत्नाकर, देव शतक के चारों भाग (पच्चीसी ग्रंथ), देव चरित्र और माया प्रपंच को छोड़कर शेष ग्रंथ काव्य शास्त्र से सम्बद्ध हैं। ये जितने ग्रंथ हैं एक-दूसरे से पूर्ण स्वतंत्र नहीं हैं। बहुत सारे पद जो एक ग्रंथ में पाये जाते हैं वे दूसरे ग्रंथों में भी देखे जा सकते हैं। थोड़ी-बहुत घटत-बढ़त के पश्चात् देव एक नया ग्रंथ तैयार कर लिया करते थे। यह था भी स्वाभाविक क्योंकि देव को उपयुक्त आश्रयदाता की खोज में बहुत भटकना पड़ा था और उन्हें अपने आश्रयदाता को ग्रंथ समर्पण करने के लिए ऐसा करना पड़ा होगा। देव की यह प्रवृत्ति और भी स्पष्ट हो जाती यदि उनके समस्त ग्रंथ उपलब्ध होते।

प्रेमचन्द्रिका में प्रेम का सामान्य रूप से वर्णन किया है और उनके भेदोपभेदों का उल्लेख है। रागरत्नाकर राग-रागिनियों से सम्बद्ध एक ग्रंथ है। इनके तीन पच्चीसी ग्रंथों में वैराग्य का वर्णन है जोकि इनके ग्रंथों के प्रति जनता की उदासीनता की प्रतिक्रिया का फल है। प्रेम-पच्चीसी में गोपियों और कृष्ण के प्रेम का मनोरम वर्णन हैं। देवशतक इनकी प्रौढ़ रचना है जिसमें काव्य और दर्शन का सुन्दर संमिश्रण है। देव-चरित्र एक खंड काव्य है, जिसमें इन्होंने श्रीकृष्ण के जीवन का चित्रण किया है।

आचार्यत्व—देव के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि इन्होंने काव्य के सभी अंगों का वर्णन अपने विविध ग्रंथों में किया है। एक कवि द्वारा एक ही विषय से सम्बद्ध अनेक ग्रंथों के प्रणयन का परिणाम यह हुआ कि एक विषय की दूसरे ग्रंथों में पुनरावृत्ति होती रही। इनके काव्यशास्त्रीय ग्रंथों पर काव्यप्रकाश, साहित्य-दर्पण, रस-तरंगिनी और रस-मंजरी का स्पष्ट प्रभाव है। देव ने काव्य-शास्त्रीय विवेचन में कुछ नवीन उद्भावनाओं से भी काम लिया है, उनमें से कुछ मान्य हैं और कुछ अमान्य। काव्य-स्वरूप का वर्णन करते हुए शब्द-रचना को काव्य का तन, रस को जीव तथा अलंकार को शोभाकारक धर्म कहा है। उनकी यह धारणा परम्परानुकूल है, अतः मान्य है। एक दूसरे स्थान पर इन्होंने शब्द को काव्य का जीव, अर्थ और मन तथा रसमय सौन्दर्य को काव्य का शरीर माना है। उनकी यह धारणा सर्वथा अमान्य और साथ-साथ परम्परा विरुद्ध भी है। शब्द-शक्ति विवेचन के प्रकरण में इन्होंने तात्पर्या नाम की शक्ति की कल्पना की है जो असंगत है। अभिधा की विद्यमानता में इसकी आवश्यकता ही नहीं। यह उनकी कोई नवीन उद्भावना भी नहीं क्योंकि इसका उल्लेख साहित्य और न्याय के ग्रंथों में पहले से ही हो चुका। लक्षण और व्यंजना-शक्ति के भेदों के वर्णन में ये बहुत कुछ भ्रान्त हो गये हैं। रस-क्षेत्र में देव के प्रशंसकों का कहना है कि इन्होंने छल नामक संचारी भाव का भी नवीन आविष्कार किया है जोकि इनकी मौलिक उद्भावना है, किन्तु स्मरण रखना होगा कि इसका अन्तर्भाव अवहित्था नामक संचारी भाव में हो जाता है और यह उनकी कोई मौलिक उद्भावना नहीं, रस तरंगिणी में इसका पहले उल्लेख हो चुका था। देव ने केशव के समान रस के लौकिक और अलौकिक भेद करके शृंगार रस के प्रच्छन्न और प्रकाश दो भेद कर दिये हैं। रस का प्रच्छन्न नामक भेद सर्वथा अमान्य है क्योंकि स्थायीभाव संचारी भाव आदि के संयोग से अभिव्यक्त होकर रस संज्ञा को प्राप्त होता है उसके प्रच्छन्न का प्रश्न ही नहीं उठता। रस के इस वर्गीकरण का आधार उन्हें भोज तथा रुद्रट से मिला। इनकी शृंगार रस के अन्तर्गत अन्य रसों के अन्तर्भुक्त हो जाने की कल्पना भी कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है। नायिकाभेद और उसकी संख्या-विस्तार के सम्बन्ध में जितनी रुचि देव ने प्रदर्शित की है, इतनी रीतिकालीन अन्य किसी भी कवि ने नहीं की। इनके नायिका भेद के आधार हैं—जाति, कर्म, गुण, देश-काल, अवस्था, प्रकृति और सत्त्व। इस दिशा में देव पर साहित्यदर्पण, रसतरंगिणी, रस मंजरी तथा वात्स्यायन के कामसूत्र का प्रभाव स्पष्ट है। देव के इस संख्या-विस्तार से नायिका भेद के शास्त्रीय निरूपण में कोई महत्त्वपूर्ण वृद्धि नहीं हुई। प्रकृति के आधार पर नायिका के वर्गीकरण से ऐसा लगता है जैसे कि आयुर्वेद शास्त्र का ज्ञान प्रदर्शित कर रहे हों। अलंकार-निरूपण में वे भामह, दंडी और अप्पय दीक्षित से विशेष प्रभावित हैं। देव ने पिंगलशास्त्र पर भी लिखा है। इस सम्बन्ध में वे संस्कृत के छन्द-ग्रंथों से प्रभावित हैं। इस विवेचन के अनन्तर स्पष्ट हो जाता है कि देव का आचार्यत्व उच्चकोटि का एवं शास्त्रसम्मत नहीं

है पर कवित्व की दृष्टि से रीतिकालीन आचार्यों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कवित्व—देव मुख्यतः श्रृंगार रस के कवि हैं। इनके काव्य में जो वैराग्य-भावना की अभिव्यक्ति हुई है, वह इनके श्रृंगारी जीवन की प्रतिक्रिया रूप में समझनी चाहिए। इनमें सूर और तुलसी जैसी अपने उपास्य देव के प्रति अनन्यता नहीं है। सच यह है कि प्रेम प्रसंगों में इनकी मनोवृत्ति अधिक रमी है इनके किसी भी पद्य को उठाकर देख लीजिए उसमें प्रेम का आवेग इतना अधिक मिलेगा कि सहज ही उसकी रस चेतना की गम्भीरता का आभास मिल जाएगा। आचार्य शुक्ल इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"इनका-सा अर्थ-सौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियों में मिलता है। रीतिकाल के कवियों में ये बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभासम्पन्न कवि थे, इसमें सन्देह नहीं।" देव के काव्य-वैभव के सम्बन्ध में डॉ० महेन्द्रकुमार के शब्द विशेषतः द्रष्टव्य हैं—"देव की रचनाओं में कल्पना-वैभव भी कम नहीं है। इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि उसके समस्त श्रृंगारी काव्य की रसार्द्रता में कल्पना की ऊँची उड़ान का पर्याप्त योग रहा है। जिसे मूर्तरूप प्रदान करने के लिए उन्होंने साधारणतः ऐसे चित्रों की योजना की है, जिनमें प्रत्येक रेखा अपना विशिष्ट महत्त्व तो रखती ही है, साथ में रंग-वैभव और प्रसाधन-सामग्री ने उसमें और भी सौन्दर्य-सृष्टि की है। क्या स्थिर और क्या गतिशील किसी भी चित्र को उठा लीजिए, सबमें कवि की भावना का आवेश अपने आप में उभरता-सा दिखाई देगा और यही कारण है कि सहृदय को उसके धरातल तक पहुँचने में देर नहीं लगती। यद्यपि इन चित्रों में कहीं-कहीं क्लिष्टता आ गई है, तथापि इसका कारण कवि का दृष्टि दोष न मान कर उसकी भावना का आवेग ही मानना चाहिए।"

देव की अभिव्यंजना-शैली भी प्रशस्य है। उनका शब्द-चयन विषयानुसार हुआ है। भावावेग की दशा में उन्होंने भावात्मक शैली को अपनाया है। कहीं-कहीं पर अक्षरमैत्री के ध्यान से इन्होंने अशक्त शब्दों का भी प्रयोग किया है। तुकान्त और अनुप्रास के मोह में पड़कर इन्होंने कहीं-कहीं शब्दों और वाक्यों तक को तोड़-मरोड़ दिया है। कहीं-कहीं शब्द-व्यय अधिक हुआ है और अर्थ अल्प। आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"कवित्व-शक्ति और मौलिकता देव में खूब थी पर उनके सम्यक् स्फुरण में उनकी रुचि-विशेष प्रायः बाधक हुई है। कभी-कभी वे कुछ बड़े और पेचीदे मजमून का हौंसला बाँधते थे, पर अनुप्रास के आडम्बर की रुचि बीच ही में उसका अंग-भंग करके सारे पद्य को कीचड़ में फँसा छकड़ा बना देती थी। भाषा में कहीं-कहीं स्निग्ध प्रवाह न आने का एक कारण यह भी था।" निःसन्देह देव की भाषा व्याकरण की दृष्टि से अपेक्षाकृत सदोष है, उसमें शब्दों की तोड़-मरोड़ है। उसमें पुनरुक्तियाँ भी हैं और अनुप्रास आदि शब्दालंकारों का विशेष आग्रह भी है, किन्तु यह सब कुछ उन्होंने काव्य में सौन्दर्य वृद्धि के लिए किया है।

जहाँ इनकी भाषा सुव्यवस्थित और स्वच्छ है वहाँ इनकी कविता अत्यन्त सरस और हृदयग्राही बन पड़ी है। उदाहरणार्थ देखिए—

सांसन ही में समीर गयो अरु आंसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि॥
देव जियें मिलिबेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख हेरि हरें हँसि हेरि हियो जु लियो हरिजू हरि॥

आचार्य भिखारीदास— जीवन-वृत्त— भिखारीदास जाति के कायस्थ थे और प्रतापगढ़ (अवध) के पास ट्योंगा नामक ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम कृपालदास था। ये संवत् १७६१ से १८०७ तक प्रतापगढ़ के अधिपति श्री पृथ्वीसिंह के भाई हिन्दूपतिसिंह के आश्रय में थे।

ग्रन्थ—दास के सात ग्रंथ उपलब्ध हैं—रससारांश, काव्य-निर्णय, शृंगार-निर्णय, छन्दार्णव पिंगल, शब्दनाम प्रकाश, विष्णुपुराण भाषा और शतरंजशतिका। इनमें से प्रथम तीन ग्रन्थ काव्यशास्त्रीय हैं, चौथा छन्दशास्त्र से सम्बद्ध है और अन्तिम तीन ग्रन्थों का विषय उनके नाम से स्पष्ट है। रससारांश के दोनों संस्करण उपलब्ध होते हैं। बड़े में लक्षणोदाहरण दोनों हैं और छोटे में केवल लक्षण। यह छोटा संस्करण भी इन्होंने स्वयं तैयार किया था। रससारांश में सभी रसों का विवेचन है। शृंगार रस का वर्णन अत्यन्त विस्तृत है, उसमें नायिकाओं, हावों-भावों का भी विस्तृत वर्णन है। इसमें अन्य रसों का भी संक्षेप से वर्णन कर दिया गया है। शृंगार निर्णय भी इनका रस से सम्बद्ध ग्रन्थ है, किन्तु इसमें रससारांश के समान रस-निष्पत्ति सम्बन्धी गम्भीर प्रश्नों को नहीं लिया गया है और न ही इसमें शृंगारेतर रसों का उल्लेख है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य शृंगार की विस्तृत विषय-सामग्री प्रस्तुत करना है। इनकी विशेष ख्याति का कारण इनका ग्रंथ काव्य-निर्णय है। इसके भी रससारांश के समान छोटा और बड़ा दोनों संस्करण मिलते हैं।

आचार्यत्व—मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी-साहित्य के रीति काल को अलंकृत काल के नाम से अभिहित किया है और उसको भी उन्होंने दो भागों में बाँट दिया है—पूर्वालंकृत काल और उत्तरालंकृत काल। उन्होंने पूर्वालंकृत काल का सबसे बड़ा आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी को माना है और उत्तरालंकृत काल का सबसे बड़ा आचार्य भिखारीदास को स्वीकार किया है। डॉ० भगीरथ मिश्र इनके सम्बन्ध में लिखते हैं "भिखारीदास का कोई ऐसा नवीन प्रभाव उनके परवर्ती कवियों पर नहीं पड़ा जिससे उनकी कोई विशेष छाप दिखलाई पड़े, फिर भी यह बात मान्य है कि भिखारीदास रीतिकालीन अन्तिम वर्ग के सबसे बड़े आचार्य थे। उनके वर्णन में, विशेषतः काव्य-निर्णय में—चाहे उनकी सामग्री हिन्दी के सभी पूर्ववर्ती कवियों, काव्याचार्यों केशव, चिन्तामणि, सूरति, श्रीपति आदि से ली गई हो—जो पूर्णता है वह बड़ी सन्तोषकारी है और उससे भिखारीदास की विद्वत्ता ही टपकती है। भिखारी-

दास की गणना काव्य-शास्त्र के उन यथार्थ आचार्यों में है जो कवि-प्रतिभा के साथ उससे अधिक काव्यशास्त्र का ज्ञान लेकर लिखने बैठे थे।"

आचार्य भिखारीदास ने काव्य के सभी अंगों का विवेचन किया और प्रायः अच्छा ही किया है। कहीं-कहीं पर उन्होंने काव्यशास्त्र-सम्बन्धी भूलें भी कीं। जैसे, काव्य-लक्षण को छोड़ ही दिया, शब्द-शक्ति-विवेचन प्रायः शिथिल है। ध्वनि के कई नवीन भेदों की कल्पना की परन्तु उनका स्पष्टीकरण नहीं कर पाये। अस्तु! इतना होते हुए भी भिखारीदास ने हिन्दी-काव्यशास्त्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इन पर काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण का विशेष प्रभाव है।

कवित्व—कवि की दृष्टि से भी भिखारीदास का हिन्दी में महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुख्य रूप से इन्होंने शृंगार-रस-सम्बन्धी कवितायें लिखी हैं। कहीं-कहीं पर नीति सम्बन्धी फुटकर उक्तियाँ भी इनमें मिल जाती हैं। दास रस तथा ध्वनिवादी लेखक हैं अतः इनकी रचनाओं में रसानुभूति की विशेष मात्रा है और ध्वनि का भी सुन्दर विशद रूप है। कल्पना-क्षेत्र में आचार्य भिखारीदास निःसन्देह देव से पीछे रह जाते हैं परन्तु फिर भी इनके काव्य में प्रसादन की मात्रा पर्याप्त है। इनकी कविता की रेखाओं के चित्र काफी आकर्षक और मार्मिक हैं।

इनकी भाषा काफी परिमार्जित है। शब्दों का चयन इन्होंने विषयानुसार किया है। भाषा सम्बन्धी गड़बड़ी जो देवादि में मिलती है वह इनमें नहीं है। इनकी अभिव्यंजना-पद्धति सरस और व्यंग्य प्रधान है। इनकी ब्रज भाषा में संस्कृत शब्दों के अतिरिक्त उर्दू और फारसी के शब्द भी आ गये हैं। भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से दास ब्रज भाषा के कवियों में अत्यन्त सफल रहे हैं।

कुलपति मिश्र—ये आगरा के निवासी माथुर चौबे परशुराम के पुत्र थे। प्रसिद्ध कवि बिहारीलाल इनके मामा कहे जाते हैं। इनके बनाये हुए पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं—द्रोण पर्व, मुक्ति तरंगिणी, नख शिख, संग्रामसार और रस रहस्य। इनमें से अन्तिम ग्रन्थ काव्यशास्त्रीय है। इसमें लक्षणों को दोहा छंद में लिखा गया है और उदाहरणों के लिए यत्र तत्र गद्य का भी आश्रय लिया गया है। इन्होंने रस-रहस्य का आधार मम्मट के काव्यप्रकाश को बनाया। वैसे इन पर साहित्य-दर्पण, केशव की कविप्रिया तथा रसतरंगिणी और रसमंजरी का भी प्रभाव है। कुलपति मिश्र ने काव्यप्रकाश का केवल अनुवाद भर ही प्रस्तुत नहीं कर दिया वरन शास्त्रीय सामग्री को सुबोध और सरल रूप में प्रस्तुत किया है। हिन्दी-रीतिकालीन आचार्यों में जिनकी प्रवृत्ति काव्यशास्त्र के गम्भीर प्रसंगों के विवेचन की ओर रही है उनमें कुलपति का नाम भी उल्लेखनीय है। काव्यशास्त्र के विवेचन में इन्होंने कुछ मौलिक उद्भावनाओं से भी काम किया है परन्तु वहाँ ये विशेष सफल नहीं रहे। इन्होंने काव्य के सभी अंगों का निरूपण किया है। शब्द-शक्ति के विवेचन में भी इनमें अपेक्षित स्पष्टीकरण नहीं आ सका। रस-प्रकरण में भाव का स्वरूप अस्पष्ट है। इनका

रस-दोष-प्रकरण भी अपूर्ण है। इसके अतिरिक्त मिश्र का काव्यशास्त्रीय निरूपण विशुद्ध, व्यवस्थित, गम्भीर एवं सुबोध बन पड़ा है।

कुलपति मिश्र पहले आचार्य थे और बाद में कवि। आचार्यत्व में इनका मन खूब रमा और वे कवित्व पर अपना ध्यान इतना केन्द्रित नहीं कर सके। फलस्वरूप इनका कविता-पक्ष देव आदि कवियों के समान ऊँचा नहीं उठ सका, किन्तु फिर भी रस-परिपाक की दृष्टि से इनका काव्य किसी प्रकार से हीन नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कुलपति मिश्र आचार्य के नाते रीतिकाल के आचार्यों की प्रथम श्रेणी में आते हैं और कवि के नाते द्वितीय श्रेणी में।

आचार्य श्रीपति—इनके जीवन के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। ये कालपी के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके ग्रन्थ ये हैं—कविकल्पद्रुम, रस सागर, अनुप्रास विनोद, विक्रम विलास, सरोजकलिका, अलंकार गंगा, काव्य सरोज। दुर्भाग्यवश इनकी कोई भी रचना प्राप्त नहीं है। आचार्य शुक्ल इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"जो हो आचार्य श्रीपति का अपने युग में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इसका परिचय इसी बात से मिल जाता है कि दास जैसे प्रौढ़ आचार्यों ने इनके विवेचन के कतिपय स्थलों को अपने काव्य निर्माण में ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है।" डॉ० भगीरथ मिश्र ने इनके आचार्य-कर्म को लक्ष्य करके कहा है—"इन्होंने काव्यशास्त्र के दशांग का अत्यन्त पांडित्य के साथ विवेचन किया है तथा अपने पूर्ववर्ती कवियों तक के उद्धरण देने में संकोच नहीं किया। इससे यह कहा जा सकता है कि श्रीपति ने आचार्य-कर्म को अत्यन्त दक्षता के साथ निभाया है। इनमें एक आलोचक की प्रतिभा और निर्णय देने का साहस था। इनकी कविता रसानुप्राणित है। इन्होंने अनुप्रास का भव्य प्रयोग किया है। इनकी शैली अत्यन्त सरल और बोधगम्य है।

सोमनाथ—इन्हें शशिनाथ भी कहते हैं। इनके पांच ग्रन्थ मिलते हैं—रसपीयूष निधि, शृंगार विलास, कृष्ण लीलावती, पंचाध्यायी, सुजान विलास और माधव विनोद। इनमें प्रथम दो काव्यशास्त्रीय ग्रंथ हैं। इन्होंने काव्य के सभी अंगों का निरूपण किया है। इन्होंने सुकुमार बुद्धि पाठकों के लिए काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण किया, अतः उनकी शैली सरल और संक्षिप्त है। इन पर मम्मट के काव्य-प्रकाश तथा भानु मिश्र की रस तरंगिणी का पर्याप्त प्रभाव है। इन्होंने रसपीयूष निधि में छन्दों का भी विवेचन किया है। रीति-निरूपण-कार्य में इनकी विशेषता है इनकी सरल शैली। कवित्व की दृष्टि से भी सोमनाथ का स्थान रीतिकालीन कवियों में महत्त्वपूर्ण है। कविता क्षेत्र में इन्हें सहज में मतिराम और देव की परम्परा में रखा जा सकता है।

पद्माकर भट्ट—पद्माकर रीतिकाल के परवर्ती खेवे के कवियों में सर्वश्रेष्ठ अन्तिम कवि हैं। पद्माकर और प्रतापसाहि की सरस वाणी के पश्चात् रीति-कविता ह्रासोन्मुख होती गई।

ये एक तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता मोहनलाल का जन्म बाँदा में हुआ था। ये पूर्ण पंडित और अच्छे कवि थे। अनेक राजदरबारों में इन्हें गौरवपूर्ण सम्मान मिला। प्रतापसाहि के यहाँ इन्हें एक अच्छी जागीर भी मिली और कविराज-शिरोमणि की पदवी से विभूषित किया गया। पद्माकर इन्हीं के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १८१० में बाँदा में हुआ और इन्होंने १८९० में कानपुर में गंगा तट पर शरीर छोड़ा। पद्माकर भी अनेक आश्रयदाताओं के पास गये थे और वहाँ उन्हें आशातीत सम्मान मिला। जीवन के अन्तिम दिनों में इनमें विरक्ति आ गई थी।

ग्रन्थ—इनके लिखे हुए ये ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं—हिम्मत बहादुर विरुदावली, जगद्विनोद, पद्माभरण, विनोद-पचासा, राम रसायन तथा गंगालहरी। हिम्मत बहादुर विरुदावली नामक ग्रन्थ में इन्होंने गोसाई अनूपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर जो कि बड़े अच्छे योद्धा थे, के वीरता के कार्यों का वीररसमयी फड़कती भाषा में वर्णन किया है। इनका जगद्विनोद नामक ग्रंथ जयपुर के राजा प्रतापसिंह के पुत्र जगतसिंह के नाम पर लिखा गया है। यह इनका काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है। पद्माभरण एक अलंकार ग्रंथ है। इसकी रचना इन्होंने जयपुर-दरबार में की थी। उदयपुर के महाराणा भीमसिंह की आज्ञा पर इन्होंने गनगौर के मेले का वर्णन किया जो कवित्व की दृष्टि से अत्यन्त अनुपम है। एक किंवदन्ती है कि इन्होंने हितोपदेश का भी भाषानुवाद किया था। आयु के अन्तिम दिनों में ये रोग-ग्रस्त रहा करते थे। उसी समय इन्होंने प्रबोध पचासा नामक विराग और भक्ति से पूर्ण ग्रथ बनाया। कानपुर में रहते समय इन्होंने गंगालहरी नामक ग्रंथ बनाया। रामरसायन बाल्मीकि रामायण का आधार लेकर दोहे-चौपाइयों में लिखा गया एक चरित-काव्य है। इसमें इन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। आचार्य शुक्ल का कहना है कि "संभव है, यह इनका बनाया हुआ न हो।"

आचार्यत्व—जगद्विनोद इनका एक रस ग्रंथ है। यह कवित्व के गुणों से ओत-प्रोत और पद्माकर की ख्याति का मुख्य आधार है। इसमें नव रसों का वर्णन है परन्तु रसराज श्रृंगार का अत्यन्त विस्तृत वर्णन है। इसमें नायक-नायिका भेद का सरस वर्णन है। उदाहरणों की दृष्टि से इनका यह प्रकरण मनोरम बन पड़ा है। इनके नायिका-भेद का आधार ग्रंथ रस-मंजरी है। इस प्रसंग में इन्होंने आलम्बन-उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों का भी वर्णन किया है। श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सरस वर्णन है। श्रृंगार के अतिरिक्त इन्होंने अन्य रसों के भी प्रभावशाली उदाहरण जुटाये हैं। रस-वर्णन की दृष्टि से जगद्विनोद बड़ा उपादेय ग्रंथ है।

पद्माभरण इनका दोहा और चौपाइयों में निर्मित एक अलंकार ग्रंथ है। इस ग्रंथ में दो प्रकरण हैं—अर्थालंकार प्रकरण तथा पंचदश अलंकार-प्रकरण। अर्थालंकार प्रकरण में अर्थालंकारों के लक्षण-उदाहरण और दूसरे प्रकरण में मत-भेद वाले १५ अलंकारों का वर्णन है। इस ग्रंथ की प्रेरणा इन्हें वैरीसाल के भाषाभरण से

मिली। इन्होंने अलंकार के तीन भेदों— शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार में से केवल अर्थालंकारों का वर्णन किया है और वह भी कुवलयानन्द के आधार पर। पद्माकर के लक्षणोदाहरणों का स्वच्छ समन्वय इनके इस ग्रंथ की उपयोगिता को बढ़ा देता है। आचार्यत्व के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि इनमें न तो किसी विशेष सिद्धान्त का प्रतिपादन है और न ही आचार्यत्व की पांडित्यपूर्ण प्रतिभा। वे मुख्य रूप से कवि हैं, युग की परम्परा को निभाते हुए इन्होंने अपने अन्य भाइयों के समान आचार्य कर्म भी किया।

कवित्व—पद्माकर एक उत्कृष्ट प्रतिभासम्पन्न कवि हैं। ये कविता में दृश्य योजना और शब्द-योजना के लिये तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनमें स्वच्छ और उदात्त कल्पना है। इनकी वृत्ति आनन्द और उल्लास के वर्णन प्रसंगों में खूब रमी। पद्माकर शब्द-चयन के कुशल शिल्पी हैं। आचार्य शुक्ल इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हाव-भाव-पूर्ण मूर्ति-विधान करती है कि पाठक मानो प्रत्यक्षानुभूति में मग्न हो जाता है। ऐसा सजीव मूर्ति-विधान करने वाली कल्पना बिहारी को छोड़कर अन्य किसी कवि में नहीं पाई जाती।" इन्होंने दूर की कौड़ी पकड़ने का कहीं प्रयास नहीं किया है। इन्होंने न ही तो लम्बे मजबून बाँधने का साहस किया है और न ही वे एकमात्र अतिरंजनापूर्ण हास्यास्पद उक्तियों में लग गये। इनकी कविता के पीछे हृदय की सच्ची और स्वाभाविक प्रेरणा है जो पाठक को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। यद्यपि कहीं-कहीं पर ये अपने समय की प्रवृत्ति के अनुसार अर्थ-गाम्भीर्यहीन रचनाओं में भी प्रवृत्त हुए हैं पर बहुत थोड़े अवसरों पर और वहाँ पर भी हास्यास्पदता नहीं आई है। भाषा के प्रवाह और कविता की सरसता में पद्माकर मतिराम के समकक्ष ठहरते हैं। सूक्तियों की रचना में भले ही बिहारी इनसे बढ़ गये हों परन्तु रस-नियोजन में पद्माकर बिहारी से आगे निकल गये हैं।

भाषा पर इनका व्यापक अधिकार है। आचार्य शुक्ल इनकी भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं —"भाषा की सब प्रकार की शक्तियों पर इस कवि का अधिकार दिखाई पड़ता है। कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भाव भरी प्रेम-मूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रासों की ललित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीरदर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है और कहीं शान्त सरोवर के समान स्थिर और गम्भीर होकर मनुष्य-जीवन-विश्रांति की छाया दिखाती है। सारांश यह है कि इनकी भाषा में वह अनेकरूपता है जो एक बड़े कवि में होनी चाहिए। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी जी में दिखाई पड़ती है।" शुक्ल जी के ही शब्दों में पद्माकर के कवि के सम्बन्ध में कह सकते हैं—"रीतिकाल के कवियों में सहृदय समाज इन्हें बहुत श्रेष्ठ स्थान देता आया है। ऐसा सर्वप्रिय कवि इस काल के भीतर बिहारी को छोड़कर

दूसरा नहीं हुआ। जिस प्रकार ये अपनी परम्परा के परमोत्कृष्ट कवि हैं इसी प्रकार प्रसिद्धि में अन्तिम भी।"

रीति काल के लोकप्रिय कवि बिहारी (रीतिबद्ध काव्य कवि)

जीवन-वृत्त – बिहारी हिन्दी-साहित्य के अत्यन्त लोक-प्रिय कवि हैं। इनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध में तीन मत प्रचलित हैं। ग्वालियर, बसुआगोविन्दपुर और मथुरा इन तीनों स्थानों से इनका सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, किन्तु ग्वालियर ही इनकी जन्म-भूमि है। इस सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं। बिहारी के पिता का नाम केशवराय था। अधिकतर विद्वानों का विश्वास है कि यह केशवराय आचार्य केशवदास ही हैं। बिहारी माथुर चौबे थे। इनके एक भाई और बहिन का भी होना बताया जाता है। इनके पिता ग्वालियर को छोड़कर ओरछा चले गये थे। उस समय बिहारी की अवस्था आठ वर्ष की थी। वहाँ इन्होंने काव्य-ग्रंथों का सम्यक् अध्ययन किया। बिहारी ने निम्बार्क-सम्प्रदाय के अनुयायी स्वामी नरहरिदास से संस्कृत, प्राकृत आदि का अध्ययन किया। इनके पिता ओरछा छोड़कर वृन्दावन चले आये। वहाँ बिहारी ने साहित्य के साथ संगीत का भी अध्ययन किया। वृन्दावन में इनकी शाहजहाँ से भेंट हुई। वह इन्हें आगरे ले गया। वहाँ पर इन्होंने फारसी शायरी का अध्ययन किया। शाहजहाँ ने पुत्र-जन्मोत्सव के उपलक्ष में अनेक राजाओं को आमंत्रित किया। वहाँ बिहारी ने अपनी काव्यनिपुणता का खूब परिचय दिया। बिहारी पर मुग्ध होकर राजाओं ने बिहारी की वार्षिक वृत्ति बाँध दी। इसी सिलसिले में बिहारी एक दफा मिर्जा राजा जयसिंह के यहाँ पहुंचे। वह अपनी मँझली रानी के प्रेम में बुरी तरह आसक्त था। इन्होंने उस समय अपने काव्य-कौशल से काम लिया और निम्न दोहा लिखकर भेजा :—

> नहिं पराग नहीं मधुर-मधु, नहिं विकास इहिं काल।
> अली कली ही सो बँध्यो, आगे कौन हवाल॥

राजा को प्रबोध आया। उन्होंने रीझकर बिहारी को अपना राजदरबारी कवि नियुक्त किया और एक-एक दोहे पर एक-एक अशरफी देने लगे। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के कथनानुसार बिहारी की स्त्री एक अच्छी कवयित्री थी। उपर्युक्त परिचय के आधार पर कहा जा सकता है कि बिहारी का जीवन बुन्देलखंड, मथुरा, आगरा, और जयपुर में व्यतीत हुआ। इनका जन्म सं० १६५२ है और इनका शरीरपात सं० १७२० के आस-पास हुआ।

काव्य-समीक्षा बिहारी एक सजग कलाकार हैं। उन्होंने जीवन में ७१३ दोहों का एक ही ग्रंथ लिखा और वह है बिहारी सतसई। पिछले एक हजार वर्ष की हिन्दी काव्य-निधि में यदि हम दस सर्वश्रेष्ठ ग्रंथों को चुनना चाहें तो उनमें बिहारी सतसई का नाम आयेगा। ये ग्रंथ हैं—पृथ्वीराजरासो, पद्मावत, सूरसागर, रामचरित-मानस, रामचन्द्रिका, बिहारी सतसई, कामायनी, प्रियप्रवास, साकेत और दीप-शिखा। इसमें अधिकतर प्रबन्ध काव्य हैं जिनमें जीवन की विविधता और गहराई

है। सूरसागर, बिहारी सतसई और दीपशिखा मुक्तक काव्य हैं। मुक्तककार के पास जीवन का आधारफलक अत्यन्त सीमित होता है और उसमें ही उसे सजीव रूप रेखायें और रंग भरने पड़ते हैं। जिस मुक्तक काव्य में यह रूप रंग जितना उज्ज्वल होगा वह उतना ही सफल होगा। संस्कृत के अमरुक और बिहारी में मुक्तक काव्य की यह विशिष्टता अपनी चरम सीमा पर पहुंची हुई है। सम्भव है कि बिहारी ने ७१३ से अधिक दोहे लिखे हों और उनमें काट-छाँट कर निखार और संवार कर प्रौढ़तम दोहों का एक मंजु स्तवक तैय्यार कर दिया हो अन्यथा किसी भी कलाकार के सभी दोहे इतने परिष्कृत और परिमार्जित नहीं हो सकते। बिहारी का एक ही ग्रंथ उनकी महत्ती कीर्ति का आधार है। आचार्य शुक्ल का इस सम्बन्ध में कहना है — "यह बात साहित्य क्षेत्र के इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा कर रही है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिमाण से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है।" मुक्तक-काव्य के कवि में कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास-शक्ति का होना अनिवार्य होता है, उसे अपने खंड-दृश्यों में रस की एक ऐसी वेगवती अजस्र धारा प्रवाहित करनी होती है जो हृदय-कलिका को विकसित कर दे, उसके प्रत्येक पद्य का पूर्वापर सम्बन्ध से रहित अपना एक अलग अस्तित्व हो, उसके पद्य-स्तबकों में प्रभावजन्य एक अपूर्व निविड़ता और तरलता हो, जो स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने में सूक्ष्म हो और पाठक को चमत्कृत कर दे। मुक्तक के ये समूचे गुण अपने भव्य रूप में बिहारी में विद्यमान हैं। उनका प्रत्येक दोहा एक-एक उज्ज्वल रत्न है। उन्होंने गागर में सागर भर दिया है। इनके दोहे रस की पिचकारियां हैं। वे एक ऐसी मीठी रोटी हैं जिसको जिधर से तोड़ा जाय उधर से मीठी लगती है। प्रभाव तो उन दोहों का है ही विलक्षण। किसी ने ठीक ही कहा है: —

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखने में छोटे लगैं, बधैं सकल शरीर॥

भाव पक्ष — शृंगार — बिहारी एक शृंगारी कवि हैं। शृंगार के संयोग पक्ष में वे जितने रमे हैं उतने वियोग पक्ष में नहीं। वियोग-वर्णन के लिये हृदय की जिन सहानुभूतियों और द्रवणशीलता की आवश्यकता होती है, बिहारी उनसे शून्य हैं। विरह वर्णन में वे अपनी सारी शक्ति ऊहात्मक उक्तियों में लगा देते हैं, जहाँ भावों की प्रेषणीयता के स्थान पर हास्यास्पदता आ जाती है। वे अनुराग के कवि हैं और उनकी वृत्ति अनुराग के मिलन-पक्ष में खूब रमी है। संयोग-पक्ष की कोई ऐसी स्थिति नहीं, जो बिहारी की दृष्टि से बची हो। रूप-दर्शन से आकर्षण होता है। रूप के ये वर्णन नायिका के हैं, इस दृष्टि से नायक के आकर्षण का वर्णन स्वाभाविक था, पर बिहारी ने ऐसा नहीं किया। नायिका ही कवि की दृष्टिबिन्दु है। वही रूपवती है, आकर्षित होती है और पीड़ित भी होती है। 'प्रेम दोनों ओर पलता है' की उक्ति यहाँ अधिकांश में चरितार्थ नहीं होती। नायक से भेंट होने पर वह स्वयं पीड़ा को व्यक्त करती है। नायक घुँघचियों की भेंट भेजता है। नायिका गुरुजन,

परिजन से आँख बचाकर दूती को साथ लेकर अभिसार के लिए तैयार हो जाती हैं। एकांत में नायक और नायिका का मिलन होता है। वहाँ मदिरा पान होता है। थोड़ी देर झूठी-झूठी "नहीं-नहीं" करने के पश्चात् नायिका सुरत-सुख में लीन हो जाती है। अधिक ढीठ हो जाने पर उसे विपरीत रति के लिए तैयार किया जा सकता है :—

> मैं मिलहा सोयौ समुझि मुँह चूम्यो ढिग जाई।
> हंस्यौ, खिसानी, गल गह्यौ रही गरें लपटाई।
> दीप उजेरें हू पतिहि हरत बसनु रति काज।
> रही लिपटि छवि की छटलु नं को छुटी नलाज॥

इस मिलन-सुख में बिहारी ने जिन बातों का वर्णन किया है, जो कुछ-रसिकों को चाहे अच्छी लगें, पर अधिक गम्भीर रुचि वालों को शायद ही रुचें। उदाहरणार्थ, नायक पतंग उड़ा रहा है तो नायिका उसकी छाया छूने के लिए दौड़ी फिरती है या नायक-नायिका की गोद से बच्चा लेते समय चुपके से उसकी छाती को उंगली से दबा देता है या दोनों घरों के बीच में जो दीवाल है उसमें बड़ा छेद करके दोनों रात-भर एक दूसरे का हाथ पकड़कर खड़े रहते हैं या फिर पैरों की उँगलियों के बल पर खड़े होकर दीवार पर थोड़ा उचक कर दोनों एक-दूसरे के कपोल को चूमकर भाग जाते हैं। कदाचित् इन्हीं बातों को लक्ष्य रखकर आचार्य शुक्ल ने कहा है—"कविता उनकी शृंगारी है पर प्रेम की उच्च-भूमि पर नहीं पहुंचती, नीचे रह जाती है।" दिनकर के शब्द इस विषय में और भी द्रष्टव्य हैं—"बिहारी के दोहों में न तो कोई बड़ी अनुभूति है न कोई ऊँची बात, सिर्फ लड़कियों की कुछ अदायें हैं मगर कवि ने उन्हें कुछ ऐसे ढंग से चित्रित किया है कि आज तक रसिकों का मन कचोट खाकर रह जाता है। जो लोग कविता में ऊँची अनुभूति या ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातों की तलाश में रहते हैं, बिहारी की कविताओं में उन्हें अपने लिये चुनौती मिलेगी।"

हाँ, अनुभाव के विधान में इनकी रसव्यंजना अत्यन्त भव्य बन पड़ी है। हावों और भावों की ऐसी सुन्दर योजना, कोई भी इनका समकालीन शृंगारी कवि नहीं कर सका। मानो एक प्रकार से इन्होंने सजीव हाव-भाव भरी मूर्तियाँ तैयार कर दी हैं—

> बत रस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
> सौंह करें भौंहनि हँसै दैन कहै नटि जाइ।

बिहारी का संयोग-वर्णन जितना सफल हुआ है उतना वियोग-वर्णन नहीं। लगता है बिहारी को जीवन के संयोग-पक्ष का जैसा अनुभव था वैसा वियोग-पक्ष का नहीं। विरह जीवन की एक गम्भीर स्थिति है। इसका जब तक किसी साहित्यकार को कोई गहन अनुभव न हो वह इसका मार्मिक वर्णन नहीं कर सकता। वियोग में देश और काल की स्वाभाविकता के सम्बन्ध में बड़ा सतर्क रहना पड़ता है। मनोदशा का वर्णन कहाँ काव्य का रूप ग्रहण करता है और कहाँ खिलवाड़ बन जाता है,

इसका ज्ञान बहुत कम साहित्यिकों को होता है। नायिका की सुकुमारता, विरहताप, विरहक्षीणता आदि में बिहारी कहीं-कहीं औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कर गये हैं और वहां उनकी कविता खिलवाड़ मात्र बन गई है। इनके विरह-वर्णन में न तो सूर की स्वाभाविकता और तीव्रता है और न जायसी की सी गहनता और अशेष सृष्टि के साथ रागात्मकता। वियोगावस्था में पहुंचते ही बिहारी की नायिका कभी चन्द्रमा और समीर के सामने दौड़ती फिरती है, कभी जुगुनुओं को अंगारे समझ कर भीतर छिप जाने की सलाह देती है। सांस लेती है तो कभी छः सात हाथ आगे खिसक जाती है और कभी पीछे, जैसे कि वह क्लाक का पैंडुलम हो। रोती है तो आंसू छाती पर पड़ते ही भाप बन कर उड़ जाते हैं। गुलाब छिड़कने पर वह भीतर ही सूख जाता है। दुर्बल इतनी हो गई कि मृत्यु चश्मा लगा कर भी उसे देख नहीं पाती। पड़ोसी परेशान हैं। जाड़े की रातों में गीले कपड़े आगे कर उसके पास पहुंच पाते हैं और ग्रीष्म में तो उसके पड़ौस में रहना असम्भव ही हो गया है। ऐसे स्थलों में बिहारी बुरी तरह असफल रहे हैं। सच तो यह है कि उनका मन वियोग वर्णन में रमा नहीं और विरह में प्रेम के जिस उदात्त रूप का रससिद्ध कवि साक्षात्कार करा दिया करते हैं, बिहारी नहीं करा सके वरन् खिलवाड़ और पहेलियाँ बुझाने में लग गये हैं। वे प्रेम के सहज रूप को कम और उसके मनोहर रूप को अधिक पसन्द करते हैं। वे उसके कल्पना-कोमल रूप को उभारने का अधिक प्रयास करते हैं और उसकी अनायास शोभा को कम, वे चित्र को कलापूर्ण बनाने का अधिक श्रम करते हैं वैयक्तिक सम्बन्धों की अनुभूतियों से रंगने में कम। न ही इनमें कालिदास और भवभूति का प्रेमादर्श है, न ही सूर की गहनता और व्यापकता और न इनमें तुलसी की शालीनता। इस क्षेत्र में मतिराम, पद्माकर और देव में अधिक गहराई है। बिहारी का प्रेम-चित्रण रसिकता की कोटि तक पहुंच कर रह गया है, उसकी उच्च भाव-भूमि पर नहीं पहुंच पाया है और फिर जहां वे रीति के बंधन में बंध कर नायिका के प्रेम का चित्रण करते हैं—

> न ए विरह बढ़ती बिथा, खरी बिकल जिय बाल।
> बिलखी देखि परोसिन्यौं हरषि हँसी तिह काल॥

में अत्यन्त क्लिष्ट कल्पना अपेक्षित है, जैसे कि वे दिमागी व्यायाम कराना चाहते हों। आचार्य शुक्ल ने इनकी कविता के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है—"बिहारी की कृति का जो अधिक मूल्य आँका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए—उनके पक्ष से समझना चाहिए जो किसी हाथी दांत के टुकड़े पर महीन बेल-बूटे देख घण्टों वाह-वाह किया करते हैं पर जो हृदय के अन्तस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मलधारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं, उनका सन्तोष बिहारी से नहीं हो सकता। बिहारी का काव्य हृदय में किसी ऐसी लय या संगीत का संचार नहीं करता जिसकी

स्वरधारा कुछ काल तक गूंजती रहे। यदि घुले हुए भावों का आभ्यान्तर प्रवाह बिहारी में होता तो वे एक दोहे पर ही सन्तोष न करते। मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त-सवैया का सा गूंजने-वाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं पड़ता।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"दूसरी बात यह है कि भावों का बहुत उत्कृष्ट और उदात्त स्वरूप बिहारी में नहीं मिलता। कविता उनकी शृंगारी है, पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुंचती, नीचे रह जाती है।" इस सम्बन्ध में रामधारीसिंह दिनकर के शब्द विशेष द्रष्टव्य हैं—"बिहारी की कविताओं से आलोचना का यह सिद्धान्त आसानी से निकाला जा सकता है कि कविता की सफलता भाव या विचार की ऊँचाई से नहीं होती, प्रत्युत कारीगरी की निपुणता से होती है। कविता कामायनी में भी सफल हो सकती है और बिहारी सतसई में भी और दोनों की सफलतायें अपने-अपने स्तर पर अद्‌भुत और महान् हैं।" ऐसी बात नहीं कि बिहारी इस दिशा में सर्वत्र असफल रहे हों। जहाँ वे ऊहात्मकता में नहीं फँसे, वहाँ ऐसे चित्रण निश्चित रूप से सफल कहे जा सकते हैं। नायिका के हृदय के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण इन्होंने खूब किया है। शृंगार के संचारी भावों का वर्णन भी इनका बहुत हृदयस्पर्शी है। उदाहरणार्थ—

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥

बिहारी के प्रेम-चित्रण के सम्बन्ध में हम संक्षेप में कह सकते हैं कि वे रीति-कालीन प्रणयानुभूति के प्रतिनिधि कवि हैं।

भक्ति और नीति—बिहारी सतसई में भक्ति की चर्चा होते हुए भी बिहारी को भक्त नहीं कहा जा सकता। इनकी किसी वाद-विशेष पर आस्था नहीं थी। उन्होंने समान भाव से राम, कृष्ण और नरसिंह का स्मरण किया है। कहीं निर्गुण की महिमा मुक्तकंठ से गाई है। प्रतिबिम्बवाद और अद्वैतवाद के सम्बन्ध में भी कुछ न कुछ कहा है। नाम-स्मरण पर भी अत्यन्त बल दिया है। कहीं-कहीं पर अपने आराध्य देव के प्रति अति श्रद्धामयी वचन-वक्रता से भी काम लिया है। यह सब कुछ होते हुए भी उन्हें भक्त नहीं कहा जा सकता है। वे पहले कवि हैं और वह भी अनुराग के, विराग के नहीं। उन्होंने प्रत्येक महाकवि की तरह अपने प्रिय विषय के अतिरिक्त भक्ति और नीति पर भी लिखा। भक्त का हृदय उन्हें प्राप्त नहीं था। बिहारी की दृष्टि राधा की तनद्युति पर टिकी रही है, मन तक नहीं जा सकी। उन्होंने राधा और कृष्ण के जीवन के घोर शृंगारी और वासनात्मक चित्र उतारे हैं। अपनी सतसई में अनेक स्वाद भरने के लिए राधा-कृष्ण की भक्ति से सम्बन्धित दोहे लिखे हैं अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सामाजिक त्राण के लिए उन्होंने राधा और कृष्ण के नाम का कवच तैयार किया है। भक्तों के हृदय की सी पवित्रता, आर्द्रता, कोमलता, कातरता, दीनता और भावमग्नता उनमें सामान्यतः नहीं है। विलासोन्मुख राज-

नीति के पराजय युग में जहाँ कवि जीवन के संघर्षों और घात-प्रतिघातों से सर्वथा अपरिचित था, उसकी लिखी हुई नीति की उक्तियाँ भी प्रदर्शनमात्र समझनी चाहिए। इनकी भक्ति और नीति का एक-एक उदाहरण देखिए—

पतवारी माला पकरि और न कछू उपाउ।
तरि संसार पयोधि को, हरि नावै करि नाउ॥
दुसह दुराज प्रजानु को क्यों न बढ़े दुःख द्वन्द।
अधिक अन्धेरा जग करत मिलि मावस रविचन्द॥

उक्ति-वैचित्र्य और विनोद—किसी बात को कहने का ढंग बिहारी का एकदम निराला है। वे अपनी उर्वर प्रतिभा से नित्य नई-नई बातें उपस्थित करते हैं। इस सम्बन्ध में इनकी यह उक्ति दर्शनीय है—

दृग उरझत टूटत कुटुम्ब जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठि दुरजन हियै दइ नई यह रीति॥

इनकी उक्तियों में कहीं-कहीं पानी पीकर भी प्यास नहीं बुझ रही है, सगुन सलोने रूप की तृषा बुझा ही कब करती है। कभी लाल के दृगों की प्रिया के दृगों में छाया पड़ रही है। कभी पराग, मधुर मधु और बसन्त के अभाव में अविकसित कली से ही भंवरा आबद्ध हो रहा है। इन कथनों में तीखा और चोखा व्यंग्य चमत्कार है। ऐसे चित्रणों में बिहारी अत्यन्त दक्ष हैं। हास्य-बिहारी में नहीं के बराबर है। कहीं-कहीं कथावाचकों और अधकचरे वैद्यों की खिल्ली उड़ाई है। नागरिक जीवन में अभिरुचि रखने के कारण ग्रामीण जीवन को उन्होंने हीन-भावना से देखा है और उसमें हास्य की सृष्टि भी करनी चाही है, पर वह प्रशस्य नहीं कहीं जा सकती। ऐसे लगता है कि गाँवों और वहां के निवासियों के स्वभाव का बिहारी को बहुत अच्छा अनुभव नहीं था।

भावना के क्षेत्र से हटकर जब कवि जीवन के निजी अनुभवों को चित्रित करने लगता है तो वे सूक्तियां कहलाती हैं, जिनमें बहुत-सी नीति की बातें भी आ जाती हैं। वस्तुतः नीति और सूक्ति में कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है। बिहारी ने बहुत-सी बातें सज्जन-दुर्जन, गुनी-निगुनी, दाता-सूम आदि को लेकर कहीं हैं। कुछ सूक्तियाँ कला-प्रेम और मनुष्य के स्वभाव को लक्ष्य करके कही गई हैं। एक उक्ति देखिए—

बड़े न हूजै गुननु बिनु बिरद बड़ाई पाइ।
कहत धतूरे सौं कनकु गहनौ गढ़ौ न जाइ॥

प्रकृति चित्रण—प्राचीन कवियों में से सेनापति को छोड़कर किसी ने भी प्रकृति का आलम्बन रूप में ग्रहण नहीं किया। प्रायः उपदेश, रहस्य, अलंकार-विधान या उद्दीपन रूप में उसका प्रयोग किया गया है। बिहारी ने भी उसका ग्रहण अप्रस्तुत के रूप में किया है, पर कहीं-कहीं पर उसको स्वतन्त्र इकाई

के रूप में भी चित्रित किया है। इसका षड्ऋतु वर्णन प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन है। ऐसे वर्णनों में भी बाल्मीकि, कालिदास और भवभूति जैसी द्रवणशीलता और प्रकृति के साथ तादात्म्य तो नहीं है पर फिर भी सन्तोष की वात है कि कम से कम एक-एक दोहा तो स्वतन्त्र रूप से लिख ही दिया है। यहाँ पर इनका चित्रांकन और नाद-सौन्दर्य मनोरम वन पड़े हैं। बिहारी ने मनुष्य स्वभाव को प्रकृति से बहुत कुछ प्रभावित माना है, अतः उन दोनों को आमने-सामने रखकर चित्रित किया है। विश्वम्भर मानव का कहना है कि प्रकृति-सम्बन्धी कुछ चित्र तो बिहारी के ऐसे हैं जो हिन्दी के आधुनिक काव्य की तुलना में कम शक्तिशाली नहीं ठहरते। उदाहरणार्थ देखिए—

रनित भृंग घंटावली झरित दान मधु नीर।
मन्द-मन्द आवतु चल्यौ कुंजरू कुंज समीर॥
बैठि रही अति सघन बन पैठि सदन तन मांह।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छांह॥

काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण—रीतिकाल में मुख्यतः तीन सम्प्रदाय प्रचलित थे—अलंकार, रस और ध्वनि। बिहारी आलंकारिक चमत्कार के अनावश्यक मोह में कहीं भी ग्रस्त नहीं हुए। उन्होंने इन्हें साधन के रूप में प्रयुक्त किया है, साध्य रूप में नहीं। रस भी बिहारी का साध्य लक्षित नहीं होता। बिहारी ध्वनिवादी हैं। रस ध्वनि, अलंकारध्वनि और वस्तुध्वनि को ग्रहण करके बिहारी ने साँकेतिक अर्थ को घोषित किया है, अतः उनकी रुचि ध्वनि-सम्प्रदाय की ओर अधिक है।

बिहारी के अधिकाँश आलोचकों ने उनकी सतसई को नायिका भेद का ग्रंथ कहा है और इसे लक्षणपरक ग्रंथ सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बिहारी ने नायिका भेद को समझकर सतसई की रचना की थी, किन्तु उनकी सतसई नायिका भेद का ग्रंथ नहीं। भक्ति, नीति और सूक्तियों में लक्षण-परम्परा को ढूंढना व्यर्थ है। हाँ, उनके अधिकांश दोहे रीतिपरक अवश्य हैं।

कला पक्ष अलंकार—बिहारी अलंकारवादी नहीं थे, किन्तु उन्होंने स्वछन्द रूप से अलंकारों का प्रयोग किया है। प्रायः उनके प्रत्येक दोहे में उक्तिवैचित्र्य के साथ अलंकारों की सुन्दर योजना हुई है। कहीं-कहीं एक-एक दोहे में संकर और संसृष्टि के रूप में अलंकारों का नियोजन हुआ है। निम्न दोहे में विरोधाभास तथा असंगति अलंकार का सुन्दर गुम्फन हुआ है—

दृग उरझत टूटत कटुम्ब जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिये दई नई यह रीति॥

सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि का प्रयोग इन्होंने अत्यधिक किया है। रूपक तो बिहारी का प्रिय अलंकार है। वैसे यमक, समासोक्ति, अपह्नुति आदि अलंकारों का भी सुन्दर प्रयोग किया है। यमक का उदाहरण देखिए—

तो पर वारौं उरबसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उरबसी ह्वै उरबसी समान॥

छन्द—बिहारी सतसई में केवल दो छन्दों का प्रयोग मिलता है—दोहा तथा सोरठा। ये दोनों ४८ मात्रा के छन्द हैं और परस्पर सम्बद्ध हैं। दोहा-छन्द द्वारा सम्पूर्ण भाव की व्यंजना कठिन व्यापार होता है। इसमें गागर में सागर भरना पड़ता है। इसमें भाषा की समास-पद्धति और विचारों की समाहार-शक्ति दोनों उत्कृष्ट रूप में अपेक्षित होती हैं, बिहारी में ये दोनों वस्तुएँ अपनी चरमसीमा पर हैं। दोहे का जो शास्त्रीय नियम है उसका पूर्ण निर्वाह तो किसी कवि द्वारा नहीं हुआ, परन्तु साधारणत: बिहारी के दोहे दोषरहित हैं। भावाभिव्यक्ति के लिए संस्कृत के मुक्तक-कवि अमरुक ने शार्दूलविक्रीडित छन्द को, प्राकृत और संस्कृत के कवियों ने गाथा और आर्या छन्द को, बिहारी के परवर्ती कवियों ने सवैया तथा कुण्डलियाँ छन्द को अपनाया है, किन्तु बिहारी ने दोहे रूपी स्तबक में सारी भाव-सुषमा को भर दिया है। कुछ आलोचकों ने बिहारी पर यह दोष लगाया है कि उन्हें केवल दोहा छन्द का ज्ञान था, परन्तु यह व्यर्थ है। यह दूसरी चीज है कि दोहा छन्द उन्हें सर्वाधिक प्रिय लगा। उन्होंने जिस निपुणता के साथ दोहा छन्द में भावाभिव्यक्ति की है वह वस्तुत: उनके लिए श्रेय है।

पांडित्य—बिहारी विस्तृत जानकार थे। उन्हें सांसारिक विषयों, साहित्य, आध्यात्मिक और पौराणिक विषयों तथा ज्योतिष और गणितादि का ज्ञान था। बिहारी के कुछ आलोचकों ने उसके एक-एक दोहे को पकड़कर उसे धुरन्धर ज्योतिषी, पौराणिक और गणितज्ञ सिद्ध करना चाहा है, किन्तु यह विशेष संगत नहीं है। 'अहो भारो महान् कवे:' के अनुसार उन्हें विशाल अनुभव अवश्य था जो कि किसी कवि के लिए अपेक्षित भी होता है। इसके अतिरिक्त हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि केशव और बिहारी वर्णक शैली के अनुकर्ता कवि हैं। मध्ययुगीन वर्णक कवि को अपने भिन्न रुचि वाले पाठकों के मनोरंजन के लिए नाना विषयों का समावेश अपने साहित्य में करना पड़ता था। बिहारी सतसई में अध्यात्म पुराण, ज्योतिष, नीति और गणित आदि विषयों का उल्लेख उपर्युक्त शैली के अनुकरण का सूचक है। इससे उनका प्रत्येक क्षेत्र में अगाध पांडित्य घोषित नहीं होता है।

भाषा—बिहारी की भाषा को हम अपेक्षाकृत शुद्ध ब्रज भाषा कह सकते हैं। उनके समय में ब्रज भाषा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो चुका था। इनकी भाषा चलती हुई ब्रज भाषा का साहित्यिक रूप है। बिहारी का शब्द गठन और वाक्य विन्यास पर्याप्त सुव्यवस्थित है। बिहारी ने सबसे पहले शब्दों की एकरूपता और पांजलता पर ध्यान दिया और भाषा में परिष्कार का मार्ग प्रशस्त किया। साहित्यिक ब्रजभाषा का रूप इनकी ही भाषा में सर्वप्रथम निखार को प्राप्त हुआ। आगे चलकर घनानन्द और पद्माकर ने उसे और अधिक परिष्कृत किया। बिहारी की भाषा में बुन्देलखण्डी और पूर्वी का प्रभाव है। पूर्वी के प्रयोग तुक के आग्रह और प्रयोग-बाहुल्य के कारण

हुए हैं। बुन्देलखंडी के प्रयोग सहज रूप में शैशव के अभ्यास के कारण आये थे। इनकी भाषा में समास-शक्ति पूर्ण रूप में विद्यमान है। कहीं-कहीं पर अरबी-फारसी के शब्द इजाफा, ताफता, विलनवी, कुतुबनुमा, रोज इत्यादि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। इन्होंने भाषा को प्रेषणीय बनाने के लिए लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग किया है। नाद-सौन्दर्य इनकी भाषा का एक सहज गुण है। बिहारी ने माधुर्य गुण के अनुकूल शब्द-चयन किया है। भाषा के अलंकरण के लिए इन्होंने यमक, अनुप्रास, वीप्सा आदि शब्दालंकारों का प्रयोग किया है। कुछ लोग बिहारी पर भाषा के काठिन्य का दोष लगाते हैं। पर वह निराधार है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र बिहारी की भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं—"बिहारी का भाषा पर वास्तविक अधिकार था। उनके बाद भाषा पर अच्छा अधिकार दिखाने वाले मतिराम, पद्माकर आदि कुछ ही प्रवीण कवि हुए हैं। आधुनिक समय में रत्नाकर ने वैसा ही अधिकार दिखाया है। इसलिए बिहारी को भाषा का पंडित कहना चाहिए। भाषा की दृष्टि से बिहारी की समता करने वाला, भाषा पर वैसा अधिकार रखने वाला कोई मुक्तककार नहीं दिखाई पड़ता है।"

बिहारी : उनकी सतसई का महत्व—हिन्दी साहित्य में सूर और तुलसी के बाद बिहारी और देव पर अपेक्षाकृत अधिक आलोचनात्मक साहित्य तैयार हुआ है। मेरे विचार में बिहारी के आलोचकों ने (समर्थक) बिहारी के सम्बन्ध में तनिक अतिशयोक्ति से काम लिया है। पद्मसिंह शर्मा ने लिखा है—"हिन्दी कवियों में श्रीयुत महाकवि बिहारीलाल का आसन सबसे ऊँचा है। शृंगार रस वर्णन, पद-विन्यास-चातुर्य, अर्थ-गंभीर्य, स्वाभावोक्ति और स्वाभाविक बोलचाल आदि खास गुणों में वह अपना जोड़ नहीं रखते।" आगे चलकर शर्मा जी ने बिहारी के विरह-वर्णन को अत्यन्त उत्कृष्ट बताया है। राधाचरण गोस्वामी ने बिहारी को ऐसा पीयूषवर्षी घनश्याम कहा है जिसके उदय होते ही सूर और तुलसी आच्छादित हो जाते हैं। लाला भगवानदीन ने सूर, तुलसी और केशव के पश्चात् इन्हें हिन्दी का चौथा रत्न कहा है। दूसरे आलोचकों का कहना है कि सर्वप्रियता की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में रामचरित मानस के पश्चात् बिहारी की सतसई का स्थान आता है। इस पर पचासों टीकायें लिखी गई हैं, तब भी आलोचक वर्ग को सन्तोष नहीं है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कहना है—"प्रेम के भीतर उन्होंने सब प्रकार की सामग्री, सब प्रकार के वर्णन प्रस्तुत किये और वे भी इन्हीं सात सौ दोहों में। यह उनकी एक विशेषता ही है। नायिका-भेद या शृंगार का लक्षण ग्रंथ लिखने वाले भी किसी नायिका या अलंकारादि का वैसा साफ उदाहरण प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हुए जैसा बिहारी ने किया है। साथ ही हमें यह भी मान लेने में आनाकानी नहीं करनी चाहिये कि उनके जोड़ का हिन्दी में कोई दूसरा कवि नहीं हुआ, क्योंकि मुक्तकों में जो-जो विशेषता होनी चाहिये वे बिहारी में सबसे अधिक मात्रा में पाई जाती हैं। उपर्युक्त मतों के अध्ययन के पश्चात् बिहारी के सम्बन्ध में कुछ मौलिक प्रश्न उपस्थित होते

हैं—क्या बिहारी हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं ? क्या उनका शृंगार-वर्णन और विशेषतः विरह-वर्णन बेजोड़ है ? क्या बिहारी सतसई पर पचासों टीकाओं का लिखा जाना उनकी लोकप्रियता और महत्त्व में विशेष वृद्धि का कारण है ? बिहारी की हिंदी साहित्य में सर्वश्रेष्ठता के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कवि की सहज अनुभूति, तन्मयता और रसमयता में बिहारी से सूर, तुलसी, मीरा और घनानन्द बहुत आगे हैं। सरसता में तो बिहारी के समकालीन कवि मतिराम, पद्माकर और देव तक इनसे आगे निकल गये हैं। बिहारी के शृंगार के विषय में हम पहले कह चुके हैं कि इनकी कविता में प्रेम के किसी उच्चादर्श की प्रतिष्ठा नहीं हो पायी है। इनका चित्रित प्रेम बालिकाओं की कुछ अदाओं तक ही सीमित है। इन का प्रेम रसिकता की कोटि से आगे नहीं जा सका है। कविता इनकी शृंगारी है, पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुंच पाती नीचे रह जाती है। विरह-वर्णन में जो स्वाभाविकता, गहनता और व्यापकता और जीवन के जो निजी अनुभव अपेक्षित होते हैं उनकी बिहारी में कमी है। अधिक टीकाओं के सम्बन्ध में भी स्मरण रखना होगा कि संस्कृत-साहित्य में माघ, भारवि और श्री हर्ष पर कालिदास की अपेक्षा अधिक टीकायें मिलती हैं, पर ये कवि किसी भी दशा में कालिदास से श्रेष्ठ नहीं कहे जा सकते। सच तो यह है कि सच्ची और सहज कला, प्रेषणीयता और तादात्म्य के लिए टीका-टिप्पणियों की अपेक्षा नहीं रखती, वह तो स्वतः जनमानस में खचित हो जाती है। लोकप्रियता के सम्बन्ध में भी ध्यान रखना होगा कि देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास प्रेमचन्द, शरत् बाबू और रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों से कम लोकप्रिय नहीं हैं, पर देवकीनन्दन खत्री में प्रेमचंद जैसी साहित्यिक महत्ता और औदार्य कहाँ है ? इसके अतिरिक्त बिहारी पर अधिक टीकाओं के लिखे जाने का रहस्य तत्कालीन परिस्थितियों में निहित है।

बिहारी की कलागत विशेषताओं के विश्लेषण के अनन्तर हम विश्वम्भर मानव के शब्दों में कह सकते हैं—"बिहारी की कला हृदय की सहज उपज का परिणाम नहीं, वह अभ्यास-साध्य है। वहाँ अभिव्यक्ति का फूल वैसे नहीं खिलता जैसे बसंत में डालियों पर फूल खिलते हैं। कवि के भाव को ठीक समझने के लिए उसकी कला से परिचित होना आवश्यक है। वह कला कई बातों पर निर्भर करती है जैसे रस, अलंकार, नायिका-भेद, शब्द-शक्ति, प्रसंग-विधान और भाषा। पाठक को यदि इनमें से एक का भी अच्छा ज्ञान नहीं तो वह बिहारी के काव्य-सौन्दर्य से अपरिचित रहेगा।" अस्तु ! बिहारी रीतिकाल के एक सजग कलाकार हैं। वे वचन-भंगिमा में सिद्धहस्त हैं। बिहारी की वैयक्तिक और उनके युग की परिसीमायें उनके साथ हैं। उनके द्वारा चित्रित जीवन कहीं-कहीं मटमैला और गन्दला है, पर आखिर धरती का ही तो जीवन है। इतना तो निश्चित है कि बिहारी और उनकी सतसई का एक ऐतिहासिक महत्त्व है। जैसे चंदबरदाई, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद के बिना काव्य के विभिन्न युगों का इतिहास नहीं

लिखा जा सकता, वैसे ही रीतिकाल के दो सौ वर्षों की कड़ी टूटी हुई दिखाई देगी, यदि उसमें से बिहारी का नाम निकाल दिया जाये तो। बिहारी का काव्य उस युग की रुचियों और प्रवृत्तियों का एक सुन्दर निदर्शन है।

"करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद।"

सतसई-परम्परा और बिहारी-सतसई—संसार का आदि काव्य मुक्तक शैली में प्रणीत हुआ क्योंकि उसका क्रमवद्ध परिष्कृत प्रबन्ध रूप बाद की वस्तु है। वेद मुक्तक काव्य है। प्राकृत में मुक्तक काव्य दो रूपों में निर्मित हुआ—एक तो संख्यापरक काव्य और दूसरा इधर-उधर बिखरे हुए स्वतन्त्र पद्य। प्राकृत में सतसई-परम्परा का आरम्भ हाल की गाथा सप्तसती से हुआ। इसमें प्राकृत के अनेक कवियों के पद्यों का संग्रह है। प्राकृत का एक दूसरा संग्रह ग्रंथ हैं वज्जालग्ग। इनकी लोकप्रियता से आकर्षित होकर संस्कृत कवियों ने मुक्त रचनायें कीं। अमरुक ने अमरुकशतक लिखा और भर्तृहरि ने शतकत्रय की रचना की। इनके अतिरिक्त संस्कृत में अन्य भी संख्यापरक काव्य निर्मित हुए—सूर्यशतक, चंडीशतक, दुर्गासप्तशती आदि, किन्तु इनका विषय धार्मिक है। १२वीं शती में गोवर्धन ने आर्यासप्तशती की रचना की जो प्राकृत की गाथा सप्तशती पर आधृत है। हिन्दी में कृपाराम की हिततरंगिणी को सतसई परम्परा में प्रथम ग्रंथ कहा जा सकता है। मुबारक का अलक शतक और तिलक शतक भी इसी परम्परा में आते हैं। बलभद्र मिश्र ने आर्या सप्तशती का अनुवाद किया था। रहीम और तुलसी ने भी सतसई ग्रंथों की रचना की थी किन्तु इतना तो अवश्य स्वीकरणीय है कि बिहारी सतसई के अनन्तर हिन्दी में सतसई परक ग्रंथ लिखने की शैली का खूब प्रचार हुआ। १२वीं शती से आज तक अनेक सतसइयाँ लिखी गई हैं। मतिराम, कृपाराम, रसनिधि, विक्रम शाह, रामसिंह, सूर्यमल्ल, हरिऔध, दुलारेलाल, वियोगी हरि आदि की सतसइयाँ और दोहावली उल्लेखनीय हैं। सतसई साहित्य की प्रायः सभी प्रवृत्तियों का विकास बिहारी सतसई में हुआ है। वे प्रवृत्तियाँ हैं—शृंगारिकता की प्रधानता, अनेक विषयों के समावेश की प्रवृत्ति, यथार्थवादी दृष्टिकोण और मुक्तक शैली। बिहारी ने अपने पूर्ववर्ती सतसईकारों का अनुकरण तो किया ही है साथ-साथ कुछ नवीन तत्त्वों का भी समावेश किया है। जैसे अलंकार-प्रदर्शन, रीति-परम्परा के परिवेश में चित्रण आदि। परन्तु इनका साहित्यिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। डॉ० हजारीप्रसाद के शब्द इस सम्बन्ध में विशेष द्रष्टव्य हैं —"इस प्रकार बिहारी की सतसई किसी रीति मनोवृत्ति की उपज नहीं है। यह एक विशाल परम्परा के लगभग अन्तिम छोर पर पड़ती है और अपनी परम्परा को सम्भवतः अन्तिम विन्दु तक ले जाती है।" बिहारी सतसई के मुख्यतया उपजीव्य ग्रंथ हैं—गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती, अमरुक शतक आदि। गाथा सप्तशती और बिहारी-सतसई में निश्चित रूप से अन्तर है। गाथा सप्तशती की सहज ताजगी स्वाभाविक भावोद्रेक, दीप्त और भावोल्लास और सरलता बिहारी में

नहीं है। साहित्य के मर्मज्ञों का विश्वास है कि गोवर्धन की आर्या सप्तशती में हाल की सी सरलता और उल्लास और ताजगी नहीं है। बिहारी इस विषय में शायद गोवर्धन से अधिक सौभाग्यशाली हैं। कारण स्पष्ट है कि बिहारी ने लोक भाषा के माध्यम से अपनी अनुभूतियों और सरस वाग्वैदग्ध को व्यक्त किया है, किन्तु बिहारी को गोवर्धन की अपेक्षा रीति-परम्परा का भार अधिक ढोना पड़ा है, अतः उनकी कविता उनकी नायिका के समान शोभा के भार से 'सूधो पांय' धर सकने में असमर्थ हो गई है और अपनी शोभा के बोझ से लड़खड़ा उठी है।

बिहारी-सतसई की लोकप्रियता के कारण—बिहारी-सतसई की सर्वप्रियता का मुख्य कारण है उसका अनेक स्वादों से भरा हुआ होना। उसमें शृंगार, नीति, भक्ति, ज्ञान, आध्यात्मिकता, सूक्ति और रीति-परम्परा सब कुछ सम्मिश्रित रूप में है, अतः भिन्न भिन्न रुचि के व्यक्तियों के लिए यह अधिक ग्राह्य सिद्ध हुई है। दूसरा इसमें उर्दू की गजलों के समान वाग्वैदग्ध है जो अपनी तड़क-भड़क के कारण सहज में ही आकर्षित कर लेता है। बिहारी का चमत्कार-प्रदर्शन इस दशा में और भी अधिक सहायक हुआ है। तीसरा, दोहे-जैसे छोटे-छन्द में गागर में सागर भरने की प्रवृत्ति ने, भाषा की समास-शक्ति और विचारों की समाहार पद्धति ने इसे विशेष जनप्रिय बना दिया है। चौथा, बिहारी की जागरूकता और श्रमसाध्यता पग-पग पर दर्शनीय है। आजीवन उन्होंने ७१३ दोहों का निर्माण किया और एक जौहरी के समान रत्नों को निखार और सँवार कर रखा। पाँचवां, बिहारी ध्वनिवादी हैं, उनकी अलंकार, वस्तु और रस-ध्वनि अत्यन्त नाजुक रूप में व्यक्त हुई हैं। उनकी कारीगरी हाथी-दाँत पर खुदे बेल-बूटों के समान सबको आकर्षित कर लेती है। छठा, इनकी सतसई का साहित्यिक महत्त्व के साथ ऐतिहासिक महत्त्व भी है। सातवां, बिहारी अन्योक्ति-कला में अत्यन्त दक्ष हैं। आठवां, इसमें पांडित्य और भावुकता का सुन्दर सम्मिश्रण है। नवां, कारण है इसकी भाषा का टकसालीपन, पद-लालित्य और नाद-सौन्दर्य। दसवां, बिहारी का प्रकृति-चित्रण भले ही संक्षिप्त है परन्तु काफी मार्मिक है और यहां तक कि उसे आधुनिक छायावादी काव्य की तुलना में भी रखा जा सकता है। ग्यारहवां, इसके अतिरिक्त इन्होंने अपने पूर्ववर्ती सतसई-कारों की सभी प्रवृत्तियों के समावेश के साथ अपनी सतसई में कुछ नवीन तत्त्वों का समावेश भी किया है। यह एक अलग बात है कि वे कुछ दूषित रह गये हैं। अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों के भावों को लेकर भी इन्होंने उन्हें अपनी मौलिकता की खराद पर चढ़ा कर नवीन बना दिया है और एक प्रकार से उनसे मजमून छीन लिया है। बारहवां, जीवन के प्रति यथार्थवादी भौतिक दृष्टिकोण ने भी इनकी सतसई को विशेष लोकप्रिय बना दिया है। बिहारी-सतसई रीति-काल के दो सौ वर्षों के इतिहास की एक सुन्दर कड़ी है और अपने युग की रुचियों और प्रवृत्तियों का एक सुन्दर निदर्शन है।

बिहारी और रीतिकाल के अन्य साहित्यकार—मतिराम उक्तिवैचित्र्य में बिहारी-जैसे निपुण नहीं, पर वे मर्मस्पर्शी कवि अवश्य हैं। सरस और सहज भाव

से भावों को व्यक्त करने की जो क्षमता मतिराम में है वह बिहारी में नहीं। मतिराम का काव्य परम्परा के बोझ से इतना अभिभूत नहीं हुआ, जितना की बिहारी का। मतिराम में न ठूस-ठांस है और न दूर की कौड़ी लाने का कोई प्रयास है। इनकी कविता में मध्यकाल की नववधू की सच्ची और मार्मिक मूर्ति उभर आई है, बिहारी की-सी पहेली-बुझौवल नहीं हैं। मतिराम का आधार-फलक कोई इतना बड़ा नहीं पर उसमें प्रदर्शित चित्रण-क्षमता और भाषा-प्रवाह के साथ बिहारी की तुलना नहीं की जा सकती है।

देव का गृहीत क्षेत्र विविधतापूर्ण है। देव बड़े-बड़े मजमून सम्भालने में विफल प्रयास हो जाते हैं। देव की सबसे बड़ी कमजोरी है वे छोटे-छोटे भावों को बड़े-बड़े छन्दों में फिट करने बैठ जाते हैं और अनुप्रास तथा तुक के आग्रह में भाषा का बुरी तरह अंग-भंग कर देते हैं। उक्तिवैचित्र्य में वे बिहारी तक नहीं पहुँच पाते। देव का विस्तृत ज्ञान, मौजी स्वभाव और अनासक्त शृंगार-चित्रण हृदय को बरबस आकृष्ट कर लेते हैं। जहाँ वे अलंकारों के आडम्बर और रीति-परम्परा के मायाजाल में ग्रस्त हो गये हैं वहाँ उनकी कला का सहज विकास नहीं हो सका। हाँ, वे जहां इन बातों से मुक्त हैं, वहाँ इनकी कविता किसी भी दशा में बिहारी और मतिराम से कम नहीं है। गार्हस्थ्य प्रेम के मादक चित्र उतारने में वे बड़े उस्ताद हैं।

पद्माकर में मतिराम की भाँति सहृदयता, बिहारी को भांति वाग्वैदग्ध और देव की भांति मौजीपन हैं। इनमें मतिराम-जैसा प्रवाह और सरसता है। छन्दों के चयन में ये भी देव की भांति कभी-कभी गलती कर गये हैं, पर इनमें भाषा का अत्यन्त सुथरा रूप है, बिहारी एक हाव प्रिय कवि हैं। हाव में काम-विकार अपेक्षाकृत अधिक स्फुट हुआ करता है, अतः उसमें आवेगात्मकता की स्थिति अपरिहार्य है। बिहारी की नायिकायें प्रायः मध्या या प्रौढ़ायें हैं, अतः उनमें संकोच और भय अपेक्षाकृत कम है। बिहारी ने उनका विलासमयी मोहनीअदाओं का चित्रण चमत्कारी पद्धति पर किया है, किन्तु उनमें कलात्मकता सर्वत्र बनी रही है। देव के अनुसार प्रेम की अनन्य गति मुग्धाओं में है, अतः वे नवल अनंगा, वय.संधि-सम्पन्न किशोरियों के दर्शन और श्रवण से उत्पन्न लालसा और लज्जा के लोभनीय अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण की कला में सिद्धहस्त हैं। पद्माकर उद्दाम यौवन के कवि हैं, अतः उनके दर्शन या श्रवण से उत्पन्न राग में आवेग की तीव्रता और कामुकता की उष्णता सदा बनी रहती है। मतिराम की स्थिति बीच की है। कहीं-कहीं तो वे रसिकता में बह जाते हैं, किन्तु अन्यत्र वे संयत भी रहते हैं। बिहारी चमत्कार और अलंकरण प्रिय कवि हैं अतः वे अपने पाठकों को चमत्कृत करने की कला में परम कुशल हैं। किन्तु इनमें देव और पद्माकर जैसा रस का वह आग्रह नहीं जो कि मन को रस विभोर करके उसे बरबस मोह ले। आचार्य शुक्ल ने इस सम्बन्ध में लिखा है "मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त और सवैयों का-सा गूँजने वाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं पड़ता।"

विक्रमसाहि ब्रजभाषा में बिहारी के अनुकरण पर सतसई के रचनाकार हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के विचार अवलोकनीय हैं, "बिहारी का श्रृंगार-निरूपण अधिक स्वच्छ, अधिक विकसित एवं अधिक परिष्कृत रूप में कुछ अधिक रोचक, कोमल एवं मधुर भाषा में तथा और भी अधिक विदग्धता के साथ विक्रम सतसई में उपस्थित हुआ है। मानो बिहारी-सतसई खुदान में से सद्यः निष्कासित अशुद्ध स्वर्ण के समान है, विक्रम ने उसे शोधकर, तपाकर और निखारकर कुन्दन का रूप दे दिया है।"

रीति-मुक्त धारा

यद्यपि १७वीं शताब्दी के साहित्य में रीतिबद्ध काव्यप्रणयन की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बलवती होती गई, किन्तु इसके समानान्तर काल में रीतिमुक्त काव्यों की भी रचना हुई। इस काल में कुछ ऐसे भी कवि हुए, जिन्होंने रीति के बन्धन से मुक्त होकर साहित्य-सृष्टि की। इन्होंने केशव, मतिराम और चिन्तामणि के समान न तो कोई लक्षण ग्रंथ लिखा और न ही बिहारी की भाँति कोई रीतिबद्ध रचना लिखी। इन रीतिमुक्त कवियों की संख्या पचास से भी अधिक है। इनमें से कुछ कवि ऐसे हैं जिन्होंने लक्षणबद्ध रचना नहीं की और वे अपने स्वच्छन्द प्रेम की पीर जनता को सुनाते रहे। इस वर्ग में घनानन्द, आलम, बोधा और ठाकुर आदि आते हैं। दूसरा वर्ग उन कवियों का है जिन्होंने प्रबन्ध-काव्य लिखे, जैसे लाल और सूदन आदि। तीसरे वर्ग में दानलीला और मानलीला आदि पर वर्णनात्मक प्रबन्ध-काव्य लिखने वाले आते हैं। चौथे वर्ग में नीति-सम्बन्धी पद्य और सूक्तियां लिखने वाले आते हैं जैसे वृन्द, दीनदयाल गिरि और गिरधरदास आदि। पाँचवें वर्ग में ब्रह्मज्ञान, वैराग्य और भक्ति पर लिखने वाले कवि आते हैं। छठे वर्ग में वीररस के फुटकर पद्य लिखने वाले आते हैं। उपर्युक्त वर्गों के सभी कवि प्रस्तुत काल की रीति-मुक्त धारा के अन्तर्गत आते हैं, क्योंकि न तो उन्होंने कोई लक्षण-ग्रंथ लिखा और न लक्षण-ग्रंथों से प्रभावित होकर काव्य-रचना की। इनके काव्यों में भावपक्ष की प्रधानता है। इनकी शैली अलंकारों के अनावश्यक बोझ से भी आक्रान्त नहीं हुई है। भाषा के क्षेत्र में भी ये लोग अधिक सफाई से उतरे हैं। इनके काव्यों में सामाजिकता की घोर अवहेलना भी नहीं है और न ही रुग्ण श्रृंगारिकता है। इनका श्रृंगार चित्रण अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ, संयत और स्वच्छ है। इनके काव्य के मूल में स्वान्तः सुखाय की प्रेरणा काम कर रही है, अतः उसमें लोक संग्रह की परिपुष्ट भावनायें हैं। रीति-मुक्त धारा में श्रृंगारी कवियों का श्रृंगार चित्रण एक भिन्न पद्धति पर चला है, अतः उनके काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों और विशेषताओं का अध्ययन कर लेना आवश्यक है।

रीति मुक्त श्रृंगारी काव्य की सामान्य प्रवृत्तियां

(१) स्वच्छन्द, संयत प्रेम का चित्रण — इन कवियों का प्रेम-सम्बन्धी दृष्टि-

कोण अत्यन्त व्यापक और उदार है। इन्हें रीतिबद्ध कवियों के समान बँधी-बँधाई परिपाटी पर प्रेम का चित्रण करना अभीष्ट नहीं है। रीतिबद्ध कवियों का प्रेम चित्रण साहित्य-शास्त्र द्वारा चर्चित रूढ़ियों, परम्पराओं और कवि-समयों के अनुसार होता रहा, उसमें उन्मुक्त रूप से हृदय का स्पन्दन नहीं आ सका। इन रीतिबद्ध कवियों का प्रेम रसिकता की कोटि से आगे नहीं जा सका, किन्तु रीतिमुक्त कवियों का प्रेम स्वच्छन्द और संयत है। उसे कहीं भी रीति के बँधे-बँधाये साँचों में ढालने का प्रयास नहीं किया गया है। उसमें भावप्रवण हृदय की सच्ची अनुभूति है कहीं भी कृत्रिमता नहीं और न कहीं कोई छिपाव और दुराव है तथा काइयाँ और बाँकापन है। कवि घनानन्द के शब्दों में—

अति सूधो सनेह को मारग है जहां नेकु सयानप बाँक नहीं।
यहां साँचे चलें तजि आपनपौ झिझकें कपटी जे निसांक नहीं॥

निःसन्देह रीतिबद्ध कवियों—बिहारी, मतिराम, देव और पद्माकर में कहीं-कहीं प्रेम की अत्यन्त मार्मिक उक्तियाँ मिल जाती हैं पर वे अधिक नहीं। रीति का मोह पग-पग पर आकर अड़ जाता है और उनकी कल्पना स्वच्छन्द विहार नहीं कर पाती। बिहारी आदि कवियों की कल्पना की स्वतन्त्र उड़ान में स्वामि-सुखाय की भावना का व्याघात भी उपस्थित हो जाता है। चमत्कार-प्रदर्शन और कवि-दंगलों में प्रतियोगिता की प्रवृत्ति के कारण रीतिबद्ध कवियों में दूर की कौड़ी पकड़ने से भद्दापन आ गया है, किन्तु रीतिमुक्त कवियों का प्रेम इन सभी विकृतियों से मुक्त है। इनके प्रेम में शुद्ध हृदय का योग है, बुद्धि का कतरब्योंत नहीं है। यह-प्रेम उनकी आत्मा की पुकार है। रीतिबद्ध कवियों के शृंगार में दूती और सखियों द्वारा प्रेमी और प्रेमिका के मिलन का आयोजन किया गया है, परन्तु यहाँ अन्तरंग और बहिरंग सखियों का विधान नहीं है। और यदि कहीं इनके काव्य में दूती और सखी का प्रयोग हुआ भी है तो वहाँ वह तटस्थरूप से प्रेमी की शब्दावली ही दुहराती है, अपनी बुद्धि की कतरब्योंत नहीं दिखलाती। रीतिबद्ध कवियों में रीतिशास्त्र की गढ़ी-गढ़ाई नायिकाओं के प्रतिमान हैं, उसमें सौतों की असूया, मान के विविध रूप, हावों की भावभंगी, खण्डिता की व्यंग्यपूर्ण उक्तियाँ, विपरीत रति और सुरतांत आदि के असंस्कृत चित्र हैं, पर ये कवि प्रेम के स्वच्छन्द गायक है। इनके यहाँ रीति का विशेष आदर नहीं है। यदि कहीं इनमें रीति का निर्वाह हुआ भी है तो परोक्ष रूप से। इनका प्रेम एक निष्ठ है, इसमें लोकापवाद की तनिक भी चिन्ता नहीं। इन कवियों पर कवि कालिदास की यह उक्ति पूर्णतः चरितार्थ होती है—'न कामवृत्ति-र्वचनीयमीक्षते'। इनके पास प्रेम की सच्ची अनुभूतियां हैं और उनका इन्होंने उदात्त रूप में वर्णन किया है।

(२) **शृंगार के संयोग और वियोग-पक्ष**—वैसे तो इन कवियों ने शृंगार के उभय पक्षों का वर्णन किया है, किन्तु इनकी मनोवृत्ति वियोग-पक्ष में अधिक रमी

है। कारण स्पष्ट है, संयोग में बाहरी जगत् की प्रधानता होती है और उस समय कवि की अन्तरवृत्ति भी बहिर्मुख होती है। ऐसी स्थिति में प्रेम की सघनता और तरलता अभिव्यक्त नहीं हो पाती। कवि की दृष्टि मुद्राओं और हावभावों तक ही पहुंच पाती है। वियोग-पक्ष में कवि की दृष्टि अन्तर्मुखी होती है। वह अन्तस्तल के प्रेम की अतल गहराइयों तक बैठने के लिए आतुर रहता है। वियोग की अमिट प्यास उसके भाव-पेशल हृदय को सर्वदा द्रवित रखती है, अतः उसमें क्रियाशीलता बनी रहती है। यह एक तथ्य है कि विरह अनुभूति का स्वरूप जितना तीव्र होता है वह मिलन-पक्ष में नहीं। इन रीतिमुक्त कवियों की विरह विषयक धारणा अत्यन्त विलक्षण है। यहाँ संयोग में भी वियोग पीछा नहीं छोड़ता है। घनानन्द के शब्दों में —

"यह कैसो संयोग न जानि परै जु वियोग न क्यौंहूं बिछोहत है।"

वस्तुतः इन कवियों की प्रेम-तृषा सदा बढ़ती ही रहती है, चाहे तो मिलन-यामिनी हो और चाहे विरह की अमावस्या। इन कवियों में प्रेम की अथाह पीर है और उस पीर को पहचानने के लिए पीर भरा हृदय अपेक्षित है। घनानन्द के शब्दों में —

समुझै कबिता घनानन्द की,
हिय आँखिन प्रेम की पीर तकी॥

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इन कवियों की प्रेम-पीर को सूफी कवियों स प्रभावित माना है। उनका यह विश्वास है कि इनके काव्यों में वर्णित प्रेम-पीर फारसी काव्यधारा का प्रभाव है जो कि सूफियों के माध्यम से आया। उनके ही शब्दों में "इन स्वच्छन्द कवियों ने फारसी काव्यगत वेदना की विवृत्ति के साथ इस प्रेम-पीर का स्वागत किया। इनकी रचना में वियोग के आधिक्य का कारण यही है। लौकिक पक्ष में इनका विरह-निवेदन फारसी काव्य की वेदना की विवृत्ति से प्रभावित है और अलौकिक पक्ष में सूफियों की प्रेम पीर से।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत विरह की पुकार का अवकाश पाकर ये कवि कृष्ण और गोपियों की विरह-दशा की ओर स्वभावतः उन्मुख हुए। इसी से सूफियों की भांति रहस्यादर्शता के व्याख्यान की व्यापक वृत्ति इनमें नहीं रह गई।······स्वच्छन्द कवियों में सूफियों के सम्पर्क और प्रभाव के कारण कहीं-कहीं रहस्य की झलक भर मिलती हैं।" स्मरण रखना होगा सभी जगह इनका प्रेम सूफियों से प्रभावित नहीं कहा जा सकता है। कहीं-कहीं पर यह प्रभाव अवश्य है। बोधा का इश्कनामा और घनानन्द की इश्कलता में फारसी पद्धति के इश्क का वर्णन किया गया है। इन कवियों में प्रेम की अनन्यता है। दूसरे लोग तो कविता बनाते हैं, परन्तु इन्हें कविता आकर बना जाती है। रीतिमुक्त धारा के प्रायः सारे कवि प्रेम के उपासक हैं, इन्हें प्रेम-विहीन जग निःसार प्रतीत होता है। इनकी स्पष्ट घोषणा है—

आनन्द अनुभव होत नहिं बिना प्रेम जग जान ।
कै वह विषयानन्द कै ब्रह्मानन्द बखान ।।

इन्होंने कृष्ण के सगुण सलौने रूप को अपने काव्य का विषय बनाया है, अतः इन्होंने राधा और कृष्ण के संयोग-पक्ष के प्रेम की भी बड़ी मनोहारी और मार्मिक झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। रीतिबद्ध कवियों के समान इन्होंने कहीं भी मिलन-पक्ष के असंस्कृत और अपरिष्कृत चित्र नहीं उतारे। इनका प्रेम वासना-पंकिल न होकर स्वच्छ एवं उदात्त है। इनके प्रेम में न तो कहीं छिपाव और दुराव है और न कहीं चमत्कार प्रदर्शन। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इनका प्रेम बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी अधिक है, अतः उसमें हृदय की मार्मिक सूक्ष्म अनुभूतियाँ और सौन्दर्य की महीन से महीन बारीकियाँ हैं। वस्तुतः ये प्रेम, हृदय और सौन्दर्य के सच्चे पारखी हैं।

(३) **भक्ति का स्वरूप** – इन कवियों ने राधा और कृष्ण की लीलाओं का उन्मुक्त गान किया है, किन्तु इतने भर से इन्हें कृष्ण-भक्त कवि सूरदास आदि की कोटि में नहीं रखा जा सकता। वैसे तो बिहारी, मतिराम, देव और पद्माकर आदि ने राधा-कृष्ण के नाम का उल्लेख किया है, पर नामोल्लेखमात्र से उन्हें भक्त कवि कहना भूल है। वस्तुतः रीति काल की इस धारा के सभी शृंगारी कवियों को भक्त कवि नहीं कहा जा सकता है। इन पर भी लगभग किसी रीतिकालीन कवि का यह कथन —

"आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई,
न तु राधिका कन्हाई सुमरिन को बहानो है।"

चरितार्थ होता है। रहीम, रसखान, आलम, सेनापति, शेख और घनानन्द को शुद्ध रूप से भक्ति कवि नहीं कहा जा सकता है। इनका प्रमुख उद्देश्य शृंगार-वर्णन था। आचार्य विश्वनाथप्रसाद इस सम्बन्ध में लिखते हैं —"इनकी रचना के प्रायः तीन खंड हैं। प्रथम खंड में इनकी रुचि रीतिबद्ध रचना की ओर दिखाई देती है, जिसमें इनकी ऐसी रचनाएँ आती हैं जिनमें इन्होंने काव्यक्षेत्र में अपनी वाणी की परख या जाँच की है। दूसरे खंड में इन्होंने रीतिबद्ध रचना का परित्याग कर दिया है और स्वच्छन्द रूप से प्रेम के पवित्र क्षेत्र में पदार्पण किया है। तीसरे खंड में इनकी रचनाएँ भक्ति-परक हो गई हैं।" आगे चलकर वे लिखते हैं कि यदि भवंत कहे बिना सन्तोष न मिले तो इन्हें उन्मुक्त भक्त कवि कहा जा सकता है। मेरे विचार में सभी रीति-मुक्त शृंगारी कवियों को उन्मुक्त भक्त भी नहीं कहा जा सकता है। हां, अधिक से अधिक रसखान और घनानन्द को उक्त कोटि में रखा जा सकता है। इनकी भक्ति में साम्प्रदायिकता एवं संकीर्णता की भावनाएँ नहीं हैं। उन्होंने अनेक देवी-देवताओं के प्रति उदार आस्था प्रदर्शित की है।

(४) **प्रकृति-चित्रण**—वैसे तो हिन्दी साहित्य के प्रथम तीन कालों में प्रकृति चित्रण प्रायः उपेक्षित ही रहा है, किन्तु रीतिकाल के कवि ने रीति-शृंखलाओं में

आवद्ध होने के कारण इस ओर से और भी दृष्टि खींच ली। रीतिकाल में प्रकृति कहीं सजीव रूप में चित्रित नहीं हुई। प्रकृति का इन कवियों ने उद्दीपन-रूप में ग्रहण किया है। सेनापति की रचना में प्रकृति कहीं-कहीं उद्दीपन के बन्धन से मुक्त अवश्य मिल जाती है। गुमान मिश्र का कृष्ण चन्द्रिका नामक प्रबन्ध-काव्य इस दृष्टि से विशेष ध्यान देने योग्य है। इसमें कवि ने संस्कृत कवियों के समान प्रकृति के खुले दर्शन कराये हैं। गुमान के भाई खुमान का अप्रकाशित कृष्णायन भी इस दृष्टि से ध्यान देने योग्य है। द्विजदेव प्रकृति-चित्रण में स्वच्छन्द दृष्टि लेकर बाहर निकले हैं। 'विरह वारीश' में वोधा ने प्रकृति-वर्णन कुछ तो शास्त्रबद्ध और कुछ स्वच्छन्द-वृत्तिवद्ध रखा है।

(५) **तत्कालीन सांस्कृतिक झांकी**—स्वच्छन्द दृष्टि के कारण इस धारा के कवि देश के सांस्कृतिक विम्ब को प्रस्तुत करने में समर्थ हो सके हैं। रीतिबद्ध कवि वसन्त के वर्णन के अन्तर्गत, होली के त्योहार, गुलाब की गरद और केसर की कीच के वर्णन से आगे नहीं बढ़ सके। रीतिमुक्त कवि स्वच्छन्द दृष्टि के कारण देश के आनन्दोल्लास में भी खूब शरीक हुए। ठाकुर ने अपनी रचनाओं में बुन्देलखंड के सांस्कृतिक जीवन का वैभवमय चित्र खड़ा किया है। उन्होंने अखतीज, गनगौर, बट-सावित्री और होली आदि के बड़े ही भावुक चित्र प्रस्तुत किये हैं। नरोत्तमदास की रचनाओं में उस समय का दीन-हीन भारत मुखरित हो उठा है। गनगौर का वर्णन वैसे तो पद्माकर ने भी किया है, परन्तु उन्होंने ठाकुर जैसी अभिरुचि नहीं दिखाई। रीतिबद्ध काव्य में चित्रित मनोविनोदों में कलात्मक-सुभगता का स्थान विलासिता ने ले लिया। उत्तर रीति-काव्य में विनोदों के नाम पर विलास के उपकरणों की जम कर चर्चा हुई है। लगता है जैसे कि उत्तर रीति कवि-कवि होने के साथ-साथ कामशास्त्री के दायित्व को भी निभा रहा हो। उसने प्रत्येक ऋतु के अनुकूल विलास के चमत्कारी नुस्खों और कामोद्दीपक अमोघ मसालों की लम्बी-लम्बी सूचियाँ प्रस्तुत कर दी हैं। रीति काव्य में चित्रित ऐश्वर्य तथा विलास के उपकरणों पर विदेशी प्रभाव की कल्पना सर्वथा निराधार है। रीति कवि ने सामूहिक क्रीड़ाओं-झूला तथा होली आदि में विलासिता के स्वर को सदा उच्च बनाये रखा है। इसने आँख-मिचौनी और चोर मिहीचनी का जम कर वर्णन किया है क्योंकि इनसे स्पर्शजन्य कामवासनात्मक सुख की उपलब्धि अधिकाधिक-संभव थी। रीति-काव्य में निरूपित मनोविनोदों में प्रणय जीवन के बहुत संकुचित पक्ष केवल ऐन्द्रिय भोग को ही प्रस्तुत किया गया है।

(६) **काव्य-पद्धति**—इस धारा के कवियों ने आरम्भ में रीतिवद्ध कवियों ने समान रीति नियमों का ग्रहण किया, परन्तु शनैः शनैः उसका परित्याग कर दिया। इन कवियों ने रीतिकाल के प्रचलित कवि-समयों और रूढ़ियों को अपनाया। रीतिवद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त सभी कवियों में नेत्र-व्यापार सम्बन्धी उक्तियाँ समान रूप से पाई जाती हैं। रीतिबद्ध कवियों के समान रसखान, आलम, ठाकुर और घना-नन्द में खंडिता की उक्तियां मिलती हैं। ऐसा करने का कारण स्पष्ट है, जो कवि

दरबारी थे उन्हें उर्दू और फारसी की काव्य रचना से होड़ लेनी थी। उन्होंने उर्दू कविता की माशूक की बराबरी में खंडिता को पेश किया। स्वच्छन्द कवियों ने इस पद्धति का ग्रहण इसलिए किया कि प्रेम-वैषम्य के लिए उन्हें भी भारतीय काव्य-पद्धति में यही बात अनुकूल दिखाई पड़ी। इस प्रसंग में यह बात स्मरणीय है कि इन स्वच्छन्द कवियों ने खंडिता के द्योतक चिह्नों के ब्यौरे प्रस्तुत न करके उसके हृदय को दिखलाने का प्रयत्न किया है। बाद में तो इस प्रकार की उक्तियों से इन कवियों का मन हट गया। सुरतांत या विपरीत रति के कुत्सित चित्र प्रायः इन कवियों में नहीं मिलते हैं। जहाँ मिलते भी हैं वहाँ उनकी प्रारम्भिक रचना के रूप में, जब कि वे इस मैदान में हाथ अजामाने की सोच रहे थे। बोधा में कहीं-कहीं पर कुछ बाजारू रंग-ढंग मिलता है। घनानन्द और ठाकुर आदि पर भी फारसी काव्य पद्धति की रंगत देखी जा सकती है। इन कवियों की रचनाओं के तीन खंडों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं जो इनकी काव्य-पद्धति के पर्याप्त परिचायक हैं।

(७) **मुक्तक शैली**—ऐसे तो समूचे रीति काल में मुक्तक शैली की प्रधानता रही क्योंकि यह शैली उस समय के वातावरण के अनुकूल पड़ती थी। इस धारा के कवियों में भी इसी शैली का बोल-वाला रहा, किन्तु फुटकर रूप से प्रबन्ध रचनाएँ भी होती रहीं। आलम ने "माधवानल-कामकन्दला", "सुदामा चरित" और "श्याम-सनेही" नामक तीन प्रबन्ध-काव्य प्रस्तुत किये। बोधा ने भी "माधवानल कामकंदला" या "विरह वारीश" नामक प्रबन्ध-काव्य प्रस्तुत किया। इस प्रकार और भी कई प्रबन्ध रचनायें इस काल में हुईं।

(८) **शब्दालंकार**—इस धारा में अधिकांशतः कवित्त, सवैया और दोहा जैसे छन्दों का प्रयोग किया गया। यद्यपि बीच-बीच में छप्पय, बरवै, हरिपद आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है, किन्तु सभी रीति कवियों की वृत्ति अधिकतर दोहा, सवैया और कवित्त में रमी है। रीतिमुक्त धारा के कवियों ने अलंकारों का प्रयोग अपने प्रकृत रूप में किया है। इनके अलंकार कहीं भी पांडित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं आए बल्कि इनके द्वारा हृदय की सूक्ष्म वृत्तियों के द्योतन के लिए सहायता मिली है। इन के यहाँ अलंकार साधन-रूप में आये हैं न कि साध्य के रूप में। इस सम्बन्ध में घनानन्द की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"नेह भीजी बातें रसना पै उर आंच लागै।"

× × ×

"हाथ साथ लाग्यौ, पै समीप न कहुं लहे।"

इन पंक्तियों में विषमतामूलक विरोधाभास अलंकार की सुन्दर छटा है।

(९) **ब्रज भाषा**—इन कवियों ने साफ-सुथरी भाषा का प्रयोग किया है। रीतबद्ध कवियों में बिहारी, मतिराम और पद्माकर को छोड़कर दूसरे कवियों में भाषा की सफाई के दर्शन नहीं होते। भूषण और देव आदि ने तो स्वेच्छानुसार शब्दों

का अंग-भंग किया है। इनकी भाषा में प्रादेशिकता का पुट बना रहा। परन्तु रीति-मुक्त कवियों में न तो भाषा के अंग-भंग की प्रवृत्ति है और न ही प्रादेशिक पुट है। रसखान और घनानन्द ने तो ब्रज भाषा का ऐसा प्रयोग किया है, जिसे ब्रज भाषा का साहित्यिक परिनिष्ठित रूप स्वीकार किया जा सकता है।

इनकी भाषा में उक्ति-वैचित्र्य, लाक्षणिकता, लोकोक्तियों और मुहावरों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। घनानन्द की भाषा की लाक्षणिकता विशेष हृदय-ग्राह्यी है। ठाकुर ने लोकोक्तियों का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग किया है।

रीति-मुक्त धारा के कतिपय प्रमुख कवि

घनानन्द—जीवन-वृत्त—रस की साक्षात् मूर्ति कवि घनानन्द का जन्म सं० १७४६ के लगभग हुआ। इनका निधन १७९६ में नादिरशाही में हुआ। ये जाति के कायस्थ थे और दिल्ली के मुगल बादशाह मुहम्मदशाह के मीर मुंशी थे। एक दिन कुचक्रियों ने बादशाह से कहा कि मीर मुंशी बहुत अच्छा गाते हैं। बादशाह के गाने के लिए आदेश दिये जाने पर इन्होंने टालमटोल की। इस पर लोगों ने कहा कि ये अपनी प्रेमिका सुजान के कहने पर अवश्य गा देंगे। सुजान को दरबार में बुलाया गया। घनानन्द ने अपनी प्रेमिका की ओर मुख करके और बादशाह की ओर पीठ करके ऐसा गजब से गाया कि सभी तन्मय और दंग रहे। बादशाह जहाँ एक ओर उनके गाने पर प्रसन्न हुआ दूसरी ओर इनकी बेअदबी पर रुष्ट होकर इन्हें शहर से निकाल दिया। चलते समय इन्होंने सुजान को भी साथ चलने को कहा पर वह न गई। इस पर इन्हें विराग उत्पन्न हो गया और ये वृन्दावन चले गये और वहाँ निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। सुजान की सुधि इन्हें जीवन भर आती रही।

ग्रंथ—सुजान सागर, विरह लीला कोकसार, रस केलिवल्ली और कृपा कांड नामक ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं। इसके अतिरिक्त इनके फुटकर कवित्त सवैयों के संग्रह डेढ़ सौ से लेकर सवा चार सौ कवित्तों तक के मिलते हैं। कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी इनका एक बहुत बड़ा ग्रंथ छत्रपुर के राज पुस्तकालय में है जिसमें प्रिया प्रसाद, ब्रज-व्यवहार, वियोग वेली, कृपाकंद निबन्ध, गिरिगाथा, भावना प्रकाश, गोकुल विनोद, धाम चमत्कार, कृष्ण कौमुदी, नाम माधुरी, वृन्दावन मुद्रा, प्रेम पत्रिका रस-वसंत इत्यादि अनेक विषय वर्णित हैं।

भाव-पक्ष—घनानन्द मुख्यतः शृंगार रस के कवि हैं। वियोग-शृंगार में इनकी वृत्ति अधिक रमी है। आचार्य शुक्ल इनके सम्बन्ध में लिखते है—"ये वियोग शृंगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। प्रेम की पीर लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबांदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रज भाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।" इनका प्रेम एकनिष्ठ एवं अन्तमुखी है, अतः उसमें हृदय की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं का अत्यन्त मार्मिक रूप से चित्रण हुआ है, उसमें विभाव पक्ष का इतना चित्रण नहीं हुआ। रूप-छटा के वर्णन

के प्रसंगों में भी इनका ध्यान प्रभाव पर अधिक रहा है। संयोग-पक्ष में भी इनका ध्यान बाह्य चेष्टाओं तथा व्यापारों की अपेक्षा हृदय के उल्लास और लीनता की ओर अधिक रहा है। ये एक भावप्रवण कवि थे। अन्य तो कविता के बनाने के लिए प्रयास करते हैं, पर इन्हें स्वयं कविता बना जाती है। इनका वियोग वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक और मनोरम है। इनकी नायिका न तो क्लाक का पैंडुलम है और न ही उसके पास गुलाब की शीशी विरह-ताप से बीच से बीच में सूख जाती है। इनमें बाहरी उछल-कूद नहीं है, जो कुछ है भीतरी हलचल है। इनका प्रेम फारसी काव्य-पद्धति तथा सूफी-पद्धति दोनों से प्रभावित है।

इनकी कविता में "सुजान" शब्द का बराबर प्रयोग मिलता है जो शृंगार में नायक के लिए और भक्तिभाव में कृष्ण भगवान के लिए प्रयुक्त माना जा सकता है। पर इतने मात्र से इन्हें भक्त कवि नहीं कहा जा सकता है। इनकी अधिकांश कविता भक्ति-काव्य की कोटि में नहीं आयगी, शृंगार की ही कही जायगी। जीवन के अन्तिम दिनों में इन्हें वैराग्य अवश्य हो गया था पर फिर भी अपनी प्रेमिका 'सुजान' को वे भुला न सके। यदि इन्हें भक्त कवि कहकर ही सन्तोष का अनुभव होता हो तो अधिक से अधिक इन्हें उन्मुक्त भक्त-कवि कहा जा सकता है। इनकी कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी रचना में भी सूर और तुलसी के हृदय की तन्मयता, सात्त्विकता और निश्छलता कदाचित् ही मिले। अतः इनकी सम्पूर्ण रचनायें शुद्ध भक्ति भाव से प्रेरित नहीं मानी जा सकती हैं। घनानन्द प्रेम-मार्ग के एक सफल यात्री हैं। इनकी कविता का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

> **अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नेंकु सयानप बाँक नहीं।**
> **तहँ सांचे चलें तजि आपनपौ, झिझकें कपटी जो निसांक नहीं।**
> **घनआनन्द प्यारे सुजान सुनौ, इन एक ते दूसरो आंक नहीं।**
> **तुम कौन-सी पाटी पढ़े हो लला, मन लेहु पै देहु छटांक नहीं।**

कलापक्ष—इसमें भाषा, अलंकार, छंद, काव्य-गुण अर्थात् व्यंजना-शक्ति और प्रयोग कौशलादि आदि आते हैं। ब्रजभाषा का चलतापन और सफाई जो घनानन्द में मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी साहित्यिक ब्रजभाषा में सहज माधुर्य विद्यमान है। नन्ददास आदि के द्वारा गढ़ी हुई ब्रजभाषा को उत्तराधिकार में प्राप्त कर इन्होंने उसे और भी अधिक निखारा। आचार्य शुक्ल इनकी भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं—"घनानन्द जी उन बिरले कवियों में हैं जो भाषा की व्यंजना बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूप-रंग की व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ। भाषा के लक्षक और व्यंजक बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख इन्हीं को थी।" इनमें भाषा की एक अपूर्व लाक्षणिक मूर्तिमत्ता 'और प्रयोग-वैचित्र्य की छटा है जो कि इनके पश्चात् छायावादी काव्य में देखी जा सकती है। इनका प्रयोग-वैचित्र्य बड़ा ही अनुपम है। उदाहरण के लिए—"अरसानि गही वह बानि कछु" "झूठ की सचाई छाक्यो।"

इनकी भाषा में वचन वक्रता, नाद-व्यंजना और अर्थगांभीर्य सब अद्वितीय बन पड़े हैं। सच तो यह है कि साक्षात् प्रेमरस के अवतार घनानन्द ने व्रजभाषा काव्य में एक नवीन परम्परा स्थापित कर दी। घनानन्द के सामने व्रजभाषा काव्य की दो परम्पराएँ थीं, एक तो विद्यापति और सूरदास द्वारा चलाई हुई, जिसमें भगवान् की लीलाओं का गान गीति काव्य में हुआ। इसमें संगीत की स्वरलहरी के साथ भक्ति-भावना का समावेश था। व्रजभाषा काव्य की दूसरी परम्परा कृष्ण के स्मरण के बहाने से कविता-चातुर्य दिखलाने वाले रीति-कवियों द्वारा चलाई गई थी। इनकी दृष्टि रीतिबद्ध हो गई। इन्होंने गीतिपद्धति को छोड़कर कवित्त और सवैया-पद्धति को अपनाया जिसमें आलंकारिकता की प्रधानता थी। घनानन्द उक्त दोनों प्रकार की कविता-धारा से भिन्न निकले। न तो उन्होंने सूरदास की भाँति कृष्ण-लीला के गीत गाये और न देव आदि की भाँति रीतिवद्ध कविता के प्रणयन में शक्ति को लगाया। न तो घनानन्द ने कृष्ण-लीला-वर्णन ही अपना रखा और न शृंगार की अभिव्यक्ति के लिये रस, नायिका-भेद, अलंकार और पिंगलादि काव्यों के अंगों का आधार बनाया। वे एक सहज भावुक कवि थे। उन्हें अपने हृदय के भावों का स्पष्टीकरण मात्र ही अपेक्षित था। उनका मन्तव्य निम्न पंक्ति में बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है:

"लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत।"

घनानन्द कविता के इस सहज मार्ग के पथिक थे। बोधा, आलम, ठाकुर आदि रीतिकालीन कवि तथा भारतेन्दु, सत्यनारायण कविरत्न और प्रेमघन आदि भी इसी पथ के पथिक बने। भक्तिकाल में व्रजभाषा काव्य में जो स्थान सूरदास का है रीतिकाल के व्रजभाषा काव्य में वही स्थान घनानन्द का है।

आलम—जीवन-वृत्त—आलम नाम के दो कवि हुए हैं। एक तो सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुए जिन्होंने "माधवानन्द कामकंदला" नामक पुस्तक लिखी और दूसरे औरंगजेब के पुत्र मुअज्जमशाह के राज्याश्रित कवि थे। यहाँ दूसरे आलम की चर्चा की जा रही है। इनका कविता-काल १७४० से १७६० संवत् माना जा सकता है।

ये जाति के ब्राह्मण थे, पर शेख नाम की रंगरेजिन के प्रेम में फँसकर इन्होंने उससे विवाह कर लिया और मुसलमान हो गये। इनके प्रेम की कहानी भी बड़ी विचित्र है। आलम ने अपनी पगड़ी रंगने को दी थी जिसमें दोहे की एक पंक्ति लिखी हुई बंधी रह गई थी—"कनक छरी-सी कामिनी काहे को कटि छीन।" रंगरेजिन ने इसके प्रत्युत्तर में दूसरी पंक्ति लिखकर भेजी—"कटि को कंचन काटि बिधि कुचन मध्य धरि दीन।"

ग्रंथ—इनकी कविताओं का संग्रह "आलम केलि" के नाम से निकला है। नवीन अनुसंधानों के अनुसार इनकी अन्य अनेक रचनाओं का भी पता चला है। कहा जाता है कि "आलम केलि" में शेख भणिति के साथ जो कवितायें मिलती हैं वे इनकी

पत्नी की हैं और आलम या शेख नाम से जो कवितायें मिलती हैं वे इनकी अपनी हैं। इससे पता चलता है कि इनकी पत्नी भी बड़ी कवयित्री थी।

काव्य-समीक्षा—आचार्य शुक्ल इनके सम्बन्ध में लिखते हैं— "ये प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे। इसी से इनकी रचनाओं में हृदय-तत्त्व की प्रधानता है। प्रेम की पीर या इश्क का दर्द इनके एक-एक वाक्य में भरा पाया जाता है। उत्प्रेक्षायें भी इन्होंने बड़ी अनूठी और बहुत अधिक की हैं। शब्द-वैचित्र्य, अनुप्रासादि की प्रवृत्ति इनमें विशेष रूप से कहीं नहीं पाई जाती। शृंगार की ऐसी उन्मादमयी उक्तियाँ इनकी रचना में मिलती हैं कि पढ़ने और सुनने वाले लीन हो जाते हैं। यह तन्मयता सच्ची उमंग में ही संभव है। प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना रसखान और घनानन्द की कोटि में होनी चाहिए।" यद्यपि ये फारसी के ज्ञाता थे। फिर भी इनमें भारतीय काव्य-परम्परा का पालन सुन्दर रूप से हुआ है। इनमें प्रेमोल्लास का एक नवीन स्वर मिलता है और उसकी अभिव्यंजना इनमें निःसन्देह उच्चकोटि की है। इनमें स्वच्छन्द प्रेमधारा के कवियों के सभी गुण मिल जाते हैं।

बोधा—जीवन-वृत्त—ये राजापुर (जिला बाँदा) के रहने वाले थे। इनका असली नाम बुद्धिसेन था। ये महाराज पन्ना के दरबार में रहा करते थे। महाराज इन्हें प्यार से बोधा के नाम से पुकारते थे और ये इसी नाम से प्रसिद्ध हो गये। इनका जन्म संवत् १८०४ माना जाता है। इनका कविता काल सं० १८३० से १८६० तक माना जा सकता है।

घनानन्द की भाँति इनके सम्बन्ध में भी एक प्रेम कहानी प्रचलित है। ये दरबार की किसी "सुभान" नाम की वेश्या पर आसक्त थे। एक दफा राजा के सामने इन्होंने सुभान के साथ प्रेमाचरण का अभिनय किया। इस पर राजा ने असंतुष्ट होकर इन्हें ६ महीने के लिए देश निकाला दे दिया। इसी समय में इन्होंने "विरह वारीश" काव्य की रचना की। लौटने पर उन्होंने अपना सारा काव्य राजा को सुनाया। इस पर प्रसन्न होकर राजा ने उन्हें सुभान वेश्या दे दी। इनका एक दूसरा काव्य है "इश्क नामा" जिस पर फारसी का प्रभाव स्पष्ट है।

काव्य-समीक्षा—इनकी रचनाओं में रीति-कवियों से भिन्न प्रेम-भाव का उल्लास मिलता है। इन्होंने कोई रीतिग्रन्थ न लिखकर अपनी मौज के अनुसार मर्म-स्पर्शी प्रेम के पद्यों की रचना की। इनमें कहीं-कहीं बाजारू ढंग का प्रेम भी देखने को मिलता है। कुछ भी हो, ये एक भावुक और रसज्ञ कवि थे। यद्यपि इनकी भाषा में व्याकरण-सम्बन्धी दोष यत्र-तत्र मिल जाते हैं फिर भी इनकी भाषा चलती और मुहावरेदार है। इन पर सूफियों की प्रेम-पीर का प्रभाव स्पष्ट है। इन्होंने राधा और कृष्ण के प्रेम-सम्बन्धी पद्य भी लिखे किन्तु इतने भर से इन्हें भक्त कवि नहीं कहा जा सकता है। कवि बोधा घनानन्द के छोटे संस्करण दीख पड़ते हैं। इनकी कविता का एक नमूना देखिये :—

जब ते बिछुरे कवि बोधा हितू, तब ते उरदाह थिरातो नहीं।
हम कौन सों पीर कहें अपनी, दिलदार तो कोई दिखातो नहीं॥

ठाकुर—हिन्दी-साहित्य में दो अन्य भी ठाकुर नाम के कवियों का उल्लेख मिलता है। किन्तु यहाँ हम स्वच्छंद प्रेम धारा के कवि ठाकुर, जिनका जन्म ओरछा (बुन्देलखण्ड) में १८२३ में हुआ, की चर्चा कर रहे हैं। इनका जोधपुर और बिजावर के राज्यों में बड़ा मान था। पद्माकर के आश्रयदाता हिम्मत बहादुर के यहाँ भी इनका पर्याप्त समादर हुआ।

इनकी रचनाओं का एक संग्रह लाला भगवानदीन ने "ठाकुर ठसक" नाम से प्रकाशित कराया था। इनकी रचनाओं में ऐकांतिक प्रेम का प्रवाह है। फारसी काव्य धारा का भी इन पर अभीष्ट प्रभाव पड़ा है। आचार्य शुक्ल इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे। इनमें कृत्रिमता का लेश नहीं। न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडम्बर है, न कल्पना की झूठी उड़ान और न अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष। भावों को यह कवि स्वाभाविक भाषा में उतार देता है। बोल-चाल की चलती भाषा में भावों का ज्यों का त्यों सामने रख देना इस कवि का लक्ष्य रहा है। ब्रजभाषा की शृंगारी कविता प्रायः स्त्री-पात्रों के ही मुख की वाणी होती है अतः स्थान स्थान पर लोकोक्तियों का जो सुन्दर-विधान इस कवि ने किया है इससे उक्तियों में और भी स्वाभाविकता आ गई है।" इनकी भाषा में स्वच्छता और सहज प्रवाह है। ऐसे लगता है कि यहाँ आकर ब्रजभाषा अपने पूरे चढ़ाव पर आ गई है। पद्माकर फिर भी कहीं-कहीं ताल और टोटके के चक्कर में पड़ जाते हैं पर ठाकुर के प्रत्येक मजमून में अन्त तक भाषा की एक स्वच्छ धारा मिलती है।

इन्होंने प्रेम का तो सफल निरूपण किया ही है, साथ-साथ अन्य लोक-व्यापारों की छटा भी बड़ी तन्मयता से दिखाई है। इनके काव्य में अखतीज, फाग, वसन्त, होली, हिंडोरा उत्सवों के वर्णन के साथ लोगों की कुटिलता, क्षुद्रता, दुःशीलता, कालगति पर खिन्नता और कवि-कर्म की कठिनता आदि का भी वर्णन मिलता है।

रीति-मुक्त धारा : नीति-काव्य—रीति-मुक्त शृंगारी रचनाओं के अतिरिक्त इस काल में नीति-विषयक ग्रंथों का भी निर्माण हुआ। भारतीय साहित्य परम्परा में इस प्रकार की रचनायें काफी पुराने समय से लिखी आ रही थीं। रामायण, महाभारत और कौटिल्यार्थशास्त्र आदि संस्कृत ग्रंथों में फुटकर रूप से इस प्रकार के पद्य मिल जाते हैं। भर्तृहरि ने अपने तीन शतकों में नीति, भक्ति और शृंगार पर लिखा है। संस्कृत के सुभाषित ग्रंथों में इस प्रकार के पद्य यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं। हेमचन्द के "शब्दानुशासन" में अपभ्रंश के अनेक दोहे नीतिविषयक दोहे हैं। तुलसीदास और रहीम के नीतिविषयक दोहों का पता हमें मिल चुका है। अकबर के दरबारी कवि बीरबल और नरहरि के नीतिविषयक पद अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। १६वीं

शती के जमाल नामक मुसलमान कवि के नीतिविषयक दोहे भी काफी लोकप्रिय रहे हैं।

वृन्द—१८वीं शताब्दी के आरम्भ में सुप्रसिद्ध नीतिकार कवि वृन्द हुए जो कृष्णगढ़ के महाराज राजसिंह के गुरु थे। इनकी 'वृन्द सतसई' की उक्तियाँ उत्तर मध्य काल में बड़े चाव से पढ़ी जाती थीं। नवीन खोजों के अनुसार इनके दो ग्रन्थ ग्रंथों का भी पता चला है—शृंगार शिक्षा और चौर पंचाशिका। परन्तु इनकी प्रसिद्धि नीतिविषयक दोहों से ही है। इनके दोहों में जीवन की गहन अनुभूतियां हैं। उदाहरणार्थ :

> **भले बुरे सब एक सम जौ लौं बोलत नांहि।**
> **जानि परत हैं काग पिक ऋतु वसंत के माँहि॥**

गिरधर कविराय—अनुमान है कि गिरधर कविराय १८ वीं शती के आरम्भ में होंगे। प्रसिद्धि में ये वृन्द और वैताल से भी बढ़कर हैं। इन्होंने नीतिविषयक कुंडलियाँ लिखी हैं। कुछ कुण्डलियाँ "साई" शब्द से आरम्भ होती हैं। किंवदन्ती है कि ये कुण्डलियाँ इनकी पत्नी द्वारा लिखी गई हैं। गिरधर मध्यकाल के सद्गृहस्थों के सलाहकार थे और आज भी जनता इन्हें बड़े चाव से पढ़ती है। आचार्य हजारीप्रसाद इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"वस्तुतः साधारण हिन्दी जनता के सलाहकार प्रधानतः तीन ही रहे हैं—तुलसीदास, गिरधर-कविराय और घाघ। तुलसीदास धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में, गिरधर कविराय व्यवहार और नीति के क्षेत्र में, और घाघ खेती-बाड़ी के मामले में।" इनकी भाषा अत्यन्त सरल और बोधगम्य है। 'दौलत पाय न कीजिये सपने में अभिमान' आदि इनकी कुण्डलियाँ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी हैं।

लाल—इनका पूरा नाम गोरेलाल था। ये मऊ (बुन्देलखंड) के रहने वाले थे ये महाराज छत्रसाल के दरबारी कवि थे। इनके दो ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं—'छत्रप्रकाश' और 'विष्णु विलास'। प्रथम ग्रंथ में महाराजा छत्रसाल की कीर्ति गाथा है और यह दोहा-चौपाइयों में लिखा हुआ प्रबन्ध काव्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह ग्रंथ उपादेय बन पड़ा है। दूसरे ग्रंथ में नायिका भेद कहा गया है। इनकी प्रसिद्धि का कारण 'छत्रप्रकाश' ही है। यह इनकी एक काव्य-गुण सम्पन्न प्रौढ़ कृति है। आचार्य शुक्ल इनकी काव्य-कला के सम्बन्ध में लिखते हैं—'लाल-कवि में प्रबन्धपटुता पूरी थी। सम्बन्ध का निर्वाह भी अच्छा है और वर्णन-विस्तार के लिए मार्मिक स्थलों का चुनाव भी।......सारांश यह है कि लाल कवि का सा प्रबन्ध कौशल हिन्दी के कुछ इने-गिने कवियों में ही पाया जाता है। शब्द-वैचित्र्य और चमत्कार के फेर में इन्होंने कृत्रिमता कहीं से नहीं आने दी। भावों का उत्कर्ष जहाँ दिखाना हुआ है वहाँ भी कवि ने सीधी और स्वाभाविक उक्तियों का ही समावेश किया है, न तो कल्पना की उड़ान दिखाई और न ऊहा की जटिलता।"

सूदन—ये मथुरा के रहने वाले माथुर चौबे थे। सूदन भरतपुर के महाराज बदनसिंह के पुत्र सुजानसिंह उपनाम सूरजमल के यहाँ रहते थे। इन्होंने अपने आश्रय-दाता को लक्ष्य रखकर—'सुजान-चरित' नामक प्रवन्ध काव्य लिखा है। सुजानसिंह एक आदर्श वीर थे और सूदन में भी वीर चरित के सम्मान करने की पर्याप्त शक्ति थी। सूदन वीर रस के एक उत्कृष्ट कवि हैं। आचार्य हजारीप्रसाद इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—"चन्द के पृथ्वीराजरासो में जिस प्रकार घोड़ों और अस्त्रों आदि की उबा देने वाली सूची मिलती है उसी प्रकार सूदन के सुजान-चरित में भी है। काव्य-रूढ़ियों का इसमें जम कर सहारा लिया गया है, यद्यपि कथानक में रुढ़ियों की वैसी भरमार नहीं जैसे कि रासो में है। शब्दों को तोड़-मरोड़ कर युद्ध के अनुकूल ध्वनि-प्रसू वातावरण उत्पन्न करने में सूदन बहुत दक्ष हैं पर उसमें भाषा के प्रति न्याय नहीं हो सका है।"

मुक्तक काव्य की आवश्यकता और दोहा आदि छन्दों का प्रयोग

रीतिकाल में मुक्तक काव्य का प्रणयन अत्यधिक मात्रा में हुआ। इस काल में प्रबन्ध-काव्य भी बने किन्तु मात्रा और गुण में स्वल्प होने के कारण वे नगण्य से हैं। वैसे तो मुक्तक काव्य प्रवध-काव्य की एक छोटी सी अन्विति है, किन्तु इन दोनों में पर्याप्त विभिन्नता भी है। जहाँ व्यापकता और विशालता प्रवन्ध काव्य के अनिवार्य धर्म हैं वहाँ संक्षिप्तता, सामाजिकता और कलात्मकता मुक्तक काव्य का मूल रहस्य है। मुक्तक काव्य का निर्माण एक विशेष प्रकार की परिस्थितियों की उपज है। सामंती सभ्यता और दरबारी कलाप्रियता मुक्तक काव्य-प्रणयन के लिए विशेष अनुकूल सिद्ध होती हैं।

रीतिकाल की वाह्य परिस्थितियों की चर्चा करते हुए हम लिख चुके हैं कि उस समय छोटे-छोटे नरेशों, सामंतों, अमीरों, वजीरों और सरदारों तथा नवाबों का प्राधांय था। सामंती जीवन अधिक व्यस्त हो गया था। कम से कम समय में विविध कला-त्मक सामग्री के उपभोग का जटिल प्रश्न उनके सम्मुख उपस्थित था। कम से कम समय में अधिक से अधिक आनन्दित और चमत्कृत होना सामन्ती जीवन की महत्ती आवश्यकता थी। उस समय उस राजदरबारी कलाकार का आदर और सम्मान संभव था जो अपनी कला में अधिकाधिक निखार लाकर श्रोता को आकर्षित, चमत्कृत तथा आनन्दित करने में समर्थ था। राजदरबारों, राज-सभाओं तथा कवि-दंगलों में उस कला-कार को आदर मिलना संभव था, जो अपने प्रतिद्वन्द्वियों से बाजी मारकर अपनी सर्वो-त्कृष्टता की स्थापना में समर्थ हो। राजदरवार में प्रवन्ध-काव्यों के सुविस्तृत पाठ-श्रवण के लिए साहस तथा धैर्य कहाँ था। इसके अतिरिक्त राजदरबारों में सम्मानार्थ कलाओं के विषय ऐसे थे, जिन्हें मुक्तक काव्य के माध्यम से प्रकट करना सुकर था। हम रीतिकालीन कवि के बहुमुखी व्यक्तित्व की चर्चा पहले कर चुके हैं। वह कवि, शिक्षक, आचार्य चारण, राजगुरु सब कुछ था और उसे इन सब दायित्वों की

पूर्ति थोड़े से थोड़े समय में करनी थी। इसके लिए उपयुक्त माध्यम केवल मुक्तक काव्य ही था।

रीतिकाल में काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के प्रणयन की परम्परा बड़े वेग से चली। काव्यशास्त्र के इस बढ़ते हुए प्रभाव ने मुक्तक काव्य को निश्चित रूप से प्रोत्साहित किया। संस्कृत के रीति आचार्यों और हिन्दी के रीतिकाल के काव्यशास्त्र प्रणेताओं में एक मौलिक अन्तर है। संस्कृत के अधिकांश आचार्यों ने केवल लक्षण ही लिखे और उदाहरणों के लिए उन्होंने अपने पूर्ववर्ती या समकालीन कवियों को उद्धृत किया, किंतु हिन्दी के रीति आचार्यों ने लक्षण और उदाहरण दोनों स्वयं रचे। इससे मुक्तक काव्य को बल मिलना स्वाभाविक था।

हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में शृंगारिकता की प्रधानता है। उनकी इस शृंगारिकता का प्रेरणा-स्रोत विदेशी न होकर स्वदेशी है। हाल की गाथा सतसई, गोवर्धन की आर्या सप्तशती, अमरुक कवि, भर्तृहरि, कालिदास तथा जयदेव रीति-कालीन कवि के अनुकरणीय रहे हैं। इस दिशा में प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य के फुटकर शृंगारी पदों ने भी रीतिकवि को प्रभावित किया है। एक तो संस्कृत साहित्य में ऐहिकतापरक पद अधिकतर मुक्तक काव्य के रूप में उपलब्ध होते हैं और दूसरे रीति कवि को अपने विलासी आश्रयदाता को शृंगार के मधुमय चषकों से आप्यायित करना था, उसके लिए मुक्तक काव्य के माध्यम से शिक्षक के रूप में अपना कार्य करना था। इस प्रकार नीति और उपदेशों के लिए भी मुक्तक काव्य अधिक अनुकूल पड़ता है।

रीतिकालीन साहित्य अपने प्रतिपाद्य विषय और छन्द-विधान की दृष्टि से एक अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखता है। रीतिकाव्य में अधिकांश में शास्त्रीयता और कला-त्मकता का समन्वय है अतः उसकी संगति दोहा-चौपाई वाली प्रबन्धात्मक शैली से बैठनी सम्भव नहीं थी। मुक्तक प्रकृति होने के कारण रीति काव्य के लिए ऐसे छंदों की आवश्यकता हुई जो संस्कृत के वर्ण वृत्तों के समान हों और उसमें गणों के निर्वाह और लघु गुरु अक्षर-विन्यास की परम्परा पर अत्यधिक आग्रह न हो। परिणामतः रीति काल में कवित्त-सवैया, छप्पय, दोहा, सोरठा, बरवै और रोला जैसे छन्द प्रयुक्त हुए जो कि रीतिकालीन काव्यधारा की प्रकृति के नितांत अनुकूल थे।

रीतिकाल में प्रयुक्त प्रमुख छन्द

प्रमुख रूप से रीति काल में कवित्त, सवैया और दोहा का प्रयोग हुआ है और गौण रूप में बरवै, सोरठा, छप्पय और रोला छंद प्रयुक्त हुए हैं। उक्त सभी छंद हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्य में भी प्रयुक्त थे। बरवै छंद का प्रयोग तुलसी और रहीम अतीव कुशलता से कर चुके थे। नन्ददास आदि भक्त कवि रोला का सफल प्रयोग कर चुके थे। हालाँकि यह छंद प्रबन्ध काव्यों की प्रकृति के अधिक अनुकूल रहा है।

दोहा—संस्कृत के पुराण साहित्य तथा अन्यत्र बहुधा प्रयुक्त अनुष्टुप छन्द के समान हिन्दी में दोहा छन्द का प्रचलन अत्यधिक रहा है। प्राकृत साहित्य में जो स्थान गाथा छन्द का रहा है, हिन्दी में वही दोहा का है। अपभ्रंश साहित्य में कदाचित् यह दूहा नाम से अभिहित होता रहा है। जैनों तथा जैनेतर अपभ्रंश साहित्य में इसका अत्यधिक प्रचलन रहा है। हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन में इस के दोहक और उपदोहक आदि भेदों की चर्चा की है। प्राकृत पैंगलम में इसके लगभग २३ भेदों का उल्लेख मिलता है जिससे इसकी सर्वप्रियता स्पष्ट रूप से आभासित हो जाती है। डॉ० जगदीश गुप्त के शब्दों में "मुक्तक काव्य के लिए दोहा का संक्षिप्त स्वरूप उक्ति वैचित्र्य, चित्रात्मकता, शब्द संगठन तथा व्यंजकता की दृष्टि से विशेष उपयुक्त सिद्ध हुआ है।" रीतिकाल में अनेक सतसइयों का निर्माण गाथा सतसई तथा आर्या सप्तशती के आदर्श पर हुआ। इसके लिए दोहा छन्द अत्यधिक उपयुक्त था। रीतिकाल के साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग इसी छन्द में निर्मित हुआ है।

सवैया—ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से सवैया का आविर्भाव दोहा छन्द के बहुत बाद में हुआ। विद्वानों का विश्वास है कि यह अपने प्रकृत रूप में सम्भवतः १७वीं शती में प्रयुक्त होने लगा था। यह छन्द रीति-कालीन शृंगारी कविता की प्रकृति के नितान्त अनुकूल था। शृंगार रस के कोमल भावों के वहन करने की इसमें एक अद्भुत क्षमता है। इसमें वर्णनात्मकता और गीति-तत्त्वों का समावेश सहज रूप में हो सकता है। डॉ० जगदीश गुप्त के शब्दों में "सवैया रीति-काव्य का मधुर-तम छन्द है। वृत्तात्मक गरिमा के अतिरिक्त इसके संगीत में कुछ ऐसी सुकुमारता तो निहित मिलती है जो संस्कृत के अन्य वृत्तों में लक्षित नहीं होती और जिसका मेल भाषा की स्वर साधना से अधिक लगता है।" देव, मतिराम, घनानन्द, पद्माकर, ठाकुर और बोधा आदि रीति-कवियों ने सवैया छन्द का सफल प्रयोग किया है। हिन्दी के रीति-कवि को उर्दू के कवि से प्रतियोगिता करनी थी। उर्दू साहित्य के बहरों में भावाभिव्यक्ति की जो भंगिमा चमत्कार और चारुत्व थे वे सब गुण सवैया छन्द में उपलब्ध होते हैं, अतः रीति-काल में इसका अत्यधिक प्रचलन स्वाभाविक था।

कवित्त—यह छन्द हिन्दी का एक निजी आविष्कृत छन्द है। इसका सम्बन्ध संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के किसी छंद से जोड़ना निर्भ्रान्त नहीं है। इसके विकास क्रम के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। किन्तु इतना तो निश्चित है कि यह एक हिन्दी का अपना छंद है और इसका विकास हिन्दी क्षेत्र में हुआ। यह छंद गणात्मक न होकर वर्णात्मक और लयात्मक है। भावों की प्रवाहमयता के लिए यह एक अत्यन्त अनुकूल छन्द है। हिन्दी भाषा के समानान्तर काल में उद्भूत होने वाली बंगला, गुजराती तथा मराठी आदि भारतीय भाषाओं में इस छंद की प्रकृति से मिलते जुलते छंदों का प्रयोग हुआ है। हिन्दी में घनाक्षरी तथा मनहर आदि भेदों के रूप में

इसका अत्यधिक प्रयोग हुआ है। रीतिकाल में व्यापक प्रयोग के कारण यह छंद खूब परिष्कृत और मंज गया। डॉ० जगदीश गुप्त के शब्दों में "कलात्मकता की दृष्टि से सवैया की तरह कवित्त भी अन्तिम पद-प्रधान छन्द है और इसका शिल्प भी तद्नुरूप विकसित हुआ। उक्ति-प्रधान रीति-काव्य के लिए उसकी उपादेयता विशेष रूप से सिद्ध हुई। फलतः दोनों का ग्रंथि-बंधन दृढ़तर होता गया। कवित्त-सवैया से रीति-काव्य के अभिन्न संबंध का यह एक मार्मिक रहस्य है।"

रीति काव्य का मूल्यांकन

रीतिकाव्य के महत्त्व के अंकन के विषय में प्रायः पक्षपात से काम लिया गया है। कुछ आलोचक इसे सर्वथा त्याज्य और अधोगामी कह कर इसे गंदी नालियों में बहाने की वकालत करते हैं, जबकि अन्य आलोचक रीतिकाव्य को तन और मन को रिझाने वाला साहित्य कह कर इसे नितान्त अभिलषणीय बताते हैं। हमारे विचारानुसार ये दोनों दृष्टिकोण अतिवाद से ग्रस्त हैं। रसिक प्रभुओं के लिए लिखे गये रीतिकाव्य में कामशास्त्र के सचोट समावेश और उसमें यत्र-तत्र संभोग कलाओं की चर्चा को देख कर आज का आलोचक रीतिकाव्य में अश्लीलता की दुहाई देता हुआ आवश्यकता से कुछ अधिक चौंक जाता है। वस्तुतः श्लीलता और अश्लीलता युग सापेक्ष्य वस्तुएँ हैं। श्लील और अश्लील कवि समय (काव्य रूढ़ियों) के समान हैं, जो कि प्रत्येक समाज की परिस्थितियों की अनुरूपता में हुआ करते हैं। ये दोनों तत्कालीन सामाजिक चेतना से सम्बद्ध हैं। एक समय में जो वस्तु नागरता समझी जाती है, दूसरे समय में वही गर्हणीय बन जाती है, ऐसी दशा में रीतिकाव्य की तथाकथित अश्लीलता को आज के प्रबुद्ध नैतिक मान दंडों पर कसना न्याय नहीं होगा और न ही रीतिकाव्य की अश्लीलता को असाहित्यिक या असामाजिकता की संज्ञा देना उचित होगा। अश्लीलता और असाहित्यिकता हमें उस समय प्रतीत होती हैं जब हम रीति-काव्य के चित्रों को उनके पूर्ण परिपेक्ष्य में न देखकर उन्हें अधूरी दृष्टि से देखते हैं। नैतिकता भी देश कालाश्रित है तथा वह सदा बदलती रहती है। वस्तुतः श्लीलता और अश्लीलता सुरुचि और कुरुचि से सम्बद्ध हैं, जो कि प्रत्येक देश और काल की अलग-अलग हुआ करती हैं। हम पहले संकेत कर चुके हैं कि रीतिकाव्य चाहे शास्त्र की दृष्टि से इतना महत्त्वपूर्ण न हो किन्तु कवित्व की दृष्टि से यह बहुत मनोरम है। अतः इस काव्य का साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण है। रीतिकाव्य के प्रणयन का हेतु विशुद्ध साहित्यिक प्रेरणा अर्थात् 'कला कला के लिए' है। यह काव्य किसी नैतिक, सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक प्रेरणा की उपज नहीं है। अतः रीतिकाव्य की यथार्थ गरिमा और उसके मूल्य को आंकते समय हमें उपर्युक्त तथ्यों को सदा ध्यान में रखना होगा।

——

आधुनिक काल

आचार्य शुक्ल ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य का आरम्भ सं० १६०० से माना है, पर स्मरण रखना होगा कि उक्त संवत् (१८४३) ऐकान्तिक-रूप से इस काल के साहित्य निर्माण का प्रारम्भिक वर्ष हो, ऐसी बात नहीं। आधुनिक काल के साहित्य की प्रवृत्तियों का बीजवपन इससे भी ४०-५० वर्ष पूर्व आरम्भ हो चुका था और उसका पल्लवन लगभग सं० १६२५ भारतेन्दु के समय से हुआ। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सं० १८५० से १६२५ तक का समय आधुनिक हिन्दी-साहित्य का संक्रांति या संधिकाल है। यह ७५ वर्ष की अवधि भारतेन्दु युग के आरम्भ से पूर्व की है, जिसका एक छोर फोर्ट विलियम कालिज की स्थापना से सम्बद्ध है और दूसरा छोर भारतेन्दु युगारम्भ से।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी के आधुनिक इतिहास को तीन भागों में बाँटा है :— (१) प्रथम उत्थान (सं० १६२५-५०), (२) द्वितीय उत्थान सं० (१६५०-७५), (३) तृतीय उत्थान (सं० १६७५ से)। आलोचकों ने इस कालक्रम को (१) भारतेन्दु युग, (२) द्विवेदी युग, (३) छायावादी युग में विभाजित किया है, यद्यपि यह वर्गीकरण युग के व्यक्ति-विशेष के प्रति आग्रह रखता है और छायावाद केवल आधुनिक हिन्दी-काव्य के इतिहास से सम्बन्धित है, इस नामकरण में गद्य साहित्य और प्रवृत्तियाँ उपेक्षित रह जाती हैं। कुछेक विद्वानों ने इस काल-क्रम को पूर्व-छायावाद-युग, छायावाद-युग और उत्तर छायावाद-युग के नामों से अभिहित किया है। अस्तु, वैसे तो काल अखंड और अनन्त है, किन्तु यहाँ हम साहित्यिक गति-विधियों के ज्ञान की सुविधा के अनुसार आधुनिक हिन्दी-साहित्य को निम्नांकित भागों में बाँट सकते हैं : (१) प्रथम चरण: भारतेन्दु युग; (२) द्वितीय चरण : द्विवेदी युग; (३) तृतीय चरण : प्रसाद युग अथवा नवयौवन काल तथा प्रसादोत्तर काल। आचार्य शुक्ल ने प्रस्तुत काल में गद्य की प्रधानता को लक्ष्य रखकर इसे समूचे रूप से गद्य-काल के नाम से भी अभिहित किया है।

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल अपने पूर्ववर्ती कालों से कई बातों में भिन्न है। हिन्दी साहित्य के प्राचीन कालों में विशेष रूप से काव्य साहित्य था। इस काव्य में मुक्तक और प्रबन्ध दोनों शैलियों का विकास हुआ। आधुनिक युग में हिन्दी-काव्य-सम्बन्धी अनेक शैलियों का विकास हुआ, किन्तु इस युग की विशेषता गद्य-साहित्य

का अभूतपूर्व विकास है। उपन्यास, नाटक, कहानी, निबंध, आलोचना और उपयोगी साहित्य, इन सभी रूपों का उद्भव और विकास इसी युग में हुआ।

भक्ति-काल का साहित्य जनता का साहित्य है और रीतिकाल का साहित्य दरबारों का साहित्य है। आदिकाल और रीतिकाल का अधिकतर साहित्य राजकीय मनोवृत्ति तथा आश्रयदाता की तुष्टि को लक्ष्य रखकर लिखा गया। आधुनिक हिन्दी साहित्य भारतीय समाज के एक सर्वथा नये वर्ग की वाणी को मुखरित करता है, जो कि नवीन शासन-प्रणाली तथा नूतन अर्थ-व्यवस्था के परिणाम-स्वरूप पीड़ित और शोषित था – वह था मध्यवर्ग। पूर्ववर्ती कालों के साहित्यकारों ने सामयिक समस्याओं और संघर्षों के प्रति उपेक्षा भाव रखकर स्थायी और शाश्वत को साहित्य में स्थान दिया, परन्तु आधुनिक काल का साहित्य विशेष रूप से गद्य-साहित्य जीवन के यथार्थ चित्रण का विषय बना। इस प्रकार साहित्य में जीवन का अधिक व्यापक चित्रण होने से वह हमारे जीवन के अधिक निकट आ सका। इसका श्रेय तत्कालीन परिस्थितियों और विविध सम्पर्कों को दिया जा सकता है।

परिस्थितियाँ

राजनीतिक परिस्थिति—इस युग के साहित्य की राजनीतिक पृष्ठ-भूमि में, ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज्य की स्थापना, प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम, भारत में विक्टोरिया शासन की प्रतिष्ठा, इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना, बंग-भंग, मार्लो-मिन्टो सुधार द्वारा साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली, संसार का प्रथम महायुद्ध, जापान द्वारा रूस की पराजय, रोलैट् एक्ट, जलियाँवाला बाग-हत्याकांड, खिलाफत आन्दोलन, गांधी जी का असहयोग आन्दोलन, स्वराज्य पार्टी की स्थापना, जिन्ना का कांग्रेस से पृथक् होना तथा मुस्लिम लीग में सम्मिलित होना, कांग्रेस और सरकार के बीच अनेक परिषदों और कमीशनों और पैक्टों द्वारा की गई सन्धियां, १९३६-३७ में निर्वाचन तथा कांग्रेस और अन्य पार्टियों के मंत्रिमंडलों की स्थापना, द्वितीय महायुद्ध का आरम्भ, १९३९ में कांग्रेस-मंत्रिमण्डलों का त्यागपत्र, १९४० में पाकिस्तान की माँग, क्रिप्स महोदय का भारत आगमन, १९४२ में 'भारत छोड़ो' का आन्दोलन, इंगलैंड में मजदूर दल का विजयी होना, १९४६ में अन्तरिम सरकार की स्थापना, मुस्लिम लीग की घृणोत्पादक नीति के फलस्वरूप कलकत्ता, नोआखाली, बिहार और पंजाब में भयंकर साम्प्रदायिक दंगे, सन् १९४७, १५ अगस्त को भारत का स्वतन्त्र होना और अनेक देशी समस्याएँ आती हैं।

१७५७ में अंग्रेजों ने बंगाल जीत लिया और १८५७ में दिल्ली। इस बीच उनका राज्य क्रमशः भारत में फैलता गया। विजित प्रदेशों पर उन्होंने अपने ढंग की शासन-व्यवस्था तथा अर्थ-व्यवस्था को लागू किया। राज-काज में सहयोग प्राप्ति के लिए भारत से सस्ते क्लर्क प्राप्ति के निमित्त उन्होंने स्कूल और कालेज भी खोले। छापेखाने खुले तथा रेल-तार आदि का भी आविष्कार किया। यह सब ईस्ट

इण्डिया कम्पनी के द्वारा भारत में किया गया। लार्ड डलहौजी की लैप्स की नीति इस काल की प्रमुख घटना है। इस नीति के द्वारा कई देशी रियासतों—सतारा, झाँसी, नागपुर, जैतपुर (म० प्र०) को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। फलत: छोटे-छोटे रजवाड़ों के समाप्त हो जाने से रीतिकालीन श्रृंगारपरक साहित्य का निर्माण भी प्राय: बन्द हो गया।

१८५७ का प्रथम स्वतन्त्रता-युद्ध इस काल की एक अन्य प्रमुखतम घटना है। कम्पनी की राज्य-स्थापना के समय न जाने भारतीयों को क्या-कुछ अनुभव हुआ। पर अब उनके मन में यह बात स्पष्ट होती जा रही थी कि हमारे ही सिपाहियों और सेना के बल पर ये लोग हमारे देश पर शासन कर रहे हैं। नाना साहब (बिठूर) और उसके मंत्री अजीमुल्ला ने भारत के अनेक राज्यों में स्वाधीनता की विचारधारा प्रचारित की। अजीमुल्ला अंग्रेजी, फ्रेंच आदि कई भाषाओं का ज्ञाता था। लन्दन से लौटते समय वह क्रीमिया में अंग्रेजों के रूसियों के साथ होते हुए युद्ध को भी देख आया था। अंग्रेजों को क्रीमिया में उलझा हुआ देखकर तथा कुछ अन्य कारणों से, ९ मई, १८५७ में सारे भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़क उठी। यही स्वतन्त्रता की तरंग लगभग एक साल तक चलती रही। अंग्रेजी सेना के दमन और भारतीय राजा महाराजाओं के विश्वासघात से स्वाधीनता का प्रथम संग्राम असफल हुआ, जिसमें नाना साहब, बाँदा का नवाब, अहमदशाह, तात्या टोपे और झांसी की रानी आदि वीर सेनानी काम आये। भारतेन्दु-कालीन साहित्य इस सम्बन्ध में बिल्कुल मौन है, यह एक बड़े आश्चर्य की बात है।

इसके पश्चात् भारत में विक्टोरिया का शासन काल आया। इसमें अनेक प्रकार की सान्त्वनामयी घोषणाएँ हुईं—धर्म में हस्तक्षेप न करने की नीति आदि। वस्तुत: अंग्रेजी शासन की दृढ़ता का यही काल है। अंग्रेजी सभ्यता, भाषा और साहित्य की उच्चता का प्रचार करने के लिए लार्ड मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली का प्रचलन करवाया। इस प्रकार भारतीय शिक्षित समाज अंग्रेजी सभ्यता के रंग में बुरी तरह से रंगा जाने लगा। यह सब कुछ परोक्ष कूटनीति का परिणाम था जिसकी प्रतिध्वनि हम भारतेन्दु-कालीन साहित्य में सुन सकते हैं :—

अंग्रेज राज सुख साज, सजे सब भारी।
पै धन बिदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥

तथा

सर्बस लिए जात अंग्रेज, हम केवल लेक्चर के तेज।

सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य भारतीय प्रशासकीय कार्यों में सहयोग देना था। परन्तु बाल गंगाधर तिलक के प्रवेश के साथ यह स्वाधीनता-संस्था के रूप में बदल गई। १९०५ में बंग-भंग के कानून से भारतीय स्वाधीनता की भावना और भी तीव्र हुई और भीतर-ही-भीतर अंग्रेजी राज्य को

उलटने के लिए क्रांतिकारी संस्थाओं का निर्माण एवं विकास होने लगा। इन संस्थाओं में सक्रिय भाग लेने वालों में से उल्लेखनीय नाम हैं—तिलक, हरदयाल, अरविंद घोष, रास बिहारी बोस, शचीन्द्रनाथ, भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, सुखदेव और राजगुरु। १९१४ में प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ा और १९१९ में समाप्त हुआ। इस युद्ध में भारतीयों के सक्रिय सहयोग को प्राप्त करने के लिए अँग्रेजों ने भारत के नेता वर्ग को नाना सब्ज़ बाग दिखाए। १९१९ में रौलट एक्ट पास करके अंग्रेजी सरकार ने भारतीयों की रही-सही आशाओं पर पानी फेर दिया। जलियाँवाला बाग का निर्मम हत्याकाण्ड लगभग इसी समय की दुःखावह घटना है। खिलाफत आन्दोलन भी लगभग इसी समय चलाया गया था।

सन् १९२० में कांग्रेस की बागडोर गांधी जी ने सँभाली। उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों को सम्मिलित करके असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया। इसमें विदेशी वस्त्रों, सरकारी नौकरी, कौंसिलों, न्यायालयों, स्कूलों, कालेजों और उपाधियों का बहिष्कार कर दिया गया। ब्रिटिश सरकार के दमन-चक्र के फलस्वरूप बड़े-बड़े नेताओं—मोतीलाल नेहरू, लाजपतराय, आजाद आदि को बड़े घर भेज दिया गया। कांग्रेस के कुछेक ऐसे सदस्य थे जिनका असहयोग की नीति पर विश्वास नहीं था और वे कौंसिलों तथा तथा धारा सभाओं में भाग लेनेके पक्षपाती थे। इन्होंने 'स्वराज्य पार्टी' नामक एक संस्था की स्थापना की। इस संस्था के प्रवर्त्तकों में चित्तरंजन-दास तथा मोतीलाल नेहरू के नाम उल्लेखनीय हैं। इधर कांग्रेस की नीति मुसलमानों को प्रसन्न करने की हो गई थी। परिणामत: मदनमोहन मालवीय तथा लाजपत राय आदि कुछेक नेताओं ने हिन्दू महासभा का साथ दिया। इसी समय मुहम्मद अली जिन्ना कांग्रेस को छोड़कर मुस्लिम लीग में सम्मिलित हो गये। १९२०-३० तक अंग्रेजों की कूटनीति का दमन-चक्र भी खूब चला। हिन्दू-मुसलमानों में साम्प्रदायिकता, हिन्दी-उर्दू-सम्बन्धी भाषा-समस्या और मुस्लिम लीग की स्थापना आदि उनकी दुर्नीति का कुफल है। १९३० में एक भयंकर साम्प्रदायिक दंगा हुआ जिसमें गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे साधक को प्राण न्यौछावर करने पड़े। अंग्रेजों द्वारा डाली गई बाधाओं का यह परिणाम है कि अन्त में भारत को जो स्वतन्त्रता मिली वह भी विभक्त रूप में। १९३१-३५ तक का समय कमीशनों, पैक्टों और संधियों का समय है। १९३७ में निर्वाचन हुए, उनमें भारत के अधिकतर प्रान्तों में कांग्रेस के मंत्रिमंडल बने, किन्तु १९३९ में उन्हें त्याग-पत्र देने पड़े, क्योंकि अंग्रेजी सरकार ने भारतीयों की सम्मति के बिना भारत के द्वितीय महायुद्ध में सम्मिलित होने की घोषणा कर दी थी। १९४० में पाकिस्तान की माँग की गई। युद्ध में भारतीयों के सक्रिय सहयोग को प्राप्त करने के लिए १९४२ में क्रिप्स महोदय भारतीय संघ-निर्माण की एक योजना लेकर भारत आए, जिसके प्रति तोष की अपेक्षा रोष अधिक हुआ। १९४२ में कांग्रेस ने "भारत छोड़ो" का प्रस्ताव पाश किया जिस के फलस्वरूप असंख्य गिरफ्तारियाँ हुईं और प्रायः कांग्रेस के सभी प्रमुख नेताओं को

जेल में बन्द कर दिया गया। १९४५ में ब्रिटेन में उदार दल की सरकार बनी जिसे भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ काफी सहानुभूति थी। परिणामतः १९४६ में भारत में अन्तरिम सरकार बनी। इसी समय मुस्लिम लीग की घृणोत्पादक और अनुदार नीति के फलस्वरूप कलकत्ता, नोआखली, बिहार और पंजाब में भयंकर साम्प्रदायिक दंगे हुए। १५ अगस्त १९४७ को भारत में स्वतन्त्रता का स्वर्ण-विहान आया। तत्पश्चात् नव चेतना नव निर्माण में परिणत हो गई। आज के स्वतन्त्र भारत राष्ट्र की राजनीतिक चेतना राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के रूप में विकसित हो रही है। भारत का पंचशील का सन्देश युद्धों की विभीषिका से त्रस्त मानव जाति के लिए एक अमर देन है। हिन्दी साहित्य ने इस नव जागरण और नव राष्ट्रीय-चेतना का केवल अनुसरण ही नहीं किया, वरन् उसे प्रेरित भी किया और उसका मार्ग भी प्रशस्त किया।

धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थिति—इस काल के राजनीतिक आन्दोलन को चारित्रिक दृढ़ता और अगाध विश्वास की भावना की प्राप्ति तत्कालीन धार्मिक आन्दोलनों तथा सामाजिक क्रांति के द्वारा हुई। इन समस्त आन्दोलनों का उद्देश्य था समाज-सुधार एवं भारतीय स्वाधीनता। इन उक्त उद्देश्यों की पूर्ति प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से होती ही रही। इन आन्दोलनों में प्रमुख हैं ब्रह्म समाज, आर्य समाज, महाराष्ट्र समाज, थियोसोफी, सनातन धर्म, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और श्री अरविन्द के वेदान्त दर्शन तथा गांधी जी का मानवतावाद।

ब्रह्म समाज के प्रवर्त्तक राजा राममोहन राय थे। उनका उद्देश्य था समाज की कमियों, संकीर्णताओं और रूढ़ियों को समाप्त करना, किन्तु कुछ समय के पश्चात् वे स्वयं ईसाई रंग में इतने रंग गये कि भारतीय संस्कृति को हीन दृष्टि से देखने लगे और अपने पथ से विचलित हो गये। महाराष्ट्र देश में महादेव गोविन्द रानाडे के नेतृत्व में अनेक सामाजिक संस्थाओं की स्थापना हुई, जिनका उद्देश्य सामाजिक सुधार एवं भारतीय संस्कृति के प्रति अनुराग उत्पन्न करना था। स्वामी दयानन्द ने ईसाई धर्म प्रचार की प्रतिक्रिया में आर्य समाज की स्थापना की। उनका व्यक्तित्व सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में उतना ही क्रांतिकारी था जितना कि राजनीतिक क्षेत्र में तिलक का। कांग्रेस के राजनीतिक आन्दोलनों की सफलता का बहुत कुछ श्रेय स्वामी जी द्वारा तैयार किये त्यागी एवं कर्मठ नरपुंगवों को है। स्वामी जी के दो कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, राष्ट्रीयता का संचार और राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार "प्राचीन संस्कृति का पुनरुत्थान, वेदों के प्रति श्रद्धा-जागरण, शिक्षा-संस्थाओं के निर्माण द्वारा शिक्षा का प्रचार, नारी जाति के प्रति समादर की भावना, निम्न जातियों के प्रति अस्पृश्यता की भावना का निवारण, पुरातन रूढ़ियों का परित्याग। इन सब कार्यों के लिए भारतीय जनता इस समाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द की सदा ऋणी रहेगी।" थियोसाफिकल सोसायटी के द्वारा ऐनेबीसेन्ट जैसी पूज्या विदेशी

नारी, जो अपने-आपको पूर्वजन्म की हिन्दू तथा हिन्दू धर्म को सर्वश्रेष्ठ भी मानती थीं, ने देश की राष्ट्रायता को जागृत किया। इसने विज्ञान की अति बौद्धिकता का विरोध करके भारतीय आध्यात्मिकता का उत्थान किया। इस सम्बन्ध में परमहंस रामकृष्ण तथा उनके शिष्य विवेकानन्द का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने एक ओर राष्ट्रीयता का प्रचार किया तथा दूसरी ओर धर्म के सच्चे स्वरूप को व्यावहारिक रूप में उपन्यस्त किया। इनके गहन चिन्तन तथा आध्यात्मिकता की हिन्दी-साहित्य पर गहरी छाप है। विश्वकवि रवीन्द्र का आस्तिकतापूर्ण मानवतावादी दृष्टिकोण तथा रहस्यवाद, परमहंस रामकृष्ण, विवेकानन्द एवं ऐनेबीसेंट से प्रभावित है, उन्हें ईसाइयों की देन कहना भ्रम है। इन सभी विचारधाराओं का हिन्दी के छायावादी काव्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। परमर्षि अरविन्द पहले क्रांतिकारी राजनीति के नेता और बाद में तत्त्वद्रष्टा परम योगी थे। ये कवि भी थे। इनकी रचनाओं में आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति है। इनके योग में कर्म, उपासना और ज्ञान का समन्वय है। इनके अति मानववाद में पृथ्वी को स्वर्ग बनाने की भावना है। अरविन्द-दर्शन का हिन्दी-काव्य पर स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। गाँधी जी का समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। उनका जीवन-दर्शन गीता का अनासक्तियोग है। सत्य और अहिंसा उनके अमोघ शस्त्र हैं जिनके द्वारा उन्होंने भारत-स्वतन्त्रता के स्वप्न को सत्य में परिणित कर दिखाया। गांधी जी ने भारतीय जनता में आत्मबल, नैतिकता, दृढ़ता, उदारता और चारित्रिक गुणों का विकास किया। हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल के द्वितीय चरण में गांधीवादी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है। भारतेन्दु राष्ट्रीयतावादी हैं। गुप्त गाँधीवादी, प्रसाद आनन्दवादी तथा पन्त क्रमशः गांधीवादी, साम्यवादी और अरविन्द-वादी हैं।

भारत में अँग्रेजी शासन की स्थापना से जहाँ एक ओर राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में दयनीय शोषण हुआ, वहाँ दूसरी ओर आँग्ल भारत सम्पर्क तथा ईसाई मत प्रसार की प्रतिक्रिया स्वरूप भारत में धार्मिक एवं सामाजिक सुधार में एक नवचेतना भी आई। इन धार्मिक आन्दोलनों तथा सामाजिक क्रांतियों के द्वारा बाल-विवाह, मिथ्या रूढ़ियों, जाति-भेद, धार्मिक मतभेद, समुद्र यात्रा निषेध, दहेज-प्रथा, पूँजीवाद, जमींदारी प्रथा और अन्ध विश्वासों का घोर विरोध किया गया। विधवा-विवाह का समर्थन किया गया और अछूतोद्धार पर बल दिया गया। शोषित एवं पीड़ित समाज तथा नारी के प्रति संवेदना प्रगट की गई। मानवतावाद तथा आध्यात्मिकता का प्रचार हुआ। स्वतन्त्रता के पश्चात् सबको विकास के लिए समान अवसर मिला।

आर्थिक परिस्थिति—सन् ५७ के पश्चात् अंग्रेजों की शासन-सत्ता भारत में अच्छी प्रकार जम गई, जिसके फलस्वरूप मध्यकालीन सामन्ती व्यवस्था और संस्कृति का लोप होने लगा। उस समय सामन्ती युग का अन्त और आधुनिक युग का आरम्भ इतिहास की आवश्यकता थी। यदि अँग्रेजों का आगमन न भी हुआ होता

तो भी यह आर्थिक और सांस्कृतिक क्रांति हमारे देश में अवश्य होती। कुछ विद्वानों का विचार है कि विदेशियों के आगमन से इस क्रांति में विलम्ब ही हुआ। हमारे देश में व्यवसाय और उद्योग-धन्धे काफी फैले हुए थे, किन्तु अंग्रेजों ने उन्हें नष्ट करके हमारी सामाजिक और आर्थिक उन्नति में महान् व्याघात उपस्थित कर दिया। अँग्रजों का उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण करना था। इसकी पूर्ति के लिए एक ओर तो उन्होंने देशी उद्योग-धन्धों का समूल नाश किया और दूसरी ओर विदेशी पूंजी से भारत में नए उद्योग-धन्धे स्थापित किए। रेल, तार, डाक आदि की व्यवस्था उन्होंने अपनी आर्थिक और राजनीतिक सत्ता की सुविधा की दृष्टि से की। शिक्षा का प्रचार भी कदाचित् विशाल साम्राज्य के चलाने के लिए सस्ते क्लर्कों के उत्पादन के निमित्त था। उनकी स्वार्थ-सिद्धि का यह चक्र उलटकर उनका ही मर्मच्छेदी बना। मंहगाई, अकाल, टैक्स और दरिद्रता भारतेन्दु युग की प्रमुख आर्थिक समस्याएं हैं, जिनकी प्रतिध्वनि तत्कालीन साहित्य में स्पष्ट है। यही कारण है कि कांग्रेस ने राजनीतिक स्वाधीनता के साथ आर्थिक स्वतंत्रता की भी प्रबल मांग की। १८५७ की क्रांति के उपरांत अंग्रेजों ने अपने आततायियों को तो घसियारा बना दिया और अपने समर्थकों को बड़ी-बड़ी जागीरें प्रदान कर जमींदारी प्रथा का प्रोत्साहन किया। कृषक-वर्ग पर मालगुजारी का बोझा लादकर तथा जमींदारों के अत्याचारों को प्रश्रय देकर अंग्रेजों ने किसानों को अत्यधिक दीनहीन बना दिया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् कांग्रेस ने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के द्वारा अंग्रेजों की औद्योगिक नीति तथा आर्थिक शोषण का विरोध किया। मुंशी प्रेमचन्द तथा उनके समकालीन साहित्य में इसकी स्पष्ट छाया है। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् भारत को विश्वव्यापी मँहगाई और बेरोजगारी का शिकार होना पड़ा। पूँजीवाद का बोलबाला हो जाने के कारण श्रमिक और कृषक वर्ग शोषण की चक्की के दो निर्मम पाटों में बुरी तरह पिसे। अंग्रेजों की आर्थिक नीति में कुछ परिवर्तन हुआ। उन्होंने अपने साम्राज्यवादी हितों की सिद्धि के लिए भारत की औद्योगिक उन्नति की, किन्तु उससे शोषण बढ़ा कम नहीं हुआ।

स्वतन्त्रता के बाद देश की आर्थिक दशा में यथेष्ट सुधार हुआ। पंचवर्षीय योजनाओं तथा अन्य व्यवसायों और उद्योग धन्धों के प्रचार से एवं प्रसार के द्वारा राष्ट्र की आर्थिक स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ रहा है।

साहित्यिक परिस्थिति आधुनिक काल का साहित्यक विषय और शैली दोनों क्षेत्रों में अपने पूर्ववर्ती साहित्य से भिन्न है। इस भिन्नता का कारण जहाँ तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक चेतना है, वहाँ इस दिशा में बाह्य सम्पर्क तथा विविध साहित्यों के प्रभाव ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। रीतिकाल का अधिकतर साहित्य राजमहलों में पल रहा था जो कि अब सहर्ष झोंपड़ियों में आकर जनता के सुख-दुःख की बात कहने लगा। रीतिकालीन साहित्य नारी के कुच-

कटाक्ष के सीमित कटघरे में बन्द था जबकि आधुनिक हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट उदारता, व्यापकता और विविधता आई, जिसके फलस्वरूप उसने विशाल जन-समूह को खुली आँख से देखा। संक्षेप में रीतिकालीन साहित्य में निम्नांकित प्रवृत्तियाँ थीं—ऐन्द्रियता एवं रसिकता-प्रधान शृंगारिकता, जिसमें जीवन के संतुलित दृष्टिकोण का अभाव है, अलंकरण-प्रवृत्ति के प्रति अनावश्यक मोह, रीति निरूपण, प्रकृति का परम्परा-भुक्त चित्रण, विशिष्ट अभिव्यंजना प्रणाली, सामन्ती वातावरण में पुष्ट होने के कारण जीवन के प्रति अत्यन्त सीमित और संकुचित दृष्टिकोण, यांत्रिक, रूढ़िबद्ध तथा अवैयक्तिक जीवन दर्शन, वीर रस, भक्ति और नीति-सम्बन्धी कविता, मुक्तक शैली की प्रधानता तथा काव्य के विविध रूपों का अभाव और ब्रजभाषा का प्रयोग। संक्षेप में रीति साहित्य की भाषा, भाव और शैली सभी कुछ रूढ़िग्रस्त थीं जो कि बदले हुए आधुनिक युग की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं थीं, अतः आधुनिक हिन्दी-साहित्य में इन सभी क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण क्रांति हुई। भारतेन्दु-युग आधुनिक-हिन्दी साहित्य का प्रवेश द्वार है, जिसमें काफी सीमा तक संधि-साहित्य का निर्माण हुआ। भारतेन्दु-युग का साहित्य हिन्दी के विकास क्रम को स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ाता है, किन्तु पुरानी परम्पराओं और मर्यादाओं की रक्षा करते हुए ही। द्विवेदी-युग के साहित्य में विषयगत और कलागत आमूलचूल परिवर्तन हुआ। छायावादी युग के साहित्य को अपने पूर्ववर्ती साहित्यिक परंपराओं प्रतिक्रियात्मक एक चिर-स्मरणीय महान् आन्दोलन समझना चाहिए। प्रगतिवादी साहित्य में विश्व-मानवता का स्वर मुखरित है। इस साहित्य की विषय और कलागत अपनी मान्यताएँ हैं।

आधुनिक साहित्य की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है गद्य का आविष्कार तथा खड़ी बोली का साहित्य के गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम स्वीकृत होना। इनके साथ-साथ आधुनिक हिन्दी-साहित्य में विभिन्न काव्य-रूपों का भी प्रचलन हुआ—कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवन-चरित, आलोचना, एकांकी और रिपोर्ताज आदि। साहित्य की इन बहुत-सी विधाओं का रूपविधान पाश्चात्य साहित्य के अनुकरण पर हुआ है। वर्ण्य सामग्री की दृष्टि से न सही पर विभिन्न काव्यरूपों के लिए जिस प्रकार हिन्दी साहित्य बंगला, गुजराती और मराठी भाषाओं के साहित्य का ऋणी है उसी प्रकार अंग्रेजी साहित्य का भी। अब हम संक्षेप में आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

आधुनिक हिन्दी साहित्य का आरम्भ उस समय हुआ जबकि रीति कविता-कानन उजड़ चुका था और रीतिकाल के कवि का कोकिल कंठ नीरस, कुछ-कुछ सूना और अवरुद्ध-सा हो गया था। यह सब कुछ बदलते हुए युग का परिणाम था।

सन् १८५० से आधुनिक युग का आरम्भ होता है जबकि अंग्रेजी शासन पूरी तरह प्रतिष्ठित हो जाता है। इस नवीन विदेशी शासन के सम्पर्क से भारत में एक नवीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं साहित्यिक चेतना का स्वस्थ आविर्भाव होता है। पूर्व-पश्चिम के सांस्कृतिक सम्पर्क से जो नई चेतना उद्वद्ध हो रही थी और उससे जिस विचार-स्वातन्त्र्य का जन्म हो रहा था, उसके प्रभाव में हमारे साहित्य ने रूढ़ि के बन्धनों को तोड़ विकास की एक नई दिशा में प्रवेश किया। परिणामतः हमारे साहित्य में विचार और भाव, शैली या शिल्प-विधान, और काव्य रूप सभी क्षेत्रों में अनिवार्य रूप से परिवर्तन आया। नव जागरण के युग में समाज की बदलती हुई मनोवृत्तियों के साथ आधुनिक जनवादी साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों का समावेश हुआ। आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रत्येक युग में ये प्रवृत्तियाँ थोड़े बहुत अन्तर से पल्लवित, पुष्पित एवं विकसित होती रहीं। नीचे हम इन प्रवृत्तियों का क्रमशः अध्ययन करेंगे।

प्रथम चरण : भारतेन्दु युग—इस युग का साहित्य बहुत हद तक आधुनिक काल का संधि साहित्य है। इसमें प्राचीन तथा नवीन साहित्य परम्पराओं का संरक्षण हुआ है, हालाँकि इस युग के साहित्य का उद्देश्य प्राचीन की रक्षा करते हुए भी आगे बढ़ना है।

कविता क्षेत्र में इस युग के कवि को जहाँ नवीन का मोह है, वहाँ उसमें प्राचीन का आग्रह भी है। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों के प्रकृति-चित्र, शृंगार तथा लीला-वर्णन भी बड़ी अनुभूति और विदग्धता से किए गये हैं और साथ-साथ सामाजिक और राजनीतिक विषयों का समावेश भी उन्होंने पहली बार उस युग के साहित्य में किया। भारतेन्दु-युग का कवि जहाँ एक ओर प्राचीनता का प्रेमी है वहाँ दूसरी ओर अर्वाचीनता का सूत्रधार भी। वह तत्कालीन समस्याओं के प्रति जागरूक था। उसके काव्य में राजभक्ति के साथ देश-भक्ति है। उसने विक्टोरिया की जम कर प्रशस्तियाँ लिखीं और "अंग्रेज राज, सुख-साज" कहकर अपनी राज-भक्ति का परिचय दिया वहाँ अँग्रजी शोषण के प्रति उसकी उग्र वाणी का स्वर भी फूटा "पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।" आधुनिक युग का आलोचक भारतेन्दु-युग के कवि की राजभक्ति को देखकर कभी-कभी उसकी राष्ट्रीयता के प्रति संशयालु हो उठता है किन्तु उस समय के साहित्यकार का हम सही मूल्यांकन तब तक न कर सकेंगे जब तक कि तत्कालीन राजनीति का स्वरूप न समझ लें। वस्तुतः देशभक्ति और राजभक्ति उस समय की राजनीति का अभिन्न अंग थीं। हां, एक आश्चर्य अवश्य है कि उस समय के साहित्यकार की वाणी सन् १८५७ की विशाल जन-क्रांति के सम्बन्ध में नितान्त मूक है। अस्तु, भारतेन्दु जी का जन्म १८५७ की स्वतंत्रता-क्रांति से सात वर्ष पूर्व और निधन कांग्रेस की स्थापना से एक वर्ष पूर्व हुआ। अतः भारतेन्दु की प्रारंभिक कविताओं में स्पष्ट रूप से राजभक्ति के दर्शन होते हैं, किन्तु

ज्यों-ज्यों उनकी बुद्धि परिपक्व होती गई त्यों-त्यों उनकी वाणी पर देशभक्ति का रंग गाढ़ा होता गया, क्योंकि अब वे अंगरेजों की शोषण-नीति को भली-भाँति जान गये थे। भारतेन्दु की जिस लेखनी ने अंगरेजी शासन के प्रशंसा के गीत लिखे थे वही बाद में विद्रोह की भयंकर चिंगारियों को उगलने लगी। भारतेन्दु-युग में देश-भक्ति और राजभक्ति कुछ ऐसी घुली-मिली हुई हैं कि कभी-कभी आलोचक को उस युग के कवि की राष्ट्र-भक्ति पर सन्देह होने लगता है। इस प्रकार का कोई निर्णय देने से पूर्व उस युग की परिस्थितियों का अध्ययन कर लेना अनिवार्य होगा। भारतेन्दु और उनके युग का कवि सच्चा देश-भक्त है भले ही किसी कारणवश उसमें राजभक्ति के भी दर्शन होते हो। भारतेन्दु की राष्ट्रीयता पर किसी प्रकार की संकुचितता का आरोप करना भी अन्याय-संगत होगा। उन्होंने धर्मविद्वेष फैलाने वालों की निन्दा की है और अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति गहरा अनुराग प्रकट किया है। डॉ० गणपति-चन्द्र गुप्त के शब्दों में,"वस्तुत: भारतेन्दु की व्यापक राष्ट्रीयता में सभी धर्मों और सभी भाषाओं को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था।······१८५७ के अनन्तर राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रथम प्रवर्तक नेता भारतेन्दु थे। यह देश का दुर्भाग्य था कि उनका देहान्त ३४ वर्ष की अल्प अवस्था में ही हो गया। यदि वे कुछ वर्ष भी और जीवित रहते तो कांग्रेस का आरम्भिक स्वरूप कुछ और ही होता।" उस समय के साहित्य में जन जीवन का स्पष्ट प्रतिविम्ब है। भारतेन्दु-युग के लेखक ने निरन्तर महामारी, अकाल, टैक्स, आर्थिक शोषण आदि राजनीतिक विषयों पर बहुत कुछ लिखा। इसके अति-रिक्त उस युग के काव्य में देश-प्रेम, सामाजिक दुरवस्था और कुप्रथाओं का खंडन, विधवाओं की दयनीय दशा, बाल-विवाह-विरोध, धार्मिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का खंडन, स्त्री-शिक्षा और स्वतन्त्रता आदि सामाजिक विषयों का भी प्रचुर मात्रा में समावेश है। आचार्य शुक्ल ने जिन शब्दों में भारतेन्दु के कवि-जीवन का विश्लेषण किया है वे प्राय: उस समय के समस्त कवियों के काव्य पर चरितार्थ होते हैं। "अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर वे पद्माकर और द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधा-कृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्तमाल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मन्दिरों में अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु काल की कला का विशेष माधुर्य है···प्राचीन नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल छाया का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें सन्देह नहीं।"

भारतेन्दु-काल में कविता-क्षेत्र में व्रज भाषा का प्रयोग किया गया और गद्य क्षेत्र में खड़ी बोली का व्यवहार। भारतेन्दु या उनके जीवन काल में जिन लेखकों ने खड़ी बोली में तुकबन्दियाँ रचीं, उन्हें कविता कहना ठीक नही जान पड़ता। इस काल के कुछ कवियों ने छन्दों के क्षेत्र में भी आधुनिकता लाने का प्रयास किया। प्राचीन छंदों के स्थान पर लोक-प्रचलित छंदों—कजली, विरहा, रेखता, मलार

लावनी, ठुमरी, होली, खेमटा, कहरवा, चैती, साँझी और गजल का प्रयोग किया। भारतेन्दु युगीन कविता के अध्ययन के अनन्तर कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है— "भारतेन्दु और उसके समकालीन लेखक हिन्दी और हिन्दू जाति के उद्धार के लिए आन्दोलन करने वाले देश-प्रेमी पत्रकार और प्रचारक ही अधिक थे, काव्य और साहित्यकार कम।" यह कहा जा सकता है कि वह युग आधुनिक हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भिक काल था, अतः उस साहित्य में परिपक्वता एवं अनुभूति-गहनता की अधिक आशा नहीं करनी चाहिए, किन्तु उसी युग में गालिब, दाग, हाली, अकबर इलाहाबादी एवं रवीन्द्रनाथ की काव्य-कला, विकासोन्मुखी हुई और फिर इस काल के लेखकों ने जिस ब्रज-भाषा को अपनी काव्यमयी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया वह कई शताब्दियों से बड़ी सफलतापूर्वक काव्य में व्यवहृत होती आ रही थी।

खड़ी बोली गद्य का विकास इस युग की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। भारतेन्दु ने न तो राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृतनिष्ठ पद्धति को अपनाया और न ही राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द की उर्दू मयी गद्य-शैली को व्यवहृत किया, बल्कि इस दिशा में मध्यमार्ग का अवम्वलन करके अपनी अद्‌भुत सामंजस्यात्मक प्रवृत्ति का परिचय दिया। भारतेन्दु-युग में अनेक नवीन गद्य-रूपों का विकास हुआ जिनका माध्यम खड़ी बोली थी। ये नये रूप हैं—पत्रकारिता, उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना और निबन्ध आदि। इन रूपों का प्रसार एवं विकास इस युग में हिन्दी में पहली बार हुआ।

इस काल में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का खूब प्रचलन हुआ। प्रायः भारतेन्दु युग का प्रत्येक लेखक किसी-न-किसी पत्र का सम्पादन कर रहा था। भारतेन्दु जी स्वयं दो पत्रों—"कवि-वचन-सुधा" तथा "हरिश्चन्द्र मैगजीन" का सम्पादन करते रहे। भारतेन्दु युग के लेखक प्रधानतः प्रचारक, सुधारक और पत्रकार थे, अतः पत्रकारिता द्वारा गद्य-निर्माण में काफी गति आई।

शुक्ल जी ने श्रीनिवास दास के "परीक्षा गुरु" को हिन्दी का प्रथम उपन्यास स्वीकार किया है। सुना जाता है कि भारतेन्दु जी ने उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया था और साथ-साथ खेद प्रकट किया कि जैसे मौलिक नाटक हिन्दी में लिखे जा रहे थे वैसे उपन्यास नहीं। गोस्वामी किशोरीलाल के उपन्यासों में पुष्ट चरित्र-चित्रण नहीं मिलता। इस युग के उपन्यास कला की दृष्टि से इतने उच्च नहीं बन पड़े। अस्तु, हिन्दी-साहित्य के इस नूतन अंग का सृजन और विकास इस काल में हुआ, यह तो निश्चित है।

भारतेन्दु काल से पूर्व हिन्दी में कई नाटक लिखे जा चुके थे, किन्तु उन्हें पद्यात्मक वर्णन-मात्र कहा जा सकता है। ये नाटक आधुनिक नाटक की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते। हिन्दी का पहला नाटक गिरधरदास कृत 'नहुष' है, जो कि खंडित रूप में मिलता है। भारतेन्दु का हिन्दी-नाटक-साहित्य-क्षेत्र एवं रंगमंच पर

अवतीर्ण होना एक चिरस्मरणीय घटना है। उनके अनेक नाटक हैं, जिनमें से कई मौलिक, कई अनूदित और कई रूपान्तरित हैं। भारतेन्दु ने काशी में नाटक मंडली की स्थापना की और स्वयं भी अभिनय में भाग लिया करते थे। इनके नाटकों में साहित्यिकता के साथ नाटकीय गुणों का सुन्दर समन्वय है। भारतेन्दु से प्रेरणा लेकर उनकी पीढ़ी के अनेक लेखकों ने अनेक रंगमंचीय नाटकों का निर्माण किया। इन नाटकों में देश-प्रेम, समाज-सुधार तथा धर्म-सुधार की भावनाएँ अधिक हैं। इनमें उपदेशात्मक तत्त्व अधिक हैं कलात्मक कम।

आधुनिक आलोचना की शैली श्रीनिवास दास के "संयोगिता स्वयंवर" से शुरू होती है। लेखकों, पुस्तकों और साहित्य के रूपों की विवेचना इस युग में होने लगी थी। भारतेन्दु की "नाटक" रचना इसी प्रकार की आलोचना के अन्तर्गत आती है। अस्तु, इस युग की आलोचना का स्वरूप अत्यन्त साधारण है। इसका परिष्कार और विकास आगे चलकर द्विवेदी युग में हुआ। भारतेन्दु-युग में गद्य-साहित्य के अन्य रूपों—निबन्ध, जीवनी आदि का अभूतपूर्व सृजन एवं विकास हुआ। भारतेन्दु युग के साहित्य के गद्य-रूपों का अध्ययन करते हुए कहा जा सकता है कि इसमें गोष्ठी साहित्य की सम्पूर्ण विशेषताएँ और परिसीमाएँ हैं। इस काल के गद्य में अनेक शैलियों का प्रचलन तो हुआ, परन्तु उसमें अपेक्षाकृत परिपक्वता की कमी है। इस काल के गद्य लेखकों की शैली में प्रौढ़ता तो नहीं है परन्तु व्यक्तित्व अवश्य है। भारतेन्दु-युग के साहित्य से उस समय की तीव्र राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक चेतना का अनुमान सहज में लगाया जा सकता है। यह साहित्य मध्यवर्ग के पढ़े-लिखे व्यक्ति के लिये लिखा गया। इस युग के साहित्य में रीतिकाल जैसा शृंगार नहीं, इसमें प्राचीनता के प्रति मोह है, किन्तु नवीनता के प्रति काफी आकुलता है। इस युग में खड़ी बोली गद्य का यथेष्ट प्रसार एवं प्रचार हुआ। गद्य रूपों में नाटक, उपन्यासादि को अपनाया गया। भारतेन्दु-युग का गद्य और काव्य नवीन की आकुलता तो व्यक्त करता है, किन्तु उसके परिष्कार एवं विकास की अभी बड़ी आवश्यकता थी। यह कमी आने वाले युगों ने पूरी की, जब काव्य, नाटक, कथा-साहित्य, आलोचना आदि सभी रूपों में हिन्दी साहित्य ने अभूतपूर्व उन्नति की और प्रेमचन्द, प्रसाद, पंत, निराला, आचार्य शुक्ल आदि महान् साहित्यकारों को जन्म दिया।" भारतेन्दु युग में जिन साहित्यिक रूपों और प्रवृत्तियों का बीजपवन हुआ, आगे चलकर द्विवेदी-काल में वे पल्लवित एवं पुष्पित हुई।

द्वितीय चरण : द्वितीय युग संवत् १९५० से ७५ तक का समय हिन्दी-साहित्य के इतिहास में द्विवेदी-युग के नाम से अभिहित किया जाता है। इस युग की समूची साहित्य-चेतना के सूत्रधार प्रस्तुत युग के प्रधान पुरुष महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। वे सुदीर्घ काल तक सरस्वती पत्रिका का सम्पादन करते रहे तथा युग की भाषा और उसके साहित्य के रूपों को सुदृढ़ हाथों से निर्धारित करते रहे। उनकी सरस्वती पत्रिका अपने आप में एक संस्था थी। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली

सम्बन्धी विवाद को सदा के लिए समाप्त करके साहित्य के पद्य और गद्य दोनों क्षेत्रों में खड़ी बोली को प्रतिष्ठित किया। खड़ी बोली के व्याकरण-सम्मत रूप, उसके परिष्कार और संस्कार का समस्त श्रेय द्विवेदी तथा उनके समकालीन लेखक वर्ग को है। इस युग में हिन्दी-साहित्य की आधुनिक परम्परा का यथेष्ट परिमार्जन तथा विकास हुआ। विशेषतः कविता, आलोचना और कथा-साहित्य में इस युग में प्रौढ़ता आई। इस युग की साहित्यिक अनेकरूपता के संबंध में डॉ० कृष्णलाल लिखते हैं—"...पच्चीस वर्षों में ही एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। मुक्तकों के वनखंडों के स्थान पर महाकाव्य, आख्यान काव्य (Ballads), प्रेमाख्यान काव्य (Metrical Romances), प्रबंध काव्य, गीतिकाव्य और गीतों से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा। गद्य में घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, भाव-प्रधान, ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यास और कहानियों की रचना हुई। समालोचना और निबंधों की अपूर्व उन्नति हुई।"

द्विवेदी युग की कविता में भारतेन्दु-कालीन कविता की अपेक्षा राष्ट्रीयता का स्वर और अधिक उभर आया। इस युग की राष्ट्रीयता की संकीर्णता एवं साम्प्रदायिकता के संबंध में डॉ० शिवदानसिंह चौहान लिखते हैं—"आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी में ही नहीं बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों तक अर्थात् छायावादी काव्य धारा के फूटने से पहले तक के हिन्दी कवि (महावीर प्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त) इस संकीर्ण घेरे का अतिक्रमण करने का साहस नहीं कर पाए। जातिगत सम्प्रदायगत और भाषागत स्वार्थों से ऊपर उठकर वे अपनी वाणी में राष्ट्रीय एकता का वह उदात्त स्वर नही फूँक पाए जिसने रवीन्द्रनाथ ठाकुर और इक़बाल (पाकिस्तान की माँग से पहले के इकबाल) के कंठ से निकलकर सारे देश में एक नया स्पन्दन भर दिया था।" अस्तु! गुप्त आदि की प्रारम्भिक रचनाओं के आधार पर इस सम्बन्ध में उन पर संकीर्णता का आरोप लगाना कदाचित् अतिवादी होना है। इस काल की कविता में रीति-काल के शृंगार की घोर प्रतिक्रिया हुई और इतिवृत्तात्मकता ने इनमें एक मात्र साम्राज्य स्थापित कर लिया। कांग्रेस के स्वतन्त्रता-आन्दोलनों की इस युग पर स्पष्ट छाप है। कृषक एवं दलित वर्ग के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए उस युग के कवि ने उनकी कुरूप-कथा की मार्मिक अभिव्यंजना की है, जो कि एक प्रकार से कांग्रेस के सामाजिक आदर्श की पूर्ति का प्रयास है। विज्ञान-युग की बौद्धिकता और सन्देहवाद की भी इस युग की कविता पर स्पष्ट छाप है। इसी के फलस्वरूप इस साहित्य में प्राचीन धार्मिक रूढ़ियों का खंडन तथा नवीन मूल्यों का अंकन हुआ है। गुप्त और हरिऔध के राम कृष्ण समाज-सुधारक मानव के रूप में उपस्थित होते हैं। नारी के उचित समादर और समान अधिकारों की जो उस समय सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में क्रांति हुई उसका भी इस युग के साहित्य में मूर्तिमान् प्रतिफलन हुआ है। गुप्त के 'साकेत' की उर्मिला

ससैन्य आततायी पर टूट पड़ने के लिए तैयार हो जाती है। हरिऔध के 'प्रिय प्रवास' की राधा आदर्श त्यागमयी एवं समाज-सुधार कार्य में सतत रत है। गुप्त की 'यशोधरा' में उस युग की नारी के अधिकारों की माँग की तड़प है। प्रायः इस युग के साहित्य पर इतिवृत्तात्मक शैली की नीरसता का आरोप लगाया जाता है, किन्तु आयोध्यासिंह उपाध्याय, गुप्त, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही इसके अपवाद समझने चाहिएँ। इन्होंने युग जीवन की व्यापक समस्याओं का काव्योचित चित्रण किया है। काव्य-क्षेत्र में द्विवेदी-युग के कवि किसी वाद से बंध कर नहीं चले, यद्यपि गांधीवाद का इनकी विचारधारा पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। द्विवेदी-युगीन कविता की प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए डॉ० शिवदान सिंह चौहान लिखते हैं—"उनकी दृष्टि मूलतः बहिर्मुखी है, इसलिए राष्ट्र जीवन की सम-सामयिक हलचलों में निरन्तर रमती चली आई है, अन्तर्मुखी होकर व्यक्ति चेतना की अगम गहराइयों में नहीं उतर पाई। विशेषकर लोक-प्रचलित पौराणिक आख्यानों, इतिहास वृत्तों और देश की राजनीतिक घटनाओं से इन्होंने अपने काव्य की विषय वस्तु को सजाया है, इन आख्यानों, वृत्तों और घटनाओं के चयन में उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति, देशानुराग और सत्ता के प्रति विद्रोह का स्वर मुखर है। यह एक प्रकार से राजनीति में राष्ट्रीय आन्दोलन और काव्य में स्वच्छन्तावाद की प्रवृत्ति के बीच पलने और बहने वाली कविता की बहिर्मुखी धारा है, जिसने हिन्दी भाषी जनता को आधुनिक युग के व्यक्ति-समाज-सम्बन्धी गहरे तात्त्विक प्रश्नों के प्रति नहीं तो राजनीतिक पराधीनता और राष्ट्रीय संघर्ष की आवश्यकता के प्रति सचेत बनाने में बहुत बड़ा काम किया।"

नाटक, उपन्यास, कहानी और निबन्ध क्षेत्रों में भी इस युग में लेखकों ने भारतेन्दु-युग की परम्परा का विकास किया। नाटक क्षेत्र में द्विवेदी-काल को भारतेन्दु युग की अपेक्षा किसी भी दशा में उन्नत नहीं कहा जा सकता है। भारतेन्दु के बाद प्रसाद के पहले तक किसी नाटक-परम्परा का निर्माण न हो सका। इस काल के बीच बंगला, संस्कृत और अंग्रेजी नाटकों का मात्र अनुवाद ही होता रहा। गोपाल राम गहमरी जासूसी उपन्यास लिख रहे थे और देवकीनन्दन खत्री तिलस्मी उपन्यास। इस काल में किशोरीलाल स्वामी ने अनेक ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यास लिखे। किन्तु इन रचनाओं में सूक्ष्म मनोविज्ञान, चरित्र-चित्रण आदि में अभी बहुत उन्नति और प्रौढ़ता की गुंजायश थी। द्विवेदी युग में आलोचना का भी सन्तोषजनक विकास हुआ। द्विवेदी जी एक अच्छे सम्पादक, आलोचक, निबन्ध-लेखक और कवि थे। उन्होंने संस्कृत कवियों पर अच्छी आलोचनाएँ कीं। द्विवेदी जी सरस्वती पत्रिका में नई पुस्तकों की आलोचना किया करते थे। इस युग के आलोचकों में मिश्र-बन्धु, पं० पद्मसिंह शर्मा तथा कृष्ण बिहारी मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। हिंदी आलोचना को आधुनिक रूप देने में इन लोगों का काफी हाथ है।

द्विवेदी-युग वस्तुतः गद्य का युग है। उसने बीसियों-कवियों को प्रेरणा दी जो कि हिन्दी का शृंगार हैं। किन्तु इस युग के महारथी गद्य के रूप के निखारने और संवारने में लीन थे, द्विवेदी जी ने बंगला की कल्पना प्रधान शैली की अपेक्षा मराठी की इतिवृत्तात्मक पद्धति को अधिक आश्रय दिया और इस युग के लेखक इतिवृत्तात्मकता में रमे रहे। लगता है उनमें कल्पना और भावना में ऊँची उड़ाने भरने की क्षमता ही नहीं थी। "भारतेन्दु युग की तुलना में इन लेखकों ने अपनी कला का शृंगार भी किया, किन्तु फिर भी उनके भावों, अनुभूति और कल्पना में गहराई और गम्भीरता की कमी थी। यह भी छायावाद ने पूरी की। भाषा का परिमार्जन और परिष्कार अवश्य इस युग में हुआ। जो रास्ता आधुनिक हिन्दी साहित्य ने भारतेन्दु-युग में पकड़ा उस पर द्विवेदी युग ने हमें आगे बढ़ाया। साहित्य के विविध रूपों का विकास और प्रस्फुटन इस युग में हुआ, किन्तु लक्ष्य से हम अभी दूर थे।" निःसन्देह खड़ी बोली में सुस्पष्टता और मधुरता, व्यंजना में गम्भीरता और कोमलता आदि गुण आ गए थे किन्तु फिर भी उस भाषा में एक अटपटापन शेष था जिसकी पूर्ति छायावादी काव्य द्वारा हुई। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक प्रकाशचन्द्र गुप्त के शब्दों में "द्विवेदी युग तैयारी का युग था। भारतेन्दु जी ने भूमि गोड़ी और बीजवपन किया। द्विवेदी युग में अनेक तरु लताओं से उपवन लहलहाने लगा था, किन्तु तृतीय उत्थान में शुक्लजी, प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी वर्मा के समान उच्चतम कोटि के साहित्यकार हिन्दी ने उत्पन्न किए। इन पर किसी भी साहित्य और युग को गर्व हो सकता है। द्विवेदी युग उस अस्त्र को चमका रहा था और पैना कर रहा था जिसका तीसरी पीढ़ी के कलाकारों ने कुशल हाथों से प्रयोग किया। हिन्दी आधुनिक साहित्य-शैली का निर्माण हो चुका था और अनेक उत्कृष्ट कलात्मक प्रयास भी उसके माध्यम से हुए किन्तु पूर्ण विजय तीसरी पीढ़ी के लेखकों द्वारा ही मिली।" अस्तु! हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के आरम्भ में जिन शैलियों को जन्म मिला द्विवेदी युग में उन्हें विकास का पूर्ण अवसर मिला। उस पर अब बंगला, मराठी और उर्दू की शैलियों का प्रभाव पड़ा, किन्तु हिन्दी की जातिगत विशेषताओं के अनुरूप ही। डॉ० कृष्णलाल के शब्दों में "हिन्दी ने अपनी जातीय विशेषताओं के अनुरूप अंग्रेजी साहित्य की स्पष्ट भाव व्यंजना, बंगला की सरसता और मधुरता, मराठी की गम्भीरता, और उर्दू का प्रवाह ग्रहण किया।"

तृतीय चरण : यौवन काल—आधुनिक हिन्दी-साहित्य का तृतीय युग साहित्यिक दृष्टि से प्रौढ़तम काल है। यह युग काव्य में छायावाद का युग है, उपन्यास में प्रेमचन्द का, नाटक में प्रसाद का, कहानी क्षेत्र में प्रेमचन्द का तथा आलोचना और निबन्ध-क्षेत्र में शुक्ल जी का युग है। भारतेन्दु- काल में जिन शैलियों का बीजवपन हुआ, द्विवेदी काल में पल्लवन हुआ, इस युग में उसमें पूर्ण विकास हुआ। भाषा, भाव और शिल्प-विधान की दृष्टि से यह काल प्रौढ़तम काल है। इस युग में रंगभूमि, प्रेमाश्रम, गोदान, कामना, स्कन्दगुप्त, आँसू, कामायनी, पल्लव, युगवाणी, ग्राम्या

परिमल, अनामिका, गीतिका, कुकुरमुत्ता, रश्मि, नीरजा, दीपशिखा, सांध्य गीत, आचार्य शुक्ल के प्रसिद्ध आलोचनात्मक ग्रंथ और अनेक नये कलाकारों की महत्त्वपूर्ण रचनायें प्रकाश में आईं। ये रचनायें हिन्दी का अमर साहित्य हैं जिस पर हिन्दी-जगत को गर्व और गौरव है। अनुभूति में यह साहित्य भक्तिकालीन साहित्य की समकक्षता में आता है और कलात्मकता में रीतियुग की तुलना में आता है।

कविता क्षेत्र में छायावाद ने "आधुनिक काव्य परम्परा को विकसित और परिमार्जित किया, उनके रूपों को निखारा और संवारा और उनके प्राणों में नई प्रेरणा भरी। छायावादी काव्य में भावों की कोमलता, अनुभूति की गहराई और जीवन के प्रति एक संवेदना है।" छायावादी काव्य में गोचर में अगोचर की खोज पार्थिव में दिव्य का अवतरण, मानवी भावनाओं के प्रति निसर्ग का योगदान और मानवी सीमाओं में असीम का दर्शन—इस दृष्टि से अलौकित रवीन्द्र काव्य और संगीत की छाया नए हिन्दी काव्य पर अवश्य पड़ी, किन्तु उस छाया के कारण ही छायावाद का नाम छायावाद पड़ा हो, ऐसी बात नहीं। छायावाद काव्य अंग्रेजी साहित्य की रोमांटिक धारा की एकमात्र अनुकृति हो, ऐसी बात भी नहीं इसमें बहुत कुछ अपना है। यह धारा भारत की धरती पर जन्मी और बड़ी हुई। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि देश की प्राचीन संस्कृति और पाश्चात्य काव्य साहित्य के प्रभावों को ग्रहण करती काव्य की यह धारा राष्ट्रीय जागरण की क्रोड़ में पनपी और फली फूली। छायावाद मूलतः व्यक्तिवाद की कविता है और मेरे विचार में व्यक्तिवाद कोई बुरी वस्तु नहीं। छायावाद के व्यक्तिवाद में समष्टिवाद का भी सामंजस्य है। छायावाद का व्यक्तिवाद आधुनिक प्रयोगवादियों के व्यक्तिवाद के समान कुंठाग्रस्त एवं संकीर्ण नहीं है।

प्रसाद छायावादी काव्य-युग के ब्रह्मा हैं, पन्त, विष्णु और निराला उसके शिवशंकर। ये ही तीनों महानुभाव छायावाद की बृहत्-त्रयी हैं। इस धारा के अन्य प्रमुख कवि हैं—श्रीमती महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, मिलिन्द, नवीन, भगवतीचरण वर्मा, श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान और माखनलाल चतुर्वेदी। इस काव्य में प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं—दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद व सर्वात्मवाद, धर्म के क्षेत्र में रूढ़ियों एवं बाह्याचारों से मुक्त व्यापक मानववाद, समाज के क्षेत्र में समन्वयवादी, राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीयता एवं शान्ति की नीति, दाम्पत्य जीवन के क्षेत्र में हृदयवाद, साहित्य के क्षेत्र में व्यापक कलावाद या सौन्दर्यवाद, वेदना और अन्तर्मुखीपन एवं व्यक्तिवाद ये छायावाद की विचारगत प्रवृत्तियाँ हैं। इस धारा की शैलीगत प्रवृत्तियाँ हैं—मुक्तक गीति शैली, प्रतीकात्मकता, प्राचीन एवं नवीन अलंकारों का प्रचुर प्रयोग जैसे मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय और विरोधाभास आदि। व्यक्तिवादी छायावादी के मैं में विश्व-मानवता का अहं सन्निहित है और वह अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सदा जागरूक रहा है। अस्तु! इस काव्य में कहीं-कहीं घोर नैराश्य और पलायन भी है, किन्तु परिसीमाएँ तो सर्वत्र हुआ ही करती हैं। छायावादी गीति-

काव्य का युग है। इस युग के महाकाव्य अथवा खंडकाव्य उसकी प्रमुख धारा के कुछ निखरे अंग हैं। 'कामायनी' प्रवन्ध काव्य होते हुए भी गीतों की एक लड़ी है। कामायनी छायावाद का प्रमुख महाकाव्य है, जिसमें इस धारा की सभी विशेषताएं समाहित हैं। एक प्रसिद्ध आलोचक के शब्दों में "छायावाद कोमल रेशमी ताने बाने से बना हुआ काव्य है। यह आधुनिक हिन्दी काव्य को नई कलात्मक मंजिल पार कराता है। सुन्दर शब्दविन्यास, कल्पना विलास तीव्रानुभूति आदि गुणों से यह काव्य सुशोभित है। यह काव्य आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रौढ़ता और उसके सौष्ठव का द्योतक हैं।"

इस युग का कथा-साहित्य यथार्थवादी है, नाटक-साहित्य ऐतिहासिक है, और आलोचनात्मक साहित्य शास्त्रीय मौलिक, गहन एवं पौरस्त्य तथा पाश्चात्य पद्धतियों का समन्वय है। हिन्दी का आख्यान साहित्य मुंशी प्रेमचन्द जैसे कुशल शिल्पी कलाकार के हाथों में पहुंचकर पूर्ण यौवन को प्राप्त हो जाता है। प्रेमचन्द जनजीवन के व्याख्याकार हैं और उनका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक और उदार है। इनके साहित्य में रोचकता, कलात्मकता और सामाजिक चेतना की त्रिवेणी का सुन्दर संगम है। प्रेमचन्द ने राजनीतिक शोषण, सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक रूढ़ियों पर खुलकर प्रहार किया है। विषय, वस्तु और शिल्प विधान दोनों दृष्टियों से उनका साहित्य अनुपम बन पड़ा है। उनकी प्रारम्भिक रचनायें सेवा-सदन और सप्त सरोज हैं। उनकी अन्य प्रौढ़तम कृतियाँ—प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि तथा गोदान हिन्दी साहित्य के विकास में पथचिह्न बन पड़ी। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि प्रेमचन्द का साहित्य परिमाण में जितना प्रचुर है उदात्तता, साहित्यिक महत्ता और व्यापकता में उतना ही महिमाशाली है, विश्वम्भरनाथ कौशिक और सुदर्शन, प्रेमचन्द के पथ के अनुयायी बने। प्रेमचन्द के परवर्ती कथाकार जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द जोशी, अज्ञेय और यशपाल आदि ने एक नवीन पथ को अपनाया। प्रेमचन्द की दृष्टि जहां भारत के ग्रामों और उनके किसानों पर केन्द्रित रही, वहाँ परवर्ती कलाकार नगरों की ओर आये और मध्य वर्ग को अपने चित्रण का विषय बनाया। इस क्षेत्र में इन्हें सफलता भी मिली। जैनेन्द्र के परख, सुनीता, कल्याणी और त्याग-पत्र, भगवतीचरण की चित्रलेखा, वृन्दावनलाल वर्मा के गढ़ कुंडार और झांसी की रानी नामक उपन्यास उल्लेखनीय है। इधर यशपाल, राहुल, रांगेय राघव और भगवतशरण उपाध्याय ने भी ऐतिहासिक उपन्यासों के निर्माण में पर्याप्य योग-दान दिया है।

जयशंकर प्रसाद ने काव्य-क्षेत्र के समान नाटक क्षेत्र में भी क्रांति उपस्थित कर दी। भारतेन्दु के उपरान्त प्रसाद के आगमन तक हिन्दी का नाटक क्षेत्र प्रायः सूना ही समझना चाहिए। द्विवेदी-युग के अनूदित नाटकों तथा कम्पनियों के लिए तैयार किये गए नाटकों में किसी प्रकार की साहित्यकता, कलात्मकता और परमार्जित रुचि के दर्शन नहीं होते। प्रसाद के नाटक ऐतिहासिक हैं और उनमें उच्च कोटि की

साहित्यिकता है, किन्तु इनकी रंगमंचीयता निर्विवाद नही है। प्रसाद के नाटकों में इतिहास का गम्भीर अध्ययन और मनन है, कथा-वस्तु का सफल निर्वाह, सफल चरित्र-चित्रण और गहन अनुभूति है। प्रसाद ने एकांकी नाटकों का भी सूत्रपात कर दिया था। इस प्रकार प्रसाद ने हिन्दी नाटक में एक बड़े अभाव की पूर्ति की। इस काल के अन्य उल्लेखनीय नाटकार हैं रामकुमार वर्मा, प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क और जगदीशप्रसाद माथुर। इनकी कृतियों में नाटक कला का उत्तरोत्तर विकास हुआ। इन्होंने देश और काल से सम्बद्ध सामाजिक समस्याओं को भी अपने नाटकों का विषय बनाया। आगे चलकर एकांकी परम्परा का भी समुचित विकास हुआ। इन एकांकीकारों में विशेष उल्लेखनीय हैं—भुवनेश्वरप्रसाद, रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क और जगदीशप्रसाद माथुर। इस युग में रंगमंच सम्बन्धी जो थोड़ी बहुत व्यवस्था थी उसका आगे चलकर विश्वविद्यालयों अव्यवसायी नाटक मण्डलियों द्वारा स्वस्थ दिशा में विकास हुआ। पर एक बात स्पष्ट है कि आज तक हिन्दी-नाटक का भण्डार उस रूप में भरा-पूरा नहीं है, जैसा कविता, आलोचना, उपन्यासादि साहित्य के अन्य अंगों में है।

आलोचकप्रवर रामचन्द्र शुक्ल इस युग की आलोचना की गतिविधियों के निर्माता हैं। उनके समीक्षा-सिद्धांतों में भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा-पद्धतियों का समन्वय है। उनकी दृष्टि वैज्ञानिक थी। वे बड़ी खोज, परिश्रम और मनन के पश्चात् अत्यन्त सूक्ष्म मार्मिक विवेचन करते थे। उनका हिन्दी-साहित्य का इतिहास, सूर, तुलसी और जायसी पर लिखी गई विस्तृत समीक्षाएँ इस तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण हैं। किन्तु एक बात स्मरण रखनी होगी कि शुक्ल जी की पैनी शास्त्रीय दृष्टि जितनी प्राचीन कवियों के विवेचन में उपयुक्त सिद्ध हुई है उतनी नवीन साहित्य की परीक्षा में नहीं। इस कमी की पूर्ति आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्द-दुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० शिवदानसिंह चौहान और डॉ० रामविलास शर्मा आदि के द्वारा हुई।

चतुर्थ चरण : छायावादोत्तर युग—वैसे तो हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखक विद्वानों ने सन् १९१६ से १९३६ तक के समय को छायावादी युग कहा है, किंतु सन् ३० के लगभग कवियों की एक नई पीढ़ी का आविर्भाव होने लगता है जिसे डॉ० नगेंद्र ने छायावाद का उत्तरार्द्ध कहा है। इस नवीन पीढ़ी के कवि अधिक अहंवादी, नियति-वादी तथा अन्तर्मुखी हैं। इस धारा का आरम्भ श्री भगवतीचरण वर्मा से माना जा सकता है और इस धारा के पोषक हैं—बच्चन, अज्ञेय और अंचल। बच्चन की कवि-ताओं का तो नाम ही अलग पड़ गया—हालावाद। इस वर्ग के कवि अपने चारों ओर एक गहन अन्धकार देखते हैं, जिसे फाड़ने के लिए ये छटपटा उठते हैं। नरेन्द्र और अंचल में अपेक्षाकृत सामाजिक चेतना की तीव्रानुभूति अधिक है।

इस प्रकार की प्रवृत्ति उस समय के कथा-साहित्य में भी दृष्टिगोचर होती है। प्रेमचन्द, प्रसाद तथा उनके समवर्ती कलाकारों ने यथार्थवाद के द्वारा सामाजिक कुरूपता का दिग्दर्शन कराया, किन्तु नवीन पीढ़ी का कलाकार मनोविश्लेषण-शास्त्र से प्रभावित होकर मनुष्य के अवचेतन मन का ही चित्रण करने लगा, मानो उसके भी चारों ओर गहन अन्धकार है जो अन्तःमन की गहराइयों और गुफाओं में त्राण पाने लगा हो। वह जग की कुरूपता से इस प्रकार प्रभावित हो जाता है कि उसका कोई प्रतिकार ही उसे दिखाई नहीं पड़ता। इस प्रकार हिन्दी का एक वर्ग फ्रायड और ऑलडर की यौन-सम्बन्धी स्थापनाओं को साहित्य के चौखटों में फिट करने लगा। अस्तु ! यौन-सम्बन्धी व्याख्याओं का जो परिणाम यूरोपीय साहित्य में हुआ वही भारत में भी। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'पर्दे की रानी' और 'प्रेत की छाया' इस कोटि की रचनायें हैं। अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी' भी इसी श्रेणी का उपन्यास है।

हम देख चुके हैं कि १९३५-४० तक के काल में छायावादी कविता में ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियाँ आने लग गई थीं। नई पीढ़ी का व्यक्तिवादी कवि व्यापक लोक-मंगल की भावना, आशा और उल्लास को छोड़कर आत्मनिष्ठ और निराशावादी होने लगा था। इसी समय हिन्दी में एक नवीन प्रवृत्ति की प्रतिष्ठा हुई, जिसे प्रगतिवाद कहा गया है। प्रगतिवाद मार्क्स के दर्शन का साहित्य में व्यावहारिक पक्ष है। मार्क्स ने वर्ग संघर्ष का मूल कारण आर्थिक विषमता बताई है। अतः प्रगतिवादी साहित्य में दलित और पीड़ित वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की गई है और उसकी दीन हीन दशा का यथार्थ चित्रण है। कहीं-कहीं यथार्थवाद के नाम पर नग्नता और अश्लीलता भी आ गई हैं। इस कविता की विचारगत प्रवृत्तियाँ हैं—सामन्त शाही का विरोध, सभी प्रकार के शोषण का अन्त, अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना, सामयिक समस्याओं के प्रति सजगता, जीवन का यथार्थ चित्रण, नारी-स्वतन्त्रता तथा मानवतावाद। इस काव्य की शैलीगत विशेषतायें हैं—सरलता, व्यंग्यात्मकता, मुक्तक छन्द गीति शैली, अलंकारों के आडम्बर का बहिष्कार। कविता की इस नवीन धारा ने कलाकार को सामाजिक दायित्व के प्रति सजग किया, उसे शोषणरहित संस्कृति के निर्माण की प्रेरणा दी तथा उसे अहंवाद से मुक्त किया। इस आन्दोलन के साथ प्रेमचन्द, पन्त, निराला के नाम विशेष रूप से सम्बद्ध हैं। नई पीढ़ी के अनेक लेखक नरेन्द्र, अंचल, सुमन, दिनकर, गिरिजाकुमार माथुर इसी के अन्तर्गत हैं। काव्य की इस धारा का कथा-साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा है। यशपाल, रांगेय राघव, राहुल, भगवतशरण उपाध्याय तथा चन्द्रकिरण सौनरिक्सा की रचनायें प्रगतिवाद से प्रभावित हैं। आलोचना-क्षेत्र में रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान तथा अमृतराय मार्क्सवादी पद्धति के समीक्षक हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के काव्य की नवीनतम धारा के सम्बन्ध में डॉ० शिवदानसिंह चौहान लिखते हैं—"उत्तर छायावाद युग की दूसरी धारा हिन्दी की

वह कविता है जिसमें व्यक्तिवाद की परिणति घोर अहंवादी, स्वार्थ प्रेरित, असामाजिक, उच्छृंखल और असंतुलित मनोवृत्ति के रूप में हुई है। इस कविता का शायद अभी अन्तिम रूप से नामकरण नहीं हो पाया है, इसलिए प्रयोगवादी, प्रतीकवादी, प्रपद्यवादी या नई कविता इन अनेक नामों से इसे पुकारा जाता है······इस कविता में रागात्मक मार्ग से नये अर्थ की सृष्टि करके मानव-भावना का संस्कार और चेतना का विस्तार करने का प्रयास नहीं है, बल्कि मनुष्य के जीवन बोध को ही खंडित और विकृत बनाना इसका सहज उद्देश्य दीखता है। प्रयोगशीलता का आडम्बर तो केवल समाजद्रोही भावनाओं और जीवन के प्रति घोर अनास्था, कुंठा और विद्रूपात्मक उद्गारों को एक दुरूह संकेतात्मक भाषा, अस्वाभाविक अलंकार-योजना और अहंवादी और बहुधा ओछे तल की वचन भंगिमा में छिपाने का उपक्रम मात्र है।" विद्वान् आलोचक ने थोड़े से शब्दों में प्रयोगवादी कविता के भाव-पक्ष और कलापक्ष की मार्मिक आलोचना कर दी है। कहीं-कहीं पर प्रयोगवादी कविता में भाषा के अच्छे प्रयोग मिलते हैं, किन्तु उसका भीतर इतना खोखला है कि बाहर की सारी चमक-दमक और पालिश व्यर्थ चली जाती है।

प्रयोगवाद का आविर्भाव सन् १९४३ में तार सप्तक के प्रकाशन के साथ हुआ। इसमें सात कवियों की रचनायें संगृहीत हैं, जिनमें प्रमुख अज्ञेय जी हैं। प्रयोगवादी धारा के उल्लेखनीय कवि हैं—अज्ञेय, भगवतीप्रसाद मिश्र, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, भारत-भूषण अग्रवाल और नेमिचन्द्र जैन।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य एक शताब्दी से भी कुछ अधिक वर्षों को पार कर चुका है। इस सुदीर्घ अवधि में इसे अनेक मंजिलें पार करनी पड़ीं और कई परिवर्तन देखने पड़े, किन्तु वह निरन्तर विकासोन्मुख रहा। आधुनिक हिन्दी साहित्य अनेक बातों में अपने पूर्ववर्ती मध्यकालीन साहित्य से भिन्न है। गद्य का आविर्भाव और विकास, काव्य-रूपों की विविधता और विषय व्यापकता आधुनिक काल की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनायें हैं। भारतेन्दु-काल की देश-प्रेम की भावना परवर्ती युगों में क्रमशः विकसित होती हुई विश्व-प्रेम के रूप में परिवर्तित हो चुकी है। आधुनिक युग के साहित्य में पाई जाने वाली सामाजिक चेतना परिस्थितिवश प्रत्येक उत्थान के साहित्य में भिन्न-भिन्न रूप धारण करती रही है। आज का साहित्य जनवादी साहित्य है, इसमें जन-जीवन का हास्य-विषाद, आशा-निराशा, पतन और उत्थान अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अंकित हुए हैं। यथार्थ की अनुभूति आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है और मानवतावाद का समावेश इसका एक सुन्दर उपक्रम है। आधुनिक युग के कलाकार का मनुष्य समाज, प्रकृति और चराचर के प्रति एक अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण है जो रूढ़िबद्ध एवं सीमित न होकर उदार तथा यथार्थ के अधिक समीप है। विषय की विविधता और व्यापकता के क्षेत्र में जहाँ आज का साहित्य मध्यकालीन सामन्ती साहित्य से बहुमुखी है, वहाँ दृष्टिकोण में उससे पार्थिव भी अधिक है। धरती का रोग-रोम आज के साहित्यकार का आकर्षण बिंदु

है उसका प्रत्येक रजःकण इसके लिए मधुर है तथा प्रकाशमय है। चराचर की प्रत्येक वस्तु उसके लिए ग्राह्य है, वहं सब सार्थक और सुन्दर है। वह धरा पर स्वर्ग का आकांक्षी है और लालायित है सुन्दर से सुन्दरता और सुन्दरतर से सुन्दरतम रूप को निहारने के लिए। वह कलागत उच्चादर्शों तथा मंगलमय नूतन विधानों का इच्छुक है।

भारतेन्दु-युग में नई परम्पराओं के प्रति प्रेम और प्राचीन के प्रति मोह समान रूप से बना रहा। उस युग के साहित्यकार का दृष्टिकोण बहिर्मुखी था तथा उसमें सामाजिक चेतना उद्बुद्ध थी, किन्तु उस युग के साहित्य में प्रौढ़ता अपेक्षाकृत कम थी। भारतेन्दु-युग में गद्य के विविध रूपों—उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना और निबन्ध-साहित्य का सूत्रपात हुआ, उसमें नवीन शैलियों और कला-रूपों को गढ़ा गया, भाषा-सम्बन्धी विवाद भी चलता रहा, उस युग के गद्य का स्वरूप गोष्ठियों तक सीमित रहा। द्विवेदी-युग में इन शैलियों और साहित्य रूपों में परिमार्जन तथा विकास हुआ। साहित्य-क्षेत्र में खड़ी बोली की एक मात्र प्रतिष्ठा हुई। उपन्यास, कहानी, नाटकादि की सीमाओं का यथेष्ट विस्तार तथा विकास हुआ। भारतेन्दु-युग में बोये हुए बीज इसमें फूले और बड़े हुए और उन्हें पूर्ण यौवन प्राप्त हुआ छायावादी युग में। साहित्य की दृष्टि से यह हिन्दी-साहित्य का प्रौढ़तम युग है। द्विवेदी युग की जो कमियाँ थीं और जो आवश्यकताएँ अभी शेष थीं उनकी पूर्ति इस युग में हुई। इस युग के साहित्य की भाषा में माधुरी, कोमलता और व्यापकता आई और कविता, उपन्यास, आलोचनादि में अद्भुत विकास हुआ। इस युग का साहित्य अपने पूर्ण प्रकर्ष एवं उत्कर्ष का साहित्य है। इस युग के ह्रासोन्मुख उत्तर-वर्ती काल में कुछ नवीन प्रवृत्तियों का साहित्य में समावेश हुआ। नए कलाकार अहंवादी, निराशावादी तथा नियतिवादी बनने लगे। कुछ काल के उपरान्त प्रगतिवाद ने साहित्य को समाजवाद और मानवतावाद की विराट् भूमि पर खड़ा किया। सांस्कृतिक समन्वय का प्रयोग भी साहित्य का माध्यम इस काल में बना। आज का हिन्दी-साहित्य प्रयोगवाद के घोर व्यक्तिवाद, अहंवाद और बौद्धिकता को भी देख रहा है किन्तु प्रयोगवाद के अंधकूप से आधुनिक हिन्दी-साहित्य का निकलना निश्चित है। जिन वादों और प्रभावों से आधुनिक हिन्दी-साहित्य प्रभावित हुआ, उनमें प्रमुख हैं—समाजवाद, यथार्थवाद, मनोविश्लेषणवाद तथा विज्ञानवाद।

कुछ आलोचकों का कहना है कि आधुनिकतम हिन्दी-साहित्य के विकास में गत्यवरोध है, किन्तु हमारे विचार में गत्यवरोध शब्द नितान्त भ्रामक है। हमारा आधुनिक हिन्दी-साहित्य किसी एक स्थान पर आकर रुक नहीं गया है। जीवन की तरह साहित्य में भी कोरे ठहराव के क्षण नहीं आते। वह विकासशील होता है या ह्रासशील। "आज साहित्य में ह्रास की दशा भले हो, ठहराव की जड़ता नहीं। किन्तु स्मरण रखना होगा कि विकास के समान ह्रास भी चिरस्थायी नहीं होता।

साहित्य में आज जो ह्रासोन्मुखता है वह निःसन्देह क्षणस्थायी ही है। राष्ट्र के जीवन में इस समय जो मूल्यों का विघटन चल रहा है वह भी देर तक रहने वाला नहीं।" अस्तु !

आधुनिक हिन्दी-साहित्यकार का अपना जीवन-दर्शन और अपनी कलागत मान्यताएँ हैं। आधुनिक साहित्यकार नए जीवन-अनुभव और जगत के किनारे खड़ा होकर पुकार रहा है :—

खुल गए छन्द के बन्ध
प्रास के रजत पाश
अब गीत मुक्त,
औ युग वाणी-बहती अयास !
बन गये कलात्मक भाव,
जगत के रूप नाम,
जीवन संघर्ष देता सुख,
लगता ललाम.........!

आज के कलाकार की वाणी आडम्बर शून्य, अलंकारों के आग्रह से मुक्त, छन्दों के बन्धन से रहित और भावमय है। उसकी वाणी जन-मन के वहन के लिये जितनी चिन्तित है उतनी कविता के वाह्य उपकरणों के लिए नहीं। कवि पन्त के शब्दों में :—

तुम जनमत में वहन कर सको मेरे विचार।
वाणी मेरी चाहिए क्या तुम्हें अलंकार !

आधुनिक हिन्दी साहित्य के सिंहावलोकन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आधुनिक काल हिन्दी-साहित्य की सर्वांगीण उन्नति का युग है। इस युग ने हिन्दी की सीमाओं का विस्तार किया और साहित्य के सभी रूपों का यथेष्ट विकास किया। आधुनिक जीवन की अनेकरूपता, विविधता का इसमें सम्यक् प्रतिनिधित्व हुआ है। यह साहित्य उत्तरोत्तर विकासशील रहा है। भले ही इस में कुछ काल के लिये ह्रासोन्मुखता आ गई किन्तु वह चिरस्थायिनी नहीं है। राष्ट्र के संक्रमणशील जीवन में आज का कलाकार अपने लिए पथ-प्रशस्त करने में जुटा हुआ है और आशा है कि हिन्दी के आज के साहित्यकार का भावी साहित्य घोर व्यक्तिवाद, अहंवाद और खंडित बौद्धिकता की कुहेलिका से निकलकर ज्ञान-विज्ञान की सचेतनता को आत्मसात् करके मनुष्य के सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य जीवन को मूर्त कलात्मक अभिव्यक्ति देने वाला साहित्य होगा। हिन्दी के भावी-साहित्य में नवीन जीवन, प्रेरणाओं को व्यक्त करने के लिए कला-रूपों में प्रयोग होंगे, प्रयोग के लिए प्रयोग नहीं होंगे।

आधुनिक हिन्दी कविता का विकास एवं उनकी प्रवृत्तियां

आधुनिक हिन्दी कविता के प्रवृत्त्यात्मक विकास की दृष्टि से हम कविता को प्रमुख तीन युगों में बांट सकते हैं—(१) पूर्व छायावाद युग, जिसके अन्तर्गत भारतेन्दु और द्विवेदी युग आते हैं, (२) छायावाद युग, (३) उत्तर छायावाद युग। इस काल-विभाजन का आधार छायावाद ही है। पूर्व छायावाद युग में बहुधा जिन प्रवृत्तियों का आगमन भारतेन्दु-काल में होता है, द्विवेदी काल में वे पल्लवित और विकसित होती हैं और कदाचित् उन्हीं प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया में छायावाद का उदय होता है। छायावाद की प्रतिक्रियास्वरूप उत्तर छायावाद युग में नूतन प्रवृत्तियों का उदय होता है। अतः आधुनिक हिन्दी कविता के प्रवृत्त्यात्मक विकास में छायावाद एक प्रकार से केन्द्र बिंदु का काम देता है।

निःसन्देह आधुनिक युग गद्य का युग है, जिसमें गद्य के प्रत्येक अंग—उपन्यास, नाटक, कहानी, आलोचना और निबन्ध आदि—की अद्भुत उन्नति हुई है। प्राचीन काल में पद्य-साहित्य, गद्य-साहित्य से कई गुना अधिक हुआ करता था। अतः गद्य-साहित्य पद्य-साहित्य से सैकड़ों गुना अधिक हो गया है, परन्तु अब भी साहित्य में गद्य की अपेक्षा पद्य का महत्व अधिक है। साहित्यिक रूपों की दृष्टि से गद्य साहित्य पद्य-साहित्य से आगे है, परन्तु यदि साहित्य की महत्ता उदात्त भावों, प्रभावोत्पादकता और हृदय की सत्यता पर निर्भर है तो यह युग कविता का युग कहा जा सकता है।

(क) पूर्व छायावाद युग : भारतेन्दु काल—यह काल आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रवेश द्वार है। प्रवृत्त्यात्मक दृष्टि से हम इसे संधि-युग भी कह सकते हैं। इस काल में जहां कविता सम्बन्धी नवीन विषयों का ग्रहण हुआ, वहाँ कविता की पुरानी परम्परा का संरक्षण भी हुआ—भाव-क्षेत्र और कला-क्षेत्र दोनों में। इस समय के लेखकों की स्वभावगत सामंजस्यता, जो कि तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की उपज थी, कविता क्षेत्र में भी प्रतिफलित हुई। इस युग के साहित्यकार कवि की अपेक्षा समाज-सुधारक, प्रचारक और पत्रकार अधिक थे। परिणामतः इन्होंने अपने-अपने पत्र-पत्रिकाओं में हिन्दू-समाज में प्रचलित कुरीतियों, धार्मिक मिथ्याचार, छल-कपट, अमीरों की स्वार्थपरता, पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगे हुए शिक्षित वर्ग की कटु-आलोचना, पुलिस और कर्मचारियों की लूट-खसोट, अदालतों में प्रचलित अन्याय-अनीति, उर्दू के प्रति सरकार का पक्षपात, देश की सामान्य दुरवस्था, अकाल-महामारी के प्रकोप, अंग्रेजी शासन के आर्थिक शोषण आदि नवीन विषयों का समावेश किया। एक सुधारक एवं प्रचारक पत्रकार के लिए ऐसा करना स्वाभाविक भी था, क्योंकि उसे सामयिक प्रश्नों और समस्याओं के प्रति समाज को जागरूक करना था। इन नवीन उपादानों के ग्रहण का बहुत कुछ क्षेत्र तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक चेतना को है। दूसरी ओर भारतेन्दु-कालीन कविता में रीतिकालीन शृंगारी परम्परा का भी निर्वाह होता रहा। उसमें नैतिक और धार्मिक कविता की धारा का भी

विकास हुआ। एक ओर तो इस काल के कवि ने राधा और कृष्ण भक्ति के मधुर प्रेम से सिक्त हृदयहारी पदों की सृष्टि की तो दूसरी ओर उपदेशात्मक सूक्तिमय काव्य का भी निर्माण किया और इनके साथ रीतिकालीन परिपाटी—नायिका के हाव-भावों का चित्रण तथा नख-शिख-वर्णन के प्रति आग्रह भी दिखाया। आचार्य शुक्ल के भारतेन्दु के प्रति कहे गए शब्द लगभग उस समय के समस्त काव्य पर चरितार्थ होते हैं—"अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते हैं, दूसरी ओर बंग देश के माइकेल और हेमचंद की श्रेणी में। एक ओर तो राधा-कृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्तमाल गूँथते हुए दिखाई देते थे, दूसरी ओर मन्दिरों के अधिकारियों और टीका-धारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे। प्राचीन और नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें संदेह नहीं।" भारतेन्दु हरिश्चंद्र में युग-परिवर्तन, युग-प्रवर्तन, युग-नियमन और युग-नेतृत्व की पूर्ण क्षमता थी। उनकी आधुनिकता विदेशी प्रभावों को आत्मसात् करती हुई भारतीयता के रंग में पूर्णतः सराबोर थी। उनके युग का साहित्य तत्कालीन भारतीय जनता के लिए जितना स्फूर्ति और प्रेरणादायक, आह्लादक, चरित्र निर्माणक तथा राष्ट्रीयता की भावनाओं का संचारक और उद्घोषक था वह आज के भारत के लिए भी उतना ही उपयोगी है। डॉ० गणिपतिचंद्र के शब्दों में—'युग-प्रवर्त्तन एवं युग का नेतृत्व करने के लिए केवल नए युग का ज्ञान या बोध पर्याप्त नहीं है, उस ज्ञान या बोध को सच्ची अनुभूति एवं सहज अभिव्यक्ति के माध्यम से जन-साधारण के हृदय तक पहुंचा देने की क्षमता भी अपेक्षित है। निःसंदेह, भारतेन्दु हरिचंद्र में यह क्षमता थी और इसी के बल पर वे अपने युग को सच्चा एवं सफल नेतृत्व प्रदान कर सके, ऐसा हमारा विश्वास है।'

सच तो यह है कि युग के सम्यर्क प्रवर्तन और उसके सुनियमन की जो अद्भुत क्षमता भारतेन्दु जी में थी वह कदाचित् आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी में नहीं थी। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की अपेक्षाकृत अधिक कठोरता के कारण साहित्य के विविधमुखी यथेष्ट-विकास की गति को धक्का भी पहुंचा, जबकि भारतेन्दु जी से उसे अधिकाधिक प्रोत्साहन, प्रश्रय और पोषण मिले। भारतेन्दु जी प्रथम कोटि के कलाकार थे, अतः उन्होंने अपने युग में साहित्य की प्रत्येक विधा का अपेक्षित दिशा में स्वस्थ मार्ग दर्शन भी किया, जबकि द्विवेदी जी द्वितीय कोटि के साहित्यकार थे और उन्होंने अपनी समर्थता का परिचय अधिकांशतः संपादन में दिया। द्विवेदी युग के अन्य साहित्यकारों ने द्विवेदी जी की अपेक्षा साहित्य-सृजन में निश्चय से अधिक योग दिया है। भारतेन्दु जी अपने युग में साहित्य आकाश पर पूर्णतः छाए रहे और वे समान रूप से साहित्य और जनता का सफल नेतृत्व करते रहे। डॉ० रामविलास के शब्दों में 'भारतेन्दु युग की विशेषता यह रही है कि समस्त युग के साहित्याकाश में भारतेन्दु जी छाए रहे। उनकी

प्रेरणा से पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं, उनके संकेत पर अनेक लिखने लगे, तत्कालीन युवक और साहित्यिक अभिरुचि के व्यक्तियों के लिए वह प्रेरणा के स्रोत थे और उन की इच्छा के विरुद्ध न किसी ने कुछ कहा और न लिखा। जो व्यक्ति साहित्यिक दृष्टि से उनके विरोधी थे जनता ने उनको अपना विरोधी माना। इनकी प्रेरणा से अनेक साहित्यिक संस्थाएँ अस्तित्व में आईं और हिन्दी जगत में राष्ट्रीय सांस्कृतिक वातावरण उत्पन्न हुआ।'

भारतेन्दु कालीन कविता की जिन गतिविधियों का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे प्रायः तत्कालीन गुजराती साहित्य में पाई जाती हैं। गुजराती साहित्य में भी शृंगार-नीति और भक्ति की परम्परा पहले से चली आ रही थी और इसका निर्वाह उन्नीसवीं शती के साहित्य में हुआ। पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क से गुजराती साहित्य में इस समय प्रायः उन्हीं नवीन विषयों का समावेश हुआ जिनका कि भारतेन्दु काल में। हिन्दी साहित्य में जो स्थान भारतेन्दु हरिश्चंद्र का है, वही स्थान गुजराती साहित्य में नर्वदाशंकर का। इन दोनों साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युगीन कविता साहित्य में उसकी पूर्ण सूचना मिलती है। ये लेखक यथार्थता के काफी निकट थे। भारतेन्दु-काव्य उस युग की चेतना की प्रतिध्वनि ही नहीं, बल्कि उसका प्रतिनिधित्व भी करता है। युग की गतिविधियों और आवश्यकताओं के कारण तत्कालीन कविता में यथार्थवादिता का समावेश हुआ, किन्तु उसमें आदर्शवादिता का भी सहज में समावेश हो गया। जहाँ इन्होंने भारत की दयनीय सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक दशा पर करुण क्रन्दन किया वहाँ प्राचीन भारत के गौरव, संस्कृति की उच्चता और राजनीतिक गरिमा का उच्च राग भी अलापा। उन कवियों को इस बात का क्षोभ है कि देशवासी अपने प्राचीन उज्ज्वल आदर्शों को भूल बैठे हैं। इनकी वर्तमानप्रियता में यथार्थता है और प्राचीनप्रियता में आदर्शवादिता।

भारतेन्दु कालीन कविता के विकास में भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदत्त और बद्रीनारायण चौधरी का नाम उल्लेखनीय है। इन सभी कवियों की वाणी में देश-भक्ति और राजभक्ति का स्वर ऊँचा है। भारतेन्दु ने 'भारत दुर्दशा' और 'नीलदेवी' नामक नाटकों के गीतों में तथा अन्य स्वतन्त्र कविताओं में भारत की हीन दशा का वर्णन किया है—'आवहु सब मिलि रोवहु भाई, भारत दुर्दशा न देखी जाई।' इनकी कविता में कहीं देश के अतीत गौरव की गर्वगाथा, कहीं वर्तमान अधोगति की क्षोभभरी वेदना, कहीं भविष्य की भावना से जगी हुई चिंता, कहीं भक्ति के पद, कहीं शृंगार रस के कवित्त और सवैये, कहीं उपदेश और सूक्तियाँ, तो कहीं उत्सव-वर्णन हैं। भारतेन्दु जी ने हिन्दी कविता को नवीन विषयों की ओर अग्रसर किया, किन्तु उसमें किसी नवीन विधान या प्रणाली का सूत्रपात नहीं किया। दूसरे,

प्रकृति-वर्णन के प्रसंगों में उनका मन जितना नर-प्रकृति के वर्णन में रमा है उतना वाह्य प्रकृति के वर्णन में नहीं। उनके गंगा-वर्णन में नागरिकता की अधिकता है, प्रकृति के सहज सौष्ठव की झाँकी कम।

भारतेन्दु जी स्वयं पद्यात्मक निबन्धों की ओर प्रवृत्त नहीं हुए, किंतु उनके अनुयायी प्रतापनारायण मिश्र इस ओर अधिक बढ़े। इन्होंने देशभक्ति और राजभक्ति के विषयों के अतिरिक्त बुढ़ापा और गो-रक्षादि विषय अपनी कविता के लिए चुने। इनकी कविता में भाव-व्यंजना के साथ हास्य, व्यंग्य और बिनोद भी हैं। इनके कुछ पद्य इतिवृत्तात्मक भी हैं। कदाचित् इस काल की इतिवृत्तात्मकता आगे चलकर द्विवेदी काल में अधिक पुष्ट और बिकसित हुई, जिसकी प्रतिक्रिया में छायावादी कविता का आविर्भाव हुआ। मिश्र जी की 'हर गंगा', 'तृप्यंताम्', 'बुढ़ापा' आदि कविताएँ बहुत ही मनोरंजक बन पड़ी हैं। इनकी 'हिन्दी की हिमायत' नामक कविता भी बहुत प्रसिद्ध हुई।

उपाध्याय और प्रेमघन ने अपने समकालीन कवियों के विषयों के अतिरिक्त विशेष उत्सवों और अवसरों पर आनन्द प्रकट करने के लिए प्रशस्तियाँ लिखीं। देश की राजनीतिक दशा, धार्मिक और सामाजिक दशा पर इन लोगों का सदा ध्यान बना रहा। कुछ आलोचकों ने भारतेन्दुकालीन प्रशस्तिमयी कविताओं, जिनमें ब्रिटिश शासन की प्रशंसा की गई है, में चाटुकारिता का दोष लगाया है और उस समय के कवि की देशभक्ति पर संदेह प्रकट किया है, किंतु वस्तुस्थिति कुछ और है। ऐसी प्रशस्तियों में भी कवियों ने देश-दशा का मार्मिकतापूर्ण सिंहावलोकन किया है जिसमें कवि की निर्भीकता टपकती है और दूसरे, उस युग में देश-भक्ति और राजभक्ति को एक दूसरे से अभिन्न समझा गया। तत्कालीन राजनीति का स्वरूप भी ऐसा ही था। अतः इसके लिए उस समय के कवि को दोषी नहीं ठहराया जा सकता है।

अम्बिकादत्त व्यास ने नवीन और प्राचीन दोनों विषयों पर फुटकर कविताएँ लिखीं, जो कि उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में निकलीं, परन्तु उन्हें इस दिशा में विशेष सफलता नहीं मिली।

ठाकुर जगमोहनसिंह ने नवीन विषयों पर कविताएँ न लिखकर प्राचीन संस्कृत काव्यों के प्राकृतिक वर्णनों के अनुकरण पर विंध्यप्रदेश के रमणीय स्थलों का सुन्दर वर्णन किया, परन्तु उस समय हिन्दी काव्य का ध्यान इस ओर न गया। बाद में भारतेन्दु और द्विवेदी-युग की कड़ी श्रीधर पाठक में ऐसे प्राकृतिक वर्णनों के प्रति अनुराग दिखाई पड़ा।

इस युग में कविता-क्षेत्र में ब्रजभाषा का प्रयोग होता रहा और गद्य-क्षेत्र में खड़ी बोली का। भारतेन्दु तथा उस काल के कुछ अन्य कवियों ने खड़ी बोली में भी पद्य रचना करनी चाही, किंतु वे सफल नहीं हो पाए, निर्जीव तुकबंदियाँ ही बन पड़ी

हैं। ब्रजभाषा में अपेक्षाकृत इनकी कविताएँ मार्मिक बन पड़ी हैं। ब्रजभाषा या खड़ी बोली में भारतेन्दुकालीन लेखकों ने सामयिक विषयों पर जो पद्यात्मक रचनाएँ लिखीं उन्हें कविता की कोटि में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि उनमें राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विचारों को ज्यों-का-त्यों छंद-बद्ध करके रखने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। उनमें कोई मार्मिक अनुभूति और कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं है। केवल तुकबन्दी कविता नहीं कहला सकती है।

भारतेन्दु-कालीन काव्य में भाव, भाषा और छंद सभी में प्राचीनता का परिष्कार और नवीनता का समावेश हुआ। छंदों के क्षेत्र में जहाँ अधिकतर कवित्त, सवैया दोहा और छप्पय का बाहुल्य था वहां इन लेखकों ने साहित्यक्षेत्र के बाहर के छंदों को अपनाया। इन्होंने लोक-प्रचलित गीतों—लावनी, कजली आदि—को साहित्य में स्थान दिया। इस युग के कुछ कवियों ने संस्कृत के वर्णवृत्तों का भी व्यवहार किया। इस प्रकार छंदों में व्यापकता और विविधता का समावेश हुआ।

डॉ॰ रामविलास शर्मा भारतेन्दु युग का साहित्यिक मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं 'प्रथम उत्थान नव युग का आरंभ मात्र था। इसलिए हमें इस समय की कविता में उस कलात्मकता के दर्शन नहीं होते जो कालांतर में सतत परिश्रम से प्रकट हुई। काव्य-विषयों के सर्वथा नवीन होने के कारण इनकी काव्यपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए समय की आवश्यकता थी।' हमारे बिचारानुसार विषय संबंधी नवीनता काव्यात्मक अभिव्यक्ति में किसी प्रकार से बाधिका नहीं हुआ करती। काव्यात्मक अभिव्यक्ति अनुभूति की गहनता पर निर्भर करती है। गालिब, दाग, हाली, अकबर इलाहाबादी, माइकेल, मधुसूदन, हेमचन्द्र तथा नवीनचन्द्र तथा रवीन्द्र ठाकुर इन सब की कला का विकास प्रायः भारतेन्दु के समय में, जो कि संक्रांति काल था, हुआ। विषय-सम्बन्धी नवीनता तो उन सबके लिए भी वैसी ही थी। सच तो यह है कि भारतेन्दु-काल के लेखक प्रधानतः पत्रकार, सुधारक और प्रचारक थे, कवि और साहित्यिक कम। उनमें अनुभूति की गहनता और विचारों की परिपक्वता की अपेक्षाकृत कमी थी। कवि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा भाषा-सम्बन्धी समस्याओं में इतने व्यस्त थे कि नवीन विचारों की काव्यपूर्ण सम्यक् अभिव्यक्ति नहीं कर सके। इस समय की रचनाओं का व्याख्यात्मक महत्त्व अधिक है, साहित्यिक महत्त्व कम। भारतेन्दु काव्य साहित्यिक महत्ता के लिए इतना विख्यात नहीं, जितना कि जनता के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में गतिशीलता लाने के लिए। इस समय की अधिकांश रचनाएं न तो अधिक सरस हैं और न ही साहित्यिक, किन्तु इस समय की सभी रचनाएँ साहित्यिक महत्त्व से शून्य हों ऐसी बात भी नहीं है। भारतेन्दु, प्रेमघन तथा बालमुकुन्द गुप्त की देश-भक्ति से परिपूर्ण रचनाएँ काफी अच्छी और सरस बन पड़ी हैं। डॉ॰ केसरीनारायण शुक्ल के शब्दों में "इससे यह न समझ लेना चाहिए कि कवियों के उद्गारों में भावानुभूति की सरासर कमी है, इन उद्गारों में अनुभूति की

सत्यता भी निःसन्देह है। भारतेन्दु-युग के कवियों को अपने कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व का पूर्ण ज्ञान है। इन कवियों ने अपनी अनुभूति का सच्चा वर्णन किया है। तत्कालीन जीवन में डूबकर इन्होंने अपने अनुभवों का निर्भय होकर वर्णन किया है। कटु सत्यों का वर्णन करने में भी ये कवि चूके नहीं। इन कवियों ने अपने समय का यथार्थ चित्र खींचा है। इन कवियों का नैतिक साहस, भावानुभूति की सच्चाई तथा सत्य प्रेम अत्यन्त प्रशंसनीय हैं। इनका साहित्य पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इससे साहित्य में समय तथा वास्तविकता का समावेश हुआ। इसी यथार्थवादिता तथा वास्तविकता के प्रेम से प्रेरित होकर कवियों ने पुस्तकों से अधिक जीवन से उत्साह तथा स्फूर्ति प्राप्त की और इस प्रकार जीवन और साहित्य का निकट सम्बन्ध स्थापित किया।" भारतेन्दु युग की कविता का महत्त्व जीवन तथा साहित्य के अनुशीलन की दृष्टि से है।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम नीचे की पंक्तियों में भारतेन्दु-कालीन कविता की भावगत एवं शैलीगत प्रमुख प्रवृत्तियों का अत्यन्त संक्षेप में विवेचन करेंगे—

(१) **देश-भक्ति**—उस युग की राजनीति के अनुरूप हिन्दी-कविता में भी देशभक्ति और राजभक्ति एकत्र चलती रही हैं। भारतेन्दु की नीचे की पंक्तियों में विदेशी शासन के प्रति रोष और तोष दोनों हैं—

> **अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।**
> **पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥**

देश के राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक अधःपतन को देखकर इन्होंने अतीत का गौरव गान करके उसके उन्नयन की चेष्टा की। इनकी देशभक्ति में किसी प्रकार की चाटुकारिता नहीं। जहाँ अंग्रेजों की प्रशंसा है, वहाँ देश की दशा का मार्मिक सिंहावलोकन भी है—

> **भीतर भीतर सब रस चूस, बाहर से तन मन धन मूसे।**
> **जाहिर बातन में अति तेज क्यों सखि ! साजन, नहिं अंगरेज।**

इनकी कविता में विदेशी वस्तुओं के व्यवहार पर क्षोभ प्रकट किया गया है। देश की जागृति के लिए ईश से बार-बार वन्दना की है। कुछ आलोचकों ने इस काल की राष्ट्रीयता पर साम्प्रदायिकता का दोष लगाया है, "उनका देश प्रेम एक ओर हिन्दू पुनरुत्थानवाद की मुस्लिम-विरोधी साम्प्रदायिकता में तो दूसरी ओर राज भक्ति की अवसरवादिता के संकीर्ण घेरे में ही अन्त तक चक्कर काटता रहा।" इन कवियों की जातीयता या पुनरुत्थानवाद में मुस्लिम जाति के अहित एवं विरोध का कहीं भी समावेश नहीं और फिर उस समय राष्ट्रीयता का स्वरूप भी इतना व्यापक नहीं था।

(२) **प्राचीनता तथा नवीनता का समन्वय**—इस कविता में जहाँ देश-प्रेम तथा समाज सुधार आदि नवीन विषयों का समावेश हुआ, वहाँ भाषा, भाव और छन्द की दृष्टि से यह युग सामंजस्य का युग है। इस काल के कवियों ने पुराने भक्त कवियों के समान पद भी लिखे, लीलादि का गान भी किया और रीतिकालीन कवि के समान नायिका के नख-शिख का वर्णन भी किया। इस काल में सूक्ति और उपदेश पद्धति पर भी काव्य-सृष्टि हुई।

(३) **जन-जीवन का चित्रण** - रीतिकालीन काव्य राजाश्रय में पुष्ट हुआ, जबकि भारतेन्दु-युग का काव्य जन-जीवन की क्रोड़ में पला। इस कविता की जन-वादी प्रवृत्ति समाज-सुधार में निहित है। यह कविता केवल राजनीतिक स्वाधीनता का साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाई-चारे का साहित्य है। इसमें सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक मिथ्याचार, छल-कपट, अमीरों की स्वार्थपरता, पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगे हुए शिक्षित वर्ग पर व्यंग्य, पुलिस और कर्मचारियों की लूट-खसोट, अदालतों में प्रचलित अनीति, देश की सामान्य दुर्दशा, अकाल महा-मारी के प्रकोप, अंग्रेजों के आर्थिक शोषण और नाना सामयिक प्रश्नों द्वारा जन-जीवन को प्रेरित और जाग्रत किया गया है। कविता में इस यथार्थ चित्रण के साथ प्राचीन संस्कृति के गौरव का आदर्श भी साथ-साथ चलता रहा है।

(४) **इस काल में प्रकृति चित्रण की पद्धति**—परम्परा-भुक्त रही है। ये लोग नर प्रकृति के वर्णन में अधिक रमे हैं, बाह्य प्रकृति के वर्णन में नहीं। ठाकुर जगमोहनसिंह ने प्रकृति के वर्णन की जिस शैली का श्रीगणेश किया उसकी ओर उस युग के काव्य ने नहीं देखा। इनके प्रकृति-वर्णन में संवेदनशीलता का अभाव है और नागरिकता की बहुलता।

(५) **इतिवृत्तात्मकता**—इस काल में कवियों ने विभिन्न सामयिक विषयों पर फुटकर पद एवं कविताएँ लिखीं, जिनमें विचार और अनुभूति की गहनता नहीं। कहीं-कहीं तो मात्र तुकवन्दी का प्रयास दृष्टिगोचर होता है, जिसे कविता की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। प्रतापनारायण मिश्र ने पद्यात्मक निवन्ध लिखे और दूसरे कवियों ने बहुत-सी ऐसी उपदेशात्मक और सुधारात्मक कविताएँ लिखीं जिनमें केवल-मात्र इतिवृत्तात्मकता है जो कि द्विवेदी काल में और अधिक वृद्धि को प्राप्त हुई जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप छायावाद का जन्म हुआ।

(६) **भाषा** कविता क्षेत्र में ब्रजभाषा का व्यवहार हुआ और गद्य-क्षेत्र में खड़ी बोली का। इस काल में भाषा-सम्बन्धी जो महान् विवाद खड़ा हुआ उसका अन्तिम निर्णय द्विवेदी-युग में हुआ। इस काल में खड़ी बोली में रचित कविताएं निर्जीव और नीरस हैं।

(७) **छन्द**—परम्परा से चले आते हुए सवैया, रोला, छप्पय, कवित्त आदि

छन्दों के अतिरिक्त इस कविता में लोग प्रचलित छन्दों—लावनी, कजली आदि—का भी प्रयोग हुआ। कुछ कवियों ने संस्कृत के वर्णवृत्तों का भी प्रयोग किया। किन्तु इस क्षेत्र में इस काल में कोई स्वतन्त्र एवं नवीन प्रयास दिखाई नहीं पड़ता। हां, एक बात अवश्य है कि उस समय की कविता में नवीन छन्दों का अभाव खटकता नहीं है।

(८) **साहित्यिक मूल्य**—भारतेन्दु और उनके मंडल के लेखक प्रधानतः देश-प्रेमी पत्रकार और प्रचारक अधिक हैं कवि और साहित्यकार कम। उनमें विचारों और अनुभूति की गहनता की अपेक्षाकृत कमी है और यही कारण है कि उस कविता में कलात्मक अभिव्यक्ति का अभाव है। इस काल की अधिकांश रचनाएँ न तो अधिक सरस हैं और न ही साहित्यिक, किन्तु भारतेन्दु, प्रेमघन और बालमुकुन्द गुप्त की रचनाएँ काफी सरस और मधुर हैं। भारतेन्दु काल की कविता का महत्त्व जीवन और साहित्य के अनुशीलन की दृष्टि से है। इन कवियों को अपने कर्त्तव्यों तथा दायित्व का पूर्ण ध्यान है। इन्हों तत्कालीन जीवन में डूबकर अपने कटु अनुभवों और सत्यों का निर्भीकतापूर्वक वर्णन किया। इस काल में कविता और जीवन के निकट का सम्बन्ध स्थापित हुआ, और यही इस कविता का महत्त्व है।

द्विवेदी युग की कविता (पूर्व छायावाद युग)

इस परिवर्तन-युग के सबसे महान् युग के प्रवर्त्तक पुरुष एवं नायक महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। इस युग का कोई भी साहित्यिक आन्दोलन गद्य अथवा पद्य का ऐसा नहीं जो कि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इनसे प्रभावित न हुआ हो। साहित्यिक दृष्टि से इनके कृतित्व का भले ही महत्त्व न हो पर उसका ऐतिहासिक महत्व अक्षुण्ण है। महावीरप्रसाद द्विवेदी और सब कुछ थे, किन्तु कवि थोड़े-थोड़े थे। साहित्यिक दृष्टि से वे एक सफल अनुवादक और पत्रकार थे। उनकी मौलिक रचनाओं का महत्त्व नहीं किन्तु वे एक महान् शक्ति के प्रतीक थे, जिन्होंने साहित्य की प्रत्येक विधा में अद्भुत बल प्रदान किया। द्विवेदी जी के समान उनकी सरस्वती भी अपने आप में एक संस्था थी। उन्होंने अपनी 'सरस्वती' के द्वारा नये कवि और लेखक पैदा किए, उनकी गद्य-शैली और भाषा का संस्कार किया। उन्होंने भाषा की अस्थिरता दूर करके तथा उसका व्याकरण शुद्ध करके उसे एक स्थिर रूप तथा व्याकरण दिया। विभक्तियों के प्रचार और पेराग्राफ-पद्धति के प्रसार का श्रेय उन्हीं को है। गद्य-लेखक व्याकरण की भूलों, विषय-प्रतिपादन की शिथिलता और अव्यवस्था पर ध्यान नहीं देते थे। कवि लोग खड़ी बोली में ब्रजभाषा और अवधी भाषा के शब्दों तथा क्रियाओं का मनमाना प्रयोग कर देते थे। उन्होंने भाषा संस्कार का आन्दोलन छेड़ा और इस कार्य में कामताप्रसाद गुरु, गौरीशंकर मिश्र तथा चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने सक्रिय सहयोग दिया। उन्होंने विषयानुरूप गद्य-शैली का आदर्श स्थापित किया। कविता-क्षेत्र में उन्होंने कोई नया आदर्श सामने नहीं रखा। श्रीधर

पाठक ने इतिवृत्तात्मक शैली का प्रयोग किया था, हालांकि उनकी प्रवृत्ति स्वच्छन्दतावादी थी। द्विवेदी जी ने इसी शैली को प्रोत्साहन दिया। बंगला की कोमल-कान्त पदावली की अपेक्षा मराठी की इतिवृत्तात्मक शैली द्विवेदी जी के मन के अधिक अनुकूल थी। द्विवेदी जी की अपनी कविताओं का कोई खास महत्त्व नहीं, किन्तु इनके सम्पादक-काल में जिन हिन्दी कवियों का उदय हुआ उनमें निश्चित रूप से हिन्दी कविता गौरवान्वित तथा महिमाशालिनी बनी।

द्विवेदी-युग में राष्ट्रीय काव्य की जो आशातीत अभिवृद्धि हुई, उसका हेतु द्विवेदीजी नहोकर उस युग के अन्य प्रतिभा-संपन्न साहित्यकार हैं। हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि द्विवेदी जी का महत्त्व जितना ऐतिहासिक है उतना साहित्यिक नहीं। आलोचना, निबन्ध, कविता तथा पत्रकारिता आदि के क्षेत्रों में उनका केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही समझना चाहिए। यही कारण है कि डॉ० नगेन्द्र ने उन्हें द्वितीय कोटि का कलाकार कहा है। साहित्य की उपर्युक्त विधाओं में उस के अन्य प्रतिभावान साहित्य स्रष्टाओं ने निश्चयतः द्विवेदी जी की अपेक्षा अधिक मूल्यवान योग दिया द्विवेदी जी के अपेक्षाकृत अधिक कठोर व्यक्तित्व के कारण साहित्य के विकास को कदाचित् किंचित आघात भी पहुँचा। भाषा में अन्तर्विरोध की समाप्ति उसके परिमार्जन तथा शैली निर्माण के कारण आचार्य के रूप में उनका महत्त्व निःसंदिग्ध है।

भारतेन्दु काल जन-जागरण का प्रारम्भिक काल था। उस समय जनता के सामने राष्ट्रीयता का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया था। द्विवेदी काल में राष्ट्रीय भावना और आदर्श की रूपरेखा बिल्कुल साफ हो गई थी। अब तक स्वामी दयानन्द ने धार्मिक दृष्टि से भारतीय गौरव की स्थापना कर दी थी। संस्कृत-साहित्य के अध्ययन और पुरातत्त्व की खोजों से भारत का महत्त्व विदेशों में बढ़ चुका था। अब भारतीय हीन भावना के स्थान पर भारतीयता के महत्त्व का अनुभव करने लगे थे। फलस्वरूप इस काल में प्राचीन संस्कृति का पुनर्जागरण हुआ। प्राचीन संगीत, चित्र तथा स्थापत्य कलाओं की पुनः प्रतिष्ठा हुई। भारतखंडे ने संगीत के क्षेत्र में, तथा अवनीन्द्रनाथ ठाकुर एवं रवि वर्मा ने चित्रकला के क्षेत्र में, इस जागरण में विशेष भाग लिया। कुमार स्वामी ने भारतीय प्राचीन कथाओं का मूल्यांकन संसार के सामने नवीन दृष्टिकोण से रखा। इस राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ हिन्दी तथा हिन्दू का गौरव बढ़ा। अपने आपको भारतीय कहलाना उस समय एक गौरव की बात समझी गई। इस भावना को तत्कालीन साहित्य में अनेक प्रकार की अभिव्यक्ति मिली। भारतेन्दु काल में रूढ़ियों का विरोध करना सुधार तक सीमित था परन्तु अब साहित्य में नाना आदर्शों की सृष्टि हुई और उसमें एक स्वच्छन्द भावना का विकास होने लगा। परम्परा को छोड़कर साहित्य में पौराणिक तथा ऐतिहासिक घटनाओं और चरित्रों को राष्ट्रीय आदर्श-भावना की दृष्टि से उपन्यस्त किया जाने

लगा। साहित्य में ऐसे भावों को स्थान मिला जो शताब्दियों से उपेक्षित थे। अब साहित्य में मध्यवर्ग के साथ-साथ निम्न वर्ग—किसान, पीड़ित एवं दलितों का चित्रण होने लगा। समाज से भी देश-प्रेमी नायकों को चुन लिया गया। राष्ट्रीय पुनर्जागरण के आन्दोलन का देश और उसके साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा। यही कारण है कि इस साहित्य में मानसिक हलचल और जागरूकता तो है पर साहित्यिक प्रौढ़ता उतनी नहीं जितनी कि अपेक्षित थी।

द्विवेदी काल के साहित्य में अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से स्वच्छन्द भावना का विकास हुआ। भारतेन्दु काल के सुधारात्मक आन्दोलनों से प्रेरणा प्राप्त करके अब काव्य में जीवन का अधिक व्यापक चित्रण होने लगा। इस काल के साहित्य में प्राचीन रूढ़ियों और निरर्थक परम्पराओं के प्रतिरोध की भावना है। रीतिकाल की शृंगार-भावना, जो भारतेन्दु-काल में जिस किसी रूप में चलती रही, का इस काल के साहित्य में सर्वथा बहिष्कार कर दिया गया। साहित्य की प्रत्येक विधा में नैतिकता का साम्राज्य स्थापित होने लगा। अब कवियों की दृष्टि जीवन के नवीन मूल्यों और आदर्शों के प्रति उन्मुख हुई। गुप्त, उपाध्याय, पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय तथा सियारामशरण गुप्त ने प्राचीन पौराणिक तथा ऐतिहासिक पात्रों की सृष्टि बुद्धिवादी युग के आदर्शों के अनुरूप की। इस काल का अधिकांश काव्य वर्णनात्मक तथा प्रबन्धात्मक है। इस काल के कवि का दृष्टिकोण जीवन तथा प्रकृति के प्रति बदल चुका था। इसी कारण इस काल के काव्य में स्वच्छन्द भावना के दर्शन हुए। डॉ० कृष्णलाल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"यह स्वच्छन्दतावादी काव्य की सैद्धान्तिक भूमिका मात्र तैयार हुई थी। इसका कलात्मक पक्ष आगे के छायावादी काव्य के युग में विकसित हुआ। १९१२ ई० के बाद छायावादी व्यक्तिपरक गीतियों का काल आरम्भ होता है जिसमें कला की दृष्टि से स्वच्छन्दतावाद के अनेक तत्त्व पाए जाते हैं। इस काव्य के साथ स्वतन्त्र स्वच्छन्दतावादी भाव-धारा के विशेषकर प्रेम तथा प्रकृति के काव्य भी आधुनिक युग के उत्तरार्द्ध में हुए हैं। परन्तु भाषा, छन्द तथा अन्य साहित्यिक परम्पराओं तथा रूढ़ियों से मुक्त होकर उन्मुक्त स्वच्छन्दतावाद का जो रूप हमको आधुनिक युग के मध्य काल (द्विवेदी काल) में श्रीधर पाठक तथा रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों में मिलने लगा, वह स्वतन्त्र रूप से आगे विकसित न हो सका।"

द्विवेदी युग में इतिवृत्तात्मक कविता की एक निश्चित परिपाटी चलती रही। जिसमें बँधकर प्रायः सभी कवियों ने रचनाएँ कीं। इन लोगों की इतिवृत्तात्मक, पद्य-प्रबन्धों, मुक्तकों तथा खंड-काव्यों की रचनाएँ प्रथम युद्ध के अन्त तक होती रहीं। इस युग के अधिकांश कवि छायावादी युग में लिखते रहे, परन्तु उनकी वर्णनप्रधान इतिवृत्तात्मक रचनाएँ छायावाद की पूर्वगामिनी ही समझनी चाहिए, यद्यपि उनमें स्वच्छन्दतावादी कविता के पूर्व चिह्न अवश्य प्रकट हो गए थे। इस दृष्टि से श्रीधर

पाठक, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी आदि छायावादी युग की आदि कड़ी ठहरते हैं।

श्रीधर पाठक (१८५६-१६२२ ई०) ने लावनी की शैली पर हिन्दी में अंग्रेजी के स्वच्छन्दवादी कवि गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' के आधार पर "एकान्तवासी योगी" नाम से अनुवाद किया फिर 'श्रान्तपथिक' के नाम से गोल्डस्मिथ के 'ट्रेवलर' का अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने लौंगफेलो और पारनेल की कृतियों का अनुवाद भी किया। इसके साथ-साथ उन्होंने हिन्दी में स्वतन्त्र प्रकृति वर्णन की परिपाटी का प्रवर्तन भी किया। रीतिकाल का प्रकृति-वर्णन परम्परायुक्त था और उसमें प्रकृति का सर्वत्र उद्दीपन रूप में ग्रहण हुआ था, किन्तु इन्होंने खड़ी बोली और व्रजभाषा दोनों में स्वतन्त्र रूप से प्रकृति का वर्णन किया। इन्होंने व्रजभाषा में कालिदास के 'ऋतु-संहार' का सरस अनुवाद प्रस्तुत किया और इसी ही भाषा में गोल्डस्मिथ के 'Deserted Village' का 'उजड़ा ग्राम' के नाम से अनुवाद किया। काश्मीर सुषमा, देहरादून और भारत गीत इनकी देश-प्रेम से सम्बन्धित कविताएँ हैं। यहाँ पाठक के सम्मुख सहज में ही एक प्रश्न खड़ा हो जाता है कि श्रीधर पाठक ने अनुवाद के लिए कालिदास और गोल्डस्मिथ को ही क्यों चुना? कारण स्पष्ट है, स्मिथ १८ वीं शती के अंग्रेजी साहित्य के उन महान् लेखकों में से हैं जिन्होंने स्वच्छन्दतावाद और यथार्थवाद, साहित्य की इन दोनों धाराओं को गतिशील बनाया। दूसरी ओर गोल्डस्मिथ की कविताओं में उसकी आत्मा भी झलकती है। कवि को कृत्रिम नागरिक जीवन की सभ्यता की अपेक्षा ग्राम्य जीवन की सरसता अधिक प्रिय है। गोल्डस्मिथ ने प्रकृति-प्रेम और प्रकृति-जीवन का आदर्श सामने रखा जो कि पूँजीवादी सभ्यता की एक प्रकार से प्रतिक्रिया थी। "इस प्रकार गोल्डस्मिथ और प्रकृति और मानव-स्वभाव के अनन्य कवि कालिदास की कृतियों में अपनी भाव-धारा के प्रकाश के लिए आधार खोजने का अर्थ है कि श्रीधर पाठक अपनी अन्तश्चेतना में काव्य और जीवन के आदर्शों में आसन्न परिवर्तनों का अनुभव कर रहे थे। उनमें स्वयं इतनी समर्थ प्रतिभा नहीं थी कि इन परिवर्तनों को कल्पना के योग से मूर्त अभिव्यक्ति दे सकते, इसलिए उन्होंने उनका आश्रय खोजा, जिनकी रचनाओं में उन्हें अपने हृदय की गूँज सुनाई दी।" इनके प्रकृति-वर्णन के एक-दो उदाहरण देखिए :—

बीता कातिक मास शरद् का अंत है।
लगा सकल सुखदायक ऋतु हेमन्त है।

अथवा

विजन वन प्रान्त था, प्रकृति मुख शान्त था।
अटन का समय था रजनी का उदय था।

इन वर्णनों में प्रकृति का परम्परागत रूप नहीं बल्कि एक नया स्वर है। इसमें छायावाद के बीज हैं।

इन्होंने खड़ी बोली पद्य के लिए सुन्दर लय, ताल और स्वर के भी नए ढाँचे निकाले। लावनी की लय पर जैसे 'एकान्तवासी योगी' लिखा वैसे सन्तों की सधुक्कडी पद्धति पर "जगत सच्चाई सार" लिखा। स्वर्गीय वीणा में इन्होंने उस परोक्ष दिव्य संगीत की ओर रहस्यपूर्ण संकेत किया जिसके ताल और स्वर पर यह सारा संसार नाच रहा है। इनकी प्रतिभा ने रचना के लिए बराबर नये-नये मार्ग निकाले। छन्द, पद-विन्यास और वाक्य-विन्यास आदि के सम्बन्ध में इन्होंने नवीन सूझ-बूझ से काम लिया। इनकी रचनाओं में सुरुचि-सम्पन्नता, भावुकता और प्रतिभा के सर्वत्र दर्शन होते हैं भले ही इनकी प्रारम्भिक रचनाओं में परिपक्वता नहीं, किन्तु बाद की कविताओं में परिष्कृति और चुस्ती आ गई, भले ही उनमें प्रथम कोटि के कलाकार की अनुभूति की गहराई न भी हो। इन सब बातों पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि उनमें स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) के बहुत से चिन्हों का आभास मिलता है, अतः इन्हें स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्त्तक भी कहा जा सकता है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय (सन् १८६५-१९४१)—ये पूर्व छायावादी काव्य में भारतेन्दु के बाद सबसे अधिक लब्धप्रतिष्ठ कवि हैं, जो नये विषयों की ओर चल पड़े। खड़ी बोली के लिए इन्होंने उर्दू के छन्दों और ठेठ बोली को उपयुक्त समझा। इस पद्धति पर इन्होंने बहुत सी फुटकर रचनाएँ कीं। द्विवेदी जी के प्रभाव से इन्होंने खड़ी बोली में संस्कृत छन्दों और संस्कृत की समस्त पदावली का सहारा लिया, जिसका परिपक्व रूप अपने 'प्रिय प्रवास' में दिखाया। इसके उपरान्त उपाध्याय जी का ध्यान मुहावरामयी बोलचाल की भाषा की ओर गया जिसका उदाहरण है—'चौखे चौपदे' और 'पद्य प्रसून'। उपाध्याय जी भारतेन्दु के जीवन काल में ही कविता करने लगे थे, किन्तु इस समय वे ब्रजभाषा में लिखा करते थे। १७ वर्ष की अवस्था में अर्थात् १८८२ ई० में कृष्ण-शतक की रचना कर दी थी जिसमें दो सौ दोहे हैं। अनेक भाषा-शैलियों में लिखना, इनकी काव्य-कला की विशेषता है।

'प्रिय प्रवास' इनका आधुनिक हिन्दी-साहित्य का प्रथम सफल महाकाव्य है। इसमें संस्कृत के वर्णवृत्तों का प्रयोग किया गया है। शैली वर्णनात्मक है जिसमें मानव-मन की अन्तर्दशाओं की अत्यन्त सूक्ष्म और मार्मिक व्यंजना हुई है। आचार्य शुक्ल का प्रिय-प्रवास के सम्बन्ध में कहना है कि "इसकी कथावस्तु एक महाकाव्य क्या, अच्छे प्रबन्ध काव्य के लिए भी अपर्याप्त है। अतः प्रबन्ध काव्य के समस्त अवयव इसमें कहाँ आ सकते।" किन्तु हमारे विचारानुसार इसकी महाकाव्यता अक्षुण्ण है। यह ठीक है कि महाकाव्य के लिए कथा की विशालता और उसमें जीवन का सर्वांगीण चित्रण आवश्यक हैं, जबकि प्रिय-प्रवास की कथा—कृष्ण का ब्रज से मथुरा को प्रवास और फिर लौट आना मात्र है। किन्तु कवि की विशेषता इस बात में है कि उन्होंने छोटी-सी कहानी के भीतर कृष्ण-जीवन का सम्पूर्ण वृत्त और उसके

माध्यम से समाज के विविध अंगों और समस्याओं का सुन्दर समावेश कर दिया है। इस छोटे से वृत्त के भीतर मानव-मन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं का मनोवैज्ञानिक चित्रण और भी प्रशंसनीय बन पड़ा है। उपाध्याय जी ने वैज्ञानिक और बुद्धि-प्रधान-युग में एक नये कृष्ण और नई राधिका दी है। यहाँ कृष्ण एक शुद्ध मानव रूप में हैं और उन्हें विश्व-मंगल में संलग्न एक जन-नेता के रूप में चित्रित किया गया है। राधा आधुनिक युग की प्रबुद्धि नारी के रंग में रंगी हैं। वास्तव में हरिऔध ने राधा के माध्यम से राष्ट्रीय जीवन की एक केन्द्रीय समस्या का उद्घाटन किया है और उसका एक स्थूल-सा समाधान भी उपस्थित किया है। राधा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर राष्ट्र के लिए अपना सब कुछ उत्सर्ग करने वाली नारी है जो कि उस समय के राष्ट्रीय आन्दोलन में नारी को सक्रिय जुट जाने की एक सबल प्रेरणा है। वह मानवता के हित के लिए अपने आपको न्यौछावर करती है। इस प्रकार स्वच्छन्दतावाद का यह पहला स्वरूप है। राधा की निम्नांकित उक्ति कितनी मार्मिक बन पड़ी है—

"प्यारे जीवें, जगहित करें, गेह चाहे न आवें।"

उपाध्याय जी के "वैदेही वनवास" में लोक-संग्रह की भावना की प्रधानता है, किंतु इसमें कोई विशेष नवीनता नहीं झलक पाई।

मैथिलीशरण गुप्त—(सन् १८८६-१९६५)—आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रतिनिधि और राष्ट्र कवि के रूप में विख्यात कवि गुप्त ने स्पष्ट शब्दों में महावीर प्रसाद द्विवेदी का आभार स्वीकार किया है—

तुलसी भी करते कैसे मानसवाद।
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद॥

आपकी खड़ी बोली की कविताएँ सरस्वती पत्रिका में द्विवेदी जी के सम्पादन काल तक बराबर निकलती रहीं। उन दिनों इतिवृत्तात्मक कविताओं के लिखने का बड़ा जोर था। १९१० ई० में इनका छोटा-सा प्रबंध काव्य "रंग में भंग" छपा जिसमें चित्तौड़ और बूँदी के राजघरानों की आन और मान की कथा है। लेकिन हिन्दी जगत् और हिन्दुओं में उनकी ख्याति की धूम मचा देने वाली रचना "भारत भारती" है जो मुसद्दस हाली के ढंग पर लिखी गई है। इसमें हिन्दुओं के अतीत गौरव और वैभव की अपेक्षा में वर्तमान हीन दशा का वर्णन करके हिन्दू जनता को जागृत किया है। इसमें भविष्य-निरूपण का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। प्रस्तुत विषय को काव्य का पूर्ण रूप न दे सकने पर भी गुप्त ने इस रचना द्वारा खड़ी बोली की काव्योपयुक्तता सिद्ध कर दी। काव्य की मर्मबोधिनी रसात्मकता न होने पर भी यह पुस्तक हिन्दू-युवकों में विशेष प्रिय हुई। इसमें साम्प्रदायिक संकीर्णता और अंग्रेजी शासन के प्रति भक्ति भाव भी मिलते हैं जिन्हें कि भारतेन्दुकालीन दृष्टिकोण के अवशेष चिन्ह समझना चाहिए। आगे चलकर गुप्त जी की दृष्टि अधिक व्यापक,

उदार और मानवतावादी हो गई। भारत-भारती की पद्धति पर इन्होंने आगे चलकर "हिन्दू", "केशों की कथा" और "स्वर्ग सहोदर" आदि रचनाएँ लिखीं जो कि मंगल घट में संगृहीत हैं।

प्रबन्ध-काव्यों की परम्परा इनमें बराबर चलती रही। रंग में भंग, जयद्रथ वध, विकट भट, पलासी का युद्ध, गुरुकुल, किसान, पंचवटी, सिद्धराज, साकेत और यशोधरा इनके प्रबन्ध काव्य हैं। जयद्रथ वध और पंचवटी को साहित्य क्षेत्र में काफी सम्मान मिला। साकेत और यशोधरा इनकी स्थायी कीर्ति के दो स्तंभ हैं। साकेत की रचना में इन्होंने हिन्दी महाकाव्यों में युगान्तर उपस्थित कर दिया। उपाध्याय जी की 'राधा' कवि जगत् में खूब चर्चित रही हैं किन्तु रामकाव्य परम्परा में न तो किसी कवि का अयोध्यावासियों की ओर ध्यान गया और यदि गया भी तो बेचारी उर्मिला तो एक मात्र उपेक्षित ही रह गई। गुप्त जी का कवि राम-वन-गमन में तत्पर नहीं हुआ, वह अयोध्या में रमा और इस काव्य की नायिका उर्मिला तथा नायक भरत को सदा देखता रहा। गुप्त के राम, बाल्मीकि और तुलसी के राम न होकर सामान्य मानव हैं और अपनी मानवता के उत्कर्ष द्वारा ईश्वरत्व के अधिकारी हैं। कैकेयी के प्रति कवि ने पर्याप्त संवेदनशीलता से काम लिया है। इसके साथ-साथ साकेत में तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलन का भी प्रतिबिम्ब है जैसे—उर्मिला द्वारा सैनिकों को अहिंसा की शिक्षा, प्रजा के अधिकारों की चर्चा, राम-वन-गमन पर अयोध्यावासियों का सत्याग्रह, विश्व-बन्धुत्व और मानवता के आदर्शों की प्रतिष्ठा। आचार्य शुक्ल ने इन सब बातों को गुप्त जी का अनाड़ीपन कहा है जो कि गुप्त के साथ सर्वथा अन्याय है। ये सामयिक घटनाओं के प्रभाव हैं जिन्हें कवि ने बड़ी सावधानी से ग्रहण किया है। ऐतिहासिक कथा और पात्रों में उपयुक्त परिवर्तन को अनाड़ीपन कहना शुक्ल जैसे आलोचक के लिये उचित नहीं था और फिर राम-कथा का शुद्ध मौलिक और प्राभाविक रूप क्या है, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। बाल्मीकि, कालिदास, तुलसी आदि कवियों के राम अपनी अपनी भावना के अनुरूप निर्मित हैं।

साकेत में वर्णनात्मक तथा प्रगीत दोनों शैलियों को अपनाया गया है। कथा के अंतिम चार सर्गों में विकास में कुछ शिथिलता आ गई है। ऐसी और भी कई त्रुटियां इस काव्य में आ गई हैं, किन्तु कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि साकेत एक श्रेष्ठ काव्य है।

यशोधरा की रचना चंपू के ढंग पर की गई है। इसमें नाटक के समान गद्य और पद्य दोनों का समावेश है। इसमें बुद्ध भगवान् के चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले पात्रों के भावों की बड़ी उच्च और सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। गीतों में भावाभिव्यंजना अत्यन्त मनोरम बन पड़ी है। गुप्त जी ने लिखा है कि यशोधरा का संकेत उर्मिला ने किया। बुद्ध यशोधरा को आधी रात में सोती छोड़कर सिद्धि के लिए चले

गये। उसे त्याग का भी गौरव नहीं मिला, बस यही उसका उपालंभ है और वेदना है—"सखि वे मुझ से कह कर जाते।" विरहिणी यशोधरा और कुमार राहुल का चरित्र-चित्रण इस काव्य में अत्यन्त मार्मिक, मरुणोत्पादक तथा मनोवैज्ञानिक बन पड़ा है : वियोग-वर्णन के प्रसंग में कवि ने रीतिकालीन आलंकारिक परम्परा का अनुधावन किया है।

प्रबन्ध-काव्यों के अतिरिक्त मुख्यतः छायावाद के प्रभाव में गुप्त जी गीति मुक्तकों की ओर भी झुके। साकेत के नवम सर्ग और यशोधरा के गीतों में छायावादी लाक्षणिक व्यंजना का स्पष्ट प्रभाव है। इनके रहस्यवादी गीत 'झंकार' में संगृहीत हैं। आचार्य शुक्ल का इस सम्बन्ध में कहना है, "पर असीम के प्रति उत्कंठा और लम्बी-चौड़ी वेदना का विचित्र प्रदर्शन गुप्त जी की अन्तःप्रेरित प्रवृत्ति के अन्तर्गत नहीं। काव्य का एक मार्ग चलता देख ये उधर भी जा पड़े।"

गुप्त जी में कालानुसरण की अद्भुत क्षमता है और यही इनकी कला की विशेषता है। इन्होंने युग की उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य प्रणालियों को ग्रहण करने में अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। इस दृष्टि से ये निःसन्देह हिन्दी के प्रतिनिधि कवि ठहरते हैं। भारत भारती में भारतेन्दु-कालीन स्वदेश-प्रेम है। इनके साहित्य में राष्ट्रीय आन्दोलनों का पूर्ण प्रतिविम्ब है। एक ओर इनके काव्यों में वर्णनात्मक शैली है तो दूसरी ओर छायावादी शैली और रहस्यानुभूति है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "गुप्त जी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं, प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करने वाले अथवा मद में झूमने वाले कवि नहीं। सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव तथा नवीन के प्रति उत्साह दोनों इनमें हैं।"

रामचरित उपाध्याय (सं० १९२९)—ये संस्कृत के अच्छे पंडित थे और पहले पुराने ढंग की कविता किया करते थे, किन्तु बाद में द्विवेदी जी के प्रोत्साहन से खड़ी बोली में इनकी कविताएँ सरस्वती पत्रिका में बराबर छपती रहीं। 'राष्ट्र भारती', 'देवदूत', 'देव सभा', 'देवी-द्रौपदी', 'भारत भक्ति', 'विचित्र विवाह' इत्यादि अनेक कविताएँ इन्होंने खड़ी बोली में लिखी हैं। इनकी छोटी कविताएँ अधिकतर विदग्ध भाषण के रूप में हैं। 'रामचरित-चिन्तामणि' इनका प्रबन्ध काव्य है। इनकी कविता में द्विवेदी-कालीन प्रवृत्तियाँ प्रायः मिल जाती हैं।

इन कवियों के अतिरिक्त पं० गिरधर शर्मा, लोचनप्रसाद पांडेय आदि और भी बहुत से कवि हुए जिन पर द्विवेदी जी का प्रभाव स्पष्ट है। इन लोगों की कवितायें इतिवृत्तात्मक गद्य-मात्र नीरस निबन्ध के रूप में हुआ करती थीं जिसकी प्रतिक्रिया छायावादी युग में हुई।

द्विवेदी जी ने कविता के लिए जो परिधि और क्षेत्र निश्चित किये थे उनसे बाहर भी कविता होती रही। इस प्रकार की कविता ब्रज और खड़ी बोली दोनों भाषाओं में हुई। ब्रज-भाषा में तो शृंगार, वीर, भक्ति आदि की पुरानी परिपाटी की कविता कवित्त, सवैयों या गेय पदों में होती रही और खड़ी बोली में नूतन विषयों—

देश दशा, स्वदेश-प्रेम, आचरण सम्बन्धी उपदेश, त्याग, वीरता, उदारता, सहिष्णुता, पौराणिक तथा ऐतिहासिक प्रसंगों पर कविता होती रही, किन्तु उसमें अपेक्षाकृत जीवन की गहराई और नवीन उद्भावना की कमी है। इस धारा के कवियों ने कहीं-कहीं दार्शनिक तथ्यों का समावेश भी करना चाहा है, परन्तु उसमें रसात्मकता का प्रयास दृष्टिगोचर नहीं होता। इन कवियों ने प्रकृति का चित्रण भी किया और इस दिशा में उन्हें कुछ सफलता भी मिली, किन्तु इनका प्रकृति-वर्णन मनुष्य के सुख-दुःख की सौन्दर्य-भावना तक सीमित रहा, प्रकृति के प्रति अपेक्षित रागात्मकता की अभिव्यक्ति नहीं हो सकी। इस धारा के प्रमुख-प्रमुख कवि हैं—राय देवीप्रसाद पूर्ण, नाथूराम शंकर, गया-प्रसाद शुक्ल स्नेही, सत्यनारायण कविरत्न, लाला भगवानदीन, रामनरेश त्रिपाठी और रूपनारायण पाँडेय।

राय देवीप्रसाद पूर्ण—ब्रज भाषा काव्य की पुरानी परम्परा को आजीवन बनाए रहे। इस दिशा में रसिक समाज द्वारा इनका पर्याप्त आदर भी हुआ। स्वदेश-प्रेम-विषयक इनकी कविताओं में भारतेन्दु आदि के समान देश-भक्ति और राज-भक्ति एकत्र प्रतिध्वनित होती रहीं। खड़ी बोली के अधिक प्रचार हो जाने पर इन्होंने उसमें भी कविताओं की रचना की जो कि देश-भक्ति तथा प्रकृति-चित्रण से सम्बद्ध है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इनकी कविता में अनुभूति की कोई विशेष गहराई नहीं है।

नाथूराम शंकर—इन्होंने इन दोनों भाषाओं में कविता की। समस्या पूर्ति में वे काफी सिद्धहस्त थे। आर्यसमाज के साथ विशेष सम्बन्ध होने के कारण इनकी खड़ी बोली की कविताओं, जो कि सामयिक समस्याओं से सम्बद्ध हैं, में पर्याप्त निर्भीकता और उद्दण्डता का समावेश हो गया है। फबतियाँ और फटकार इनकी कविता की एक विशेषता है। इनकी कविता में अनुभूति का योग नहीं है, केवल चमत्कार प्रदर्शन की स्थूल भावना है। ये वस्तुतः पुरानी रीति-काव्य परम्परा के कवि हैं, भेद-भाव केवल इतना है कि इन्होंने ब्रज-भाषा के स्थान पर खड़ी बोली में लिखा है। नाथूराम शंकर सन् १९६२ तक जीवित रहे, किन्तु कविता में इनकी प्रतिभा युग का साथ न दे सकी।

रामनरेश त्रिपाठी श्रीधर पाठक ने जिस स्वच्छन्दतावाद का आभास दिया था, त्रिपाठी जी में वह प्रवृत्ति कुछ और अधिक उभरे हुए रूप में दृष्टिगोचर होती है। इन्होंने ऐतिहासिक और पौराणिक इतिवृत्तों में न बँधकर स्वच्छन्द कथाओं की उद्भावना की है "भिन्न"। "पथिक" और "स्वप्न" नामक इनके खंड काव्य इस बात के प्रमाण हैं। शुक्ल के शब्दों में "इन प्रबन्धों में नर-जीवन जिन रूपों में ढालकर सामने लाया गया है, वे मनुष्य मात्र का मर्म-स्पर्श करने वाले हैं तथा प्रकृति के स्वच्छन्द और रमणीय प्रसार के बीच अवस्थित होने के कारण शेष सृष्टि से विच्छिन्न नहीं प्रतीत होते।" भारतेन्दु-काल से देश-प्रेमाभिव्यक्ति की जो परम्परा चली थी, त्रिपाठी

जी ने उसे रसात्मक रूप दिया। कहीं-कहीं इन्होंने प्रकृति के सुन्दर संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किए हैं। इनकी रचनाओं में कहीं-कहीं रहस्योन्मुख प्रवृत्ति के भी दर्शन होते हैं। भले ही त्रिपाठी जी आदर्शोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण सर्वांग सजीव पात्र की सृष्टि नहीं कर सके, किन्तु फिर भी इनके स्वप्न नामक काव्य में मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व अच्छा मिलता है। त्रिपाठी ने अपने काव्यों द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया, इसमें सन्देह नहीं और यह भी निःसंदिग्ध है कि इनमें स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) की प्रवृत्तियाँ प्रायः मिलने लगीं।

जगन्नाथदास रत्नाकर—आधुनिक व्रज भाषा के उच्च कोटि के कवियों में से एक हैं। ये व्रज भाषा के पक्षपाती थे। इनकी रचना शैली मतिराम, देव पद्माकर और सेनापति की शैली जैसी है। इनकी मौलिक रचनाओं में "गंगावतरण" तथा "उद्धव शतक" अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। इन्होंने अनेक ग्रंथों का सम्पादन किया तथा बिहारी सतसई की टीका भी लिखी जो अत्यन्त प्रामाणिक समझी जाती है।

गंगा प्रसाद स्नेही—की भाषा परिनिष्ठित व्रजभाषा है। समस्या-पूर्ति में आप अत्यन्त निष्णात थे। उक्ति वैचित्र्य, शब्द-संघटन और रूप-चित्रमयी कल्पना स्नेही जी की विशेषताएँ हैं। "प्रेम पच्चीसी", "कुसुमांजलि" और "कृषक-क्रन्दन" इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। आप खड़ी बोली और व्रज दोनों भाषाओं में कविता किया करते थे।

सत्यनारायण कविरत्न—पक्के वैष्णव और कृष्ण के अनन्य उपासक थे। आप अपने सवैयों के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध थे। जैसे रत्नाकर पद्माकरी शैली के कवि माने जाते हैं वैसे कविरत्न नन्ददासीय शैली के कवि माने जाते हैं। 'भ्रमर दूत' इनका प्रसिद्ध खंडकाव्य है जिसमें भारत भूमि पर यशोदा का आरोप किया गया है और अंग्रेजों पर कंस का। कृष्ण से प्रार्थना की गई है कि वह अंग्रेज रूप कंस का नाश करे। इनकी भाषा में व्रज भाषा का मधुर और प्रांजल रूप हैं।

द्विवेदीयुगीन कविता की प्रमुख प्रवृत्तियां

निःसन्देह भारतेन्दु-युग में कविता ने एक नवीन मोड़ लिया और उसमें आधुनिकता का सहज समावेश हुआ, किन्तु उसमें प्राचीनता के प्रति मोह भी बना रहा। द्विवेदी-युग में पहुंचते-पहुंचते उसमें बाल-सुलभ चंचलता और विमोहकता के स्थान को अनुशासन, गम्भीरता और विचारात्मकता ने ले लिया। इस युग की समूची साहित्य-चेतना के सूत्रधार स्वनामधन्य महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। भारतेन्दु-युग में कविता में जिन नवीन प्रवृत्तियों का उद्गम हुआ वे इस युग में क्रियात्मक रूप से विकसित हुई। द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों में एक नूतन आदर्श की प्रतिष्ठा की। इस युग में हिन्दी साहित्य की नवीन परम्परा का यथेष्ट परिमार्जन तथा विकास हुआ। विशेषतः कविता, आलोचना और कथा-साहित्य

में इस युग में प्रौढ़ता आई। पच्चीस वर्षों की इस छोटी-सी अवधि में एक अतीव आश्चर्यजनक साहित्यिक अनेकरूपता आई। निम्नांकित पंक्तियों में हम इस युग की कविता की भावगत तथा कलागत प्रवृत्तियों का विवेचन करेंगे।

(१) **देशभक्ति की कविता**—इस काल के प्रत्येक कवि ने देशभक्ति के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा है। भारतेन्दु युगीन कविता का देश-प्रेम, जो भाषा, भोजन और वेष तक सीमित था, अब उसकी परिधि व्यापक हो गई। इस युग की कविता की राष्ट्रीय-भावना जातीयता पर आधारित थी, जिसमें प्रमुख अवलम्ब देश के उज्ज्वल अतीत गौरव को लिया गया। डॉ० केसरीनारायण शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"इससे इस समय जो राष्ट्रीय जागरण हुआ वह एक प्रकार से हिन्दू जागरण था, क्योंकि इस जागरण में हिन्दू इतिहास और परम्परा का आश्रय या अवलंब प्रधान था। गौरव की भावना भी हिन्दुओं में ही जगी और हिन्दू ही अतीत के समान वर्तमान और भविष्य को सुधारने तथा समुज्ज्वल बनाने को सचेष्ट हुए। इस प्रकार यह राष्ट्रीय जागरण और हिन्दू पुनरुत्थान दोनों बना, फिर भी इन सब परिस्थितियों का सबसे बड़ा और शुभ परिणाम यह हुआ कि जनता की हीनता की भावना दूर हुई और पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध कम हो गई।" जनता को अपना अतीत इतना प्रिय लगा कि उसके समक्ष उसे पाश्चात्य संस्कृति बिल्कुल हेय प्रतीत होने लगी। समाज और साहित्य पर यह प्रभाव आर्यसमाज आदि के शुभ आन्दोलनों का था। डी० पी० मुकर्जी ने उस समय के सांस्कृतिक जागरण को लक्ष्य रखकर कहा है, "इस समय हिन्दू दर्शन और लोकाचार के लिए जितने दावे पेश किए गए उतनों की ऋषि-मुनियों की भी हिम्मत नहीं पड़ी थी।"

इस युग की कविता में देश-भक्ति की भावनाओं की अभिव्यक्ति छोटी-छोटी फुटकर कविताओं और प्रबन्ध-काव्य दोनों रूपों में हुई। गुप्त का साकेत, उपाध्यायजी का प्रिय प्रवास, रामचरित उपाध्याय का रामचरित चिन्तामणि और सत्यनारायण कविरत्न का भ्रमरगीत जहाँ हिन्दी-भाषा के गौरव ग्रंथ हैं, वहाँ देश-भक्ति और अतीत की ज्वलन्त विभूतियों के भी भव्य निदर्शन हैं। इस काल की कविता में वर्तमान की दयनीयता पर करुणा प्रकट की गई है और उसे अतीत के सहारे समुन्नत करने की सफल चेष्टा की गई है। इस युग की कविता में अभिव्यक्ति जातीय-प्रेम किसी अन्य वर्ग, संप्रदाय या जाति के प्रति विद्वेष-पूर्ण नहीं है, अतः उसमें किसी की साम्प्रदायिकता या संकीर्णता नहीं है। इस काल का जातीय प्रेम शनैः शनैः क्रियात्मक रूप से एक व्यापक समस्त देश-प्रेम के रूप में विकसित हो गया, जिसमें समूचा भारत प्रतिबिंबित हो उठा—"हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सब आपस में भाई भाई।" डॉ० शिवदान सिंह चौहान इस काल की देश-भक्ति सम्बन्धी कविता के सम्बन्ध में लिखते हैं—"उनकी दृष्टि मूलतः बहिर्मुखी है, इसलिए, राष्ट्र-जीवन की समसामयिक हलचलों में निरन्तर रमती चली आई है, अंतर्मुखी होकर व्यक्ति-चेतना की अगम गहराइयों में नहीं उतर पाई है। विशेषकर लोकप्रचलित पौराणिक आख्यानों,

इतिहास वृत्तों और देश की राजनीतिक घटनाओं से इन्होंने अपने काव्य की विषय-वस्तु को सजाया है। इन आख्यानों, वृत्तों और घटनाओं के चयन में उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति, देशानुराग और सत्ता के प्रति विद्रोह का स्वर मुखर है। यह एक प्रकार से राजनीति में राष्ट्रीय आन्दोलन और काव्य में स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति के बीच पलने और बहने वाली कविता की वहिर्मुखी धारा है, जिसने हिन्दी-भाषी जनता को आधुनिक जीवन के व्यक्ति एवं समाज-सम्बन्धी गहरे तात्विक प्रश्नों के प्रति नहीं तो राजनीतिक पराधीनता और राष्ट्रीय संघर्ष के प्रति सचेत बनाने में बहुत बड़ा काम किया है।"

(२) **धार्मिक कविता**—इस युग के कवि की धार्मिक चेतना में पर्याप्त व्यापकता और विशदता आई। अब उसमें भगवान् के कोरे गुणगान और सिद्धान्तों के आख्यान के स्थान पर आध्यात्मिकता और मानवता आदि के आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई। मानवतावाद के आदर्श के कारण कविता में पीड़ित, शोषित, दुर्बल और दलित के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित हुई। कवि का विश्वास है कि ईश्वर की प्राप्ति मानव-प्रेम से सम्भव है। उसे दु:खियों के आँसुओं और करुण विलाप में ईश्वर प्राप्ति सम्भव प्रतीत होने लगी। इस प्रकार कवि का ईश्वर-प्रेम, मानव-प्रेम अथवा विश्व-प्रेम में बदल गया। ठाकुर गोपालशरण सिंह के शब्दों में—

जग की सेवा करना ही बस है सब सारों का सार।
विश्व-प्रेम के बन्धन ही में, मुझको मिला मुक्ति का द्वार ॥

इस स्वस्थ दृष्टिकोण के कारण दु:खियों के प्रति अन्याय और अवहेलना करने वाली सामन्तीय सभ्यता की कवि ने कटु निन्दा की। उसे ईश्वर की दिव्य शक्ति का अनुभव जन सेवा में हुआ। बौद्धिकता के समावेश के कारण राम और कृष्ण का आदर्श मानव के रूप में चित्रण किया गया। अब राम और कृष्ण केवल साकार रूप में न रहकर विश्व व्याप्त दृष्टिगोचर हुए। उपदेशात्मक और नैतिक कविताओं का प्राय: अभाव हो गया। जीवन, जगत् और प्रकृति में व्याप्त ईश्वर के प्रति कवि की अभिव्यक्ति भावनाओं में रहस्यात्मकता आ गई। इस सम्बन्ध में काफी सुन्दर अन्योक्तियों का भी प्रणयन हुआ। इस काल की रहस्योन्मुख कविता का एक उदाहरण देखिये—

तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किससे होकर आऊँ मैं।
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है, कैसे भीतर जाऊँ मैं ॥

कवि को समस्त प्रकृति ईश्वर की खोज में व्यस्त दृष्टिगोचर होती है—

क्षण भर में तब जड़ में हो जाता चैतन्य विकास।
वृक्षों पर विकसित फूलों का होता हास बिलास ॥

इस काल की कविता की यह रहस्यात्मक प्रवृत्ति आगे चलकर प्रसाद-काल में कविता की एक महत्त्वपूर्ण सामान्य प्रवृत्ति बन गई। डॉ० शुक्ल द्विवेदीयुगीन धार्मिक कविता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"भारतेन्दु युग की धार्मिक

कविता से यह निःसन्देह अधिक उन्नत है। उपदेशात्मक प्रवृत्ति को छोड़कर कवियों ने मानवतावाद को ग्रहण किया। उदारता और व्यापक मनोदृष्टि इस समय की धार्मिक कविता के विशेष लक्षण हैं। अन्योक्तियाँ सौन्दर्यपूर्ण हैं और उनमें काव्यत्व है। इन कवियों के रहस्यात्मक मुक्तक गीतों ने तृतीय उत्थान की कविता को अधिक प्रभावित किया। कवियों की यह सफलता साधारण नहीं है। विश्व-प्रेम और जन-सेवा की भावना के द्वारा तृतीय उत्थान के कवियों ने धार्मिक कविता को अधिक उन्नतिशील बनाया।"

(३) सामाजिक कविता--भारतेन्दु युग की कविता में सामाजिक सुधारों का स्वर मुखरित था, किन्तु उसमें खंडनात्मकता की कर्कशता अधिक थी। इसके अतिरिक्त इस काल में कवि की दृष्टि समाज के सभी अंगों पर भी नहीं गई, उसने समाज के उस अंग पर उद्‌गार प्रकट किए जिससे वह अत्यधिक प्रभावित हुआ, किन्तु द्विवेदी युग के कवि की दृष्टि समाज के सभी पक्षों पर पड़ी और अब उसकी वाणी में खण्डनात्मकता के स्थान पर मंडनात्मकता और सद्‌भावना झंकृत हो उठी। इस युग के कवि को समाज की सर्वांगीण उन्नति अभीष्ट थी। श्रीधर पाठक ने विधवाओं की दीन दशा के अत्यन्त करुण चित्र अंकित किए हैं। इस क्षेत्र में हरिऔध का कार्य और भी महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने अछूतोद्धार, सामाजिक कुरीतियों और कुलीनता आदि पर व्यंग्यात्मक कविताएँ लिखी हैं। इन्होंने जन्म और वंशगत कुलीनता की अपेक्षा कर्मगत उच्चता को श्रेयस्कर बताया है। नाथूराम शंकर के कट्टर आर्य-समाजी होने के कारण सामाजिक आलोचना में पर्याप्त कटुता और उग्रता है और कहीं-कहीं तो उसमें औचित्य की सीमा का भी अतिक्रमण हो गया है। इस काल के कवियों ने स्त्री-सुधार एवं उद्धार पर कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा है। नाथूराम शंकर तथा ठाकुर गोपालशरण सिंह की कविताओं में दहेज-प्रथा और बाल-विवाह का घोर विरोध किया गया है। स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाह आदि विषयों का प्रबल समर्थन इनकी कविताओं की विशेषता है। इस दिशा में मैथिलीशरण गुप्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्हें हिन्दू-समाज की सर्वांगीण सामाजिक तथा सांस्कृतिक उन्नति अभीष्ट है और यह कार्य इन्होंने अतीत के गौरव-गान द्वारा सम्पन्न किया है। इनकी "भारत भारती" में जहाँ वर्तमान दशा पर करुण आँसू बहाए गए हैं, वहाँ उनमें अतीत का हर्षोत्फुल्ल गान है। इनके साकेत और यशोधरा में नारी के उदात्त स्वरूप का उद्‌घाटन हुआ है। इन्होंने अछूतोद्धार, भारतीय किसान तथा समाज के पिछड़े हुए अन्य वर्गों पर अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण लिखा है। कुछ आलोचकों ने इस काल के सामाजिक सुधार और जातीय प्रेम पर साम्प्रदायिकता एवं संकीर्णता का आरोप किया है, किन्तु यह निराधार है। जातीय प्रेम कोई बुरी वस्तु नहीं है बल्कि यह विश्व-प्रेम की इकाई है। निन्दनीय उस दशा में है जबकि इसमें वर्ग-विद्वेष का विष सन्निहित हो। डॉ० केसरीनारायण शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"इन कवियों को हम साम्प्रदायिक या कट्टरपंथी नहीं कह सकते हैं,

"क्योंकि इन कवियों का हृदय उदार और मनोवृत्ति व्यापक है। ये कवि प्राचीन समाज और नवीन विचारों का सामंजस्य चाहते हैं।" आगे चलकर वे लिखते हैं—संक्षेप में उनका अतीत से प्रेम और हिन्दुत्व उनकी मानसिक संकीर्णता का द्योतक न होकर परिस्थिति की परवशता और दुर्बलता का परिचायक है। इसीलिए काव्य की इन प्रवृत्तियों को प्रतिबिंबित करते हुए भी वे इनके लिए उत्तरदायी नहीं क्योंकि कुछ कवि समय के साथ-साथ आगे बढ़ते गये हैं।" सच यह है कि द्विवेदी-युग में इस प्रेम में उत्तरोत्तर व्यापकता आने लगी थी और आगे चलकर तो यह भावना विश्व-प्रेम की भावना में परिणत हो गई।

(४) **इतिवृत्तात्मकता**—द्विवेदी-युग की अधिकांश कविता शृंगार रस से मुक्त है। भारतेन्दु काल में रीतिकालीन शृंगार परम्परा फिर भी जिस किसी रूप में चलती रही किन्तु इस युग में उसका प्रणयन प्रायः बंद-सा हो गया है। द्विवेदी जी की आदर्शवादिता, सात्विकता और संयम के प्रभाव के साथ-साथ आर्यसमाज तथा दूसरी संस्थाओं के प्रभाव के परिणामस्वरूप शृंगार रस की अश्लीलेता और उच्छृंखलता के रूप को समझकर कविता-क्षेत्र से उसका बहिष्कार कर दिया गया, इससे कविता में इतिवृत्तात्मकता की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा। कविता में इतिवृत्तात्मकता (Matter of fact) की प्रवृत्ति के फलस्वरूप उसमें लाक्षणिकता चित्रमयी भावना और वक्रता बहुत कम रह गई जो इस संसार की गति को तीव्र करके सहृदय के मन को आकर्षित किया करती है। द्विवेदी जी के सामने दो शैलियाँ थीं—बंगला की कोमल-कांत पदावली और दूसरी मराठी की वर्णन प्रधान इतिवृत्तात्मक शैली, उन्होंने दूसरी शैली को अपनाया क्योंकि वह उनके मन के अधिक अनुकूल थी और साथ ही वह नैतिकता के प्रचार तथा आदर्श की प्रतिष्ठा के लिए भी उपयुक्त थी। नाना पौराणिक (Prosaic) को वर्णन-प्रधान शैली—गद्यात्मकता में उपन्यस्त किया गया। इससे कविता में शुष्कता और नीरसता आ गई और उसमें अनुभूति में अधिक गहराई न आ पाई। भारतेन्दु काल में इतिवृत्तात्मकता की जिस प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ था, द्विवेदी युग में उसमें खूब परिपक्वता आई और आगे चलकर इसकी प्रतिक्रियास्वरूप छायावाद का उदय हुआ।

(५) **प्रकृति चित्रण**—भारतेन्दु युग में कविता में प्रकृति-चित्रण पुरानी बँधी-बँधाई परम्परा पर होता रहा। वस्तुतः भारतेन्दु युग के कवि का मन मानव के बाह्य व्यापारों के वर्णन में अधिक रमा, प्रकृति के मनोरम रूप की ओर कम गया किन्तु द्विवेदी युग के कवि का ध्यान प्रकृति के यथातथ्य वर्णन की ओर गया। इस काल के अनेक कवियों की दृष्टि प्रकृति के विभिन्न पक्षों पर गई और प्रकृति इस समय की कविता का प्रधान वर्ण्य विषय बन गई। इसी दिशा में श्रीधर पाठक, हरिऔध, गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल और रामनरेश त्रिपाठी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रीधर ने काश्मीर और देहरादून की सुषमा का रमणीय वर्णन किया है—

प्रकृति जहां एकान्त बैठि, निज रूप संवारति ।
पल-पल पलटति वेष छनिक, छवि छिन-छिन आरति ।।

श्रीधर पाठक ने प्रकृति के संवेदनात्मक और चित्रात्मक दोनों रूपों का सुन्दर वर्णन किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रकृति के सच्चे प्रेमी थे। उन्होंने प्रकृति का आलम्बन रूप में ग्रहण किया है। उन्हें, प्रकृति के संवेदनात्मक चित्रण की अपेक्षा चित्रात्मक वर्णन अधिक पसद है। इनके प्रकृति चित्रण में मनुष्य और प्रकृति के बीच रागात्मकता के सम्बन्ध की प्रतिष्ठा हुई है। रामनरेश त्रिपाठी खण्ड-काव्यों —पथिक और स्वप्न - में नदी, पर्वत और समुद्र आदि के दृश्य भव्य रूप में चित्रित हुए हैं। कवि ने संवेदनात्मक और चित्रात्मक दोनों शैलियों का प्रयोग किया है। इनके प्रकृति-चित्रण से कहीं-कहीं रहस्यात्मता का भी समावेश हो गया है और कहीं-कहीं प्राचीन परम्परा का परिपालन भी परिलक्षित होता है। हरिऔध के प्रिय-प्रवास के प्रकृति-वर्णन के अनेक प्रसंगों को देखकर कहा जा सकता है कि उनमें कोई नवीनता नहीं है। कहीं-कहीं तो उन्होंने परिगणन-शैली का प्रयोग किया है जिसे प्रकृति-चित्रण नहीं कहा जा सकता है। नाममात्र गिनाने से प्रकृति का कोई सजीव चित्र उपस्थित नहीं होता। इनका रात्रि-वर्णन राधा की भावनाओं से इतना दब गया है कि प्रकृति-वर्णन की वहाँ कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं रही। मैथिलीशरण गुप्त में भी प्रकृति के प्रति सच्चा प्रेम नहीं है। इन्होंने प्रकृति-वर्णन के द्वारा नैतिक उपदेश देने की चेष्टा की है। इन्होंने साकेत में प्रकृति-वर्णन की पुरानी परिपाटी को भी निभाया है। प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से इनका पंचवटी काव्य कुछ अच्छा बन पड़ा है। द्विवेदी-युग के प्रकृति-चित्रण का मूल्यांकन करते हुए हम डॉ० केसरीनारायण शुक्ल के शब्दों में कह सकते हैं, "द्वितीय उत्थान के कवि न प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन कर सके और न मानवता को प्रकृति का कोई संदेश ही प्रदान कर सके। नैतिकता के कोरे उपदेश भी इसी के परिणाम हैं। इस समय के अधिक कवि प्रकृति के ऊपरी रूप की झलक-मात्र से संतुष्ट थे। उन्होंने प्रकृति की अन्तरात्मा तक पहुंचने का प्रयत्न वहुत कम किया।"

(६) कालानुसरण की क्षमता—इस काल के प्रायः सभी कवियों में युग की बदलती हुई भावनाओं को आत्मसात करने की शक्ति तथा काल-क्रमानुसार उदभूत काव्य-रूपों और शैलियों को अपनाने की अपार क्षमता है, गुप्त इस काल के ज्वलंत उदाहरण है। गुप्त ने द्विवेदी युग तथा छायावादी युग की विचारधारा और काव्यरूपों का अपने काव्य में सफल प्रयोग किया है। हमारे विचार में यह बात द्विवेदी युग के सभी कवियों पर न्यूनाधिक रूप से चरितार्थ होती है। वस्तुतः इस युग का कवि संक्रमण काल से गुजर रहा था, युग के प्रतिनिधित्व के लिए उसके लिए ऐसा करना स्वाभाविक भी था। उर्दू कवि गालिब की निम्न उक्ति इस युग के कवि पर प्रायः ठीक बैठती है—

चलता हूं थोड़ी दूर हर इक तेज रौ के साथ ।
पहचानता नहीं हूं अभी रहबर को मैं ॥

(७) **बौद्धिकता की प्रधानता**—इस युग का कवि और उसका काव्य दोनों पाश्चात्य संस्कृति के बौद्धिकतावाद से अत्यन्त प्रभावित हैं । प्रस्तुत युग के कवि को हिन्दू जागरण के लिए भारत के अतीत के गौरव और सांस्कृतिक उच्चता का प्रतिष्ठापन करना अभीष्ट था क्योंकि इसके बिना अंग्रेजी शासन में अंग्रेजी सभ्यता के रंग में अन्धवत् बहने वाले भारतवासी के मन से हीनता की भावना का निराकरण असम्भव था, अतः इस युग के कवि ने अपनी प्राचीन भारतीय संस्कृति की बौद्धिक व्याख्या की । गुप्त के राम अवतारी राम न होकर आदर्श मानव हैं, जोकि कोई दिव्य संदेश नहीं लाए हैं बल्कि निज कर्मों से इस भू को स्वर्गवत् ललाम बनाने आए हैं। हरिऔध के कृष्ण और राधा भी आदर्श समाज सुधारक तथा नेता हैं । इस प्रकार इन कवियों ने राम और कृष्ण की कथा में कई नवीन तत्वों का समावेश किया, जिसका लक्ष्य एक-मात्र देश के हितैषियों को देशोन्नति का मार्ग प्रदर्शित करना है । कवि की इस मनोवृत्ति का रहस्य तत्कालीन परिस्थितियों में निहित है । आर्यसमाज के प्रभाव फलस्वरूप उस समय के हिन्दू के हृदय में अपनी उच्चता का भाव दृढ़ हो रहा था और साथ-साथ उसमें निजी संस्कृति के गौरव का एहसास भी उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था । इन्होंने प्राचीनता की बुद्धिसम्मत व्याख्या करके आधुनिकता को आदर्शमय बनाना चाहा, क्योंकि बुद्धिवाद अरुचिकर जिज्ञासाओं से बचाता है और मानवों को अव्यवस्थाकारी तत्त्वों से बचा कर सुव्यवस्थित बनाए रखता है ।

(८) **देश का अतीत गौरव और संस्कृति**— द्विवेदीयुगीन कविता में लोक-सेवा, विश्व-प्रेम, लोक-रक्षा, कर्त्तव्य, त्याग, नेतृत्व, संघटन और उन्नयन आदि की अनेक भावनाएं मिलती हैं । खूबी इस बात की है कि उक्त तत्व भारत के अतीत में भी मिलते हैं । इस प्रकार इस युग के कवि ने अपने अतीत राम और कृष्ण आदि की कथाओं में विविध नवीन तत्वों का समावेश करके उनकी बुद्धिसम्मत व्याख्या प्रस्तुत की । कवि ने 'अतीत के गौरव का स्मरण दिलाकर वर्तमान के निर्माण का उत्साह भरना चाहाहै । इस युग के कवि ने अतीत के दर्शन, कला, साहित्य विज्ञान और समृद्धि सबका विशद गान किया है और वह पुकार उठा है—

"संसार को पहले हमीं ने ज्ञान शिक्षा दान की ।"

तथा—

वह पुण्य भूमि प्रसिद्ध है, इसके निवासी आर्य हैं ।
विद्या कला कौशल सभी के, जो प्रथम आचार्य हैं ॥
हैं रह गये यद्यपि हमारे, गीत आज रहे सहे ।
पर दूसरों के बचन भी साक्षी हमारे हो रहे ॥

उपर्युक्त कथनों से एक बात स्पष्ट है कि कवि हिन्दू-पुनरुथान के लिए

अधिक चिन्तित हैं, पर यह स्मरण रखना होगा कि उसे अन्य जातियों से विद्वेष नहीं है। इन्होंने पाश्चात्य संस्कृति के कुप्रभाव को दूर करने के लिए हिन्दुओं में जातीय अभिमान को जगाने के लिए अपनी संस्कृति की उच्चता का विश्वास दृढ़ किया और अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता बनाए रखने की प्रेरणा दी। डॉ० शुक्ल के शब्दों में— "संक्षेप में उनका अतीत प्रेम और हिन्दुत्व उनकी मानसिक संकीर्णता का द्योतक न होकर परिस्थिति की परवशता और दुर्बलता का परिचायक है। इसलिए काव्य की इन प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करते हुए भी वे इनके लिए उत्तरदायी नहीं है, क्योंकि कुछ कवि समय के साथ-साथ आगे बढ़ते गये हैं।

(९) **नवीन तथा साधारण विषय**—आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"खड़ी बोली का प्रचार बढ़ता दिखाई देता था और काव्य के प्रवाह के लिए कुछ नई भूमियाँ भी दिखाई पड़ती थीं। देश-दशा, समाज-सुधार, स्वदेश-प्रेम, आचरण सम्बन्धी उपदेश आदि ही तक नई धारा की कविता न रह कर जीवन के कुछ और पक्षों की ओर भी बढ़ी' परन्तु गहराई के साथ नहीं। त्याग, वीरता, उदारता, सहिष्णुता इत्यादि के अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंग पद्यबद्ध हुए, जिनके बीच-बीच में जन्म-भूमि-प्रेम, स्वजाति गौरव, आत्म-सम्मान की व्यंजना करने वाले जोशीले भाषण रखे गए।" उदाहरणार्थ, गोपालशरणसिंह की उलाहना, हृदय की वेदना कामताप्रसाद गुरु की मैना की स्वतन्त्रता, रामचरित उपाध्याय की विविध विडम्बना, हरिऔध की 'भोर का उठाना', पृथ्वीनाथ भट्ट की मौत का डंडा' आदि ऐसी कविताएँ हैं जिनमें साधारण विषयों का ग्रहण किया गया है। इन कविताओं में कहीं-कहीं पर सुन्दर व्यंग्योक्तियाँ हैं। इस काल के अन्य अनेक कवियों ने भी साधारण विषय को लेकर कवितायें लिखीं, जिनमें भाषा की चुस्ती भले ही है, परन्तु अनुभूति की गहराई का अभाव है।

(१०) **अनुवाद-कार्य**—इस काल में देशी और विदेशी भाषाओं के साहित्य की कविताओं का हिन्दी खड़ी बोली में अनुवाद भी हुआ। आचार्य द्विवेदी का उद्देश्य हिन्दी भाषा और साहित्य को समृद्ध बनाना था। अतः उन्होंने अनुवाद की प्रवृत्ति को भी प्रोत्साहन दिया। हम पहले ही लिख चुके हैं कि द्विवेदी जी के सामने दो शैलियाँ थीं—बंगला की कोमलकान्त पदावली तथा मराठी की वर्णनप्रधान इतिवृत्तात्मक शैली। द्विवेदी जी ने हिन्दी कविता के लिए दूसरी को अपनाया, क्योंकि यह उनके मन के अनुकूल पड़ती थी। उस काल के अन्य कवियों ने भी कविता में इसी शैली का निर्वाह किया। बंगला भाषा के साहित्य की इन्होंने भाव-सामग्री को उक्त शैली में अनूदित किया। मैथिलीशरण गुप्त ने माइकेल मधुसूदन के दो काव्यों—मेघनाद-बध तथा विरहिणी व्रजांगना का सुन्दर अनुवाद किया। इन्होंने नवीनचन्द सेन के 'पलासीर युद्ध का भी सफल अनुवाद किया। सियाराम शरण गुप्त आदि कई कवियों की कविताओं पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि का स्पष्ट प्रभाव है।

इस काल में अंग्रेजी साहित्य की कविताओं के अनुवाद की भी परम्परा खूब चली। श्रीधर पाठक के गोल्डस्मिथ के हरमिट का एकान्तवासी योगी, ट्रैवलर का श्रान्त पथिक, डैजर्टिड विलेज का ऊजड़ ग्राम के रूप में सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किए। इसके अतिरिक्त शैक्सपियर, लाँगफैलो, बायरन और ग्रे की अनेक कविताओं का अनुवाद भी हिन्दी खड़ी बोली में हुआ। सच यह है कि इस काल में यह अनुवाद-कार्य हिन्दी-साहित्य के पद्य और गद्य दोनों क्षेत्रों में बराबर चलता रहा है। इससे हिन्दी साहित्य के वृत्त में और व्यापकता आई।

(११) **काव्य रूपों में अनेकता** - इस काल में प्रबन्ध-काव्य, खंड-काव्य और प्रगीत-मुक्तकों का भी प्रणयन हुआ। गीतों में छायावाद की लाक्षणिक व्यंजना और अप्रस्तुतों की योजना का भी अनुकरण किया गया, परन्तु विशेष सफलता नहीं मिली, क्योंकि इस युग के कवि की मनोवृत्ति बाह्य वर्णनों में अधिक रमती रही है। इस युग की साहित्यिक अनेकरूपता के सम्बन्ध में डॉ० कृष्णलाल लिखते हैं—"...पच्चीस वर्षों में ही अद्भुत परिवर्तन हो गया। मुक्तकों के वन-खण्डों के स्थान पर महा-काव्य, आख्यान काव्य (Ballads), प्रेमाख्यान काव्य, प्रबन्ध काव्य, गीत काव्य और गीतों से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा। गद्य में घटना-प्रधान, चरित्र प्रधान, सुसज्जित ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यास और कहानियों की रचना हुई। समालोचना और निबन्धों की अपूर्व उन्नति हुई।"

(१२) **छन्द** – ब्रज भाषा समर्थकों को खड़ी बोली की काव्योपमुक्तता के साथ-साथ इसके विविध छन्दों के ग्रहण की क्षमता पर भी सन्देह था, किन्तु इस काल के कवियों ने उनकी सब शंकाओं को निर्मूल सिद्ध कर दिया। इन कवियों ने खड़ी बोली में विविध छन्दों का सफलता से प्रयोग किया। इन्होंने स्वतन्त्रतापूर्वक हिन्दी, संस्कृत और उर्दू के विविध छन्दों का अत्यन्त सफल प्रयोग किया। आवश्यकता-नुसार इन कवियों ने संस्कृत वृत्तों में भी कविता की और हिन्दी के मात्रिक छन्दों में भी और छायावादी कविता से प्रभावित होकर अतुकान्त तथा छन्द-मुक्त कविता भी लिखी है।" श्रीधर पाठक ने अनेक छन्दों का प्रयोग किया उन्होंने लावनी और उर्दू की बहरों का प्रयोग सफलतापूर्वक किया स्नेही और लाला भगवानदीन ने भी उर्दू के छन्दों का अच्छा प्रयोग किया है। श्रीधर पाठक, महावीर प्रसाद द्विवेदी, गुप्त, हरिऔध, राय देवी प्रसाद पूर्ण और रूपनारायण पाण्डेय ने संस्कृत छन्दों का स्तुत्य प्रयोग किया है। इस काल में ब्रज भाषा के कवित्त और सवैया आदि छन्दों का प्रयोग भी होता रहा। इन कवियों द्वारा अपनाए गए उर्दू और संस्कृत के छन्दों की विशेष प्रशंसा नहीं की जा सकती है। वस्तुस्थिति यह है कि इस काल का कवि भाषा के संस्कार में लगा रहा, उसे नवीन छन्द-निर्माण की कोई चिन्ता नहीं थी। छन्द-सौन्दर्य की अभिवृद्धि का कार्य अगले युग में सम्पन्न हुआ।

(१३) **भाषा-संस्कार** — यह द्विवेदी युग की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है खड़ी बोली के आन्दोलन में खड़ी बोली के समर्थकों को सफलता मिली। इन्होंने

ब्रजभाषा को काव्य-क्षेत्र से अपदस्थ करके साहित्य के दोनों क्षेत्रों — गद्य और पद्य में खड़ी बोली का अबाध प्रयोग किया तथा उसकी काव्योपयुक्तता सिद्ध कर दी। परन्तु अभी तक उसके रूप के परिष्कार तथा संस्कार की आवश्यकता बनी थी, जिसे द्विवेदी जी तथा उनके सहयोगी गुप्त एवं हरिऔध आदि ने पूरा किया। खड़ी बोली की पदावली के परिष्कार कार्य में महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। इन्होंने उर्दू और अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों को हिन्दी में लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। खड़ी बोली के व्याकरणसम्मत प्रयोग पर अत्यधिक बल दिया, वाक्य-विन्यास को शुद्ध किया और विभक्तियों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए। इस प्रकार इन्होंने खड़ी बोली के रूप को स्थिरता प्रदान की, उसमें स्वच्छता और परिपक्वता आई। इस समय से खड़ी बोली कविता की शैली उत्तरोत्तर स्वच्छ, शक्तिशाली और अभिव्यक्तिपूर्ण होती गई। छायावादी युग की कविता में मसृणता, कलात्मकता और अभिव्यक्ति-क्षमता के लिए बहुत कुछ भूमि द्विवेदी-युग में तैयार हो गई थी।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम कह सकते हैं कि द्विवेदी-युग भारतेन्दु-युग और छायावादी युग के बीच की कड़ी है। यह युग भारतेन्दु-युग से प्रभावित हुआ और इसने अग्रिम युग को प्रभावित किया। इस युग में कुछ कवि ऐसे हैं जिनकी रचनाओं में कविता की नवीन प्रवृत्तियों के बीज सन्निहित हैं। नवीन कविता की प्रमुख विशेषताएँ हैं—मुक्तक गीतात्मकता, भाषा की लाक्षणिकता और रहस्यात्मकता, इन सबका मूल द्विवेदी-युग की कविता में है। "द्विवेदी युग के अन्तिम वर्षों की रचनाओं से आधुनिक युग की छायावाद और रहस्यवाद की प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं और प्रगतिवाद का सम्बंध भी इनसे जोड़ा जा सकता है।"

डॉ० केसरीनारायण शुक्ल के शब्दों में, "द्विवेदी युग के कवियों ने साहित्य, जाति और देश की सेवा की और कवि के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा बनाए रखी। अतीत का चित्रण करते हुए भी ये कवि वर्तमान को न भूले। सांस्कृतिक रक्षा के साथ-साथ सुधार का भी ध्यान रखा और जाति का अभ्युत्थान चाहते हुए भी देशहित का गान गाया। हिन्दू होते हुए भी ये कवि भारतीय थे। इनमें जातीयता थी, किन्तु साम्प्रदायिकता नहीं थी। सच्चे कवि के समान ये युग से प्रभावित भी हुए और उस पर अपनी छाप भी लगा दी और इस प्रकार काव्य को उन्नतिशील बनाया। इस प्रकार द्विवेदी युग का काव्य जहां एक ओर साँस्कृतिक सम्पर्क, संघर्ष और संस्कार की कथा कह रहा है, वहाँ इन कवियों की सहानुभूति, सच्चाई और स्वतन्त्र तथा उदार व्यक्तित्व का संकेत दे रहा है। इसी में इन कवियों की सफलता और इसी में इन कवियों की महत्ता है।"

छायावाद युग

कालावधि—दो महायुद्धों के बीच की स्वच्छन्दतावाद की कविता को सामान्यतः छायावादी के नाम से अभिहित किया जाता है, किन्तु यह समझना गलत

होगा कि प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर सन् १९१८ में कविता की यह धारा सहसा फूट पड़ी और द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ पर अर्थात् १९३९ में यह एकदम विलीन हो गई। छायावादी कविता की धारा सन् १८ से पूर्व ही प्रवाहित होने लगी थी और सन् ३९ के बाद भी बल्कि आज भी प्रवाहित हो रही है। दो महायुद्धों के बीच की कविता से हमारा तात्पर्य है कि इस अवधी में छायावादी काव्यधारा प्रमुख रूप से रही।

कोई अनुकरण नहीं—छायावाद साहित्य के कला और भाव-क्षेत्र में एक महान् आन्दोलन है, जिसकी सर्वप्रमुख भावना आधुनिक औद्योगिकता से प्रेरित व्यक्तिवाद है। हिन्दी साहित्य की प्रस्तुत काव्यधारा अपने आप में मौलिक और स्वतन्त्र है। कुछ आलोचकों ने छायावाद को पाश्चात्य साहित्य की रोमांटिक धारा तथा बंगला साहित्य का अनुकरण मात्र कहा है, किन्तु यह नितान्त असमीचीन है। इस काव्यधारा का अपना जीवन-दर्शन है और यह यहाँ की सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की अनुरूपता में प्रस्फुटित हुई। यह केवल एक अन्ध भाव-प्रतिक्रिया ही नहीं है, बल्कि जीवन और जगत् के प्रति एक निश्चित और मूलभूत दृष्टिकोण भी है। इसलिए हिन्दी छायावादी कविता को पाश्चात्य या बंगला-काव्य की अनुकृति या अनुवर्तिनी नहीं कहा जा सकता, यद्यपि उनसे प्रभावित वह अवश्य है।" आगे चलकर डॉ० शिवदान सिंह चौहान लिखते हैं—"अतः यह कहना जैसे गलत होगा कि फ्रांसीसी धारा, जर्मन धारा के अनुकरण पर चली या अंग्रेजी धारा, फ्रांसीसी धारा की अनुवर्तिनी थी, उसी तरह यह कहना भी गलत होगा कि हिन्दी की छायवादी कविता पाश्चात्य धारा की नकल है और यदि फैशन की नकल की जाती है तो तत्कालीन समसामयिक फैशन की सौ वर्ष पुराने फैशन की नहीं। किन्तु उस स्वच्छन्दतावादी धारा का जिससे छायावाद की कविता प्रभावित है, सत्तर वर्ष पहले अवसान हो चुका था, और प्रथम महायुद्ध के बाद की पाश्चात्य कविता स्वच्छन्दता-वाद के अवशिष्ट ह्रासोन्मुखी, घोर व्यक्तिवादी, अनास्थावादी और असामाजिक तत्त्वों को ही एकांगी अभिव्यक्ति दे रही थीं। छायावादी यदि सहसा उनकी परिपाटी पर चल पड़ते तो उन पर अनुकरण वृत्ति का आरोप सही उतरता।" हाँ, छायावादी कवियों ने अंग्रेजी साहित्य की उन्नीसवीं सदी की रोमांटिक धारा के कुछ सामान्य तत्त्वों का ग्रहण अवश्य किया।

नामकरण—प्रस्तुत काव्य-धारा के नाम "छायावाद" के सम्बन्ध में निश्चित् रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है, किन्तु इतना अवश्य है कि 'छाया' शब्द का छाया-वादी काव्य के स्वरूप और लक्षणों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं बैठता है। आचार्य शुक्ल का कहना है कि बंगला में प्रतीकात्मक अध्यात्मवादी रचनाओं को छायावादी कहा जाता था, अतः उसके अनुकरण पर हिन्दी साहित्य में ऐसी रचनाओं के लिए छाया-वाद नाम चल पड़ा, किन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि बंगला में छायावादी नाम कभी चला ही नहीं। मुकुटधर पाँडेय ने सर्वप्रथम व्यंग्यात्मक रूप

(कविता न होकर उसकी छाया है) में शब्द का स्वच्छंदतावादी नवीन अभिव्यक्तिमय रचनाओं के लिए प्रयोग किया, जो कि बाद में इस कविता के लिए रूढ़ हो गया और स्वयं स्वच्छंदतावादी कवियों ने इसे अपना लिया। जयशंकरप्रसाद इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"मोती के भीतर छाया जैसी तरलता होती है वैसी ही कांति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है।······छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति व अभिव्यक्ति की भंगिमा पर निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषतायें हैं। अपने भीतर से पानी की तरह अन्तः स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया······कांतिमय होती है।" महादेवी वर्मा इस सम्बन्ध में लिखती हैं—सृष्टि के वाह्याकार पर इतना लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त लगता है।" प्रसाद और महादेवी के उपर्युक्त कथनों में चिन्तन के स्थान पर भावुकता है। इन्होंने छायावादी काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों का सामान्य संकेत तो कर दिया है किन्तु छायावाद शब्द की उक्त प्रकार के काव्य के विषय में सार्थकता या शब्द की अर्थपूर्ण व्युत्पत्ति के सम्बन्ध कुछ भी नहीं कहा है। सच तो यह है कि छायावाद शब्द स्वच्छन्दतावादी कविता के लिए रूढ़ हो गया और आज भी उसका इसी अर्थ में ग्रहण होता है।

परिभाषा एवं स्वरूप – छायावाद क्या है ? इस विषय में हिन्दी-साहित्य के विद्वानों ने इतना अधिक लिखा है कि कदाचित् एक साधारण पाठक विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं को पढ़कर असमंजस में पड़ जाता है। छायावाद के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले आलोचकों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—एक तो छायावाद के आलोचक और दूसरे छायावादी वे कवि जिन्होंने इस सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार हम (क) आलोचकों और (ख) कवि आलोचकों द्वारा दी गई छायावाद विषयक परिभाषाओं का क्रम से अध्ययन करके इस काव्यधारा के सम्बन्ध में जानने का प्रयत्न करेंगे—

(क)...आचार्य शुक्ल ने छायावाद का ग्रहण दो अर्थों में किया है—एक तो आध्यात्मिकता-प्रधान-प्रतीकवादी हिन्दी की कविताएँ और दूसरा एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति-शैली। उनके शब्दों में "छायावाद छन्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए-एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलंबन कर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। छायावाद का दूसरा प्रयोग काव्य शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है।"

डॉ० रामकुमार ने भी शुक्ल के समान छायावाद को रहस्यवाद से अभिन्न माना है। इनके शब्दों में, परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा

की छाया परमात्मा में। यही छायावाद है।" श्री शांतिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में "छायावाद एक दार्शनिक अनुभूति है।" इस प्रकार इन्होंने छायावाद को रहस्यवाद से कुछ मिलता-जुलता बताया है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने छायावाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"छायावाद नाम उन आधुनिक कविताओं के लिए विना विचारे ही दे दिया गया :—

(१) (क) जिनमें मानवतावादी दृष्टि की प्रधानता थी। (ख) जो वक्तव्य विषय को कवि व्यक्तिगत की चिन्ता और अनुभूति के रंग में रंग कर अभिव्यक्त करती थीं। (ग) जिनमें मानवीय आचारों, क्रियाओं, चेष्टाओं और विश्वासों के बदलते हुए अलंकार, मूल्यों को अंगीकार करने की प्रवृत्ति थी। (घ) जिनमें छन्द, रस, ताल, तुक आदि सभी विषयों में गतानुगतिकता से बचने का प्रयत्न था और जिनमें शास्त्रीय रूढ़ियों के प्रति कोई आस्था नहीं दिखाई थी।

(२) छायावाद एक विशाल सांस्कृतिक चेतना का परिणाम था, यद्यपि उसमें नवीन शिक्षा के परिणाम होने के चिन्ह स्पष्ट हैं तथापि वह केवल पाश्चात्य प्रभाव नहीं था कवियों की भीतरी व्याकुलता ने ही नवीन भाषा-शैली में अपने को अभिव्यक्त किया है।

(३) सभी उल्लेख योग्य कवियों में थोड़ी-बहुत आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की व्याकुलता भी थी।"

इस प्रकार द्विवेदी जी के अनुसार छायावाद एक सांस्कृतिक परम्परा का परिणाम है। काव्य की यह भारतीय परम्परा अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित अवश्य है लेकिन अनुकृति नहीं। इसमें मानवीय जीवन के नवीन मूल्यों की नवीन शैली में अभिव्यक्ति हुई है। इसमें आध्यात्मिक अनुभूति, मानवतावादी विचारधारा तथा वैयक्तिक चिन्तन और अनुभूति का प्राधान्य है।

श्री गंगाप्रसाद पाँडेय ने भाव-लोक की प्रगति के तीन चरण माने हैं—प्रथम वस्तुवाद, द्वितीय छायावाद, तृतीय रहस्यवाद। पांडेय जी के अनुसार "यह (छाया-वाद) वस्तुवाद और रहस्यवाद के बीच की कड़ी है।"

श्री रामकृष्ण शुक्ल ने छायावाद तथा रहस्यवाद को प्रायः एक ही मान लिया है "छायावाद प्रकृति में मानव जीवन का प्रतिबिम्ब देखता है, रहस्यवाद समस्त सृष्टि में ईश्वर का, ईश्वर अव्यक्त है और मनुष्य व्यक्त है। इसलिए छाया मनुष्य की, व्यक्त की ही देखी जा सकती है, अव्यक्त की नहीं। अव्यक्त रहस्य ही रहता है।"

डॉ० नगेन्द्र ने एक ओर तो छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह माना है और दूसरी ओर इसे जीवन के प्रति एक भावात्मक दृष्टिकोण कहा है। उनके शब्दों में "छायावाद एक विशेष प्रकार की भावपद्धति है, जीवन के प्रति एक विशेष

भावात्मक दृष्टिकोण है। जिस प्रकार भक्ति-काव्य जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण था और रीतिकाव्य एक दूसरे प्रकार का उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है।"

डॉ० रामविलास शर्मा का कहना है—"छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति विद्रोह रहा है। परन्तु यह विद्रोह मध्यवर्ग के तत्त्वावधान में हुआ था। इसलिए उनके साथ मध्यवर्गीय असंगति, पराजय और पलायन की भावना भी जुड़ी हुई है।"

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार, "मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भाव मेरे विचार में छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।" हमारे विचारानुसार आचार्य जी की इस सर्वमान्य व्याख्या में छायावाद के कतिपय छोरों को ही छुआ गया है, छायावाद के संपूर्ण स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया गया है। डॉ० देवराज का कहना है कि "छायावाद गीति-काव्य है, प्रकृति काव्य है, प्रेम-काव्य है।" उक्त परिभाषा में बहुत कुछ कह देने की लालसा है।

हिन्दी के कुछ अन्य विद्वान् आलोचकों ने छायावाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अपने-अपने मन्तव्य प्रकट किये हैं—"छायावाद द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविता की प्रतिक्रिया है।" "प्रकृति में चेतना का आरोप छायावाद है।" "मानवीकरण छायावाद है।" "जिस प्रकार परमात्मा के प्रति प्रणय रहस्यवाद है• इसी प्रकार प्रकृति के प्रति प्रणयन छायावाद है।" पर इन सभी लक्षणों में सर्वांगीणता न होकर एकांगिता है।

(ख) जयशंकर प्रसाद छायावाद के सम्बध में लिखते हैं—"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति-भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्य, प्रकृति-प्रधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषतायें हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अन्तर स्पर्श करके भाव, समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति की छाया कान्तिमय होती है।"

महादेवी वर्मा का कहना है कि "छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को प्रकृति अपने दुःख में उदात्त और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेकरूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जल-कण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है।"

सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने काव्य 'पल्लव' की भूमिका में छायावद के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उन्होंने छायावाद को अंग्रेजी साहित्य के

रोमांटिसिज्म से प्रभावित माना है। प्रसाद जहाँ छायावाद को भारतीय काव्य-परम्परा में रखते हैं, पन्त उसे अंग्रेजी साहित्य की रोमांटिसिज्म-परम्परा में।

छायावाद के सम्बन्ध में दी गई उपयुक्त परिभाषाओं से अनेक बातें ज्ञात होती हैं। (१) छायावाद में आध्यात्मिकता होती है। (२) यह एक पद्धति-विशेष है। (३) छायावाद प्रकृति में मानवीकरण है। (४) छायावाद एक दार्शनिक अनुभूति है। (५) यह एक भावात्मक दृष्टिकोण है। (६) यह एक स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है। (७) यह एक गीति काव्य है, जिसमें प्रेम और सौन्दर्य का अंकन होता है। (८) इसमें स्वानुभूति का ध्वन्यात्मक लाक्षणिक तथा उपचार-वक्रतामयी प्रतीकात्मक शैली में अभिव्यक्तिकरण होता है। (९) इसमें युगानुरूप वेदना की विवृत्ति होती है और वाद एक सांस्कृतिक चेतना का परिणाम है। (१०) इसमें आधुनिक औद्योगिकता से प्रेरित व्यक्तिवाद है, जिसमें चिन्तन और अनुभूति का प्राधान्य है तथा इसमें मानवीय जीवन के नव मूल्यों का अंकन है। (११) यह एक थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति विद्रोह है। (१२) इसका मूलाधार सर्वात्मवाद है।

छायावाद सम्बन्धी उपर्युक्त विष्टिताओं को यदि क्रमात्मक रूप से सूत्र-बद्ध किया जाये तो कदाचित् सम्भव है कि हम इस काव्यधारा की विराट् चेतना के स्वरूप को समझने में समर्थ हो सकें। इस प्रकार छायावाद के स्वरूप के सम्बन्ध में बहुत कुछ डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में कह सकते है कि "भारतीय काव्य-परम्परा में हिन्दी-कविता की छायावाद धारा अपने पूर्ववर्ती युग की प्रतिक्रिया में अस्फुटित एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण, एक विशेष दार्शनिक अनुभूति और एक विशेष शैली है, जिसमें लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम के व्याज से लौकिक अनुभूतियों का चित्रण है, जिसमें प्रकृति का मानवीकरण है, वेदना की विवृत्ति है, सौन्दर्य चित्रण है, गीति-तत्वों की प्रमुखता है और जिसके व्यक्तिवाद के स्व में सर्व-सन्निहित है।"

परिस्थितियाँ—हिन्दी की छायावादी काव्यधारा का उद्भव तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक परिस्थितियों में देखा जा सकता है। इन परिस्थितियों का अध्ययन इस कविता की धारा के सम्यक् विश्लेषण के लिये आवश्यक है।

राजनीतिक परिस्थिति—छायावादी काव्यधारा दो महायुद्धों के बीच की कविता है। इस समय स्वतन्त्रता-आन्दोलन का नेतृत्व राष्ट्रपिता गांधी कर रहे थे जिनके प्रमुख अस्त्र थे, सत्य, अहिंसा एवं असहयोग की नीति। यद्यपि प्रारम्भिक रूप में इन उपकरणों से कोई विशेष सफलता नहीं मिली, किन्तु न तो गांधी जी इससे निरुत्साहित हुए और न देशवासी। हिन्दी के कुछ विद्वानों ने छायावादी काव्य की वेदना और निराशा का सम्बन्ध प्रथम महायुद्ध के बाद अंग्रेजी शासन का अपने

वचनों को न पूरा करना, रौलट एक्ट तथा १६१६ के अवज्ञा आन्दोलन की असफलता के साथ जोड़ा है, किन्तु यह नितान्त असंगत है। असफलता के अनन्तर भी भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के सेनानियों के लक्ष्य, नीति और अदम्य उत्साह में तिल भर भी अन्तर नहीं आया। इन्हीं सतत प्रयत्नों और अप्रतिहत उत्साह-शक्ति के परिणाम-स्वरूप १६४७ में स्वतन्त्रता की प्राप्ति हुई। छायावादी कवियों की राजनीतिक आन्दोलनों के प्रति अपेक्षाकृति उदासीनता की कारण तत्कालीन राजनीतिक निराशा नहीं प्रत्युत औद्योगिकता से प्रेरित उनका व्यक्तिवाद है तथा उनका काव्य के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण है। यह तो एक संयोग था कि छायावाद का जब जन्म हुआ उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहे थे और यदि वे न भी होते तब भी छायावादी काव्य का जन्म अवश्यंभावी था और उसका स्वरूप भी यही होता जो अब हमारे सामने है। डॉ० शिवदानसिंह के शब्दों में, "इसीलिये इसी बात को स्पष्ट समझ लेने की जरूरत है कि यदि हमारा देश पराधीन न होता और हमारे यहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन की आवश्यकता न रही होती, तो भी आधुनिक औद्योगिक समाज (पूँजीवाद) का विकास होते ही काव्य में स्वच्छन्दतावादी भावना और व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति मुखर हो उठती। इसलिये छायावादी कविता राष्ट्रीय आन्दोलन या जागृति का सीधा परिणाम नहीं बल्कि पाश्चात्य अर्थ-व्यवस्था और संस्कृति के सम्पर्क में आने के परिणाम स्वरूप हमारे देश और समाज के बाहरी और भीतरी जीवन में प्रत्यक्ष और परोक्ष परिवर्तन हो रहे थे, उन्होंने जिस तरह सामूहिक व्यवहार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्रीय एकता की भावना जगाई और राष्ट्रीय संघर्ष को प्रेरणा दी, उसी तरह सांस्कृतिक क्षेत्र में उसने स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति को प्रेरणा दी।...इस दृष्टि से ही हम कह सकते हैं कि देश की प्राचीन संस्कृति और पाश्चात्य काव्य के प्रभावों को ग्रहण करती हुई छायावादी कविता राष्ट्रीय जागरण के क्रोड़ में पनपी और फूली-फली।" हाँ, राष्ट्रीय आन्दोलनों का यह लाभ अवश्य हुआ कि व्यक्तिवाद असामाजिक पथों पर न भटका।

धार्मिक परिस्थिति – छायावादी काव्य की दार्शनिकता प्राचीन अद्वैतवाद तथा सर्वात्मवाद से गहरे रूप में प्रभावित है। महादेवी वर्मा के शब्द इस सम्बन्ध में विशेष द्रष्टव्य हैं—"छायावाद कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूति सुःख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, आध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामों का भार सम्भाल सकी।" इसके अतिरिक्त छायावादी काव्य पर रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, गाँधी, टैगोर तथा अरविन्द के दर्शनों का भी गहरा प्रभाव पड़ा।

सामाजिक परिस्थिति—पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति और अर्थव्यवस्था के

प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय समाज के सम्पूर्ण जीवन में एक नवीन परिवर्तन तथा विचारों में एक नूतन क्रांति आई। इस प्रभाव ने जहां एक ओर हमारे देश में राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय आन्दोलनों को जन्म दिया वहां इसने सांस्कृतिक क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को अधिकाधिक प्रोत्साहित किया। हमारे देश के नवयुवकों में व्यक्तिवाद का बोलबाला हुआ। उनके वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर आया। किन्तु दुःखद बात यह थी कि स्वच्छन्दतावादी नवीन पीढ़ी धार्मिक, सामाजिक रूढ़ियों, जाति-पाँति, अन्धविश्वासों और मिथ्या-डम्बरों को छिन्न-भिन्न करने को सन्नद्ध, थी, जबकि उसके समक्ष पुरानी पीढ़ी की समस्तरूढ़ियाँ अटल चट्टान के समान थीं जो कि उनके स्वप्नों के स्वर्णिम संसार को चकनाचूर कर देती थीं। परिणामस्वरूप जीवन में कुण्ठा, अतृप्ति और निराशा की भावनायें शनैः शनैः बद्ध-मूल होने लगीं, जिनकी अभिव्यक्ति छायावादी काव्य में स्पष्ट रूप में देखी जा सकती है।

छायावादी काव्य की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि का विश्लेषण करते हुए केसरीनारायण शुक्ल लिखते हैं—"छायावाद के व्यक्तिवाद, आत्माभिव्यक्ति, कलावाद आदि बर्जुआई (Bourgeoisie) संस्कृति के ही विविध रूप हैं। हमारे समाज की व्यवस्था ही प्रतिद्वन्द्विता के आधार पर है।···आज के समाज के मूल्यांकन का मानदण्ड अधिकार-स्वायत्त मूल्य (Property values) के आधार पर है तो जनहित की अपेक्षा व्यक्तिगत सफलता की भावना प्रमुख हो गई। पूँजीवादी मितव्ययता (Capitalist Economy) द्वारा जिसका आधार ही व्यक्तिगत एकाधिकार है संघटित समाज में व्यक्ति का प्राधान्य अनिवार्य था।" इस प्रकार की सामाजिक स्थिति में छायावादी कवि में व्यक्तिवाद का प्राधान्य अनिवार्य था और उसका स्वच्छन्दतावाद तथा कलावाद की दुहाई देना भी स्वाभाविक था।

साहित्यिक परिस्थिति—पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के समान वहां के साहित्य का भी विशेषतः अंग्रेजी साहित्य के रोमांटिसिज्म का हिन्दी के छायावादी काव्य पर गहरा प्रभाव पड़ा है। अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद—रोमांटिसिज्म का आरम्भ अठारहवीं शती में सेम्युअल रिचर्डसन, हेनरी फीलिंडग, स्टर्न और गोल्डस्मिथ (सन् १७२८-७४ ई०) से माना जा सकता है। आगे चलकर इस धारा के अन्तर्गत वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन और कूपर आदि ने अपनी अमूल्य कृतियों का प्रणयन किया। अंग्रेजी साहित्य की स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा की प्रमुख विशेषतायें—"प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, मानवतावाद, वैयक्तिक प्रेम की अभिव्यंजना, रहस्यात्मकता, सौन्दर्य का सूक्ष्म चित्रण, प्रकृति में चेतना का आरोप, गीतिशैली और व्यक्तिवाद आदि हिन्दी के छायावाद में समान-रूप से मिलती हैं।" इस साम्य का कारण अनुकरण नहीं, बल्कि दोनों कवियों के दृष्टिकोण में समता है। बंगला-साहित्य

अंग्रेजी-साहित्य के रोमांटिसिज्म से प्रभावित हो चुका था, अतः हिन्दी के छायावादी कवि ने भी प्रभाव-ग्रहण करने में संकोच नहीं किया।

अंग्रेजी साहित्य के इस स्वच्छन्दतावाद से छायावाद के इस घनिष्ठ साम्य को देखकर, हिन्दी साहित्य के कुछ आलोचकों ने छायावाद को अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद को ही हिन्दी का संस्करण कह दिया है जो कि नितान्त असमीचीन है। हम पहले कह चुके हैं कि छायावाद पर अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव अवश्य है, और इन दोनों में बहुत कुछ साम्य भी है, छायावाद केवल स्वच्छन्दतावाद की अन्धानुकृति मात्र नहीं है। छायावाद का उद्भव भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप हुआ। छायावादी काव्यकार का जीवन और जगत के प्रति अपना एक निश्चित दृष्टिकोण है। यदि हिन्दी का छायावाद अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद के फैशन की नकल है तो तत्कालीन फैशन की नकल होनी चाहिये थी, फिर सौ वर्ष पुराने फैशन की क्यों? छायावाद और स्वच्छन्दतावाद को साम्य के आधार पर परस्पर अभिन्न मानना भ्रम होगा, क्योंकि छायावाद की सृष्टि एक सर्वथा भिन्न देश और काल में हुई।

वस्तुस्थिति तो यह है कि छायावाद और स्वच्छन्दतावाद की उदयकालीन परिस्थितियों में एक गहरा साम्य है। जिस प्रकार अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद के जन्म से पूर्व साहित्य में अतिनैतिकता, सुधारवाद, इतिवृत्तात्मकता, शुष्कता तथा शास्त्रीय रूढ़ियों का बोलबाला था ठीक यही दशा छायावाद के अभ्युदय से पूर्व हिन्दी में द्विवेदी युग में थी जिसकी प्रक्रिया छायावाद के रूप में हुई। डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त के शब्दों में—"फ्रांस की राज्य क्रांति ने इंगलैंड के कवियों को वैयक्तिक स्वतन्त्रता का संदेश दिया तो दूसरी ओर 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' की घोषणा ने हमारे छायावादियों को गुलामी की भावना से मुक्त किया। रोमांटिक युग के युवकों को सौन्दर्य और प्रेम की उन्मुक्त लालसा पर धार्मिक संस्थाओं एवं सामाजिक मान्यताओं का अंकुश लगा हुआ था तो छायावादी युग के प्रेमियों पर हिन्दू समाज कीं रूढ़ियों का नियंत्रण था। रोमांटिक कवि दैनिक जीवन की असंगतियों, विषमताओं एवं कटुता का त्राण प्रकृति एवं आध्यात्म में ढूँढने को विवश हुये थे तो हिन्दी कवियों को भी इनसे बढ़कर और कोई आश्रय नहीं था। अतः मूलाधार की दृष्टि से भी दोनों में भी गहरा साम्य है।"

छायावादी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियां

इस काव्य की विषयगत और कलापक्ष-गत प्रवृत्तियों का विश्लेषण पृथक्-पृथक् किया जायगा।

(१) व्यक्तिवाद की प्रधानता—हिन्दी के छायावादी काव्य को मूलभूत प्रवृत्ति आधुनिक औद्योगिकता में प्रेरित व्यक्तिवाद है। आधुनिक युग की प्रतिद्वन्द्वात्मक व्यवस्था, अधिकार-स्वायत्ता और पूँजीवादी मितव्यता के परिणामस्वरूप

व्यक्तिवाद का जन्म हुआ। इस व्यक्तिवाद के फलस्वरूप छायावादी कवि ने स्वच्छन्दतावाद कलावाद की दुहाई दी जो नैसर्गिक थी। "केवल आध्यात्मिक पक्ष या दार्शनिक अनुभूति ही छायावाद नहीं हैं। छायावादी कविता मूलतः व्यक्तिवाद की कविता है, जिसमें मध्ययुगीन अवशेषों से युक्त भारतीय समाज और व्यक्ति के बीच व्यवधान और विरोध को वाणी मिली है। प्रथम महायुद्धोत्तर हिन्दी-कविता जाति, महा जाति अथवा महत्त्वपूर्ण आदर्श या उपास्य व्यक्तियों के सुख दुःख की नहीं वरन् व्यक्ति के सुख-दुःख की कहानी है। विषयवस्तु की खोज में कवि बाहर नहीं अपने मन के भीतर ही झाँकता है।" छायावादी कवि को अपने व्यक्तित्व के प्रति अगाध विश्वास था और उसने बड़े उत्साह से काव्य के भाव और कलापक्ष में निज व्यक्तित्व का प्रदर्शन किया। अहंभावना (Egoism) छायावादी काव्य की सर्वप्रमुख विशेषता बन गई, और इस प्रकार छायावादी काव्य में वैयक्तिक सुख-दुःख की अभिव्यक्ति खुलकर हुई। जयशंकर प्रसाद का "आँसू" तथा पन्त जी के "उच्छवास" और "आँसू" व्यक्तिवादी अभिव्यक्ति के सुन्दर निदर्शन हैं।

वैसे तो व्यक्तिवाद न ही अपने आप में कोई वस्तु बुरी है और न ही इसमें किसी प्रकार की कोई असामाजिक भावना है किन्तु इस प्रसंग में और विशेषतः छायावादी काव्य के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना होगा कि इसके व्यक्तिवाद के अहं स्व में सर्व-सन्निहित है। छायावादी कवि का हास और रुदन रूढ़िग्रस्त संघर्ष-परायण प्रबुद्ध भारतीय का हास और रुदन है। डॉ० शिवदानसिंह चौहान इस सम्बन्ध में अत्यन्त मार्मिक शब्दों में लिखते हैं—"कवि का "मैं" प्रत्येक प्रबुद्ध भारत वासी की "मैं" था, इस कारण कवि की विषयगत दृष्टि ने अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए जो लाक्षणिक भाषा और अप्रस्तुत योजना शैली अपनाई, उसके संकेत और प्रतीक हर व्यक्ति के लिये सहज प्रेषणीय बन सके। छायावादी कवियों की भावनायें यदि उनके विशिष्ट वैयक्तिक दुःखों के रोने-धोने तक ही सीमित रहती, उनके भाव यदि केवल आत्मकेन्द्रित ही होते तो उनमें इतनी व्यापक प्रेषणीयता कदापि न आ पाती। निराला ने लिखा—

> **"मैंने "मैं" शैली अपनाई,**
> **देखा एक दुखी निज भाई**
> **दुख की छाया पड़ी हृदय में,**
> **झट उमड़ वेदना आई।"**

इससे स्पष्ट है कि व्यक्तिगत सुख दुःखों की अपेक्षा अपने से अन्य के सुख-दुःखों की अनुभूति ने ही नये कवियों के भाव-प्रवण और कल्पनाशील हृदयों को स्वच्छन्दतावाद की ओर प्रवृत्त किया।"

(२) **प्रकृति-चित्रण**—सौन्दर्य और प्रेम का चित्रण छायावादी काव्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति है, जिसे तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है—नारी सौन्दर्य एवं

प्रेम-चित्रण, प्रकृति के सौन्दर्य और प्रेम की अभिव्यंजना, अलौकिक प्रेम या रहस्य-वाद का चित्रण । छायावादी कवि का मन प्रकृति-चित्रण में खूब रमा है । इस काव्य में प्रकृति पर चेतनता का आरोप (मानवीकरण) किया गया है । प्रसाद, पन्त निराला, महादेवी वर्मा आदि छायावाद के सभी प्रमुख कवियों ने प्रकृति का नारी रूप में चित्रण किया है और सौन्दर्य एवं प्रेम की अभिव्यक्ति की है । जैसे —

"पगली हाँ सँभाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल ।
देख बिखरती है मणिराजी अरी उठा बेसुध चंचल ।"

यहाँ प्रसाद अपने महाकाव्य 'कामायनी' में रात्रि को सम्बोधन करते हुए कह रहे हैं । छायावादी कवि ने प्रकृति को आलम्बन रूप में रख कर उसका शृंगारिक चित्रण किया है जो कि रीतिकालीन शृंगार से भिन्न है । इनकी प्रकृति-सम्बन्धी शृंगारिकता में श्लीलता और सात्विकता है, रीतिकालीन ऐन्द्रियता नहीं, किन्तु कहीं-कहीं पर इनके प्रकृति-विषयक चित्रणों में भी ऐन्द्रियता स्पष्टतः उभर आई है । "बाले ! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन" का स्वाँग भरने वाले पन्त की कविता "भावी-पत्नी" में तथा निराला की कविता "जूही की कली" में किसी प्रकार की सूक्ष्मता तथा श्लीलता का दम भरना अपने आपको धोखा देना होगा । डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में "निराला की जूही की कली" को भले ही कुछ लोग प्रकृति-वर्णन का श्रेष्ठ उदाहरण माने किन्तु हमारी दृष्टि में तो वह पुरुष और नारी के संगम का ही चित्रण है, उसका भौंरा कोई और नहीं वे कन्दर्पदेव ही हैं जो छायावादी कवियों के हृदय में सोये हुए थे और जूही की कली किसी जीती-जागती रति देवी की प्रतिच्छाया मात्र है ।" छायावादी कवि के लिये प्रकृति की प्रत्येक छवि विस्मयोत्पादक बन जाती है । वह प्राकृतिक सौन्दर्य पर विमुग्ध होकर रहस्यात्मकता की ओर उन्मुख हो जाता है—

मैं भूल गया निज सीमायें जिससे,
वह छवि मिल गई मुझे ।

छायावादी कवि ने निजी अनुभूतियों का व्यक्ति-करण प्रकृति के माध्यम से किया है । उदाहरणार्थ—"मैं नीर भरी दुख की बदली ।" अधिकांश में छायावादी कवियों ने प्रकृति के कोमल रूप का चित्रण किया है, परन्तु कहीं-कहीं उसके उग्र रूप का चित्रण भी हुआ है ।

(३) **नारी के सौन्दर्य एवं प्रेम का चित्रण**—छायावादी कवि का नारी चित्रण अपेक्षाकृत सूक्ष्म और श्लील है । इसमें स्थूलता और नग्नता प्रायः न के बराबर है—

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग ।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग ।।

स्वच्छन्दतावादी होने के नाते इस कवि को प्रेम के क्षेत्र में जाति, वर्ण

सामाजिक रीति-नीति, रूढ़ियाँ और मिथ्या मान्यताएँ और मर्यादाएँ मान्य नहीं हैं। निराला जी लिखते हैं—

दोनों हम भिन्न वर्ण, भिन्न जाति, भिन्न रूप।
भिन्न धर्म भाव, पर केवल अपनाव से प्राणों से एक थे ॥

इनके प्रेम-चित्रण में कोई लुकाव-छिपाव नहीं है, उसमें कवि की वैयक्तिकता है। इन्होंने नारी सम्बन्धी सौन्दर्य एवं प्रेम का चित्रण करते समय स्थूल क्रिया-व्यापारों के चित्रण पर बल नहीं दिया है, भाव-दशाओं का चित्रण अधिक है। इनकी प्रणय गाथा का अन्त प्रायः दुःख, निराशा तथा असफलता में होता है, अतः उसमें मिलन अनुभूतियों की अपेक्षा विरहानुभूतियों का चित्रण अधिक हुआ है और इस दिशा में इन्हें प्रशस्य सफलता मिली है—पन्त के शब्दों में—

शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर, विरह अहह कराहते इस शब्द को।
किस कुलिश की तीक्ष्ण चुभती नोंक से, निठुर विधि ने आँसुओं से है लिखा ॥

(४) रहस्यवाद—अलौकिक प्रेम चित्रण—प्रायः छायावाद के सभी आलोचकों ने इसमें दार्शनिक अनुभूति अथवा आध्यात्मिकता का पाया जाना आवश्यक माना है। छायावाद में बाह्य पदार्थों की अपेक्षा आन्तरिकता की प्रवृत्ति अधिक होती है। यह आन्तरिकता या अन्तर्मुखी प्रवृत्ति मनुष्य को रहस्यवाद की ओर अग्रसर करती है। इसलिए छायावाद के प्रत्येक कवि ने फैशन के रूप में, नाम कमाने के रूप में या आन्तरिक अनुभूतियों के प्रदर्शन के रूप में रहस्यवादी भावना की अभिव्यक्ति की है। इस प्रकार छायावादी रहस्यात्मकता में स्वभाव-भिन्नता के कारण व्यंजना और प्रतीकों में अनेकरूपता मिलती है। निराला तत्त्व-ज्ञान के कारण, तो पन्त प्राकृतिक सौन्दर्य से रहस्योन्मुख हुए। प्रेम और वेदना ने महादेवी वर्मा को रहस्योन्मुख किया तो प्रसाद ने उस परमसत्ता को अपने बाहर खोजा। किन्तु इस सम्बन्ध में एक तथ्य को भूलना न होगा कि पन्त, प्रसाद और निराला में रहस्यवाद की वह गहराई नहीं जो कबीर और दादूदयाल आदि में है। छायावाद के रहस्यवादी कवियों में वह तन्मयता और विरहानुभूति की तीव्रता नहीं जो कबीर आदि में। सच तो यह है कि इनमें स्वाभाविकता के स्थान पर कृत्रिमता है। रहस्यवादी कवि लौकिकता से अलौकिक और स्थूल से सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होता है, किन्तु इन छायावाद के रहस्यवादियों का क्रम उल्टा ही है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में "वीणा में पन्त रहस्दवादी थे, गुंजन में पत्नी या प्रेयसीवादी, और युगान्त के बाद स्थूल भौतिकवादी और यही बात निराला में मिलती है।" निराला के पास तत्त्व ज्ञान तो है, पर वे उसे अनुभूति का विषय नहीं बना सके। छायावाद के श्रीगणेश-कर्ता तक में कोई सच्ची रहस्यात्मक अनुभूति नहीं। उनकी 'कामायनी' के दर्शन और रहस्य सर्ग शुष्क, नीरस और अनुभूतिशून्य हैं। सच तो यह है कि इन कवियों ने रहस्यात्मकता का अभिनय बड़े कौशल से किया, जिससे उनका पाठकरूपी दर्शक

चमत्कृत हो उठता है, पर तनिक गहराई से देखने से उस अलौकिक प्रेम के बाने में लौकिक प्रेम-लीला स्पष्ट दीखने लगती है। हाँ, रहस्यवाद के क्षेत्र के महादेवी वर्मा दृढ़ता से पग बढ़ाये जा रही हैं और उनकी अनुभूति में गहराई और सचाई भी लक्षित होती है, पर उनके पास भी कबीर और दादू जैसी विरह-अनुभूतियों का अभी तक अभाव है। उदाहरण के लिये देखिये—

पिय चिरन्तन है सजनि,
क्षण-क्षण नवीन सुहागिनि मैं,
तुम मुझ में फिर परिचय क्या।

(५) रहस्यभावना एवं स्वतन्त्रता प्रेम— छायावादी काव्य में रहस्य भावना के साथ-साथ स्वतन्त्रता का आह्वान भी किया गया है। रहस्यवाद में वृत्ति अन्तर्मुखी होती है जबकि राष्ट्रीय जागरण के युग में स्वतन्त्रता के आह्वान का सम्बन्ध बाह्य जगत् से है और सम्भव है कि वह सम्मिश्रण कुछ विलक्षण भी प्रतीत हो, किन्तु यह कोई नई बात नहीं है। अंग्रेजी के रोमांटिक साहित्य में रहस्यवाद और स्वच्छन्दता की भावनाएँ दोनों मिलती हैं। ब्लेक, वर्ड्सवर्थ और शैली ने जहाँ स्वतन्त्रता के गीत लिखे वहाँ रहस्यात्मकता का भी स्वर आलापा। आयरिश साहित्य के पुनरुत्थान काल में कवि कीट्स की रचनाओं में प्रतीकवाद, रहस्यात्मकता एवं स्वतन्त्रता-प्रेम दोनों मिलते हैं। रूसी साहित्य के रोमांटिक कवि अलेक्जेंडर ब्लाक की रचनाओं में भी रहस्यात्मकता और स्वतन्त्रता प्रेम की भावनाएं मिलती हैं। राष्ट्रीय जागरण की क्रोड़ में पलने-पनपने वाला स्वच्छंदतावादी छायावादी साहित्य यदि रहस्यात्मकता और राष्ट्र-प्रेम की भावनाओं को साथ-साथ लेकर चला है, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सच तो यह है कि राष्ट्रीय जागरण ने छायावाद के व्यक्तिवाद को असामाजिक पदों पर भटकने से बचा लिया। छायावादी कवि में आन्तरिकता की कितनी भी प्रधानता क्यों न हो वह अपने युग से निश्चित रूप में प्रभावित हुआ है। यही कारण है कि जयशंकर प्रसाद पुकार उठते हैं—

अरुण यह मधुमय देश हमारा,

अथवा

हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती,

तथा माखनलाल चतुर्वेदी कह उठते हैं—

मुझे तोड़ लेना बनमाली,
उस पथ पर देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक।

इस प्रकार की राष्ट्र-प्रेम भावनाएँ प्रायः प्रत्येक छायावादी कवि की रचनाओं में अभिव्यक्त हुई हैं।

(६) **स्वच्छन्दतावाद**—छायावादी कवि ने अहंवादी व व्यक्तिवादी होने के कारण विषय, भाव, कला, धर्म, दर्शन और समाज सभी क्षेत्रों में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को अपनाया। उसे अपने हृदयोद्‌गारों को अभिव्यक्त करने के लिए किसी प्रकार का शास्त्रीय बन्धन और रूढ़ियाँ स्वीकार नहीं हैं। भाव-क्षेत्र में भी उसने इसी क्रांति का प्रदर्शन किया। उसने "मैं" की शैली अपनाई, हालांकि उसकी "मैं" में समूचा समाज सन्निहित है। अब छायावादी कवि के लिए प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक दिशा का मार्ग उन्मुक्त था। छायावादी कवि के लिए कोई भी वस्तु काव्य-विषय बनने के लिए उपयुक्त थी। इसी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के फलस्वरूप छायावादी काव्य में सौन्दर्य और प्रेम-चित्रण, प्रकृति-चित्रण, राष्ट्र-प्रेम, रहस्यात्मकता, वेदना और निराशा, वैयक्तिक सुख-दुःख, अतीत-प्रेम, कलावाद, प्रतीकात्मकता और लाक्षणिक अभिव्यंजना आदि सभी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। उसे पुरानी पिटी-पिटाई राहों पर चलना अभिप्रेत नहीं है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि छायावाद वैयक्तिक रुचि-स्वातन्त्र्य का युग है।

(७) **वेदना और निराशा** - इस काव्य में युगानुरूप वेदना की विवृत्ति हुई है। यह विवृत्ति कहीं पर अनन्त वेदना के रूप में हुई है तो कहीं पर करुण में और कहीं-कही पर निराशा के रूप में। प्रसाद एवं महादेवी के काव्यों में अभिव्यक्त वेदना सेवावाद, मानवतावाद तथा आध्यात्मवाद पर आधारित है। हिन्दी के कुछ आलोचकों ने छायावाद में अभिव्यक्त वेदना और निराशा पर तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन की असफलता से जन्य निराशा का प्रभाव बताया है। इस सम्बन्ध में हम पहले ही लिख चुके हैं कि आन्दोलनों की असफलता से भी देशी नेताओं और देशवासियों में किसी प्रकार की उत्साह-विहीनता और निराशा नहीं आई। आन्दोलनों के साध्य और साधन पूर्ववत् बने रहे। दूसरी बात यह भी है कि छायावाद में आन्तरिकता की प्रधानता है। ऐसी बात तो नहीं कि छायावाद बाह्य हलचलों से एकदम अछूता रहा हो, पर इस सम्बन्ध में उसकी वेदना पर कोई भी तथाकथित प्रभाव नहीं है। डॉ० शिवदानसिंह चौहान के शब्दों में, "इसलिए यद्यपि उनकी वाणी में मनुष्य की महिमा का उद्‌घोष है, रूढ़िग्रस्त समाज के बन्धनों और मनुष्य के शोषण उत्पीड़न के विरुद्ध एक नैतिक और न्यायपरक भावना का मार्मिक प्रतिवाद है और समाज के अधिकार-वंचित प्राणियों के प्रति सहज करुणा और सहानुभूति की उदात्त भावना है, तो भी कहीं-कहीं घोर नैराश्य से भरा और आत्मपीड़क चीत्कार भी है, जो अपने निबिड़ आवेग में उनके आधारभूत मानवता को समाजद्रोही भावनाओं से तिमिराच्छन्न कर लेता है। किन्तु ऐसी ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियाँ सन् ३५ के बाद ही अधिक मुखर हुईं और कुछ विशेष कवियों में ही, नहीं तो प्रसाद, निराला, पन्त जैसे अग्रणी कवियों की सहज प्रवृत्ति सामान्यतः अपने सुख-दुःखों को वाणी न देकर उनसे ऊपर उठने की ओर हो रही है।"

(८) **मानवतावाद** – छायावादी काव्य की धार्मिक परिस्थितियों के प्रसंग में

हम लिख चुके हैं कि यह काव्य भारतीय सर्वात्मवाद तथा अद्वैतवाद से गहरे रूप में प्रभावित हुआ है। इसके अतिरिक्त उस काव्य पर रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, गाँधी, टैगोर तथा अरविन्द के दर्शन का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के कारण छायावादी कवि को साहित्य के समान धर्म, दर्शन आदि में भी रूढ़ियां एवं मिथ्या परम्पराएँ अमान्य हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर बंगला-साहित्य में जाति एवं वर्गगत संकीर्णताओं से ऊपर उठकर विश्व-मानवता का जयघोष पहले ही कर चुके थे। रवीन्द्र-साहित्य का हिन्दी छायावादी कविता पर काफी प्रभाव पड़ा। छायावादी काव्य में मानवतावादी दृष्टिकोण विविध रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। छायावादी कवि ने युग-युग से उपेक्षित नारी को सदियों की कारा से मुक्त करने का स्वर अलापा। रीतिकालीन कवि क समान उसकी दृष्टि केवल नारी के कुच और कटाक्ष तक ही सीमित न थी, उसने नारी के तन को न देखकर उसके मन को देखा और उसके मानसिक सौन्दर्य के अनेक छविमय विमोहक चित्र अंकित किये, जिनमें रीतिकालीन शृंगार की विलासिता नहीं, बल्कि सात्विक रसात्मकता है। छायावादी कवि कह उठता है—"मुक्त करो नारी को, युग-युग की कारा से बन्दिनी नारी को।" इसी प्रकार—

नष्ट हो गई उसकी आत्मा
त्वचा रह गई पावन
युग-युग से अवगुंठित गृहिणी
सहती पशु के बन्धन।
खोलो हे मेखला युगों की
कटि प्रदेश से, तन से
अमर प्रेम हो उसका बन्धन
वह पवित्र हो मन से।

छायावादी कवि सारे संसार से प्रेम करता है। उसके लिए भारतीय और अभारतीय में कोई अन्तर नहीं क्योंकि सर्वत्र एक ही आतमा व्याप्त है। विश्व मानवता की प्रतिष्ठा उसका आदर्श है—

जग जीवन उल्लास मुझे, नव आशा नव अभिलाष मुझे।
सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन॥

छायावादी काव्य में विश्व के शोषित वर्ग के प्रति भी सहानुभूतिपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

(९) **आदर्शवाद**—छायावाद में आन्तरिकता की प्रवृत्ति की प्रधानता है। उसमें पदार्थों के बाह्य रूप-चित्रण की प्रवृत्ति नहीं है। अपनी इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण उसका दृष्टिकोण काव्य के भावजगत् और शैली में आदर्शवादी रहा है। उसे सांसारिक पदार्थों के बाह्य-चित्रण की अपेक्षा अपनी सहानुभूतियाँ अधिक यथार्थ और

महत्त्वपूर्ण लगी हैं। यही कारण है कि उसका काव्यसम्बन्धी दृष्टिकोण कल्पनात्मक रहा और उसमें सुन्दर तत्त्व की प्रधानता बनी रही। छायावादी कवि के इस आदर्शवादी कल्पनात्मक दृष्टिकोण को उसके कलापक्ष में भी सहज देखा जा सकता है। कुछ आलोचकों ने छायावादी कवि की शैली और प्रतीकात्मकता पर सामन्तीपन का आरोप लगाया है, जोकि समीचीन नहीं है। यदि इस प्रकार राजनीतिक वादों को हठात् काव्य पर आरोपित किया गया, तो न जाने इसका परिणाम क्या होगा!

(१०) **युग का प्रभाव**—यह ठीक है कि छायावाद का काव्य व्यक्तिवादी है और उसके कवि की विचार-धारा का केन्द्र वह स्वयं है- किन्तु यह निश्चित है कि "मैं" शैली में जनता के सुख-दुःख और आशा-निराशा सभिव्यक्त हुई है। यह सच है कि यदि उसकी कविता घोर व्यक्तिवादी होती तो उसमें प्रेषणीयता की इतनी मात्रा न आ सकती थी। हिन्दी-साहित्य का कोई भी प्रबुद्ध आलोचक यह स्वीकार करने को तैयार नहीं होगा कि छायावादी कविता समाज से दूर है। यह ठीक है कि कभी-कभी छायावादी कवि ने जगत् की भयंकर वास्तविकता से भाग कर कल्पना-लोक के एकान्त में शरण एवं श्रास पाने की सोची है, परन्तु इसके बीज भी तत्कालीन समाज के जीवन में व्याप्त असन्तोष तथा निराशा में ढूँढे जा सकते हैं। अशान्ति में शान्ति पाने की मनोवृत्ति छायावादी कवि की कोई कम महत्त्वपूर्ण देन नहीं। प्रसाद की "अरुण यह मधुमय देश हमारा" जैसी पंक्तियों पर कोई राष्ट्रवादी भारतीय युवक गर्व कर सकता है। छायावादी कवि अन्तर्मुखी होते हुए भी सतत स्वतन्त्रता का आह्वान करता रहा है। आज के बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक युग की सबसे बड़ी देन है बौद्धिकता की, और इस बौद्धिकता के अतिरेक से आज के विश्व का जीवन कितना विशृंखल, अशांत एवं असंतुलित है, इसका भान किसी भी सजग व्यक्ति के लिए दुष्कर नहीं है। प्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' में युग के इन समस्त घात-प्रतिघातों का प्रतिबिम्ब स्पष्ट है। आज के विश्व-जीवन की शान्ति हृदय और बुद्धि की समन्वयात्मकता में सन्निहित है। आधुनिक युग जीवन की अशांति का कारण है।

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है।
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सकें,
यह विडम्बना है जीवन की।।

ऊपर हमने छायावाद के काव्य की विषयगत प्रवृत्तियों का सामान्य विवेचन किया है। अब हम उसकी कलापक्ष गत विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

(१) **प्रतीकात्मकता**—छायावाद में अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की प्रमुखता के कारण बाह्य-स्थूलता का चित्रण न होकर सूक्ष्मता का चित्रण हुआ है। प्रकृति-चित्रण छायावाद की एक प्रमुख विशेषता है। प्रकृति ही के बीच कवि ने अपनी शोभा और भावनाओं को देखा है और अनुभव भी किया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता

कि प्रकृति छायावादी कवि के वैयक्तिक जीवन का प्रतीक बन गई। निःसन्देह इस काव्य में प्रकृति का उन्मुक्त चित्रण हुआ है किन्तु स्मरण रखना होगा कि उसकी स्वतन्त्र सत्ता का आभास, जैसा कि संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध होता है, कम मिलता है और इस काव्य में उसका आलम्बन रूप में ग्रहण भी बहुत कम हुआ है। प्रकृति पर सर्वत्र मानवीय भावनाओं का आरोप किया गया और उसका संवेदनात्मक रूप में चित्रण किया गया, इससे वह स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व से विहीन हो गई और उसमें प्रतीकात्मकता का व्यवहार किया गया। उदाहरणार्थ, फूल सुख के अर्थ में, शूल दुःख के अर्थ में, उषा प्रफुल्लता के अर्थ में, संध्या उदासी के अर्थ में, झंझा-झकोर गर्जन मानसिक द्वन्द्व के अर्थ में, नीरद-माला नाना भावनाओं के अर्थ में प्रयुक्त हुए। दार्शनिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना एवं प्रेम की सूक्ष्मातिसूक्ष्म दशाओं के अंकन में भी इस प्रतीकात्मकता को देखा जा सकता है। प्रेम-चित्रण में लौकिक और अलौकिक दोनों अर्थों की व्यंजना के लालच के फलस्वरूप इन कवियों में अस्पष्टता आ गई और कविता में अभीष्ट प्रभाव भी न आ सका। छायावादी काव्य में बहुत सी ऐसी रचनाएँ हैं, जिनका विषय लौकिक प्रेम है किन्तु साथ-साथ वे आध्यात्मिक प्रेम की भी प्रतीक हैं।

(२) **चित्रात्मक भाषा एवं लाक्षणिक पदावली**—अन्य अनुपम विशिष्टताओं के अतिरिक्त केवल चित्रात्मक भाषा के कारण हिन्दी वाङ्मय में छायावादी काव्य के स्वतन्त्र व्यक्तित्व एवं अस्तित्व माने जा सकते हैं। निःसन्देह द्विवेदी-युग में भाषा में परिष्कार और संस्कार का कार्य सम्पन्न हुआ, किन्तु उसमें सौन्दर्य और सौकुमार्य की सृष्टि इसी काल में हुई। कविता के लिए चित्रात्मक भाषा की अपेक्षा होती है और इसी गुण के कारण उसमें बिम्बग्राहिता आती है। छायावादी कवि इस कला में परम विदग्ध है। "छायावादी काव्य में प्रसाद ने यदि प्रकृति तत्त्व को मिलाया, निराला जी ने उसे मुक्तक छंद दिया, पन्त ने शब्दों को खराद पर चढ़ा कर सुडौल और सरस बनाया तो महादेवी जी ने उसमें प्राण डाले, उसकी भावात्मकता को समृद्ध किया।" प्रसाद की निम्नांकित पंक्तियों में भाषा की चित्रात्मकता की सहज छटा देखी जा सकती है—

शशि मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाए।
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आए।

छायावादी कवि ने सीधी-सादी भाव-सम्बन्धित भाषा से लेकर लाक्षणिक और अप्रस्तुत-विधानों से युक्त चित्रमयी भाषा तक का प्रयोग किया और कदाचित् इस क्षेत्र में उसने सर्वाधिक अपनी मौलिकता का प्रदर्शन किया। छायावादी कवि ने परम्परा-प्राप्त उपमानों से संतुष्ट न होकर नवीन उपमानों की उद्भावना की। इसने अप्रस्तुत-विधान और अभिव्यंजना-शैली में शतशः नवीन प्रयोग किये। मूर्त में अमूर्त का विधान उसकी कला का विशेष अंग बना। निराला जी विधवा का चित्रण करते हुए लिखते हैं—"वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा सी।" छायावादी काव्यधारा के पर्याप्त

विरुद्ध लिखने वाले आलोचक डॉ० रामचन्द्र शुक्ल को भी लिखना पड़ गया था कि "छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें संदेह नहीं। इसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त-प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमल पदविन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संगठित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।" उन्होंने पंत काव्य के कुछ उदाहरण भी उपन्यस्त किये—"धूल की ढेरी में अनजान। छिपे हैं मेरे मधुमय गान।" "मर्म पीड़ा के हास।" "कौन तुम अतुल रूप अनाम।"

(३) **गेयता**—छायावादी कवि केवल साहित्यिक ही नहीं वरन् संगीत का भी कुशल ज्ञाता है। छायावाद का काव्य छन्द और संगीत दोनों दृष्टियों से उच्च कोटि का है। इसमें प्राचीन छंदों के प्रयोग के साथ-साथ नवीन छंदों का भी निर्माण किया गया। इसमें मुक्तक छंद और अतुकान्त कविताएँ भी लिखी गईं। छायावादी कवि प्रणय, यौवन और सौन्दर्य का कवि है। गीति-शैली उसके गृहीत विषय के लिए उपयुक्त थी। गीति-काव्य के सभी गुण—संक्षिप्तता, तीव्रता, आत्माभिव्यंजना, भाषा की मसृणता आदि—उपलब्ध होते हैं। रामनाथ सुमन के शब्दों में, "इस कवि में जो मस्ती है, भावना अनुभूति की मृदुता है, और मानव जीवन के उत्कर्ष का जो गौरव है उसे देखते हुए उसकी प्रतिभा गीति काव्य की रचना के अत्यन्त उयुक्त थी।" गीतिकाव्य के लिए सौन्दर्य-वृत्ति और स्वानुभूति के गुणों का होना आवश्यक है, सौभाग्य से सारी बातें छायावादी कवियों में मिलती हैं। दूसरी एक और बात भी है कि आधुनिक युग गीति-काव्य के लिए जितना उपयुक्त है उतना प्रबन्ध-काव्यों के लिए नहीं। अस्तु, छायावाद के साहित्य में, "प्रगीत, खण्ड काव्य और प्रबन्ध काव्य भी लिखे गये और वीर गीति, संबोध गीति, शोक गीति, व्यंग्य गीति आदि काव्य के अन्य रूप विधानों का भी प्रयोग किया गया। छायावादी कवियों की भाषा और छंद प्रयोग केवल बुद्धिविलास, वचन भंगिमा कौशल या कौतुक वृत्ति से प्रेरित नहीं रहा बल्कि उनकी कविता में भाषा भावों का अनुसरण करती दीखतीं है और अभिव्यंजना अनुभूति का।"

(४) **अलंकार-विधान**—अलंकार-योजना में प्राचीन अलंकारों के अतिरिक्त अंग्रेजी साहित्य के दो नवीन अलंकारों—मानवीकरण तथा विशेषणविपर्यय का भी साधु उपयोग किया गया है। प्राकृतिक पदार्थों—प्रातः, संध्या, झंझा, बादल, सूर्य, चन्द्रमा आदि—पर जहाँ मानवीय भावनाओं का आरोप किया गया है वहाँ मानवीकरण है। "विशेषण विपर्यय में विशेषण का जो स्थान अभिधावृत्ति के अनुसार निश्चित है, उसे वहाँ से हटाकर लक्षण द्वारा दूसरी जगह आरोप किया जाता है। पन्त ने बच्चों के "तुतले भय" का प्रयोग उनकी तुतली बोली में व्यंजित भय के लिए किया है। इसी प्रकार "तुम्हारी आँखों का बचपन खेलता जब अल्हड़ खेल।" छायावादी कवि ने अमूर्त को मूर्त और मूर्त को अमूर्त रूप में चित्रित करने के लिए अनेक नवीन उपमानों की उद्भावना की है, जैसे—"कीर्ति किरण सी नाच रही

है" तथा "बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल।" इसके अतिरिक्त उपमा, रूपक, उल्लेख, सन्देह, विरोधाभास, रूपकातिशयोक्ति तथा व्यतिरेक आदि अलंकारों का भी सुन्दर प्रयोग किया गया है।

(५) **कला कला के लिए**—रुचि-स्वातंत्र्य तथा आत्माभिव्यक्ति के अधिकार की भावना के परिणामस्वरूप छायावादी काव्य में "कला कला के लिए" के सिद्धान्त का बोलवाला रहा। वस्तु-चयन तथा उसके प्रदर्शन कार्य में कवि ने पूर्ण स्वतन्त्रता से काम लिया। उसे समाज तथा उसकी नैतिकता की तनिक भी चिन्ता नहीं है। यही कारण है कि उसके काव्य में सत्यं और शिवं की अपेक्षा सुन्दरं की प्रधानता रही। छायावादी काव्य के इस 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त में पलायन और प्रगति दोनों सन्निहित हैं। एक ओर अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण जहाँ जन-जीवन से कुछ उदासीनता है तो दूसरी ओर काव्य और समाज में मिथ्या-रूढ़ियों के प्रति सबल विद्रोह भी। अतः छायावाद पर केवल पलायनवाद का दोष लगाना न्यायसंगत नहीं होगा।

कतिपय त्रुटियाँ—कल्पना की अति ने छायावाद को हमारे जीवन से दूर हटा दिया और वही इनके पतन का कारण भी बना। कल्पना-क्लिष्टता के कारण जहाँ एक ओर इसमें अस्पष्टता आई वहाँ इसे अपेक्षित जन-प्रियता भी प्राप्त न हो सकी। सच यह है कि जो जनता को छोड़ देता है जनता उसे छोड़ देती है। डॉ० केसरी-नारायण के शब्दों में—"उसका काव्य मन्दिर ऐसा बन गया, जिसमें सबका प्रवेश न था और उसका वह स्वयं ही पुजारी बना। पूजाविधि तथा पूजा के उपादान के चयनों में वह पूर्ण स्वतन्त्र था। अपने व्यक्तित्व की पृथकता दिखाने के लिए वह नवीनता तथा मौलिकता के नाम पर असामान्य की ओर कभी-कभी बहुत दूर बढ़ गया। भाषा, भावना तथा भावाभिव्यंजना का असामान्य रूप कभी-कभी इसी कारण दिखाई पड़ता है।" कहीं-कहीं इनमें अनुभूति में कृत्रिमता और विचारगत तथा रागात्मक असामंजस्य है। इसमें कुछ शैलीगत दोष भी उपलब्ध होते हैं, जैसे अशुद्ध प्रयोग, अस्पष्टता, कल्पना की क्लिष्टता, उपमानों का अस्वाभाविक प्रयोग'। इससे रसानुभूति में व्याघात उपस्थित हुआ है।

पन्त जी छायावाद के ह्रास के कारणों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—"छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था...।" अस्तु, हम पन्त जी के इन विचारों से सहमत नहीं है। छायावाद के पास अपना विचार-दर्शन, आदर्शवाद, विश्व मानवतावाद और सौन्दर्य बोध के पर्याप्त उप-करण विद्यमान हैं। छायावादी धारा के मन्द पड़ जाने के और कई कारण हो सकते हैं। सच तो यह है कि जयशंकर प्रसाद के बाद छायावाद को कोई ऐसा दृढ़ व्यक्ति नहीं मिला जो इसका यथोचित नेतृत्व कर सकता।

महत्व—विषय की दृष्टि से अलौकिक न होने पर भी यह काव्य श्रेष्ठ है। छायावाद इसलिए भी श्रेष्ठ है कि उसने मानव को महत्ता दी है। बीस वर्षों की छोटी-सी अवधि में इसने खड़ी बोली को सरस, सुकुमार और सौष्ठव-सम्पन्न करके काव्योपयुक्त बना दिया। काव्य में व्यक्तिवाद और गीतितत्त्व की प्रतिष्ठा इस धारा की अनुपम देन हैं। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—"इस कविता का गौरव अक्षय है। उसकी समृद्धि की समता केवल भक्ति-काव्य ही कर सकता है।" "वस्तुतः आधुनिक हिन्दी-काव्य को सुन्दर शब्द कोश और कोमल मधुर अनुभूतियां छायावाद की ऐतिहासिक देन है।" (डॉ० देवराज)। यह सत्य है कि छायावाद आधुनिक हिन्दी-साहित्य में एक महान् आन्दोलन के रूप में आया इसने भाव तथा शैली जगत् में एक जबरदस्त क्रांति उपस्थित की।

छायावाद के प्रमुख कवि और काव्य

जयशंकर प्रसाद सुमित्रानन्दन पन्त तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, छायावाद की वृहत्-त्रयी हैं। प्रसाद यदि छायावादी युग के ब्रह्मा, पन्त विष्णु तो निराला जी उसके शिवशंकर हैं। महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा एवं माखनलाल चतुर्वेदी छायावाद की लघुत्रयी के अन्तर्गत आते हैं। छायावाद के महासागर में और भी अनेक नदी तथा नदों ने योगदान दिया जिसमें मिलिन्द, भगवतीचरण वर्मा, वालकृष्ण शर्मा नवीन, सुभद्रा कुमारी चौहान एवं रामनरेश त्रिपाठी आदि का नाम उल्लेखनीय है। छायावादी युग की काव्यधारा के समकालीन हरिवंशराय बच्चन, रामधारीसिंह दिनकर तथा अंचल आदि भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

जयशंकर प्रसाद (सन् १८८९-१९३७ ई०)—छायावादी काव्य के श्री गणेश कर्ता माने जाते हैं। प्रसाद आरम्भिक काल में ब्रजभाषा में कविता लिखा करते थे किन्तु १९१३-१४ से उन्होंने खड़ी बोली में लिखना आरम्भ कर दिया था। उनकी ब्रजभाषा सम्बन्धी कविताओं का संग्रह "चित्राधार" के नाम से प्रकाशित हुआ। इसके अनन्तर उनके खड़ी बोली काव्य—"कानन कुसुम", "महाराणा का महत्त्व", "करुणालय" और "प्रेमपथिक" प्रकाशित हुए। इन रचनाओं में न तो कोई खास साहित्यिक प्रौढ़ता है और न ही छायावादी प्रवृत्तियां उपलब्ध होती हैं। १९१२ में उनका काव्य "झरना" प्रकाशित हुआ। छायावाद की प्रवृत्तियाँ सर्वप्रथम प्रसाद की इस कृति में प्रकट हुई किन्तु वे भी कोई परिपक्व रूप में नहीं। हाँ, १९२७ में जो इसका द्वितीय संस्करण निकला उसमें छायावाद का स्वरूप यथेष्ट मात्रा में उभरा हुआ था। १९३०-३२ के राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनों में इनके "आँसू" काव्य का प्रकाशन हुआ जिसे प्रसाद जी की छायावाद के सम्बन्ध में अत्यन्त प्रौढ़ रचना समझना चाहिए। 'आँसू' में प्रसाद ने प्रेम-वेदना की एक दिव्य झाँकी प्रस्तुत की है जिसमें सुख और दुःख हैं। इसमें प्रसाद जी का व्यक्तिवाद अपने समग्ररूप में प्रकट हुआ है। 'प्रेम पथिक' इनका एक लघु बन्ध-काव्य है, जिसमें एक असफल प्रेम की कहानी

नायक के मुख से कहलाई गई है। इस रचना में अनुभूतियों की अत्यन्त मार्मिक अभिव्यंजना हुई है—

प्रेम पथिक की राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है।
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए।
प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा।
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-बिहारी, होने का फल पाओगे।

× × ×

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुंचना उस सीमा पर, जिसके आगे राह नहीं।

"आँसू" की करुणा "लहर" में आकर आशामय संदेश से सम्मिलित हो गई है। इसमें कवि की मुक्तक रचनाएँ हैं जिनमें अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ विकसित हुई हैं। इसमें कवि आत्मचिंतक तथा स्वछन्दतावादी विद्रोह के रूप में हमारे सामने आता है। इगमें कवि जीवन के नए अरुणोदय की कल्पना करता है जहाँ विवाद और वेदना न होकर आनन्द तथा सुख है—

ले चल मुझे भुलावा देकर,
मेरे नाविक ! धीरे धीरे,
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी,
निश्छल प्रेम कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।

'कामायनी' प्रसाद जी की अन्तिम किन्तु सर्वश्रेष्ठ कृति है और यह छायावाद का एक महाकाव्य है। "व्यक्तिवादी काव्य की चरम परिणति कदाचित् प्रसाद जी की कामायनी में हुई है। मनु महाराज के मानसिक विकास और वाह्य-संघर्ष के रूप में आज के व्यक्ति की विकासोन्मुख व्यक्तित्व की ही अन्तर्कथा है। जिस आनन्द की ओर प्रसाद जी ने 'लहर' में संकेत किया था, उसी आनन्द के कैलाश शिखर पर अन्ततः मनु महाराज प्रतिष्ठित होते हैं। इस प्रकार आधुनिक युग का यह एक मात्र प्रतिनिधि महाकाव्य व्यक्तिवाद के विकास, विकास और पूर्ण परिणति युक्त प्रकाश की कहानी है।" मनु, श्रद्धा और इड़ा की पौराणिक कहानी के माध्यम से प्रसाद ने आज के युग के मनुष्य के बौद्धिक और भावनात्मक विकास और आज के जीवन के वैषम्य की जीती-जागती कहानी चित्रित की है। "मनु आज के आत्म-चेतन व्यक्तिवादी व्यक्ति के प्रतीक हैं। इड़ा आधुनिक पूँजीवादी समाज के वर्ग-भेद और शोषण की मान्यताओं पर आधारित बुद्धि-तत्त्व की प्रतीक है और श्रद्धा मनुष्य की सहज मानवीय भावनाओं, नैतिक मूल्यों और सौहार्दता से युक्त मानव-हृदय की आस्थाशील श्रद्धा-तत्त्व की प्रतीक है। इन तीन पात्रों के माध्यम से प्रसाद जी ने आधुनिक पूँजी-

वादी प्रणीत सभ्यता और उसके समस्त अन्तर्विरोधों और असंगतियों का ऊहापोह विवेचन किया है।"—(डॉ० शिवदानसिंह)। प्रसाद जी की यह दृढ़ धारणा है कि इड़ा निर्मित पूँजीवादी और बुद्धिवादी सभ्यता में मानव-शोषण, योग्यतम की रक्षा, वर्ग-भेद, मानसिक वैषम्य, अहंकार, सत्तामद और अशान्ति ये सभी वस्तुएँ बनी रहेंगी। इन्हें इस प्रकार की सभ्यता का तिरस्कार अभिप्रेत है क्योंकि इसके बिना जीवन में सरसता का संचार असम्भव है। प्रसाद जी आज के विडम्बनामय जीवन का चित्रण करते हुए कहते हैं—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडंबना है जीवन की॥

आनन्दवादी प्रसाद की धारणानुसार मनुष्य हृदय की रागात्मिकता वृत्ति श्रद्धा के अवलम्बन के बिना इस धरती जनरव, जीवन-वैषम्य, वर्ग-भेद, अहंमन्यता और मारक शोषण के ध्वंसक एवं दूषित वातावरण से अपने आपको बाहर नहीं निकाल सकता है और इसके बिना वह आनन्द के कैलाश पर्वत के शिखर पर नहीं पहुंच सकता। पूँजीवादी सभ्यता चाहे जितनी भी विकासोन्मुखी क्यों न हो जाये अन्ततः उसका ह्रास और विनाश अवश्यंभावी है।

मानव मनोवृत्तियों के सूक्ष्म चित्रण, प्रकृति के हृदयहारी वर्णन, नारी सौंदर्यांकन, प्रेम के मार्मिकाभिव्यंजन, प्रतीकात्मकता, व्यक्तिवाद, लाक्षणिकता और गेयता आदि छायावादी सभी प्रवृत्तियों का कामायनी में सुन्दर परिपाक हुआ है। वस्तुतः कामायनी आधुनिक युग का अन्यतम महाकाव्य है।

प्रसाद जी के काव्य में, विषय-नवीनता, भाव-जगत का संस्कार, नवीन कल्पनाओं की सृष्टि, मानवीय सौन्दर्य का चित्रण, प्राकृतिक सौन्दर्य, भावानुसारिणी भाषा, प्रणय-साधना, रहस्यात्मकता, उपचारवक्रता आदि छायावाद की सभी विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। प्रसाद एक मानवतावादी युगान्तरकारी महाकवि हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं—

सदियों तक साहित्य नहीं यह समझ सकेगा।
तुम मानव थे या मानवता के महाकाव्य थे॥

सुमित्रानन्दन पन्त (सन् १९०१)—सुकोमल भावनाओं के कवि हैं। उनमें निराला जैसी संघर्षप्रियता और पौरुष नहीं है। यद्यपि इनके काव्य में अनेकरूपता है किन्तु वे अपनी सौन्दर्य-दृष्टि और सुकुमार उदात्त कल्पना के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। निसर्गतः वे प्रकृति के सुकुमार कवि हैं। प्रकृति के साथ उनकी ऐसी प्रगाढ़ रागात्मकता शैशव से हो गई थी। इन्होंने प्रकृति में अनेक रूपों की कल्पना की है। इन्होंने प्रकृति के अनेक सौन्दर्यमय चित्र अंकित किए हैं और इसके साथ उनके उग्ररूप

का भी चित्रण किया है किन्तु इनकी वृत्ति मूलतः प्रकृति के मनोरम रूप-वर्णन में ही रमी है। इनके प्रकृति-चित्रण में मानवीय भावनाओं का आरोप है और उसके साथ-साथ कहीं-कहीं ऐन्द्रियता भी उभर आई है। कभी-कभी इन्होंने प्रकृति की नारी रूप में कल्पना करके अपने आपको भी नारी रूप में अंकित किया है। कवि पन्त की इस भावना को हिन्दी के कुछ आलोचकों ने स्त्रैण और अस्वाभाविक कहा है, जो कि असंगत है। भगवान् शंकर अर्द्ध – नारीश्वर हैं। क्या मानव-हृदय में नारी-सुलभ कोमलता का होना कोई पाप या अपराध है हमारे विचार में तो मानव इस कोमलता के अभाव में बड़ा भयंकर लगने लगेगा।

कवि पन्त की रचनाओं का प्रकाशन इस क्रम से हुआ – वीणा (१९१८), ग्रंथि (१९२०), पल्लव (१९१८-१९२४), गुंजन (१९१९-१९३२), युगान्त (१९३४-३६), युगवाणी (१९३६-३९), ग्राम्या (१९३९-४०), स्वर्ण किरण (१९४७), स्वर्णधूलि (१९४७), युगान्तर (१९४८), उत्तरा (१९४९), रजत-शिखर (१९४९), शिल्पी (१९५२) और प्रतिमा (१९५६)। पन्त काव्य की रेखाएँ चाहे टेढ़ी-मेढ़ी हैं, किन्तु उनका विकास-क्रम सीधा है। इस क्रम में हम पन्त को छायावादी, प्रगतिवादी, समन्वयवादी एवं मानवतावादी आदि के रूपों में देख सकते हैं। पन्त जी सन् १९३८ से लगभग छायावादी से प्रगतिवादी बन गये। युगान्त में आकर पन्त में छायावादी प्रवृत्तियों का अन्त हो जाता है। ग्राम्या, युगवाणी इनकी प्रगतिवादी रचनाएँ हैं। तत्पश्चात् इनकी रचनाओं में मानवतावादी दृष्टिकोण उत्तरोत्तर विकसित होता गया।

'वीणा' में इनकी प्रारम्भिक रचनाएँ हैं जिनमें कवि प्रकृति के अंग-प्रत्यंग की छवि में लीन होने के लिए लालायित है और इसके साथ है इनमें रहस्य के प्रति जिज्ञासा। वीणा-काल का कवि प्रकृति की अनुपम छटा से इतना विमुग्ध है कि बाला का सौन्दर्य भी उसके सामने महत्त्वहीन है—"बाले तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन।" ग्रंथि एक छोटा सा प्रबन्ध है जिसमें असफल प्रेम की कहानी है। प्रसाद के 'प्रेम पथिक' के समान यहां भी एक युवक और युवती में प्रेम हो जाता है। ग्रंथि की नायिका के न चाहते हुए भी किसी अन्य से विवाह हो जाता है। इसमें कहानी का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, किन्तु प्रेमानुभूतियों की मार्मिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह रचना 'प्रेम पथिक' से उत्कृष्ट कही जा सकती है। 'पल्लव' का छायावादी काव्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी भूमिका में कवि ने अपने काव्य सम्बन्धी आदर्शों की विशद चर्चा की है। डॉ० शिवदानसिंह चौहान इस सम्बन्ध में लिखते हैं—'पल्लव की कविताओं में पन्त जी की वीणाकालीन प्राकृतिक अनुराग की भावना सौन्दर्य प्रधान हो गई। पल्लव की कविताओं में दृश्य जगत् के नाना सुन्दर रूपों का मूर्ति और मांसल चित्रण है और विविध भावों की अभि-व्यंजना है।" इन प्राकृतिक उल्लासमयी कविताओं के अतिरिक्त 'पल्लव' में पन्त की प्रसिद्ध कविता 'परिवर्तन' भी संगृहीत है जिसमें पन्त जी के कविता सम्बन्धी

नवीन दृष्टिकोण का आभास मिलता है। एक तो यह कविता चिरकालीन रुग्णता के बाद लिखी गई, दूसरे इन पर उस समय उपनिषदों के अध्यात्म दर्शन तथा स्वामी विवेकानन्द जी के दर्शन का प्रभाव भी पड़ चुका था। इस कविता में जहाँ एक ओर प्रकृति के प्रति आकर्षण एवं आकांक्षा कम होते दिखाई पड़ते हैं और जहाँ इसमें भाग्यवाद और निराशावाद अभिव्यक्त हुए हैं वहाँ दूसरी ओर रूढ़िग्रस्त मानव-समाज को नव-निर्माण की प्रेरणा भी दी गई है। इस प्रकार कवि पन्त का मानव-प्रेम उनकी अगली रचना 'गुंजन' में भली-भांति अभिव्यक्त हुआ है। 'गुंजन' का कवि व्यक्तिगत सुख-दुःखों से ऊपर उठकर विश्व-मानव-कल्याण के लिए पुकार उठा है—

> **नव छवि, नव रंग, नव मधु से,**
> **मुकुलित पुलकित हो जीवन।**

युगान्त, युग वाणी और ग्राम्या की कविताओं को देखते हुए कहा जा सकता है कि पन्त के कवि ने सुकोमल लेखनी छोड़ कुदाली पकड़ ली है। इनमें पन्त छायावादी न रहकर एकमात्र प्रगतिवादी बन गये। इनमें कल्पना के स्थान पर बौद्धिकता और काव्य के स्थान पर दर्शन है। यहाँ पन्त का चिन्तक रूप अधिक उभर आया है। भाषा की सुकुमारता आदि गुणों के कारण भले ही इन रचनाओं को कविता कह दिया जाय अन्यथा इनमें शुष्क दार्शनिकता और बौद्धिकता है। इसके अनन्तर इनके समन्वयवादी रूप को निहारा जा सकता है—

> **मनुजत्व का पाठ पढ़ाता निश्चय हमको गांधीवाद;**
> **सामूहिक जीवन विकास की साम्ययोजना है अविवाद।**

'स्वर्ण किरण' में कवि ने प्रकृति और जीवन के विषय में आध्यात्मिक भावनाओं को व्यक्त किया है। इन कविताओं पर उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट है। कवि पन्त की रचनाओं के क्रमात्मक विकास को देखते हुए कहा जा सकता है कि उनके युगान्त में छायावाद का अन्त और प्रगतिवाद का उदय है। ग्राम्या में बौद्धिकता की प्रधानता हो गई है और वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। यह ठीक है कि ग्राम्योत्तर रचनाओं में कवि ने मानवीय जीवन की अनेक भाव-भूमियों को छूने का प्रयास किया है किन्तु उनमें कवित्व की वह गहराई नहीं आ सकी जो अपेक्षित थी। डॉ० शिवदान सिंह चौहान के शब्दों में, "पन्त-काव्य को यदि समग्र रूप से देखें तो उनकी सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि और सुकुमार उदात्त कल्पना हिन्दी-साहित्य में अनन्य है। लोक-मंगल की साधना करने वाले इस महाकवि जैसी युग जीवन की व्यापक आर्थिक-सांस्कृतिक समस्याओं की चेतना भी अन्यत्र दुर्लभ है। जिस परिवर्तन को पहले उन्होंने एक भाग्यवादी की दृष्टि से देखा था, आज लोक-मंगल के लिए वे उसी की आवश्यकता अनुभव करते हैं—

> **यह सच है जिस अर्थ भित्ति पर,**
> **विश्व सभ्यता आज खड़ी है।**

बाधक है वह जन विकास की
उसमें आज अपेक्षित है व्यापक परिवर्तन

× × ×

शिक्षा, संस्कृति, सामूहिक विकास का,
पथ प्रशस्त हो पायगा,
युग मानव के हित !

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला—आधुनिक युग के नये कवियों में महाप्राण निराला सदा निराले रहे हैं। उनके अपने ही शब्दों में "देखते नहीं, मेरे पास एक कवि की वाणी, कलाकार के हाथ, पहलवान की छाती और फिलासफर (दार्शनिक) के पैर हैं।" उन्होंने अपने और अपने काव्य के सम्बन्ध में सूत्र रूप में कह दिया था कि आज "मयूर-व्याल पूँछ से जुड़े हुए हैं।" उन्हें स्वरूप और विद्रूप दोनों से समान प्यार है। उनका निरालापन इस बात में भी सन्निहित है कि "वह आधुनिक कवियों में शैलीगत अपनी आधुनिकता के कारण आधुनिकतम, किन्तु वेदान्त, दर्शन तथा वीर पूजा सम्बन्धी भावना के कारण पुरातन बने रहे हैं। एक ओर वह घोर अहंवादी हैं और दूसरी ओर अपनी उदार मनःसंवेदना के कारण वह पद दलितों के हिमायती हैं। 'वह तोड़ती पत्थर इलाहाबाद के पथ पर' ऐसी भी है उनकी कविता ! वह कविता एक ओर तो मार्गी है और दूसरी ओर वह पत्थर तोड़-तोड़ कर नये युग का मार्ग भी बनाती है।"—(नरेन्द्र शर्मा)।

सन् १६१५ से इन्होंने कविता लिखनी आरम्भ कर दी थी, किन्तु उनका प्रथम काव्य संग्रह 'परिमल' सन् १६२६ में प्रकाशित हुआ। इनके अन्य काव्य हैं—अनामिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, अणिमा, वेला, नये पत्ते, अर्चना और आराधना। परिमल और अनामिका में प्रायः छायावाद की सभी प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। तुलसीदास के पश्चात् निराला जी प्रगतिवाद से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। अतः बाद की रचनाओं में छायावाद लुप्त हो गया है। जयशंकर प्रसाद को छायावाद का ब्रह्मा स्वीकार किया जाता है। उनके काव्य की दो प्रमुख प्रवृत्तियों—प्रकृति-चित्रण और रहस्यात्मकता—को क्रम से पन्त और निराला ने विकासोन्मुख किया। अतः यह कहा जा सकता है कि छायावाद को अद्वैत दर्शन की दृढ़ भित्ति पर स्थित करने का सर्वाधिक श्रेय निराला जी को है।

छायावादी काव्य के इतिहास में पन्त के 'पल्लव' के समान निराला के 'परिमल' का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे छायावाद का प्रतिनिधि काव्य कहा जा सकता है। जूही की कली, पंचवटी, विधवा, भिक्षुक, कुछ बादल गीत एवं बहुत-सी अन्य कविताएँ हैं। इस रचना में प्रेम-सौन्दर्य, करुणा और रहस्य-भावना की मार्मिक अभिव्यंजना हुई है। "कुल मिलाकर परिमल में छायावाद की अनेकमुखी प्रवृत्तियों की उदात्त झलक मिलती है। राष्टीय चेतना की सूक्ष्म अनुभूतियों की व्यंजना

जितनी गम्भीर और पौढ़ स्वरों में परिमल में हुई है उतनी उस समय तक छायावाद के किसी अन्य कवि की वाणी में नहीं हो पायी। परिमल की कविताओं से सचमुच समूची जाति के मुक्ति-प्रयास का पता चलता है।" परिमल की कविताओं में विषय की विविधता को देखते हुए शुक्ल जी ने कहा कि "निराला में बहुवस्तु-स्पर्शिनी प्रतिभा है। इनकी 'गीतिका' और 'अनामिका' दोनों रचनाओं में गीतों का संग्रह है। लोकप्रियता की दृष्टि से 'अनामिका' अधिक प्रसिद्ध हुई। अनामिका के एक गीत 'सम्राट् एडवर्ड अष्टम के प्रति' में नारी के प्रति प्रेम की अत्यन्त दिव्य झांकी प्रस्तुत की है— "आलिंगित तुम से हुई सभ्यता यह नूतन।" इसके अतिरिक्त अनामिका में 'सरोज स्मृति', 'तोड़ती पत्थर', 'बादल गरजो', आदि में भी बहुत लोकप्रिय गीत संगृहीत हैं। इनकी रचना 'तुलसीदास' में इनकी प्रबन्ध-क्षमता का सम्यक् परिचय मिलता है। 'तुलसीदास' के पश्चात् हम इन्हें एकदम प्रगतिवादी कवि के रूप में देखते हैं। कुकुरमुत्ता, अणिमा, नये पत्ते और अर्चना में प्रगतिशील कविता की सभी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। कुकुरमुत्ता गुलाब से निःशंक भाव से कहता है—

> अबे सुन बे गुलाब,
> भूल मत गर पाई खुशबु रंगो आब।

इसी प्रकार बेला में हिन्दी काव्य क्षेत्र में एक नवीन प्रयोग करते हुए हिन्दी को गजलों के रूप में ढाल रहे हैं—

> बिगड़ कर बनते और बनकर बिगड़ते एक युग बीता।
> परी और शमा रहने दे, शराब और जाम रहने दे।

हिन्दी के कुछ आलोचकों ने निराला के काव्य पर क्लिष्टता का आरोप करते हुए निराला को कठिन काव्य का प्रेत कहा है, किन्तु यह नितान्त अनुचित है। यह सब कुछ निराला के जीवन के विकास क्रम तथा उसके मानसिक संगठन को न समझने का दुष्परिणाम है। निराला में बहुवस्तु-स्पर्शिनी प्रतिभा है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "संगीत को काव्य और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने का सबसे अधिक प्रयास निराला जी ने किया है।" उन्होंने हिन्दी के नवीन भाव, नवीन भाषा और नवीन मुक्त छन्द प्रदान किये हैं। हिन्दी के आधुनिक कवियों में से निराला जी का व्यक्तित्व सबसे अधिक विद्रोही और प्रखर है। निराला को छोड़कर शायद ही हिन्दी के किसी अन्य कवि को जीवन के इतने वैषम्यों और विरोधों का सामना करना पड़ा हो। निराला ने प्रलयंकर शिव के समान स्वयं कटु गरल पान करके हिन्दी काव्य जगत् को पीयूष वितरित किया। निराला के कृतित्व और व्यक्तित्व का मूल्यांकन कवि पन्त की निम्नांकित पंक्तियों में देखिए—

> "छन्द बंद ध्रुव तोड़, फोड़ कर पर्वत कारा,
> अचल रूढ़ियों की, कवि, तेरी कविता धारा,
> मुक्त, अबाध, अमन्द, रजत निर्झर-सी निःसृत,
> गलित ललित आलोक राशि, चिर अकलुष अविजित।

स्फटिक शिलाओं से तूने वाणी का मन्दिर,
शिल्पि, बनाया, ज्योति कलश निज यश का धर चिर ।
× × ×
अमृत पुत्र कवि, यशः काय तव जरा मरण जित,
स्वयं भारती से तेरी हृत्तंत्री झंकृत ।"

महादेवी वर्मा (सन् १९०७—)—सजल गीतों की गायिका महादेवी वर्मा आधुनिक युग की मीरा कही जाती हैं । इनकी कविता संगीत कला, चित्र-कला तथा काव्य-कला का अपूर्व समन्वय है । हिन्दी साहित्य की कवयित्रियों में तो देवी जी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है ही, साथ ही इनमें आधुनिक रहस्यवाद तथा छायावाद की सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ अत्यन्त सुन्दर तथा उभरे हुए रूप में मिलती हैं । महादेवी वर्मा छायावाद के क्षेत्र में पन्त, निराला और प्रसाद के बाद में प्रविष्ट हुईं, किन्तु उसका सबसे अधिक साथ दे रही है । पन्त और निराला की कविता में समय-समय पर नवीन मोड़ आये और ये अपनी राहें बदलते रहे, किन्तु महादेवी छायावाद एवं रहस्यवाद के पथ पर पूर्ववत् अपना पग बढ़ाये जा रही हैं । उनके साहित्य में पीड़ा, आँसू, माधुर्य, आनन्द तथा उल्लास सभी कुछ है । इनकी कविताओं में पीड़ा के तत्त्व की प्रधानता को देखकर कुछ आलोचकों ने इन्हें पीड़ावाद की कवयित्री कहा है । महादेवी के अपने ही शब्दों में "दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है । हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुंचा सकें, किन्तु हमारा एक बूंद भी जीवन को अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता ।······विश्व जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक एक जल बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है ।" इसी प्रसंग में वे आगे चलकर कहती हैं—"मुझे दुःख के दोनों ही रूप प्रिय हैं, एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बन्धन में पड़े असीम चेतन का क्रन्दन है ।" वे पीड़ा में प्रियतम और प्रियतम में पीड़ा को खोजती हैं । वे सदा मिटने के अधिकार को अपने पास सम्भाल कर रखने के पक्ष में हैं । उनका कहना है—"पीड़ा मेरे मानस से भीगे पट-सी लिपटी है ।" देवी जी की यह पीड़ा वैयक्तिक न होकर सामन्ती पाशों से बद्ध एवं सामाजिक रूढ़ियों से ग्रस्त भारतीय नारी जीवन की उन्मुक्त पीड़ा है । छायावादी काव्य में भारतीय नारी जीवन की सिसकती पीड़ा को जोड़ देना महादेवी के काव्य का मौलिक योगदान है । "महादेवी जी की विशेषता यह है कि छायावाद ने व्यक्ति और समाज की किस व्यापक असन्तोष भावना को अभिव्यक्ति दी उसमें उन्होंने भारतीय नारी के असन्तोष निराशा और आकांक्षा का स्वर भी जोड़ दिया ।"

महादेवी की रचनाएँ हैं नीहार, रश्मि, नीरजा और सांध्य-गीत, दीपशिखा और माया । नीहार में प्रारम्भिक कविताओं का संकलन है । इसमें वैयक्तिक दुःखद

और आध्यात्मवाद की अभिव्यक्ति हुई है। रश्मि में कवियित्री का जीवन-मृत्यु, सुख और दुःख पर मौलिक चिन्तन प्रकट हुआ है। नीरजा थे प्रकृति में मानवीय भावनाओं की भव्य झांकियाँ एवं विरह-वेदना के चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। सांध्य-गीत में कवियित्री सुख और दुःख, विरह और मिलन में समन्वय दिखाने में प्रयत्नशील है।

भाव-पक्ष की दृष्टि से महादेवी की कविताओं में विरह वेदना रहस्यवाद एवं छायावाद की विषय गत एवं शैली गत प्रवृत्तियों का भव्य रूप प्रकट हुआ हैं। इन्हें पीड़ा अत्यन्त प्रिय है। इन्होंने प्रभु को पीड़ा में और पीड़ा को प्रभु में ढूंढा है। कवियित्री को मिलन अभीष्ट नहीं क्योंकि उसमें जड़ता है और क्रियाशीलता का अभाव है। वे व्यथा-गान में शुरू से अब तक संलग्न हैं। उनका कहना है—

पर न अन्तिम छन्द व्यथा का मैं अभी तक गा सकी हूं।

महादेवी ने उस असीम अज्ञात प्रियतम के प्रति दाम्पत्य भाव के रूप में अपने हृदय के आकुल प्रेम की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। इस प्रकार उनका रहस्यवाद भावमय है। परमात्मा के प्रति अभिन्नता प्रकट करती हुई वे कहती हैं—

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।

× × ×

पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर स्मृति भी,
अधर भी हूँ और स्मित की चांदनी भी हूँ॥

प्रकृति चित्रण सम्बन्धी छायावादी रचनाओं में प्रकृति में चेतना के आरोप के साथ अपने भावों की प्रतिकृति उसमें देखी है—

मैं नीर भरी दुःख की बदली।

तथा

रूपसि तेरा घन केश पाश।
नभ गंगा की रजत धार में धो आई क्या इन्हें रात।

महादेवी का कलापक्ष भी अत्यन्त उज्ज्वल है। इनकी भाषा में प्रसाद का परिष्कार, निराला की संगीतात्मकता और पन्त की कोमलता सभी कुछ मिलता है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में "छायावादी काव्य में प्रसाद ने यदि प्रकृति तत्त्व को मिलाया, निराला ने मुक्तक छन्द दिया, पन्त ने शब्दों की खराद पर चढ़ाकर सुडौल और सरस बनाया तो महादेवी जी ने उसमें प्राण डाले।" महादेवी के गीत अपनी अनुपम अनुभूतियों और चित्रमयी व्यंजना के कारण हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

ऊपर हम छायावाद के आधारभूत चार मुख्य स्तम्भों के व्यक्तित्व और कृतित्व का उल्लेख कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी कुछ कवि हुए जिन्होंने इस क्षेत्र में योगदान दिया। सच तो यह है कि छायावादी काव्य की जो व्यापक चेतना प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी में मिलती है वह इस क्षेत्र में १९३० के पश्चात्

उदीयमान नवीन प्रतिभाओं में नहीं। ये कवि छायावाद की एक प्रवृत्ति विशेष को लेकर आगे बढ़े। इन कवियों में उल्लेखनीय हैं—रामकुमार वर्मा, हरिवंश राय बच्चन, नरेन्द्र शर्मा और रामेश्वर शुक्ल अंचल। इन कवियों में छायावाद की कोई न कोई निश्चित प्रवृत्ति उपलब्ध होती है और साथ-साथ उत्तरोत्तर छायावाद के ह्रास की प्रक्रिया भी दृष्टिगोचर होने लगती है। इस युग में कुछ ऐसे कवि भी हैं जो न तो सम्पूर्ण रूप से छायावादी हैं, न प्रगतिवादी और न ही द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक शैली के पक्षपाती, किन्तु उन पर तीनों या दो धाराओं का प्रभाव अवश्य पड़ा है। ये कवि हैं—नवीन, उदयशंकर भट्ट और रामधारीसिंह दिनकर। इन कवियों के अध्ययन के बिना छायावादी युग की चेतना के क्रमिक विकास एवं ह्रास की प्रक्रिया को नहीं समझा जा सकता है।

रामकुमार वर्मा (सन् १६०५—)—इनके काव्य में प्रकृति-प्रेम, रहस्यवाद वेदना, निराशा तथा समाज की विशेष अपेक्षा न रखने वाला व्यक्तिवाद आदि प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। इनके रहस्यवाद पर कबीर आदि रहस्यवादी कवियों का प्रभाव है तथा उसमें निराशा का तीव्र स्वर है। कवि की विरहिणी आत्मा प्रिय-मिलन के लिए व्याकुल है—

"देव मैं अब भी हूँ अज्ञात,
एक स्वप्न बन गई तुम्हारे प्रेम मिलन की बात।
तुम से परिचित होकर भी तुम से दूर हूँ।"

वर्मा जी ने अधिकतर प्रकृति के सुकुमार रूप का चित्रण किया है। प्रकृति की नैसर्गिक छटा कवि-मन को एकदम विभोर कर देती है—

तुम सजीली हो सजाती हो सुहासिनी ये लताएँ।
क्यों न कोकिल कंठ मधु ऋतु में तुम्हारे गीत गाएँ॥

वर्मा जी की प्रमुख काव्य रचनाएँ हैं—अंजलि, रूप राशि, चित्तौड़ की चिता, अभिशाप, निशीथ, चित्ररेखा और संकेत आदि। इनकी कविता में काव्य के दो रूप हैं—वर्णनात्मक तथा गीत काव्य। इनके गीत काव्य में गीत के प्रायः सभी तत्त्व मिल जाते हैं। शिवदानसिंह चौहान इनके काव्य का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं—'वर्मा जी ने अपनी रहस्य-चेतना को व्यक्तिवाद, निराशा और सन्देह की भावनाओं में रंग कर प्रकृति और जीवन के शब्द-चित्र अंकित किये हैं। उनकी कविता छायावादी शैली और काव्य वस्तु से अपने को मुक्त करके नहीं चली, यद्यपि उनमें इस शैली के बन्धन कुछ ढीले पड़ते अवश्य दिखाई देते हैं। यह कार्य बच्चन और दिनकर ने अपने-अपने ढंग से किया।"

डॉ० नगेन्द्र ने छायावाद के बाद और प्रगतिवाद के पूर्व की कविता को वैयक्तिक कविता कहा है। उनके अनुसार वैयक्तिक कविता छायावाद की अनुजा और प्रगतिवाद की अग्रजा है, जिसने प्रगतिवाद के लिए एक मार्ग प्रशस्त किया। यह

वैयक्तिक कविता आदर्शवादी और भौतिकवादी दक्षिण और वामपक्षीय विचार-धाराओं के बीच का एक क्षेत्र है।" यह कविता अपने समय में खूब लोक-प्रिय हुई तथा इसका व्यापक प्रचार हुआ। इस कविता धारा के अग्रणी हैं वच्चन, अंचल, भगवतीचरण वर्मा आदि।

हरिवंशराय बच्चन (सन् १६०७—) — मस्ती और अल्हड़पन से मधु के गीत गाने वाले कवि बच्चन का हिन्दी जगत् से सर्वप्रथम परिचय "उमर खैयाम" की रुबाइयों के अनुवाद से हुआ। यह अनुवाद शाब्दिक न होकर हृदय रस से ओत-प्रोत है। कवि वच्चन में वैयक्तिक अहंकार और दर्प की मात्रा प्रवल है। रूढ़िवादियों ने उनकी दूसरी कृति 'मधुशाला' का उग्र विरोध किया पर फिर भी कवि उन्हें सबल चुनौती देते हुए अपने मार्ग पर बढ़ता गया। उनकी रचना 'मधुबाला' पर उनका निष्कपट हृदय छलक रहा है। 'मधुकलश' में उनकी निराशा का स्वर स्पष्ट है—

पूछता जग है निराशा से,
भरा क्यों गान मेरा ?

इनकी रचनाओं—निशा निमन्त्रण, एकान्त संगीत, आकुल-अन्तर, विकल विश्व और सत-रंगिनी—में कविता-संबंधी एक नया मोड़ दृष्टिगोचर होता है 'निशा निमंत्रण' के गीतों में एक गहन वेदना एवं दार्शनिकता भरी हुई है। 'एकान्त संगीत' का कवि सांसारिक निराशा एवं विषमता का खम ठोक कर मुकाबला करने को तैयार है। 'आकुल अंतर' में यही प्रवृत्ति दृढ़ से दृढ़तर रूप में दृष्टिगोचर होती है।' विकल विश्व में कवि व्यथित विश्व को आशा और विश्वास का उल्लासमय सन्देश दे रहा है। 'संत-रंगिनी' में उनके फुटकर गीतों का संग्रह है। इनकी अन्य रचनाएँ हैं बंगाल का अकाल तथा हलाहल।

बच्चन के गीतों में महादेवी के कविता-संग्रहों के समान एकसूत्रीय योजना मिलती है अर्थात् इनके गीतों के संग्रह में एक-जैसे भाव का उद्रेक हुआ है। इस बात का समर्थन ऊपर दिये गए इनके कविता-संग्रहों के विषय-प्रतिपादन से स्पष्ट रूप से हो जाता है।

डॉ० चौहान बच्चन-काव्य का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं—"बच्चन के गीतों ने हिन्दी-कविता का एक नया रूप संस्कार किया। भाषा सरल, मुहावरेदार और व्यक्तिगत वेदना की अनुभूति से मूर्त और भाव सिक्त हो उठी है। काव्य वस्तु का क्षेत्र यद्यपि सीमित हो गया है लेकिन अभिव्यक्ति में अधिक मांसलता और हार्दिकता आ गई, जिसके कारण अनुभूतियों का प्रेषण अधिक सहज बन सका।" कुछ भी हो बच्चन के कवि ने वैयक्तिक-दर्प और अहंकार से सामाजिक रूढ़ियों और मान्यताओं को एक सबल चुनौती दी जो तत्कालीन नवयुवक समाज को अधिक रुचि। हालांकि इनके वैयक्तिक दर्प और अहंकार के साथ-साथ निराशा की भावना भी जगी और एकदक अहंनिष्ठ व्यक्तिवाद की प्रक्रिया वाद के कवियों में बढ़ती गई।

भगवतीचरण वर्मा (सन् १६०३)—ने भी बच्चन की तरह छायावादी रहस्यात्मकता का परित्याग करते हुए प्रेम, मस्ती एवं उल्लास भरे यौवन के राग आलापे। इनके गीतों में किसी प्रकार की कृत्रिम नैतिकता के बंधन नहीं हैं—

हम दीवानों की क्या बस्ती, आज यहाँ रहे कल वहां रहे।
मस्ती का आलम साथ चला हम धूल उड़ाते जहाँ चले॥

वर्मा जी की कृतियों 'मधुकण' और 'प्रेम-संगीत' में मस्ती का यही आलम छाया रहा, किन्तु उनकी रचना 'मानव' में खुमार की यह दशा एकदम दूर होती हुई दृष्टिगोचर होती है। लगता है कि कवि के मादक स्वप्नों का नीड़ एकदम टूट ही गया हो। इनके कविता संग्रह 'मानव' में शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूतिमयी करुणा का सहज उद्रेक हुआ है। उनकी कविता चली जा रही भैंसा-गाड़ी चूंचरर-मरर-चूंचरर-मरर हमारे ग्रामों की दीन-दशा का कारुणिक चित्र उपस्थित करती है—

चरमर-चरमर चूं चरर, जा रही चली भैंसा गाड़ी।
उस ओर क्षितिज के कुछ आगे, कुछ पाँच कोस की दूरी पर।
भू की छाती पर फोड़ो से हैं, उठे हुए कुछ कच्चे घर।
नर पशु बनकर पिस रहे जहाँ, नारियाँ जन रही हैं गुलाम।
पैदा होना फिर मर जाना, बस इन लोगों का काम।

इस प्रकार वर्मा जी मस्ती के आलम को छोड़कर प्रगतिवाद से अत्यन्त प्रभावित हुए हैं।

नरेन्द्र शर्मा (१६१३)—नरेन्द्र शर्मा की प्रारम्भिक रचनाओं में प्रेम की व्याकुल अभिव्यक्ति हुई जो कहीं-कहीं पर वासनात्मक भी हो गई है और यह प्रकृति अंचल जी में और भी अधिक उभरे हुए रूप में देखने को मिलती है। इन्होंने प्रकृति-सौंदर्य के भी चित्र अंकित किए हैं। इनका मन प्रगति के उग्र-रूप की अपेक्षा उसके सौम्य-रूप में अधिक रमा है। आधुनिक युग का निराशावाद इन्हें अच्छा नहीं लगा। इनके गीतों में यथार्थवादी दृष्टिकोण की प्रधानता है। इनकी वाणी में प्रगतिवाद की भी अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु उनकी आकुलता उन्हें प्रेम-गीत लिखने पर विवश कर देती है। इन्होंने राष्ट्र-प्रेम सम्बन्धी कविताओं की भी रचना सुन्दर ढंग से की है, किंतु इनके काव्य में प्रमुख रूप से अभिव्यक्त प्रेम ही हुआ। इन्होंने अपने आपको मानवीय दुर्बलताओं का कवि कहा है।

'शूल-फूल' और 'कर्ण-फूल' आपकी प्रारम्भिक रचनाएँ हैं, जिनमें प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। इनके 'पलाशवन' में प्रेम-पीड़ा के साथ प्रकृति चित्रण भी हुआ है, जिनमें कवि अपने हृदय की प्रतिच्छाया देखता है—

लो डाल-डाल से उठी लपट, लो डाल-डाल फूले पलाश।
यह है बसन्त की आग लगा दे, आग जिसे छू ले पलाल॥

नरेन्द्र शर्मा की कविताओं में जहाँ उनका मानसिक अन्तर्द्वन्द्व व्यक्त हुआ है और जहाँ उनमें यथार्थवादी दृष्टिकोण उभर आया है, वहाँ अनुभूतियों में पर्याप्त मार्मिकता है—

"उजड़ रही अनगिनत बस्तियाँ मन मेरी ही बस्ती क्या।"

तथा

एक दूसरे का अभिभव कर रचने एक नये भव को।
है संघर्ष निरत मानव, जब फूँक जगत गत वैभव को॥

रामेश्वर शुक्ल अंचल (सन् १६१५)—छायावादी काव्य में नारी के प्रेम एवं सौन्दर्य की उदात्त कल्पना की गई थी। उसमें नारी को मानवता के महिमाशाली गुणों से सम्पन्न रूप में चित्रित किया था; उनके प्रेम में स्थूलता नहीं सूक्ष्मता और साथ-साथ कहीं-कहीं उस पर आध्यात्मिकता का आवरण था, किन्तु उस प्रेम की ह्रासमयी प्रक्रिया अंचल जी में देखी जा सकती है। इन्होंने वासनामय प्रेम के ऊपर किसी प्रकार के आध्यात्मिक आवरण को डालने का प्रयत्न नहीं किया। इन्होंने तृष्णा को जीवन का एक सत्य माना है। इनकी दृष्टि में नारी का महत्त्व उसके उपभोग्या रूप में निहित है और वह एक रति-सुख का प्रमुख उपकरण है—

एक पल के ही दरस में जग उठी तृष्णा अधर में,
जल रहा परितप्त अंगों में पिपासाकुल पुजारी।

इनके मधुकर, मधूलिका, अपराजिता, किरण वेला और करील, लालचूनर आदि अनेक काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। मधुलिका और अपराजिता के गीतों में वासनात्मक प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। बाद में इनके वासना और अतृप्ति-सम्बन्धी गान असन्तोष और विद्रोह की भावना में परिणत हो गए और यह प्रगति-वाद की ओर आये। किरण-वेला और लाल चूनर इनके प्रगतिशील गीतों के संग्रह हैं। अंचल जी ने करील को शोषित का प्रतीक माना है, जिस पर वसन्त में भी पत्ते नहीं आते, उसे उस समय भी काँटों का भार सहना पड़ता है। इनकी प्रगतिशील कविताओं में भी नारी के प्रति वही पहले वाला सीमित दृष्टिकोण रहा है। इनकी प्रगतिवादी कविता का उदाहरण देखिए—

देखो मुट्ठी भर दाने को तड़प रही कृषकों की काया,
कब से सुप्त पड़ी खेतों में जागो इन्कलाब घिर आया।

डॉ० शिवदानसिंह चौहान इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी ने व्यक्ति के सुख-दुःख, उल्लास-निराशा की अनुभूति-प्रवण और विषयी-प्रधान अभिव्यंजना करते हुए भी जिन नये मानव-मूल्यों की सृष्टि की थी, कविता का जिन नयी अर्थ-भूमियों पर प्रसार किया था और काव्य के अन्तःस्वर में मानवतावादी उदात्तता की जो गरिमा भर दी थी, अंचल तक आते-आते उन मानव-मूल्यों, अर्थ-भूमियों और अन्तःस्वर की उदात्तता का सम्पूर्ण विघटन हो गया और

छायावादी कविता का दायरा संकीर्णतर होता गया। छायावादी काव्य के उत्कर्ष और ह्रास की यह प्रक्रिया हिन्दी कविता के विकास क्रम की एक कड़ी है।"

बालकृष्ण शर्मा नवीन (सन् १८९७)—की कविता पर राष्ट्रीय आन्दोलनों, सामाजिक घात-प्रतिघातों, दार्शनिक अनुभूतियों, स्वच्छन्दतावादी काव्य एवं प्रगतिवाद के अनेक प्रभाव पड़े हैं, किन्तु हिन्दी-जगत् में इनकी प्रतिष्ठा क्रांति-कारी कवि के नाते है। आरम्भ में इनके काव्य में छायावादी काव्य की जो प्रवृत्तियां उद्बुद्ध हुई थीं, वे यथेष्ट रूप में विकसित न हो सकीं। इनकी अब तक की प्रकाशित रचनाएँ हैं—कुंकुम, अपलक, रश्मि-रेखा, क्वासि विनोबा स्तवन आदि। कुंकुम के गीतों में राष्ट्रीयता, गांधीवाद और प्रगतिवाद का प्रभाव स्पष्ट है। इनका व्यक्तिवाद इन गीतों में राष्ट्रीयता के पथ पर अग्रसर होता हुआ दृष्टिगोचर होता है—

मैं हूँ भारत के भविष्य का
मूर्तिमान विश्वास महान्
मैं हूं अटल हिमाचल सम थिर
मैं हूं मूर्तिमान बलिदान।

अपलक, रश्मि-रेखा और क्वासि के गीतों में क्रांति एवं विप्लव का स्वर बड़ी तीव्रता के साथ मुखरित हो उठा है। शोषित की दयनीय दशा को देखकर कवि की वाणी में क्रांति का विस्फोट हो उठता है—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाये।
नियम और उपनियम के ये,
बन्धन टूटकर छिन्न-भिन्न हो जायें।
विश्वम्भर की पोषक वीणा,
के सब तार मूक हो जायें।

'विनोबा स्तवन' में सन्त विनोबा भावे के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की गई है इन्होंने 'प्रेमार्पण' नाम का एक खण्ड-काव्य भी लिखा है।

उदयशंकर भट्ट (सन् १८९७)—भट्ट जी की कविता में विरोधी वृत्तियों का एक निदर्शन मिलता है। प्रगतिवादी होते हुए भी प्राचीनता और आर्य-संस्कृति के आप प्रबल समर्थक हैं। अतीत के विश्वासी होते हुए भी रूढ़ि और परम्परा के आप प्रतिवादी हैं। इनकी शैली पूर्णतः छायावादी न होते हुए भी छायावाद के सीमान्त को छूती है। उनकी कविता ने समय के परिवर्तन के साथ नई-नई दिशायें पकड़ीं, जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति की—

समय के सभी साथ जीवन बदलते,
समय को बदलता हुआ तू चलाचल।

अतीत के प्रति आस्था एवं अनुराग होने के कारण भट्ट जी ने 'तक्षशिला' में प्राचीन भारतीय संस्कृति की उच्चता का उद्घोष किया है। 'मानसी' में विश्व-जीवन की अनुभूतिमय विवेचना की है। 'राका' और 'विसर्जन' में वे छायावाद से प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं। 'अमृत और विष' इनका युद्ध-कालीन काव्य-संग्रह है। इसमें बंगाल के अकाल का हृदयद्रावक वर्णन हुआ है।

भट्ट जी जीवन में श्रम को महत्त्व प्रदान करते हैं, उन्हें भाग्यवाद, सामाजिक मिथ्या परम्पराओं और यहाँ तक कि ईश्वरीय न्याय पर भी विश्वास नहीं है—

"जीवन श्वेत धार है जन की, जिसमें कोई रंग नहीं है।
जिसमें निश्चित स्वर्ग नहीं है, जिसमें निश्चित नरक नहीं है॥
यह केवल मानव का श्रम है, जो सुख-दुख निर्माण कर रहा।
आशा और निराशा में हँस, रोकर अपना प्राण भर रहा॥"

कवि को विश्वास है कि महा-प्रलय में महा-सृजन सन्निहित है, जिसमें सब कुछ नया होगा—

ओ प्रिय ! अब मत करो भूलकर अपना यह शृंगार पुराना।
कल बसन्त में नव-सुमनों का नया-नया मधु चखने आना।
नव रवि, नया स्वर्ग, नव पृथ्वी, शिव सुन्दर होंगे कह दूँ क्या ?

रामधारीसिंह दिनकर (सन् १६०६)—आज के उदीयमान कविता में अत्यन्त सजग व्यक्तित्व सम्पन्न कलाकार हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रायः सभी शैलियों और विधाओं में आपकी रचनायें प्रकाशित हुई और हो रही हैं। इन्होंने जब लिखना आरम्भ किया था उस समय छायावाद में ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियाँ आने लग गई थीं, उसमें वैयक्तिक वेदना और निराशा प्रधान हो उठी तथा वह केवल कलावाद तक सीमित रह गया। इधर दूसरी ओर प्रगतिवाद साहित्यिकों के आकर्षण का केन्द्र बनता जा रहा था। दिनकर को इन दोनों धाराओं के बीच में से युगानुकूल मार्ग निकालना पड़ा।

दिनकर की कविता पर राष्ट्रीयता की छाप सबसे अधिक है। आपका कोमल हृदय सामन्ती शोषण से व्यथित हो उठता है। आपकी कविताओं में भी कभी-कभी शिव का सा प्रलयंकारी तांडव नृत्य का दृश्य उपस्थित हो जाता है। आपकी रचनाओं में गंगा और हिमालय आदि के मनोहारी प्रकृति-वर्णन भी मिलते हैं, जिनमें प्रेम की भावना प्रधान है।

रेणुका, रसवन्ती, द्वन्द्व गीत, हुंकार, धूप छाँह, सामधेनी, बापू, धूप और धुआँ और इतिहास के आँसू इनकी कविताओं के संग्रह हैं। प्रणभंग एक खंड-काव्य है। कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी सर्गबद्ध काव्य हैं। रसवन्ती तक की कविताओं में उनके सौन्दर्य-उपासक, यौवन की उमंगों से तरंगित मन का परिचय मिलता है। किन्तु साथ

साथ प्रगतिवाद तथा मानवतावाद की व्यापक भावनाओं का भी उन्मेष होने लगता है जिनमें आगे चलकर उत्तरोत्तर विकास आया। दिनकर ने अपनी "कस्मै होने देवाय" नामक कविता में वर्तमान सभ्यता का भीषण चित्र खींचा है—

सिर धुन-धुन सभ्यता सुन्दरी होती है बेबस निज रथ में।
हाय दनुज किस ओर झुके ले खींच रहे शोणित के पथ में।।

सामाजिक वैषम्य एवं शोषण के प्रति कवि दर्प से चीत्कार कर उठता है—

हटो व्योम के मेघ पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं।
दूध-दूध ओ वत्स तुम्हारा दूध खोजने हम आते हैं।।

तथा

श्वानों को मिलता वस्त्र दूध भूखे बालक अकुलाते हैं।

रश्मि-रथी में लेखक ने महाभारत के उपेक्षित पात्र कर्ण के चरित्र का युगानुकूल उद्‌घाटन किया है—

मैं उनका आदर्श, कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे।
पूछेगा जग किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे।
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा।
मन में लिये उमंग जिन्हें चिरकाल कलपना होगा।

कुरुक्षेत्र में इनकी प्रतिभा का पूर्ण उन्मेष दिखाई पड़ता है। इसमें कवि ने कुरुक्षेत्र के युद्ध का प्रसंग चुनकर आज के युग की केन्द्रीभूत समस्या युद्ध और शांति पर अपनी मार्मिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना की है। यहाँ कवि ने भीष्म और युधिष्ठिर के परस्पर वार्तालाप में आज के युग की विविध समस्याओं पर प्रकाश डाला है और अन्ततोगत्वा आज के मानव को शांति की ओर प्रेरित करके उसे आशा-वादिता का संदेश दिया है—

आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से।
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा न जीवन अनीति से।
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और,
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से।

१९५४ में प्रकाशित नवीन काव्य संग्रह 'नील कुसुम' में भी इन्होंने आज की मानवता को आशावाद का सन्देश दिया है। दिनकर की कविता मानवतावादी, प्रगतिशील पथ पर आज भी बड़े उत्साह से अग्रसर हो रही है।

ऊपर हमने छायावादी धारा के कतिपय प्रमुख कवियों का उल्लेख किया है, किन्तु इसके अतिरिक्त और भी अनेक कवि हैं जिन्होंने इस धारा के अन्तर्गत अपने

सफल एवं कलात्मक काव्यों का निर्माण किया है। हमने छायावाद की कालावधि दो महायुद्धों के बीच का समय बताया है किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद उक्त काव्यधारा बिल्कुल निःशेष या विलुप्त हो गई। कोई भी काव्यधारा एकदम विलुप्त या समाप्त नहीं हुआ करती है, भले ही उसमें कुछ मन्दता या क्षीणता आ जाय। छायावादी काव्य-धारा के अन्तर्गत आज भी अनेक उच्चकोटि के गीति-काव्यों का सफल सृजन हो रहा है। इस सम्बन्ध में भी हरिकृष्ण प्रेमी, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, उपेन्द्रनाथ अश्क, सुमित्रा कुमारी सिंह, तारा पांडेय, जानकी वल्लभ शास्त्री, आरसी प्रसाद सिंह, देवराज, दिनेश, गोपालदास नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, भवानी प्रसाद मिश्र, रामवतार त्यागी, रामानन्द दोषी, हंसकुमार तिवारी, बाल स्वरूप सिंह, विद्यावती कोकिल, रमानाथ अवस्थी, डॉ० शम्भुनाथ सिंह, विद्याभास्कर अरुण और चिरंजीत आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रतिभाशाली तरुण कवि हैं, जो उक्त काव्य धारा को अपनी कविताओं से समृद्ध बना रहे हैं, जिनका नामतः उल्लेख स्थानाभाव के कारण कठिन है।

उत्तर छायावाद-युग : प्रगतिवाद

स्वरूप—जो विचारधारा राजनीतिक क्षेत्र में साम्यवाद, सामाजिक क्षेत्र में समाजवाद और दर्शन में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है वही साहित्यिक क्षेत्र में प्रगतिवाद के नाम से अभिहित की जाती है। दूसरे शब्दों में मार्क्सवादी या साम्यवादी दृष्टिकोण के अनुसार निर्मित काव्यधारा प्रगतिवाद है। हिन्दी के बहुत से विद्वानों ने 'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशील' इन दोनों शब्दों को एक-दूसरे के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किया है, किन्तु ऐसा करना भ्रामक है। इन दोनों शब्दों के अर्थ में सूक्ष्म अन्तर है – प्रगतिवाद शब्द मार्क्स की साम्यवादी विचारधारा से सर्वथा सम्बद्ध है जबकि प्रगतिशील शब्द उससे सर्वथा स्वतन्त्र। किसी भी उपकरण से समाज को उन्नति की ओर अग्रसर करने वाला साहित्य प्रगतिशील कहला सकता है, और ऐसा करना साहित्य का शाश्वत धर्म है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसी, सूर, प्रसाद और गुप्त का साहित्य प्रगतिशील है, किन्तु उसे रूढ़ अर्थ में प्रगतिवादी साहित्य नहीं कहा जा सकता है। प्रगतिवादी साहित्य सामाजिक वैषम्य के निवारण करने के लिए मार्क्सवादी विचारधारा को माध्यम के रूप में अपनाने के लिए विवश है।

आधारभूत सिद्धान्त—प्रगतिवादी साहित्य का मूलाधार कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३ ई०) की विचारधारा है। इस विचारधारा को तीन प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है—(क) द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद, (ख) मूल्य-वृद्धि का सिद्धान्त तथा (ग) मूल-सभ्यता के विकास की व्याख्या। इनका विश्लेषण डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त के अनुसार निम्नस्थ है :—

(क) **द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद**— मार्क्स के विचारानुसार इस जगत् की उत्पत्ति एवं विकास भौतिक शक्तियों के द्वन्द्व से होता है। दो वस्तुओं एवं शक्तियों के संघर्ष से तीसरी वस्तु की उत्पत्ति होती है और यह क्रम उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इस प्रकार इस विकास-क्रम से योग्यतम की सत्ता बनी रहती है। मार्क्स सृष्टि की उत्पत्ति के पीछे किसी आध्यात्मिक शक्ति को स्वीकार नहीं करता है। उसके अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति नहीं, बल्कि इसका उत्तरोत्तर विकास हुआ है। यह भौतिक जगत् (द्वन्द्वात्मकता से) अपने विकास का कारण स्वयं है। यही कारण है कि मार्क्स आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, मृत्यु के बाद जन्मान्तरवाद आदि को नहीं मानता।

(ख) **मूल्य-वृद्धि का सिद्धांत**—मार्क्स ने किसी वस्तु की वृद्धि के चार अंगों का उल्लेख किया है—मूल-पदार्थ, स्थूल साधन, श्रमिक का श्रम और मूल्य-वृद्धि। इस प्रक्रिया में पूँजीपति द्वारा मूल-पदार्थ और मशीनें जुटाई जाती हैं जिन पर उसका व्यय होता है। सामाजिक आवश्यकता के अनुसार श्रमिक-वर्ग अधिकाधिक परिश्रम से अधिकाधिक मात्रा में वस्तूत्पादन करता है। इस उत्पादन-कर्म में बलिदान तो होता है श्रमिक के श्रम और उसके स्वास्थ्य का, किन्तु तिजोरियाँ भरी जाती हैं पूँजीपति की। लाभ की दशा में श्रमिक और पूँजीपति में उचित अनुपात से धन का बँटवारा न होने के कारण शोषण को प्रोत्साहन मिलता है, जोकि आज की मानवता के लिए एक महान् अभिशाप है। कार्ल मार्क्स के अनुसार किसान और मजदूर शोषित हैं, जबकि मालिक जमींदार और पूँजीपति शोषक हैं।

(ग) **अर्थ-व्यवस्थानुसार विश्व-सभ्यता की व्याख्या**—मार्क्स ने विश्व-मानवता को दो वर्गों में विभाजित किया है—(१) शोषक-वर्ग और (२) शोषित-वर्ग। वर्ण, जाति, धर्म, देश एवं सम्प्रदाय-गत भेद उन्हें मान्य नहीं हैं, उन्होंने विश्व-सभ्यता के इतिहास को चार युगों में बाँटा है—पहला युग दास प्रथा का युग था, जबकि श्रमिक की सब वस्तुओं पर उसके स्वामी का एकमात्र अधिकार था, श्रमिक तो दासवत् था। दूसरा सामान्ती प्रथा का युग है जिसमें श्रमिक को व्यक्तिगत बातों में तो स्वतन्त्रता मिल गई, किन्तु बाकी सब कुछ पूर्ववत् बना रहा। तीसरा पूँजीवादी व्यवस्था का युग आया जिसमें मजदूर के व्यक्तित्व और उसके श्रम पर तो उसका अधिकार हो गया, किंतु उत्पादन और लाभ पर पूँजीपति का अधिकार बना रहा। चौथा है साम्यवादी व्यवस्था का युग जिसमें मजदूरों द्वारा उत्पादन के समस्त उपकरणों पर नियन्त्रण होगा और प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम के अनुरूप फल मिलेगा। कार्ल मार्क्स साम्यवादी व्यवस्था की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने हिंसात्मक क्रांतिमय उपायों का भी समर्थन किया। साम्यवाद का उद्देश्य है समाज में आर्थिक स्तर पर समता की प्रतिष्ठा करना, और इसकी सिद्धि के लिए शोषित वर्ग को शोषक के विरुद्ध उत्तेजित करना। अतः साम्यवादी

या प्रगतिवादी साहित्य का उद्देश्य भी साम्यवादी विचारधारा द्वारा शोषितों को शोषकों के विरुद्ध भड़काना है।

साम्यवाद का केन्द्र बिन्दु श्रमिक—साम्यवादी विचारधारा की दृष्टि बिन्दु मजदूर और उसका जीवन है। पूँजीपति अधिकाधिक लाभ के लिए श्रमिक की समस्त शक्तियों का उपयोग करना चाहता है, इसमें शोषण को जन्म मिलता है और प्रोत्साहन भी। पूँजीपति थोड़े समय में अधिक लाभ की आशा से ठेकेदारी प्रथा को चलाता है जिसका मजदूर के जीवन और स्वास्थ्य पर इष्ट प्रभाव नहीं पड़ता। उद्योगपति उद्योग-धन्धों की सफलता के लिए श्रमिक के लिए नाना आकर्षणों को पैदा करता है जिसके फलस्वरूप ग्रामीण वर्ग अपने पारिवारिक और समाजगत व्यवसाय को छोड़ कर नगरों के कारखानों की ओर दौड़ता है, किंतु नगर के उस अपरिचित वातावरण में उसे अकेलापन महसूस होता है। परिणामतः उसके मानसिक सन्तुलन को आघात पहुंचता है। इसके फलस्वरूप श्रमिक के चरित्र और मनोरंजन की समस्या उत्पन्न होती है। मनोरंजन के आवश्यक उपकरणों के अभाव में उसकी दृष्टि केवल गृहिणी तक सीमित रहती है, जिसका फल पारिवारिक वृद्धि और उसका दुष्परिणाम है निर्धनता।

पूँजीपति अपनी अतुल धन राशि की रक्षा के लिए परलोक और प्रारब्ध के कृत्रिम एवं मिथ्या नियमों की-सृष्टि करता है। उसकी अतुल सम्पत्ति उसके प्रारब्ध का दान है जबकि निर्धन व्यक्ति की निर्धनता के लिए प्रारब्ध को दोषी ठहरा कर श्रमिक को झूठा संतोष दिलवाया जाता है, किन्तु साम्यवाद प्रारब्ध के इस ढकोसले को नहीं मानता। साम्यवादी का कहना है कि "व्यक्ति समाज का अंग है और समाज के लिए उसकी सत्ता है। जब तक वह समस्त समाज के विकास और वृद्धि में उपयोगी है तब तक उसका उतना ही मूल्य है जितना किसी अन्य व्यक्ति का। अतएव सम्पत्ति का विभाजन व्यक्तिपरक न होकर व्यक्ति की सामाजिक उपयोगिता के आधार पर होना चाहिए तथा किसी व्यक्ति का मूल्य इतना अधिक नहीं होना चाहिये कि उसके चुकाने में दूसरे व्यक्ति को कष्ट हो। इस मूल्य नियंत्रण के लिए सम्पत्ति पर से व्यक्ति का नियंत्रण हटाकर समाज का नियंत्रण आवश्यक है। साम्यवादी व्यवस्था का यही मूल तत्त्व है।"

मार्क्स की इस विचारधारा का प्रभाव केवल आर्थिक व्यवस्था पर ही नहीं पड़ा बल्कि इसने विश्व के दर्शन, धर्म, कला और साहित्य को व्यापक रूप से प्रभावित किया। योरुप तथा एशिया महाद्वीपों के सभी प्रमुख देशों में साम्यवादी विचारधारा का वहन करने वाले प्रगतिवादी साहित्य की सृष्टि हुई, जिसमें कतिपय प्रवृत्तियाँ समान रूप से परिलक्षित हुईं—धर्म, ईश्वर एवं परलोक का विरोध, शोषक-वर्ग के प्रति उत्तेजना एवं उत्कट घृणा का प्रचार, शोषित वर्ग के प्रति करुणार्द्र सहानुभूति तथा उसके जीवन का यथार्थ चित्रण, नारी के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण और शैली की सरलता एवं कलाडम्बर-विहीनता आदि।

हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य की पृष्ठभूमि—अंग्रेजी शासन की स्थापना के साथ भारत में भी व्यापार और उद्योग-धन्धों का केन्द्रीकरण आरम्भ हो गया। परिणामतः वहाँ भी श्रमिक और पूँजीपति, शोषित और शोषक वर्ग की उत्पत्ति हुई। यहाँ का मजदूर और किसान घरेलू काम-धन्धों की कला में दक्ष होने पर भी नगरों और कारखानों की ओर खिचने लगा, चाहे यह प्रक्रिया इंगलैंड के मुकाबले में बहुत हल्की थी। जीवन के अन्य क्षेत्रों के समान पाश्चात्य सम्पर्क का प्रभाव इस दिशा में भी निश्चित रूप से पड़ा।

हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनों का लक्ष्य जहाँ भारत को अंग्रेजों की राजनीतिक दासता से मुक्त करना था, वहाँ हर प्रकार के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण, भेदभाव और अन्याय का अन्त करके शोषणविहीन प्रजातन्त्र की प्रतिष्ठा करना भी था और इस दिशा में आज भी राष्ट्रवादी नेता प्रयत्नशील हैं, चाहे उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता अपेक्षाकृत कम ही क्यों न मिली हो। अस्तु, कार्ल-मार्क्स की साम्यवादी विचारधारा से रूसी सामन्तवाद का अन्त हुआ और वहां एक सफल साम्यवादी समाज की स्थापना हुई जिसने अल्पकाल में ही आश्चर्यजनक उन्नति की-इससे जहाँ हमारी राजनीतिक चेतना प्रभावित हुई वहां इस देश का सजग, कलाकार भी अवश्य प्रभावत हुआ।

द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होनेसे विश्व-भर में महँगाई, दरिद्रता और वर्गवाद का बोलबाला हुआ। उसकी समाप्ति और भी भयावह सिद्ध हुई। महँगाई, बेरोजगारी तथा शोषण का दमन-चक्र सर्वत्र बड़ी निर्ममता से चला और इसके अनिष्ट प्रभाव से भारत जैसे पहले से दीन देश का बचना कठिन था। देश की इस दयनीय दशा की ओर राजनीतिज्ञ और साहित्यकार का ध्यान जाना आवश्यक था।

१९३६ का वर्ष हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ष है। इस समय छायावाद जहाँ एक ओर अपने पूर्ण उत्कर्ष पर दिखाई दिया वहां साथ-साथ उसमें ह्रास की प्रक्रिया भी आभासित होने लगी और यह प्रक्रिया १९४० तक बराबर चलती रही। व्यक्तिवाद की जो व्यापक चेतना, लोक-संग्रह, आशा और उल्लास का जो स्वर प्रसाद, महादेवी, निराला और पन्त में मिलता है नये कवियों में उसका प्रायः लोप-सा हो गया। छायावाद की नई पीढ़ी के कवि घोर आत्मनिष्ठ, निराशावादी और केवल मात्र कल्पना तथा सौन्दर्य के लोक में विचरण करने वाले रह गये। वे बदलते हुए युग और उनकी आवश्यकताओं का साथ न दे सके। परिणामतः उनकी कविता जीवन के लिए अजनबी सी प्रतीत होने लगी।

सन् १९३४ में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के सरकार द्वारा अवैध घोषित होने पर गुप्त रूप से शोषक वर्ग, सामन्तशाही के प्रति उत्कट घृणा का प्रचार-कार्य उनके द्वारा चलता रहा। सन् १९३६ में मुंशी प्रेमचन्द की अध्यक्षता में भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। "प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जोश इलाहाबादी जैसे अग्रणी लेखकों और कवियों ने इस आन्दोलन का स्वागत ही नहीं

किया उसमें आगे बढ़कर भाग भी लिया।" पंत, निराला, दिनकर और नवीन ने इसम सक्रिय योगदान दिया। पन्त ने अपनी पत्रिका 'रूपाभ' के संपादकीय में लिखा था—"इस युग की वास्तविकता ने जैसे उग्र रूप धारण कर लिया है इससे प्राचीन विश्वासों से प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा और काव्य की स्वप्न-जटित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है। अतएव युग की कविता सपनों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।" कवि पन्त पुकार उठता है—

> **देख रहे हो गगन मृत्यु-नीलिमा नील गगन,**
> **देखो भू को स्वर्गिक भू को मानव पुण्य प्रसू को।**

उत्तर छायावादी युग में अनेक कवि प्रगतिवाद के जीवन आदर्श से प्रेरित हुए। इनमें प्रमुख हैं नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगलसिंह सुमन, अंचल, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, रामदयाल पांडेय और त्रिलोचन। सोहनलाल द्विवेदी एवं सुधीन्द्र जैसे गाँधीवादी कवियों ने भी प्रगतिवाद के स्वर अलापे। प्रगतिवाद के तरुण कवि हैं—शम्भुनाथसिंह रसिक, विद्यावती, कोकिल, गिरिजाकुमार माथुर, नेमिचन्द जैन, भारतभूषण अग्रवाल, गजानन माधव, गोपालदास नीरज, रामविलास शर्मा आदि।

कुछ लोगों ने हिन्दी-साहित्य के प्रगतिवाद को अंग्रेजी के Progressive साहित्य का हिन्दी संस्करण तथा अभारतीय कहा जो कि संगत नहीं है। हिन्दी का प्रगतिवादी साहित्य यहां की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक परि-स्थितियों की उपज है, इसमें अपना बहुत कुछ है। हां, इस पर अंग्रेजी तथा रूसी साहित्य का प्रभाव अवश्य पड़ा है।

प्रगतिवादी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियां

(१) रूढ़ि-विरोध—प्रगतिवादी साहित्यकार ईश्वर को सृष्टि का कर्ता न मान कर जागतिक द्वन्द्व को सृष्टि के विकास का समवायि कारण स्वीकार करता है। उसे ईश्वर की सत्ता, आत्मा, परलोक, भाग्यवाद, धर्म, स्वर्ग, नरक आदि पर विश्वास हीं है। उसकी दृष्टि में मानव की महत्ता सर्वोपरि है। उसके लिए धर्म एक अफीम का नशा है और प्रारब्ध एक सुन्दर प्रवंचना। उसके लिए आर्य-अनार्य, ईसाई-यहूदी गोरा-काला, ब्राह्मण और शूद्र का भेद एकदम थोथा है। प्रगतिवादी कवि वर्ग समाज तथा उस तथाकथित ईश्वर द्वारा निर्मित नियमों और उपनियमों को छिन्न-भिन्न कर देना चाहता है। उसके लिये मन्दिर मस्जिद, गीता और कुरान आज महत्त्व नहीं रखते। उसे अन्ध-विश्वासों, मिथ्या परम्पराओं और रूढ़ियों पर प्रखर प्रहार करके मानव को मानव-रूप में देखना अभीष्ट है—

भ्रांत यह अतिरंजित इतिहास ?
व्यर्थ के गौरव गान
दर्प से एक महान
अपर मुख म्लान
किसी को आर्य, अनार्य,
किसी को यवन
किसी को हूण-यहूदी द्रविड़
किसी को शीश
किसी को चरण
मनुज को मनुज न कहना आह ।

(२) **शोषितों का करुण गान**—शोषण मानव-जाति के लिये एक घोर अभिशाप है और इसका निवारण साम्यवादी व्यवस्था का लक्ष्य है । आज के निर्मम शोषण की चक्की के पाटों में पिसने वाले शोषित वर्ग—मजदूरों, किसानों एवं पीड़ितों की दशा का प्रगतिवादी कलाकार ने सहानुभूतिपूर्ण कारुणिक चित्रण किया है । प्राय: सारे प्रगतिवादी काव्य में यही करुण कहानी है जिसमें सांसारिक सुखों से वंचित शोषित वर्ग के जीवन के करुण अध्याय जुड़े हुये हैं । दलितों की दीन दशा पर आंसू बहाते हुये 'अंचल' लिखते हैं—

वह नस्ल जिसे कहते मानव, कीड़ा से आज गई बीती ।
बुझ जाती तो आश्चर्य न था, हैरत है पर कैसे जीती ।

निराला बंगाल के अकाल का दुखद चित्र उपस्थित करते हुये लिखते हैं—

बाप बेटा बेचता है, भूख से बेहाल होकर ।
धर्म धीरज प्राण खोकर, हो रही अनरीति बर्बर ।
राष्ट्र सारा देखता है ।।

इसी प्रकार उनका भिक्षुक का वर्णन—

वह आता,
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता ।

मजदूर सुख के सब उपकरणों का स्रष्टा है पर वह स्वयं उससे वंचित् है, वह अन्नदाता है, पर भूखा है । यह है भारत का दरिद्र नारायण मजदूर और किसान ।

ओ मजदूर ओ ! मजदूर !!
तू सब चीजों का कर्त्ता तू ही सब चीजों से दूर,
ओ मजदूर ! ओ मजदूर !!
× × ×
इस खलकत का खालिक तू है, तू चाहे तो पल में कर दे,
इस दुनिया को चकनाचूर, ओ मजदूर ! ओ मजदूर !!

(३) **शोषकों के प्रति घृणा और रोष**—इस संसार में केवल दो ही जातियां हैं—शोषक और शोषित। शोषक-वर्ग—व्यापारी, जमींदार, उद्योगपति—प्रारब्ध के नाम पर पूँजीवादी व्यवस्था को बनाये रखने के लिये प्रयत्नशील है और जब तक यह पूँजीवादी व्यवस्था बनी रहेगी, तब तक शोषण का अन्त असम्भव है। प्रगतिवादी इस जघन्य व्यवस्था को कुचल देने के पक्ष में है···"हो, यह समाज चिथड़े-चिथड़े शोषण पर जिसकी नींव गड़ी।" प्रगतिवादी कवि सामाजिक जीवन के वैषम्य को देखकर आक्रोशमयी प्रलयकारिणी वाणी में वज्रनिर्घोष कर उठता है—

"श्वानों को मिलता वस्त्र दूध, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़ों की रात बिताते हैं॥
युवती की लज्जा बसन बेच, जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं॥
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमन्त्रण॥" —दिनकर

सामाजिक विश्रृंखलता के उत्तरदायी शोषकों को ललकारते हुये पन्त कहते हैं—

दर्पी-हठी निरंकुश निर्भय कलुषित कुत्सित,
गत संस्कृति के गरल, लोक-जीवन जिन से मृत।
जग जीवन का दुरुपयोग है उनका जीना,
अब न प्रयोजन उनका अन्तिम हैं उनके क्षण॥

(४) **क्रांति की भावना**—साम्यवादी व्यवस्था की प्रतिष्ठा के लिये सामन्त-वादी पम्पराओं का समूल नाश आवश्यक है। केवल परम्पराओं का नाश ही पर्याप्त नहीं बल्कि शोषक-वर्ग का सर्वथा ध्वंस वाँछनीय है, अतः प्रगतिवादी कवि क्रांति के उन प्रलयंकारी भैरव स्वरों का आह्वान करता है जिनसे जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियाँ एवं परम्परायें किसी गहन अनल में सदा के लिये विलीन हो जायें। उन्हें समझौते या हृदय परिवर्तन की नीति पर विश्वास नहीं हैं। वह फोड़े को मरहम के उपयोग से अन्दर नहीं दबाना चाहता, बल्कि उसे उसका जड़ से उन्मूलन अभीष्ट है। प्रगतिवादी कवि पूँजीपतियों के गगन-चुम्बी महलों को भूमिसात् देखना चाहता है। उदाहरणार्थ देखिये—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल-पुथल मच जाये। —(नवीन)
आ कोकिल बरसा पावक कण।
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन॥ —(पन्त)
उठ समय से मोरचा ले,
धूल धूसर वस्त्र मानव,
देह पर फबते नहीं हैं,
देह के ही रक्त से तू देह के कपड़े रंगा ले। —(बच्चन)

(५) **मार्क्स तथा रूस का गुणगान** इस धारा के बहुत से कवियों ने साम्यवाद के प्रवर्तक मार्क्स तथा रूस, जहाँ उनकी विचारधारा पल्लवित और पुष्पित हुई, दोनों का उन्मुक्त गान किया। इस बात का विचार न करते हुए कि क्या वहाँ की मान्यताएँ भारत के लिए उपयोगी भी सिद्ध हो सकती हैं या नहीं। पन्त तो कहीं-कहीं साम्यवादी दर्शन की व्याख्या मात्र जुटाने में लग जाते हैं। निःसन्देह उनकी ऐसी रचनाओं में भाषा की स्वच्छता है पर वे किसी प्रकार भी रागात्मक साहित्य की कोटि में नहीं आयेंगी। पन्त की कार्ल मार्क्स के प्रति प्रशस्ति पद देखिए :—

धन्य मार्क्स चिर तमाच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर।
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर ॥

नरेन्द्र शर्मा का लाल रूस का गुणगान भी सुनिये—

"लाल रूस है ढाल साथियों! सब मजदूर किसानों की,
वहाँ राज है पंचायत का, वहाँ नहीं है बेकारी।
लाल रूस का दुश्मन साथी! दुश्मन सब इन्सानों का।
दुश्मन है सब मजदूरों का, दुश्मन सभी किसानों का।"

(६) **मानवतावाद** प्रगतिवादी कवियों के दो समुदाय हैं— एक तो अपनी मातृभूमि के लिए लिखता है और अपने ही देश के भिखमंगों, किसानों, मजदूरों, वेश्याओं और विधवाओं का उद्धार करना चाहता है। दूसरा समुदाय समस्त मानवता का उद्धार चाहता है। उसे संसार के सब पीड़ित लोगों से प्यार एवं सहानुभूति है। उसे संसार के किसी भी कोने में किये गये अत्याचार के प्रति रोष है। उसके लिए हिंदू और मुसलमान, हब्शी और यहूदी मानव के नाते सब बराबर हैं। कवि पन्त 'स्वर्ण धूलि' में लिखते हैं—

नहीं छोड़ सकते रे यदि जन,
देश राष्ट्र राज्यों के हित नित्य युद्ध करना,
हरित जनाकुल धरती पर विनाश बरसाना,
तो अच्छा हो छोड़ दें अगर हम
अमरीकन, रूसी औ इंगलिश कहलाना
देशों में आये धरा निखर, पृथ्वी हो सब मनुजों का घर,
हम उनकी सन्तान बराबर। —(पन्त)

जाने कब तक घाव भरेंगे इस घायल मानवता के ?
जाने कब तक सच्चे होंगे, सपने सबकी समता के ? — (नरेन्द्रशर्मा)

(७) **वेदना और निराशा**—छायावाद तथा प्रगतिवाद दोनों में वेदना का चित्रण हुआ है, किन्तु प्रगतिवाद की वेदना वैयक्तिक और सामाजिक है जबकि छायावाद में उसका वैयक्तिक रूप अधिक है। प्रगतिवादी संघर्षों से जूझता हुआ

निराश नहीं होता। उसे विश्वास है कि वह इस सामाजिक वैषम्य को दूर करने के लिए सफल होगा और वह उस समता के स्वर्ण विहान की आशा करता है। उसकी ओजस्विनी वाणी शोषित-वर्ग को स्फूर्ति प्रदान करके उसे अत्याचार के विपरीत मोर्चा लेने के लिए तैयार करती है। प्रगतिवादी इसी संसार को स्वर्ग बनाना चाहते हैं जिसमें वर्ग भेद, शोषण और रूढ़ियों का नामोनिशान नहीं होगा।

(८) **नारी चित्रण**—प्रगतिवादी कवि के लिए मजदूर तथा किसान के समान नारी भी शोषित है जो कि युग-युग से सामन्तवाद की कारा में पुरुष दासता की लौहमयी शृंखलाओं से बद्ध वन्दिनी के रूप में पड़ी है। वह अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व खो चुकी है और वह केवल मात्र रह गई है पुरुष की वासना—तृप्ति का उपकरण। उसमें आत्मा की उज्ज्वलता पुरुष की दृष्टि से एकमात्र विलुप्त हो गई है—

योनि नहीं है रे नारी वह भी मानवी प्रतिष्ठित।
उसे पूर्ण स्वाधीन करो वह रहे न नर पर अवसित।। —(पन्त)

नरेन्द्र शर्मा ने वेश्या के साथ सहानुभूति प्रकट करते हुए उसके पतन का दायित्व समाज पर ठहराया है—

गृह सुख से निर्वासित कर दी हाय मानवी बनी सर्पिणी,
यह निष्ठुर अन्याय, आओ बहिन!
अरी सर्पिणी आ तेरे मणिमय मस्तक पर मैं
अंकित कर दूँ निर्धन चुम्बन आ सर्पिणी, आ
ले भाई का निर्बल आलिंगन।

कवि पन्त पुकार उठता है—

मुक्त करो नारी को।

प्रगतिवादी कवि ने शृंगार रस के अन्तर्गत नारी के 'प्रेम' का भी चित्रण किया है और अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण गोप्य वस्तुओं को अगोप्य रूप में चित्रित किया, फलतः उसमें अश्लीलता की वीभत्सता आ गई। नरेन्द्र शर्मा की 'प्रभात फेरी' और पन्त की 'ग्राम्या' में यह प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है।

(९) **सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण**—प्रगतिवादी काव्य में निम्न वर्ग के जीवन की प्रतिष्ठा हुई। इससे पहले साहित्य में मध्य वर्ग तथा उच्च-वर्ग का जीवन प्रतिबिम्बित हुआ था। आज के वैज्ञानिक युग के कवि के सम्मुख अनेक प्रबल भौतिक समस्याएँ हैं, अतः उसे आध्यात्मिकता की चिन्ता नहीं। आज उसे व्यक्ति और समाज के कटु-सत्यों के सामने ऐश्वर्य, विलास, सुमन, सुरभि और मादक वसन्त फीके लगते हैं। जीवन के अनाचार, भूख की पुकार और पीड़ित की हाहाकार ने उसे व्यथित बना दिया है। आज वह आकाश में विचरण करने की अपेक्षा पृथ्वी के

जीवन को खुली आँख से देखने और लिखने लगा। संसार की सात आश्चर्यजनक वस्तुओं में से एक ताजमहल के सम्बन्ध में पन्त लिखते हैं—

हाय मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन।
जब विषण्ण निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन॥

इसी प्रकार भारत के ग्रामों का वर्णन करते हुए कवि पन्त लिखते हैं—

यह तो मानव लोक नहीं है, यह है नरक अपरिचित।
यह भारत का ग्राम सभ्यता संस्कृति से निर्वासित॥

(१०) **सामयिक समस्याओं का चित्रण**—प्रगतिवादी कवि देश और विदेशों की सामयिक समस्याओं के प्रति भी अत्यन्त सजग रहा है। उसके लिए विश्व-संस्कृति और मानवतावाद की प्रतिष्ठा के लिए ऐसा करना आवश्यक भी था। इस साधन के द्वारा उसके साहित्य में जीवन वास्तविक रूप से प्रतिबिम्बित हुआ। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान-विभाजन, काश्मीर-समस्या, बंगाल का अकाल, मँहगाई, दरिद्रता, बेकारी और चरित्र-हीनता आदि का प्रगतिवादी कवि ने मार्मिक वर्णन किया है। राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी के दारुण निधन पर प्रगतिवादी कवि की आकुल अन्तरात्मा फूट निकली—

बापू मेरे……
अनाथ हो गई भारत माता
अब क्या होगा……।

निराला की बंगाल के अकाल पर अभिव्यक्त वेदना हृदय को दहला देने वाली है।

विश्व-राजनीति में जब भी मानवता को 'शोषण' और 'अनीति' का शिकार बनना पड़ा, उस समय कवि की सहानुभूतिमयी वाणी मुखरित हो उठी। हीरोशिमा की बरबादी, स्वेज के झगड़े, कोरिया-युद्ध आदि अनेक समस्याओं पर कवि ने मार्मिक उद्‌गार प्रकट किये।

इन सामयिक समस्याओं के चित्रण में कवि ने अनेक सुन्दर व्यंग्य और हास-परिहास आदि का भी उपयोग किया है। नागार्जुन ने आज की थोथी आजादी पर व्यंग्य कसते हुए कहा है—

कागज की आजादी मिलती,
ले लो दो-दो आने में।

(११) **कला सम्बन्धी मान्यता**—प्रगतिवादी कलाकार जितना अनुभूति-पक्ष के सम्बन्ध में चिन्तित है उतना अभिव्यक्ति-पक्ष के सम्बन्ध में नहीं। कवि पन्त का कहना है—

तुम वहन कर सको, जन मन में मेरे विचार।
वाणी मेरी चाहिये क्या तुम्हें अलंकार॥

संघर्ष-कालीन कवि को क्रांति की भावना या कलात्मकता में से एक को अपनाना और उसका रक्षण करना होता है। प्रगतिवादी कवि को क्रांति की भावना के प्रचार के लिए कलातमकता का बलिदान देना पड़ा, क्योंकि इसके बिना वह निम्न वर्ग तक पहुंच ही नहीं सकता था। प्रगतिवादी काव्य में सरलता और सहज बोधगम्यता है। उसमें किसी प्रकार का आडम्बर नहीं है। छायावाद की संस्कृतमयी पदावली, क्लिष्ट प्रतीकात्मकता और लाक्षणिक योजना के विरुद्ध यहाँ विद्रोह है। प्रगतिवादी काव्य में भाव, भाषा, छन्द, अलंकार सभी दिशाओं में स्वाभाविक प्रगति हुई है। प्रगतिवादी काव्य की भाषा भावानुसारिणी है। वह सरल, सुबोध और भावाभिव्यंजन में सक्षम है। छन्द के क्षेत्र में इस धारा के कवियों ने उदार दृष्टिकोण से काम लिया है। मुक्तक और अतुकान्त छंदों के साथ इन्होंने गीतों और लोक गीतों की शैली का भी प्रयोग किया है। हाँ, इस दिशा में अपेक्षाकृत संगीत की मात्रा नहीं आ पाई है, जो छायावादी काव्य का विशेष गुण था। अलंकार क्षेत्र में भी इन्होंने रूढ़ उपमानों का परित्याग करते हुए नवीन रूपक, उपमान एवं प्रतीक प्रस्तुत किये। प्रगतिवादी काव्य की भाषा में पहले-पहल कर्कशता और खुरदरापन था, किन्तु शनैः शनैः उसमें कोमलता और सरसता का संचार होने लगा।

प्रगतिवादी कवि शिव का पुजारी है, अतः उसके काव्य में उपयोगितावाद का प्राधान्य है। उसका कला और जीवन सम्बन्धी आदर्श है—

> **खुल गये छन्द के बन्ध, प्रास के रजत पाश,**
> **अब गीत मुक्त औ युगवाणी बहती अयास।**
> **बन गये कलात्मक भाव जगत के रूप नाम,**
> **जीवन संघर्षण देता सुख लगता ललाम।**
> **सुन्दर, शिव, सत्य कला से कल्पित माप-मान,**
> **बन गए स्थूल जग जीवन से हो एक प्राण।**
> **मानव स्वभाव ही बन मानव आदर्श सुकर,**
> **करता अपूर्ण को पूर्ण असुन्दर को सुन्दर॥** —(पन्त)

ऊपर हमने प्रगतिवादी काव्य की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया है। हिन्दी साहित्य में प्रगतिवादी कवि वे हैं जिन्होंने मार्क्सवाद से प्रभावित होकर रूढ़ि विरोध, शोषकों के प्रति घृणा और शोषितों के प्रति सहानुभूति, सामाजिक जीवन तथा सामयिक समस्याओं का यथार्थपरक वर्णन किया है। ऐसे कवियों में शिव मंगलसिंह सुमन, डा० रामविलास शर्मा, नागार्जुन तथा केदारनाथ अग्रवाल आदि उल्लेखनीय हैं। किन्तु इन के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य के कवियों का एक ऐसा वर्ग भी है जिसने मार्क्सवाद का आंख मूंद कर अनुसरण न करते हुए अपने काव्यों में जन-सामान्य के लिए प्रगति विधायक तत्वों को विन्यस्त किया है। ऐसे कवियों को प्रगतिवादी कवि न कह कर प्रगतिशील कवि कहना अधिक संगत है। प्रगतिशील कवियों

ने मानवतावाद, गाँधीवाद और व्यापक राष्ट्रीयता के प्रचार से समाज और राष्ट्र को प्रगतिवाद की ओर प्रेरित किया है। डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त के अनुसार "इस वर्ग के अनेक कवि मूलतः छायावादी हैं, जिन्होंने बीच-बीच में प्रगतिशील रचनायें भी प्रस्तुत की हैं। इस प्रकार के कवियों में मुख्यतः सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, भगवतीचरण शर्मा, बालकृष्ण शर्मा नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, रामेश्वर शुक्ल अंचल, नरेन्द्र शर्मा, बच्चन आदि का नाम उल्लेखनीय है।" इसके अतिरिक्त दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी, गोपालशरण सिंह तथा सुभद्रा कुमारी चौहान आदि का भी प्रगतिशील कवियों में विशिष्ट स्थान है।

प्रगतिवाद की न्यूनतायें—प्रगतिवादी काव्य के प्रारम्भिक वर्षों को देखकर साहित्य जगत को यह आशा बँध गई थी कि भविष्य में चलकर यह भी प्रसाद की 'कामायनी' के समान अपनी कोई अमूल्य निधि प्रदान कर साहित्य को गौरवान्वित करेगा, किन्तु वह आशा पूरी न हो सकी और विद्रोह का स्वर अलापने वाला यह काव्य स्वयं रूढ़िग्रस्तता तथा ह्रासोन्मुखी प्रक्रिया का शिकार बन गया। लगभग बीस वर्ष की अवधि में इसने साहित्य के उपन्यास, कहानी, कविता और नाटक किसी भी क्षेत्र में ऐसा कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं दिया जो अविस्मरणीय हो। प्रगतिवादी काव्यधारा में सामाजिकता की प्रधानता के कारण उसमें जीवन की स्थूल समस्याओं का विवेचन हुआ और उसमें यथार्थता इतनी भर दी कि वह विवेचन एक विवरणमात्र रह गया। फलतः इस काव्य में अनुभूति की गहराई और संवेदनशीलता के गुण न आ सके। प्रगतिवादी काव्य में गर्जन-तर्जन अधिक है किन्तु उसमें वह अजस्र रसधारा नहीं जो कि हृदय की पिपासा को तृप्त कर सके। बौद्धिकता के अतिरेक और अति यथार्थवादिता ने इसमें प्रेषणीयता के स्थान पर वीभत्सता ला दी। कवि पन्त के शब्दों में "नवीन लोक-मानवता की गम्भीर सशक्त चेतना के जागरण-गान के स्थान पर उसमें नंगे-भूखे श्रमिक-कृषकों के अस्थि-पंजरों के प्रति मध्यवर्गीय आत्म कुण्ठित, बुद्धिवादियों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का हुंकार भरा क्रन्दन सुनाई पड़ने लगा···अपने निम्न स्तर पर प्रगतिवाद में सुरुचि, संस्कारिता का स्थान विकृत, कुत्सित वीभत्स ने ले लिया।" जीवन के शाश्वत सत्यों की उद्भावना प्रगतिवादी काव्य में बहुत कम हुई है। धीरे-धीरे भाव क्षेत्र में प्रगतिवाद भी रूढ़िग्रस्त होता गया। छायावादी कविता साधना और अभ्यास के कारण कवित्व की दृष्टि से बहुत ऊँची है। प्रगतिवादी कविता में छायावाद की गम्भीरता, तन्मयता, अभिव्यंजना, अनुभूति की गहराई और कला की उच्चता नहीं आ सकी। प्रगतिवादी कवि मार्क्सवादी विचारधारा को बुद्धि का विषय मात्र बना पाया उसे हृदय की अनुभूति का विषय नहीं बना सका। परिणामतः उसमें विचारों की शुष्कता है, अनुभूति की तरलता नहीं। इस कवि की शोषित वर्ग के प्रति बौद्धिक सहानुभूति व्यक्त हो सकी।

प्रगतिवादी काव्य में एकांगिता अधिक है। जीवन की विविधता और अनेकरूपता कम। कहीं-कहीं पर प्रगतिवाद की सैद्धान्तिक व्याख्या मात्र कर दी गई है

जिसमें रागात्मकता नहीं। फैशन और फरमायश के लिए लिखी गई प्रगतिवादी कविताएँ साहित्य-कोटि में कभी भी नहीं आ सकतीं। दूसरे ह्रासोन्मुख प्रक्रिया काल में कुछ प्रगतिवादी कवि नग्न चित्रण को ही सच्चा मार्क्सवाद मान बैठे। तीसरे मार्क्सवाद को अवांछित कट्टरता से अपनाना तथा धर्म प्रधान देश भारत की आध्यात्मिकता का सर्वथा विरोध करना आदि भी प्रगतिवादी कविता के ह्रासोन्मुखता का कारण बना। डॉ० शिवदानसिंह चौहान इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"लेकिन तरुण प्रगतिशील कवि स्वतन्त्र रूप से किसी नये काव्यादर्श का अभी सम्यक् विकास भी न कर पाये थे कि उन्होंने राजनीतिक दलबन्दी की मतवादी और साम्प्रदायिक संकीर्णताओं में पड़कर अपनी काव्य-प्रतिभा का स्वयं ही हनन कर डाला—कवि अपने दलगत विचारों की अनुभूतिहीन विवृत्ति करने लगे। इस बीच कोई ऐसी महान् प्रतिभा का नया कवि नहीं पैदा हुआ जो इन दलगत संकीर्णताओं के घेरे को तोड़कर समग्रभाव से युग जीवन की नयी प्रगतिशील चेतना और सत्य को सार्वदेशिक और सार्वजनीन स्वर में कलात्मक अभिव्यक्ति देता। युग सत्य नहीं बदला है केवल उसका बोध तत्काल, मलिन और खण्डित हो गया है। इसके लिए विपरीत परिस्थितियों से अधिक इन तरुण प्रगतिशील कवियों का असामर्थ्य और असंवेदनशीलता ही उत्तरदायी है, जो उन्हें सत्य की उपलब्धि नहीं होने देती और संकीर्ण पथों पर भटका देती है।"

महत्व—फिर भी प्रगतिवादी काव्य का अपना महत्त्व है। यह जीवन के भौतिक पक्ष का अभ्युत्थान करना चाहता है। जीवन की विषमता का निवारण कर मानवता की प्रतिष्ठा का इसका उच्चादर्श निश्चित रूप से अभिनन्दनीय है। आवश्यकता इस बात की है कि प्रगतिवाद को प्रसाद तथा प्रेमचन्द जैसा कोई मनीषी कलाकार मिले जो उसके महत्त्व की स्थायी आधार-शिला का न्यास कर सके। प्रगतिवाद की सत्ता ही उसके महत्त्व का प्रमाण है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में, "भारत में प्रगतिवाद का भविष्य साम्यवाद के साथ बंधा हुआ है लेकिन फिर भी आधुनिक काव्य के अध्येता को आदर और धैर्य पूर्वक उसका अध्ययन करना होगा। उसने हिन्दी-काव्य को एक जीवन्त चेतना प्रदान की है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता।"

उत्तर छायावाद युग : प्रयोगवाद या नयी कविता

नामकरण और स्वरूप—"छायावादोत्तर काल में प्रगतिवाद के समानान्तर हिन्दी-कविता में व्यक्तिवाद की परिणति घोर अहंवादी, स्वार्थ प्रेरित, असामाजिक, उच्छृंखल और असंतुलित मनोवृत्ति के रूप में हुई।" कविता की इस विद्रूप प्रवृत्ति का शायद अभी तक अन्तिम रूप से नामकरण नहीं हो पाया है। यही कारण है कि इसे अनेक नामों से अभिहित किया जा रहा है। प्रयोगवाद, प्रतीकवाद, प्रपद्यवाद, रूपवाद या नयी कविता इसके विविध नाम हैं। प्रपद्यवाद को प्रारंभिक अवस्था में "नकेनवाद" की संज्ञा से अभिहित किया गया। नलिन विलोचन शर्मा, केसरीकुमार तथा नरेश मेहता ने मिलकर अपने नामों के प्रथमाक्षर के आधार पर "नकेनवाद" का

आविष्कार किया। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने 'प्रयोगवाद', 'प्रपद्यवाद' तथा 'नई कविता' इन तीनों नामों को उक्त काव्य धारा के विकास की तीन अवस्थायें स्वीकार किया है। उनके अनुसार "प्रारम्भ में जब कवियों का दृष्टिकोण एवं लक्ष्य स्पष्ट नहीं था, नूतनता की खोज के लिए केवल प्रयोग की घोषणा की गई थी, तो इसे प्रयोगवाद कहा गया। इसी आन्दोलन की एक शाखा ने स्वर्गीय नलिन विलोचन शर्मा के नेतृत्व में प्रयोग को अपना साध्य स्वीकार करते हुए अपनी कविताओं के लिए प्रपद्यवाद का प्रयोग किया। दूसरी ओर डॉ० जगदीश गुप्त एवं लक्ष्मीकान्त वर्मा ने इसे अधिक व्यापक क्षेत्र प्रदान करते हुए 'नयी कविता' नाम का प्रचार किया। संप्रति 'नयी कविता' नाम का ही अधिक प्रचलन है, किन्तु इसे भी एक अस्थायी नाम मानना चाहिये"। वस्तुतः यह काव्य धारा बड़ी द्रुतगति से नाम बदलने की प्रक्रिया में तत्पर है। नई कविता के समकाल या उसके कुछ आगे-पीछे इसने 'अकविता', 'स्वीकृत कविता', 'अस्वीकृत कविता', 'भूखी पीढ़ी' 'दिगम्बर पीढ़ी' 'ताजी कविता' 'कबीर पीढ़ी' 'ठोस कविता' आदि अनेक अजीबोगरीब नाम धारण किए हैं। न जाने आगे चलकर किस अकल्पनीय नाम की उद्भावना कर ली जाय ? अभी तो यह नित्य नवीन केंचुलें बदलती नये नामों की खोज में व्यस्त है। राजनीतिक दलों के समान इस काव्य धारा के कवि मानी-लोग अपने अहं के विज्ञापनार्थ प्रचार के माध्यम में प्रकाशित मासिक, द्वैमासिक, त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक, वार्षिक पत्रिकाओं—'प्रतीक', 'पाटल','निकष', 'संकेत' 'नई कविता', 'ज्ञानोदय', 'धर्मयुग', 'कृति', 'लहर' निष्ठा, 'शताब्दी' ज्योत्स्ना 'आजकल' तथा 'कल्पना' आदि के द्वारा अपने-अपने घोषणा-पत्रों द्वारा (Menifestos) अपने नेतृत्व और उत्कर्ष की स्थापना में संलग्न हैं। वे अपने अनुयाइयों और उनके नारों का शोर मचाने वाले व्याख्याकारों और आलोचकों की खोज में हैं।

प्रयोगवाद के स्वरूप के सम्बन्ध में इस कविता-धारा के उन्नायकों ने अपने भिन्न-भिन्न मतों को प्रकट किया है। प्रयोगवाद के प्रवर्तक अज्ञेय जी का कहना है कि—"जो व्यक्ति का अनुभूत है उसे समष्टि तक कैसे सम्पूर्णता में पहुंचाया जाय।" कदाचित् उनके मतानुसार प्रयोगवाद इस कार्य की पूर्ति करता है। आगे चलकर वे लिखते हैं—"प्रयोगशील कविता में नये सत्यों या नई यथार्थताओं की जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नये रागात्मक सम्बन्ध भी और उनको पाठक या सहृदय तक पहुंचाने यानी साधारणीकरण की शक्ति है।" अन्यत्र वे लिखते हैं—"इसलिये वह (कलाकार) व्यक्ति-सत्य को व्यापक सत्य बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निबाहना चाहता है।" धर्मवीर भारती इस विषय में लिखते हैं—"प्रयोगवादी कविता में भावना है किन्तु हर भावना के आगे एक प्रश्न चिह्न लगा है। इसी प्रश्न चिह्न को आप बौद्धिकता कह सकते हैं। सांस्कृतिक ढाँचा चरमरा उठा है और यह प्रश्न चिह्न उसी की ध्वनि मात्र है।" गिरिजाकुमार माथुर ने इस सम्बन्ध में कहा है— "प्रयोगों का लक्ष्य है व्यापक सामाजिक सत्य के खण्ड अनुभवों का साधारणीकरण करने में कविता को नवानुकूल माध्यम देना जिसमें व्यक्ति द्वारा इस व्यापक सत्य का सर्वबोध-

गम्य प्रेषण सम्भव हो सके।" डॉ० जगदीश गुप्त का कहना है कि—"वह नई कविता उन प्रबुद्ध विवेकशील आस्वादकों को लक्षित करके लिखी जा रही है जिसकी मानसिक अवस्था और बौद्धिक चेतना नये कवि के समान है—बहुत अंशों में कविता की प्रगति ऐसे प्रबुद्ध भावुक वर्ग पर आश्रित रहती है।" उपर्युक्त उद्धरणों को देखते हुए कहा जा सकता है कि इनमें प्रयोगवादी या नई कविता पर लगाये गये आक्षेपों का उत्तर है, उसके स्वरूप के स्पष्टीकरण करने का कोई प्रयत्न नहीं है। हां, इन कथनों से इतना स्पष्ट विदित हो जाता है कि इस प्रयोगवादी या नई कविता में अत्यन्त घोर वैयक्तिकता, अति बौद्धिकता और अतिरिक्त यथार्थता है और इसके साथ हैं शैलीगत नवीन प्रयोग। अज्ञेय जी इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किये हैं, यद्यपि किसी एक काल में किसी विशेष दिशा में प्रयोग करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है, किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिये, जिन्हें अभी नहीं छुआ गया या जिनको अभेद्य मान लिया गया है।" अज्ञेय जी के इस कथन से स्पष्ट है कि वे शैलीगत और विषयगत एकदम विलक्षण नवीन प्रयोगों के उत्कट इच्छुक हैं। लगता है जैसे उनका नारा हो—"नया न हुआ, तो क्या हुआ ?" डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में—"नई कविता, नये समाज के नये मानव की नई वृत्तियों की नई अभिव्यक्ति, नई शब्दावली में है, जो नये पाठकों के नये दिमाग पर नये ढंग से नया प्रभाव उत्पन्न करती है।" हमारा अपना विचार है कि प्रयोगवादी काव्य में शैलीगत और व्यंजनागत नवीन प्रयोगों की प्रधानता है।

कुछ लोगों ने प्रयोगवाद को रूपवाद या फार्मलिज्म (Formalism) का पर्यायवाची माना है। उनका कहना है, यह योरुपीय साहित्य की जूठन है—"प्रथम युद्धोत्तरकालीन पाश्चात्य साहित्य में जिस तरह का व्यक्तिवाद अनेक साहित्यिक वादों और प्रवादों की दुहाई देता हुआ व्यक्त हुआ और उसने काव्य की भाषा, वस्तु-विन्यास और व्यंजना में जैसे विचित्र बौद्धिक प्रयोग किए, कुछ उससे मिलती-जुलती या प्रभावित हिन्दी की तथाकथित प्रयोगवादी कविता भी है।" इस कविता पर इलियट, पाउण्ड तथा फ्रायड का प्रभाव स्पष्ट हैं, प्रयोगवादी काव्य धारा पर योरुप के साहित्य के अनेक वादों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार उक्त काव्य धारा पर पाश्चात्य साहित्य के प्रतीकवाद, बिम्बवाद, दादावाद, अतियथार्थवाद, अस्तित्ववाद तथा फ्रायड के यौन एवं कुण्ठावाद का प्रभाव पड़ा है।

कतिपय विद्वानों ने प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद की सतही समानता को देखकर इसे प्रगतिवाद का एक रूप या शाखा कहने का अनुचित प्रयास किया है। प्रगतिवाद में सामाजिकता की प्रधानता है जबकि इसमें अहंनिष्ठ घोर वैयक्तिकता है। दूसरे लोगों ने प्रयोगवाद को छायावाद की वैयक्तिकता का बढ़ावा माना है, किन्तु ऐसा मानना नितान्त भ्रामक एवं असंगत है। छायावादी काव्य की वैयक्तिकता में जो

उदात्त लोक-व्यापक चेतना और लोक-संग्रह की भावनाएँ हैं वे इन छिछोरे बालकों के समान प्रयोगवादी कवियों की केंचुए के समान अपने आप में सिमटी अथच दूषित वैयक्तिकता में कहाँ हैं। वस्तुतः कविता की प्रयोगवादी धारा छायावाद के ह्रासोन्मुख काल में प्रकट हुई, जिसमें व्यक्तिवाद की परिणति घोर अहंवादी, स्वार्थ प्रेरित, असामाजिक, उच्छृंखल और असंतुलित मनोवृत्ति के रूप में हुई है।

कुछ विद्वानों ने प्रयोगवाद तथा नई कविता को भिन्न-भिन्न माना है, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि ये दोनों एक ही कविता-धारा के विकास की दो अवस्थायें हैं। सन् १९४३ से १९५३ तक कविता में जो नवीन प्रयोग हुए, नयी कविता उन्हीं का परिणाम है। प्रयोगवाद उस कविता धारा की आरम्भिक अवस्था है और नयी कविता उसकी विकसित अवस्था। प्रयोगवाद के जो उन्नायक हैं वे ही नयी कविता के कर्णधार हैं और साथ-साथ इन दोनों की काव्यगत प्रवृत्तियाँ भी समान हैं।

उद्भव के कारण—प्रयोगवादी कविता के उद्भव के कारणों का उल्लेख करते हुए श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने लिखा है—"प्रथम तो छायावाद ने अपने शब्दाडंबर में बहुत से शब्दों और बिम्बों के गतिशील तत्त्वों को नष्ट कर दिया था। दूसरे, प्रगतिवाद ने सामाजिकता के नाम पर विभिन्न भाव-स्तरों एवं शब्द-संस्कारों को अभिधात्मक बना दिया था। ऐसी स्थिति में नये भाव-बोध को व्यक्त करने के लिए न तो शब्दों में सामर्थ्य था और न परम्परा से मिली हुई शैली में। परिणामस्वरूप उन कवियों को जो इनसे पृथक् थे सर्वथा नया स्तर और नये माध्यमों का प्रयोग करना पड़ा। ऐसा इसलिये और भी करना पड़ा क्योंकि भाव-स्तर की नयी अनुभूतियाँ विषय और संदर्भ में इन दोनों से सर्वथा भिन्न थीं।" उपर्युक्त कथन के आधार पर कहा जा सकता है कि वर्मा जी ने प्रयोगवादी कविता को छायावाद और प्रगति-वाद की प्रतिक्रिया स्वीकार किया है। उनके अनुसार "इस नयी कविता या प्रयोगवाद को नवीन अभिव्यक्ति के लिए नवीन माध्यम और नवीन विषय चुनने पड़े और वह एक नयी दिशा की ओर अग्रसर हुई जो कि पहले अनिर्दिष्ट और अज्ञात थी। वह नयी दिशा है—

(क) प्रयोगवाद ज्ञात से अज्ञात, प्राचीनता से नवीनता की ओर आगे बढ़ता है।

(ख) प्रयोगवादी परम्परा से स्थापित सत्य से आगे बढ़ता है।

(ग) प्रयोगवादी का लक्ष्य परम्पराओं का खंडन करना ही नहीं, अपितु साहित्य में निर्जीव तत्त्व के स्थान पर नये सजीव तत्त्व का अन्वेषण करना है।"

इस सन्दर्भ में श्री रामेश्वर शर्मा तथा डॉ० देवराज के मतों को उपन्यस्त करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा। डॉ० देवराज का कहना है कि "पुरानी कविता रूढ़िग्रस्त एवं अरोचक हो उठी है, दूसरे, काव्य भाषा को जन भाषा के निकट लाना है अथवा काव्य निबद्ध अनुभूति को जन-जीवन के सम्पर्क में लाना है, बदलते हुए

जीवन की नयी सम्भावनाओं के उद्घाटन के लिए अथवा नये मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए नवीन प्रयोग करने हैं। इसलिए नई शैली का अर्थ है जीवन या अनुभव जगत् के नये पहलुओं को नयी दृष्टि से देखना और उन्हें नये चित्रों, प्रतीकों, अलंकारों द्वारा अभिव्यक्ति देना।"

श्री रामेश्वर शर्मा का मत है कि 'प्राचीन रूढ़ियों और संस्कारों से जब मनुष्य ऊब जाता है तब वह नवीनता की ओर उन्मुख होता है। जीवन और जगत् के सौन्दर्य के मान-दण्डों के समान साहित्य-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के मानदण्ड भी बदलते रहते हैं। नयी कविता से पहले की हिन्दी कविता रूढ़िबद्ध और परम्पराग्रस्त हो चुकी थी। नयी कविता ने अपनी नवीन मान्यताओं से प्राचीनता के प्रति संघर्ष किया। पुरानी कविता समाज के साथ कदम से कदम मिलाकर नहीं चल रही थी, परिणामत: उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए नयी कविता का उद्भव हुआ। पुरानी कविता नये भावों के अभिव्यंजन के लिए सक्षम थी, अत: नयी कविता को शैली-क्षेत्र में नवीन प्रयोग करने पड़े। सारांश रूप में कहा जा सकता है कि प्रयोगवाद या नयी कविता का जन्म नवीन वस्तु और नवीन शैली के आग्रह के फलस्वरूप हुआ, अत: इसमें नवीन उपमानों और नवीन प्रतीकों का ग्रहण हुआ।"

प्रयोगवाद या नयी कविता के जन्म के सम्बन्ध में दिये उपर्युक्त मतों का विश्लेषण करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उनके अनुसार इस नयी कविता के जन्म के कारण हैं—

(१) प्राचीन कविता अर्थात् छायावाद तथा प्रगतिवाद की परम्परा-बद्धता और रूढ़िग्रस्तता।

(२) बदलते हुए समाज के सत्यों और मूल्यों को उद्घाटित करने के लिए नवीन अभिव्यंजना की आवश्यकता।

(३) जीवन या अनुभव जगत् के नए पहलुओं को नई दृष्टि से देखना और उन्हें नये चित्रों, प्रतीकों, अलंकारों द्वारा अभिव्यक्त करना।

पुरानी कविता से कदाचित् प्रयोगवादी कविता के समर्थकों का अभिप्राय है—छायावाद और प्रगतिवाद। इन दोनों ने अपने-अपने युग में प्राचीनता का विरोध किया था। आश्चर्य होता है कि साहित्यिक जीवन की बीस वर्ष की छोटी सी अवधि में ये दोनों काव्य की क्रांतिमय धारायें इतनी घिस-पिट और फीकी पड़ गईं कि नये कवि को नया क्षेत्र ढूंढना पड़ा। लाक्षणिकता और उपचारवक्रता छायावादी काव्य की शैलीगत विशेषताएँ हैं जिन्हें नई कविता के प्रशंसकों ने बदलते हुए समाज के सत्यों और मूल्यों की अभिव्यंजना के लिए अक्षम बताया है। इनके अनुसार प्रगतिवादियों की अभिधा-शैली भी इस कार्य के लिए असमर्थ है। समझ में नहीं आता है कि प्रयोगवाद के आलोचक प्रवरों को निबिड़ तिमिराच्छन्न-गहन-गुहानिहित त्रिलोकातिशायिनी काव्य-जगत् की कौन सी अपूर्व सरणि अभीष्ट है और साथ-साथ इस धारा के कवि-

पुंगवों ने न जाने कोलम्बस के अमेरिका के समान कुंठाओं और दमित-वासनाओं के किस अवचेतन लोक को खोज निकाला है जिसके विकृत सत्यों और मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए त्रिशंकु के समान उन्हें नवीन सृष्टि रचनी पड़ी है। सच यह है कि इन लोगों की "प्रयोग-शीलता का आडम्बर तो केवल समाज-द्रोही भावनाओं और जीवन के प्रति घोर अनास्था, कुंठा और विद्रूपात्मक उद्गारों को एक दुरूह, संकेतात्मक भाषा, अस्वाभाविक अलंकार योजना और अहंवादी और बहुधा ओछे तल की वचन-भंगिमा में छिपाने का उपक्रम मात्र है।"

प्रयोगवाद या नई कविता का लक्ष्य—छायावाद की ह्रासोन्मुख दशा में अहंनिष्ठ घोर व्यक्तिवादी कविता धारा, जिसका प्रारम्भिक रूप प्रयोगवाद की सज्ञा से अभिहित हुआ और विकसित रूप नयी कविता के नाम से, का लक्ष्य अब कुछ-कुछ निश्चित हो चला है। डॉ॰ गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार उस लक्ष्य के चार मूल तत्त्व ये हैं—

(१) नवीनता अर्थात् उसमें नवीन विषयों का वर्णन नवीन शैली में किया जाता है।

(२) मुक्त यथार्थवाद—अब तक जिस अश्लीलता, नग्नता और कामुकता का काव्य में बहिष्कार किया जाता था उसका चित्रण नयी कविता में पूर्ण रुचि के साथ किया जाता है।

(३) बौद्धिकता—नया कवि भावात्मकता की अपेक्षा बौद्धिकता को अधिक महत्त्व प्रदान करता है।

(४) क्षणिकता—इसमें चिरन्तन एवं स्थायी भावनाओं एवं समस्याओं की अपेक्षा क्षणिक अनुभूतियों का आदर किया जाता है। नया कवि एक क्षण के आनन्द की पूर्ण अनुभूति के लिए सम्पूर्ण जीवन के सुख-साधनों को खो देना श्रेयस्कर समझता है।

प्रयोगवाद या नयी कविता का विकास—उत्तर छायावादी काव्य की उक्त धारा के विकास-क्रम को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) प्रयोग-काल (१९४३-५३), (ख) विकास काल (१९५३ से अब तक)। १९४३ में अज्ञेय जी के संपादकत्व में विभिन्न कवियों की कविताओं का संग्रह, तारसप्तक (प्रथम भाग) प्रकाशित हुआ। इन कविताओं में प्रवृत्तिगत साम्य की अपेक्षा पारस्परिक वैषम्य अधिक है। अज्ञेय जी उक्त पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं—"उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं। अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी।" प्रथम तारसप्तक के कवि हैं—श्री अज्ञेय, गजानन माधव, मुक्ति-बोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर और रामविलास शर्मा। १९५१ में दूसरा तार-सप्तक प्रकाशित हुआ, जिसमें भवानीशंकर मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर-

बहादुर सिंह, नरेश कुमार मेहता, रघुवीरसहाय तथा धर्मवीर भारती की कविताएं संग्रहीत हैं। इनके अतिरिक्त प्रयोगवाद के प्रवर्तक श्री अज्ञेय जी ने 'प्रतीक' नाम की पत्रिका निकाली, जिसमें समय-समय पर प्रयोगवादियों की कवितायें प्रकाशित होती रहीं। पटना से निकलने वाले दो पत्र 'दृष्टि-कोण' और 'पाटल' प्रयोगवादी कविता के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

सन् १९५४ में डॉ० जगदीश गुप्त और रामस्वरूप चतुर्वेदी के सम्पादन में प्रयोगवादी कविताओं का अर्द्धवार्षिक संग्रह—"नई कविता" के नाम से प्रकाशित होने लगा है। इसी समय से प्रयोगवादी कविता का नाम "नई कविता" पड़ गया। तारसप्तक परम्परा के अतिरिक्त कुछ अन्य भी प्रयोगवादी कवि हैं जिनमें प्रसिद्ध है—चन्द्रकुँवर वर्त्वाल, राजेन्द्र यादव, सूर्यप्रताप और केदारनाथ सिंह। तारसप्तक परम्परा के सभी कवि प्रयोगवादी हों, ऐसी बात नहीं है। रामविलास शर्मा ओर भवानीप्रसाद मिश्र पर प्रगतिवाद का पर्याप्त प्रभाव है। और कदाचित् यही कारण है कि रामविलास शर्मा अपने अन्य साथियों की घोर वैयक्तिकता के स्वर में स्वर न मिला सके और अन्ततोगत्वा वे प्रोयगवाद के राही न बन सके।

प्रयोगवाद-या-नई कविता के महत्त्वपूर्ण कवि हैं—सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर, धर्मवीर भारती, गजानन माधव मुक्ति-बोध भारतभूषण अग्रवाल, भवानी प्रसाद मिश्र, लक्ष्मी कान्त वर्मा, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, नेमिचन्द्र जैन प्रभाकर माचवे, शकुन्तला माथुर तथा नरेश कुमार मेहता आदि। अज्ञेय जी के अनेक काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें भग्नदूत, चिन्ता इत्यलम्, हरी-घास पर क्षण-भर, बावरा अहेरी, इन्द्रधनु, रौंदे हुए ये, अरी ओ करुणा प्रभा-मय, तथा आंगन के पार द्वार उल्लेखनीय हैं। गिरिजाकुमार माथुर के काव्य-संग्रह हैं—मंजीरनाश और निर्माण, धूप के धान, तथा शिलापंख चमकीले आदि। धर्मवीर भारती की प्रकाशित रचनाओं में कनुप्रिया ठंडा-लोहा, और सातगीत वर्ष अन्धा-युग आदि उल्लेखनीय हैं। मुक्ति-बोध ने भी हिन्दी साहित्य को अनेक रचनायें प्रदान की हैं जिनमें उनकी प्रगतिशीलता का स्वर सदा उच्च बना रहा है। छवि के बन्धन, जागते रहो, मुक्ति-मार्ग आदि भारत-भूषण अग्रवाल की प्रसिद्ध रचनायें हैं। भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं का संग्रह 'गीत पुरोश' के नाम से निकला है, जिसमें एक सच्चे एवं उच्चकोटि के कवि की आन्तरिक अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। शकुन्तला माथुर की सुहाग वेला तथा कूड़े से भरी गाड़ी प्रसिद्ध रचनायें हैं। नई कविता के नवीन राहियों में विजय देव नारायण, कुंवर नारायण, जगदीश गुप्त, दुष्यन्त कुमार, केदारनाथ सिंह, रमेश कुन्तलमेघ, तथा हरिनारायण व्यास विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रयोगवादी साहित्यकारों का कहना है कि साहित्य में प्रयोग आदिकाल से होते आये हैं। आधुनिकतम प्रयोगवादी साहित्य का आरम्भ वे निराला के कुकुरमुत्ता और नये पत्ते से मानते हैं। सुमित्रानन्दन पन्त प्रयोगशील कविता का जन्म छायावादी

काल से मानते हैं। उनका कहना है कि प्रसाद ने प्रलय की छाया और वरुणा की कछार लिखकर वस्तु तथा छन्द सम्बन्धी नवीन प्रयोग आरम्भ कर दिये थे। अस्तु, प्रयोगवादी साहित्य के उद्भव से पूर्व साहित्य में जो प्रयोग हुए उनमें आन्तरिक-स्वास्थ्य के विकास का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया और जीवन को ही प्रयोग रूप में ग्रहण किया गया, किन्तु आज का प्रयोगवादी साहित्य आन्तरिक महत्व को प्रधानता न देकर बाह्य परिवर्तन में ही प्रयत्नशील है। "नवीन जीवन प्रेरणा को व्यक्त करने के लिए ही कला रूपों में नये प्रयोग सफल होते हैं, प्रयोग के लिए प्रयोग करके नहीं।" प्रयोगवादी कविता में प्रयुक्त प्रतीकों में लक्षणा और व्यंजना नामक शब्द-शक्तियों का प्रवेश सर्वथा निषिद्ध है। इन प्रतीकों को केवल नये सौन्दर्य और आधुनिक बोध से सम्पन्न नई कविता का लेखक ही समझ सकता है। इन प्रतीकों में साधारणीकरण तथा भाव संप्रेषणीयता की मात्रा का सर्वथा अभाव है। नई कविता के प्रतीक केवल प्रतीकों के लिए आते हैं। इनका बोधगम्यता आदि से कोई सरोकार नहीं हैं। कला और साहित्य के क्षेत्र में नये प्रयोगों, प्रतीकों और बिम्बों की सार्थकता तभी है जब वे सत्योन्मुख, जीवनोन्मुख, शिवोन्मुख और सुन्दरोन्मुख हों।

प्रयोगवादी या नयी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियां

(१) **घोर अहंनिष्ठ व्यक्तिवाद**—प्रयोगवादी कविता के लेखक की अंतरात्मा में अहंनिष्ठ व्यक्तिवाद इस रूप से बद्धमूल है कि वह सामाजिक जीवन के साथ किसी प्रकार से सामजस्य का गठबन्धन नहीं कर सकता। यह एक प्रकार से व्यक्तिवाद की परम विकृति में परिणति है। वैयक्तिकता का अभिव्यंजन आधुनिक हिंदी साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है। भारतेन्दु, द्विवेदी एवं छायावादी युग में वैयक्तिकता की प्रधानता रही है, किन्तु वह वैयक्तिकता समष्टि से सर्वथा विच्छिन्न नहीं थी, उसमें उदात्त लोक व्यापक भावना थी। पूर्ववर्ती साहित्य में वैयक्तिकता की अभिव्यंजना में सहृदय संवेद्यता एवं प्रेषणीयता की पर्याप्त क्षमता थी, किन्तु प्रयोगवादी की वैयक्तिकता के समीप में जर्जरिता थोथा घोंघा ही रह गया। जहाँ "कवि न होऊँ न चतुर कहाऊँ" जैसी उदात्त अभिव्यंजना हुई, वहाँ प्रयोगवादी काल में व्यक्तिकता आत्म-विज्ञापन एवं प्रख्यापन ही बन कर रह गई। उदाहरणार्थ—

साधारण नगर के
एक साधारण घर में
मेरा जन्म हुआ,
बचपन बीता अति साधारण
साधारण खान पान
× × ×
तब मैं एकाग्रमन
जुट गया ग्रन्थों में,
मुझे परीक्षाओं में विलक्षण श्रेय मिला !

—भारतभूषण

इन कविता-नामधारी पंक्तियों में हिन्दी-साहित्य की कहाँ तक श्रीवृद्धि होगी, इस बात को तो पाठक वर्ग जानता ही होगा। डॉ० शिवदानसिंह चौहान इन कवियों की वैयक्तिकता के सम्बन्ध में लिखते हैं—"साधारणतया प्रयोगवादी कविताओं में एक दयनीय प्रकार की झुंझलाहट, खीज, कुंठा, किशोर औद्धत्य और हीन भाव ही व्यक्त हुआ है, जो कवि के व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का नहीं, खण्डित करने का मार्ग है। महान कविता का जन्म सारे संसार को, समाज को, जीवन के प्रगतिशील आदर्शों और नैतिक भावनाओं को एक उद्दण्ड और छिछोरे बालक की तरह मुंह बिचकाने से नहीं होता। सामाजिक बन्धनों के प्रति व्यक्तिवादी प्रतिवाद का यह तरीका स्वांग बनकर ही रह जाता है।"

(२) **अति नग्न यथार्थवाद** इस कविता में दूषित मनोवृत्तियों का चित्रण भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया है। जिस वस्तु को एक श्रेष्ठ साहित्यकार अरुचिकर, अश्लील, ग्राम्य और अस्वस्थ समझ कर उसे साहित्य जगत से बहिष्कृत करता है, प्रयोगवादी कवि उसी के चित्रण में गौरव अनुभव करता है। उसकी कविता का लक्ष्य दमित वासनाओं एवं कुंठाओं का चित्रण-मात्र रह गया है। काम-वासना जीवन का अंग अवश्य है, किन्तु जब वह अंग न रहकर अंगी और साधन न रहकर साध्य बन जाती है तब उसकी विकृति एक घोर भयावह विकृति के रूप में होती है प्रयोगवादी साहित्य में वासना की विवृति उसी उक्त रूप में हुई है। उदाहरण के लिये देखिये—

> मेरे मन की अंधियारी कोठरी में,
> अतृप्त आकांक्षाओं की वेश्या बुरी तरह खांस रही है।
>
> × × ×
>
> पास घर आये तो
> दिन भर का थका जिया मचल जाये। —अनन्तकुमार पाषाण

शकुन्तला माथुर अपनी "सुहाग वेला" नाम कविता में लिखती हैं—

> चली आई बेला सुहागिन पायल पहने……
> बाण विद्ध हरिणी सी
> बाहों में सिमट जाने की
> उलझने की, लिपट जाने की
> मोती की घड़ी समान……।

उपर्युक्त पंक्तियों में भारतीय नारी का अनावृत चारित्रिक औदात्य और दाक्षिराय दर्शनीय हैं। कवि कुल गुरु कालिदास आदि ने जहां काम क्रियाओं का कलात्मक अभिव्यंजन किया है वहाँ कवयित्री काम-वासना के अभिधात्मक कथन में गौरव का अनुभव करती है। भारतीय काव्य शास्त्रियों ने कामचेष्टाओं के चित्रण-प्रसंगों में गूढ़ इंगितों द्वारा कलात्मक अभिव्यक्ति का सत्परामर्श दिया है।

प्रयोगवादी काव्य में सामाजिकता का घोर तिरस्करण हुआ है। कवि-कल्पना जो घंटों तक सहृदयों का आत्मविभोर कर देती है, यहाँ इस नयी कविता में उसका स्थान महाशय फ्रायड के अवचेतवादी मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों ने ले लिया है। प्रेम का कोई उदात्त रूप इस तथाकथित नयी कविता में अभिव्यक्त नहीं हुआ है। इनकी वासनात्मक दृष्टि जहाँ भी पड़ी है वहाँ उसे कुरूपता ही हाथ लगी है जैसे कि सुरुचि-सम्पन्नता एवं निष्कलुष सौन्दर्य इस जगत में हो ही नहीं। बड़े आश्चर्य की बात यह है कि यौन, वर्जनाओं के वर्णन कार्य में इस धारा के कवि ने युग सत्य की अभिव्यक्ति का लवादा पहन कर अपनी ईमानदारी प्रख्यापित की है। अपनी पुस्तक 'तार सप्तक की' भूमिका में अज्ञेय जी लिखते हैं—"आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति सेक्स सम्बन्धी वर्जनाओं से आक्रान्त है। उसका मस्तिष्क दमन की गई सेक्स की भावनाओं से भरा हुआ है।" यह सच है कि इस नई कविता के कवि भी अपने गुरु फ्रायड के समान चले हैं। यही कारण है कि इस कविता में नारी की बुरी तरह मिट्टी पलीत हुई है—

"आह मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियां में उमड़ आई है लहू की धार—
प्यार है अभिशप्त,
तुम कहाँ हो नारि ?"

इस सम्बन्ध में कवि पन्त के विचार अवलोकनीय हैं—"जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्यधारा मार्क्सवाद एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार से सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक कुतुर्कों में फँसकर एक कुरूप सामूहिकता की ओर बढ़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कल-कल छल-छल करती हुई फ्रायडवाद से प्रभावित होकर स्वप्निल, फेनिल स्वर-संगीत हीन भावनाओं की लहरियों से मुखरित, उपचेतन, अवचेतन की रुद्ध-क्रुद्ध ग्रंथियों कों मुक्त करती हुई दमित कुंठित आकांक्षाओं को वाणी देती हुई, लोकचेतना के स्रोत में नदी के द्वीप की तरह प्रकट होकर निम्न स्तर पर इसकी सौन्दर्य-भावना केचुओं, घोंघों, मेंढकों के उपमानों के रूप में सरीसृपों के जगत् से अनुप्राणित होने लगी।"

(३) **निराशावाद**—नई कविता का कवि अतीत की प्रेरणा और भविष्य की उल्लासमयी उज्ज्वल आकांक्षा दोनों से विहीन है, उसकी दृष्टि केवल वर्तमान पर ही टिकी है। वह निराशा के कुहासे से सर्वतः आवृत है। उसका दृष्टिकोण दृश्यमान जगत के प्रति क्षणवादी तथा निराशावादी है। उसके लिये कल निरर्थक है, उसे उसके दोनों रूपों पर भरोसा और विश्वास नहीं हैं। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में—"उनकी (नई कविता के कवियों की) स्थिति उस व्यक्ति की भाँति है जिसे यह विश्वास हो कि अगले क्षण प्रलय होने वाली है, अतः वह वर्तमान क्षण में ही सब कुछ प्राप्त कर लेना चाहते हैं—

"आओ हम उस अतीत को भूलें,
और आज की अपनी रग-रग के अन्तर को छू लें !
छू लें इसी क्षण,
क्योंकि कल के वे नहीं रहे,
क्योंकि कल हम भी नहीं रहेंगे।"

(४) अतिबौद्धिकता—आज की नई कविता में अनुभूति एवं रागात्मकता की कमी है, इसके विपरीत इसमें बौद्धिक व्यायाम की उछल-कूद आवश्यकता से भी अधिक है। नया कवि पाठक के हृदय को तरंगित तथा उद्वेलित न कर उसकी बुद्धि को अपनी पहेली-बुझौवल के चक्रव्यूह में आबद्ध करके उसे परेशान करना चाहता है। वह कुरेद-कुरेद कर अपने मस्तिष्क से कविता को बाहर निकालकर पाठक के मस्तिष्क पर उसका बोझ डालकर उसे भी अपना मस्तिष्क कुरेदने पर विवश करना चाहता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आज की नई कविता में रागात्मकता के स्थान पर अस्पष्ट विचारात्मकता है और इसलिये उसमें साधारणीकरण की मात्रा का सर्वथा अभाव है। प्रयोगवाद के प्रशंसकों का कहना है कि आज के बुद्धिवादी वैज्ञानिक युग में जीवन-सत्य की सही अभिव्यक्ति बौद्धिकता से ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त उन्होंने बुद्धि-रस की एक नवीन उद्भावना भी कर ली है, जो कि नितान्त अशास्त्रीय है। अस्तु, धर्मवीर भारती इस कविता की बौद्धिकता का समर्थन करते हुये लिखते हैं—"प्रयोगवादी कविता में भावना है, किन्तु हर भावना के सामने एक प्रश्न-चिह्न लगा हुआ है इसी प्रश्न-चिह्न को आप बौद्धिकता कह सकते हैं। सांस्कृतिक ढांचा चरमरा उठा है और यह प्रश्नचिह्न उसी को ध्वनिमात्र है।" उदाहरण के लिये कुछ पंक्तियां देखिये—

अंतरंग की इन घड़ियों पर छाया डाल दूं !
अपने व्यक्तित्व को एक निश्चित सांचे में ढाल दूं !
निजी जो कुछ है अस्वीकृत कर दूं !
सम्बोधनों के स्वर्ग को उपसंहृत कर दूं !
आत्मा को न मानूं !
तुम्हें न पहचानूं
तुम्हारी त्वदीयता को स्थिर शून्य में उछाल दूं
तभी,
हां
शायद तभी……।

ये किसी सफल नये कवि की पंक्तियाँ हैं क्योंकि ये पाठक के मस्तिष्क को परेशान करने में पूर्ण समर्थ हैं। यदि यही कवि कर्म है तो फिर सभी कवि हो सकते हैं।

(५) **वैज्ञानिक युग बोध और नये मूल्यों का चित्रण**— प्रस्तुत काव्य धारा के लेखक ने आधुनिक युग बोध और वैज्ञानिक बोध के नाम पर मानव जीवन के नवीन मूल्यों का अंकन न करके मूल्यों के विघटन से उत्पन्न कुत्सित विकृतियों का चित्रण किया है। नई कविता के लेखक ने संक्रान्ति जन्य त्रास, यातना, घुटन, द्वन्द्व, निराशा, अनास्था, जीवन की क्षणिकता, सन्देह तथा अनेकधा-विभक्त-व्यक्तित्व का निरूपण किया है। इसे आधुनिक बोध या वैज्ञानिक बोध कहना नितान्त भ्रामक है। निःसन्देह आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य की आस्था, विश्वास, करुणा और प्रेम जैसी चिरंतन भावनाओं को जोरदार आघात पहुचाया है। किन्तु ये उसके केवल निषेधात्मक मूल्य हैं। इसके अतिरिक्त परस्पर सहयोग, विश्व मानवतावाद, विश्व-शान्ति, अन्तरराष्ट्रीयता स्थान और समय के व्यवधान की समाप्ति तथा ज्ञान का अपरिमित विस्तार आदि उसके विध्यात्मक मूल्य हैं। नई कविता विज्ञान के केवल निषेधात्मक मूल्यों के चित्रण तक ही सीमित है।

(६) **रीतिकाव्य की आवृत्ति**—बड़े आश्चर्य का विषय है कि अत्याधुनिकता का दंभ भरने वाली नई कविता सदियों पुराने रीतिकाव्य की पद्धति का अनुसरण कर रही है। जिस प्रकार रीतिबद्ध शृंगारी कवि ने जीवन के व्यापक मूल्यों में से केवल रसिकता और कामुकता का एक विशेष पद्धति पर चित्रण किया वैसे ही नया कवि जुगुप्सित कुंठाओं एवं रमितवासनाओं पर वैज्ञानिक बोध का झिल-मिल आवरण डाल कर उनको अर्थशून्य अभिव्यक्ति में संलग्न है। रीति कवि के काव्य में जीवन के मांसल भोग की गहन अनुभूतियां थीं, जबकि नई कविता में जीवन के प्रति वितृष्णा को जगाया जा रहा है। रीति-काव्य की चमत्कारवादिता नई कविता में भी देखी जा सकती है। रीतिकाव्य का कलापक्ष परम मनोरम है किन्तु खेद है कि नई कविता का यह पक्ष भी प्रायः दुर्बल, अव्यवस्थित और कला शून्य है। रीतिकाव्य में काम वृत्ति को सर्व प्रमुखता प्रदान करते हुये उसकी बिना किसी गोपन के उत्कट भोगपरक अभिव्यक्ति की गई है किन्तु नये कवि की भोग-लिप्सा एक नपुंसक की भोग-रुग्णता जैसी है। इसमें यत्र तत्र दमन, ग्रंथियाँ और बिम्बों की भूल भुलइयाँ हैं।

(७) **उपमानों की नवीनता**—उपवामों की नवीनता, रूपकों का विधान और अलंकारिकता के सम्बन्ध में भी नये कवि ने नितान्त अलौकिक नवीनता को खोजना चाहा है। उदाहरण के लिये देखिए—

"प्यार का बलब फ्यूज हो गया"
"आपरेशन थियेटर सी जो हर काम करते हुए भी चुप है"
"बिजली के स्टोव सी जो एकदम सुर्ख हो जाती है"
पहिले दरजे में लोग कफन की भाँति उजले वस्त्र पहने"
"पूर्व दिशि में हड्डी के रंग वाला बादल लेटा है"
"मेरे सपने इस तरह टूट गये, जैसा भुंजा हुआ पापड़"

उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि कलाकार को नवीनता के आवेश में औचित्य का अतिक्रमण करके कलाबाजी बाजीगर नहीं बन जाना चाहिये। आलंकारिकता के नियोजन में सुरुचि का ध्यान रखना भी आवश्यक है। अलंकारों का धर्म काव्य-सौन्दर्य में अभिवृद्धि करना है, किन्तु उजले वस्त्रों को कफन की उपमा देना, बादल को हड्डी कहने तथा टूटेन सपने को भुंजा हुआ पापड़ कहने से सौन्दर्य-सृष्टि न होकर पाठक के मन में विक्षोभ की सृष्टि होती है। हाँ, कहीं-कहीं पर नये कवि ने उपमानों का प्रयोग अच्छा भी किया है। किन्तु प्रायः इस धारा के कवि ने वैचित्र्य-प्रदर्शन की धुन में उपमानों के साथ खिलवाड़ ही की है। व्यक्ति वैचित्र्यवाद श्रेष्ठ काव्य का प्रतिगामी है।

यौन-सम्बन्धी वर्जनाओं की अभिव्यक्ति में नये कवि ने नाना प्रतीकों से काम लिया है और कदाचित् इन प्रतीकों के बाहुल्य के आधार पर इस कविता-धारा को प्रतीकवाद के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इन कवियों ने अपने प्रतीकों को छायावादी कवि के समान प्रकृति से ग्रहण न करके अवचेतन मन की अन्ध गुफाओं से लिया है, यही कारण है कि इन नवीन प्रतीकों के साथ सहज तादात्म्य नहीं हो पाता है। नयी कविता में नदी के द्वीप का प्रतीक बहुत प्रचलित है। इसी प्रकार प्रकाश के लिए दीप, मशाल और तारा के लिए टार्च के प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। प्रायः इनके प्रतीक और बिम्ब विधान बहुत कुछ पुराने आलंकारिकों के खड्ग बन्ध, पद्म बन्ध और गोमूत्रिका के चित्रों जैसे बनते जा रहे हैं। इससे यह कविता कविता न रह कर कोरी-कारीगरी बनती जा रही है। कहीं-कहीं पर इस कविता में मार्मिक प्रतीकों और बिम्बों का विधान भी देखा जा सकता है।

(८) विषय-परिधि—प्रयोगवादियों का दावा है कि नई कविता का सम्बन्ध किसी एक देश-विशेष से न होकर समस्त संसार के साथ है। अतः उसके विषयों की परिधि भी अत्यन्त व्यापक है। इसमें अणीयान् से महीयान् एवं सूक्ष्म से स्थूल सभी विषय ग्रहण किये जाते हैं। अस्तु, कदाचित् यही कारण है कि इस कविता में चींटी से लेकर हिमालय तक सब प्रकार के पदार्थों का ग्रहण किया गया है। नये कवियों का विश्वास है कि संसार की कोई भी वस्तु अवहेलनीय नहीं है। प्रयोगवादी कवि ने अपनी असामाजिक एवं अहंवादी प्रकृति के कारण तुच्छ-से-तुच्छ वस्तु को अपनी कविता का विषय बना लिया है। उसके सामने "हे राम तुम्हारा वृत्त स्वयं काव्य है" वाला काव्य का कोई उच्चादर्श नहीं है। "इसलिए कविता में पहली बार कंकरीट के पोर्च, चा की प्याली, सायरन, रेडियम की घड़ी, चूड़ी का टुकड़ा, बाथरूम, क्रोशिए, गरम पकौड़ी, बाँस की टूटी हुई टट्टी, फटी ओढ़नी की चिन्दिया, मूत्र सिंचित मृत्तिका के वृत्त में तीन टाँगों पर खड़ा नत-ग्रीव धैर्य-धन गदहा, बच्चे, दई मारे पेड़ इत्यादि का चित्रण हुआ।" शैलीगत रूढ़ियों और परम्पराओं के समान उसे विषय सम्बन्धी कोई भी रूढ़ि मान्य नहीं है।

(९) छन्द—कविता के अन्य क्षेत्रों के समान प्रयोगवादी कलाकार प्रायः छन्द आदि के बन्धन को स्वीकार न करके मुक्तक परम्परा में विश्वास रखता है और उसने इसी का प्रयोग किया है। कहीं कहा इन्होंने लोक-गीतों के आधार पर अपने गीतों की रचना की है। कहीं-कहीं पर इन्होंने इस क्षेत्र में अपने नये प्रयोग किये हैं। कुछ ऐसी भी प्रयोगवादी कविताएँ हैं जिनमें न लय है और न गति, उनमें गद्य की-सी नीरसता और शुष्कता है। हिन्दी के एक प्रसिद्ध आलोचक का प्रयोगवादियों के छन्दों के सम्बन्ध में कथन है, "यही कारण है कि प्रयोगवादी कवियों के मुक्तक छंद अपने में एक हलचल सी, एक बवण्डर-सा रखते हुए प्रभावशून्य प्रतीत होते हैं। उनकी करुणा और उच्छ्वास भी पाठक के हृदय को द्रवित नहीं कर पाते। हाँ, तो होता क्या है एक विस्मयकारिणी सृष्टि।"

प्रयोगवादी कवि ने शैली के भी विविध प्रयोग किये हैं। वैचित्र्य-प्रदर्शन और नवीनता की धुन के कारण इस दिशा में भी दुरूहता आ गई है। प्रयोगवादी कवि शायद इस तथ्य को भूल जाता है कि कविता की उदात्तता उसकी अन्तरात्मा में है न कि बाह्य-रूप विधान में। इस कविता का भीतर इतना खोखला है कि बाहर की सारी चमक-दमक व्यर्थ सिद्ध होती है और वह पाठक के मन पर कोई इष्ट प्रभाव नहीं डालती।

(१०) भाषा—प्रयोगवादी कवि ने कहीं-कहीं पर भाषा के अच्छे प्रयोग किये हैं, किन्तु कहीं-कहीं पर उसने अपनी विलक्षण स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति के कारण खड़ी बोली के व्याकरण-सम्मत रूप की अवहेलना की है। उदाहरणार्थ रघुवीर सहाय की निम्न पंक्तियाँ देखिये—

> शक्ति दो बल दो हे पिता।
> जब दुख के भार से मन थकने आय
> पैरों में कुली की सी लपकती चाल छटपटाय
> × × ×
> तुम से मिला है जो विक्षत जीवन का हमें दाय
> उसे क्या करें ?
> तुमने जोरी है अनाहत जिजीविषा
> उसे क्या करें ? कहीं अपने पुत्रों, मेरे छोटे
> भाइयों के लिए यही कहो।

यहाँ 'थकने आय' व्याकरण की दृष्टि से चिन्त्य है तथा संदर्भापेक्षा की दृष्टि से 'विक्षत' तथा 'जिजीविषा' शब्दों का अर्थ-गाम्भीर्य विचारणीय है। 'हम कुंज कुंज यमुना तीरे' में तीरे का प्रयोग बंगला के अनुसार है, खड़ी बोली के अनुसार कहीं दमित वासनाओं और कुंठाओं के वर्णनाग्रह से इनकी भाषा में ग्राम्य दोष का आ जाना भी स्वाभाविक था। भाषा में नवीन प्रयोग की हठवादिता से इन्होंने अपनी

कविता की भाषा में भूगोल, विज्ञान, दर्शन, मनोविश्लेषण शास्त्र एवं बाजारू बोली के शब्दों का प्रयोग करने में संकोच नहीं किया है। कहीं-कहीं पर इन्होंने जान-बूझकर शब्दों का रूप तोड़ा-मरोड़ा है जो कि समीचीन नहीं है। भाषा, भाव, शैली और छन्द आदि के क्षेत्र में सुरुचि-सम्पन्नता के स्थान पर अनपेक्षित विलक्षणता को प्रश्रय देने के कारण इनकी कविता का अपना ढाँचा भी आधुनिक साँस्कृतिक ढाँचे के समान चरमरा उठा है।

प्रयोगवाद या नयी कविता और आलोचक—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा डॉ० नगेन्द्र जैसे हिन्दी के अधिकारी समालोचक विद्वानों ने कविता की इस धारा को एक मात्र अस्वस्थ बताया है और प्रयोगवादी बाल-कवियों की कटु आलोचना की हैं। डॉ० नन्ददुलारे का कहना है कि—"किसी भी अवस्था में यह प्रयोगों का बाहुल्य वास्तविक साहित्य सृजन का स्थान नहीं ले सकता।" उसका कहना है कि इस नयी कविता में अति बौद्धिकता है और साधारणीकरण का नितान्त अभाव है। उनके अपने शब्दों में—"यह कौन सी नवीनता है जिसके साधारणीकरण में इतना सन्देह और अविश्वास है ? निश्चय ही साधारणीकरण में विलम्ब या असामर्थ्य वे ही कृतियाँ उत्पन्न करती हैं जिनकी भाव-धारा असामाजिक है, लोक-रुचि अथवा लोक की आशा-आकाँक्षा के प्रतिकूल है, इतनी निजी या वैयक्तिक हैं कि समाज उसकी अपेक्षा करता है अथवा ऐसी उलझी हुई और रहस्यमय है कि उस तक पाठक की पहुंच नहीं हो पाती।" प्रयोगवादियों के बुद्धि-रस की कल्पना का प्रतिवाद करते हुए वे लिखते हैं—"काव्य की प्रक्रिया भाव-मूलक ही होती है। प्रतिभाशाली कवि आवश्यक बौद्धिक और दार्शनिक तथ्यों का अपनी भावमयी रचना में समाहार किया करते हैं। शायद ही कोई कृति हो जिसमें बौद्धिक चेतना का प्रवेश नहीं हो पाया···परन्तु बुद्धि रस यों एक अनोखा पदार्थ है। काव्य के इतिहास में यह शब्द इससे पूर्व कदाचित् कभी नहीं आया। यहाँ इसका निषेध करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इस पर गम्भीरतापूर्वक आस्था रखने वालों की संख्या नगण्य है तथाकथित नयी कविता में इसी बुद्धि रस का बाहुल्य है, इसलिए कविता की यह नई धारा साहित्यिकों के लिए अटपटी और अग्राह्य बनी हुई हैं।"

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने नई कविता पर निम्न आक्षेप लगाये हैं—

(क) अनेक रचनाएं क्षणिक विनोद अथवा भौंड़े व्यंग्य की सृष्टि के आगे नहीं जातीं। (ख) आगे बढ़ने पर ऐसी रचनाओं से साबका पड़ता है जिनमें अर्थ परम्परा टूट-टूट जाती है और पूरी रचना पढ़ लेने पर भी किसी भावान्वित का बोध नहीं होता। (ग) भाव धारा की विरलता है—इनमें भावना अन्तर्मन की उसाँस भर रही है। (घ) इन रचनाओं में सामाजिक और व्यवहारिक तथ्यों का नितान्त अभाव है। (ङ) इनमें सामाजिक और राजनीतिक उत्तरदायित्व के प्रति विद्रोह तथा नैतिक, सैद्धान्तिक एवं चारित्रिक उच्छृंखलता की छूट माँगी जाती है। (च)

इनमें जीवन के प्रति किसी रचनात्मक दृष्टि, कर्मण्यता और क्रियाशीलता का अभाव है। इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र के विचार भी अवलोकनीय हैं—'जहाँ पूर्ववर्ती कवि बौद्धिकता की अभिव्यक्ति रागात्मकता के माध्यम से करते थे, वहाँ इन्होंने रागात्मक तत्त्व के लिए बौद्धिकता को अपनाकर क्रम-विपर्यय का उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है। दूसरे इसमें भाषा का सर्वथा वैयक्तिक प्रयोग किया गया है, प्रयोगवादी कवि शब्दों को प्रचलित अर्थ में ग्रहण करना उचित नहीं समझता। वह शब्द के साधारण अर्थ में बड़ा अर्थ भरना चाहता है और इसी प्रयास में वह साधारण अर्थ को भी खो बैठता है।"

इन आक्षेपों का उत्तर प्रयोगवाद के समर्थकों ने अपने ढंग से दिया है जिनकी चर्चा हम 'प्रयोगवाद के स्वरूप' के प्रकरण में कर चुके हैं। प्रयोगवादियों के मतों को थोड़े शब्दों में हम कह सकते हैं कि—"वे प्रयोग की आड़ में सभी प्रकार की विकृतियों को मान्य समझते हैं।" प्रयोगवादी काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष पर दृष्टिपात करने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि—"घटना का वर्णन मात्र ही काव्य नहीं है। काव्य के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक वर्ण्य विषय के साथ कवि की व्यापक अनुभूति सम्बद्ध हो, साथ ही उसकी अभिव्यंजना इतनी सशक्त हो जिससे भावों की संप्रेषणीयता में आकर्षण और प्रभाव दोनों हों। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' के स्थान पर बुद्धि को कुण्ठाओं के चक्रव्यूहों में फँसाना श्रेयस्कर नहीं होता। हमें प्रयोगों से चिढ़ नहीं है यदि वे प्रयोग प्रयोग के लिए न होकर जीवन के लिए हों।" डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "काव्य के मूल तत्त्वरस पर दृष्टि केन्द्रित रखकर काव्य को गतिरोध और रूढ़ि जाल से मुक्त करने के लिए नये प्रयोग स्तुत्य हैं—वे काव्य के साधक हैं परन्तु क्रम को उल्टा करके काव्य की आत्मा का तिरस्कार करते हुए प्रयोगों को स्वतन्त्र महत्त्व देना, उन्हें ही साध्य मान लेना हलकी साहसिकता-मात्र है—"काव्यगत मूल्यों का अनुचित तथा अनावश्यक क्रम विपर्यय है।" अपनी असामर्थ्य पर आवरण डालने के लिए आज के पाठक को नई बुद्धि माँग लाने की दुहाई देना ठीक नहीं है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में—"किन्तु पाठकों के दिमाग़ को अपनी कविता के लिए अनफिट घोषित करके अपने अहं की डुगडुगी बजाते चलना वैसा ही है जैसा कि चीनी के स्थान पर नमक का बोरा लेकर बैठ जाना और फिर प्रत्येक ग्राहक को यह कहना कि तुम्हारी जिह्वा का स्वाद बिगड़ गया है, अत: किसी नयी जिह्वा से इसे चखो।" कदाचित् इस नई कविता की इन विकृतियों को देखकर कविवर सुमित्रानन्दन पन्त को लिखना पड़ा—"जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्य धारा मार्क्सवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार से सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक कुतर्कों में फँस कर एक कुरूप सामूहिकता की ओर बढ़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कल-कल छल-छल करती हुई फ्रायडवाद से प्रभावित होकर स्वप्निल, फेनिल, स्वर-संगीतहीन भावनाओं की लहरियों से मुखरित, उपचेतन, अवचेतन की रुद्ध-क्रुद्ध ग्रंथियों को मुक्त करती हुई, दमित-कुंठित आकांक्षाओं को वाणी देती हुई लोक चेतना के स्रोत में नदी के द्वीप की तरह प्रकट

होकर अपने पृथक् अस्तित्व पर अड़ गई। अपनी रागात्मक विकृतियों के कारण अपने निम्न स्तर पर इसकी सौंदर्य-भावना केंचुओं, घोंघों, मेंढकों के उपमानों के रूप में सरीसृपों के जगत् से अनुप्राणित होने लगी।" अस्तु !

निःसन्देह नई कविता के नाम पर बहुत कुछ ऐसा लिखा गया है जिसका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है, फिर भी उसमें बहुत थोड़ा सा अंश ऐसा भी है जिस में साहित्य कर संपत्ति बनने की क्षमता है कहीं-कहीं शैलीगत सौन्दर्य, काव्य-विधाओं के कतिपय नवीन प्रयोग, विषय परिधि विस्तार (ग्राह्य अग्राह्य के विचार से शून्य) और कहीं-कहीं पर मार्मिक प्रतीकों बिम्बों और व्यंगों का विधान इसकी काव्य धारा की अपनी उपलब्धियें हैं।

नवगीत या नया गीत

नामकरण—'नई कविता', 'नई कहानी' और 'नई आलोचना' की भाँति 'नवगीत धारा' का शोर भी काफी जोर से मचाया जा रहा है। नवगीत या नया गीत का आन्दोलन नई कविता के ध्वजवाहकों के समान कतिपय नाम के भूखे लोगों का आन्दोलन है। आधुनिकता और वैज्ञानिक-युग-बोध, और सौन्दर्य के दावेदारों तथा कथित नवगीतों के लेखकों ने अपने गीतों को 'नवगीत' 'नया गीत', 'अगीत'. 'प्रगीत', 'लोकगीत' तथा 'कबीर गीत' आदि के नामों से अभिहित किया है। इन गीतों में नये प्रतीक, नये छन्द, नई भाषा, नये अप्रस्तुत विधान और नये शिल्प विधान का नया प्रयोग कर नवगीत की सार्थकता सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। कुछ विद्वानों ने नवगीत को नई कविता का पूरक माना है। नवगीतकार ने विगत के गीतों को अतीत भाव-बोध और बासी-शैली की वस्तु कहकर उसे मृत कहते हुए अपने गीतों को नया घोषित किया है।

स्वरूप—नवगीत के पक्ष-धरों—डॉ० शम्भुनाथ सिंह, गिरिजाकुमार माथुर, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, त्रिलोचन शास्त्री, डॉ० रामदास मिश्र, वीरेन्द्र मिश्र, बालस्वरूप राही, रवीन्द्र भ्रमर तथा डॉ० कुन्तल मेघ ने समय-समय पर 'गीतांगिनी' 'वासन्ती' 'नवगीत' 'वातायन' 'धर्मयुग' 'ज्ञानोदय' 'ज्योत्सना' 'आजकल' और 'कल्पना' आदि पत्र-पत्रिकाओं में नवगीत के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने नवगीत के पाँच तत्त्वों—जीवन-दर्शन, आत्मनिष्ठा, व्यक्तित्व बोध, प्रीति तत्त्व और परिसंचय का उल्लेख किया है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने नवगीत की नवीनता को युग-सापेक्ष्य बताया है। उनके अनुसार "नवीन पद्धति और विचारों के नवीन-आयामों तथा नवीन-भाव-सरणियों को अभिव्यक्त करने वाले गीत जब भी और जिस युग में लिखे जावेंगे—नवगीत कहलावेंगे।" गेयता इनका अनिवार्य धर्म है। इनमें समकालीन आधुनिकता की अभिव्यक्ति' आवश्यक है। बाल स्वरूप राही ने नवगीत के लिए आधुनिकता को अनिवार्य माना है। उनके अनुसार "जीवन को मृत से पृथक छांट सकना सच्ची आधुनिकता है। सच्ची आधुनिकता समकालीनता

से एक सर्वथा भिन्न तत्त्व है।" राही जी ने नवगीत को अरोमांसवादी और अगेय माना है। उनके अनुसार नवगीत केवल पाठ्य हैं और उनमें भावुकता का कोई स्थान नहीं है। इनमें शास्त्रीय रस न होकर संवेगात्मकता होती है। रवीन्द्र भ्रमर के अनुसार नवगीत में हार्दिकता तथा अनुभूति की प्रधानता आवश्यक है। इनके अनुसार नवीन शिल्प विधान के साथ-साथ नवगीतों में लयात्मकता और संप्रेषणीयता भी अनिवार्य हैं। नवगीत के विषय में प्रगट किये उपयुक्त विचारों को देखने से यह स्पष्ट है कि अभी तक नवगीत का स्वरूप अस्पष्ट है। अभी तक नवगीत के उन्नायकों में इस संबंध में कोई सहमति नहीं है। प्रत्येक अपना-अपना राग अलाप रहा है। राजेन्द्र प्रसाद, डॉ० शम्भुनाथ सिंह तथा रवीन्द्र भ्रमर के विचारों में काफी समानता है। डॉ० राम दशरथ मिश्र ने अनुभूति की सच्चाई, नवीन-सौन्दर्य बोध, आकार लघुता, नवीन प्रतीकों, बिम्बों और उपमानों की योजना आदि को नवगीत की कतिपय विशेषतायें बताया है। यदि वैयक्तिकता, अनुभूति गहनता, लयात्मकता, संप्रेषणीयता, गेयता और नवीन शिल्प विधान तथा कथित-नवगीत की कतिपय विशेषतायें हैं तो ये गीत भारतेन्दु, निराला, पन्त, महादेवी, बच्चन, प्रेमी, मिलिन्द, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, तारा पांडेय, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, नेपाली, नीरज, अंचल, सुमन रंग, रमानाथ अवस्थी आदि के गीतों से किस प्रकार भिन्न ठहरते हैं? उपर्युक्त सब गुण प्रस्तुत गीतकारों में प्रशस्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। केवल आधुनिकता, वैज्ञानिक-युग-बोध और नई सौन्दर्य चेतना आदि नवगीत के व्यावर्तक गुण सिद्ध नहीं हो सकते हैं। प्रत्येक सजग साहित्यकार अपने साहित्य में सामयिकता, युग, सत्य नये सौन्दर्य बोध और नवीन अभिव्यंजना-पद्धति को रूपायित किया करता है। ऐसी दशा में हमें 'नवगीत' शब्द नितान्त भ्रामक लगता है। वैज्ञानिक मूल्यों के नाम पर विज्ञान के केवल निषेधात्मक मूल्यों—निराशा, अनास्था, घृणा, क्षणवाद और काम कुंठाओं का चित्रण 'सच्ची आधुनिकता', 'ऐतिहासिकता' या 'वैज्ञानिकता' नहीं है। यह युग जीवन का एक खंडित चित्रण है। विज्ञान के विध्यात्मक मूल्यों—पारस्परिक संपर्क, विश्व-मानवतावाद, अन्तरराष्ट्रीयता तथा विश्व-शान्ति आदि की ग्राह्य एवं जीवन-पोषक भावनाओं का भी चित्रण करना आवश्यक है। नवीनता के अतिरेक में बेसुध बहने वाले नवगीतकार को यह स्मरण रखना होगा कि कोई भी नवीन उपलब्धि पुरानी उपलब्धियों की एक अविभाज्य कड़ी हुआ करती है। किसी भी देश की एक सांस्कृतिक-परम्परा होती है जो उस देश के साहित्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अनुस्यूत रहती है। संस्कृति की उस सतत प्रवाहमान-धारा से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करके इंग्लैंड या अमरीका से अपना सम्बन्ध जोड़ना नवीनता नहीं है। ऐसी उधारी ली गई काइयापन वाली नवीनता समाज में कभी समादृत नहीं होती है।

नवगीतकार—डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने अज्ञेय, नरेश मेहता, हरिनारायण व्यास, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वरदयाल, कुंवर नारायण, केदारनाथसिंह, विजयदेव नारायण, राही, वीरेन्द्र मिश्र, ठाकुर प्रसाद सिंह, जगदीश गुप्त, श्रीकान्त वर्मा, कैलाश वाजपेयी,

मुद्राराक्षस, मलयज, राजेन्द्र किशोर, ओम प्रभाकर, देवेन्द्र कुमार, चन्द्रमौलि उपाध्याय और सोम ठाकुर आदि की नवगीतकारों के रूप में चर्चा की है। इनके तथा-कथित नवगीत नाना संकलनों और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं।

प्रायः नवगीतकारों ने 'नव-गीत' को नई कविता का पूरक कहा है किन्तु यह ठीक नहीं है। इसे गीतिकाव्य के विकास का एक चरण मानना उपयुक्त है। अतः इसमें नव-शब्द-व्यर्थ का भ्रमजाल है। गीत का भावनावादी होना आवश्यक है और यही उसका नई कविता से व्यवच्छेदक तत्त्व है। नई कविता के लेखकों का यह दावा कि "गीत मर चुका है और वे उसका नवगीत के रूप में पुनरुद्धार कर रहे हैं" बिल्कुल अनर्गल है। हिन्दी का सच्चा गीतकार आज भी दिनकर, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, नीरज, सुमन, अंचल, नेपाली, रंग, रमानाथ अवस्थी, वीरेन्द्र मिश्र आदि के रूप में जीवित एवं प्राणवान है। नवगीतकार की अपेक्षा वह आज भी जन-मानस में अधिक प्रतिष्ठित है। भले ही उसे नारे और शोर मचाने वाले नहीं मिले हैं किन्तु वह अपनी मूक साधना से साहित्य को एक स्थायी-सम्पत्ति प्रदान कर रहा है। आत्म प्रख्यापक नवगीतकार की मनःस्थिति का विश्लेषण—नीरज के निम्न शब्दों में दर्शनीय है :—

> जाने क्यों जितनी ही कम है बात किसी पर कहने को,
> वह जाने क्यों उतने ही स्वर से शोर मचाता है।
> जो जितना गहरा घाव लिए बैठा दिल में,
> वह दबी-दबी आहें भरता भी उतना सकुचाता है।

नई कविता के समान नवगीत की कतिपय अवांछनीय प्रवृत्तियों—बौद्धिकता के अतिरेक, काम कुंठाओं के अतिशय, अनिश्चित जीवन-दृष्टि, सांस्कृतिक रिक्थ से विमुखता, असामाजिक-भावनाओं की अनर्गल विवृत्ति, व्यक्ति-वैचित्र्यवाद, नवीनता, आधुनिकता, ऐतिहासिकता और वैज्ञानिक-युग-बोध की होड़ में अहमहमिका-पूर्वक पाश्चात्य का अन्धाधुन्ध अनुकरण, जीवन के प्रति अनास्था, निराशा और क्षणवाद का उद्घोष, कथ्य की तुच्छता और कथन-विधि की असमर्थता आदि को देखकर कदाचित् डॉ० शम्भुनाथ सिंह को आशंकित होकर आज के नामधारी नवगीतकार को चेताना पड़ा है :—

> हे कंठनाल तुम को मैंने देखा सरपट,
> दौड़ते रेल सा ही जीवन की पटरी पर,
>
> × × ×
>
> आत्मस पक्ष
> पथ पर बैठे न रहना, न भटक जाना वन में,
> भावों के और विवादों के, यह अभिलाषा,
> मेरी ! भावुकता से बढ़कर जीवन में,
> कोई न वाद, पूरी करना मेरी आशा।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रबन्ध काव्य

निःसन्देह आधुनिक हिन्दी-साहित्य में गद्य का प्राचुर्य रहा और उसकी नाना विधाओं का क्षिप्रगति से विकास हुआ तथा हो रहा है। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल में मुक्तक-काव्य की विपुल राशि की सृष्टि हुई है किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि प्रस्तुत काल में प्रबन्ध काव्यधारा नितान्त सूख गई या बिल्कुल विलुप्त हो गई। वस्तुस्थिति तो यह है कि प्रबन्ध काव्यों की यह धारा रामचरित मानस, पद्मावत, साकेत, प्रिय-प्रवास, कामायनी, कृष्णायन, कुरुक्षेत्र, साकेत संत, लोकायतन, उर्वशी और मानवेन्द्र तक परम्परात्मक रूप में सदा अजस्रगति से प्रवाहमान रही है। सच तो यह है कि कोई भी युग उसका साहित्य प्रबन्ध काव्यों के बिना पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता है। प्रत्येक युग का जीवन प्रबन्ध-काव्यों के विराट पुलक पर ही पूर्णतया अंकित हो सकता है। साहित्य की यही विधा मनुष्यता की क्रमात्मक प्रगति और उसके भावात्मक विकास-मार्ग की सूचिका है। दिनकर जी के शब्दों में "विश्व के महाकाव्य मनुष्यता की प्रगति के मार्ग में मील के पत्थरों के समान होते हैं, वे व्यंजित करते हैं कि मनुष्य किस युग में, कहाँ तक प्रगति कर सका है।" भारतेन्दु युग में मुक्तक शैली का ही प्रयोग हुआ जबकि द्विवेदी युग में काव्य क्षेत्र में बहुधा प्रबन्धात्मक शैली को प्रतिष्ठा मिली। इस काल में इत्तिवृत्तात्मकता प्रधान शताधिक प्रबन्ध काव्यों की रचना हुई। द्विवेदी युग के प्रबन्ध काव्यों में आवश्यकतानुसार काव्यशास्त्रीय लक्षणों को अपनाते हुए भी प्रबन्धकारों ने अपनी रचनाओं में युगानुकुल आधुनिकता को भी प्रतिबिंबित किया गया है। इस युग के काव्यों में चारित्रिक दृष्टि से भी एक महान परिवर्तन लक्षित होता है। इन प्रबन्ध काव्यों में चित्रित दैवीपात्र राम और कृष्ण आदि आदर्श मानव के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं। इनकी राधा और सीता नारी जाति का प्रतिनिधित्व करती हुई आदर्श नारियों के रूप में आई हैं। उर्मिला, कैकेयी, रावण, नकुल तथा एकलव्य, भरत जैसे उपेक्षित पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं का प्रकाश में लाना भी इन प्रबन्ध काव्यों की एक विशेषता है। प्रसाद युग में इत्तिवृत्तात्मकता के स्थान पर भावात्मकता को प्रश्रय दिया गया। स्वर्गीय जयशंकरप्रसाद की कामायनी आधुनिक हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें भावात्मकता, चारित्रिकता और मानवीय मनोवृत्तियों के अतिसूक्ष्म विश्लेषण के साथ दर्शन तथा आधुनिकता का हृदयावर्जक समन्वय है। प्रसाद जी ने परंपरागत काव्य शास्त्रीय लक्षणों की उपेक्षा करते हुए भावात्मक प्रबन्ध काव्यों की एक स्वस्थ परंपरा को प्रशस्त किया। प्रसादोत्तर काल में प्रणीत प्रबन्ध काव्यों में भी काव्य शास्त्र के महाकाव्य संबन्धी बाह्य तत्त्वों की उपेक्षा करके उन में राष्ट्रीय जीवन के व्यापक आदर्शों के चित्रण तथा मानवता के नये मूल्यों के अंकन पर विशेष बल दिया गया है। हम द्विवेदी युग और छायावादी काव्यों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए उन युगों के प्रतिनिधिकवियों और उनके प्रबन्ध काव्यों का प्रासंगिक रूप से

उल्लेख कर चुके हैं। यहाँ हमें प्रसादोत्तरकाल में रचित कतिपय प्रतिनिधि प्रबन्ध काव्यों का संक्षिप्त प्रवृत्त्यात्मक परिचय देना अभीष्ट है।

आधुनिक काल में रचित प्रबन्ध काव्यों की कितनी प्रभूत सृष्टि हुई है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम रचयिताओं और उनकी रचनाओं की काल निर्देश पूर्वक एक संक्षिप्त तालिका प्रस्तुत करना उचित समझते हैं—

तालिका—सर्व श्री श्रीधर पाठक—एकान्तवासी योगी, उजड़ग्राम, श्रान्त पथिक, महावीरप्रसाद द्विवेदी—कुमारसंभव सार, मैथिलीशरण गुप्त—रंग में भंग, जयद्रथ वध, भारत भारती, विरहिणी व्रजांगना, वैतालिक शकुन्तला, पलासी का युद्ध पंचवटी, अनघ, शक्ति, त्रिपथगा, विकटभट्ट, गुरुकुल, साकेत, यशोधरा, द्वापर, सिद्ध-राज, नहुष, जयभारत १९५२, हरिऔध—प्रिय प्रवास, पारिजात, वैदेही वनवास ३६, गिरधर शर्मा—सती-सावित्री, सियारामशरण गुप्त–मौर्य विजय, नकुल, अनाथ, आत्मोत्सर्ग ३३, भगवानदीन—वीरक्षत्राणी, वीर बालक, वीर पंचरत्न, लोचन प्रसाद पांडेय—मेवाड़गाथा, मृगीदुखमोचन, गोकुलचन्द–प्रणवीर प्रताप, रामनरेश त्रिपाठी—मिलन, पथिक, स्वप्न, रामचरित उपाध्याय—देवदूत, देवी द्रौपदी, राष्ट्र भारती, रामचरित चन्द्रिका, रामचरित चिन्तामणि, रामचन्द्र शुक्ल—बुद्ध चरित, उदय शंकर भट्ट—तक्षशिला, मानसी ३९, प्रतापनारायण—नलनरेश, केसरीसिंह—प्रताप चरित्र, गुरु भक्तसिंह—नूरजहाँ, विक्रमादित्य, ४७, रामनाथ ज्योतिषी—रामचन्द्रोदय, अनूप शर्मा—सिद्धार्थ ३७, शर्वाणी ४८, वर्द्धमान ५१, तुलसीराम शर्मा–पुरुषोत्तम, निराला—तुलसीदास ३६, श्यामनारायण पांडेय—हल्दीघाटी ३६, जौहर ४५, हरदयालुसिंह—दैत्यवंश, रावण ५२, प्रद्युम्न—कृष्ण चरित मानस ४१, मोहनलाल मेहतो—आर्यावर्त ४३, द्वारिका प्रसाद मिश्र–कृष्णायन ४३, डॉ० रामकुमार वर्मा—जौहर ४३, एक लव्य ५८, सुधीन्द्र—जौहर ४३, बलप्रसाद मिश्र—साकेत सन्त ४६, रामराज्य ६०, रामधारीसिंह दिनकर—कुरुक्षेत्र ४६, रश्मिरथी ५७, उर्वशी ६१, ठाकुरप्रसाद सिंह—महामानव ४६, रघुवीरशरण मित्र—जननायक ४९, मानवेन्द्र ६५, आनन्द कुमार—अंगराज ५०, करील—देवार्चन ५२, गोपालशरण सिंह—जगदालोक ५२, रामानन्द तिवारी–पार्वती ५५, श्यामनारायण प्रसाद—झांसी की रानी ५५, लक्ष्मीनारायण कुशवाहा–तांत्या टोपे ५७, अंतुलकृष्ण गोस्वामी—नारी ५७, परमेश्वर द्विरेफ—मीरा ५७, युगद्रष्टा प्रेमचन्द ५६, तारादत्त हारीत—दमयन्ती ५७, बालकृष्ण शर्मा नवीन—उर्मिला ५८, गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश—तारकवध ५८, लक्ष्मीनारायण मिश्र—सेनापति कर्ण ५८, आनन्द मिश्र झांसी की रानी ५६, नरेन्द्र शर्मा—द्रौपदी ६०, शशिभूषण पांडेय—अभियान ६०, कवि किंकर—संधि सन्देश ६०, वासुदेव प्रसाद खरे—देवयानी ६०, रामावतार अरुण—बाणाम्बरी ६१, रामगोपाल दिनेश—सारथी ६१, डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल—अनंग ६१, नन्दकिशोर झा—प्रिय मिलन ६४, सुमित्रानन्दन पन्त—लोकायतन ६४।

प्रतिपाद्य द्वारिका प्रसाद मिश्र का अवधी भाषा में रचित कृष्णायन महाकाव्य रामचरितमानस के समान सात कांडों में विभक्त है। इसमें लेखक को कृष्ण की चारित्रिक उदातता के अंकन में पर्याप्त सफलता मिली है। प्रस्तुत काव्यधारा में दिनकर जी के तीन प्रबन्ध काव्य—कुरूक्षेत्र ४६, रश्मिरथी ५२, तथा उर्वशी ६१, विशेष उल्लेखनीय हैं। कुरूक्षेत्र में युधिष्ठिर और भीष्म के ओजस्वी सजीव और मार्मिक वार्तालाप के माध्यम से युद्ध की समस्या पर आधुनिक युग के व्यापक परिपेक्ष्य में विचार किया गया है रश्मि रथी महाभारत पर आधारित है जिसमें महादानी वीर कर्ण के आदर्श एवं उदात्त चरित्र को उपन्यस्त किया गया है। कुरुक्षेत्र और रश्मि रथी में महाकाव्योचित इतिवृत के अभाव के होते हुये भी कवि की सहज भाव प्रवणता ने उनमें शिथिलता नहीं आने दी है। उर्वशी ऋग्वेद के पुरुखा और उर्वशी के संवाद पर आधृत है जिसमें कवि ने प्रेम, काम और सौन्दर्य की शाश्वत समस्याओं को मार्मिक रूप में चित्रित किया है। नारी जीवन को उसके व्यापक परिपार्श्व में देखना इस काव्य की महती विशेषता है। इसमें रोमांस की अतीव कलात्मक अभिव्यंजना हुई हैं। नीरज के शब्दों में "कामायनी के उपरान्त बीसवीं शताब्दी की अन्यतम काव्य कृति कदाचित् उर्वशी ही है।" बलप्रसाद मिश्र का साकेत सन्त एक सफल महाकाव्य है इस में साकेत सन्त-भरत के चरित्र को अतीव उज्ज्वल एवं उदात्त रूप में अंकित किया गया है। श्यामनारायण पाडेय की दोनों रचनायें हल्दीघाटी तथा जौहर राजपूती इतिहास से संबद्ध हैं। हल्दीघाटी में महाराणा प्रताप के अतुल पराक्रम, शौर्य, प्रताप, साहस और बलिदान को सशक्त तथा ओजस्विनी भाषा में निबद्ध किया गया है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने महाभारत के उपेक्षित पात्र एक लव्य की गुरुभक्ति को १४ सर्गों में सफलतापूर्वक अभिव्यंजित किया है। नरेन्द्र शर्मा प्रणीत द्रौपदी एक सफल महाकाव्य है। लेखक ने इस में पांचों पांडवों को दैवी तत्त्वों के प्रतीकों के रूप में चित्रित कर इस दिशा में एक नवीन स्तुत्य प्रयोग किया है। द्रौपदी के माध्यम से कवि ने त्याग, बलिदान, श्रद्धा और शक्ति जैसे नारी जीवन के शाश्वत मूल्यों की कलात्मक अभिव्यक्ति की है। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के अनेक सेनानियों—महारानी झांसी, तात्या टोपे, गणेशशंकर, महात्मा गाँधी तथा नेहरू को लक्ष्य रखकर महारनी झांसी (अनेक लेखकों के द्वारा) जगदालोक, जगनायक, महामानव (गांधी से सं द्ध) तथा मानवेन्द्र ६५ (नेहरू से संवद्ध) चरितात्मक महाकाव्यों का प्रणयन हुआ है। इसके अतिरिक्त अनेक साहित्य-स्रष्टाओं—बाण पर बाणाम्बरी, तुलसीदास पर तुलसीदास तथा देवार्चन और प्रेमचन्द पर युगद्रष्टा प्रेमचन्द नामक सफल प्रवन्ध काव्यों की सृष्टि हुई है।

सामान्य प्रवृत्तियें—(क) प्रसादोत्तर काल में रचित प्रबन्ध काव्य प्रतिपाद्य की दृष्टि से अतीव व्यापक पटभूमि पर आधारित हैं। इनमें जहाँ एक ओर उर्वशी जैसे महाकाव्य का आधार ऋग्वेद है, वहां सेनापति कर्ण, द्रौपदी और एक लव्य जैसी रचनाओं का इतिवृत्त पौराणिक है, सिद्धार्थ और वर्द्धमान आदि धार्मिक नेताओं

से संबद्ध हैं, मौर्य विजय, हल्दीघाटी, जौहर, विक्रमादित्य, महारानी झाँसी तथा तांत्या टोपे जैसे महाकाव्य इतिहास पर आधृत हैं, जगनायक, जगदालोक और मानवेन्द्र आदि आधुनिक युग के महा मानवों—गांधी और नेहरू जी के जीवन चरित्रों से संबद्ध हैं और वाणम्बरी, देवार्चन तथा युगद्रष्टता प्रेमचन्द साहित्य स्रष्टाओं के जीवन वृत्तों को आधार बनाकर लिखे गये हैं। इन सब महाकाव्यों का भारतीय संस्कृति के अभ्युत्थान और राष्ट्रीयता के जागरण में एक मूल्यवान योगदान है। इन काव्यों के कथावस्तु के चयन और उसमें युगानुरूप नवीनता का समावेश कर जहाँ इनके मनीषी प्रणेताओं ने अपनी मौलिक प्रतिभा को अक्षुण्ण बनाये रखा है वहां उन्होंने इनके सफल शिल्प विधान में भी अपनी असाधारण रचना-क्षमता का परिचय दिया है।

(ख) चरित्रांकन में अभिनन्दनीय मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाया गया है। इनमें जहां राम और कृष्ण जैसे देव पात्रों को वैज्ञानिक युग की अनुरूपता में आदर्श मानव के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है वहाँ उपेक्षित पात्रों—भरत, नकुल, कर्ण, उर्मिला और एकलव्य की चारित्रिक महत्ता को भी यथेष्ठ आलोक में लाया गया है। इसके अतिरिक्त अभी तक हेय समझे जाने वाले रावण जैसे पात्रों के चरित्र के उज्ज्वल पक्ष को अतीव सहानुभूतिपूर्वक चित्रित किया है। इन काव्यों में नारी जीवन की नानाविध समस्याओं को सहृदयता से उपन्यस्त कर उसके आदर्श रूप की प्रतिष्ठा की स्तुत्य की चेष्टा की गई है।

(ग) प्रस्तुत काव्य धारा शिल्प विधान की दृष्टि से भी अभिनन्दनीय है। इन काव्यों की भाषा-शैली सरल सुबोध तथा भावानुकूल है। नई कविता के समान इनमें कहीं भी अस्पष्ट प्रतीकों, बिम्बों और जटिल अप्रस्तुत विधानों का दुराग्रह नहीं है। इनमें वास्तविक काव्य कला की मनोरम झांकी मिलती है तथा इनमें रस परिपाक का पूर्ण ध्यान रखा गया है। इनमें काम कुंठाओं की अनावश्यक पहेलियां नहीं बुझाई गई हैं। इनके प्रणेताओं ने भारतीय काव्य शास्त्रीय प्रबन्ध काव्यों की परम्पराओ को ध्यान में रखते हुए युगानुकूल महाकाव्यों के स्वरूप विधान का स्तुत्य प्रयास किया है।

(घ) इन प्रबन्ध काव्यों का लक्ष्य भी परम महतीय है। इनमें भारतीय सांस्कृतिक चेतना को उसके व्यापक, यथार्थ, स्वस्थ और कलात्मक रूप में प्रशस्त किया गया है। उस पर कहीं भी फ्रायड, सार्त्र और कामू की वासनात्मक रुग्णता, क्षणवाद और अनास्था आदि की अवांछनीय भावनाओं की प्रेतछाया नहीं मंडराती है। प्रो० देवी प्रसाद गुप्त के शब्दों में "इन काव्यों में देश प्रेम, स्वजातीय गौरव, राष्ट्रीय सम्मान, मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा तथा समसामयिक जीवनादर्शों के अनुरूप युगीन प्रश्नों के समाधान की विराट चेष्टा की गई है। समष्टि रूप में मानवतावादी जीवन दर्शन, सांस्कृतिक निष्ठायें, उत्थान मूलक जीवनादर्श, नारी चेतना के मुखरित स्वर, जन-जागृति का उद्‌घोष, रचना शिल्प की नवीनता तथा चरित्रों की युगीन सन्दर्भों में अवतारणा—प्रसादोत्तर काल के महाकाव्यों की ऐसी विशेषतायें हैं, जिनके आधार पर

इन काव्य ग्रंथों को माँ भारती के भंडार की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है।"

क्या आधुनिक कविता में गत्यवरोध है ?—अब तक हमने आधुनिक हिन्दी साहित्य की कविता की विकासात्मक गतिविधियों का पर्यवेक्षण किया है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य की कविता राष्ट्रीय जागरण से लेकर अब तक के प्रयोगवादी युग तक अनेक पड़ावों पर गुजरती हुई पहुंची है। उसमें अनेक परिवर्तन आए। उसमें छायावादी युग तक भाव और कला क्षेत्र में उत्तरोत्तर विकास एवं उत्कर्ष आया। उत्तर-छायावादी प्रगतिवाद कविता भी लोकसंग्रह की भावना से संवलित होकर अपनी गरिमा को बनाये रही। हिन्दी साहित्य को भारतेन्दु, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, दिनकर आदि सजग मनीषी कलाकारों तथा उनकी अमर-कलाकृतियों पर गर्व है जो कि सर्वथा उचित है, किन्तु आधुनिक हिन्दी-साहित्य की कविता के विकास की कहानी को जानने वालों से यह बात छिपी नहीं है कि उत्तर छायावादी काल में हिन्दी कविता में ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों का समावेश भी होने लग गया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तक कविता क्षेत्र में जिस किसी रूप में यत्किंचित् उदात्तता फिर भी बनी रही, किंतु इसके अनन्तर कविता अपने उच्चासन से उतर कर बालकों के खेल-खिलवाड़ में रम गई। नवीन विलक्षण प्रयोगों के नाम पर उसमें असामाजिक, स्वार्थप्रेरित, अहंनिष्ठ, घोर रुग्ण व्यक्तिवाद, दमित वासनाओं और कुंठाओं, चींटियों और चप्पलों जैसे विषयों को ज्यों के त्यों रूप में निरुद्देश्य अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति को कविता में समाविष्ट कर देने को अत्यधिक प्रश्रय दिया जाने लगा है। आज की तथाकथित नयी कविता में विघटन, ध्वंसात्मकता, अति बौद्धिकता, सुरुचि-विहीनता आदि की दूषित प्रवृत्तियों को उनके उग्र रूप में देखा जा सकता है। आज की नयी कविता में युग की उदात्त भावनाओं और जीवन के कलात्मक अंकन का सर्वथा अभाव है। लगता है जैसे कि आज की प्रयोगवादी या नयी कविता पथभ्रष्ट होकर मणि-मुक्ताओं के स्थान पर धूलि भरे, घुन खाये घोंघों को समेटने में रत है। निश्चित रूप से कविता की विद्रूप अथच दयनीय दशा हिन्दी-जगत् के लिए महती विचारणीय समस्या है। (शिवदान सिंह)

लेकिन कविता की उक्त दशा को देखकर उसमें गत्यवरोध कहना भ्रामक होगा, क्योंकि कविता कोई किसी एक स्थान पर आकर रुक नहीं गई है। कविता में मानव-जीवन के समान परिवर्तन, विकास एवं ह्रास की स्थितियाँ आती रहती हैं। अधिक से अधिक इस प्रसंग में हम कह सकते हैं कि आज की कविता ह्रासोन्मुखी है और उसमें मूल्यों के विघटन की प्रक्रिया जोरों पर है। अवरोध एक जड़ता है जो कि नितान्त निन्दनीय है। विकास और ह्रास चिरस्थायी नहीं होते। आज कविता में जो ह्रासोन्मुखता है वह निःसन्देह क्षणस्थायी है। आज राष्ट्रीय जीवन में मूल्यों के विघटन की जो प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है वह कविता में मूल्यों के विघटन के लिए उत्तरदायी है, किन्तु यह निश्चय है कि राष्ट्र के जीवन में विघटन की यह

प्रक्रिया जल्दी ही समाप्त हो जाएगी। शिवदानसिंह चौहान इस ह्रास के कारणों का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं – "विश्व-मंच पर पूँजीवाद के पतन और समाज-वाद के उत्थान का यह संक्रान्ति-युग इस समय कला-निर्माण के लिए अनुकूल नहीं सिद्ध हो रहा, लेकिन विश्व-शांति की कोई स्थायी व्यवस्था हो गई और तीसरे महायुद्ध की सर्वनाशी विभीषिका से मनुष्य-जाति बच गई तो निश्चय ही हमारे सांस्कृतिक जीवन का अगला उत्थान राष्ट्रनिर्माण का नया आशावाद लेकर पैदा होगा और भारतीय साहित्य को नई उदात्त प्रेरणाओं, नई कल्पनाओं और भावनाओं से अनुप्राणित कर कर देगा।" उस समय हिन्दी कवि को समाज के साथ तादात्म्य स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं होगा। उसकी प्रतिभा युग-निर्माणकारी तत्त्वों को संजोकर युग-जीवन के सत्यों के उद्‌घाटन में अपने आपको कृतकार्य समझेगी। आशा है कि गसे प्रसाद जैसे युगान्तर उपस्थित करने वाले, बहुमुखी, प्रतिभासम्पन्न, उदारचेता कलाकार मिलेंगे। हिन्दी कविता का भविष्य आशामय है। क्षणस्थायी ह्रासोन्मुखता का अन्त अवश्यंभावी है। हिन्दी कविता का आने वाला रूप क्या और कैसा होगा, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह सकना खतरे से खाली नहीं होगा, किन्तु "इतना अवश्य दिखाई देता है कि नये उत्थान का साहित्य व्यक्तिवाद की घोर अनास्था, अतिबुद्धिवाद और समाज-द्रोही अहंमन्यता का एकांगी, व्यक्तित्व को खण्डित और कुंठित करने वाला साहित्य न होगा, बल्कि ज्ञान-विज्ञान की सचेतनता को आत्मसात् करके मनुष्य के सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य जीवन को मूर्त्त कलात्मक अभिव्यक्ति देने वाला साहित्य होगा जिससे मनुष्य के व्यक्तित्व का उदात्त और नैतिक, अखण्डित और मुक्त विकास प्रेरणा ग्रहण कर सकेगा। लेखक केवल अपने स्वधर्मी लोगों के लिए नहीं लिखेगा, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्रऔर प्रकारान्तर से सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए लिखेगा और अपनी रचना को सबके लिए प्रेषणीय बनाने का उत्साह लेकर आगे बढ़ेगा—अर्थात् स्वयं अपने रचनाशाली व्यक्तित्व की गरिमा और दायित्व को पहचानेगा।"—(शिवदानसिंह चौहान)। उस समय की कविता मनुष्य की वाणी में बोलने वाले विकृत मानव द्वारा निर्मित सरीसृपों का जगत् न होकर इस धरती के सचेत मानव द्वारा निर्मित मानव के हर्ष-उल्लास, रुदन और हास से सम्पन्न दुनिया होगी। आशा है कि आधुनिक कविता प्रयोगवाद के दलदल से निकलकर जीवन-निर्माण की स्वस्थ धरातल पर शीघ्र अपने पांव टिकायेगी और उसका लेखक निरर्थक अन्धानुकरण के मोह जाल से निकलकर निजी जीवन्त अनुभूतियों के अंकन को प्रश्रय देगा। वह अति घोर वैयक्तिकता, अहंवादिता, कामुकता स्वार्थपरता और अनैतिकता की अवांछनीय प्रवृत्तियों को छोड़कर उदार अखंड एवं व्यापक मानवता के लोक-मंगल विधायक उद्‌घोष से हिन्दी भारती को सप्राण उज्ज्वल एवं पुनीत बनायेगा। उसे यह याद रखना होगा कि मानवता सब आदर्शों से ऊपर है।

आज समूचा राष्ट्र संक्रान्ति के नाना-दौरों से गुजर रहा है। आज प्रत्येक भारतवासी के सामने आदर्श मानव-मूल्यों तथा समृद्ध एवं उन्नत भारत के सृजन की

समस्या है। इस दिशा में साहित्यकार का सहयोग सर्वाधिक सुन्दर और फल प्रद सिद्ध हो सकता है। किन्तु खेद का विषय है कि आज का तथा-कथित-नया कवि नवीनता के अन्धा-धुन्ध मोह में केवल निजी विज्ञापनार्थ बरसाती मेंढकों के समान नित्य नवीन काव्य संप्रदायों की सृष्टि में व्यस्त है। सब से बड़ी विडम्बना यह है कि उसका नया काव्य जन मानस का प्रतिनिधित्व न करके अभिजात्य वर्ग के हितों का समर्थन करता है। उसकी रचनायें काव्योचित सहज संवेदना से शून्य तथा कृत्रिम बनती जा रही हैं। ये रचनायें काव्य के महतीय आदर्श से दूर होने के कारण नितान्त हल्की और शिल्प विधान की दृष्टि से प्रायः भौंडी बनती जा रही हैं। आज के नवीन काव्य संप्रदायों के प्रतिपल नवाग्रही पुरोधाओं को यह स्मरण रखना होगा कि "कविता संपूर्ण चेतना की अखंड अभिव्यक्ति है, वह खंडित व्यक्तित्व की बौद्धिक शब्द लीला मात्र नहीं है।" असंबद्ध शब्द जाल और व्यक्तिवैचियवाद की कारीगरी से पाठक को उलझाने और वास्तविक कवि कर्म में वृहदन्तर है। कविधर्म कोरे फैशन से भिन्न होता है। नया भाव बोध या नयी अभिव्यक्ति के चिल्लाने मात्र से काव्य का महत्त्व नहीं बढ़ जाता। किसी काव्य की क्षमता उस में चित्रित अनुभूति गहनता और शाश्वत मानवीय मूल्यों के प्रति सजगता में निहित है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए काव्य में हृदय के सहज उद्रेक और उसके साथ निश्छल अभिव्यक्ति का योग अनिवार्य है। 'एजरा पांऊँड', 'रिम्बों और एमीलावल के भारतीय अन्ध श्रद्धालु भक्तों को ग्राह्य और अग्राह्य के संबन्ध में विवेक बुद्धि से काम ले कर निजी अनुभूतियों के सहारे जीवित रहने की कला सीखनी होगी। उन्हें अनुभूतियों के उस आयाम पर पहुँचना होगा जहाँ काव्य स्वयं प्रस्फुटित हो जाता है। कहीं ऐसा न हो कि "कौवा चला हँस की चाल अपनी भी भूल गया" की उक्ति नये कवि पर चरितार्थ होने लगे। केवल नवीनता ही काव्योत्कर्ष की विधायिनी शक्ति नहीं हुआ करती है। कालिदास के शब्दों में—

> पुराणमित्येव न साधु सर्वम्,
> न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
> सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
> मूढः पर प्रत्ययनेय बुद्धि। मा० अग्निमित्रम्, १।२

पुरानी होने से ही न तो सब वस्तुएँ अच्छी होती हैं और न कोई वस्तु नई होने के कारण हेय एवं तुच्छ होती हैं विवेकशील मनुष्य गुणों और दोषों की परीक्षा कर श्रेष्ठतर वस्तु को अपनाते हैं। मूढ जन दूसरों के बताने पर ग्राह्य और अग्राह्य का निर्णय किया करते हैं।

हिन्दी गद्य साहित्य का विकास

गद्य की प्रचुरता आधुनिक हिन्दी-साहित्य की महती विशेषता है और कदाचित् इसीलिए हिन्दी का आधुनिक काल गद्य-युग कहलाता है। आधुनिक युग में जिस मात्रा में गद्य में साहित्य निर्मित हुआ है उतना पद्य में नहीं। सर्वसाधारण के लिए लिखे

गये साहित्य का जन-साधारण के विचार-विनिमय की भाषा—गद्य में लिखा जाना स्वाभाविक भी था। आज का युग विज्ञान और बुद्धि का है। वैज्ञानिक आविष्कारों—प्रेस आदि के बाहुल्य के कारण गद्य के माध्यम से जन-सामान्य तक विचारों का पहुँचना सुकर हो गया है। आज कल्पना और भावुकता का स्थान बुद्धि और तर्क ने ले लिया है। परिणामतः गद्य का अधिकाधिक प्रचार हुआ।

आधुनिक युग से पूर्व गद्य लिखने की परिपाटी का विशेष प्रचलन नहीं था, किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि इस युग से पूर्व हमारे देश में गद्य का अभाव था। सच यह है कि गद्य का अपेक्षित प्रचार तब सम्भव है, जबकि युग समृद्ध और सामंजस्यपूर्ण हो और उसमें पूरा-पूरा सांस्कृतिक जागरण तथा अभ्युत्थान हो चुका हो। भारतीय इतिहास के मध्य युग में हमारे सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की एकता छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त जिस समय आधुनिक भारतीय भाषाएँ अपभ्रंशों से विकसित हो रही थीं उस समय साहित्य-निर्माण की परम्परा पद्य में प्रचलित थी। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य में गद्य का प्रचार अपेक्षाकृत पद्य के बहुत बाद में, जब राष्ट्रीय जीवन में सांस्कृतिक एकता की भावना का उदय हुआ सम्पन्न हो सका।

गद्य साहित्य के बाद में आविर्भूत होने के अनेक कारण हैं। यह एक बड़े आश्चर्य का विषय है कि मनुष्य जीवन भर दैनिक कार्य-कलाप में गद्य का व्यवहार करता है किन्तु विश्व साहित्य में गद्य की अपेक्षा पद्य का प्रादुर्भाव पहले होता है। इसका कारण कदाचित् मानव के हृदय अथच भावनात्मक पक्ष का प्राबल्य है। इसके अतिरिक्त मानव में सौन्दर्य-प्रेम की प्रवृत्ति सनातन एवं चिरन्तन है। यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति जितनी पद्य में सम्भव है उतनी गद्य में नहीं। मानव की संगीत के प्रति नैसर्गिक रुचि ने भी पद्य के प्रोत्साहन में महत्वपूर्ण कार्य किया है। प्रारम्भ में मानव के भाव सरल और तरल होते हैं, उनमें किसी प्रकार की कोई जटिलता नहीं होती। परिणामतः उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम पद्य आसानी से हो सकता है। सभ्यता और विज्ञान के उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ मानव के विचारों में गहनता, जटिलता और नाना प्रकार की समस्याओं का समावेश स्वतः होने लगता है। इस प्रकार के नाना समस्या-संकुल जटिल विचार-धारा के वाहन करने की क्षमता पद्य में न होकर गद्य में ही सम्भव है। गद्य के बाद के आविर्भाव के लिए "विद्या कंठ और पैसा गंठ" वाली चिर प्रचलित कहावत भी काफी उत्तरदायी है। मुद्रण कला के अभाव में वक्तव्य वस्तु को स्मृतिपटल पर सदा बनाये रखने में पद्य जितना सहायक हो सकता है, उतना गद्य नहीं।

आधुनिक युग के सुव्यवस्थित गद्य से पूर्व हिन्दी की विभिन्न भाषाओं में—राजस्थानी तथा व्रज में गद्य के जो टूटे-फूटे उदाहरण मिलते हैं, उनका उल्लेख करते हुए हम खड़ी बोली गद्य के विकास की परम्परा का उल्लेख करेंगे। राजस्थानी

एवं ब्रजभाषा गद्य का ऐतिहासिक मूल्य भले ही हो, किन्तु उसका साहित्यिक मूल्य नगण्य है।

हिन्दी-साहित्य में गद्य के द्रुतगति से आविर्भूत एवं विकसित न होने के भी अनेक कारण हैं। हिन्दी-भाषा भाषी प्रदेश में उस समय साहित्यिक भाषा का कोई सर्व स्वीकृत रूप नहीं था। भिन्न-भिन्न प्रदेशों से भिन्न-भिन्न साहित्यिक भाषाओं—राजस्थानी, बुन्देलखंडी, ब्रज, अवधी आदि का प्रयोग हो रहा था। यदि उस समय साहित्य क्षेत्र की कोई एक सर्व-सम्मत भाषा होती तो सम्भव था कि गद्य का भी कोई निश्चित रूप निर्धारित हो सकता। तत्कालीन हिन्दी साहित्य की धार्मिक प्रवृत्ति और शृंगार-प्रियता भी गद्य के विलम्ब से आविर्भूत होने के कारण हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि गद्य के विकास के लिए जिन परिस्थितियों की अपेक्षा होती है वे हिन्दी के प्रथम तीन कालों में नहीं थी। संयोगवश हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल में गद्य के आविर्भाव और उसके क्षिप्र प्रचार के लिए जिन बातों की आवश्यकता थी वे सब विद्यमान थीं।

राजस्थानी गद्य—सन् ९४५ से १३४५ तक साहित्यिक प्रगतिशीलता का केन्द्र राजस्थान था। उस समय राजस्थानी भाषा के दोनों रूप डिंगल और पिंगल अपभ्रंशों के प्रभाव से मुक्त नहीं थे। राजस्थानी लेखकों ने, विशेषकर चारण-भाटों ने पद्य के साथ-साथ धर्म, नीति, इतिहास, छन्द-शास्त्र, शालिहोत्र और दृष्टि-विज्ञान सम्बन्धी विषयों पर गद्य और पद्य दोनों पर रचनाएँ कीं। पिंगल भाषा से नैतिक पौराणिक और ऐतिहासिक विषयों पर कुछ रचनायें उपलब्ध होती हैं। कुछ लोकप्रिय कहानियाँ भी राजस्थानी गद्य में लिखी गईं। जैन साधुओं ने धर्म-शास्त्र, वैद्यक और काम-शास्त्र पर राजस्थानी भाषा में कुछ ग्रन्थ लिखे जो कि आज भी उपलब्ध होते हैं।

हिन्दी के कतिपय विद्वानों ने मोहनलाल द्वारा प्रकाशित करवाये गए पट्टों-परवानों को पृथ्वीराज का समकालीन मानकर उन्हें गद्य का सर्वप्रथम उदाहरण माना है, किन्तु भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से उन्हें बाद का मानना ही समीचीन है। हाँ, इतना अवश्य है कि हिन्दी के प्राचीन गद्य के प्राचीनतम उदाहरण वस्तुतः इस काल की राजस्थानी गद्य के हैं।

ब्रज भाषा गद्य—सन् १३४५ के उपरान्त ब्रजभाषा के साहित्य क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो जाने पर उसमें अनेक गद्य रचनाएँ निर्मित हुईं। भाषा-शैली और विषय वस्तु की दृष्टि से इन रचनाओं का कोई बिशेष साहित्यिक महत्व नहीं है। लगभग ५०० सौ वर्षों तक ब्रजभाषा उत्तरी भारत के साहित्य की भाषा बनी रही, इसमें असंख्य पद्य रचनाएं प्रणीत हुई किन्तु इसमें गद्य में रचित पुस्तकों की संख्या एक-दो दर्जन से अधिक नहीं है, अतः ब्रज भाषा में गद्य के विविध अंगों का यथेष्ट विकास बन पड़ा होगा, यह प्रश्न ही नहीं उठता।

सन् १३५० के लगभग किसी राजस्थानी लेखक ने हठयोग और ब्रह्म ज्ञान

से सम्बन्धित तीन गोरखपंथी पुस्तकें लिखीं—गोरख-गणेश गोष्ठी, महादेव-गोरख संवाद और गोरखनाथ जी की सत्रह कला। सौलहवीं शती के उत्तरार्ध में वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ ने 'श्रृंगार रस मंडन' लिखा। सत्रहवीं शती के पूर्वार्ध में गोस्वामी गोकुलनाथ या उनके किसी शिष्य ने, 'दो सौ बावन-वैष्णवों की वार्ता' तथा 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' नामक पुस्तकें लिखीं जिनका ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक मूल्य अक्षुण्ण है। इन ग्रंथों की भाषा अपेक्षाकृत कुछ व्यवस्थित और परिष्कृत है। इसी समय नाभादास ने अष्टयाम नाम का एक ग्रन्थ लिखा जिसमें प्रभु राम की दिन-चर्या का वर्णन है। इसी समय की एक पुस्तक 'ज्ञान मंजरी' है जिसके लेखक का पूरा ज्ञान नहीं है। हाँ, इतना तो स्पष्ट है कि वह वैष्णव मतानुयायी था। इसी के समकालीन सेवक कवि की 'वाग्विलास' नामक पुस्तक में जो कि नायिका-भेद से सम्बद्ध है, यत्र-तत्र गद्य का प्रयोग किया गया है। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास के तीन गद्य ग्रंथों—हितोपदेश, नासिकेत-पुराण-भाषा और विज्ञानार्थ प्रवेशिका का पता चला है, किन्तु वे अभी तक प्रकाशित नहीं हुए। राधा-वल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी हितहरिवंश की पत्री भी तत्कालीन ब्रजभाषा गद्य का नमूना है। जैन मतानुयायी कवि बनारसीदास ने इस काल में अनेक गद्य रचनायें लिखीं। इसी समय में लिखी हुई 'भुवन दीपिका' नाम की एक पुस्तक मिली है जिसका लेखक अज्ञात है। सन् १६२३ के आस-पास ओरछा-नरेश जसवन्तसिंह के दरबारी बैकुण्ठमणि ने 'अगहन महात्म्य' और 'बैशाख महात्म्य' नामक दो छोटी छोटी पुस्तकें लिखीं। १६२३ में विष्णुपुरी ने भक्ति रत्नावली का गद्यानुवाद किया। १८वीं शती के आरम्भ में किसी अज्ञात लेखक ने नासिकेतोपाख्यान लिखा और सूरति मिश्र ते वैताल-पच्चीसी लिखी। इन दोनों ग्रंथों को आगे चलकर खड़ी बोली गद्य में रूपान्तरित किया गया। अठारहवीं शती के अन्त १७६५ में जयपुर-नरेश प्रतापसिंह की आज्ञा से हीरालाल ने 'आइने अकबरी की भाषा वचनिका' नाम की एक बड़ी पुस्तक लिखी। इसके अतिरिक्त १८वीं, १६वीं शताब्दी में कुछ और पुस्तकें भी लिखी गई जिनमें संस्कृत की कथंभूति शैली का व्यवहार किया गया है। केशव की कविप्रिया, रसिकप्रिया और रामचन्द्रिका, बिहारी की बिहारी सतसई तथा श्रृंगार शतक आदि ग्रंथों पर अनेक टीकाएँ लिखी गई पर उनका गद्य व्यावहारिक नहीं। टीकाकार मूल पाठ को स्पष्ट नहीं कर पाये हैं बल्कि उसे और दुरूह और अबोध बना दिया है। इन टीकाओं का विषय-विवेचन और शैली की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। इन टीका ग्रंथों में ब्रजभाषा गद्य के पतन के चिह्न स्पष्ट दीखने लगते हैं। चौरासी वैष्णवों की वार्ता और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता में ब्रजभाषा गद्य का जो रूप दिखाई दिया था यदि उसका उत्तरोत्तर विकास होता तो निश्चय था कि ब्रजभाषा गद्य में एक आदर्श शैली का जन्म हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं हुआ और कदाचित् इसीलिए खड़ी बोली गद्य का सूत्रपात हुआ। अस्तु, खड़ी बोली के गद्य में व्यवहृत होने के और भी कई ऐतिहासिक कारण हैं, जिनका उल्लेख यथास्थान

किया जायगा।

खड़ी बोली गद्य— खड़ी बोली दिल्ली और मेरठ के आस पास के जन-साधारण की भाषा है। दिल्ली पर मुसलमानों के शासन के स्थापित हो जाने पर फारसी भाषा राजकार्य में व्यवहृत होती रही। मुसलमानी शासनकाल में हिन्दुओं की एक बहुत बड़ी संख्या मुसलमानी राजकार्य में नौकरी करती थी। इस सम्पर्क का शुभ परिणाम यह निकला कि फारसी के राज्य भाषा होने पर दोनों जातियों के पारस्परिक विचार विनिमय की भाषा खड़ी बोली बनी रही। १४वीं शती में गुजरात और दक्षिण भारत में मुस्लिम शासन स्थापित हुआ। तत्पश्चात् बंगाल और बिहार में भी मुस्लिम सल्तनतें कायम हुईं। इस प्रकार उत्तरी भारत के मुस्लिम शासकों के साथ यहाँ का कर्मचारी वर्ग और व्यापारी वर्ग भी उन नये प्रदेशों में पहुंचे। इसी प्रकार खड़ी बोली के बोलने वालों के भारत-भू के विस्तृत भाग पर फैल जाने पर खड़ी बोली का प्रचार हुआ और वह धीरे-धीरे अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की भाषा बन गई। गद्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा को अपदस्थ कर खड़ी बोली के उस क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने का एक अन्य भी ऐतिहासिक कारण है। अंग्रेजी शासन की स्थापना के साथ शासक वर्ग को इस देश की किसी ऐसी भाषा के सीखने की आवश्यकता महसूस हुई जिसे देश के बहुत से निवासी बोलते हों। सौभाग्यवश हिन्दी खड़ी बोली देश की एक ऐसी भाषा थी जो कि शासक वर्ग एवं ईसाई धर्म प्रचारकों की आवश्यकता पूर्ति के लिए समर्थ थी। यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी खड़ी बोली गद्य साहित्य की भाषा न होते हुए आगामी साहित्य का माध्यम बन सकी। 'खड़ी बोली किसी आन्तरिक श्रेष्ठता और सहज गुण-सम्पन्नता के कारण आधुनिक युग में ब्रजभाषा को पीछे छोड़कर गद्य और पद्य की भाषा नहीं बनी और न इस कारण ही कि जब हिन्दी में गद्य साहित्य का विकास हुआ उस समय ब्रजभाषा में गद्य साहित्य की परम्परा नगण्य थी। यह नगण्यता तो खड़ी बोली में थी बल्कि ब्रजभाषा के गद्य से कुछ अधिक ही। अतः यही आगे चलकर खड़ी बोली हिन्दी गद्य साहित्य के विकास का माध्यम बनी तो इसके कारण ऐतिहासिक थे जिनके संयोग से ऐसा होना ही सम्भव था।"

खड़ी बोली गद्य की सर्वप्रथम उल्लेखनीय रचना अकबर के दरबारी कवि गंग की "चन्द-छन्द बरनन की महिमा" है। इसमें ब्रज मिश्रित खड़ी बोली का व्यवहार किया गया है। इस रचना का समय सन् १५७० है। रामप्रसाद निरंजनी ने "भाषा योग वाशिष्ठ" नाम की एक रचना लिखी जिसकी भाषा काफी परिमार्जित है। निरंजनी जी पटियाला दरबार में रहते थे और महारानी को कथा बाँच कर सुनाया करते थे। सन् १७६१ में पं० दौलतराम ने रविषेणाचार्य कृत जैन पद्मपुराण का भाषानुवाद किया जोकि काफी त्रुटिपूर्ण है। दौलतराम बरुआ मध्यप्रदेश के रहने वाले थे, अतः उनकी भाषा में प्रान्तीयता का पुट भी यत्र-तत्र देखा जा सकता है।

१८३०-४० के बीच किसी अज्ञात राजस्थानी लेखक की पुस्तक "मंडोवर का वर्णन" उपलब्ध होती है जिसमें उर्दू-फारसी तथा राजस्थानी के शब्दों की बहुलता है। निरंजनी को छोड़कर इन दोनों लेखकों की भाषा अव्यवस्थित है जिससे यह स्पष्ट है कि उस समय तक खड़ी बोली गद्य की किसी निश्चित शैली का निर्माण नहीं हो पाया था।

लेखक चतुष्टय—इसके उपरान्त खड़ी बोली गद्य के विकास की परम्परा में मुन्शी सदासुखलाल नियाज, इंशा अल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र का नाम आता है। सन् १८०० में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दी उर्दू अध्यापक जान गिल क्राइस्ट ने हिन्दी उर्दू में गद्य पुस्तकों को तैयार करने की व्यवस्था की। लल्लूलाल और सदल मिश्र दोनों फोर्ट विलियम कालेज में काम करते थे। इन दोनों ने अंग्रेजों के आदेश से हिन्दी गद्य रचनाएँ प्रस्तुत कीं। सदासुखलाल नियाज और इंशा अल्ला खाँ ने स्वतन्त्र रूप से खड़ी बोली के कतिपय गद्य ग्रंथों का निर्माण किया।

सदासुखलाल नियाज (१७४६—१८२४) दिल्ली के निवासी थे। ये कम्पनी की नौकरी किया करते थे। चुनार, मिर्जापुर में ये एक अच्छे पद पर नियुक्त थे। ये उर्दू और फारसी में शायरी भी किया करते थे। इन्होंने इन भाषाओं में अनेक पुस्तकें लिखी हैं। इन्होंने ६५ वर्ष की अवस्था में नौकरी छोड़ी और प्रयाग में जाकर भगवद्भजन करने लगे। विष्णुपुराण से उपदेशात्मक प्रसंग लेकर एक पुस्तक का निर्माण किया और हिन्दी में श्रीमद्भागवत का सुखसागर के नाम से स्वतन्त्र अनुवाद किया। इसमें निरंजनी के योगवाशिष्ठ के समान भाषा का परिमार्जित रूप है, केवल यत्र-तत्र पंडिताऊ प्रयोग मिलते हैं।

मुंशी जी ने न तो किसी अंग्रेज अधिकारी की प्रेरणा से और न ही किसी दिये हुए नमूने पर अपने ग्रंथ लिखे। उन्होंने हिन्दुओं की बोल चाल की शिष्ट भाषा का प्रयोग किया। आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"अपने समय में उन्होंने हिन्दुओं की बोलचाल की जो शिष्ट भाषा चारों ओर—पूर्वी प्रान्तों में भी प्रचलित पाई उसी में रचना की। स्थान-स्थान पर शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने उसके भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण आभास दिया।".

इंशा अल्लाखां (१७६२-१८७५) भी उर्दू के प्रसिद्ध शायर थे। इन्होंने फोर्ट विलियम कालेज के बाहर रह कर स्वतन्त्र रूप से हिन्दी गद्य की सेवा की। इन्होंने उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी की रचना की।

खां साहब मुर्शिदाबाद में उत्पन्न हुए। बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के मरने के उपरान्त अन्धेरगर्दी मच जाने पर आप दिल्ली में शाह आलम द्वितीय के दरबार में रहने लगे। यहाँ की स्थिति के बिगड़ जाने पर आपको लखनऊ के नवाब सआदतअली खाँ के दरबार में रहना पड़ा। यहाँ आपकी काफी प्रतिष्ठा हुई।

रानी केतकी की कहानी हिन्दी गद्य की पहली मौलिक रचना है। शिवदानसिंह चौहान इनकी भाषा-शैली के सम्बन्ध में लिखते हैं—"इंशा की भाषा फड़कती हुई, मुहावरेदार और विनोदपूर्ण है, उसमें सानुप्रास विराम की छटा भी खूब देखने में आती है, जैसी बाद में आगा हश्र काश्मीरी के नाटकों में मिलती है। इंशा ने अरबी, फारसी, अवधी, ब्रज और संस्कृत सभी प्रकार की भाषाओं के शब्दों से दामन बचाकर ठेठ खड़ी बोली में अपनी कहानी को लिखने का प्रयत्न किया है किन्तु फिर भी फारसी ढंग के वाक्य-विन्यास का प्रभाव है जिसमें हिन्दी के कर्त्ता-कर्म क्रिया के क्रम में उल्ट फेर हो जाता है, इंशा अल्ला की गद्य-शैली में यह लक्षित है। उनकी भाषा में ऐसे और भी अनेक दोष या बाह्य प्रभाव दिखाये जा सकते हैं लेकिन इससे उनकी रचना का महत्त्व कम नहीं होता। गद्य में मुहावरों का ऐसा प्रांजल प्रयोग उनके पूर्व वर्ती किसी लेखक ने नहीं किया था और न किसी ने हिन्दी गद्य में इस कोटि की मौलिक रचना की थी।" लेखक चतुष्टय में खां साहब की भाषा सबसे चुटीली और मुहावरेदार है।

लल्लूलाल (१७६३-१८२५) आगरा के निवासी ब्राह्मण गुजराती थे। ये संस्कृत के विशेष जानकार नहीं थे। ये भाषा कवि भी थे और उर्दू भी जानते थे। फोर्ट विलियम कालेज में नियुक्ति के पश्चात् इन्होंने भागवत के दशम स्कन्ध की कथा को लेकर प्रेमसागर नाम की पुस्तक की रचना की जो भागवत के दशम स्कन्ध का अनुवाद है। इस पर ब्रजभाषा का पर्याप्त प्रभाव है। इनकी ठेठ हिन्दी में उर्दू के शब्द भी आ गये हैं। इनकी भाषा कृष्णोपासक व्यासों की सी है जिसमें ब्रजभाषा की गहरी रंगत है। शुक्ल के शब्दों में "सारांश यह है कि लल्लूलाल जी का काव्याभ्यास गद्य भक्तों की कथावार्ता के काम का ही अधिकतर है, न नित्य-व्यवहार के अनुकूल है, न सम्बद्ध विचार-धारा के योग्य।" और वस्तुतः कहीं-कहीं तो इनकी भाषा बहुत ही बोझिल बन गई। एक अंग्रेज ने, जिसे प्रेमसागर पढ़कर हिन्दी पढ़ने का अवसर मिला था इस पुस्तक के बारे में लिखा था—"ऐसी थका देने वाली भाषा उसने कहीं नहीं देखी। इस ग्रंथ में उनकी भाषा अनियन्त्रित तथा अव्यवस्थित है। तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग है वाक्य विन्यास में भी क्रमबद्धता नहीं।"

इसके अतिरिक्त इन्होंने बैताल बच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी, शकुन्तला नाटक, माधव विलास, रमाविलास और हितोपदेश का राजनीति के नाम से हिन्दी में अनुवाद किया। इन ग्रंथों में इन्होंने अपेक्षाकृत हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग किया है। बिहारी सतसई पर इन्होंने लालचन्द्रिका नाम की टीका लिखी। इनका अपना एक प्रेस था जिसका नाम संस्कृत प्रेस था।

सदल मिश्र—श्री लल्लूलाल के समान फोर्ट विलियम कालेज में काम किया करते थे। ये बिहार के निवासी थे। इन्होंने चन्द्रावती या नासिकेतोपाख्यान ग्रंथ खड़ी बोली में लिखा। इनकी भाषा लल्लूलाल की अपेक्षा अधिक साफ सुथरी और व्यवहारोपयोगी है पर इनकी भाषा में भी पूर्वी बोली के शब्दों का यत्र तत्र प्रयोग

है। इन चारों लेखकों में आधुनिक गद्य का आभास सदासुखलाल और सदल मिश्र में मिलता है। इनमें सदासुखलाल की भाषा अधिक साधु और महत्त्व की है। गद्य के प्रवर्त्तकों में इनका विशेष स्थान है। खाँ साहब में चुलबुलापन और फारसी का प्रभाव है। लल्लूलाल में पंडिताऊपन और सदल मिश्र में पूर्वीपन है, अतः बाद के लेखकों ने इनका अनुकरण नहीं किया।

सन् १८०३ से लेकर भारतीय प्रथम स्वतंत्रता संग्राम तक गद्य-साहित्य प्रायः उपेक्षित रहा। यों तो इस काल में कुछ छापेखानों की स्थापना हुई, कुछ पत्र भी प्रकाशित हुए, धर्म और शिक्षा-सम्बन्धी आन्दोलन चले, किन्तु गद्य-साहित्य की अखंड परम्परा भारतेन्दु से ही आरम्भ हुई।

ईसाई सहयोग—अब तक हिन्दी-गद्य का जो प्रचार और उन्नति हुई उसका सर्वाधिक लाभ इन ईसाई धर्म-प्रचारकों ने उठाया। कुछ लोगों ने अंग्रेजी शासन तथा ईसाइयों को आधुनिक खड़ी बोली गद्य का जनक माना है जोकि नितान्त भ्रामक है। इनका उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार करना था, हिन्दी-गद्य की उन्नति करना नहीं था। वैसे तो १५ वीं शताब्दी से इन लोगों का प्रवेश भारत में हो गया था, किन्तु १८वीं शताब्दी तक ये अपना धर्म प्रचार न कर सके क्योंकि हमारा आदर्श इनसे सर्वथा भिन्न था और साथ-साथ कम्पनी की नीति भी धर्म में हस्तक्षेप करने की नहीं थी। १८१३ में विलफोर्स एक्ट के पास होने से इन्हें अपने धर्म प्रचार की स्वतन्त्रता मिल गई। तब से ईसाइयों ने भारत के बड़े-बड़े नगरों में अपने-अपने अड्डे जमाये। विलियम केरे ने जो १७९३ में हिन्दुस्तान आये, बंगला में बाइबिल का अनुवाद किया। इससे पहले बाइबिल का हिन्दी में अनुवाद हो ही चुका था। केरे ने १८०९ में नये धर्म के नियम के नाम से इंजील का हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित करवाया। इसके बाद ईसाइयों की पुस्तकें और पैम्फलेट देश की अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी में प्रकाशित होते रहे। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के लिये इन दिनों अनेक स्कूल खुलने लगे थे। ईसाई पादरियों ने भी अपने छोटे-छोटे मिशन स्कूल खोलने शुरू कर दिये। शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकों की मांग को पूरा करने के लिये इन्होंने सिरामपुर तथा आगरा आदि स्थानों पर स्कूल बुक सोसाइटीज कायम की। आगरा, इलाहाबाद, सिकन्दराबाद, बनारस, फर्रुखाबाद आदि स्थानों पर छापेखाने खोले।

ईसाई लोग बिना दामों के पुस्तकें तथा पैम्फलेट जनता में वितरित किया करते थे। अपनी गद्य पुस्तकों में ये लोग हिन्दू धर्म को हीन, पुराणों और कुरान को तुच्छ बतलाकर अपने धर्म को श्रेष्ठ बतलाते थे। इन लोगों का निम्न वर्ग पर बहुत प्रभाव पड़ा और बहुत से लोगों ने अपना धर्म परिवर्तन कर लिया।

इस सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है कि थोड़े ही समय में इन्होंने हिन्दी भाषा को सीख लिया और उसमें लिख-पढ़ भी सके, पर इनके द्वारा हिन्दी गद्य के विकास की उन्नति नहीं हुई। इनमें हिन्दी गद्य की एक झांकी मात्र मिलती है, चित्र नहीं। उन्हें अपने धर्मप्रचार से मतलब था, हिन्दी भाषा से कोई लेना-देना नहीं था,

अतः साहित्यिक सौन्दर्य और भाषा की छटा ईसाई गद्य में नहीं है। जो कुछ है वह भाषा में कृत्रिमता, शिथिल और असम्बद्ध पद्य व्यर्थ के शब्द तथा मुहावरों का खटकने वाला प्रयोग। उत्कृष्ट गद्य लिखने की सिद्धहस्तता इन्हें प्राप्त नहीं थी। इनसे भाषा की प्रांजलता और साहित्यिक सौष्ठव की आशा करना व्यर्थ है। इनकी भाषा और शैली का हिन्दी की साहित्यिक रचनाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इनकी रचनाओं पर लल्लूलाल और इंशाअल्ला की अव्यवस्थित गद्य शैली का प्रभाव है। इन्हें न तो मूलग्रंथों और न ही अनुवादों में सफलता मिली है। भाषा पर अधिकार न होने के कारण इनकी शैली आर्यसमाजियों जैसी तर्कपूर्ण और जोरदार नहीं है। डॉ० लक्ष्मी-सागर वार्ष्णेय के शब्दों में—"हिन्दी में ईसाई धर्म तथा अन्य ग्रंथों के बारे में यह ठीक ही कहा गया है कि वे पूर्व के भव्य वातावरण में लिखे जाने की अपेक्षा लन्दन के कोहरे या सेंटपीटसवर्ग के बर्फीले मैदान में लिखे गये मालूम होते हैं।"

हाँ, ईसाई गद्य का ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। उसका गद्य सीधा तथा सरल है। चलती भाषा में भावाभिव्यक्ति करना उन्हें खूब आता था। हिन्दी गद्य के विकास का उद्देश्य न होते हुए भी इनका गद्य के विकास में प्रशंसनीय हाथ है। शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें और नागरी लिपि में सुन्दर टाइप के लिए हमें ईसाई धर्म के प्रचारकों का आभार अवश्य स्वीकार करना होगा। यद्यपि यह सब कुछ साधन-मात्र था, साध्य नहीं था।

इस प्रकार इस दिशा में अंग्रेजों के द्वारा दिये गये सहयोग के सम्बन्ध में हमें साफ-साफ याद रखना होगा कि उन्होंने हिन्दी गद्य निर्माण में कोई प्रत्यक्ष सहायता नहीं दी। हाँ, जो कुछ सहयोग मिला, वह अप्रत्यक्ष रूप से। डॉ० हजारीप्रसाद का विचार है—"वस्तुतः हिन्दुओं के साथ अँग्रेजों का सम्बन्ध कभी भी घनिष्ठ नहीं हो सका। अंग्रेजों ने तत्कालीन साहित्य को कोई प्रोत्साहन भी नहीं दिया। किसी बड़े पदाधिकारी अंग्रेज ने हिन्दू या मुसलमान कवि को आश्रय नहीं दिया। १८३५ में कवि घासीराम ने बड़े दुःख के साथ कहा था—

छाँड़ि फिरंगिन के राज लै सुधर्म काज,
जहाँ होत पुण्य आज चलो वहि देस को।

हां, कम्पनी सरकार तथा शासन-व्यवस्था ने हिंदू-सभ्यता और संस्कृति के उद्धार का कार्य बड़ी चुस्ती और ईमानदारी से किया। इतिहास और पुरातत्वशोध में, प्राचीन भारतीय साहित्य और धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन में और नयी-पुरानी भारतीय भाषाओं के विवेचन में यूरोपीय पंडितों ने बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस शोध-कार्य से हिन्दी को प्रत्यक्ष लाभ भी हुआ। इसके अतिरिक्त शिक्षा-कार्य के सम्बन्ध में विज्ञान, भूगोल, इतिहास, समाजशास्त्र, स्वास्थ्य-विज्ञान आदि नवीन विषयों पर पुस्तकें प्रस्तुत करने में अंग्रेजों तथा ईसाई मिशनरी लोगों ने सबसे पहले कदम बढ़ाया। एतदर्थ हिन्दी भाषी उनके सदैव कृतज्ञ रहेंगे।

हिन्दी-उर्दू-संघर्ष--मैकाले के जोर देने पर कम्पनी सरकार ने १८३५ में अंग्रेजी शिक्षा-प्रचार का प्रस्ताव पास कर दिया, एतदर्थ देश में यत्र-तत्र अंग्रेजी के स्कूल खोले जाने लगे। अब प्रश्न उठा अदालती भाषा का, और स्कूलों में हिन्दी को एक अनिवार्य विषय के रूप में रखने का। इन दोनों बातों में हिन्दी का घोर विरोध हुआ। इस विरोध की कहानी भी बहुत मजेदार है। मुगल काल में अदालतों की भाषा फारसी चली आ रही थी, अंग्रेजी-शासन काल में भी प्रारम्भ में यही परम्परा चलती रही किन्तु सर्वसाधारण जनता की फारसी भाषा और उसकी लिपि सम्बन्धी कठिनाइयों को देखकर सन् १८३६ में कम्पनी सरकार ने आज्ञा जारी की कि सारा अदालती काम देश की प्रचलित भाषाओं में हुआ करे। इसके परिणामस्वरूप संयुक्त प्रान्त में हिन्दी खड़ी बोली को वहाँ की अदालती भाषा स्वीकार कर लिया गया। सारा अदालती कार्य हिन्दी भाषा और लिपि में होने लगा। कम्पनी सरकार भाषा-सम्बन्धी इस नीति पर चिरकाल तक न टिक सकी। केवल एक वर्ष के पश्चात् उत्तरी-भारत के सब दफ्तरों की भाषा उर्दू कर दी गई। यह सब कुछ मुसलमानी विरोध के कारण हुआ। इस प्रकार मान-मर्यादा और आजिविका की दृष्टि से सबके लिए उर्दू सीखना आवश्यक हो गया और देश भाषा के नाम पर स्कूलों के छात्रवर्ग को उर्दू पढ़ाई जाने लगी। इस प्रकार हिन्दी पढ़ने वालों की संख्या दिन प्रतिदिन कम होने लगी। हिन्दी के पुराने साहित्य अर्थात् सूर, तुलसी आदि की रचनाओं के प्रति जो थोड़ी बहुत रुचि बनी हुई थी वह धर्म भाव के कारण। स्व० बाबू बालमुकन्द गुप्त इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे वे फारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिन्दी भाषा हिन्दी न रहकर उर्दू बन गई...। हिन्दी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी।" इसी समय राजा शिवप्रसाद का इस क्षेत्र में आगमन हुआ, यद्यपि वे इस समय तक शिक्षा-विभाग में नियुक्त नहीं हुए थे। उनका ध्यान हिन्दी की ओर गया। दूसरी भाषाओं में निकलते हुए समाचार-पत्रों को देखकर उन्होंने भी 'बनारस' अखबार निकलवाया। इस पत्र की भाषा प्रायः उर्दू थी और लिपि देवनागरी। उनके लिए ऐसा करना तत्कालीन परिस्थितियों का तकाजा था। इसी समय बाबू तारामोहन मित्र आदि कई सज्जनों के उद्योग से काशी से 'सुधाकर' नाम का एक दूसरा पत्र निकला, जिसकी भाषा बहुत सुधरी हुई हिन्दी थी। मुन्शी सदासुखलाल के सम्पादन में आगरे से 'बुद्धि प्रकाश' नामक पत्र निकला जिसकी भाषा उस समय को देखते हुए अच्छी होती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुसलमानों के विरोध के फलस्वरूप अंग्रेजी सरकार की नीति हिन्दी के प्रति अच्छी न होते हुए भी हिन्दी-साहित्य में गद्य-परम्परा अच्छी तरह चल निकली। उसमें पुस्तकें छपने तथा पत्र-पत्रिकायें आदि भी निकलने लगीं। पद्य की भाषा ब्रज बनी रही और गद्य में खड़ी बोली का व्यवहार होने लगा।

हिन्दी को अदालतों से बाहर निकालने के कार्य में तो मुसलमानों को सफलता

मिल चुकी थी, अब व इसे शिक्षा-क्षेत्र से बाहर निकालने में प्रयत्नशील थे। जब सरकार स्कूलों और मदरसों में हिन्दी को आवश्यक रूप से पढ़ाये जाने के प्रस्ताव पर विचार कर रही थी तब प्रभावशाली मुसलमानों – सर सैय्यद अहमद ख़ां आदि ने उसका उग्र विरोध किया। अन्ततः सरकार को अपना विचार छोड़ना पड़ा और उसने सन् १८४८ में यह सूचना निकाली—"ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक ठहराना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जबान नहीं है, हमारी राय में ठीक नहीं है। इसके सिवा मुसलमान विद्यार्थी, जिनकी संख्या देहली कालेज में बड़ी है, इसे अच्छी नजर से नहीं देखेंगे।"

सैय्यद अहमद खाँ का अंग्रेजों के बीच बड़ा मान था। वे हिन्दी को एक गंवारू भाषा समझते थे और ये अंग्रेजों को उर्दू की ओर झुकाने की लगातार कोशिश करते रहे। उन्होंने तो यहाँ तक प्रयत्न किया कि वर्नाक्युलर स्कूलों में हिन्दी की शिक्षा जारी न हो पाये। राजा शिवप्रसाद भी अँग्रेजों के कृपा-पात्र थे और हिन्दी के परम पक्षपाती थे, अतः हिन्दी की रक्षा के लिए उन्हें खड़ा होना पड़ा और वे इस कार्य में बराबर चेष्टाशील रहे। यह झगड़ा बीसों वर्ष तक भारतेन्दु के समय तक रहा।

गार्सा द तासी एक फ्रांसीसी विद्वान् ने, जो पेरिस में हिन्दुस्तानी या उर्दू के अध्यापक थे, फ्रांस में बैठे-बैठे इस झगड़े में योग दिया। पहले वे उर्दू के पक्षपाती होते हुए भी हिन्दी को देश की भाषा मानते थे। "यद्यपि मैं खुद उर्दू का पक्षपाती हूं लेकिन मेरे विचार में हिन्दी को विभाषा या बोली कहना उचित नहीं।" जैसे मुसलमान लोग इस झगड़े में मजहबी नुसखा काम में ला रहे थे उसी प्रकार तासी ने भी वैसा ही किया। अब वह हिन्दी को एक विभाषा घोषित करने लगे और मजहबी जोश को उभारने के लिए उन्होंने लिखा—'हिन्दी में हिन्दू धर्म का आभास है—वह हिन्दू धर्म जिसके मूल में बुतपरस्ती और उसके आनुषंगिक विधान हैं। इसके विपरीत उर्दू में इस्लामी साँस्कृतिक और आचार-व्यवहार का संचय है। इस्लाम भी सामीमत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धान्त है, इसलिए इस्लामी तहजीब में ईसाई या मसीही तहजीब की विशेषताएँ पाई जाती हैं।" आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"विरोध प्रबल होते हुए भी जैसे देश भर में प्रचलित अक्षरों और वर्णमाला को जोड़ना असम्भव था वैसे ही परम्परा से चले आते हुए हिन्दी-साहित्य को भी। अतः अदालती भाषा उर्दू होते हुए भी शिक्षा-विधान में देश की असली भाषा हिन्दी को भी स्थान देना ही पड़ा। काव्य साहित्य तो प्रचुर परिमाण में भर पड़ा था। अतः जिस रूप में वह था उसी रूप में उसे लेना ही पड़ा। गद्य की भाषा को लेकर खींच-तान आरम्भ हुई। इसी खींच-तान के समय में राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद मैदान में आये।"

राजा द्वयी—शिवप्रसाद—इस हिन्दी उर्दू संघर्ष में दोनों राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद और राजा लक्ष्मणसिंह हिन्दी के पक्षपाती एवं संरक्षक बन कर सामने

आये। अनेक विघ्न-बाधाओं के होने पर भी शिवप्रसाद ने हिन्दी के उद्धार-कार्य में महत्त्वपूर्ण योग दिया। शिक्षा विभाग में इंस्पेक्टर होने से पूर्व इन्होंने काशी से बनारस अखबार निकालना शुरू किया जिसकी भाषा में उर्दू का काफी पुट था। सैय्यद अहमद खाँ की भाँति आप भी अंग्रेजों के कृपाभाजन थे। इन्हीं के प्रयत्नों से कम्पनी सरकार को स्कूलों में हिन्दी-शिक्षा को स्थान देना पड़ा। शिवप्रसाद पहले हिन्दी में संस्कृत के शब्दों के प्रयोग के समर्थक थे किन्तु बाद में उनकी विचारधारा आम फहम भाषा सम्बन्धी हो गई और उनकी भाषा में उर्दू का पुट आने लगा। इसका एक विशेष कारण था, उन्होंने देखा कि शिक्षा विभाग में मुसलमानों का दल अधिक शक्तिशाली है। अतः उन्होंने किसी एक पक्ष का समर्थन न कर मध्यवर्ती मार्ग का अवलम्बन किया। इन्होंने स्कूलों में हिन्दी पाठ्य पुस्तकों का अभाव देखकर स्वयं भी पुस्तकें लिखीं और अपने सहयोगियों के द्वारा भी पुस्तकें लिखवाई। राजा शिवप्रसाद ने पं० वंशीधर, श्रीलाल और बद्रीलाल आदि से इतिहास, अर्थशास्त्र और न्याय-शास्त्र आदि की पाठ्य-पुस्तकें तैयार करवाई। इनकी अपनी लिखी हुई रचनाएँ हैं—आलसियों का कीड़ा, राजा भोज का सपना, भूगोल हस्तामलक, इतिहास तिमिर नाशक, गुटका, हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल, मानव धर्म सार, सिक्ख का उदय और योगवाशिष्ठ के चुने हुए श्लोक, उपनिषद् सार आदि। उनकी भाषा में दो रूपों का मिलना उस समय की हिन्दी-उर्दू समस्या के हल करने का प्रयत्न था। राजा जी ने बड़े विकट समय में बड़ी दक्षता के साथ हिन्दी की रक्षा की, इसमें कोई भी सन्देह नहीं।"

राजा लक्ष्मणसिंह—शिवप्रसाद की समझौतावादी नीति के कट्टर विरोधी थे। उनकी यह धारणा थी कि बिना उर्दू के शब्दों के प्रयोग के हिन्दी का सुन्दर गद्य लिखा जा सकता है। ये हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्द के पक्षपाती थे। इनकी भाषा में यथासाध्य उर्दू, फारसी तथा तद्भव शब्द नहीं आ पाये हैं, यही कारण है कि कहीं-कहीं इनकी भाषा में कृत्रिमता आ गई है। इन्होंने सदासुखलाल की विशुद्ध भाषा का आदर्श अपने सामने रखा। इन्होंने रस-संवलित सरल और सुबोध भाषा के प्रचार के लिए आगरा से 'प्रजाहितैषी' नाम का एक पत्र निकाला और कालिदास के रघुवंश अभिज्ञान-शाकुन्तल तथा मेघदूत का हिन्दी में अनुवाद किया डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा इनकी भाषा-शैली के सम्बन्ध में लिखते हैं—"जितना पुष्ट और व्यवस्थित गद्य उनकी रचना में मिला उतना पूर्व के किसी भी लेखक की रचना में नहीं उपलब्ध हुआ था। गद्य के इतिहास में इतना स्वाभाविक विशुद्धता का प्रयोग उस समय तक किसी ने नहीं किया था। इस दृष्टि से राजा लक्ष्मणसिंह का स्थान तत्कालीन गद्य साहित्य में सर्वोच्च है। यदि राजा साहब विशुद्धता लाने के लिए बद्धपरिकर होने में कुछ भी आगा-पीछा करते तो भाषा का आज कुछ और ही रूप होता।"

जिस प्रकार दोनों राजाओं के सप्रयत्नों से संयुक्त प्रान्त में हिन्दी का प्रचार कार्य आरम्भ हुआ, उसी प्रकार उनके समसामयिक बाबू नवीनचन्द्र राय ने पंजाब में समाज-सुधार तथा हिन्दी-प्रचार-कार्य आरम्भ किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने समय-समय पर पत्रिकायें निकाली तथा अनेक पुस्तकें भी लिखीं। नवीनचन्द्र की प्रेरणा के फलस्वरूप पंडित सुखदयाल शास्त्री ने भी इस कार्य में योग दिया। इसी बीच पंजाब के अत्यन्त प्रतिभाशाली लेखक श्रद्धाराम फुल्लौरी का साहित्य क्षेत्र में आगमन हुआ। ये संस्कृत के प्रकांड पंडित थे और हिन्दी, उर्दू तथा पंजाबी में लिखा करते थे, किन्तु इन्होंने अपनी मुख्य पुस्तक हिन्दी में ही लिखी। इन्होंने पंजाब के नगरों और गाँवों में घूमकर व्याख्यान, उपदेश तथा रामायण एवं महाभारत की कथायें सुनाईं। उनके व्याख्यानों के अनेक संग्रह प्रकाशित हुए। इनकी पुस्तक "सत्यामृत प्रवाह" धार्मिक सिद्धान्त-विवेचन तथा भाषा की प्रौढ़ता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बन पड़ी है। इन्होंने 'भाग्यवती' नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी लिखा।

ईसाई धर्म प्रचार की प्रतिक्रिया—ईसाइयों का व्यापक और संगठित धर्म प्रचार का कार्य हिन्दुओं को बहुत बुरा लगा, क्योंकि इसका प्रभाव हिन्दुओं पर भी पड़ा और काफी संख्या में हिन्दुओं ने धर्म परिवर्तन कर लिया। धर्म प्रचारकों ने हिन्दू धर्म की कर्मकांड बहुदेवोपासना, बाह्याडम्बर एवं सामाजिक कुरीतियों की कड़ी निंदा कर स्वधर्म-प्रचार के लिए अनुचित लाभ उठाया। बंगाल में इसकी प्रतिक्रिया हुई। राजाराममोहन राय वेदान्त और उपनिषदों का ज्ञान लेकर आगे आये और उन्होंने वहाँ ब्रह्म-समाज की स्थापना की। उन्होंने मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, और स्पृस्या-स्पृश्य की भावना को दूर करके शुद्ध ब्रह्मोपासना का प्रचार किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने वेदान्त सूत्रों का हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित कराया तथा बंगदूत नाम का एक संवाद पत्र भी निकाला।

इधर उत्तरी-भारत में स्वामी दयानन्द के वैदिक धर्म-प्रचार और आर्यसमाज की स्थापना के रूप में ईसाई-धर्म की घोर प्रतिक्रिया हुई। स्वामी जी के वैदिक धर्म-प्रचार ने जनता को अपनी ओर बहुत आकर्षित किया। इन्होंने हिन्दुस्तान को आर्यावर्त तथा हिन्दी को आर्यभाषा का नाम दिया तथा प्रत्येक आर्य के लिए आर्यभाषा का पढ़ना आवश्यक ठहराया। स्वामी दयानन्द तथा उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने हिन्दी भाषा के प्रचार में जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, वह चिरस्मरणीय है। स्वामी दयानन्द की आलोचना में खंडनात्मकता की प्रवृत्ति अधिक थी, इसीलिए उसमें कट्टरता भी बहुत थी। उन्होंने अपनी पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' में ईसाई तथा मुस्लिम धर्मों की भर्त्सनामयी आलोचना की है। इसके अतिरिक्त इन्होंने वेदांगप्रकाश, संस्कार विधि, ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका तथा वेदों के भाष्य आदि कई पुस्तकें लिखीं। उनकी भाषा तत्सम शब्दों से युक्त विशुद्ध हिन्दी है, जिसमें उर्दू शब्दों का सर्वथा बहिष्कार है। आज की हिन्दी में जो तर्क-शक्ति है उसका बहुत कुछ श्रेय स्वामी दयानन्द

तथा उनके आर्यसमाज को है। आर्यसमाज के आन्दोलन ने उत्तरी भारत में हिन्दी प्रचारार्थ महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है और दे रहा है अनेक शिक्षा-संस्थाओं के द्वारा तथा अपने कृती लेखकों के द्वारा। पंजाब में हिन्दी प्रचार का प्रायः समूचा श्रेय आर्यसमाज को ही है।

अभी तक हमने हिन्दी गद्य के निर्माणकार्य की जिन गतिविधियों का उल्लेख किया है, उनसे यह बात स्पष्ट है कि अब तक हिन्दी गद्य में गतिशीलता तो अवश्य आ गई थी, किन्तु उसमें गद्य के अनेक अंगों की श्रीवृद्धि नहीं हुई थी और न ही उसमें भाषा का आदर्श रूप स्थिर हो सका था। भारतेन्दु के सामने गद्य की दो शैलियां उपस्थित थीं—एक तो उर्दू, फारसी के शब्दों से लदी खिचड़ी और दूसरी संस्कृतमयी विशुद्ध शैली। भारतेन्दु ने मध्यमार्ग को अपनाया। उनकी भाषा भावानुसारिणी, सरल एवं स्वाभाविक है और उसमें किसी प्रकार का बन्धन नहीं हैं। भारतेन्दु एवं उसकी लेखक मंडली ने हिन्दी गद्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस काल में गद्य के विविध अंगों—नाटक,उपन्यास एवं निबन्ध का विकास हुआ और आलोचना का भी श्रीगणेश हो गया, किन्तु इस अंग का यथेष्ट विकास आगे चलकर हुआ। निःसन्देह इस काल में गद्य के अवधि अंगों का विकास हुआ और "सब मिलि बोलहु एक जबान हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान।" की घोषणा करने वाले कवियों ने हिन्दी का प्रचार भी खूब किया, किन्तु उनकी भाषा में व्याकरण सम्बन्धी अव्यवस्था ज्यों की त्यों बनी रही, जिसकी पूर्ति आगे चलकर आधुनिक हिन्दी-साहित्य के पितामह श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा हुई। भाषा की व्याकरण-सम्बन्धी शिथिलता और दुर्बलता का परिहार करके इन्होंने भाषा का परिष्कार तथा संस्कार किया। इन्होंने भाषा में विराम आदि चिन्हों का प्रचलन किया, विषयानुसार गद्यशैली के आदर्श की प्रतिष्ठा की, भाषा में उच्छृंखलता के स्थान पर संयम लाये वाक्य-विन्यास सम्बन्धी अव्यवस्था को दूर किया और हिन्दी गद्य में परिपक्वता और प्रौढ़ता आई। इस काल में गद्य-लेखन की विविध-शैलियों का प्रचलन हुआ। हिन्दी-गद्य के नाटक और उपन्यास आदि अंगों का भारतेन्दुकाल में आरम्भ हुआ था, अब उनमें प्रौढ़ता आई। प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल तथा प्रसाद आदि प्रतिभाशाली लेखकों ने अपनी कलात्मक विविध-शैलियों से हिन्दी गद्य के विभिन्न क्षेत्रों को सनाथ किया। छायावादी युग में क्या शैली, क्या भाषा और क्या विषय सभी क्षेत्रों में एक अभिनव कलात्मकता, मसृणता, विविधता और गहराई आई। छायावादोत्तर युग में नाटक, उपन्यास, आलोचना, कहानी, जीवन-चरित्र और निबन्ध आदि गद्य के अनेक अंगों का यथेष्ट विकास हुआ। गद्य के प्रत्येक क्षेत्र में शैली-सम्बन्धी विविध प्रयोग हुए, जिसमें लेखक के व्यक्तित्व का भली भांति प्रस्फुटन हुआ। ये विशेषताएँ भाषा की प्रौढ़ता और परिष्कार का परिचय देती हैं।

लेकिन आज के गद्य में कुछ खटकने वाली बातें भी हैं—

(क) लेखक-वर्ग निरंकुशतापूर्वक शब्दों का प्रयोग कर रहा है जैसा कि

उनका कोई स्थिर रूप ही न हो। (ख) कुछ क्रियाओं का रूप भी चिन्तनीय है जैसे दीख, दिखाई, दिखलाई, देखाई, सभी रूप प्रयुक्त हो रहे हैं। कम से कम इस विषय में निश्चयात्मकता होनी चाहिये अन्यथा भाषा में रूपस्थिरता नहीं आ सकेगी। (ग) हिन्दी भाषा पर अनेक अन्य भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। प्रभाव पड़ना तो स्वाभाविक है किन्तु विचारणीय यह है कि उन भाषाओं के शब्दों को हिन्दी की प्रकृति के अनुसार खपाया जाय। इसके साथ यह प्रश्न भी विचारणीय है कि "अपनी भाषा में पाचन-शक्ति का विकास करते-करते कहीं हम उसकी उद्भावन शक्ति का ह्रास न करने लगें। वर्तमान समय के लेखकों को इस विषय में सदैव जागरूक रहना चाहिए।"

—जगन्नाथप्रसाद शर्मा

हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास

आज से कुछ वर्ष पूर्व विद्वानों की यह धारणा थी कि नाटक का उद्भव और विकास १९ वीं शती में हुआ, किन्तु डॉ० दशरथ ओझा ने अपने महत्त्वपूर्ण अनुसंधान द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि नाटक का उद्भव १३ वीं शती में हुआ। उनके मतानुसार हिन्दी का सर्व प्रथम नाटक "गाय सुकुमार रास" है जिसकी रचना सं० १२८९ में हुई उन्होंने रास नाम धारी नाटकों के तीन रूपों की चर्चा की है किन्तु डॉ० ओझा द्वारा चर्चित नाट्य रासकों में नाटकीय तत्त्वों, अभिनेयता आदि का सर्वथा अभाव देखते हुए उन्हें हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक घोषित करना सर्वथा निरापद नहीं है।

डॉ० ओझा ने मैथिली नाटकों, रासलीला विषयक नाटकों तथा पद्यवद्ध नाटकों की भी चर्चा की है। मिथिला भाषा में उपलब्ध नाटक वास्तव में हिन्दी के प्राचीन-तम नाटक माने जा सकते हैं क्योंकि इनमें अपेक्षित नाटकीय तत्त्वों का समावेश मिलता है। महाकवि विद्यापति द्वारा रचित अनेक नाटक बताये जाते हैं, जिनमें "गोरख विजय" उपलब्ध है। इसका गद्य भाग संस्कृत में तथा पद्य भाग मैथिली भाषा में है। मैथिली भाषा में अनेक नाटक प्रणीत हुए। मैथिली नाट्य परम्परा का प्रभाव नेपाल, आसाम तथा उड़ीसा प्रान्त की भाषाओं पर भी पड़ा। रासलीला सम्बन्धी नाटकों का विकास ब्रजप्रदेश में हुआ। रासलीला सम्बन्धी नाटकों में नृत्य गीत और कविताओं की प्रधानता है और नाटक के अपेक्षित तत्त्वों का समावेश कम है। इस प्रकार के नाटक आज भी देश के विभिन्न भागों में रास मंडलियों द्वारा दिखलाये जाते हैं। सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी में कतिपय पद्य-बद्ध नाटकों की रचना हुई, जिनमें रामायण महानाटक, हनुमन्नाटक, समयसार नाटक तथा प्रबोध चन्द्रोदय आदि उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार के पद्य-बद्ध नाटकों की परम्परा १९ वीं शती तक चलती रही। इन नाटकों के विषय में यह स्मरण रखना होगा कि इनमें कविता की अत्यधिक प्रधानता है और नाटकीय तत्त्वों का अपेक्षाकृत अभाव है। प्रबोध-चन्द्रोदय को इस कथन का भले ही अपवाद समझा जा सकता है।

हिन्दी-साहित्य में नाटकों का वास्तविक आरम्भ भारतेन्दु काल से ही हुआ। यद्यपि यह परम्परा पद्य-बद्ध नाटकों के रूप में हिन्दी और मैथिली भाषा में पहले से चली आती थी। इन पद्य-बद्ध नाटकों पर संस्कृत नाटकों की ह्रासोन्मुख परम्परा का स्पष्ट प्रभाव है। भारतेन्दु काल से पूर्व हिन्दी में नाटकों के अपेक्षाकृत अभाव को देखकर कुछ विद्वानों ने इसके नाना कारण बताये हैं—(क) गद्य का अभाव, (ख) मूर्ति पूजा-विरोधी मुसलमानों का शासन काल, (ग) सन्तों की निराशामूलक वाणी। किन्तु हमारे विचार में ये सभी कारण सतही ही हैं। नाटकों के उदय और अभीष्ट विकार के लिये राष्ट्रीय जीवनोल्लास एवं सांस्कृतिक चेतना का होना अनिवार्य है। भारतेन्दु-काल से पूर्व राष्ट्र के जीवन में सांस्कृतिक चेतना का प्राय: लोप हो चुका था और रीतिकाल में चिन्तनहीनता अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। इसके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य को ह्रासोन्मुख संस्कृत-नाटकों की पिछली परम्परा मिली जिसमें जीवन के प्रेरक तत्त्वों का अभाव था। ऐसी स्थिति में भारतेन्दु-काल से पूर्व यदि हिन्दी-साहित्य में नाटकों का अभीष्ट विकास नहीं भी हो सका तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

१७वीं और १८वीं शताब्दी में कुछ पद्यबद्ध नाटकों की रचना हुई। इन नाटकों में रामायण, महाभारत, हनुमन्नाटक, समयसार, चंडीचरित्र, प्रबोध चन्द्रोदय, शकुन्तला नाटक, सभासार नाटक, करुणाभरण हैं। १६वीं शती में भी इस परम्परा में नाटक लिखे गये—माधव विनोद नाटक, जानकी रामचरित नाटक, रामलीला बिहार नाटक, प्रद्युम्न विजय नाटक, आनन्द रघुनन्दन आदि, जिनमें अभिनेयता का सर्वथा अभाव है। इन पर संस्कृत के नाटककार मुरारि, राजशेखर, जयदेव, क्षेमीश्वर आदि का स्पष्ट प्रभाव है। राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल आदि का अनुवाद किया।

नये उन्मेष का युग : भारतेन्दु काल—भारतेन्दु काल राष्ट्रीय जागरण तथा नव सांस्कृतिक चेतना का उन्मेष युग है। इसमें जहाँ एक ओर जन-सामान्य में राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ वहाँ दूसरी ओर सामाजिक और धार्मिक जागरूकता आई। नव जागृति के संक्रमण काल में जन-जीवन में राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक चेतना के लिए उस युग में नाटकों का माध्यम अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ।

भारतेन्दु के सजग व्यक्तित्व ने तत्कालीन जागरण के सभी प्रमुख तत्त्वों को कलात्मक रूप से आत्मसात् किया। भारतेन्दु का आधुनिक हिन्दी-साहित्य में वही स्थान है जो रूसी साहित्य में पुश्किन का। भारतेन्दु तथा उनके समसामयिक नाटककारों की कृतियों में जनता की आशाओं और आकांक्षाओं का सर्वप्रथम हिन्दी में सजीव चित्रण हुआ। भारतेन्दु ने अपने पिता द्वारा लिखे गये 'नहुष' नाटक का भी उल्लेख किया है, किन्तु वह आधुनिक नाटकों के लक्षणों की पूर्ति नहीं करता है, वह एक पद्यबद्ध नाटक है। भारतेन्दु कृत नाटक हिन्दी के सर्वप्रथम नाटक माने जा सकते

हैं। भारतेन्दु जी ने संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला भाषा के नाटकों का विस्तृत अध्ययन किया था और उन्होंने तत्कालीन रंगमंच की आवश्यकताओं को भी खूब समझा था। भारतेन्दु जी ने पारसी कम्पनियों की अर्थार्जन तथा सस्तेपन की दूषित प्रवृत्तियों को खुले नेत्रों से देखा था, अतः उनके नाटकों का सर्वप्रथम लक्ष्य जनता की रुचि का परिष्कार करना रहा। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में 'यदि हम एक ऐसा नाटककार ढूंढें जिसने नाटकशास्त्र के गम्भीर अध्ययन के आधार पर नाट्य-कला पर सैद्धान्तिक आलोचना लिखी हो, जिसने प्राचीन और नवीन, स्वदेशी और विदेशी नाटकों का अध्ययन व अनुवाद किया हो, जिसने वैय-क्तिक सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक और मौलिक नाटकों की रचना की हो, और जिसने नाटकों की रचना ही नहीं, अपितु उन्हें रंगमंच पर खेलकर भी दिखाया हो—इन सब विशेषताओं से सम्पन्न नाटककार हिन्दी में ही नहीं, समस्त विश्व-साहित्य में केवल दो-चार मिलेंगे और उन सब में भारतेन्दु का स्थान उन सबसे ऊँचा होगा।"

विषय—भारतेन्दु तथा उनके समकालीन नाटककारों ने जीवन के विविध क्षेत्रों से कथा वस्तु का चयन किया है। कहीं उसमें सामाजिक और धार्मिक समस्याएँ हैं तो कहीं ऐतिहासिक और पौराणिक इतिवृत्त के ब्याज से सांस्कृतिक जागरण का दिव्य सन्देश है और कहीं-कहीं उसमें ऐकान्तिक प्रेम का चित्रण है। भारतेन्दु के 'सती प्रताप' और 'नीलदेवी' में आर्य ललनाओं के लिए भारतीय संस्कृति की महत्ता का शुभ सन्देश है। कुछ आलोचकों ने इन नाटकों को देखकर इस प्रवृत्ति को पलायनवादी रोमानी दृष्टिकोण कहा है, किन्तु यह संगत नहीं है। भारतेन्दु के इन नाटकों का उद्देश्य चरित्र-सुधार है, जिसे इन्होंने अपने "सत्य हरिश्चन्द्र" की भूमिका में स्पष्ट कर दिया था। इसी प्रकार के सांकृतिक उद्बोधनात्मक प्रयास इस काल के अन्य नाटककारों में भी देखे जा सकते हैं। शालिग्राम का मोरध्वज, भोजदेव उपाध्याय का सुलोचना सती, राधाकृष्ण दास का महाराणा प्रताप, श्रीनिवासदास का संयोगिता स्वयंवर तथा प्रतापनारायण मिश्र का हठी हम्मीर आदि ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाटक इसी साँस्कृतिक जागरण के फलस्वरूप लिखे गये।

'प्रेम जोगिनी' में भारतेन्दु ने अनेक प्रकार की सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया है। राधाकृष्णदास का 'दुःखिनी बाला' तथा प्रतापनारायण मिश्र का 'गोसंकट' ऐसे नाटक हैं जिनमें बाल-विवाह और गोहत्या-सम्बन्धी समस्याएँ हैं।

भारतेन्दु के 'भारत दुर्दशा' में राष्ट्र प्रेम का उभरा हुआ रूप है। इस नाटक के आरम्भ में ही भारतेन्दु जी ने कह दिया—"अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी, पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।" इस नाटक का अन्त अत्यन्त निराशा एवं दुःख में होता है। भारतेन्दु के इस नाटक के आधार पर चौधरी बदरीनारायण प्रेम-घन ने 'भारत सौभाग्य' नाटक लिखा।

इस काल में व्यंग्य-विनोदपूर्ण प्रहसनों की भी सुन्दर सृष्टि हुई। इन नाटकों में सामाजिक जीवन की असंगतियों तथा धर्म के मिथ्या आडम्बरों पर तीखी मीठी चोटें की गई हैं। भारतेन्दु के "वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' में माँस-भक्षियों पर गहरा व्यंग्य है और उनके 'अन्धेर नगरी' में अव्यवस्थित राज्य पर गहरी चोट है। बालकृष्ण भट्ट का 'शिक्षादान' प्रतापनारायण मिश्र का 'कलि-कौतुक' और राधाचरण गोस्वामी का 'बूढ़े मुँह मुहासे' आदि भी प्रहसन हैं किन्तु इनमें भारतेन्दु जैसा तीखापन नहीं है। देवकीनन्दन त्रिपाठी के रक्षा-बन्धन, एक-एक में तीन-तीन, चरित्र और वेश्या-विलास आदि प्रहसन भी काफी लोकप्रिय हुए। वर्ग-संघर्ष के व्यंग्यों की तीव्रता जो इस काल के नाटकों में मिलती है वह हिन्दी में अन्यत्र नहीं है।

हिन्दी नाटकों के इस प्रारम्भिक काल में लेखकों जा ध्यान अनुवाद की ओर भी गया। संस्कृत के कर्पूरमंजरी, पाखंड-विडंबन, धनंजय विजय और मुद्राराक्षस आदि नाटकों का अनुवाद किया। इनका विद्यासुन्दर बंगला का अनुवाद है। भारतेन्दु ने मौलिक, अनूदित तथा रूपान्तरित तीन प्रकार के नाटकों का प्रणयन किया। संस्कृत नाटकों का अनुवादकर्ताओं में लाला सीताराम, अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद-कर्ताओं में तोताराम और बंगला नाटकों के अनुवादकर्ताओं में रामकृष्ण वर्मा का नाम उल्लेखनीय है।

शैली—शैली की दृष्टि से भारतेन्दु एवं उसके समकालीन लेखकों के नाटकों में बहुत कुछ संस्कृत के नाटकों की परम्परा का पालन किया गया। नान्दी पाठ, भरत वाक्य, अंकावतार और विष्कंभक का प्रयोग इस तथ्य का स्पष्ट द्योतक है। इन नाटकों में संस्कृत नाटकों के समान काव्यात्मक वातावरण भी ज्यों का त्यों है और साथ-साथ रीतिकालीन कविता की चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है। कहीं-कहीं पर नाट्य शैली का भी प्रभाव है।

कथोपकथन कहीं-कहीं पर अपेक्षाकृत लम्बे हैं जिनमें उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति स्पष्ट झलकती है। चरित्रों का व्यक्तित्व स्वतन्त्र रूप से विकसित न होकर नाटककार के निजी व्यक्तित्व के साथ लिपटा रहा है, यह कमी आगे चलकर प्रसाद के नाटकों में पूरी हुई। भाषा सरल, स्वाभाविक और पात्रानुसारिणी है। इन नाटकों में पद्य में ब्रज-भाषा का प्रयोग हुआ है। पात्रों की योजना की दृष्टि से इस काल का नाटक साहित्य काफी महत्त्वपूर्ण है। इस युग का नाटक साहित्य जन-जीवन के बहुत समीप था और इसने तत्कालीन परिस्थितियों एवं समस्याओं को यथार्थ रीति से प्रतिबिम्बित किया।

सुधारवादी द्विवेदी युग—भारतेन्दु-युग के नाटकों में जन-जीवन की जिस निकटता का परिचय मिलता है वह प्रस्तुत युग के नाटकों में नहीं। इस युग के नाटककारों को एक तो परम्परागत रंगमंच उपलब्ध नहीं हो सका और दूसरे, इस बीच लगातार मध्य वर्ग की वृद्धि के कारण लोक-जीवन से इनका सहज सम्बन्ध

भी टूट गया। इस युग के लेखक आर्यसमाज की नैतिकता तथा गांधी जी की सात्विकता एवं आदर्शवादिता से अत्यन्त प्रभावित हैं। तत्कालीन देशव्यापी सांस्कृतिक और राजनीतिक आन्दोलनों का भी इस युग पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। फलतः सुधार-वाद इस युग के समूचे साहित्य का प्रधान स्वर था। इस युग की समस्त साहित्यिक चेतना महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथों में थी। द्विवेदी जी तथा इस काल के अन्य लेखकों ने वस्तु, शैली और भाषा सभी क्षेत्रों में सुधार एवं संस्कार लाने के लिए सक्रिय योग दिया। इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता के कारण मौलिक उद्भावनाओं के लिए बहुत कम अवकाश रह गया, अतः इस युग में नाटकों के अनुवादों की भरमार रही, मौलिक नाटक बहुत कम लिखे गये। भारतेन्दु-युग में नाटक-साहित्य का विकास जिस तीव्रता से हुआ था उसमें प्रसाद के आगमन से पूर्व तक कुछ भी उन्नति नहीं हुई।

भारतेन्दु-युग के नाटकों के अनुवादों का क्रम इस युग में भी जारी रहा। इस युग के प्रारम्भिक वर्षों में बंगला के नाटककार डी० एल० राय तथा गिरीश घोष के नाटकों का अनुवाद अत्यधिक हुआ और एक प्रकार से मौलिक नाटकों का क्रम बन्द हो गया। इस काल के नाटककारों में नारायणप्रसाद 'वेताब' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके नाटकों के प्रभाव के परिणामस्वरूप पारसी कम्पनियों के नाटकों की भाषा में उर्दू के स्थान पर हिन्दी का प्रयोग होने लगा। इनकी प्रेरणा को पाकर राधेश्याम कथावाचक, आगा हश्र काश्मीरी, तुलसीदास शैदा तथा हरिकृष्ण जौहर ने नाटक लिखे, जो कि रंगमंच पर खेले जा सकते थे। इन नाटक-कारों ने पौराणिक, संत चरित्रों पर आधृत, सामाजिक एवं प्रेमलीला-पूर्ण नाटक लिखे और कुछ नाटकों का अनुवाद भी किया। राधेश्याम का भक्त प्रह्लाद, कृष्णचन्द्र का भारत-दर्पण या कौमी तलवार, श्रीकृष्ण हसरत का महात्मा कबीर मुख्य हैं। शेक्सपीयर के नाटकों से प्रभावित होकर आगा हश्र ने कलियुगी साधु तथा जमुनादास मेहरा ने पाप परिणाम नामक नाटकों में हास्यरस की सृष्टि की। प्रहसन के लिए इस काल के लेखकों को एक व्यापक क्षेत्र मिला। बद्रीनाथ भट्ट के 'विवाह विज्ञापन' तथा 'मिस अमेरिका' नामक प्रहसनों में विषय सम्बन्धी नवीनता को प्रदर्शित किया है। जे० पी० श्रीवास्तव ने भी अनेक प्रहसन लिखे, किन्तु उनका स्तर भी इतना ऊँचा नहीं है।

भारतेन्दु-युग की अपेक्षा इस युग में ऐतिहासिक नाटक अधिक लिखे गये। विषयों के चुनाव में सात्विकता को अधिक ध्यान में रखा गया। जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का तुलसीदास, वियोगी हरि का प्रबुद्ध यामुने, मिश्र-बन्धुओं का शिवाजी इसी प्रकार के नाटक हैं। कर्बला नाटक में प्रेमचन्द ने मुसलमानी संस्कृति के प्रति पूर्ण सहानुभूति रखी है। इस काल के अन्य नाटककार तथा उनकी रचनाएँ हैं—माखनलाल चतुर्वेदी का कृष्णार्जुन युद्ध तथा गोविन्दवल्लभ पन्त का वरमाला आदि। विषय की दृष्टि से इस काल के नाटकों को निम्न भागों में विभक्त किया जा सकता

है—(१) कृष्ण चरित पर लिखे गये नाटक, (२) सन्त चरित से सम्बद्ध नाटक, (३) प्रेम-लीला पूर्ण नाटक, (४) पौराणिक नाटक, (५) ऐतिहासिक तथा राष्ट्रीय नाटक, (६) सामाजिक नाटक, (७) हास्य एवं व्यंग्यपूर्ण नाटक और (८) अनूदित नाटक।

भारतेन्दु-काल के उपरान्त प्रसाद-युग के आरम्भ के बीच के काल में नाटक संख्या में तो कम भी नहीं लिखे गये, किन्तु इस काल में प्रायः प्रतिभाशाली नाटक-कारों का अभाव ही रहा है। इस काल में नाटकीय शैली एवं शिल्प-विधान में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ।

प्रसाद एवं प्रसादोत्तर युग—भारतेन्दु के पश्चात् प्रसाद जैसा सर्वांगीण प्रतिभाशाली, रचनात्मक व्यक्तित्व-सम्पन्न दूसरा कोई भी कलाकार हिन्दी में उत्पन्न नहीं हुआ। हिन्दी नाटकों के विकास का जो आरम्भ भारतेन्दु-युग में हुआ था वह प्रसाद-युग में अपने पूर्ण उत्कर्ष को पहुंचा। वस्तुतः वे इस क्षेत्र के सम्राट् हैं और वह इसलिए नहीं कि उन्होंने नवीन शैली से नाटकों का शृंगार किया, बल्कि इसलिये कि उन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी नाटक के पात्रों को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करके उनमें शील-वैचित्र्य का समावेश किया और उनके अन्तर्द्वन्द्व का कलात्मकतापूर्ण चित्रण किया। जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों में पाश्चात्य तथा भारतीय नाट्य कला का सुन्दर सामंजस्य किया है। इनके नाटक रस-संवलित तथा चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व से सम्पन्न हैं। भारतीय नाटकों का उद्देश्य रस-संचार करना है जबकि पाश्चात्य नाट्य-परम्परा इससे भिन्न है, उसमें विषय-वस्तु तथा चरित्र-चित्रण पर बहुत जोर दिया जाता है और विभिन्न परिस्थितियों में संघर्ष करते मानव का समस्त अन्तर्द्वन्द्व दर्शाया जाता है। वैसे तो भारतेन्दु ने भी अपने बाद के नाटकों में संस्कृत नाटकों की मंगला-चरण, नान्दी-पाठ तथा प्रस्तावना का बहिष्कार कर दिया था, किन्तु प्रसाद ने तो इन्हें अनावश्यक जानकर इनका सर्वथा बहिष्कार कर दिया। इनके नाटक न तो दुःखान्त हैं और न ही सुखान्त बल्कि प्रसादान्त हैं। "उनके नाटकों का अन्त ऐसी वैराग्यपूर्ण भावना से होता है कि जिसमें नायक की विजय तो हो जाती है किन्तु वह स्वयं उपभोक्ता न बनकर प्रतिनायक को ही लौटा देता है। इस प्रकार के विचित्र अन्त को प्रसादान्त की संज्ञा दी गई है।"

ऐतिहासिक नाटक—प्रसाद जी ने अनेक प्रकार के नाटक लिखे हैं—चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, विशाख, राजश्री इनके ऐतिहासिक नाटक हैं। ध्रुवस्वामिनी ऐतिहासिक नाटक होते हुए भी समस्यामूलक नाटक है। जनमेजय का नाग-यज्ञ पौराणिक नाटक है। सज्जन, कल्याणी-परिणय, प्रायश्चित, एक घूँट और करुणालय इनके एकांकी हैं। करुणालय हिन्दी का पहला गीति-नाटक है। कामना एक प्रतीकात्मक नाटक है।

ऐतिहासिक नाटकों में राजश्री उनकी प्रथम कृति है जिसमें उन्होंने समाट् राज्यवर्धन तथा हर्षवर्धन की बहिन, कान्यकुब्ज-नरेश ग्रहवर्मा की पत्नी राजश्री की

कथा को लिया है। इस नाटक में राजश्री के वृत्तान्त के साथ-साथ हर्षकालीन भारत का भी चित्रण किया गया है। विशाख का कथानक कल्हण की राजतरंगिणी से लिया गया है। अजातशत्रु में अजातशत्रु-सम्बन्धी मिथ्या धारणा का, कि उसने अपने पिता का वध करके राज्य प्राप्त किया, जहाँ निवारण किया वहीं बौद्धकालीन भारत को भी प्रतिविम्बित किया गया है। चन्द्रगुप्त इनका सबसे बड़ा नाटक है, जिसकी कथा-वस्तु अत्यन्त जटिल है। इसमें उन्होंने यह सिद्ध किया है कि चन्द्रगुप्त मौर्य पिप्पली कानन के क्षत्रिय थे। इस नाटक में मौर्य-राज्य की स्थापना का विस्तृत चित्र दिया गया है। स्कन्दगुप्त में स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य द्वारा भारत से हूणों को खदेड़ना, भारत का केन्द्रीयकरण तथा रामगुप्त के लिये स्कन्दगुप्त का आत्मोत्सर्ग दिखाया है। ध्रुव-स्वामिनी का कथानक भी गुप्तकाल से सम्वद्ध है। इसमें उन्होंने गुप्तकाल के रहस्य पर प्रकाश डाला है। जनमेजय के नाग-यज्ञ में उन्होंने आर्य और नाग जातियों का संघर्ष दिखाया है। इसमें महाराज परीक्षित का वर्णन है।

प्रसाद ने अपने नाटकों द्वारा भारतीय इतिहास की विच्छिन्न कड़ियों को जोड़ने का स्तुत्य प्रयास किया है। इन्होंने इस सम्वन्ध में 'विशाख' की भूमिका में लिखा है—"मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराना है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।" उनकी यह दृढ़ धारणा है कि किसी भी जाति के आदर्श के निर्माणार्थ ऐतिहासिक अनुशीलन परमावश्यक है और इससे जाति का वर्तमान प्रकाशमय होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कहीं-कहीं पर काल्पनिक घटनाओं और पात्रों की कल्पना भी की है, किन्तु इससे ऐतिहासिकता पर कोई आघात नहीं पहुंचा। उनके ऐतिहासिक नाटकों में भारतीय संस्कृति के प्रभावोत्पादक चित्र हैं, वर्तमान का जीवन्त सन्देश तथा भविष्य की आशामय प्रेरणा है और इसके साथ-साथ उनमें देश-भक्ति तथा राष्ट्रीयता की गहरी छाप है। उनकी ऐतिहासिक गहरी सूझ-बूझ की प्रशंसा प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता राखालदास ने मुक्त-कंठ से की है—"प्रसाद जी ने अनेक स्थलों पर हमारे इतिहास-ज्ञान में संशोधन किया है।"

प्रसाद के नाटकों पर प्रायः ये दोष लगाये जाते हैं कि उनकी भाषा क्लिष्ट है, शैली दुरूह है, उनमें काव्यमयता और यत्र-तत्र दार्शनिकता है, इसलिए साधारण पाठक उन्हें समझ नहीं सकता और कदाचित् वे अभिनय के योग्य नहीं हैं। अस्तु, प्रसाद को तत्कालीन सांस्कृतिक वातावरण को उपस्थित करने के लिए ऐसी शैली का आश्रय लेना पड़ा है। रही उनके नाटकों की अभिनेयता की बात, इस सम्बन्ध में शिवदानसिंह के शब्दों में कह सकते हैं—"उनके अधिकतर नाटक अभिनेय हैं, किन्तु अभी तक श्रेष्ठ कला के राष्ट्रीय रंगमंच के अभाव में अधिक खेले नहीं जा सके, जिससे यह भ्रम पैदा हुआ है। रंगमंच की सम्भावनाओं का अभी हमारे देश में पूरी तरह विकास ही नहीं हुआ। अतः पहले से ही ऐसी धारणाएँ बनाकर एक महान् कलाकार की कृतियों को अनुपयुक्त ठहरा देना अनुचित है।"

प्रसाद के समय में तथा उसके बाद अनेक ऐतिहासिक नाटक लिखे गए; किन्तु न उनमें ऐतिहासिक गहनता तथा न ही कलात्मक श्रेष्ठता है। ऐतिहासिक नाटककारों में प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, अश्क और जगदीशप्रसाद प्रमुख हैं। प्रेमी ने अपने नाटकों का विषय मुगलकाल के इतिहास से चुना। उनका रक्षाबन्धन तथा शिवासाधना प्रसिद्ध नाटक हैं। उन्होंने शपथ नाटक की कथावस्तु हूण-काल से ली है। इनकी शैली सरल है पर इनमें प्रसाद का औदात्य नहीं है। उदयशंकर भट्ट का सिंधपतन और विक्रमादित्य ऐतिहासिक नाटक हैं। गोविन्दवल्लभ पन्त का राजमुकुट सरल शैली में लिखा हुआ ऐतिहासिक नाटक है। सेठ गोविन्ददास का हर्ष भी अच्छा नाटक है। अश्क के जय-पराजय का कथानक राजपूती इतिहास से सम्बद्ध है। नाटकीय दृष्टि से यह रचना बहुत सुन्दर बन पड़ी है। जगदीश प्रसाद माथुर के ऐतिहासिक नाटक कोणार्क का कथानक उड़ीसा के ध्वस्त-मन्दिर से सम्बद्ध है। प्रसाद के बाद इस क्षेत्र में कोणार्क के प्रकाशित होने पर हिन्दी को आशा बंधी है कि उदीयमान यह नवीन प्रतिभा इस दिशा में और भी रचनात्मक कार्य करेगी।

पौराणिक और सामाजिक नाटक—प्रसाद के पौराणिक नाटक जनमेजय के नाग-यज्ञ का उल्लेख किया जा चुका है। पौराणिक नाटक लेखकों में सुदर्शन, गोविन्द-वल्लभ पन्त, सेठ गोविन्ददास, माखनलाल चतुर्वेदी, उदयशंकर भट्ट के नाम उल्लेख-नीय हैं। गोविन्दवलभ पन्त का वरमाला मार्कण्डेय पुराण से संबद्ध है। सुदर्शन का अंजना और उग्र का गंगा का बेटा साधारण नाटक हैं। पौराणिक नाटककारों में उदयशंकर प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। इनके अम्बा और सगर-विजय प्रमुख पौराणिक नाटक हैं। गोविन्दवल्लभ पन्त का अंगूर की बेटी, सेठ गोविन्ददास का प्रकाश और पाकिस्तान और उदयशंकर भट्ट के कमला और अन्तहीन अन्त सामाजिक नाटक हैं। उग्र के 'चुम्बन' में अश्लीलता उभर आई है।

प्रतीकात्मक नाटक—प्रसाद का कामना और पन्त का ज्योत्सना हिन्दी के प्रतीकात्मक नाटक हैं। कामना में सन्तोष, विनोद और कामना आदि भावनाओं का मानवीकरण किया गया है। कामना की अपेक्षा ज्योत्स्ना का विषय तो व्यापक है पर इसमें नाटकीय शिथिलता है।

गीति-नाट्य—प्रसाद का करुणालय गीति-नाट्य है। उदयशंकर भट्ट के विश्वामित्र, मत्स्यगंधा, मेघदूत तथा राधा सफल गीति-नाट्य हैं। भगवतीचरण वर्मा का 'तारा' भी एकांकी गीति-नाट्य है। पन्त के गीति-नाट्यों का एक संग्रह रजत-शिखर के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

समस्यामूलक नाटक—इधर इब्सन और शॉ से प्रभावित होकर हिन्दी में बहुत से समस्यामूलक नाटक लिखे गये हैं। समस्यामूलक नाटककारों में उपेन्द्रनाथ अश्क तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क को स्वर्ग की झलक, छठा बेटा, अलग-अलग रास्ते, कैद, उड़ान और आदि मार्ग नामक नाटकों में सामाजिक समस्याओं के उद्‌घाटन में आशातीत सफलता मिली है। इनके

नाटक भाषा की सरलता, स्वाभाविकता और रंगमंचीयता की दृष्टि से अत्यन्त सफल हैं। अश्क जी आज के एक लब्धख्याति उच्चकोटि के नाटककार हैं। मिश्र जी प्रसाद के बाद दूसरी अद्वितीय प्रतिभा हैं। समस्यामूलक नाटककारों में इनका उच्चतम स्थान है। इन्होंने नारी की चिरन्तन समस्या को लिया है। इन्होंने नारी और पुरुष के सम्बन्ध तथा मनोवैज्ञानिक समस्याओं का अत्यन्त कलात्मक विश्लेषण किया है। इनके नाटक—सिन्दूर की होली, राक्षस का मन्दिर, संन्यासी, मुक्ति का रहस्य तथा गुड़िया का घर आदि महत्त्वपूर्ण बन पड़े हैं। इनके नाटकों में प्राय: गीत नहीं होते। शैली के क्षेत्र में इन्होंने अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया है।

एकांकी नाटक—हिन्दी का आज का एकांकी साहित्य पाश्चात्य नाटकों से बहुत प्रभावित दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी का एकांकी साहित्य भी नाटक साहित्य के समान अपेक्षाकृत अल्प काल में पर्याप्त समृद्ध हो गया है। आज के विशेष उल्लेखनीय एकांकीकार हैं—रामकुमार वर्मा, अश्क, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगदीशप्रसाद माथुर तथा विष्णुप्रभाकर आदि।

प्रसाद के 'एक घूंट' के पश्चात् भुवनेश्वरप्रसाद का कारवां नामक एकांकी-संग्रह निकला, जिस पर पाश्चात्य नाट्यकला का काफी प्रभाव है। रामकुमार वर्मा आज के एकांकी के जन्मदाताओं में से एक हैं। इनके एकांकी कला की दृष्टि से सुन्दर बन पड़े हैं। इन्होंने ऐतिहासिक और सामाजिक एकांकी लिखे हैं और वे अधिकांश में दु:खान्त है। इनके पृथ्वीराज की आंखें, रेशमी टाई, चारुमित्रा, सप्त किरण चार ऐतिहासिक एकांकी, विभूति और कौमुदी महोत्सव एकांकी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। अश्क जी प्रतिभाशाली एकांकीकार हैं। इनके सामाजिक और राजनीतिक एकांकियों में हास्य और चुटीले व्यंग्यों की छटा दर्शनीय है। इनके देवताओं की छाया में, चरवाहे, तूफान से पहले, कैद और उड़ान एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। प्रेमी के एकांकी नाटकों में मध्यकालीन इतिहास की कथाओं को लिया गया है। सेठ गोविन्ददास के एकांकियों पर गांधीवाद का स्पष्ट प्रभाव है। अब तक इनके सप्तरश्मि, चतुष्पथ, नवरस, स्पर्धा और एकादशी एकांकी-संग्रह निकल चुके हैं। भट्ट के एकांकियों में मध्यवर्गीय जीवन की विडम्बना चित्रित है। समस्या का अन्त, चार एकांकी इनके एकांकी संग्रह हैं। रेडियो स्टेशनों की एकांकियों की माँग को पूरा करने के लिए लक्ष्मीनारायण मिश्र, भगवतीचरण वर्मा तथा वृन्दावनलाल वर्मा भी इस क्षेत्र में आये हैं। जगदीशप्रसाद माथुर एक सजग एकांकीकार हैं। उनका एक एकांकी-संग्रह भोर का तारा छप चुका है और समय-समय पर इनके एकांकी पत्र-पत्रिकाओं में निकलते रहते हैं। माथुर ने आधुनिक जीवन के वैषम्य को बड़ी गहराई से देखा है। नये एकांकीकारों में विष्णु प्रभाकर के नाटकों में एक गहरी सामाजिक चेतना मिलती है। इनके इंसान और क्या वह दोषी था, दो एकांकी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी के और भी कई प्रसिद्ध एकांकीकार हैं।

आजकल रेडियो रूपक, रेडियो रूपान्तरित, फीचर, ध्वनि नाट्य आदि कई प्रकार के नाटक लिखे जा रहे हैं। आजकल महाकाव्यों और उपन्यासों को भी रेडियो पर रूपकशैली में प्रसारित किया जाता है। रूपक में सूत्रधार महत्त्वपूर्ण पात्र होता है। रूपकों में सिनेमा का Flash Back फ्लैश-बैक की टैकनीक का उपयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त आज हिन्दी-नाट्य-साहित्य में और भी अनेक विविधमुखी प्रयोग किये जा रहे हैं। इस दिशा में आधुनिकतम प्रयोग है दृश्य कहानियाँ। इनका उपयोग दो रूपों में सम्भव है। ये कहानी के रूप में पढ़ी भी जा सकती हैं और रंगमंच पर प्रदर्शित भी की जा सकती हैं। यशपाल इस प्रकार की कहानियों के लिखने में विशेष सफल हुए हैं। आज का हिन्दी नाटककार देशी और विदेशी—विविध नाट्य साहित्यों के सम्पर्क में आ रहा है। एक ओर उस पर जहाँ अंग्रेजी, अमरीकी और रूसी आदि नाटकों का प्रभाव पड़ रहा है वहाँ दूसरी ओर भारतीय लोक नाटकों का प्रभाव भी। अतः वह आज इस क्षेत्र में अनेक नवीन प्रयोग कर रहा है। दृश्य कहानियाँ, नृत्य नाटक और ऋतु नाटक, स्वोक्ति, फैंटेसी, रिपोर्ताज, जननाटक और ध्वनि गीतिनाटक आदि इस प्रभाव का परिणाम हैं।

काव्यात्मक एकांकी

इधर हाल में काव्यात्मक एकांकियों की भी मनोरम सृष्टि हुई है। इस क्षेत्र में सर्व श्री हरिकृष्ण प्रेमी, सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, आरसीप्रसाद सिंह, केदारनाथ मिश्र, गौरीशंकर मिश्र, ऊषादेवी मित्रा, हंसकुमार तिवारी, आनन्दी प्रसाद श्रीवास्तव तथा जमुनाप्रसाद गौड़ आदि लेखकों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। काव्यात्मक एकांकी पद्यात्मक एकांकी हैं। हिन्दी एकांकी के क्षेत्र में यह एक नवीन प्रयोग है। पद्यात्मक नाटक और पद्यात्मक या काव्यात्मक एकांकी में वही अन्तर है, जो नाटक और एकांकी में है। अतः ये दोनों विधायें आपाततः समान प्रतीत होती हुई भी मूलतः भिन्न हैं।

अभी तक हिन्दी नाट्य साहित्य में फिल्मों को स्थान नहीं दिया गया है, किन्तु दृश्य काव्य की एक शाखा के रूप में इन्हें भी सम्मिलित कर लेना उचित होगा। निःसन्देह कुछ फिल्में स्तर से नीचे रह जाती हैं, किन्तु हिन्दी का आलोचक-वर्ग इस दिशा में अपने सत्परामर्श के द्वारा उन्हें सुधार सकता है और फिन सारी फिल्में निम्न स्तर की होती हों, ऐसी भी बात नहीं है। दो आँखे बारह हाथ, आवारा, जागते रहो, बूटपालिश, हम सब चोर हैं—आदि चलचित्र बहुत अच्छे बन पड़े हैं। हिन्दी का भावी नाटक-साहित्य एकांकियों, रेडियो रूपकों और चलचित्रों के रूप में उन्नति करेगा, ऐसा ही युग की परिस्थितियों का तकाजा है।

आजकल एकांकी लेखक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले धारावाहिक उपन्यासों के समान माला-एकांकियों की रचना कर रहे हैं। समान पात्रों को कई एकांकियों में रख दिया जाता है और उन्हें कई हिस्सों में लिखा जाता है। इन्हें

मिलाकर पूरा नाटक तैयार हो जाता है। ऐसे नाटकों का प्रत्येक भाग एकांकी-नाटक जैसा आनन्दप्रद होता है।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी स्मरणीय है कि जहाँ युग की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप नाटक-परम्परा में परिवर्तन हुए वहाँ स्कूल और कालेजों के अमेच्योर रंगमंच के विकास के साथ-साथ हिन्दी के राष्ट्रीय रंगमंच का भी विकास होने लगा है, जिस पर बड़े नाटकों के स्थान पर छोटे नाटकों के अभिनय की अधिक सम्भावनाएँ पैदा हो गई हैं। परिणामतः, हिन्दी के छोटे नाटकों का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होने लगा है।

आज का हिन्दी-एकांकी साहित्य पर्याप्त विकासोन्मुख है। इस क्षेत्र में ध्वनि-रूपक, संगीतरूपक, झलकी तथा स्वगत आदि एकांकी के नाना विध रूपों का त्वरित गति से प्रणयन हो रहा है। विषय और शैली की दृष्टि से प्रस्तुत प्रयोग काफी आशा-जनक हैं। हिन्दी के समर्थ आलोचक वर्ग को इस ओर समुचित ध्यान देकर इस विधा को यथेष्ट प्रोत्साहन देना चाहिए।

हिन्दी-उपन्यास साहित्य का विकास

उपन्यास शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य ,अर्थ है—उप-निकट, न्यास—रखा हुआ, अर्थात् साहित्य का वह अंग जिसका विकास अपेक्षाकृत आधुनिक काल में हुआ। हिन्दी में इस शब्द का व्यवहार योरुपीय साहित्य के प्रभाव-स्वरूप हुआ है, किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि भारत में पहले उपन्यास जैसी वस्तु की सत्ता थी ही नहीं। भारतीय संस्कृति साहित्य में हितोपदेश, पंचतंत्र कथा, सरित्सागर। बृहत्कथा, वैताल पंच विंशति, वासवदत्ता, दश कुमार चरित तथा कादम्बरी आदि कथा साहित्य ग्रंथों में औपन्यासिकता अपने यत्किंचित् रूप में विकसित हो चुकी थी। हाँ यह दूसरी बात है कि उक्त ग्रंथों में आधुनिक उपन्यासों के सारे गुण और योग्य-ताएँ मिलनी सम्भव नहीं है। कतिपय विद्वानों के अनुसार बाण की 'कादम्बरी' भारत का पहला उपन्यास है। इसका प्रमाण यह है कि मराठी साहित्य में उपन्यास शब्द का पर्यायवाची शब्द "कादम्बरी" आज भी प्रचलित है, किन्तु कादम्बरी में अलौकिकता, भावात्मकता और अलंकारिकता के अत्यधिक आग्रह के कारण उसे आधुनिक उपन्यास की परिभाषा के अर्थ के ग्रहण करना असंगत होगा। दश कुमार चरित में आधुनिक उपन्यास की बहुत सारी योग्यताएँ विद्यमान हैं, किन्तु उसकी भिन्न-भिन्न कथाओं को मूल कथावस्तु के क्षीण तन्तुओं से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है जो कि आधुनिक उपन्यास की दृष्टि से एक दोष है। अस्तु, दशकुमार चरित में कतिपय दोषों के होते हुए भी उसमें औपन्यासिक योग्यतायें असंदिग्ध हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के अन्य अंगों के समान 'उपन्यास का विकास भी अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव और सम्पर्क से हुआ है। योरुप में उपन्यास साहित्य का विकास रोमांटिक कथा साहित्य से हुआ। योरुप का रोमांटिक कथा साहित्य भारतीय

प्रेमाख्यानों की अरबों के माध्यम से विश्व यात्रा के समय उनसे निश्चित रूप में प्रभावित हुआ होगा। इस प्रकार भारतीय कथा साहित्य अपने थोड़े बहुत रूप-परिष्करण और परिवर्तन के पश्चात् उपन्यास के रूप में पुनः भारत लौटा। निःसन्देह भारतीय साहित्य में आधुनिक उपन्यासों के बहुत से उपकरण विद्यमान थे, किन्तु १९वीं शती के हिन्दी साहित्य में उपन्यास का उद्भव और विकास अंग्रेजी साहित्य के परिणामस्वरूप हुआ। भारत के जो प्रदेश अंग्रेजी सम्पर्क में पहले आए, उनमें उपन्यासों का प्रचलन अपेक्षाकृत कुछ पहले हुआ। यही कारण है कि बंगाल में उपन्यासों की रचना हिन्दी से पहले आरम्भ हो गई, अतः हिन्दी उपन्यास साहित्य पर बंगला के अनेक लेखकों का प्रभाव पड़ा।

हिन्दी गद्य साहित्य के अन्य अंगों के समान उपन्यासों का उद्भव आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ में भारतेन्दु काल में हुआ। यह ठीक है कि आधुनिक उपन्यास का विकास योरुप में हुआ, भारत में नहीं, किन्तु हिंदी में उपन्यासों का विकास पाश्चात्य उपन्यास साहित्य के अनुकरण पर नहीं हुआ। हिन्दी में उपन्यासों के पूर्व बंगला साहित्य में यह अंग काफी विकसित हो चुका था और कदाचित् बंगला साहित्य की देखा-देखी हिन्दी में भी उपन्यासों का सूत्रपात हुआ। प्रारम्भिक काल में बंगला के उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद भी कोई कम नहीं हुआ। आधुनिक हिन्दी-साहित्य की उपन्यास परम्परा को संस्कृत के सुबन्ध, दंडी और बाण की परम्परा का पुनरुज्जीवन कहना भ्रमपूर्ण होगा।

हिन्दी उपन्यास-परम्परा में उपन्यासकार-सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द एक ऐसे केन्द्र बिन्दु हैं जिनके दोनों ओर उपन्यास-साहित्य की भिन्न-भिन्न रेखायें स्पष्ट दीखने लगती हैं। मुंशी प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी-साहित्य में आचार, नीति, धर्म, उपदेश और सुधार सम्बन्धी उपन्यास लिखे गए या केवल मनोरंजनार्थ तिलस्मी और ऐयारी के उपन्यास लिखे गये, जिनका जन-जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। प्रेमचन्द ने कला और जीवन का सन्तुलित सामंजस्य उपस्थित कर अपनी मौलिक, प्रौढ़ एवं गरिमामयी कृतियों से जहाँ हिन्दी-साहित्य को गर्वोन्नत किया वहाँ वास्तविक रूप में हिन्दी उपन्यास परम्परा का सूत्रपात तथा युग-प्रवर्तन का श्लाघ्य कार्य भी किया। प्रेमचन्द के अन्तिम दिनों में या बाद में उपन्यास साहित्य में मनोवैज्ञानिक यथातथ्यवाद, व्यक्तिवाद, कुंठावाद और यथार्थवाद की विकृति, प्रकृतिवाद आदि कतिपय नई प्रवृत्तियाँ जन्मीं जो विषय-वस्तु एवं लक्ष्म की दृष्टि से प्रेमचन्दोत्तर साहित्य को प्रेमचन्द-युग के साहित्य से भिन्न कर देती हैं। अतः हिंदी-उपन्यासों की विकास परम्परा को हम तीन भागों—पूर्व प्रेमचन्द युग, प्रेमचन्द युग और प्रेमचंदोत्तर युग में विभाजित करके उस परम्परा का अध्ययन करेंगे।

पूर्व प्रेमचन्द युग—भारतेन्दु ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य के सभी अंगों में अभिवृद्धि करने के लिए महत्त्वपूर्ण योग दिया है। उन्होंने एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया था, किन्तु वह पूर्ण न हो सका। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'पूर्ण प्रकाश

और चन्द्रप्रभा' नामक उपन्यास का अनुवाद किया था। हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास श्री निवासदास-कृत 'परीक्षा गुरु' है। इस रचना में दिल्ली के एक सेठ-पुत्र की कहानी है। सेठ पुत्र कुसंगति में पड़ जाता है और अन्त में उसका एक सज्जन मित्र द्वारा उद्धार हो जाता है। इसमें उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति प्रधान है। लेखक ने भूमिका में स्वीकार किया है कि इसके लिखने में उसे संस्कृत के महाभारतादि, फारसी के गुलिस्ताँ आदि, अंग्रेजी के लार्ड बेकन, गोल्डस्मिथ और विलियम कूपर आदि तथा स्त्री-बोध के वर्तमान रिसालों से विशेष सहायता मिली है। अस्तु, यह एक सुधारात्मक साधारण-सा उपन्यास है।

इस काल में सामाजिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, प्रेम प्रधान एवं तिलस्मी तथा ऐयारीपूर्ण कई प्रकार के उपन्यास लिखे गये। रत्नचन्द प्लीडर का नूतन चरित, बालकृष्ण भट्ट का नूतन ब्रह्मचारी, तथा सौ अनाज और एक सुजान, राधाकृष्णदास का निःसहाय हिन्दू, राधाचरण गोस्वामी और देवीप्रसाद शर्मा का विधवा विपत्ति किशोरीलाल गोस्वामी का लवंग लता और कुसुम कुमारी, बालमुकुन्द गुप्त का कामिनी, आदि सामाजिक उपन्यास उल्लेखनीय हैं।

किशोरीलाल गोस्वामी, ब्रजनन्दन सहाय, बलदेवप्रसाद मिश्र तथा कृष्ण प्रकाशसिंह अखौरी आदि अनेक लेखकों ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जिनमें इतिहास नाम मात्र को है। इन पर तिलस्मी उपन्यासों का प्रभाव है। इन रचनाओं में ऐतिहासिक उपन्यासों के अनुकूल वातावरण की सृष्टि का भी अभाव है। ब्रजनन्दनसहाय के लाल चीन, तथा मिश्रबन्धुओं के वीरमणि को ऐतिहासिकता तथा उपन्यास-कला की दृष्टि से थोड़ा-सा सफल कहा जा सकता है। लाल चीन में गयासुद्दीन बलबन के एक गुलाम की कहानी है और वीरमणि में अलाउद्दीन खिलजी की चित्तौड़ पर चढ़ाई की काल्पनिक पृष्ठभूमि दी गई है।

इसके अतिरिक्त किशोरीलाल गोस्वामी, जगन्नाथ मिश्र और काशीप्रसाद आदि अनेक लेखकों ने प्रेमाख्यानक उपन्यास लिखे जिनमें प्रेम का रूढ़िबद्ध वर्णन है। उसमें जीवन के किसी मार्मिक पक्ष का उद्घाटन नहीं किया गया है। इन उपन्यासों के अतिरिक्त इस काल में बंगला के उपन्यासों का अनुवाद-कार्य भी प्रेमचन्द के आगमन तक बराबर चलता रहा। भारतेन्दु ने स्वयं एक उपन्यास का अनुवाद किया। प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी ने बंगला के कई उपन्यासों का हिन्दी अनुवाद किया। गदाधरसिंह ने बंग-विजेता और दुर्गेशनन्दिनी, कीर्तिकप्रसाद खत्री ने इला, प्रमिला, जया और मधुमालती तथा रामकृष्ण वर्मा ने चित्तौड़ चातकी आदि कई उपन्यासों का अनुवाद किया। जहाँ बंगला के उपन्यास लेखकों—बंकिमचन्द्र, शरतचन्द्र, राखालदास तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्रभृति—की कृतियों का अनुवाद हुआ वहां उर्दू, मराठी, गुजराती तथा अंग्रेजी भाषा के अनेक उपन्यासों का भी अनुवाद किया गया। प्रेमचंद से पूर्व मौलिक उपन्यासों की अपेक्षा अनूदित उपन्यासों की संख्या भी शायद अधिक रही और स्तर भी कुछ ऊँचा रहा।

इस काल में मौलिक उपन्यास लेखकों में देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी और किशोरीलाल गोस्वामी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। खत्री तथा गहमरी के तिलस्मी और ऐयारी उपन्यासों ने हिन्दी-जगत में धूम मचा दी। इनके अनुकरण पर देवीप्रसाद शर्मा, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि अनेक लेखकों ने जासूसी उपन्यासों का एक ताँता बाँध दिया। खत्री जी के चन्द्रकांता और चन्द्रकांता संतति इतने लोकप्रिय हुए कि अनेक हिन्दी न जानने वालों को केवल इन उपन्यासों को पढ़ने के लिए हिन्दी सीखनी पड़ी। भले ही खत्री जी के उपन्यासों का कलात्मक महत्त्व न हो, किन्तु उनका ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्य है। गहमरी ने कोई पाँच दर्जन से अधिक जासूसी उपन्यास लिखे जिनका आधार अंग्रेजी के जासूसी उपन्यास हैं।

मुन्शी प्रेमचन्द तथा इन जासूसी उपन्यास लेखकों के बीच की कड़ी के रूप में अयोध्यासिंह उपाध्याय, लज्जाराम मेहता तथा कुछ अनुवादकर्ताओं का नाम लिया जा सकता है। हरिऔध ने ठेठ हिन्दी का ठाठ तथा अधखिला फूल उपन्यास लिखे जिनमें जबानदानी तथा मुहावरों का ठाठ है। मेहता के आदर्श हिन्दू और हिन्दू गृहस्थ सुधारवादी सामाजिक उपन्यास हैं।

विषय एवं शैली का विवेचन—इस काल में सामाजिक, ऐतिहासिक, तिलस्मी तथा प्रेमप्रधान उपन्यास लिखे गये। प्रेमाख्यानक उपन्यासों में व्यक्ति के अंतर के विश्लेषण का अभाव है। इन उपन्यासों का प्रेम रीतिबद्ध शृंगार परम्परा से ऊपर नहीं उठ सका है। सामाजिक उपन्यासों में नैतिक शिक्षा, समाज सुधार, भारतीय आदर्श तथा पश्चिमी सभ्यता की कटु आलोचना है। इस युग के उपन्यासों में औपन्यासिक कलात्मकता का अभाव है। तिलस्मी उपन्यासों में मनोरंजन की प्रधानता है, उनका जन-जीवन के साथ कुछ सरोकार नहीं। उनमें अस्वाभाविकता और अतिमानवीयता है। ऐतिहासिक उपन्यास केवल नामधारी ऐतिहासिक उपन्यास हैं। हां, इस काल के अनूदित उपन्यासों का स्तर उस समय के मौलिक उपन्यासों से कुछ ऊँचा है। प्रेमचंद से पूर्व इस काल की कोई भी ऐसी कृति नहीं है जो कि साहित्य की स्थायी सम्पत्ति बनने के योग्य हो।

इस उपन्यासों में वर्णनात्मक, आत्मकथात्मक तथा सम्भाषण, तीन प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया गया है। भाषा के तीन रूप अपनाये गये हैं—संस्कृत मिश्रित, हिन्दी, उर्दू-मिश्रित तथा सरल भाषा। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इस काल के उपन्यासों में जीवन की आलोचना और गम्भीर दृष्टि का अभाव है।

प्रेमचन्द युग—उपन्यासकार-सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द के पदार्पण से उपन्यास साहित्य की रिक्तता की पूर्ण अर्थों में पूर्ति हुई। वस्तुतः वे हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार तथा युग-प्रवर्त्तक हैं। इनके उपन्यासों में प्रथम बार जन-सामान्य को वाणी मिली और कला केवल मनोरंजन का खिलवाड़ न रहकर जीवन मर्मों को उद्घाटित करने वाली बनी। उनके उपन्यासों में विशाल जन-जीवन और विशेषतः

भारत के किसान और मध्यवर्गीय जीवन की अनेकमुखी समस्याएँ कलात्मक रूप से चित्रित हुई हैं। उनके उपन्यासों की सी व्यापक पट-भूमि हिन्दी तो क्या किसी भी भारतीय भाषा के उपन्यासकार में नहीं है। उनके उपन्यास भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनों के सटीक भाष्य हैं और तत्कालीन उत्तरी भारत के सवाक्-चित्र। इनके पात्र मांसल, सजीव, व्यक्तित्व-सम्पन्न साधारण मानव हैं, जिनमें उदात्त, अनुदात्त क्षुद्र तथा सुन्दर, अच्छे और बुरे सब पहलू हैं। उसमें राजा से लेकर रंक सब हैं और ऐसा लगता है कि जैसे हम स्वयं उनके औपन्यासिक जगत् में विचरण कर रहे हों। इसी प्रकार कथोपकथन, शैली, वातावरण तथा उद्देश्य आदि अन्य औपन्यासिक तत्व सभी उनमें कलात्मक रूप से विकसित दृष्टिगोचर होते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद मानवतावादी कलाकार प्रेमचन्द के महत्त्व को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—"प्रेमचन्द शताब्दियों से पददलित, अपमानित और उपेक्षित कृषकों की आवाज थे, पर्दे में कैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे, गरीबों और बेकसों के महत्त्व के प्रचारक थे। अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुख-सुख और सूझ-बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोंपड़ियों से लेकर महलों, खोंमचे वाले से लेकर बैंकों, गांव से लेकर धारा-सभाओं तक, आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता।"

प्रेमचन्द ने दो प्रकार के उपन्यास लिखे हैं, राजनीतिक और सामाजिक। इनमें समग्र रूप से भारतीय जीवन की बहुमुखी समस्याएँ चित्रित की हैं। उनके 'प्रेमा' और 'वरदान' उन दिनों के उपन्यास हैं जब वे नवाबराय के नाम से उर्दू में लिखा करते थे। 'सेवासदन' उनका कलात्मक दृष्टि से प्रथम प्रौढ़ उपन्यास है जिसमें मध्य वर्ग के विडम्बनामय जीवन का चित्र है। 'प्रेमाश्रम' में ग्राम्य जीवन की समस्याओं का विशाल चित्रण है। 'सेवासदन' में वेश्याओं की समस्या है, तो प्रेमाश्रम में किसानों की। रंगभूमि' इनका सबसे बड़ा उपन्यास है और इसमें शासक वर्ग के अत्याचारों की समस्या है। 'कर्मभूमि' एक राजनीतिक उपन्यास है, जिसमें जनता की साम्राज्य-विरोधी भावना है। 'प्रतिज्ञा' की समस्या विधवा-विवाह से संबद्ध है। 'गबन' में उन्होंने भूषणों की लालसा के दुष्परिणामों को दर्शाया है। 'काया-कल्प' उनकी उपन्यास परम्परा के विपरीत योगाभ्यास, पुनर्जन्मवाद आदि विषयों से सम्बद्ध है और यह उनका सबसे हल्का उपन्यास है। 'निर्मला' में अनमेल विवाह के दुष्परिणाम और विमाता की समस्याओं का चित्रण है। 'गोदान' में किसान एवं मजदूर के शोषण की करुण कथा है। गोदान मुंशी प्रेमचन्द का ही नहीं बल्कि हिन्दी-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। गोदान और निर्मला को छोड़कर बाकी उपन्यासों में प्रेमचन्द आदर्शोन्मुख यथार्थवादी रहे हैं, वे समस्या को उठाकर गांधीवादी ढंग से कोई न कोई उसका समाधान भी प्रस्तुत कर देते हैं, किन्तु निर्मला और गोदान में वे एकदम यथार्थवादी दृष्टिगोचर होते हैं। कदाचित् यहां तक पहुंचते-पहुंचते गांधीवाद से उनकी आस्था

उठ गई थी। इन उपन्यासों में केवल समस्याएँ हैं, समाधान नहीं है। गोदान का होरी दुःख में जन्मा, दुःख में पला और दुःख में मरा। गोदान सर्वथा एक यथार्थवादी उपन्यास है। हिन्दी के कुछ आलोचकों ने प्रेमचन्द की विषय-व्यापकता और तलस्पर्शिनी चरित्र-चित्रण की सूक्ष्मता की मुक्त-कंठ से प्रशंसा करते हुए भी उन्हें प्रथम कोटि का कलाकार न कहकर द्वितीय कोटि का कलाकार कहा है। उनका प्रधान आक्षेप है कि नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा अपेक्षाकृत इनमें कम है, किन्तु हमारे विचार में यह पूर्वाग्रह के सिवाय और कुछ नहीं।

प्रेमचन्द-युग में अन्य भी अनेक प्रतिभाओं का उदय हुआ, जैसे—जयशंकर प्रसाद—कंकाल, तितली इरावती, शिवपूजनसहाय—देहाती दुनिया, चतुरसेन शास्त्री—परख, हृदय की प्यास, अमर अभिलाषा आदि, विश्वंभरनाथ कौशिक—माँ भिखारिणी, बेचन शर्मा उग्र—दिल्ली का दलाल, चन्द हसीनों के खतूत आदि, प्रतापनारायण श्रीवास्तव—विदा, विकास आदि, वृन्दावनलाल वर्मा—विराटा की पद्मिनी, गढ़ कुण्डार, मृगनयनी, महारानी लक्ष्मीबाई आदि, जैनेन्द्रकुमार—परख, सुनीता, कल्याणी आदि, इलाचन्द्र जोशी—पर्दे की रानी, प्रेत और छाया, संन्यासी आदि, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, ऋषभचरण जैन, जी० पी० श्रीवास्तव, सुदर्शन, निराला आदि और भी अनेक प्रसिद्ध उपन्यासकार इस युग में हुए।

विश्वम्भरनाथ कौशिक और सुदर्शन प्रेमचन्द की परम्परा के अनुयायी हैं। इनके माँ और भिखारिणी सामाजिक उपन्यास हैं। उनके ये दोनों उपन्यास साधारण कोटि के हैं। उपन्यासकार प्रसाद में एक विलक्षण विरोधाभास दृष्टिगोचर होता है। वे अपने काव्य और नाटकों में आदर्शवादी हैं किन्तु उपन्यासों में परम यथार्थवादी। 'कंकाल' इनकी महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें इन्होंने निःसंकोच भाव से स्त्री-पुरुष प्रेम की समस्या का उद्घाटन किया है। इरावती इनका एक अधूरा ऐतिहासिक उपन्यास है। तितली एक साधारण रचना है।

प्रेमचन्दोत्तर युग—जिस प्रकार उत्तर-छायावादी युग में कविता-क्षेत्र में कुछ नवीन प्रवृत्तियाँ जन्मी, उसी प्रकार प्रेमचन्दोत्तर युग में आख्यान साहित्य में भी मनोवैज्ञानिक यथातथ्यवाद, घोरनग्न यथार्थवाद, अवचेतनवाद, प्रतीकवाद की प्रवृतियों का समावेश हुआ। प्रेमचन्द के बाद का उपन्यास साहित्य निश्चित रूप से प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती साहित्य से उच्च है और कदाचित् वाह्यशिल्प विधान में प्रेमचन्द के साहित्य से भी कुछ आगे है, किन्तु इसमें वह भीतरी गहराई नहीं है जो प्रेमचन्द के उपन्यास साहित्य में। प्रेमचन्द का गोदान केवल हिन्दी की ही नहीं विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि है। गोदान के अनन्तर हिन्दी उपन्यास-साहित्य के पास ऐसी कोई भी वदान्य कृति नहीं है, जिसे वह अपनी स्थायी सम्पदा समझे। प्रेम-

चन्दोत्तर कालीन लेखकों की रचनाओं को एक निश्चित प्रवृत्ति के अन्तर्गत रखना यद्यपि कठिन व्यापार है परन्तु अध्ययन की सुविधा के लिए उन्हें प्रवृत्यात्मक वर्गों में विभाजित करके इस विकास परम्परा को समझना अपेक्षाकृत सुकर रहेगा। हम ऐसे उपन्यास लेखकों का नामोल्लेख कर चुके हैं जो प्रेमचन्द के समकालीन हैं और अब भी उनका रचनाक्रम जारी है। उनके अतिरिक्त कुछ ऐसी नवोदित प्रतिभायें भी हैं, जो प्रेमचन्द के अन्तिम दिनों में या उनके पश्चात् साहित्य जगत् में अवतीर्ण हुई। उसमें से प्रमुख ये हैं—भगवतीचरण वर्मा—चित्रलेखा, टेढ़े-मेढ़े रास्ते, तीन वर्ष आदि; सियारामशरण गुप्त—नारी, गोद, अज्ञेय—शेखर : एक जीवनी, नदी के द्वीप, यशपाल—दादा कामरेड, पार्टी कामरेड दिव्या, देशद्रोही, हजारीप्रसाद द्विवेदी—बाणभट्ट की आत्मकथा। इनके अतिरितत पहाड़ी, गुरुदत्त, अंचल, रांगेय राघव, धर्मवीर भारती, नागार्जुन और विष्णु प्रभाकर के नाम भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

सामाजिक उपन्यास—प्रसाद और कौशिक के अतिरिक्त सामाजिक समस्याओं पर लिखने वाले उपन्यासकारों में उग्र, चतुरसेन शास्त्री, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि के नाम प्रमुख हैं। प्रसाद के समान उग्र में भी एक विलक्षण विरोधाभास के दर्शन होते हैं। साहित्य में जोश की दुहाई देने वाले तथा सुधार की भावना से लिखने की प्रतिज्ञा करने वाले उग्र ने घासलेटी साहित्य को सृजा है। इन्होंने सामाजिक सुधार के नाम पर यथार्थवाद की आड़ में वर्जित विषयों पर लिखकर वीभत्स अश्लीलता का चित्रण किया है। 'बधुआ की बेटी' आपकी सबसे अच्छी कृति है। चतुरसेनशास्त्री ने अपने सामाजिक उपन्यासों में यह देखने का प्रयास किया है कि वासना मनुष्य को कहां तक पतित और नीच बना देती है। 'हृदय की प्यास' में इन्होंने विधवाश्रमों में छिपकर किये जाने वाले दुराचारों का नग्न चित्रण किया है। इस नग्नता को उभारने के लिए इन्होंने कई विशृंखल काल्पनिक प्रसंगों की योजना की है, जहाँ वे आत्मसयम खो बैठे हैं। अश्क जी का 'सितारों के खेल' रोमानी वातावरण का उपन्यास है। उनके 'गिरती दीवारें' निम्न मध्यवर्ग के जीवन का यथार्थ चित्रण है। इसमें उन्होंने चेतन के माध्यम से आधुनिक समाज की वैवाहिक रूढ़ियों के कारण युवक-युवतियों के प्रणय की असफलता में परिणित एवं दाम्पत्य जीवन की नाना विसंगतियों पर यथार्थ प्रकाश डाला है। इनका नवीनतम उपन्यास 'गरम राख' है।

मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास—इलाचन्द्र जोशी के 'मुक्तिपथ' और 'सुबह के भूले' उपन्यासों को छोड़कर शेष सभी में फ्रायड के मनोविश्लेषण विज्ञान के सिद्धान्तों का चर्वणमात्र हैं। कदाचित् वे इन सिद्धान्तों को प्रयोगात्मक रूप देने के लिए नाना रुग्ण पात्रों और कथाओं की कल्पना कर लेते हैं। इनके प्रेत और छाया, संन्यासी और पर्दे की रानी आदि उपन्यासों में व्यक्ति की दमित वासनाओं, कुण्ठाओं और अर्धचेतन एवं अवचेतन की कथायें भरी पड़ी हैं। ऐसा लगता है जैसे कि लेखक के लिए जीवन में वासना के सिवाय और कुछ भी नहीं है। उनके मुक्तिपथ में वासना

से घृणा करने वाले, अपरिग्रही राजीव को अर्धमानव के रूप में चित्रित किया है। कदाचित् यह पहले उपन्यासों की घोर प्रतिक्रिया है। भगवतीचरण वर्मा पर जोशी के समान फ्रायड का अत्यधिक प्रभाव है और इन्होंने भी इस सम्बन्ध में उसी यांत्रिकता से काम लिया है। इनके चित्रलेखा और टेढ़े-मेढ़े रास्ते इस बात के अपवाद हैं। चित्रलेखा फ्रेंच उपन्यासकार अनातोले के थापा उपन्यास पर आधारित है। टेढ़े-मेढ़े रास्ते एक राजनीतिक उपन्यास है जिसमें आधुनिक सभी राजनीतिक वादों पर अनास्था दिखाकर अन्त में यह सिद्ध किया है कि आज के मानव की मुक्ति का कोई मार्ग नहीं। यह अत्यन्त उलझा हुआ उपन्यास है। इनका 'आखिरी दाँव' भी एक साधारण कोटि का उपन्यास है जिसमें तिलस्मी वातावरण है। अज्ञेय जी पर फ्रायड, टी० एस० इलियट और डी० एच० लारेंस का प्रभाव है। इसके शेखर : एक जीवनी और नदी के द्वीप उपन्यास हैं। इन दोनों में अत्यन्त जटिल, सूक्ष्म और गम्भीर शैली में यौन-प्रवृत्तियों का चित्रण किया गया है, जो हृदय को आह्लादित करने के स्थान पर इनकी कविता के समान बुद्धि को कुरेदती हैं। जैनेन्द्र सम्भवत: प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी के एक सफल कृती लेखक हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों का विषय भारत के गाँवों को न बनाकर नगरों को बनाया है और उनमें नागरिक जीवन की मनोवैज्ञानिक समस्याओं का चित्रण किया है। जैनेन्द्र के व्यक्ति-केन्द्रित उपन्यासों पर आलोचकों ने फ्रायड का प्रभाव कहा है, किन्तु जैनेन्द्र ने कई दफा इसे अस्वीकार किया है। इनके उपन्यासों में आत्मपीड़न की अधिकता है, कुछ आलोचकों का कहना है कि जैनेन्द्र ने हिन्दी में शरत् के अभाव की पूर्ति की है। इनके परख, सुनीता, त्यागपत्र और कल्याणी में नारी-पुरुष के प्रेम की समस्या का मनोवैज्ञानिक धरातल पर चित्रण किया गया है। व्यक्ति के आभ्यान्तरिक जीवन में प्रवेश की क्षमता अद्वितीय है। दार्शनिकता के कारण कहीं-कहीं पर आपकी शैली अत्यन्त दुरूह और थका देने वाली बन पड़ी है। इनके उपन्यासों में जीवन के कतिपय मौलिक प्रश्न हैं जो कि आज के मानव के लिए विचारणीय हैं।

साम्यवादी उपन्यास—राहुल सांकृत्यायन के सिंह सेनापति, वोल्गा से गंगा तक तथा यशपाल के दादा कामरेड, देश द्रोही, पार्टी कामरेड आदि उपन्यास इस कोटि में आते हैं। यशपाल के उपन्यासों में युग जीवन के संघर्ष का वर्णन है। वे वर्तमान समाज की जर्जर मान्यताओं के खोखलेपन को यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करते हैं। इस यथार्थवाद के साथ-साथ वे रोमानी पुट भी दे देते हैं जो कि प्रायः अस्वाभाविक सा लगता है। यशपाल की इस प्रवृत्ति को कुछ आलोचकों ने राजनीतिक रोमांस की संज्ञा दी है। दिव्या इनका ऐतिहासिक उपन्यास है।

ऐतिहासिक उपन्यास—यद्यपि हिन्दी में उपन्यासों की यह धारा बहुत क्षीण-सी है किन्तु फिर भी विचार करने योग्य है। पूर्व-प्रेमचन्द युग में जो ऐतिहासिक उपन्यास मिलते हैं वे केवल इतिहास-नामधारी उपन्यास हैं। इस क्षेत्र में वृन्दावन-लाल वर्मा, निराला, सांकृत्यायन हजारीप्रसाद द्विवेदी और आचार्य चतुरसेन का

नाम उल्लेखनीय है। चतुरसेन की वैशाली की नगरवधू एक सुगठित ऐतिहासिक रचना है। आचार्य हजारीप्रसाद की बाण भट्ट की आत्मकथा में ऐतिहासिकता और कलात्मकता का सुन्दर समन्वय है। ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा में वृन्दावन लाल वर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके गढ़ कुडार, विराटा की पद्मिनी, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और मृगनयनी ऐतिहासिक उपन्यास हैं, जिनमें बुन्देलखंड के ऐतिहासिक विस्मृत प्रसंगों को सजीव किया गया है। वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों की विशेषता को प्रभाकर माचवे ने इन शब्दों में प्रगट किया है—"उनकी रचनाओं में हजारीप्रसाद जैसा वाग्वैदग्ध्य या यशपाल या राहुल का सोद्देश्य मत-प्रचार नहीं मिलता तो भी उनकी सबसे अच्छी विशेषता यह है कि वे अपनी भूमि के निकट का ही विषय चुनते हैं उससे बाहर नहीं जाते।" ऐसे उपन्यासों को आज-कल आंचलिक उपन्यास की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। भगवतशरण उपाध्याय के ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास के प्रति निर्भय प्रामाणिकता है और रांगेय राघव में आग्रह है। यशपाल के दिव्या उपन्सास में बौद्ध मठों और खंडहरों का इतिहास है। भारतेन्दुकाल में बंगला के ऐतिहासिक उपन्यासों का अनुवाद भी हुआ किन्तु हिन्दी में उपन्यासों का यह अंग अपेक्षाकृत उपेक्षित रहा है। राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार और उत्तरप्रदेश के अनेक प्राचीन आख्यान हैं जिन्हें इन उपन्यासों का विषय बनाया जा सकता है।

ऊपर हमने जिन आंचलिक उपन्यासों की चर्चा की है, उनकी धारा आज विशेष बल पकड़ रही है। ऐसे उपन्यासों में किसी प्रदेश विशेष की संस्कृति को उसके सजीव वातावरण में व्यापक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इन उपन्यासों की अपनी शक्तियाँ और अपनी ही परिसीमायें हैं। इस दिशा में फणीश्वरनाथरेणु का मैला अंचल और परती परिकथा विशेष उल्लेखनीय है। इनमें बिहार प्रदेश की संस्कृति का सजीव चित्रण है। उदयशंकर भट्ट का लोक-परलोक, सागर और लहरें बलभद्र ठाकुर के आदित्यनाथ, मुक्तावली नेपाल की बो बेटी, क्यामू संन्यासी का उत्थान, तरन तारन का हिमालय के अंचल, नागार्जुन के बलयनुमा तथा वरुण के बेटे, रांगेय राघव का काका और कब तक पुकारू, देवेन्द्र सत्यार्थी का रथ के पहिये, राम दरश मिश्र का पानी के प्राचीर, शैलेश मटियानी का होल्दार और शिवप्रसाद मिश्र का बहती गंगा आदि उपन्यास महत्त्वपूर्ण बन पड़े हैं।

आजकल हिन्दी में नगर और ग्रामीण अंचल से संबद्ध अनेक उपन्यास लिए जा रहे हैं। इन उपन्यासों की सर्वप्रमुख विशेषता है प्रादेशिक तथा स्थानीय रंग और संस्पर्श की प्रचुरता (Regional & local colour & Touch)।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् हिन्दी-जगत् में बहुत अच्छे उपन्यासकार आये हैं। यज्ञदत्त जी के इन्सान और अन्तिम चरण, अंचल का चढ़ती धूप, देवेन्द्र सत्यार्थी का रथ का पहिया, धर्मवीर भारती का सूरज का सातवां घोड़ा, फणीश्वरनाथ रेणु का मैला आंचल, डा० सत्यकेतु का मैंने होटल चलाया, अमृतलाल नागर का बूंद

और समुद्र, लक्ष्मीनारायण लाल का बया का घोंसला और सांप आदि विषयवस्तु तथा शिल्प-विधान की दृष्टि से उत्कृष्ट उपन्यास कहे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी के और भी उत्कृष्ट उपन्यास लेखक हैं—नागार्जुन, पहाड़ी, गुरुदत्त, ऊषादेवी मित्रा, उदयशंकर भट्ट, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, यादवेन्द्रनाथ, अनन्त गोपाल शेवड़े, कंचनलता-सब्बरवाल आदि।

उपन्यासों की प्रयोगवादी परम्परा—कहानी और कविता के समान उपन्यास क्षेत्र में भी आज कुछ नवीन प्रयोग किये जा रहे हैं। धर्मवीर भारती के "सूरज का सातवां घोड़ा" में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की अलग-अलग कहानियों को एक सूत्रात्मकता का रूप देने का प्रयास किया गया है। सर्व श्री-सर्वेश्वरदयाल सकसेना, नरेशमेहता, शिवप्रसाद मिश्र, गिरधरगोपाल तथा रुद्र आदि ने शिल्प विधान की दृष्टि से इस क्षेत्र में नवीन प्रयोग किये हैं। रुद्रजी ने "बहती गंगा" में सत्रह कहानियों के द्वारा काशीनगरी के पिछले दो सौ सालों के इतिहास की झांकी प्रस्तुत की है। गिरधर-गोपाल ने "चांदनी के खंडर" में केवल चौबीस घण्टों की कथा को समूचे उपन्यास का विषय बनाया है। "ग्यारह सपनों का देश" नामक उपन्यास नाना लेखकों के द्वारा लिखा गया है। निश्चय से यह एक नवीन प्रयोग है। अस्तु ! प्रत्येक युग कथन विधि के अपने-अपने प्रयोग किया करता है, किन्तु स्मरण रखना होगा कि कथ्य की महतीयता ही किसी विधा को स्थायित्व प्रदान करने में सक्षम होती है। कथन विधि के आडम्बर के आग्रह से कथ्य का महत्त्व लुप्त नहीं हो जाना चाहिए।

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने वर्तमान उपन्यासकारों को तीन वर्गों में विभक्त किया है :—(१) वे जो प्राचीन परम्पराओं का निर्वाह करते हुए जीवन के केवल सद् पक्ष को स्वीकार करते हुए उसे स्वस्थ उज्ज्वल और जीवन्त रूप में उपस्थित करते हैं। (२) वे जो जीवन में श्लील और अश्लील अच्छाई तथा बुराई का सम्मिश्रण मानते हुए अन्ततः उसमें सद पक्ष को महत्त्व देते हैं। (३) तीसरा वर्ग उनका है जिनकी दृष्टि केवल असद् पर टिकी रहती है। वे फ्रायड, युग, एडलर तथा मार्क्सवादी सिद्धान्तों की आड़ में मानव की पाशविक वृत्तियों, अनैतिकताओं और जघन्य कुंठाओं को मनोविश्लेषण के नाम पर चित्रित करते हुए संकोच नहीं करते। वस्तुतः ऐसे लेखकों का प्रयास एकांगी, भ्रामक और अविश्वासनीय है। इन्होंने मानव को उसके बृहत् एवं समग्र रूप में देख कर उसे खंडित, वर्जनाओं से आक्रान्त रूप में देखा है। वर्तमान उपन्यासों की समीक्षा करते हुए आगे वे लिखते हैं—"आज के उपन्यास हमें बहुमुखी चरित्र तो दिए पर चारित्र्य शुद्धि नहीं और न वास्तविक जीवन्त पात्र। मानव केवल कुंठाओं तथा गर्हित वर्जनाओं का ही पुंज नहीं उसके अन्तस्तल में आलोक रश्मियाँ भी अठखेलियाँ करती हैं, पर हमारे अधिकाँश उपन्यासकारों की दृष्टि उस पर नहीं। पड़ती। पड़ती है केवल घुटन और असुखद तनाव पर।" इस प्रकार के उपन्यासों से साहित्य-सरिता का पाट निःसन्देह चौड़ा होता जा रहा है, किन्तु उसकी अन्तर्धारा क्षीण और ह्रासोन्मुखी हो रही है।

इस ह्रास के और भी अनेक कारण हैं :--औपन्यासिक क्षेत्र में प्रायोगिक वृत्ति—नित्य नये प्रतीक, नये साम्य और नये टेकनीक। इनसे उपन्यास जगत में शक्ति और बल के स्थान पर क्षीणता और निर्बलता का समावेश हुआ है। अस्तु! हिन्दी-उपन्यास की विकासात्मक गतिविधियों के सम्बन्ध में डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के निम्नांकित शब्द अतीव मार्मिक तथा सटीक बन पड़े हैं—"विभिन्न प्रयोगों की लम्बी शृंखला के बाद हमारे उपन्यास साहित्य का पाट चौड़ा अवश्य हुआ है पर उपन्यासकार की दृष्टि तलस्पर्शी नहीं हो पाई, अतः वह मानव जो उसके पूर्ण आयामों में प्रस्तुत नहीं कर पाया है, उसने जो समाधान प्रस्तुत किये हैं वे भी समस्याओं की जड़ों को नहीं छू पाते, छूते हैं वे केवल जीवन के बुनियादी पहलुओं को, अत्याधुनिक कला टेकनीक का आकर्षण परिधान पहनाकर ही प्रस्तुत कर पाया है। अभी वह समय आना है जब भिन्न-भिन्न प्रसंगों, घटनाओं और पात्रों की सृष्टि इतनी यथार्थ और नैसर्गिक होगी कि वह पाठक को सच्ची और विश्वसनीय लगेगी। परन्तु हमें निराश होने का कोई कारण नहीं दिखता। हिन्दी उपन्यास ने अत्यन्त अल्प समय में जो विकास किया है उसे देखते हुए लगता है कि उपन्यास की दृष्टि शनैः शनैः तलस्पर्शी हो जायगी, वह व्यापक सत्य का अनुभव शीघ्र ही करेगा और तब अमर साहित्य की सृष्टि होगी।"

हिन्दी कहानी का विकास

भारतीय साहित्य में वेदों, उपनिषदों संस्कृत और बौद्ध जातकों में अनेक कहानियाँ देखने को मिलती हैं। हिन्दी के मध्य युग में भी कई कहानियाँ लिखीं गईं जिन पर फारसी के वासनात्मक प्रेम का प्रभाव स्पष्ट है। कुछ आलोचकों ने इंशा-अल्लाखाँ की रानी केतकी की कहानी को हिन्दी की सर्वप्रथम कहानी माना है, किन्तु सच यह है कि उसमें आधुनिक कहानी के लक्षण ठीक नहीं बैठते। इसमें मध्यकालीन किस्सागोई की स्पष्ट छाप है और एक अजीब सी सामाजिक तटस्थता है। दूसरी बात यह भी है कि इससे आधुनिक कहानी की किसी अविच्छिन्न परम्परा का प्रवर्तन भी नहीं हुआ। इसके अनन्तर राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द की उपदेशात्मक कहानी राजा भोज का सपना तथा भारतेन्दु की हास्यरस प्रधान कहानी अद्भुत अपूर्व सपना दृष्टिगोचर होती है किन्तु इन दोनों में लेखक के दृष्टिकोण का अभाव है। सन् १९०० में प्रयाग से सरस्वती पत्रिका का प्रकाशन हुआ, जिसमें अनेक कहानियाँ प्रकाशित हुईं--गोस्वामी किशोरीलाल—इन्दुमती, गुलाबहार, मास्टर भगवानदास, प्लेग की चुड़ैल; रामचन्द्र शुक्ल—ग्यारह वर्ष का समय, गिरिजादत्त वाजपेयी - पंडित और पंडितानी वंगमहिला दुलाईवाली, वृन्दावनलाल वर्मा—राखी बन्ध भाई, मैथिली - नकली किला, निन्यानवे का फेर आदि—इसके उपरान्त माधवप्रसाद मिश्र, सत्यदेव विश्वम्भरनाथ जिज्जा और गिरिजाकुमार घोष की अनेक कहानियाँ सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुईं। हिन्दी के कुछ विद्वानों ने गोस्वामी किशोरीलाल की 'इन्दुमती' को हिन्दी की सर्वप्रथम कहानी स्वीकार किया है जबकि

कतिपय अन्य विद्वानों ने उक्त कहानी पर शेक्सपियर के टैम्पैस्ट नाटक का अत्यधिक प्रभाव दर्शाते हुए बंगमहिला दुलाईवाली कहानी को हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी सिद्ध किया है। अस्तु ! इस विवाद में न पड़ते हुए यह कहा जा सकता है कि उक्त सभी कहानियों में आधुनिक कहानी के तत्व सम्यक् रूप से सन्निविष्ट नहीं हैं और न इनसे आधुनिक कहानी के विकास में कोई महत्त्वपूर्ण योगदान मिला है। इस प्रयोगात्मक युग में हिन्दी-साहित्य के अन्य अंगों के समान कहानी-क्षेत्र में भी अनुवादों और अनुकरणात्मकता की प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा, न तो आरम्भ के इस काल में इस क्षेत्र में किसी नवीन प्रतिभा का उदय हुआ और न ही किसी मूल्यवान् रचना की सृष्टि। अंग्रेजी, संस्कृत तथा बंगला साहित्य की कहानियों का अनुवाद घड़ाधड़ हुआ। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी कहानी के श्रीगणेश और उसके विकास का इतिहास प्रसाद और प्रेमचन्द के उदय से सम्बद्ध है।

यह बड़े हर्ष और गर्व की बात है कि सन् १६११-१६ से लेकर आज तक के अल्पकाल में हमारा कहानी साहित्य विषय व्यापकता, गम्भीरता, कलात्मकता एवं शिल्प-विधान की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध तथा उच्च बन पड़ा है। इसकी उच्चता तथा समृद्धि में शताधिक प्रतिभाओं तथा उनकी अमूल्य कृतियों ने योगदान दिया है। यहाँ प्रत्येक कहानीकार और उसकी प्रत्येक रचना का परिचय देना एक असम्भव सा व्यापार है किन्तु यह भी आवश्यक है कि प्रमुख रचनाकारों की रचनाओं का जिन्होंने युग की गतिविधियों को नया मोड़ दिया, परिचय दिये बिना हिन्दी कहानी की कहानी पूरी नहीं हो सकती। हिन्दी के कुछ इतिहास-लेखकों ने कहानी के विकास की परम्परा को प्रसाद स्कूल, प्रेमचन्द स्कूल, जैनेन्द्र स्कूल, अज्ञेय स्कूल तथा यशपाल स्कूल के कृत्रिम कठघरों में विभक्त करके इस परम्परा को समझाने एवं समझने का प्रयास किया है जो कि वैज्ञानिक एवं संगत नहीं। हिन्दी के अन्य कहानीकारों ने उक्त पाँच कहानी निर्माताओं की विचार एवं शैलीगत प्रवृत्तियों का एक मात्र अनुकरण किया हो, ऐसी बात नहीं। प्रत्येक स्वतन्त्रचेता कलाकार युग-प्रथाओं को आत्मसात् करते हुए भी अपने व्यक्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखता है। दूसरी बात यह भी है कि हिन्दी के अन्य कहानीकारों पर इन पाँच महारथियों के बिना बंगला, अंग्रेजी, रूसी तथा फ्रेंच साहित्य के कहानीकारों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है जिसे कि इन्होंने बड़े कौशल से अपने देश काल के अनुसार ढ़ाला है। हाँ, यह अवश्य है कि प्रसाद, प्रेमचन्द उग्र, जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय कहानी क्षेत्र में शीर्ष स्थानीय हैं और अनेक कहानीकारों में बहुत कुछ विचार, भाव और शैलीगत साम्य मिल जाता है। यहाँ हम प्रमुख कहानीकारों और उनकी रचनाओं का प्रवृत्तिगत परिचय देंगे।

प्रसाद जी की कहानियों के पाँच संग्रह उपलब्ध हैं—छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इन्द्रजाल। इनकी सर्वप्रथम कहानी "ग्राम" सन् १६११ में इन्दु पत्रिका में छपी थी। इनकी प्रारम्भिक रचनाओं पर बंगला का प्रभाव स्पष्ट है, किन्तु बाद में वे अपनी स्वतन्त्र शैली का विकास कर सके। प्रसाद मूलतः प्रेम और

सौन्दर्य के कवि हैं अतः उनकी यह काव्यात्मकता नाटकों के समान कहानियों में भी सर्वत्र मिलती है। प्रसाद के भाव मूलक परम्परा के अधिष्ठाता होने के नाते उनकी कहानियों में स्थूल समस्याओं का अंकन कम हुआ है। उनमें भावनाओं की सूक्ष्मता और वातावरण की सघनता है। उनकी कहानियों में घटना-चक्र धुँधला रहता है, कथानक की स्थूल रेखायें उभर नहीं पातीं, पर वातावरण की सघनता में पात्र हमारे आन्तरिक मर्म को छूते हैं। उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ तथा शैली अलंकृत और भावमयी है जिसके कारण कथानक को तो व्याघात पहुँचता है ही साथ-साथ वे कहानियाँ साधारण पाठक की बोध शक्ति से भी परे हो जाती हैं। इन्होंने कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं जिनमें ऐतिहासिकता कम और कल्पना अधिक है। इनकी कहानियों में आदर्श और भारतीय दर्शन का समन्वय मिलता है। भावुकता की दृष्टि से हिन्दी कहानी क्षेत्र में प्रसाद जी का स्थान विशिष्ट है। प्रसाद जी की भावुकतामयी शैली पर रायकृष्णदास, चंडीप्रसाद हृदयेश, विनोदशंकर व्यास और गोविन्दवल्लभ पन्त आदि ने कहानियाँ लिखीं। इनमें रायकृष्णदास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने मानव-भावनाओं का अत्यन्त सूक्ष्म और कलात्मक चित्रण किया है। इन्होंने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं। इनकी शैली में प्रसाद जैसी जटिलता और रहस्यात्मकता भी नहीं है। आपकी कहानियों के दो संग्रह "सुधांशु" और "अनाख्या" उपलब्ध हैं।

प्रेमचन्द उपन्यास-क्षेत्र में जितने महान् हैं कहानी-क्षेत्र में उससे भी कहीं अधिक महान् हैं। प्रेमचन्द कहानी-क्षेत्र में आदर्शोन्मुख यथार्थवादी परम्परा के प्रतिष्ठापक हैं जबकि प्रसाद भावमूलक परम्परा के। प्रसाद की कहानी परम्परा को बहुत थोड़े लेखकों ने अपनाया जबकि प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा में उस युग के अधिक से अधिक लेखक आये। प्रेमचन्द ने उर्दू में कहानियाँ लिखना बहुत पहले आरम्भ कर दिया था किन्तु हिन्दी में उनकी सर्वप्रथम कहानी 'पंचपरमेश्वर' प्रसाद की 'ग्राम' कहानी से पाँच साल बाद में प्रकाशित हुई। इनकी उर्दू कहानियों के संग्रह सोजेवतन को अंग्रेज सरकार ने जलवा दिया था। हिन्दी में उन्होंने तीन सौ से भी अधिक कहानियां लिखीं जोकि लगभग बीस-पच्चीस संग्रहों में प्रकाशित हुई। प्रेमचन्द एक मानवतावादी एवं उपयोगितावादी कहानीकार हैं। उनकी सभी प्रकार घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक कहानियाँ सोद्देश्य है। किन्तु ऐसा करने पर उनकी कलात्मकता और साहित्यिक महत्ता को कहीं भी क्षति नहीं पहुंची। विषय-व्यापकता, चरित्र-चित्रण की सूक्ष्मता, विचार व भाव गंभीरता, प्रवाहपूर्ण सुबोध शैली, मुहावरामयी जबानदानी एवं लोक-सग्रह की भावना से प्रेमचन्द की कहानियाँ अद्वितीय बन पड़ी हैं। उनकी श्रेष्ठ कहानियों— पंच परमेश्वर, आत्माराम, बड़े घर की बेटी, शतरंज के खिलाड़ी, वज्रपात, रानी सारंधा, अलग्योझा, ईदगाह, अग्नि समाधि, पूस की रात, सुजान भक्त, कफन आदि-

पर हिन्दी जगत को गर्व है और इन्हें विश्व की श्रेष्ठ कहानियों की तुलना में निःसंकोच रखा जा सकता है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, विश्वम्भरनाथ कौशिक तथा पृथ्वीनाथ भट्ट, प्रेमचन्द की पीढ़ी के कलाकार हैं। गुलेरी जी केवल तीन कहानियों बल्कि केवल एक कहानी 'उसने कहा था' को लिखकर हिन्दी जगत में अमर हो गये हैं। 'उसने कहा था' विश्व-विख्यात कहानियों में से एक है और हिन्दी कहानी परम्परा में एक माइलस्टोन है। इसमें प्रथम महायुद्ध के एक सैनिक लहनासिंह की करुणा-मिश्रित प्रेमकथा है जोकि अतीव अनूठी है। विविध दृश्य-चित्रण, घटना-विन्यास, भाषा की सफाई, शैली की सजीवता और रोचकता—समग्र रूप से यह रचना अनुपम है। एक दफा यह कहानी पढ़ लेने पर न जाने कितनी देर 'उसने कहा था' की प्रतिध्वनि मन और मस्तिष्क में गूँजती रहती है। इसकी सुखमय दांपत्य जीवन से सम्वद्ध कथा है। इनकी अन्य कहानियाँ 'बुद्धू का कांटा' आदि हैं। कौशिक जी भी प्रेमचन्द के समान पहले उर्दू में कहानियाँ लिखा करते थे। उनकी प्रथम कहानी रक्षाबंधन सन् १९१३ में प्रकाशित हुई थी। उन्होंने लगभग तीन सौ कहानियाँ लिखीं, जो गल्पमंदिर और चित्रशाला आदि में संगृहीत हैं। विषय, शैली व भाषा की दृष्टि से आप प्रेमचन्द के अनुयायी हैं। प्रेमचन्द की कहानियों की जीवन-गहराई कौशिक जी में नहीं है। पृथ्वीनाथ भट्ट, सुदर्शन भी पहले उर्दू लेखक थे। इनकी पहली कहानी "हार की जीत" सन् १९२० में सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुई। आपके अब तक कहानियों के बहुत से संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—सुदर्शन सुधा, सुदर्शन सुमन, तीर्थयात्रा, पुष्पलता, गल्पमंजरी, सुप्रभात, चार कहानियाँ, नगीना और पनघट आदि। इनकी कहानियों में जीवन-सत्यों मानवीय भावनाओं का अत्यन्त रोचक और सरस वर्णन है। इनकी हार की जीत, कमल की बेटी, संसार की सबसे बड़ी कहानी और कवि की स्त्री आदि कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। पहले-पहले कौशिक और सुदर्शन को प्रेमचन्द के समकक्ष रखा जाता था, किन्तु बाद में प्रेमचन्द अपनी सतत जागरूकता और अद्भुत कलात्मक विकास के कारण इनसे बहुत आगे निकल गये।

बेचन शर्मा उग्र हिन्दी के एक विद्रोही कलाकार हैं। उनका यह विद्रोह पूँजीवादी सामन्ती व्यवस्था के प्रति अपने प्रचण्ड रूप में व्यक्त हुआ है। उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक विचारों, रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और मिथ्या परम्पराओं पर खुलकर प्रहार किया है। उन्होंने आभिजात्यवर्गीय थोथी आदर्शवादिता के झीने पर्दों को छिन्न-भिन्न करते हुए सामाजिक कुरीतियों तथा भ्रष्टाचारों का यथार्थ वर्णन किया है, अतः हिन्दी के बहुत से आलोचकों ने आपको उल्कापात, धूमकेतु, तूफान व बवण्डर की उपमा दी। आपकी अतिनग्न यथार्थवादिता में कहीं-कहीं अश्लीलता का रंग अत्यन्त उभरा हुआ है और कदाचित् यही कारण है कि कुछ लोगों ने इनकी रचनाओं को घासलेटी साहित्य की संज्ञा दी है। कुछ भी हो, उग्र जी बहुत समय तक हिन्दी पाठकों के सर्वाधिक प्रिय कहानीकार रहे हैं। आपकी शैली जोशीली एवं

प्रवाहपूर्ण है। आपके अभी तक ये कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—दोजख की आग, चिनगारियाँ, बलात्कार और मन की अमीर । आचार्य चतुरसेन शास्त्री उग्र की परम्परा में आते हैं। इन्होंने भी सामाजिक कुरीतियों का खुलकर भंडाफोड़ किया है, पर शास्त्री जी अपने यथार्थवादी वर्णनों में संयम खो बैठते हैं अतः इनकी कहानियों में अधिक अश्लीलता आ गई है । इनकी कहानियों में उग्र जैसी तीव्रता नहीं। आपकी कहानियों के संग्रह 'रजकण' और 'अक्षत' प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं—दे खुदा की राह पर, भिक्षुराज, ककड़ी की कीमत और दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी।

प्रसाद से लेकर अब तक व्यावहारिक आदर्शवादी, यथार्थवादी, ऐतिहासिक, रोमानी, कुतूहल प्रधान, हास्य रस तथा प्रतीकात्मक अनेक प्रकार की कहानियाँ लिखी गई हैं। व्यावहारिक आदर्शवादी कहानियों में समाज तथा घरेलू समस्याओं विधवा-विवाह, अछूतोद्धार, विदेशी सभ्यता, पुरानी-रूढ़ियों का खंडन आदि है । इन कहानियों में चरित्र-चित्रण की प्रधानता है और ग्राम्य जीवन को मुख्यता दी गई है। इस क्षेत्र के मुख्य कहानीकार हैं—प्रेमचन्द, कौशिक और सुदर्शन। यथार्थवादी कहानियाँ आदर्शवादी कहानियों की प्रतिक्रिया में लिखी गई हैं। इनमें सामाजिक बीभत्सता का नग्न चित्रण किया गया है। इस धारा के मुख्य लेखक हैं—उग्र, चतुरसेन शास्त्री तथा ऋषभचरण जैन। ऐतिहासिक कहानियाँ भारत के स्वर्णकाल से संबद्ध हैं। प्रसाद की आकाशदीप, स्वर्ग के खंडहर इसके उदाहरण हैं। भारत के मध्ययुग के इतिहास को लेकर वृन्दावनलाल वर्मा ने कहानियाँ लिखी हैं। ऐतिहासिक कहानियों में काव्य-तत्त्व और चरित्र-चित्रण की प्रधानता है। रोमानी कहानियों में भावना तथा कल्पना का आधिक्य है। जासूसी, ऐयारी और तिलस्मी कहानियों को कुतूहल-प्रधान कहानियाँ कह दिया जाता है। ऐसी कहानियों के लेखक हैं—गोपालराम गहमरी, दुर्गाप्रसाद खत्री और जी० पी० श्रीवास्तव। इन कहानियों में जीवन के गम्भीर तत्त्वों का बिल्कुल अभाव है। जयशंकर प्रसाद ने प्रतीकात्मक कहानियाँ लिखी हैं। इस काल के हास्य रस की कहानियों के लेखक हैं-जी० पी० श्रीवास्तव तथा बद्रीनारायण आदि। इस काल की कहानियों में वर्णनात्मक, आत्म-कथात्मक, संलापशैली तथा पत्रशैलियों का प्रयोग हुआ।

जैनेन्द्र के आगमन से हिन्दी-कहानी-क्षेत्र में एक नवीन युग का उदय हुआ। कहानी के इस संक्रांति-युग में अनेक नवीन प्रवृत्तियाँ उद्भूत हुई। इन प्रवृत्तियों को मुख्यतः दो क्षेत्रों में रखकर बाँटा जा सकता है—(१) सांस्कृतिक, (२) सामयिक। सांस्कृतिक क्षेत्र में जीवन-दर्शन और मनोविज्ञान की दो धारायें आती हैं, जबकि सामयिक में साम्यवाद तथा यौन वाद की दो मूल धाराएँ आती हैं। सांस्कृतिक प्रवृत्ति के प्रतिनिधि कहानीकार हैं जैनेन्द्र, साम्यवाद के यशपाल और यौनवाद के अज्ञेय जी।

जैनेन्द्र की अधिकतर कहानियाँ मनोविश्लेषण से सम्बन्ध रखती हैं। आपने

स्थूल समस्याओं के स्थान पर आन्तरिक समस्याओं का मनोवैज्ञानिक धरातल पर सहानुभूतिपूर्ण वर्णन किया है—"उन्होंने हिन्दी कहानियों को एक नई अन्तर्दृष्टि, संवेदनशीलता और दार्शनिक गहराई प्रदान की। उन्होंने सामान्य मानव की सामान्य परिस्थितियाँ न लेकर असामान्य मानव की असामान्य परिस्थितियों से प्रभावित मानसिक प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण किया है। उनका दृष्टिकोण समाजवादी की अपेक्षा व्यक्तिवादी, भौतिकवादी की अपेक्षा अध्यात्मवादी अधिक है।" इनकी कहानियों में कथानक की अपेक्षा मनोविश्लेषण अधिक छाया रहता है अतः इनमें प्रायः पिष्टपेषण रहता है और बौद्धिक रोचकता बनी रहती है। ये भौतिकता के अन्तर्गत अलौकिकता का चित्रण करके उसमें गहन जीवनदर्शन समाविष्ट करना चाहते हैं, फलतः इनमें थका देने की प्रवृत्ति आ जाती है। इन्होंने घटनाओं की अपेक्षा चरित्र-चित्रण तथा शैली को अधिक महत्त्व दिया है। आपकी कहानियों के ये संग्रह वातायन, स्पर्धा, फाँसी, पाजेब, जयसंधि, एक रात, दो चिड़ियां—प्रकाशित हो चुके हैं।

ज्वालादत्त शर्मा ने बहुत थोड़ी कहानियाँ लिखी हैं, पर उनका हिन्दी जगत् में काफी स्वागत हुआ है। जनार्दनप्रसाद झा द्विज की कहानियाँ मार्मिकता की दृष्टि से सुन्दर बन पड़ी हैं : इनकी कहानियाँ करुणरस मिश्रित हैं। चण्डीप्रसाद हृदयेश की कहानियों में आदर्शवाद है। उनमें सेवा, त्याग, आत्मबलिदान की भावनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। गोविन्दवल्लभ पन्त की कहानियों में यथार्थ और रंगीन कल्पना का सुन्दर समन्वय है। सियारामशरण गुप्त की कहानियों में कोमल भावनाओं का चित्रण अत्यन्त रोचक शैली में हुआ है। इनकी सबसे अच्छी कहानी 'सच और झूठ' में आज के यथार्थवादी लेखकों पर तीव्र व्यंग्य है। उनकी कहानियाँ 'मानुषी' में संगृहीत हैं।

अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र की मनोवैज्ञानिकता से प्रभावित तो हैं, लेकिन ये जैनेन्द्र के स्कूल के नहीं हैं। जैनेन्द्र की मनोविश्लेषण की प्रणाली निजी जीवनानुभवों पर आधृत है, किन्तु अज्ञेय और जोशी पर फ्रायड के यौनवाद का प्रभाव है। जैनेन्द्र ने अंतर्द्वन्द्व के द्वारा मानवीय उदात्त भावनाओं की सूक्ष्माभिव्यक्ति की है जबकि अज्ञेय और जोशी में दमित वासनाओं और कुंठाओं का उन्मुक्त चित्रण है और शायद ही हिन्दी में इन दो को छोड़कर विकृत भावनाओं का ऐसा चित्रण किसी अन्य ने किया हो। फ्रायडी यांत्रिकता के प्रति आग्रह के कारण ये दोनों उक्ति वैचित्र्य, संकेत-कथन और भाषा की साजसज्जा में अधिक लगे हैं तथा जीवन सत्यों की अभिव्यक्ति से वंचित रहे हैं। इनके पात्र फ्रायड के यौनविज्ञान के कृत्रिम सांचों में ढले हुए एक ही लकीर पर चलते हैं, उनमें जीवन के विविध घात-प्रतिघातों का चित्रण नहीं है। इलाचन्द्र जोशी उपन्यासकार के नाते जितने प्रसिद्ध हैं कहानीकार के नाते उतने कमजोर। जोशी जी के कहानियों के संग्रह हैं—रोमांटिक और छाया, आहुत और दीवाली और होली, तथा ऐतिहासिक कथायें। अज्ञेय जी उपन्यासकार के साथ-साथ एक कुशल कहानीकार भी हैं। इनके कहानियों के संग्रह हैं—विपथगा,

परम्परा, कोठरी की बात और जयदोल। श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने भी अपनी कहानियों में वैज्ञानिक सत्यों का उद्घाटन किया है। उनके कहानी-संग्रह हैं—हिलारे, पुष्करिणी और खाली बोतल। उनकी मिठाई वाला, झाँकी, त्याग और वंशीवाहन उत्कृष्ट कहानियाँ हैं। भगवतीचरण वर्मा को उपन्यास-क्षेत्र के समान कहानी-क्षेत्र में भी काफी सफलता मिली है। इनकी कहानियों के संग्रह हैं—खिलते फूल, इंस्टालमैंट और दो बाँके। पहाड़ी और नरोत्तमदास नागर भी प्रारम्भ में थोड़े बहुत अज्ञेय-प्रवर्तित परम्परा के कहानीकार थे।

यशपाल हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कहानीकारों में से एक हैं। अब तक इनके अनेक कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—अभिशान्त, वो दुनिया, ज्ञान दान, पिंजरे की उड़ान, तर्क का तूफान, भस्मावृत चिनगारी, फूलों का कर्ता धर्म युद्ध, उत्तराधिकारी और चित्र का शीर्षक आदि। यशपाल मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित हैं। इनकी कहानियों में यथार्थवादी दृष्टिकोण है और उनमें समाज की कुरीतियों की कटु आलोचना है। आप कला और जीवन में स्वाभाविकता के पक्षपाती हैं। इन्होंने अनेक प्रकार की सामाजिक, ऐतिहासिक और पौराणिक कहानियाँ लिखी हैं। इनकी कहानी कला अत्यन्त संयत और स्वाभाविक है। वर्ण्य विषय के साथ एकात्मता इनकी कहानियों की एक महती विशेषता है। उपेन्द्रनाथ अश्क का दृष्टिकोण अपनी सामाजिक कहानियों में वहुत कुछ यशपाल से मिलता-जुलता है। उनकी कहानियों में पिंजरा, पाषाण, मोती, दूलो, मरुस्थल, खिलौने, चट्टान, जादूगरनी और चित्रकार की मौत आदि उत्कृष्ट बन पड़ी हैं। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार तथा रामप्रसाद पहाड़ी के नाम भी कहानी क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय हैं। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने घरेलू जीवन की सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखी हैं। इनकी कहानियों का एक संग्रह "आदम खोर" प्रकाशित हो चुका है।

हिन्दी में हास्य रस की कहानियों के लेखक हैं—हरिशंकर शर्मा, कृष्णदेव प्रसाद गौड़, बेढब बनारसी, अन्नपूर्णानन्द, मिर्जा अजीम बेग और जयनाथ नलिन। इनके अतिरिक्त और भी अनेक कहानीकार हैं जिन्होंने कहानी की अभिवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उनमें प्रमुख हैं—देवेन्द्र सत्यार्थी, विष्णुप्रभाकर, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे, अंचल, गजानन मुक्ति बोध, जिज्ञासु, रामवृक्ष बेनीपुरी और शिवपूजन सहाय आदि। हिन्दी-साहित्य की महिला कहानी लेखिकायें हैं—सुभद्राकुमारी चौहान, उमा नेहरू, शिवरानी देवी, तेजरानी पाठक, ऊषा देवी मित्रा, सत्यवती मलिक, कमला देवी चौधरानी, महादेवी वर्मा, चंद्रप्रभा, तारा पांडेय, चंद्र किरण सौनरेक्सा, रामेश्वरी शर्मा, पुष्पा महाजन और विद्यावती शर्मा आदि।

हिन्दी कहानी के इस अल्पकालीन विपुल प्रसार, विकास और आशातीत अभिवृद्धि में पत्र-पत्रिकाओं ने भी कोई कम योग नहीं दिया। मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्रों में कहानियाँ धड़ाधड़ छपीं। कुछ पत्रिकायें तो केवल कहानियों की हैं। इन पत्रिकाओं ने हिन्दी के अनेक कहानीकारों को प्रेरणा दी तथा

हिन्दी कहानी के असंख्य पाठक पैदा किये। हिन्दी कहानी के विकास में सरस्वती, चाँद, इन्दु, माया, कहानी और सरिता आदि पत्रिकाओं ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में कहानी का जिस द्रुत-गति से विकास हुआ है उतना किसी अन्य गद्य-विधा का नहीं। आज हिन्दी कहानी क्षेत्र में इतने अधिक कहानी-लेखक हैं कि उनकी रचनाओं का परिचय देने के लिए एक स्वतन्त्र पुस्तक की अपेक्षा है। अतः हमें उदीयमान कहानी-लेखकों की नामावली प्रस्तुत करके ही सन्तोष करना होगा। ये उदीयमान कहानी-लेखक हैं—शिवप्रसादसिंह, रमेश बख्शी, कैलाश, भारद्वाज, अनल कुमार पाषाण, लाडली मोहन, रामावतार चेतन, आनन्द प्रकाश जैन, मनमोहन सरल, श्याम व्यास, सत्य प्रकाश संगर आदि।

शिल्प और प्रतिपाद्य वस्तु दोनों दृष्टियों से आधुनिक कहानी ने अतीव आशाजनक उन्नति की है। नई कहानी की प्रतिक्रिया में 'सचेतन कहानी' के लेखकों ने एक नवीन वर्ग की स्थापना की है। इस वर्ग के अन्तर्गत "डा० महीप सिंह मनहर चौहान, कुलभूषण, हिमांशु जोशी, सुदर्शन-चौपड़ा, रमेश गौड़, सुरेन्द्र मल्होत्रा, जगदीश चतुर्वेदी वेद राही धर्मेन्द्र गुप्त, देवेन गुप्त, योगेन्द्र कुमार लल्ला, राजीव सकसेना और देवेन्द्र सत्यार्थी" आदि अनेक लेखक हैं। ये सभी कहानी के नये-नये प्रयोगों में रत हैं और मानव जीवन की अनेक समस्याओं को उनके समग्र परिपार्श्व में उपस्थित करके नवमानव चेतना को उद्बुद्ध करने में प्रयत्नशील हैं। शिल्प के क्षेत्र में आधुनिक कहानी में काव्य की-सी सूक्ष्मता और सांकेतिकता का समावेश होने लगा है। आज का कहानीकार स्थूल कथानक के स्थान पर विम्ब और प्रतीकों से काम लेकर जीवन के अभिप्रेत सत्यों के उद्घाटन में परायण है। पात्रों में प्रतीकात्मकता और भाषा में सीधापन आधुनिक कहानियों की प्रमुख विशेषतायें हैं। किन्तु हमें इस बात की आशंका है कि कहीं आज की कहानी प्रतीकों के अत्यधिक समावेश और बिम्ब-विधान के अवांछनीय प्रवेश से केवल तंत्र मात्र और पहेली-बुझौवल न बन जाय। आज के कहानीकार को इस खतरे से सावधान रहना होगा।

नई कहानी

सन् १९५० से नई कविता के समान कहानी-क्षेत्र में भी असामाजिक भावनाओं अनास्था, काम कुंठा, संत्रास, क्षणवाद, घुटन, निराशा तथा जीवन के प्रति वितृष्णा को अभिव्यक्ति मिलने लगी है। ऐसी कहानियों को नई कहानी की संज्ञा से अभिहित किया जाने लगा है। नई कहानी भी नई कविता के समान— "अकहानी", "सचेतन कहानी" एवं "अचेतन कहानी" आदि नामों की अनेक केंचुलें बदल रही है। नई कहानी के आलोचकों का कहना है कि साहित्य की यह विधा "बदलते हुए जीवन को पकड़ने और व्यक्त करने में सशक्त माध्यम बन रहा है।" प्रो० धनंजय वर्मा ने नई कहानी के भाव-बोध के समर्थन में लिखा है—"जो संशय ग्रस्तता और व्यर्थता, जो संत्रास और निर्वासन, जो अजनबीपन और अकेलापन, जो मृत्युभय, ऊब और घुटन इन दिनों के वातावरण में फैली और फैल रही है, उसी का उद्घाटन इधर के कहानी-

कार पूरी बोल्डनैस के साथ कर रहे हैं। मुमकिन है कुछ लोगों को ये मनोदशायें आरोपित लगती हों.........ये स्थितियाँ किंचित् अतिरंजित भले लगें, इन्हें निराधार नहीं कहा जा सकता।" इसके अतिरिक्त नई कहानी के कतिपय अन्य समर्थकों ने इस में चित्रित मानसिक विकृतियों को आधुनिकता, वैज्ञानिक बोध, नूतनता, कलात्मकता नई संवेदना और आधुनिक युग बोध या युग सत्य जैसे भ्रामक शब्दों से आच्छादित करना चाहा है। इस संबन्ध में हमें याद रखना होगा कि नई कहानी ने बदलते हुए जीवन को उसके समग्र रूप में पकड़ने का प्रयास नहीं किया है बल्कि उस के खंडित अथच विकृत रूप को ही अंकित किया है। निःसन्देह नई कहानी में चित्रित स्थितियां निराधार तो नहीं हैं किन्तु ये किसी स्वस्थ और ठोस आधार को न लेकर मन की विक्षुब्ध स्थितियों के एकांगी आधार को लेकर उभरी हैं। नई कहानी का लेखक युग जीवन को उस के पुष्कल रूप में ग्रहण न करके केवल उसकी निराशा जन्य विकृतियों को उभार रहा है। उसने वैज्ञानिक बोध के नाम पर विज्ञान के केवल निषेधात्मक मूल्यों को ही देखा है और उसके विधेयात्मक मूल्यों पर दृष्टि पात नहीं किया। केवल फ्रायड, सार्त्र और काम्यू से जीवन दृष्टि पाने वाले नई कहानीकार का जीवन लक्ष्य व्यापकता एवं उदातता से शून्य है। फलतः उसने विकृत और खंडित व्यक्तित्व का चित्रण किया है।

डॉ० रमेश पांडेया ने नई कहानी की कतिपय विशेषताओं का निम्नांकित शब्दों में निरूपण किया है—

(क) "नई कहानी विशेष मनस्थिति को निरूपित करने के कारण क्लाइमेक्स का आग्रह नहीं रखती (ख) चरित्र की असंगति नई कहानी की विशेषता है। (ग) नई कहानियों में सस्पेन्स का प्रायः अभाव रहता है। (घ) चरम सीमा का अभाव। (ङ) नया कहानीकार अन्तर्द्वन्दों का सायास चित्रण नहीं करता। (च) शिल्प की नवीनता—नई कहानी में सांकेतिकता, बिम्ब विधान तथा प्रतीक योजना का बाहुल्य है। डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त ने नई कहानी की प्रवृत्तियों को लक्षित करते हुए लिखा है। कि (छ) इस का सब से बड़ा वैशिष्टय कथा तत्त्व का ह्रास है। नया कहानीकार कथानक को अधिक महत्त्व नहीं देता और उस के विकास को अनुपयोगी समझता है। (ज) इस में मुख्यतः मध्य वर्गीय शहरी जीवन के कलुषित, अस्वस्थ एवं कुंठाग्रस्त रूप का ही उद्घाटन किया गया है, अन्य वर्ग और पक्ष उपेक्षित हो रहे हैं। (झ) आंचलिकता के फैशन ने नई कहानीकार को ग्रामीण जीवन की ओर आकर्षित किया है किन्तु उसमें वास्तविक अनुभूतियों का अभाव है। उपेन्द्रनाथ अश्क के शब्दों में " देहात की कटु यथार्यता से इन कथाकारों को कोई प्रयोजन नहीं था। देहात में कैसे अत्याचार-अनाचार हो रहे हैं, इस से भी इन्हें कोई गरज़ नहीं थी। देहात की उस धरती में उन्होंने शहर के पेचीदा मन वाले लोग बसा दिये"।

नई कहानीकारों में से सर्व श्री मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, धर्मवीर भारती, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, अमरकान्त, अजितकुमार, शेखर जोशी, रेणु, मार्कण्डेय,

अमृतराय, रघुवीर सहाय, मुन्नु भंडारी, श्री कान्त वर्मा, राजकमल चौधरी तथा गंगा प्रसाद विमल आदि उल्लेखनीय हैं। अन्य भी अनेक नई कहानी के लेखक हैं जिनकी कहानियां "ज्योत्स्ना", 'आजकल', "कल्पना", 'धर्मयुग' तथा 'ज्ञानोदय' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। नई कहानियों में कुछ ही ऐसी कहानियां हैं जो सुन्दर बन पड़ी हैं अन्यथा बहुत सी कहानियां तो निराशा अनास्था त्रास ऊब और घुटन के चित्रण के साथ-साथ अपने आप में घुट कर रह गई हैं। नई कहानी की क्षयिष्णुता के कारण हैं—नूतनता और विशिष्टता का अनावश्यक आग्रह, चरम सीमा के अभाव के कारण प्रभाव हीनता, क्लिष्ट तथा अग्राह्य सांकेतिकता, जटिल बिम्बों और प्रतीकों का विधान, चारित्रिक विसंगति और इतिवृत्त को यथेष्ट महत्त्व न देना आदि। प्रायः आज का नया कहानीकार पश्चिम के प्रभावों और परिस्थितियों से इतना अधिक प्रभावित हुआ है कि उसमें अपने अनुभवों के प्रति अवज्ञा का भाव उत्पन्न हो गया है। वह शरीर से भारत में रहता हुआ भी मन से विदेश में रहकर पाश्चात्य जीवन के विसंगतिमय संदर्भों को यहां के जन जीवन पर बलात् आरोपित करना चाहता है। यह उसके कथ्य और कथन विधि की सबसे बड़ी परिसीमा है। यही कारण है कि नई कहानी अपने प्रचार के अपार साधनों और बेशुमार ऊँचे ऊँचे नारों के बावजूद भी भारतीय जनमानस में प्रतिष्ठित नहीं हो पाई है। नई कहानी के आलोचकों ने इस का कारण यह बताया है कि जिस मात्रा में नई कहानी में रचनात्मक मूल्यों का विकास हुआ, उस अनुपात से आस्वाद का धरातल तैयार नहीं हुआ तथा इस के मूल्यांकन का विवेक भी उतना जागृत नहीं हो सका है। अस्तु ! क्या नई कहानी के आस्वाद के लिए भारतीयों को मन भी विदेश से लेने होंगे ? क्या उन्हें मूल्यांकन के लिए विवेक बुद्धि भी विदेशियों से उधार लेनी होगी ? वस्तुतः नई कहानी की अप्रियता और उसकी ह्रासोन्मुखता के बीज उसी में ही सन्निहित हैं। इस विषय में डा० रमेश पांडेया के शब्द उल्लेखनीय हैं—"आज नये कहानीकार साहित्य की निरन्तर प्रवहमान स्वस्थ साहित्यिक परंपरा को ठुकरा कर विदेशी ढंग पर विसंगति बोध और सिद्धान्तवाद के आग्रह से भरी हुई कहानियों का निर्माण कर रहे हैं। ये वर्तमान की विकृति की कहानियां हैं। इन्होंने नई-कहानियों पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है"।

हिन्दी निबन्ध-साहित्य का विकास

हिन्दी-साहित्य में निबन्ध का समुचित सूत्रपात राष्ट्रीय जागरण के उषःकाल भारतेन्दु समय में हुआ। एक तो अब गद्य का विकास हो चुका था और दूसरे मुद्रण-यंत्र तथा समाचार-पत्रों के प्रचलन ने साहित्य के इस अंग को प्रोत्साहन दिया। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु-युग के साहित्यकार पर विविधमुखी दायित्व था जिसकी पूर्ति गद्य साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा निबन्ध के द्वारा सहज तथा सबल रूप में हो सकती थी। तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना ने इस युग में निबन्धों के विकास में यह महत्त्वपूर्ण योग दिया। भारतेन्दु-युग से आज तक के निबन्ध-साहित्य को

(१) भारतेन्दु-युग, (२) द्विवेदी युग, (३) शुक्ल युग तथा (४) शुक्लोत्तर युग में विभाजित करके क्रमात्मक रूप से इसका अध्ययन किया जायगा।

भारतेन्दु-युग—भारतेदु-युग का उदय राष्ट्रीय जागरण की नव सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना के उन्मेषकाल में हुआ। उस युग के साहित्यकार का दायित्व निश्चित रूप में अनेकमुखी था। जहाँ उसे एक ओर सामाजिक सुधार करना था, वहाँ दूसरी ओर सांस्कृतिक चेतना का समुचित विकास करना भी उसे अभीष्ट था। एक ओर उसे शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार करना था तो दूसरी ओर उसे साहित्य के विविध अंगों को पुष्ट करना वांछनीय था। इन सम्पूर्ण दायित्वों की पूर्ति के सबल माध्यम के लिये जितना निबन्ध उपयोगी हो सकता है उतनी साहित्य की दूसरी विधा नहीं। प्रायः इस युग के साहित्यकार, सम्पादक और लेखक भी हैं। इन्होंने अपनी पत्र-पत्रिकाओं में सामाजिक विषयों, सामयिक आन्दोलनों तथा दूसरे अनेक प्रकार के विषयों की चर्चा निबन्धों के रूप में की है, अतः इस युग के निबन्धों में जहाँ विषय-व्यापकता है वहाँ उनमें पत्रकारिता के भी सभी गुण हैं। उनके निबन्धों की समस्यायें जनता की समस्यायें थीं, अतः इस युग के निबन्ध साहित्य में तत्कालीन युग की समग्र चेतना सम्यक् रूप से प्रतिबिम्बित हुई है। गद्य के किसी सर्व- स्वीकृत रूप के अभाव में भाषा और शैली में एकरूपता का आना उस युग के निबन्धों में कठिन था, अतः इस क्षेत्र में वैयक्तिक प्रयोग ही चलते रहे। अस्तु! इस युग में निबन्ध खूब लिखे गये और सम्भवतः इस युग के गद्य-साहित्य का सबसे उन्नत अंग निबन्ध ही हैं। इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं--भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, ज्वालाप्रसाद, तोताराम, अम्बिकादत्त व्यास और राधाचरण गोस्वामी प्रभृति।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न हिन्दी के प्रथम निबन्धकार हैं। कविता और नाटक के समान इनके निबन्धों की परिधि भी बहुत व्यापक है। इन्होंने धर्म, समाज, राजनीति, आलोचना, खोज-यात्रा, प्रकृति-वर्णन, आत्मचरित और व्यंग्य-विनोद आदि सभी विषयों पर सफल निबन्ध लिखे हैं। इन्होंने अपने धार्मिक निबन्धों में अन्धविश्वासों, मिथ्या परम्पराओं और बाह्य-आडम्बरों पर तीखी चोट की है। सामाजिक निबन्धों में कुरीतियों का खुलकर विरोध किया है और राजनीतिक निबन्धों में विदेशी शासन पर मीठे तीखे व्यंग्य कसे हैं। इनके यात्रा-वर्णन अत्यन्त सजीव और प्राकृतिक निबन्ध अतीव मनोहारी हैं। ताजगी, जिंदादिली आत्मीयता, व्यक्तित्व की अभिव्यंजना, मौलिकता और व्यंग्यात्मकता इनके निबन्धों के विशिष्ट गुण हैं। इनके निबन्ध व्याख्यात्मक और विचारात्मक शैली में लिखे गये हैं। इनकी नाटकीय शैली और स्तोत्रों के ढंग से व्यग्यात्मकता में प्रभावोत्पादन की विलक्षण क्षमता आ गई है।

बालकृष्ण भट्ट एक स्वतंत्रचेता और प्रगतिशील विचारों के निबन्धकार हैं। भट्ट जी कदाचित् भारतेन्दु-युग के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार हैं। इन्होंने सामाजिक राज-

नीतिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विषयों पर निबन्ध लिखे और भारतेन्दु की व्याख्यात्मक तथा विचारात्मक शैली को विकसित किया। इनके निबन्ध 'ब्राह्मण' पत्र में छपा करते थे। इन्होंने भाषा में व्याकरणसम्मत रूप का कोई ध्यान नहीं रखा है और प्रायः ये अपने निबन्धों में विषयान्तर कर जाते हैं। किसी भी शीर्षक वाले निबन्ध में विलायत-यात्रा, समाज की सेवा, देश-प्रेम और स्वभाषा-प्रेम आदि का आ जाना स्वाभाविक था। इनके 'नवीन' 'प्रताप-पीयूष' तथा 'प्रताप-समुच्चय' तीन निबन्ध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। बालमुकुन्द गुप्त उर्दू क्षेत्र से हिन्दी में आये। ये अपने व्यंग्यात्मक निबन्ध 'शिवशम्भु के चिट्ठा' तथा 'खत' के लिए हिन्दी जगत् में प्रसिद्ध हैं। इनके निबन्धों में अतीत-प्रेम के साथ राजनीतिक विचारों की सजगता विशेष उभरी हुई है। इन्होंने कई जीवन-चरित तथा हिन्दी-भाषा, लिपि, व्याकरण और राष्ट्रभाषा आदि के सम्बन्ध में निबन्ध लिखे। इनके अतिरिक्त ज्वालाप्रसाद, तोताराम, रामचरण गोस्वामी और अम्बिकादत्त व्यास ने फुटकर रूप में तथा टिप्पणियों के रूप में निबन्ध लिखे। श्री विजयशंकर ने भारतेन्दु-युगीन निबन्धों की विशेषताओं को इन शब्दों में व्यक्त किया है—'भारतेन्दु-युग के निबन्ध सचमुच प्रयास ही है। उनमें न बुद्धि वैभव है न पाण्डित्य-प्रदर्शन और न ग्रंथ-ज्ञान-ज्ञापन। इन लेखकों की रुचि सभी विषयों में है पर किसी भी विषय में ये अन्तिम बात नहीं कहते, बल्कि पाठक के साथ सोचना-विचारना चाहते हैं। उनमें कुछ ऐसी आत्मीयता और बेतकल्लुफी है कि पाठक भी उनसे घुल-मिल जाना चाहता है।" इनके निबन्धों में वैयक्तिकता के साथ सामाजिकता है। इनकी व्यंग्यात्मकता सोद्देश्य है और वह किसी न किसी सामाजिक या राजनीतिक विषमता पर गहरी चोट करती है। सरलता इन निबन्धों का निजी गुण है और इन निबन्धों में सम्पूर्ण युग-चेतना प्रतिबिम्बित हुई है।

द्विवेदी-युग—इस युग की समस्त-साहित्य चेतना महावीरप्रसाद द्विवेदी में समाहित है। उनका सबसे पहला कार्य है, भाषा का संस्कार तथा परिष्कार। उन्होंने भाषा के व्याकरण-सम्मत प्रयोग तथा हिन्दी में विराम-चिह्नों के उपयोग पर अत्यधिक बल दिया। उनका भाषा सम्बन्धी आदर्श था कि हिन्दी को अन्य भाषाओं के शब्दों से सर्वथा अछूता न रखा जाये, किन्तु उसमें प्रयत्नपूर्वक संस्कृत के तत्सम शब्दों का बहिष्कार भी न किया जाये। उनकी इस नीति का तत्कालीन निबन्धों पर स्पष्ट प्रभाव है। द्विवेदी जी के नैतिकताप्रिय होने के कारण उस युग में नैतिक निबन्ध अधिक लिखे गये। इस युग में पत्रकारिता की स्वच्छन्दता कम हो गई और निबन्धकार जन-सामान्य की अपेक्षा मध्यवर्ग के शिष्ट एवं शिक्षित समाज के अधिक समीप आ गया। इसलिए एक तो इस युग के निबन्धों के भारतेन्दुकालीन विषय वैविध्य समाप्त हो गया और दूसरे उनमें गाम्भीर्य अधिक आ गया। इससे द्विवेदीकालीन निबन्धों में बौद्धिकता अधिक आई और हार्दिकता की कमी रही और उनमें भारतेन्दुकालीन आत्मीयता तथा जिंदादिली न रही। सरस्वती के प्रकाशन

से हिन्दी में साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रवर्तन हुआ और तब से निबन्धों में साहित्यिकता अधिक आने लगी। द्विवेदी जी के अनुसार ज्ञानराशि का अर्जित भंडार ही साहित्य है। अतः इस युग के निबन्धकार का ध्यान अपने साहित्य को संचित ज्ञान-कोष बनाने की ओर भी गया। परिणामतः दूसरी भाषाओं के निबन्धों के अनुवाद करने की परम्परा भी इस युग में चल निकली। इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं—महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास, पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और सरदार पूर्णसिंह।

निबन्धकार महावीरप्रसाद द्विवेदी का महत्त्व ऐतिहासिक है, साहित्यिक नहीं। उन्होंने पाश्चात्य लेखकों के ज्ञान को अर्जित करके अपने निबन्धों के द्वारा हिन्दी पाठकों का ज्ञानवर्धन किया। उनके 'साहित्य की महत्ता', 'कवि और कविता', 'कवि-कर्त्तव्य', 'प्रतिभा', 'नाटक और उपन्यास' जैसे निबन्ध ज्ञान के संचित कोष ही हैं। उनके मौलिक चिन्तन से लिखे हुए निबन्ध कम ही हैं, जैसे दण्डदेव का आत्मनिवेदन, कालिदास का भारत, गोपियों की भगवद्भक्ति और नल का दुस्तर दूतकार्य। इन निबन्धों में रोचकता और आत्मीयता है। इन्होंने बेकन के निबन्धों का "बेकन विचार रत्नावली" के नाम से अनुवाद भी किया। समूचे रूप से इनके निबन्धों में भाषा का अत्यन्त शुद्ध रूप है, किन्तु उनमें चिन्तन की कमी है।

माधवप्रसाद मिश्र के निबन्ध भावनापूर्ण हैं, एतदर्थ उनमें सरसता माधुर्य है। उनके त्यौहारों और तीर्थ-स्थानों पर लिखे गये निबन्ध विद्वतापूर्ण और मार्मिक हैं। इन्होंने धृति और सत्य जैसे विषयों पर गम्भीर शैली में लिखा है। 'माधवमिश्र निबंध माला' के नाम से इनका निबंध-संग्रह छप चुका है। गुलेरी जी ने कहानियों के समान निबंध भी कम लिखे हैं, किन्तु वे उनकी कहानी 'उसने कहा था' के समान अद्वितीय और अनूठे हैं। उनके 'मारेसि मोहिं कुठांव', 'कछुआ धरम' और 'संगीत' आदि निबंधों में समाज पर तीखे व्यंग्य हैं। सरदार पूर्णसिंह के भावनात्मक निबंधों में मानवतावादी दृष्टिकोण की प्रधानता है। इनके निबंधों में स्वाधीन चिन्तन और प्रगतिशीलता के तत्व हैं। इनके लेख 'आचरण की सभ्यता', सच्ची वीरता, मजदूरी और प्रेम आदि काफी लोकप्रिय हुए। पद्मसिंह शर्मा के दो निबन्ध-संग्रह 'पद्म-पराग' और 'प्रबंध-मंजरी' प्रकाशित हो चुके हैं। इनके निबंध फड़कती हुई भाषा के कारण पर्याप्त आकर्षक बन पड़े हैं। उन्होंने कुछ जीवनियाँ और संस्मरणात्मक लेख भी लिखे हैं। मिश्रबन्धुओं के निबन्ध संख्या में काफी हैं पर उनका महत्व शिक्षामूलक है।

बाबू श्यामसुन्दरदास एक उच्चकोटि के आलोचक होने के साथ-साथ सफल निबंधकार भी थे। उन्होंने प्रायः गम्भीर आलोचनात्मक विषयों पर लेख लिखे हैं, जैसे भारतीय साहित्य की विशेषताएँ, समाज और साहित्य हमारे साहित्योदय की प्राचीन कथा, कर्त्तव्य और सभ्यता, आदि। इनके निबंधों में विचार-संचय की प्रवृत्ति

अधिक है, निजी अनुभूतियों का प्रकाशन कम। इनकी व्यास शैली में काफी सुबोधता और स्पष्टता है किन्तु भारतेन्दु की सी रोचकता नहीं है।

द्विवेदी-युग के निबंधों के परिचय के अनन्तर कहा जा सकता है कि इनमें भारतेन्दुकालीन निबन्धों की सी ताजगी, जिन्दादिली और व्यंग्य-विनोदप्रियता नहीं है, बल्कि विचारों की प्रधानता और गम्भीरता है। इन निबन्धों का वृत्त भी सीमित है, इनमें भारतेन्दुकालीन निबन्धों के समान सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक चेतना का प्रतिविम्ब नहीं है। भारतेन्दुकालीन निबन्धों में पर्याप्त मौलिकता है, किन्तु इनमें ज्ञान की संचयात्मकता है। वस्तुतः ये निबन्ध कम हैं और विचारों के संग्रह अधिक। गुलेरी और पूर्णसिंह के निबन्धों को छोड़कर द्विवेदी-युग के निबन्धों में वैयक्तिकता का भी प्रायः अभाव है। उपदेशात्मकता इन निबन्धों की खास विशेषता है। इस युग के निबन्ध भाषा की दृष्टि से अधिक शुद्ध और परिष्कृत हैं।

शुक्ल युग—आलोचक-प्रवर रामचन्द्र शुक्ल का स्थान हिन्दी निबन्ध-परम्परा में शीर्षस्थानीय है। इनके निबन्ध अन्तःप्रयास से निकली हुई सहज विचारधारा के प्रतिरूप हैं। उनके आगमन से हिन्दी-जगत् को नयी अनुभूति, नये विचार और नयी भावाभिव्यक्ति-शैली के दर्शन हुए। उन्होंने मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक तथा सैद्धान्तिक सभी प्रकार के निबन्ध लिखे। उनकी 'चिन्तामणि' में इन सभी प्रकारों के निबन्ध हैं जिनमें "एक ओर चिन्तन की मौलिकता, विवेचन की गम्भीरता, विश्लेषण की सूक्ष्मता एवं प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है तो दूसरी ओर उनमें लेखक की वैयक्तिकता, भावात्मकता एवं व्यंग्यात्मकता का दर्शन भी स्थान-स्थान पर है। उनके निबन्धों में विषय और व्यक्ति का ऐसा समन्वय हुआ है कि इस वात का निर्णय करना कठिन हो जाता है कि उन्हें विषय-प्रधान कहें या व्यक्ति-प्रधान कहें ?" (डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त) उनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों—लोभ, प्रीति, ईर्ष्या, श्रद्धा और क्रोध आदि में सामाजिक व्यावहारिकता, साहित्यिकता और मनोविश्लेषण की सूक्ष्मता साथ-साथ चलती है। इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने समाजशास्त्री, मनोविज्ञान-वेत्ता तथा साहित्यकार, तीनों के कार्यों की सफलतापूर्वक पूर्ति की है। 'कविता क्या है ?" 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध रूप', काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' तथा 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' आदि सैद्धान्तिक और साहित्यालोचनात्मक निवन्ध हैं। इन निबन्धों में उनकी अपूर्व प्रतिभा और मौलिक चिन्तन दर्शनीय हैं। इनमें विचार-गहनता के साथ-साथ रसधारा भी चलती रहती है। शुक्ल जी के निबन्धों में पर्याप्त मौलिकता, स्पष्टता और रोचकता है। शुक्ल जी जीवन से अध्यापक, मस्तिष्क से आलोचक और हृदय से कवि हैं। सूत्र, व्याख्या और निष्कर्ष उनके निबन्धों का सार है। उनकी शैली के सम्बन्ध में डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त लिखते हैं—"निबन्धकार शुक्ल की शैली में भी निजी विशिष्टता मिलती है। भारतेन्दु-युग की-सी मौलिकता उसमें है किन्तु वे उसके छिछलेपन से दूर हैं, द्विवेदी युग की विचारात्मकता उसमें हैं, किन्तु वैसी शुष्कता का अभाव है। विचारों की

गम्भीर घाटियों के बीच-बीच में उतरी हास्य-व्यंग्य से ओत-प्रोत उक्तियाँ किसी स्वच्छ-शीतल निर्झर के कोमल-मधुर कलकल स्वर की तरह सुनाई पड़ती हैं।" हाँ, उनके कुछ निबन्ध हिन्दी के साधारण पाठक की तो क्या बात, हिन्दी के अच्छे-अच्छे विद्वानों को अपनी जटिलता के कारण हैरान कर देते हैं।

शुक्ल युग के अन्य उल्लेखनीय निबन्धकार हैं—बाबू गुलाबराय, पुदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, राय कृष्णदास, वासुदेवशरण अग्रवाल और शांतिप्रिय द्विवेदी आदि।

बाबू गुलाबराय के निबन्धों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आपने साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक, संस्मरणात्मक आदि सभी प्रकार के निबन्ध लिखे हैं। इनके निबन्धों में वैयक्तिकता, अनुभूति-गहनता और शैली की सुबोधता सभी गुण मिलते हैं। आपके 'मेरी असफलताएँ' और 'फिर निराश क्यों' आदि निबन्ध काफी लोकप्रिय हुए हैं। पुदुमलाल ने 'उत्सव', 'रामलाल पंडित', 'नाम', 'समाज सेवा' और 'विज्ञान' आदि शीर्षकों से अनेक निबन्ध लिखे हैं। विचारों की मौलिकता और शैली की नूतनता के कारण हिन्दी में इनके निबन्धों का विशिष्ट स्थान है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सांस्कृतिक विषयों पर बहुत सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। डॉ० रघुवीरसिंह अपने ऐतिहासिक संस्मरणात्मक लेखों के लिए प्रसिद्ध हैं। इनका 'शेष स्मृतियाँ' निबन्ध काफी महत्त्वपूर्ण है। राय कृष्णदास, वियोगी हरि तथा शांतिप्रिय द्विवेदी के निबन्धों में भावात्मकता की प्रधानता है। इनके निबन्धों में विचारों की अपेक्षा निजी अनुभूतियों का प्राधान्य है। शुक्ल युग के निबन्धों के सम्बन्ध में निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि इनमें विषय-वैविध्य है, गम्भीरता और सूक्ष्मता है। भाषा की प्रौढ़ता, सरसता शैली की विशिष्टता और वैयक्तिकता की दृष्टि से इस युग के निबन्ध द्विवेदी-युग के निबन्धों से उन्नत हैं।

शुक्लोत्तर युग—आचार्य हजारीप्रसाद, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० नगेन्द्र, जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, शिवदानसिंह चौहान, प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, डॉ० देवराज और नलिनविलोचन शर्मा आदि भी शुक्ल की परम्परा में आते हैं। ये विचार और शैली की दृष्टि से शुक्ल से भिन्न हैं पर इन्हें जीवन के बारे में जो कुछ कहना है, शुक्ल के समान साहित्य के माध्यम से कहते हैं। साहित्य-आलोचनात्मक निबन्ध लेखकों में पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी वर्मा के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपने काव्य संग्रहों की भूमिकाओं में आधुनिक कविता की धाराओं का सुन्दर विवेचन किया है। 'प्रसाद' तथा 'दिनकर' ने स्वतंत्र रूप से भी निबंधों की कलात्मक सृष्टि की है। सियारामशरण गुप्त ने भी अनेक प्रकार के सुन्दर निबंध लिखे हैं।

इस युग के वर्णनात्मक एवं यात्रासम्बंधी निबन्ध लेखकों में सत्यदेव, राहुल सांस्कृत्यायन और देवेन्द्र सत्यार्थी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके

अतिरिक्त सद्गुरुशरण अवस्थी, भगवती चरण वर्मा, भदंत आनंद कौसल्यायन और नरहरि विष्णु गाडगिल आदि ने भी हिन्दी-निबन्ध क्षेत्र में सुन्दर और सफल प्रयोग किये हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद के अनेक निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जैसे 'अशोक के फूल', 'कल्पलता', 'विचार और वितर्क'। "आपके निबन्धों में हृदय की सरलता, प्राचीन साहित्य एवं संस्कृत का ज्ञान-वैभव, विचारों की मौलिकता एवं शैली की रोचकता का सफल समन्वय दृष्टिगोचर होता है।" सरलता के साथ व्यंग्य-विनोद-प्रियता इनके निबन्धों की निजी विशेषता है। गम्भीर ऐतिहासिक अध्ययन के कारण इनका दृष्टिकोण पर्याप्त व्यापक और उदार है और उस पर रवीन्द्र के मानवतावाद की गहन छाप है। इन्होंने साहित्य, समाज, संस्कृति और ज्योतिष आदि अनेक विषयों पर लिखा है। पाठक के साथ आत्मीयता स्थापित करने में द्विवेदी जी सिद्धहस्त हैं। डॉ० नगेन्द्र में शुक्ल की मौलिकता, द्विवेदी जी की रोचकता और गुलाबराय की स्पष्टता है। उनके काव्यशास्त्रीय निबन्धों में पाश्चात्य और पौरस्त्य का सन्तुलित समन्वय है। इन्होंने साहित्यिक विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। इनके 'विचार और विवेचन', 'विचार और अनुभूति' और 'विचार और विश्लेषण' आदि निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। जैनेन्द्र के दार्शनिक और सामाजिक निबन्धों में पर्याप्त मौलिक चिन्तन और मनन है। यशपाल ने भी निबन्ध-लेखक के मूड में सुन्दर व्यंग्य लेख लिखे हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्यिक निबंध लिखे हैं जिनमें मौलिक चिन्तन है। इनके लेखों में एक पत्र-सम्पादक की छाप सर्वत्र विद्यमान रहती है। रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान और अमृतराय प्रभृति लेखकों ने प्रगतिशील दृष्टिकोण से साहित्य-संबंधी निबन्ध लिखे हैं। इनके निबंधों में मौलिकता और रोचक शैली के सभी गुण मिलते हैं। धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, रांगेय राघव, नलिनविलोचन शर्मा आदि के साहित्यिक निबंध हिंदी की अनेक साहित्यिक पत्रिकाओं में समय समय पर निकलते रहते हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी के शताधिक निबंधकारों के निबंध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं।

छोटे गद्य गीतों के समान आज रेखा-चित्रों को भी निबंध कोटि में परिगणित कर लिया गया है। प्रसिद्ध रेखा-चित्रकारों में उल्लेखनीय हैं—प्रकाशचन्द गुप्त और रामवृक्ष बेनीपुरी आदि। बाबू गुलाबराय के संस्मरण लेखों के समान महादेवी वर्मा ने संस्मरणात्मक निबंध लिखे हैं। उनके 'अतीत के चल-चित्र', 'स्मृति की रेखाएँ' और 'शृंखला की कड़ियाँ' इस प्रकार के निबंधों के संग्रह हैं। उन्होंने वैयक्तिक अनुभूतियों, सामाजिक विषमता एवं शोषित वर्ग की दीन-हीनता का चित्रण अपने इन लेखों में किया है। इन निबंधों में "चित्रकार की तूलिका और निबंधकार की लेखनी, दार्शनिक की अन्तर्दृष्टि एवं कवि की वाणी गद्य की-सी विचारात्मकता एवंपद्य की-सी भावात्मकता का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है।"

इस दिशा में पं. पद्मसिंह पदुमलाल पुन्ना लाल बख्शी, बनारसी दास चतुर्वेदी, डॉ० विनय मोहन शर्मा, डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, देवेन्द्र सत्यार्थी तथा प्रेम नारायण व्यंजन के नाम उल्लेखनीय हैं।

आजकल रेखाचित्रों के समान रिपोर्ताज, डायरी, संस्मरण तथा मेमायर्स भी पर्याप्त मात्रा में लिखे जा रहे हैं। रेखा चित्रों में अपने अभीष्ट को सांकेतिक रूप में अभिव्यंजित कर दिया जाता है। भावात्मक प्रतिपाद्य को संक्षेप में मार्मिक शब्द रेखाओं द्वारा चित्रित कर देना रेखाचित्र है। डॉ० कृपाशंकर सिंह के शब्दों में किसी "स्थान-या-घटना के सजीव चित्रण को रिर्पोताज की संज्ञा प्राप्त हुई। इसी प्रकार किसी प्रसिद्ध व्यक्ति के संपर्क की याद की अनुभूति का संबल लेकर आत्मकथन के रूप में प्रस्तुत करना संस्मरण कहलाया। मेमायर्स भी संस्मरण से मिलती-जुलती विधा है, जिसमें ऐतिहासिकता प्रायः अनिवार्य रहती है।" संस्मरण, रेखा चित्र और मेमायर्स परस्पर बहुत निकट हैं। इन्टरव्यू शैली भी संस्मरण का एक विकास है। इस विषय में डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश की "मैं इन से मिला" एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

आधुनिक हिंदी-निबन्ध-साहित्य के विकास की अनेक गतिविधियों पर दृष्टिपात करते हुए यह कहा जा सकता है कि उसने अल्पकाल में पर्याप्त आशाजनक उन्नति की है। उसमें अनेक नवीन ललित निबंधों (Personal essay) और भावात्मक निबंधों और गद्य गीतों की पद्धतियों का आविष्कार हुआ है। किन्तु आज के निबन्ध-साहित्य में कतिपय दूषित प्रवृत्तियों का भी समावेश होने लगा है जैसे अहंमन्यता एवं निर्वैयक्तिकता। आज के हिन्दी निबंधकार को निबंध साहित्य की मौलिकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए काफी ईमानदारी से काम लेना होगा। उसे पाश्चात्य जगत् से उधार ली हुई विचारावली को आडम्बरपूर्ण वाग्जाल में प्रस्तुत करके अपने तथाकथित पांडित्य की धाक न जमा कर मौलिक चिन्तन और आत्म-निरीक्षण को बढ़ावा देना होगा। आज के निबन्ध-साहित्य की विषय परिधि सिमटती जा रही है। उसमें केवल साहित्यिक विषयों पर ही निबन्ध लिखे जा रहे हैं जबकि उसमें सामाजिक, राजनीतिक तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों के निबन्धों के लिखने की भी महत्ती आवश्यकता है। उसका सर्वांगीण विकास केवल इसी रूप से संभव है।

हिन्दी आलोचना-साहित्य का विकास

हिन्दी आलोचना का आधुनिक रूप वर्तमान काल में विकसित हुआ किन्तु इससे भी पूर्व हिन्दी-साहित्य में आलोचना की एक परम्परा प्रचलित थी जिसका सीधा संबंध संस्कृत काव्य-आलोचना से है। संस्कृत साहित्य में सैद्धान्तिक आलोचना का विकास बहुत पहले हो चुका था, जिसे काव्यशास्त्र या अलंकारशास्त्र के नाम से अभिहित किया जा सकता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में रस, अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि तथा औचित्य आदि अनेक काव्य-संबंधी सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। निःसन्देह वाद या सम्प्रदाय-विशेष की स्थापना लक्ष्य ग्रन्थों पर आधृत होती है किन्तु बड़े

आश्चर्य का विषय है कि संस्कृत-साहित्य के काव्यशास्त्र में नवीन मतवादों की प्रतिष्ठा पर जितना बल दिया गया है उतना उसके प्रयोगात्मक पक्ष पर नहीं। आलोचना का सैद्धान्तिक रूप मध्यकाल के साहित्य में अर्थात् भक्ति और रीतिकाल में काव्य-सिद्धान्त निरूपण, कवि शिक्षा प्रेरणा, भाष्य, टीका, सूत्र, वार्तिक और वृत्ति के रूप में विद्यमान था। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी एक स्थान पर लिखते हैं—"प्रत्येक युग का रचनात्मक साहित्य ऐसी आलोचना की उद्भावना करता है जो उसके अनुरूप होती है और इसी प्रकार प्रत्येक युग की आलोचना भी उस युग की रचना को अपने अनुकूल बनाया करती है। वस्तुतः देश और समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्तियाँ ही एक ओर साहित्य-निर्माण की दिशा का निश्चय करती हैं और दूसरी ओर समीक्षा का स्वरूप भी निर्धारित करती हैं। कहा जा सकता है कि रचनात्मक साहित्य के इतिहास और समीक्षा के इतिहास में धारा-वाहिक समानता रहा करती है।" आचार्य जी का उक्त सिद्धान्त हिन्दी-समीक्षा के अन्य कालों के समान भक्ति और रीति युग के साहित्य और उनकी समीक्षा-पद्धति पर अक्षरशः चरितार्थ होता है। हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में सैद्धांतिक आलोचना के ग्रंथों का उद्देश्य सिद्धांत विवेचन न होकर भक्ति-शृंगार अथवा काव्य-रचना-प्रकारों का उल्लेख करना था। संस्कृत के काव्यशात्रीय ग्रंथों के आधार पर निर्मित—सूर की 'साहित्य लहरी' और नन्ददास की 'रस मंजरी' आदि नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रंथों का लक्ष्य नायिका भेद समझाना नहीं बल्कि अपने आराध्यदेव रसराज कृष्ण की प्रेम लीलाओं में योग देना है। इसी प्रकार अकबर के दरबारी कवियों—रहीम, करनेस और भूपति आदि ने भी नायिका-भेद एवं अलंकार निरूपण किया किंतु उनका उद्देश्य काव्य-विवेचन न होकर रसिकता का पोषण करना था। नाभादास के भक्तिमाल में सूक्तियों के रूप में समीक्षात्मक कथन मिलते हैं किन्तु उसका उद्देश्य भी भक्तों के उदात्तचरित का महिमा-गान करना है, कोई कवि सम्बन्धी प्रौढ़ विवेचन प्रस्तुत करना नहीं। केशवदास ने सर्वप्रथम विशुद्ध आचार्यत्व की प्रेरणा से कवि-प्रिया एवं रसिकप्रिया जैसे काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन किया। केशव की यह परम्परा समस्त रीतिकाल में भिन्न-भिन्न मार्गों पर भिन्न-भिन्न रूपों में विकसित होती रही। रीतिकाल में सर्वांगनिरूपक काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के साथ-साथ रस, नायिका-भेद एवं नख-शिख सम्बन्धी ग्रंथ निर्मित हुए। दूसरे प्रकार के ग्रंथों का उद्देश्य काव्य-शास्त्र की आड़ में कामुकता और रसिकता का तत्कालीन जनता में प्रचार करना था। इस काल में "तुलसी गंग दुऔ भये सुकविन के सरदार" तथा "सूर सूर तुलसी ससि" आदि कुछ समीक्षात्मक सूक्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार की उक्तियाँ सेनापति देव, ठाकुर आदि की भी सामान्य काव्य के सम्बन्ध में मिलती हैं, किन्तु इन सूक्तियों, काव्यशास्त्रीय नायिका-भेद एवं अलंकार-ग्रंथों में प्रतिपादित समीक्षा-सिद्धान्तों का कोई अधिक महत्त्व नहीं है। रीतिकालीन आचार्य कवियों का उद्देश्य रसिक जनों को काव्य-शास्त्र का सामान्य परिचय कराना था, अतः

उनमें प्रौढ़ता, गम्भीरता और सूक्ष्मता का अभाव है। ब्रज-भाषा गद्य के विकसित रूप के अभाव के कारण किसी काव्यादर्श या समीक्षा के किसी सच्चे रूप की प्रतिष्ठा न हो सकी। हाँ, पूर्ववर्ती युग की आलोचना सम्बन्धी कृतियों का इतना मूल्य अवश्य है कि उन्होंने आधुनिक युग की समीक्षा के लिए द्वार खोला है।

भारतेन्दु युग में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशित होने के साथ आधुनिक आलोचना का सूत्रपात हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सर्वतोमुखी प्रतिभा से सम्पन्न कलाकार हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के अन्य अंगों के समान उन्होंने आलोचना के विकास में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के समान इनका 'नाटक' नामक ग्रंथ नाट्यशास्त्र सम्बन्धी सैद्धान्तिक आलोचना का ग्रंथ है। डॉ० गणपति-चन्द्र गुप्त इस ग्रंथ के सम्बन्ध में लिखते हैं—"यह ग्रंथ एक अत्यन्त प्रौढ़ रचना है, जिसमें प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र एवं आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा-साहित्य का समन्वय करते हुए तत्कालीन हिन्दी के नाटककारों के लिए सामान्य नियम निर्धारित किये गये हैं, जिनमें स्थान-स्थान पर लेखक की मौलिक उद्भावनाएँ प्रकट हुई हैं। एक ओर तो वे नाटकों के भेदों का विवेचन करते हुए अपने युग के सभी प्रकार के नाटकों, कठपुतलियों के खेलों, बाजीगरों के तमाशों, पारसियों के नाटकों आदि पर दृष्टिपात करते हैं तो दूसरी ओर वे अपने युग का मार्गदर्शन करते हुए लिखते हैं—"नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति का ही परित्याग करें, यह आवश्यक नहीं······किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण हैं, इससे संप्रति प्राचीनतम अवलंबन करके नाटक आदि दृश्य-काव्य लिखना युक्ति संगत नहीं बोध होता।" इसी प्रकार भारतेन्दु जी ने यत्र-तत्र अनेक स्थलों पर मौलिक चिंतन से काम लिया। बाबू श्यामसुन्दरदास ने इस रचना को भारतेन्दु-कृत नहीं माना हैं, किंतु बाबू जी के पास इसका कोई भी ठोस आधार एवं प्रमाण नहीं है। हिन्दी के कतिपय अन्य विद्वानों ने भारतेन्दु की रचना "नाटक" को सस्ते नोट रूप में लिखी पुस्तक माना है, किंतु यह मतिभ्रम के सिवाय और कुछ नहीं। प्रौढ़ विवेचनमय इस रचना को कभी भी नोट नहीं कहा जा सकता है।

भारतेन्दु के अतिरिक्त इस काल में प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट और प्रताप-नारायण मिश्र आदि के अनेक लेखों में आलोचना का रूप देखा जा सकता है। इन लेखों में किसी कवि या रचना की आलोचना करते समय पहले उससे सम्बन्धित आलोचना के सिद्धान्तों की ओर संकेत कर दिया जाता था। 'प्रेमघन' ने अपनी पत्रिका 'कादंबिनी' में श्रीनिवासदास के 'संयोगिता-स्वयंवर' तथा 'बंग—विजेता' पुस्तकों की आलोचना की। बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी प्रदीप में 'सच्ची आलोचना' शीर्षक से संयोगिता-स्वयंवर की आलोचना प्रस्तुत की। भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित आलोचना-पद्धति को 'प्रेमघन' तथा भट्ट ने विकसित किया। भट्ट जी की शैली

में सरसता, भावात्मकता और व्यंग्यात्मकता मिलती है। भारतेन्दु काल में आलोचना का समुचित विकास न हो सका, क्योंकि इस काल की प्रमुख साहित्यिक चेतना या तो हिन्दी की प्रतिष्ठा या व्रजभाषा और खड़ी बोली के विवाद में लगी रही।

महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में आगमन से हिन्दी आलोचना को भी एक नवीन प्रेरणा मिली। किन्तु इनके आगमन से पूर्व गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की 'समालोचना' और अंबिकादत्त व्यास की 'गद्य काव्य मीमांसा' आलोचनात्मक दो छोटी-सी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। महावीरप्रसाद द्विवेदी का बहुत सा समय भाषा के संस्कार और परिष्कार में लगा, किन्तु फिर भी उन्होंने तत्कालीन कविता के आदर्श निर्माण और आलोचना के विकास में कुछ कम योग नहीं दिया। उन्होंने कालिदास की निरंकुशता', 'नैषध चरितचर्चा' और 'विक्रमांकदेवचरितचर्चा' आलोचनात्मक ग्रंथों की रचना की। उनकी आलोचना शैली पर गुणदोषात्मक प्राचीन समीक्षा पद्धति का स्पष्ट प्रभाव है। 'कालिदास की निरंकुशता' में उन्होंने भाषा और व्याकरण सम्बन्धी दोषों को दर्शाया है और दूसरी दो पुस्तकों में प्रशंसात्मक शैली है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने लेखों तथा टिप्पणियों में साहित्यिक प्रवृत्तियों और पुस्तकों की आलोचना की। उन्होंने छायावाद का घोर विरोध किया था, किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि उन्हें नवीन काव्य से प्रेम नहीं था। उन्होंने अपने काव्यादर्श के अनुरूप जहाँ सूर, तुलसी, कालिदास और भवभूति के काव्यों का आदर किया, वहाँ आधुनिक युग के भारतेन्दु, मैथिलीशरण आदि कवियों को भी आदर की दृष्टि से देखा। इस प्रकार द्विवेदी जी ने नवीन और प्राचीन समन्वय का काव्यादर्श खड़ा किया। इनकी शैली में सरलता, सरसता और व्यंग्यात्मकता है। द्विवेदी युग के प्रमुख आलोचकों के नाम हैं—मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, किशोरीलाल गोस्वामी, कृष्णबिहारी मिश्र, बदरीनाथ भट्ट, मुकुटधर पांडेय, कामताप्रसाद गुरु, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या आदि। मिश्रबन्धुओं (गणेशबिहारी मिश्र, श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेवबिहारी मिश्र) ने हिन्दी के वृहत् इतिहास-ग्रंथ 'मिश्रबन्धु विनोद' के लेखन के उपरान्त 'हिन्दी-नवरत्न' नामक ग्रंथ लिखा जिसमें इन्होंने देव को बिहारी से बड़ा सिद्ध किया। इनकी आलोचना में शास्त्रीय आग्रह भी है और तुलनात्मक मूल्यांकन भी। इस प्रकार इतिहास और आलोचना के क्षेत्र में मिश्रबन्धुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मिश्रबंधुओं द्वारा बिहारी पर किये गये आक्षेपों से प्रेरित होकर पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई की भूमिका' लिखी जिनमें इन्होंने अद्भुत कौशल से बिहारी को देव से उत्कृष्ट सिद्ध किया। पद्मसिंह शर्मा संस्कृत, उर्दू और फारसी के परम विद्वान् थे और काव्य के अच्छे रसज्ञ एवं मर्मज्ञ थे। उन्होंने अपनी पुस्तक में बिहारी के दोहों की तुलना उनके जैसे ही हिन्दी और संस्कृत के कवियों से की। इसका परिणाम यह निकला कि एक तो विद्वानों का ध्यान तुलनात्मक प्रणाली की ओर

गया और साथ ही नये छायावादी कवियों ने अपनी भाषा को और अधिक निखारा और सँवारा। शर्मा जी की बिहारी और देव की आलोचना के साथ इस विषय पर हिन्दी में एक बड़ा विवाद खड़ा हो गया। कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' लिखकर तुलनात्मक अध्ययन से बिहारी से देव को श्रेष्ठ सिद्ध किया। लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' लिखकर कृष्णबिहारी मिश्र के आक्षेपों का उत्तर देते हुए बिहारी को श्रेष्ठ सिद्ध किया।

हिन्दी आलोचना और अनुसंधान के क्षेत्र में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने अत्यन्त मूल्यवान सक्रिय योग दिया है। नागरी-प्रचारिणी-सभा और हिन्दू-विश्व-विद्यालय के हिन्दी-विभाग के संगठनकर्ता के रूप में बाबू श्यामसुन्दरदास ने हिन्दी के आलोचनात्मक साहित्य की अभिवृद्धि और उसके प्रचार कार्य में महत्त्वपूर्ण सेवायें की हैं। बाबू श्यामसुन्दरदास तथा पुदुमलाल पुन्नालाल बख्शी शुक्ल जी के समकालीन थे। इन्होंने एक वैज्ञानिक की भाँति निष्पक्ष रूप से पूर्व और पश्चिम के साहित्य-सिद्धांतों का समन्वयात्मक अनुशीलन हिन्दी-जगत् में प्रस्तुत किया। बाबू श्यामसुन्दरदास ने भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए 'भाषा-रहस्य', इतिहास के अध्ययनार्थ 'हिन्दी-भाषा और साहित्य', तथा काव्यशास्त्र के अनुशीलन के लिए 'साहित्यालोचन' ग्रंथ लिखे। साहित्यालोचन हिन्दी में सैद्धान्तिक समीक्षा का सर्वप्रथम ग्रंथ है। इस पर हडसन और वर्सफोल्ड के आलोचना ग्रंथों का पर्याप्त प्रभाव है, अतः इस ग्रंथ को नितान्त मौलिक तो नहीं कहा जा सकता फिर भी आलोचना को प्रेरणा देने और उसकी पृष्ठभूमि तैयार करने में यह ग्रंथ काफी महत्त्वपूर्ण है। बख्शी जी की 'विश्व-साहित्य' नामक रचना में विश्व-साहित्य का सामान्य परिचय दिया गया है और अंग्रेजी-साहित्य का मुख्य रूप से विवेचन किया गया है।

आलोचना सम्राट् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में अद्वितीय स्थान है। इनसे पूर्व तुलनात्मक आलोचना-प्रणाणी चल रही थी जिसके सामने न तो कोई आदर्श था और न ही कोई सिद्धान्त। केवल वैयक्तिक पूर्वाग्रहों के कारण किसी को श्रेष्ठ और किसी को निकृष्ट बता दिया जाता था। इसके अतिरिक्त अभी तक आलोचना के ऐसे स्वस्थ प्रतिमान भी सुनिश्चित नहीं हो पाये थे जो कि गद्य के विविध अंगों के लिए उपयोगी हों। आचार्य शुक्ल ने आलोचना के नवीन मानदण्डों तथा सुविकसित समीक्षा पद्धति को निर्मित किया। उन्होंने हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र को नवीन दिशायें प्रदान कीं। उन्होंने किसी कवि या उसकी रचना को तत्कालीन सामाजिक आलोक में रखकर उसकी समीक्षा की। सैद्धांतिक आलोचना-क्षेत्र में उन्होंने अपनी मौलिक उद्भावनाओं द्वारा इस क्षेत्र के सभी अंगों का गम्भीर एवं सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया। ऐतिहासिक आलोचना के रूप में कवि या उसकी कृति की समीक्षा करते हुए उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। आचार्य शुक्ल रसवादी हैं और साथ-साथ सौंदर्यवादी भी, किन्तु लोक-संग्रहात्मकता की भावना उनकी

आलोचना का अभिन्न अंग बनी रही है। उनके लिए समाज-निरपेक्ष कोरी वैयक्तिक अनुभूति का कोई मूल्य नहीं है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वे कला के लिए और कला जीवन के लिए सिद्धान्तों के समन्वय के पक्षपाती हैं।

आचार्य शुक्ल द्वारा रचित आलोचनात्मक ग्रंथ—'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'सूरदास', 'जायसी-ग्रंथावली की भूमिका' तथा 'चिन्तामणि' प्रथम व द्वितीय भाग आदि उल्लेखनीय हैं। 'गोस्वामी तुलसीदास' उनके आदर्श कवि हैं और कदाचित् उनके आलोचना के मानदण्ड बहुत कुछ तुलसी के रामचरितमानस पर आधारित हैं। उन्होंने तुलसी एवं उसके काव्य का अत्यन्त मौलिक रूप से विवेचन किया है और तुलसी को हिंदी का सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध करने के लिए उसके समक्ष हिंदी के किसी भी कवि को महत्त्व नहीं दिया। अस्तु ! शुक्ल जी की शैली में प्रौढ़ता गम्भीरता, सूक्ष्मता, सरसता, प्रवाह और अपूर्व बल है जिसके कारण वे अपनी बात मनवाने के लिए पाठक को बाध्य कर देते हैं।

हिन्दी के आज के कई आलोचकों ने शुक्ल जी की आलोचना की कतिपय न्यूनताएँ प्रदर्शित की हैं। शुक्ल अपने नीतिवादी दृष्टिकोण के कारण सूर के प्रति, और अपनी वर्णव्यवस्था तथा अवतारवाद में आस्था के कारण कबीर आदि निर्गुण कवियों के प्रति न्याय नहीं कर सके हैं, उन्होंने प्रगीत-काव्य की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य को अत्यधिक प्रश्रय दिया है, वे नवीन काव्यधारा छायावाद की अन्तरात्मा को नहीं समझ सके, तथा उनका रस को विभिन्न कोटियों में विभक्त करना भारतीय परम्परा के सर्वथा विपरीत है, आदि-आदि। कुछ भी हो, इन परिस्थितियों के रहते हुए भी शुक्ल जी ने हिन्दी-आलोचना को जो आदर्श दिया उसका मूल्य स्थायी है। शुक्ल जैसा सशक्त व्यक्तित्व वाला आलोचक शायद ही आज हिन्दी के पास कोई हो।

शुक्ल द्वारा प्रवर्त्तित समीक्षा पद्धति को लेकर चलने वाले हिन्दी के प्रमुख उल्लेखनीय आलोचक हैं—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, कृष्णशंकर शुक्ल, रामकृष्ण शुक्ल, शिलीमुख, चन्द्रबली पांडेय और रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'। इनमें से अधिकांश ने शुक्ल जी के नीतिवादी और व्यावहारिक पक्ष को थोड़ा-बहुत त्याग दिया है।

शुक्ल जी की सैद्धान्तिक आलोचना पद्धति पर भी इस युग में अच्छा काम हुआ है। कन्हैयालाल पोद्दार, गुलाबराय, रामदहिन मिश्र, 'हरिऔध' और केशवप्रसाद मिश्र के नाम इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं। शुक्ल जी द्वारा छायावादी काव्य के सम्यक् मूल्यांकन के अभाव की प्रतिक्रिया में छायावादी कवियों—'प्रसाद', पंत, 'निराला' और महादेवी ने अपनी पुस्तकों की भूमिकाओं में छायावाद की कविता की अन्तर्दृष्टि और उसके सौन्दर्य पक्ष का सम्यक् विश्लेषण किया जिसका नन्ददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी तथा डॉ० नगेन्द्र पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। परिणामतः वे छायावादी काव्य के यथार्थ स्वरूप को उपन्यस्त करने में समर्थ हुए।

आजकल हिन्दी समीक्षा का विकास बड़ी तीव्र गति से हो रहा है। प्रत्येक प्राचीन एवं नवीन प्रमुख कवि पर जहाँ अनुसंधान कार्य हुआ वहां इन पर स्वतन्त्र

रूप से समीक्षात्मक ग्रंथ भी प्रणीत हुए। चंदवरदाई, विद्यापति, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा, देव, बिहारी, केशव, गुप्त, भारतेन्दु 'प्रसाद' एवं 'निराला' आदि पर अनेक आलोचनात्मक पुस्तकें अनेक विद्वानों द्वारा लिखी गई हैं। डॉ० रामरतन भटनागर ने प्रायः प्रत्येक प्रमुख कवि पर एक अध्ययन प्रस्तुत कर दिया है यद्यपि उनके विवेचन में अपेक्षाकृत प्रौढ़ता कम है। आजकल अनेक विद्वानों के द्वारा तुलनात्मक आलोचना-ग्रंथ प्रणीत हो रहे हैं। इस दिशा में 'साहित्य दर्शन' की लेखिका शचीरानी गुर्टू का सत्प्रयास उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त हिन्दी में अनुसंधानात्मक कार्य बड़ी तीव्र गति से चल रहा है। इस प्रकार गवेषणात्मक, आलोचनात्मक पद्धति का भी समुचित विकास हो रहा है। इस पद्धति का समुचित विकास करने वालों में विशेष उल्लेखनीय हैं—डॉ० दीनदयाल गुप्त, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, प्रभुदयाल मीतल, डॉ० सत्येन्द्र, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, डॉ० भागीरथ मिश्र, डॉ० मुंशीराम शर्मा सोम, परशुराम चतुर्वेदी, भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र, डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, डॉ० सरनामसिंह, डॉ० इन्द्रनाथ मदान, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० कन्हैयालाल सहल, डॉ० बलदेव-प्रसाद मिश्र, डॉ० रामकुमार वर्मा और डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा आदि। इन्होंने अपने शोध प्रबंधों में साहित्य के विभिन्न पक्षों पर वैज्ञानिक पद्धति से प्रकाश डाला है। इनके अतिरिक्त और भी शताधिक शोधकर्ता विद्वान् हैं, जिनका नामोल्लेख करना सम्भव नहीं है।

शुक्ल के समकालीन एवं परवर्ती आलोचकों में आचार्य हजारीप्रसाद, डॉ० नगेन्द्र, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी तथा बाबू गुलाबराय का स्थान विशिष्ट है। सच्ची ईमानदारी और हार्दिकता के साथ आलोचना करने वाले अपने युग के आलोचकों में बाबू जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी समीक्षा से युग साहित्य को गति मिली है। स्वच्छता, सुबोधता और स्पष्टता आपकी शैली के विशेष तत्त्व हैं। इन्होंने 'हिन्दी-नाट्य-विमर्श', 'सिद्धांत और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' ग्रंथ लिखकर सैद्धान्तिक आलोचना पद्धति को आगे बढ़ाया है। उसके अतिरिक्त आपने अनेक कवियों तथा साहित्यिक समस्याओं पर भी समीक्षायें लिखी हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सांस्कृतिक, मानवतावादी ऐतिहासिक दृष्टिकोण लेकर हिंदी-आलोचना-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। इनकी आलोचना में संस्कृत-साहित्य तथा भारतीय संस्कृति के ज्ञान की उज्ज्वल आभा दर्शनीय है। द्विवेदी जी ने सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाएँ की हैं जिनमें सुदीर्घ अध्ययन और गहन चिंतन प्रतिफलित हैं। इन्होंने 'कबीर', 'नाथ सम्प्रदाय', 'सूर-साहित्य', 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' तथा 'हिंदी-साहित्य' आदि ग्रंथों की रचना की है। इनकी शैली में सरसता, व्यंग्यात्मकता, रोचकता एवं प्रौढ़ता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी समन्वयवादी एवं सौंदर्यवादी आलोचक हैं। डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र ने वाजपेयी जी को सौष्ठववादी आलोचक कहा है जो कि विशेष उपयुक्त है। इन्होंने अपने मौलिक चिंतन के द्वारा अनेक आधुनिक कवियों एवं लेखकों का पुनर्मूल्यांकन करके हिंदी-जगत् में एक क्रांति मचा दी

है। आप छायावाद-युग के प्रथम प्रभावशाली आलोचक हैं और शुक्लोत्तर युग के आलोचकों में आपका विशिष्ट स्थान है। आपके आलोचनात्मक ग्रंथ हैं—'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शती', 'आधुनिक साहित्य', 'सूरदास', 'प्रेमचंद' आदि। इनकी भाषा और शैली चुभती हुई और प्रभावोत्पादक है। डॉ० नगेन्द्र पहले फ्रायडवादी तथा अभिव्यंजनावादी आलोचना के प्रतिनिधि समझे गये थे किंतु अब उन्हें विशुद्ध भारतीय समीक्षा-पद्धति का प्रतिनिधि स्वीकार कर लिया गया है। छायावाद-युग के सहानुभूति-पूर्ण-समीक्षकों में इनका विशिष्ट स्थान है। इनके ग्रंथों में सुमित्रानंदन पंत, साकेत : एक अध्ययन, रीति-काव्य की भूमिका, विचार और विश्लेषण आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें मौलिकता, अध्ययनशीलता, गम्भीरता, सरसता तथा बौद्धिकता का सुन्दर समन्वय है। इनकी शैली परिमार्जित, प्रखर तथा ओजस्विनी है। डॉ० गणपतिचन्द्र में एक समर्थ आलोचक की अतीव पैनी दृष्टि है। उनका चिंतन मौलिक, गंभीर एवं संतुलित है। 'साहित्य-विज्ञान' हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक-इतिहास तथा हिंदी-साहित्य : समस्यायें और समाधान द्वारा उन्होंने आलोचना को एक नई दिशा दी है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समीक्षा करने वालों में विशेष उल्लेखनीय हैं—रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचंद गुप्त, अमृतराय, नगेन्द्र शर्मा, नेमिचंद्र जैन, शमशेरबहादुर सिंह एवं डॉ० देवराज प्रभृति। इन्होंने आलोचना की शास्त्रीय पद्धति न अपनाकर हिंदी-आलोचना के सामने साहित्य और समाज के व्यापक प्रश्न को रखा है। कुछ दिन पहले इस प्रगतिवादी आलोचना में संकीर्ण मत-बाद के प्रचार की प्रधानता होने लगी थी, किंतु अब फिर यह आलोचना पद्धति स्वस्थ दिशा में संचरण कर रही है। रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह तथा डॉ० देवराज आदि स्वतंत्रचेत्ता विद्वान् वस्तून्मुखी दृष्टिकोण की ओर बढ़ रहे हैं।

इधर कुछ कवियों और लेखकों ने मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा-पद्धति के अनुसार लेख लिखे हैं, जिनमें 'अज्ञेय', इलाचंद जोशी, नलिनविलोचन शर्मा आदि प्रमुख हैं। इनकी विचारधारा फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र से प्रभावित है। इनकी आलोचना सम्बन्धी मान्यतायें टी० एस० इलियट, हर्बर्ट रीड आदि पाश्चात्य आलोचकों का अनुसरण करती हैं। इनके अनुसार व्यक्ति-मानस के अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण करना ही कला का परम लक्ष्य है।

साहित्य-सृष्टि को दिवास्वप्न का पर्याय समझने वाले और अहंनिष्ठ, व्यक्ति-वादी, केवल प्रयोग के लिए प्रयोग करने वाले कवि-पुंगवों की कुंठा-ग्रस्त कविता के पृष्ठपोषक आलोचक हैं डॉ० जगदीशचंद्र गुप्त तथा लक्ष्मीकांत वर्मा आदि। इनका आलोचनात्मक दृष्टिकोण मार्क्सवादी आलोचकों के समाजवादी दृष्टिकोण की प्रति-क्रियात्मक घोर विकृति है। निरी वैयक्तिक अनुभूति किसी भी दशा में साहित्य का प्रतिमान स्वीकार नहीं की जा सकती।

हिन्दी समीक्षा क्षेत्र में और भी अनेक समीक्षा पद्धतियाँ प्रचलित हैं जैसे—प्रभाववादी, अभिव्यंजनावादी तथा सौन्दर्यान्वेषी आदि। प्रभाववादी आलोचक की समीक्षा का प्रतिमान उसकी अपनी रुचि है। वह किसी साहित्यिक कृति के प्रति अपनी प्रतिक्रिया को प्रकट करता है। यही उसके लिए समीक्षा है। पं० भुनेश्वर मिश्र प्रभाववादी आलोचक कहे जा सकते हैं। वे आलोचक जो विषय-वस्तु के सौन्दर्य पर ध्यान न देकर उसके अभिव्यक्ति पक्ष के सौन्दर्य का उद्घाटन करते हैं वे अभिव्यंजनावादी Expressionist हैं। सौन्दर्यान्वेषी आलोचक Aesthetic Crtic किसी रचना के सौन्दर्य से आह्लादित होकर सौन्दर्यशास्त्र के नियमानुसार उनका मूल्यांकन करता है। निःसन्देह उक्त समीक्षा पद्धतियाँ योरुपीय साहित्य की देन हैं किन्तु हिन्दी आलोचकों ने उन्हें अपने दंभ और हिन्दी की अनुरूपता में ढालकर इनका समुचित व्यवहार किया है।

वस्तुतः हिन्दी आलोचना अत्यन्त तीव्र गति से विकसित हो रही है। इस विकास में शताधिक विद्वान् आलोचक वहुमूल्य योग दे रहे हैं। 'साहित्य-सन्देश', 'सरस्वती-संवाद', 'आलोचना' और 'समालोचक' आदि पत्र-पत्रिकायें भी इस दिशा में काफी सहयोग दे रही हैं। आलोचना के स्वस्थ विकास के लिए यह आवश्यक होगा कि आजकल इस क्षेत्र में जो लक्ष्यहीनता और दुरूहता की प्रवृत्तियाँ आने लगी हैं, उन्हें दूर किया जाये और मानव मूल्यों पर आधृत, आलोचना के उन प्रतिमानों की प्रतिष्ठा की जाये, जो मानव-व्यक्तित्व और उसके कृतित्व के उन्नायक हैं।

आज आलोचना के उन सर्व सम्मत प्रतिमानों के निर्धारण की आवश्यकता है जिससे हिन्दी-समीक्षा का स्वास्थ विकास हो सके और आलोचक अपने सही दायित्व को महसूस करे। आज हिन्दी-साहित्य के आलोचना-क्षेत्र में पाश्चात्य साहित्य के आलोचना-प्रतिमानों के अन्धानुकरण की अवांछनीय प्रवृत्तियाँ अपेक्षाकृत अधिक बल पकड़ रही हैं। इससे हिन्दी-आलोचना अपने मूल धर्म—मौलिक चिन्तन और निजी अनुभूतियों की संपत्ति से वंचित होती जा रही है। आज की आलोचना की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि वह पौर्वात्य और पाश्चात्य के ग्राह्य मानदंडों में स्वस्थ एवं संतुलित समन्वय द्वारा साहित्य और जीवन में आस्थावाद, आशावाद तथा आनन्दवाद का पावन संचार करे। आधुनिक सौदर्य-बोध की दुहाई देकर जीवन एवं साहित्य को निराशा और अतिभोगवाद की अन्ध तिमिस्रामयी-गुहाओं में धकेलना निश्चित रूप से एक जघन्य कार्य है।

आलोचना को साहित्याकाश में रवि के समान व्यापक प्रकाश द्वारा भ्रम-कुहेलिका को हटाकर जीवन-दायिनी ज्योति का संचार करना है। इसी दशा में ही वह साहित्य में सर्जनात्मक शक्तियों की विधायिनी बन सकती है। आज का अति-आधुनिकता के मद में चूर हुआ, 'नया-आलोचक' परम्परागत आलोचना के सिद्धान्तों की सर्वथा अवहेलना करके अपने वैयक्तिक-आग्रहों से बुरी तरह आबद्ध होकर डेढ़ चावल की अपनी खिचड़ी पकाने में लगा हुआ है। नई कविता और नई कहानी

के नये आलोचक को यह याद रखना होगा कि तथा कथित नये साहित्य के लेखकों की अकविता एवं अकहानी को दलबद्ध होकर आलोचना के नये प्रतिमानों की जोरदार नारेबाजी से साहित्य और जन मानस में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता है। निःसन्देह प्रत्येक युग के साहित्य के अंकन के प्रतिमान अपने हुआ करते हैं किन्तु यह आवश्यक है कि वे मानदंड स्वस्थ, ठोस, वैज्ञानिक और संतुलित होने चाहिए। आधुनिक बोध और नवीनता के व्यामोह में आलोचना के सर्वमान्य एवं सुनिश्चित परंपरागत प्रतिमानों से सर्वथा संबद्ध-विच्छेद करके आधुनिक आलोचना मानों कि अपनी २ डफली बजाने मात्र से तथाकथित नये साहित्य को समादृत नहीं बनाया जा सकता हैं। ऐसी दशा में आलोचना-क्षेत्र में अराजकता की स्थिति अनिवार्य है। इस प्रकार की आलोचना द्वारा साहित्य का विकास न होकर ह्रास अवश्यंभावी हैं। जन-जीवन की भांति साहित्य के जीवन में भी अराजकता की स्थिति बहुत खतरनाक वस्तु है। महाभारतकार के शब्दों में—"जिस कुल में सभी नेता-मानी हों, उसका विपन्न होना निश्चित है।"

सर्वे यत्र विनेतारः कुलंतवसीदति।

परिशिष्ट (क)

हिन्दी से पूर्वतर भाषाओं (संस्कृत, प्राकृत, पालि तथा अपभ्रंश) के साहित्य की ऐतिहासिक परम्परा

संस्कृत भाषा और उसका साहित्य

संस्कृत-भाषा और उसका वाङ्मय केवल भारतीय साहित्य में ही गरिमाशाली नहीं है, अपितु विश्व साहित्य में अद्वितीय है। इसके पीछे विशाल भारत देश की मनीषा और प्रतिभा का कई सहस्र वर्षों का सतत चिंतन और रस साधना विद्यमान है। मात्रा में यह साहित्य जितना विपुल है गुण में उतना ही प्रकृष्ट है। परवर्ती भारतीय-साहित्य निरन्तर कई शताब्दियों तक संस्कृत-साहित्य से प्रेरित एवं प्रभावित होता रहा है।

संस्कृत-साहित्य को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जा-सकता है—(क) वैदिक-साहित्य (ख) लौकिक संस्कृत-साहित्य। वैदिक-साहित्य के अन्तर्गत चारों वेद, वेदांग, ब्राह्मण-ग्रंथ तथा उपनिषद् आदि हैं और लौकिक संस्कृत-साहित्य अपने व्यापक अर्थ में धार्मिक तथा ऐहिकता परक-काव्यों, प्रबन्ध काव्यों, गीति काव्यों, नाटकों, मुक्तक काव्यों, कथा साहित्य, अलंकृत गद्य काव्यों, इतिहास एवं पुराणों समीक्षशास्त्र नाना वैज्ञानिक विषयों,-पत्थरों और ताम्रपात्रों के साहित्य को समाविष्ट कर लेता है। लौकिक संस्कृत-साहित्य प्रतिपाद्य भाषा-शैली तथा परिवेश की दृष्टि से वैदिक साहित्य से किंचित् भिन्न है। यास्क (८वीं शती ई० पू०) के निरुक्त से यह स्पष्ट है कि उस के समय तक वैदिक-भाषा को समझना कुछ-कठिन हो गया था और उसके साथ २ एक लोक भाषा (ब्रह्मर्षि और अन्तर्वेदकी) विकसित होकर साहित्य क्षेत्र में परिनिष्ठित होने लगी थी। पाणिनि (ई० पू० छठी शती) से पूर्व भी कई वैयाकरण उक्तलोक भाषा को परिष्कृत एवं नियमबद्ध करने का प्रयास कर चुके थे। पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों की पद्धति का अनुसरण करते हुए परिनिष्ठित संस्कृत का जो रूप अपने व्याकरण द्वारा निश्चित किया वह आज तक मान्य है। पाणिनि का यह प्रयास भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से विश्व साहित्य में अद्वितीय है। आज-

तक संस्कृत भाषा का अर्थ पाणिनि व्याकरण-सम्मत लौकिक या श्रेराय संस्कृत लिया जाता है। रामायण और महाभारत केवल विषय-वस्तु ही नहीं बल्कि भाषा की दृष्टि से भी वैदिक-भाषा और लौकिक-संस्कृत भाषा के बीच की एक सुन्दर कड़ी हैं। पाणिनि से लेकर पंडित-राज जगन्नाथ तक लौक-संस्कृत के साहित्य का निरन्तर सृजन होता रहा और आज भी इस भाषा पाठन तथा इस के साहित्य सृजन की परम्परा अपने जिस किसी रूप में अक्षुण्ण है।

बाल्मीकि कृत रामायण और वेदव्यास रचित महाभारत-दोनों महाप्रबन्ध काव्य शताब्दियों से भारतीय साहित्य के उपजीव्य ग्रंथ बने रहे हैं। ये दोनों ही भारतीय संस्कृति और इतिहास के मूल्यवान स्रोत हैं। रामायण-सात कांडों में विभक्त है। योरूपीय विद्वानों ने बालकांड और उत्तर कांड को प्रक्षिप्त माना है। भारतीय साहित्य में बाल्मीकि को आदि कवि और रामायण को आदि काव्य स्वीकार किया गया है। भाव पक्ष और कला-पक्ष की दृष्टि से रामायण-एक अतीव कलात्मक एवं अनुकरणीय रचना है। इस में अंगी-रस करुण के साथ वीर, शृंगार, अद्भुत और रौद्र आदि रसों का सुन्दर समन्वय है। वस्तु वर्णन तथा प्राकृतिक दृश्यों के बिम्ब ग्राही वर्णन बाल्मीकि को निश्चयत: एक उत्कृष्ट कवि सिद्ध करते हैं। दंडी आदि काव्य शास्त्रियों ने कदाचित् रामायण के आधार पर ही महाकाव्य के लक्षणों का निर्धारण किया था। मानव स्वभाव के विशद चित्रण और आदर्श चरित्रों की सृष्टि में बाल्मीकि अद्वितीय हैं। कदाचित् इन्हीं महतीय गुणों के कारण रामायण भारतीय जीवन तथा साहित्य को शताब्दियों से प्रेरित और प्रभावित करती रही है और भविष्य में भी यह अधिकाधिक प्रचारित होती रहेगी।

महाभारत अपने आप में भारतीय साहित्य का एक समग्र रूप है। इस में कौरव-पांडवों के युद्ध की-ऐतिहासिक घटना, उस युग तथा परवर्ती समय की नैतिक ऐतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक चेतना तत्त्ववादों और कल्पना प्रवण आख्यानों से ऐसे आच्छादित हो गई है कि वह नगण्य सी प्रतीत होती है। भारतीय दृष्टिकोण से महाभारत पांचवां वेद, इतिहास, पुराण, स्मृति, शास्त्र और काव्य सभी कुछ है। जो कुछ भारत और भारतीय साहित्य में है वह सब कुछ महाभारत में भी है। जो महाभारत में नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है। इस से उक्त महा-प्रबन्धात्मक काव्य की विषय-व्यापकता, आकार विशालता तथा लक्ष्य की महत्ता का सहज में अनुमान लगाया जा सकता है। सवा लाख श्लोकों के इस महा ग्रंथ में मनोविनोद, ज्ञानार्जन, जीवन-निर्माण तथा कवि-बुद्धि के सृजन की एक अद्भुत क्षमता है।

रामायण और महाभारत के काल का प्रश्न अतीव विवादास्पद है। कतिपय विद्वान रामायण को पूर्ववर्ती मानते हैं जब कि दूसरे महाभारत को। अस्तु! इतना तो निर्विवाद है कि ये दोनों ग्रंथ ई० पू० छठी शती के आस पास विद्यमान थे और इन का अन्तिम रूप गुप्त नरेशों के समय में निष्पन्न हुआ। इन ग्रंथों में प्रक्षेपों की प्रक्रिया

बहुत समय तक चलती है और यह रामायण की अपेक्षा महाभारत में बहुत ही अधिक हुई।

पुराण भारतीय साहित्य का एक अतीव महत्त्वपूर्ण अंग हैं। भारतीय साहित्य इन से प्रभूत मात्रा में प्रभावित हुआ है। पुराणों का रचना काल ईसा की दूसरी शती से लेकर नवीं-दसवीं शती तक है किन्तु पुराण साहित्य की सत्ता का प्रमाण कौटिल्य के अर्थ शास्त्र, रामायण-महाभारत तथा उससे भी पूर्व के समय में मिलता है। इन में केवल धर्म, दर्शन और अवतारवाद का प्रतिपादन नहीं है बल्कि-भारतीय संस्कृति और इतिहास का भी सुन्दर लेखा जोखा मिलता है। निःसन्देह इन में कल्पना का अतिशय है किन्तु भारतीय धर्म दर्शन संस्कृति और इतिहास के अध्येता के लिए ये बहुत मूल्यवान हैं। भागवान-पुराण ने भारत के भक्ति साहित्य को अपरिमित प्रभावित किया है। पुराणों की संख्या १८ है—विष्णु, वायु, शिव, अग्नि, लिंग, स्कन्ध, वामन, वराह, भविष्य, नारद, मार्कंडेय कूर्म, भत्स्य, गरुड़, ब्रह्मांड, श्री मद्भागवत्, ब्रह्म वैवंत तथा ब्राह्म आदि। इन के अतिरिक्त १८ उपपुराण भी माने गये हैं तथा जैनों के पुराण भी संस्कृत भाषा में लिखे गये।

संस्कृत के महाकाव्यों की एक विशाल परंपरा है। यद्यपि दीप शिखा, कवि-कुल गुरु कालिदास के काल के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है, किन्तु कालिदास के साहित्य के अन्तः साक्ष्य तथा उस में चित्रित सांस्कृतिक और सामाजिक दशाओं के आधार पर उन्हें ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में विक्रम संवत के प्रवर्तक के समय में मानना निरापद है। कालिदास के दो महाकाव्यों रघुवंश और कुमारसंभव में भारतीय रस साधना का चरम परिपाक मिलता है। कुमार संभव में शिव-पार्वती विवाह, कार्तिकेय के जन्म तथा तारकासुर के युद्ध का वर्णन है। रघुवंश में दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक के सूर्यवंशी राजाओं का वर्णन है। रघुवंश में क्या कला पक्ष और क्या भाव पक्ष दोनों चरम सीमा पर पहुंच गये हैं। रघुवंश की गणना संस्कृत-साहित्य के वृहतत्रयी महाकाव्यों में होती है। कालिदास के महाकाव्य रस विधान और अभिव्यंजना शैली की दृष्टि से इतने परिमार्जित और परिष्कृत हैं कि उन से सहज में अनुमान किया जा सकता है कि प्राक् कालिदास भी महाकाव्यों की एक विशाल परम्परा रही होगी। किंवदन्ती है कि वैयाकरण पाणिनि ने जाम्वती परिणय और पाताल विजय दो काव्य लिखे थे और वररूचि ने भी इस दिशा में स्तुत्य प्रयास किया था। अस्तु ! कालिदास से पूर्व के महाकाव्य अप्राप्य हैं। कनिष्क के समकालीन अश्व घोष (ई० प्रथम शती) ने सौरानन्द और बुद्धचरित नामक दो महाकाव्य लिखे। सौरानन्द में बुद्ध के सौतेले भाई नन्द और उसकी पत्नी सुन्दरी के प्रेम तथा बुद्ध के प्रभाव का वर्णन किया गया है जब कि बुद्धचरित में महात्मा बुद्ध के जीवन, उपदेश और सिद्धान्तों का वर्णन है। अश्व घोष के काव्य प्रणयन का उद्देश्य कविता के माध्यम से मोक्ष और धर्म की प्राप्ति है, अतः इन की कृतियों का कोई विशेष साहित्यिक महत्व नहीं है। शैली की सरलता की दृष्टि से ये ग्रंथ निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

कालिदासोत्तर काव्यों में रस का स्थान अलंकृति, चमत्कार तथा पांडित्य ने ले लिया और वह हृदय की वस्तु न रहकर मस्तिष्क की-वस्तु बन कर रह गया। कालिदास की सरस मधुर प्रसाद गुणमयी अभिव्यंजना सभी शैली शाब्दी क्रीड़ा मात्र बन कर रह गई। काव्य के इस विचित्र मार्ग के प्रवर्तक किरातार्जुनीय महाकाव्य के लेखक भारवि (छटी शती) पुलकेशी द्वितीय के समकालीन थे। भारवि-संस्कृत-साहित्य में अर्थ गौरव के लिए बहुप्रशंसित हैं। काव्य में शास्त्र के समावेश का निर्देशन भारवि के समसामायिक भट्टि कवि-का रावणवध है, जहाँ रामकथा के साथ २ काव्य के व्यपदेश से व्याकरण शास्त्र का व्यावहारिक प्रयोग दिखाया गया है। इसी काल में रामकथा पर आश्रित कुमारदास रचित 'जानकीहरण' में अलंकृति-शैली अपने उग्र रूप में प्रगट हुई है। माघ का शिशुपाल संस्कृत महाकाव्यों में महत्त्वपूर्ण है। माघ ने प्रत्येक क्षेत्र में भारवि को तिरोहित करने के लिये अपने काव्य का निर्माण किया, अतः भारवि काव्य की दूषित प्रवृत्तियाँ और गुण शिशुपालवध में स्फुट रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। माघ के भक्त आलोचकों ने पदलालित्य अर्थ गांभीर्य और अनूठी उपमाओं के लिए इनकी भूरि २ प्रशंसा की है। रत्नाकर (९वीं शती) का हरविजय, हरिश्चंद्र (१०वीं शती) का धर्म शर्माभ्युदय तथा और भी इसीप्रकार के अनेक काव्य माघ की पद्धति पर निर्मित हुए। चित्रात्मक काव्यों के अन्तर्गत नलोदय काव्य, कविराज (११वीं शती) का राघवपांडवीय, हरिदत्त सूरि का राघव नैषधीय चिदम्बर का 'राघव पांडवीय यादवीय' आदि ऐसी रचनायें हैं जिनमें श्लेष के बल से दोहरी तिहरी कथाओं का संयोजन किया गया। निःसन्देह इनमें कर्ताओं का रचना-कौशल और शब्द भण्डार पर अपार अधिकार द्योतित होता है किन्तु इनमें हृदय को छूने की क्षमता नहीं है। प्रौढोक्तिमय काव्यों में मंखक (१२वीं शती) का श्री कंठ-चरित प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा में विल्हण (११वीं शती का विक्र-मांक चरित तथा पद्मगुप्त (११वीं शती) का 'नव साहसांक चरित उल्लेखनीय हैं। इनमें इतिहास को अतिरंजित कल्पना से मिश्रित कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त हम्मीर विजय और सुजान चरित भी ऐतिहासिक काव्य हैं। श्री हर्ष (१२वीं शती) का नैषधीय चरित महाकाव्य माघोत्तर काव्यों में विशेष उल्लेखनीय है। इसका नाम वस्तुतः नल दमयन्ती परिणय ही होना चाहिये। इसमें गम्भीर पांडित्य, दर्शन प्रौढोक्ति, चमत्कारवादिता आलंकारिक चातुर्य अपने परिपाक पर पहुंच गये हैं। महाकाव्य निर्माण की यह परम्परा मुस्लिम तथा अंग्रेजी शासन काल तक यत्किंचित् रूप में चलती रही और आज भी चरितात्मक काव्यों का प्रणयन जारी है।

संस्कृत के खण्ड काव्यों के अन्तर्गत कालिदास का मेघदूत, बिल्हण की चौर पंचाशिका, विक्रम का नेमिदूत तथा धोमी का हंसदूत आदि उल्लेखनीय हैं। हिन्दी तथा भारत की अन्य अनेक आधुनिक आर्य भाषाओं में लिखे गये संदेश काव्यों पर उक्त काव्यों का प्रभाव स्पष्ट है।

संस्कृत नाटक साहित्य की परम्परा जहाँ विशाल है वहाँ समृद्ध भी है। भास (४ शती ई० पूर्व) से पूर्व का संस्कृत नाटक साहित्य अप्राप्य है। भास के १३ नाटक उपलब्ध हुए हैं जिनमें कुछ एकांकी भी हैं। इनके नाटक भाषा की दृष्टि से सरल तथा अभिनेय है। इनकी रचनायें हैं—प्रतिभा, अभिषेक, बाल चरित, पंचराज स्वप्न वासवदत्ता, प्रतिज्ञा यौगन्धारामय, अवि भारक, चारुदत्त (नाटक) दूतवाक्य, उरू भंग, घटोत्कच, मध्यमव्यायोग कर्णभार (एकांकी)। महाकवि कालिदास के तीन नाटक—मालविकाग्नि मित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञान शाकुन्तल में उनकी नाट्य प्रतिभा उत्तरोत्तर रूप से विकसित हुई है। भारतीय नाट्य साहित्य में तो अभिज्ञान शाकुन्तल शीर्ष स्थानीय है ही किन्तु विश्व साहित्य में भी इसका एक अद्वितीय स्थान है। इसमें धरा और स्वर्ग का एक अपूर्व मिलन तथा काव्य-कला और नाटकीय प्रतिभा का एक अद्भुत सम्मिश्रण है। अश्वघोष के शारिपुत्र प्रकरण का भी पता चला है। मृच्छ कटिक के रचयिता शूद्रक का काल यद्यपि अनिश्चित है किंतु भारत के अधिक तर विद्वान उसे ईसा की प्रथम शती में मानते हैं। इसमें चारुदत्त और वसन्त सेना के प्रणय की कथा १० अंकों में निबद्ध है। इसमें नाटकीय कौशल व्यापार को गतिशीलता और मानवीय अनुभूतियों का चित्रण चरम परिपाक पर पहुंच गये हैं। कदाचित् विश्व साहित्य में यह प्रथम सुन्दर यथार्थवादी रचना है। हर्षवर्धन (७वीं शती) की तीन रचनाओं में प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिकाएँ हैं और नागानन्द नाटक है। प्रथम दो में उदयन और वासवदत्ता के हल्के फुल्के प्रणय के चित्र हैं और ये कालिदास के मालविकाग्नि मित्र से अत्यधिक प्रभावित है। इन दोनों रचनाओं ने परवर्ती संस्कृत और प्राकृत साहित्य की नाटिकाओं को अत्यधिक प्रभावित किया है। नागानन्द बोधि सत्व जीभूत वाहन की दान शीलता से सम्बद्ध है। हर्ष नाटककार की अपेक्षा एक सफल कवि प्रतीत होते हैं। नाट्य शास्त्रीय नियमों के पालन की दृष्टि से इनकी रत्नावली का संस्कृत साहित्य में काफी आदर है। हर्षोत्तर नाटक साहित्य में ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों का प्रवेश होने लगा। भट्टनारायण (८वीं शती) के वेणी संहार में उक्त प्रवृत्तियां स्पष्ट हैं। वेणी संहार नाटकीय दृष्टि से सफल नहीं है। इसमें कालिदासोत्तर महाकाव्यों की अलंकार प्रधानता पांडित्य प्रदर्शन प्रौढ़ोक्तियों और चमत्कार वादिता का प्राचुर्य है। मुरारि के अनर्घ राघव (६वीं शती) में उक्त ह्रासात्मक प्रवृत्तियां अपेक्षाकृत और भी उग्र रूप में प्रगट हुई। हर्षोत्तर काल में विशाखदत्त तथा भवभूति (८वीं शती) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। विशाखदत्त का 'मुद्रा राक्षस' नाटकीय दृष्टि से एक अतीव सफल रचना है। इसमें नन्दों के विनाश और चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य स्थापना की ऐतिहासिक घटना है। इसमें चाणक्य की नीति और चारित्रिक औदात्य दर्शनीय हैं। संस्कृत नाटककारों में कालिदास के पश्चात् भवभूति का नाम आता है। इनके महावीर चरित, मालती माधव तथा उत्तर रामचरित नाटकों में महावीर चरित तथा उत्तर रामचरित राम कथा से सम्बद्ध हैं और मालती माधव मृच्छ कटिक की पद्धति पर मालती और माधव के रोमांस से सम्बन्धित है। भव-भूति

कवि के रूप में जितने सफल हैं उतने नाटककार के रूप में नहीं। परवर्ती नाटक साहित्य रंगमंच से दूर हटता गया और उसमें पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ती गई। राजशेखर (१०वीं शती) के बाल रामायण और जयदेव का प्रसन्न-राघव इसके प्रत्यक्ष निर्दशन हैं। अन्यापदेशी नाटकों में प्रबोध चन्द्रोदय मुख्य है। परवर्ती संस्कृत नाटक साहित्य में भावों और प्रहसनों की एक विशाल परम्परा मिलती है जिसका स्थानाभाव के कारण उल्लेख करना सम्भव नहीं है।

संस्कृत का गद्य साहित्य भी पर्याप्त समृद्ध है। इसमें जहाँ एक ओर सरल अनलंकृत और स्वाभाविक शैली में रचित जीव जन्तु सम्बन्धी औपदेशिक कथाओं तथा लोक प्रिय कथाओं से सम्बन्धित पंचतन्त्र, हितोपदेश शुकसप्तति, सिंहासन द्वात्रिंशत पुत्तलिका वेताल पंच विंशति भोज प्रबन्ध और पुरुष परीक्षा जैसी कृतियें मिलती हैं वहाँ सुबन्धु—दण्डी और बाण की रोमांस कथायें शिलालेख तथा चम्पू काव्य भी आते हैं और साथ कथा सरित सागर और वृहत्कथा मंजरी आदि भी है। प्रत्यक्षर—श्लेषमय प्रबन्ध के लेखन में परम पटु सुबन्धु (६शती) की वासवदत्ता में राजकुमार कन्दर्प केतु और वासवदत्ता के प्रेम की कथा है। इसमें लेखक ने अपने पांडित्य, चमत्कारप्रियता और कलाबाजी का पूरा परिचय दिया है यह रचना कथानक रूढ़ियों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। दंण्डी (७वींशती) की दो रचनाओं अवन्ती सुन्दरी कथा और दशकुमार चरित में दूसरी रचना विशेष उल्लेखनीय है। दण्डी अपने पदलालित्य, सरल स्वभाविक सरस वर्णनों और जीवन की परम गहन यथार्थ अनुभूतियों के चित्रण की कला में संस्कृत गद्य साहित्य में बेजोड़ हैं। हर्ष वर्धन के समकालीन बाण में सुबन्धु की कृत्रिम पांडित्य पूर्ण अलंकृत शैली और दण्डी की यथार्थपरक सरस स्वभाविक प्रवाहमयी शैली दोनों का समन्वय मिलता है। बाण का हर्ष चरित आख्यायिका काव्य है और कादम्बरी कथा काव्य। अद्भुत प्रतिभा के स्वामी बाण का संस्कृत गद्य साहित्य में मूर्धन्य स्थान है। बाणोत्तर काल में प्रचलित कृत्रिम और पांडित्य पूर्ण चम्पू शैली में प्रणीत गद्य काव्यों में त्रिविक्रम भट्ट (१०वीं शती) के नल चम्पू तथा मदालसा चंपू, धनपालकी तिलक मंजरी, वादीभसिंह की गद्य चिंतामणि, सोमदेव सूरि का यशक्तिलक चंपू, हरिश्चंद्र का जीवन धर चंपू उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार की रचनायें १८वीं-१६वीं शती तक लिखी जाती रहीं, भारतेन्दु कालीन अंबिकादत्त व्यास का 'शिवराज विजय' वर्णन पटुता और सरस प्रवाहमयी शैली की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

संस्कृत में नीति शृंगार और भक्ति स्रोत सम्बन्धी तीन प्रकार के मुक्त काव्य लिखे गये हैं। संस्कृत के शृंगारी मुक्तकों में भर्तृहरि का शृंगार शतक, अमरुक का अमरुक शतक, जयदेव का गीतगोविंद, गोवर्धन की आर्यासप्तशती, पण्डित राज जगन्नाथ का भामिनी विलास उल्लेखनीय हैं। संस्कृत में रचित भक्ति-स्रोतमय साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। इसमें वैष्णवों शैवों शाक्तों और जैनों की शताधिक रचनायें मिलती हैं।

संस्कृत समीक्षा शास्त्र के अन्तर्गत, रस अलंकार, ध्वनि, रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदायों से सम्बन्धित अनेक आचार्यों की महत्त्वपूर्ण कृतियें हैं। हिन्दी के काव्य-शास्त्र पर उक्त सम्प्रदायों का अपरिमित प्रभाव पड़ा है।

इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, व्याकरण छंदशास्त्र, दर्शन, तंत्र, आयुर्वेद स्थापत्य और शिल्पादि कलाओं, नाट्य शास्त्र, निबन्ध टीका, भाष्य तथा नाना वैज्ञानिक विषयों पर लिखे गए ग्रन्थों की एक अपरिमेयविशाल राशि प्राप्त होती है।

इसके अतिरिक्त अंग्रेजी शासन काल में भी संस्कृत में प्रशस्तिकाव्यों, महा-काव्यों, नाटकों अंग्रेजी नाटकों और काव्यों के अनुवादों और निबन्धों के लिखने, पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन और नाना गोष्ठियों के आयोजन की परम्परा. अजस्र गति से चलती रही और संप्रति भी वह सतत् गति से प्रवहमान है। अतः सुदीर्घ काल से अब तक भारतीय साहित्य को अनुप्राणित करने वाली जीवन्त भाषा-संस्कृत को "मृत भाषा" कहना अपनी अल्पज्ञता और भाषा वैज्ञानिक अनभिज्ञता को दर्शाना है।

पालि और उस का साहित्य

पालि शब्द की व्युत्पत्ति—इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। योरुपीय विद्वानों ने इसकी व्युत्पत्ति "प्रली" शब्द से मानी है। उनके अनुसार प्रली का शाब्दिक अर्थ है—"पुस्तक के पृष्ठों की पंक्ति"। कालान्तर में इसका अर्थ बदला और इससे पुस्तक की शिक्षाओं का बोध होने लगा। तत्पश्चात् पालि शब्द एक भाषा के रूप में प्रयुक्त होने लगा। इस धारणा का प्रमाण भी समुपलब्ध है क्योंकि बौद्ध विद्वान बुद्ध घोष ने पालि शब्द से बार २ त्रिपिटक तथा उसकी शिक्षाओं की ओर संकेत किया है। उन्होंने त्रिपिटक बुद्ध वचन के सामान्य अर्थ में पालि (पालि=परियाय=मूलपाठ=बुद्ध वचन) शब्द का प्रयोग किया है। अशोक के शिलालेखों में यही परियाय—पालियाय—पालिषाय और उसके बाद उसका लघु रूप पालि प्रचलित हो गया। एक अन्य बौद्ध विद्वान् कौसाम्बी महोदय ने इसका संबंध संस्कृत के "पाल" शब्द से जोड़ा है। उनके अनुसार पहले इस का अर्थ इस रूप में लिया गया—"वह पुस्तक या साहित्य जिस में बुद्ध की शिक्षायें सुरक्षित रखी गई"। कई विद्वान् पालि शब्द का संबंध 'प्रकट' शब्द से जोड़ते हैं—जो पअड—पअल—पाल बनता हुआ अन्तिम रूप में पालि बना। प्रकट शब्द का अर्थ है—जन सामान्य की स्पष्ट भाषा। उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि पालि शब्द का प्रयोग मूलतः किसी भाषा के लिए न होकर बुद्ध वचन या त्रिपिटक के मूल पाठ के लिए हुआ तथा कालान्तर में यह शब्द एक भाषा विशेष के अर्थ में रूढ़ हो गया। महात्मा बुद्ध ने जन-कल्याण के लिए अपने उपदेशों और शिक्षाओं के लिए जन-सामान्य का जिस भाषा को प्रयोग में लाया वह बाद में पालि कहलाई।

पालि का काल और उसका प्रसार क्षेत्र

वैदिक भाषा के साथ २ एक ऐसी विभाषा थी जो कि पालि भाषा का मूलाधार है। पालि को वैदिक भाषा का सीधा विकास नहीं माना जा सकता है क्योंकि वैदिक भाषा और पालि भाषा की ध्वनियों और रूप विधान में महान् अन्तर है। अनुमानतः पालि भाषा बोलचाल की उस भाषा से विकसित हुई जो वैदिक काल की विभाषाओं के साथ २ किसी प्रदेश में प्रचलित थी। पालि का मूलक्षेत्र कहाँ था और इसकी मूलभाषा कौन सी थी, इस विषय में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों में मतैक्य नहीं है। बौद्ध धर्माश्रयी भारतीय विद्वानों के अनुसार मागधी भाषा ही पालि का मूलाधार है किन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। इन दोनों के तुलनात्मक वैयाकरणिक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इनमें साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक है। विंडिश, गाइगर और रिस्डेविड्स आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसे मागधी का एक रूप माना है। वेस्टरगार्ड, ई० कुह्न और आर० ओ० फ्रैंक ने अशोक के गिरिनार (गुजरात) के शिलालेख के सादृश्य के आधार पर पालि को उज्जयिनी की विभाषा कहा है। ओल्डेन बर्ग ने खंडगिरि के शिलालेख के भाषा गत साम्य के आधार पर पालि को कलिंग देश की भाषा कहा है। ल्युडर्स ने इसका मूलाधार अर्ध-मागधी प्राकृत को माना है। उनका कहना है कि बुद्ध के उपदेश अनेक वर्षों के उपरान्त ४८५ ई० पूर्व राजगृह में प्रथम बुद्ध महासम्मेलन के अवसर पर एकत्रित किये गये थे। डॉ० एस० के चाटुर्ज्या के अनुसार "पालि का मूलाधार मागधी न होकर मध्यदेशीय प्राकृत है, उसका शौरसेनी से प्रचुर साम्य है तथा वह शौरसेनी का वह रूप है जिसमें पश्चिमोत्तर प्राकृत तथा अन्य आर्यविभाषाओं के कई विचित्र प्रयोग घुलमिल गये हैं।" पालि का समूचा साहित्य एक सी भाषा-शैली में प्रणीत नहीं हुआ। उसमें क्रमशः विकास की चार अवस्थाओं का पता चलता है (क) पालि के गाथा साहित्य में उसका प्राचीनतम रूप है। गाथाओं के साथ संलग्न गद्य बाद का है। (ख) पालि के सैद्धान्तिक गद्य भाग की भाषा गाथा भाग की भाषा से किंचित भिन्न और परवर्ती है। (ग) पालि साहित्य की टीकाओं में भाषा का रूप एक अन्य प्रकार के विकास का द्योतक है (घ) अट्ठ कथाओं (टीकाओं) के परवर्ती पालि काव्यों में कृत्रिम-साहित्यिक शैली के दर्शन होते हैं, जिस पर संस्कृत के अलंकृति मार्ग और कृत्रिम साहित्यिक शैली का स्पष्ट प्रभाव है। अस्तु ! पालि भाषा मध्यकालीन आर्य भाषाओं—प्राकृतों (६०० ई० पूर्व से ६०० ई० तक) के संमिश्रण का परिणाम है। जिस प्रकार जैन-आगमों की भाषा अर्ध मागधी को "आर्षभाषा" के नाम से अभिहित कर दिया गया उसी प्रकार बौद्ध-त्रिपिटक की भाषा को पालि नाम दिया गया।

पालि साहित्य

मोटे तौर पर पालि साहित्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) त्रिपिटक (तिपिटक) (ख) अनुपिटक। त्रिपिटक बौद्ध धर्म का सिद्धांत परक

साहित्य है जब कि अनुपिटक सिद्धान्तेतर साहित्य है। इसे अनुपालि साहित्य भी कहा जाता है। त्रिपिटक के अन्तर्गत मुख्य रूप से सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्म-पिटक आते हैं। सुत्तपिटक और विनयपिटक में बुद्ध के उपदेशों और शिक्षाओं का संग्रह राजगृह में बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् ४८५ ई० पू० में आयोजित प्रथम संगीत के अवसर पर किया गया। दूसरी संगीति इसके लगभग एक सौ साल के बाद वैशाली में हुई। तीसरी संगीति देवानांप्रिय अशोक के काल में पाटलिपुत्र में हुई। इस में बौद्ध भिक्षु तिस्समोग्गलिपुत्र की मंत्रणा से बौद्ध वचनों की आवृत्ति की गई और तीनों पिटकों का संग्रह कार्य संपन्न हुआ।

सुत्त पिटक बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों और साहित्यिक दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व-पूर्ण है। इस में पांच निकायों—(दीघ निकाय, मज्झिम निकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तर निकाय और खुद्दक निकाय) का समावेश है। इन निकाय ग्रंथों में बुद्ध के उपदेशों और उनके प्रारम्भिक शिष्यों का वर्णन है। इन में बुद्ध धर्म की शिक्षायें सूत्रों और संवादों के रूप में दी गई हैं। दीघ निकाय में बड़े २ सूत्रों का संग्रह है जबकि मज्झिम में मध्यम मान के सूत्र हैं। संयुत्त में छोटे बड़े दोनों प्रकार के सूत्र हैं। इसी में मार आदि देवता से संबद्ध अनेक सूत्र हैं। खुद्दक निकाय में १५ खुद्दक ग्रंथों का संग्रह है, जिन में धम्मपद, थेरगाथा, थेरीगाथा तथा जातक नाम के ग्रंथों का साहित्यिक दृष्टि भी पर्याप्त महत्त्व है। हिन्दू धर्म में श्रीमद्भगवदगीता के समान बौद्ध साहित्य में धम्मपद का दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। थेरगाथा और थेरी गाथा में भिक्षु और भिक्षुणियों के प्रशंसात्मक कृत्यों का छन्दोबद्ध उल्लेख है। इनका रचना काल ५०० के लगभग माना जाता है। इन कविताओं के अतिरिक्त दी गई अन्य कथाओं को प्रायः विद्वानों ने अप्रमाणिक माना है। थेर गाथाओं में जहाँ अन्तर्जगत की अनुभूतियों का प्राधान्य है वहाँ थेरी गाथाओं में भिक्षुणियों की वैयक्तिक तरलता का प्राबल्य है। जातक में महात्मा बुद्ध के पूर्व जन्मों की अनेक कथाओं का संग्रह पौराणिक शैली में किया गया है। इन कथाओं में गौतमबुद्ध, नायक, प्रतिनायक तथा दर्शक आदि की अनेक भूमिकाओं में प्रस्तुत किये गये हैं। जातकों की संख्या ५५० के लगभग कही गई है। इनमें सामान्यतः बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धांतों का उल्लेख नहीं किया गया है बल्कि सभी जातकों में विशद प्रेम कथाओं, रीति, नीति और भक्ति आदि का वर्णन है। भारतीय साहित्य में इन जातक कथाओं का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक सभी दृष्टियों से अतीव महत्त्व है। इन से महात्मा बुद्ध के समकालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक दशाओं की स्पष्ट झांकी मिलती है। इसके अतिरिक्त इन से तत्कालीन भारत की मूर्तिकला, चित्रकला तथा स्थापत्य कला के समझने में भी पर्याप्त सहायता मिलती है। जातकों के अतिरिक्त अवदान ग्रंथों में बौद्ध भिक्षुओं के पूर्व जन्म की कथायें दी गई हैं।

विनय पिटक में बौद्ध-संघ के अनुशासन संबंधी नियमों का सविस्तार उल्लेख है। उक्त पिटक का मुख्य आधार पातिमोक्ख है—जिस में नियमों के उल्लंघन और

उसके फलस्वरूप संघ से बहिष्कृत कर देने का उल्लेख है। अभिधम्म पिटक में बौद्ध धर्म और दर्शन की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की गई है, अतः यह सुत्तपिटक का पूरक ग्रंथ है। इस में धम्म संगणि, विभंग, कथावत्थु, पुग्गल पंजति, धातुकथा यमक और पट्ठानप्करण सात ग्रंथ हैं। पट्ठानप्करण एक विशालकाय क्लिष्ट रचना है। बौद्ध धार्मिक साहित्य में परित या महापरित नामक ग्रंथ में प्रचलित तांत्रिक प्रयोगों का संग्रह है। इनका प्रयोग नवग्रह-निर्माण, अस्वस्थता और मृत्यु आदि के अवसरों पर किया जाता है। ब्रह्मा और सिंहल द्वीप में उक्त ग्रन्थ का अब भी काफी आदर होता है।

अनुपिटक अथवा अनुपालि साहित्य में नाना टीकायें—अर्थात् अट्ठकथायें आती आती हैं। धर्म-तत्त्व की मीमांसा के लिए ये टीकायें प्रायः सिंहल द्वीप में लिखी गई। केवल 'मिलिन्द पह' नामक एक ग्रंथ ही पश्चिमोत्तर में निबद्ध हुआ। इसमें यवनराज मिलिन्द और बौद्ध भिक्षु नागसेन का संवाद है। इसमें प्रश्नोत्तर रूप में बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों की अतीव सुन्दर व्याख्या मिलती है। बौद्धधर्म के सर्व प्रमुख टीका-कार बुद्धघोष हैं। इन्होंने बौद्धधर्म के तत्त्व के स्पष्टीकरण के लिए अनेक ग्रंथों पर टीकाओं का प्रणयन किया है। बुद्धघोष के समकालीन बुद्धदत्त ने भी महत्त्वपूर्ण टीकायें लिखी हैं। "अभिधम्म पर प्राचीनतम टीका आनन्दकृत अभिधम्ममूल टीका मानी जाती है।" पालि में एक विपुल टीका साहित्य उपलब्ध होता है।

पालि में धार्मिक और साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त अन्य भी एक विषयों - व्याकरण, कोष, अलंकार शास्त्र तथा छन्द शास्त्र आदि पर भी रचनायें मिलती हैं। व्याकरणिक-रचनाओं में कच्चयन व्याकरण भोग्गलायन व्याकरण तथा अग्गवंस की कृति सद्दनीति प्रमुख ग्रंथ हैं। शब्द धातु सम्बन्धी रचनाओं में धातुमंजूसा, धातुपाठ, तथा धात्वत्थदीपिनी आदि उल्लेखनीय हैं। भोग्गलायन-कृत अभिधम्मदीपिका नामक पालि कोष संस्कृत के अमरकोष के समान एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। पालि-काव्यशास्त्र सम्बन्धी रचनाओं में संघरक्खित रचित 'सुबोधालंकार' तथा छन्द पर वुत्तोदय आदि प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

प्राकृत भाषा और उसका साहित्य

पालि प्राकृत और अपभ्रंश मध्यकालीन आर्य-भाषायें थीं, जिनका समय मोटे तौर पर ६०० ई० पू० से १२०० ई० तक स्वीकार किया जाता है। प्राकृत भाषा का समय सामान्यतः ६०० ई० पू० से ६०० ई० तक है किन्तु संस्कृत नाटकों में छिट पुटे रूप से प्राकृतों का प्रयोग १८०० शती तक होता रहा है।

आर्य भाषा का प्रचीनतम रूप हमें ऋग्वेद की ऋचाओं में प्राप्त होता है किन्तु तत्कालीन आर्यों की बोलचाल की भाषा का स्वरूप क्या था। इस बात को जानने के लिए हमारे पास कोई भी प्रामाणिक साधन नहीं किंतु इतना निश्चित है कि उनकी है बोलचाल कीभाषा संहिताओं की साहित्यिक भाषा से अवश्य भिन्न होगी अनुमानतः वही

बोलचाल की भाषा प्राकृतों का मूलरूप है। वेदों के प्रणयन काल में प्राकृतें विभाषाओं के रूप नाना प्रदेशों में विद्यमान थीं और उनके शब्दों का समावेश संहिताओं में होने लगा था। वेदों में प्रयुक्त 'तितऊ' दन्द्र विकृत किंकृत विकट कीकट दंड और अंड आदि शब्द उक्त कथानक का स्पष्ट प्रमाण हैं। यास्क ८०० ई० पूर्व के समयछान्दस भाषा संहिताओं की भाषा से पर्याप्त भिन्न हो चुकी थी और उसमें आर्येतर तत्त्वों का समावेश हो हो गया था। कदाचित् इसी लिए उन्हें अस्पष्ट वैदिक मन्त्रों की पू० ने व्याख्या के लिए निरुक्त और निघंटु ग्रंथों का प्रणयन करना पड़ा। पाणिनि ६०० ई० ध्वन्दस और लोक-भाषा का उल्लेख किया है। उन्होंने लोक-भाषा (लौकिक संस्कृत) को अपने जगद्विख्यात व्याकरण द्वारा नियमबद्ध, सुसंस्कृत एवं परिमार्जित किया, किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि उस समय प्राकृतों का अभाव था। हां इससे इतना स्पष्ट है कि पाणिनि के समय तक प्राकृतों का साहित्यिक भाषा के रूप में विकास नहीं हुआ था। प्राकृत भाषा देश्य भाषा के रूप में छान्दस और लौकिक संस्कृत के समानान्तर विद्यमान थी पिशेल ने इसे प्राक्कृत-पहले बनी के आधार पर संस्कृत से भी प्राचीनतर माना है।

प्राकृत-व्युत्पत्ति और विवेचन

संस्कृत के बहुत से विद्वानों ने प्राकृत भाषा का विकास संस्कृत से माना है। वाग्भट्टालंकार के टीकाकार सिंहदेवमणि ने प्राकृत को संस्कृत से उद्भूत माना है— (प्राकृतेः संस्कृतात आगतम् प्राकृतम्) प्राकृत-संजीवनी तथा काव्यादर्श की प्रेमचन्द्र तर्कवाजीश-कृत टीका में संस्कृत को प्राकृत की योनि तथा इसे संस्कृत रूप से उत्पन्न बताया गया है। (प्राकृतंनु सर्वमेव संस्कृतं योनिः। संस्कृतरूपयाः प्रकृतेः उत्पन्नत्वात् प्राकृतम्) पेटर्सन ने प्रकृति को संस्कृत कहा है और उस से उत्पन्न भाषा को प्राकृत माना है। (प्राकृतिः संस्कृतं, तत्रभवात् प्राकृतं स्मृतम्) मार्कंडेय, और हेमचन्द्र प्रभृति विद्वानों ने भी क्रमशः प्राकृतसर्वस्व और शब्दानुशासन नामक ग्रंथों में प्राकृत को संस्कृत से उद्भूत माना है। किन्तु आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक खोजों के आधार पर प्राकृत के विकास से सम्बन्धी विद्वानों की उपर्युक्त मान्यता असत्य सिद्ध हो चुकी है। हम पहले संकेत कर चुके हैं कि संहिताओं के प्रणयन काल में बोलचाल की भाषा के रूप में प्राकृते विद्यमान थीं। इनमें बराबर परिवर्तन होता रहा। ये भाषाये प्राकृत अर्थात् जन सामान्य की भाषा में कहलाई। रुद्रट् के काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु ने संस्कृत और प्राकृत के भेद का तात्विक विश्लेषण किया है। उनके अनुसार व्याकरण आदि के संस्कार से विहीन, समस्त जगत के प्राणियों के स्वाभाविक वचन व्यापार को प्रकृति कहते हैं। उसे ही प्राकृत कहा जाता है। बालक महिला आदि की समझ में यह सरलता से आ सकती है और समस्त भाषाओं की यह कारण भूत हैं।" उक्त कथन में सत्य की प्रभूत मात्रा सन्निहित है। छान्दस भाषा और श्रेराय संस्कृत प्रतिशाख्य ग्रंथों से लेकर पंतजलि के महाभाष्थ तक परिमार्जित और सुसंस्कृत होती रहीं और लोक भाषाये बिना किसी संस्कार के निरन्तर कई शताब्दियों तक लोक-

व्यवहार का माध्यम बनी रहीं। महावीर और बुद्ध ने इन्हीं लोक भाषाओं के द्वारा अपने उपदेशमृत से जन-कल्याण किया था।

प्राकृतों का वर्गीकरण—व्याकरण धर्म और साहित्य आदि के अनेक आधारों पर प्राकृतों का विभाजन किया गया है। वैयाकरणों ने प्राकृतों के अन्तर्गत महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाचीचूलिका, चंडाली, ढक्की, शाबरी और अपभ्रंश आदि अनेक विभाषाओं की गणना की है। धार्मिक प्राकृतों में बौद्ध ग्रन्थों की भाषा पालि, जैन आगमों की भाषा अर्ध मागधी (आर्य) जैन महाराष्ट्री जैन शौरसेनी और अपभ्रंश की गणना की गई है। साहित्यिक प्राकृतों के अन्तर्गत महाराष्ट्री, शौरसैनी, मागधी पैशाची और अपभ्रंश को परिगणित किया गया है। भरत ने नाट्यशास्त्र में मागधी अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी अर्धमागधी, बह्लीका और दाक्षिणत्या नाम की सात प्राकृतें गिनाई हैं। इसके अतिरिक्त खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपियों की शिलालेखी प्राकृतों तथा मध्य एशिया में उपलब्ध खोतानी और निया प्राकृतों का भी परिगणन किया जा सकता है। हमें यहाँ केवल साहित्यिक प्राकृतों और उनके साहित्य की चर्चा अभीष्ट है।

प्राकृत साहित्य—महाराष्ट्री, शौरसेनी, धअर्ममागधी, मागधी तथा पैशाची आदि प्रमुख साहित्यिक प्राकृत भाषायें हैं। इनमें प्रबन्ध मुक्तक कथाकाव्य, नाटक, धार्मिक साहित्य तथा इतर साहित्य की विपुल सृष्टि हुई है। प्राकृतों में महाराष्ट्री सर्वप्रमुख एवं सर्वोत्कृष्ट मानी गई है। किसी समय यह विंध्याचल से हिमाचल तक के समूचे भारत की एक परिनिष्ठित साहित्यिक और सांस्कृतिक भाषा थी। वैयाकरणों ने इसके नियमों के अन्तर्गत ही अन्य प्राकृतों के नियमों का अन्तर्भाव कर दिया है। शुद्ध साहित्य की अधिकांश रचनायें इसी प्राकृत में उपलब्ध होती हैं। प्राकृतों में श्लोक रचना के लिए यह एक अत्यन्त उपयुक्त भाषा थी अतः कविता के क्षेत्र में इसका अधिकाधिक प्रयोग हुआ। इसमें बहुत से स्वर सुरक्षित हैं जो श्रवेणेन्द्रिय को अत्यन्त मधुर लगते हैं। इन्हीं कारणों से यह कविता-रचना के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई।'

महाराष्ट्री प्राकृत में निबद्ध प्रबन्ध काव्यों में प्रवरसेन (४०० ई०) द्वारा प्रणीत 'रावणवहों' अथवा 'दसमुहवहों' है जिसका संस्कृत रूपान्तर सेनुबन्ध है १५ आश्वासों में लिखित यह रचना एक अनुरागांक महाकाव्य है। इसमें राम की कथा वर्णित है। कई विद्वानों ने इसे कालिदास की कृति कहा है, जो कि सर्वथा असंगत है। इसमें कालिदासोत्तर संस्कृत साहित्य की कृत्रिम अलंकृति शैली का स्पष्ट प्रभाव है। यह रचना बाण के समय में पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुकी थी, क्योंकि उन्होंने हर्ष चरित की भूमिका में इसका उल्लेख किया है। यशोवर्मा के राजाश्रित कवि वप्पइराअ (वाक्पति-राज) (८०० ई०) द्वारा रचित गडडवहो (गोड़वधः)। वाक्पतिराज की एक अन्य रचना—'महुमह विअ-अ' का भी पता चला है। परवर्ती प्राकृत काव्यों में

कृष्ण-लीला शुक का 'सिरचिंघ क्वम्, श्रीकंठ का सोरिचत्तिम्' तथा राम पाणिवाद के कंशवहो तथा 'उसागिरुद्ध' काव्यों का पता चला है। अनुमान है कि इन परवर्ती काव्यों का सृजन १६ वीं शती के बाद ही हुआ है।

अनुमान है कि महाराष्ट्री शुद्ध साहित्यिक मुक्तकों की दृष्टि से भी काफी समृद्ध थी किन्तु अब इस में उक्त परंपरा की केवल दो ही प्रतिनिधि रचनायें उपलब्ध होती हैं। इस का शेष मुक्तक काव्य कराल काल ने ही कवलित कर लिया है। गाहा (गाथा सप्तशती) का संग्रह आंध्रप्रदेश के राजा सातवाहन (हाल) ने ईसा की प्रथम शताब्दी में किया। उसने अपने से पूर्व और अपने समय में प्रचलित असंख्य गाथाओं में से सर्वश्रेष्ठ नीति और शृंगार परक गाथाओं का संकलन किया था। किन्तु इस में प्रक्षेपों की प्रक्रिया पांचवी छठीशती तक चलती रही। गाथा सप्तशती में शृंगार के संयोग और वियोग पक्षों प्रणय के उन्मुक्त चित्रणों और प्रेम के नाना विध रूपों के अंकन में जो ताजगी, स्वभाविकता, सरसता और हृदयावर्जकता है, वह निश्चय से अद्वितीय है। इस ग्रंथ रत्न ने अपभ्रंश और हिन्दी के नीति एवं शृंगार परक मुक्तक रचनाओं को अपरिमित रूप से प्रभावित किया है। इस परंपरा का दूसरा काव्य श्वेताम्बर जैन जय वल्लभ (१२०० ई०) द्वारा रचित 'वज्जालग्ग' है। सातवाहन के समान जय वल्लभ ने भी विविध कवियों द्वारा रचित कविताओं का संग्रह किया था। इस ग्रंथ के ४८ परिच्छेदों में ७९५ छन्दों का संकलन है। इन में नीति, शृंगार चरित्र और व्यवहार आदि के विषयों का निरूपण मिलता है। संस्कृत के अनेक काव्य शास्त्रियों और उन के टीका-कारों ने उक्त ग्रंथ की गाथाओं का उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त 'गाथा सहस्री' गाथा कोष तथा रसालय आदि अन्य भी प्राकृत के सुभाषित ग्रंथों का पता चला है।

महाराष्ट्री के कथा साहित्य में कुतुहल नाम ब्राह्मण (१० वीं शती) की लीला-वई (लीला-वती) नामक रचना उल्लेखनीय है। इस में प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन और सिंहल द्वीप की राजकुमारी लीलावती के प्रेम का चित्रण किया गया है। शैली और प्रतिपाद्य की दृष्टि से उक्त रचना सुबन्धु की वासवदत्ता और बाण की कादम्बरी की परंपरा में आती है।

राजशेखर की 'कर्पूर मंजरी' महाराष्ट्री में रचित नाटकों में प्रमुख रचना है। यह हर्षवर्धन की लिखी हुई नाटिकाओं—प्रिय दर्शिका और रत्नावली की पद्धति पर लिखा हुआ एक सट्टक है जिस में कुन्तल देश की राज-कुमारी कर्पूर मंजरी और राजा चन्द्रपाल के प्रणय को निबद्ध किया गया है। इस नाटक से यह विदित होता है कि राजशेखर (९०० ई०) के समय प्राकृत-पर्याप्त लोक प्रिय थी। उनका कहना है कि—"संस्कृत का गठन परूष और प्राकृत का गठन सकुमार है। पुरुष और महिलाओं में जितना अन्तर होता है उतना ही अन्तर संस्कृत और प्राकृत काव्य में समझना चाहिये।" कर्पूर मंजरी के ढंग पर प्रणीत अन्य सट्टक —विलासवती (रचयिता मार्कंडेय

१७०० ई०), चन्दलेहा, (रचयिता रूद्रदास १६६० ई०), आनन्द सुन्दरी, (रचयिता घनश्यामदास १७०० ई०), सिंगार मंजरी, (कर्ता विश्वेश्वर १८ वीं शती का पूर्वाध) रंभा मंजरी, (कर्ता नयचन्द्र १४ वी शती) भी उल्लेखनीय हैं। इन के अतिरिक्त राम पाणिवाद की 'लीलावती' नामक रचना भी प्राप्त हुई है जो कि एकांकी प्राकृत रूपक है।

संस्कृत नाटकों में नायिका, उसकी सहेलियों, उच्चवर्ग की स्त्रियों, ऊंची स्थिति की दासियों बालक, नपुंसक और विदूषक शौर सेनी प्राकृत का प्रयोग करते है। इस से अनुमान लगाया जा सकता है कि कदाचित् नाटक का उद्भव शूरसेन प्रदेश में हुआ हो और इस के बोल चाल का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। कई विद्वानों ने संस्कृत के पात्रों की भाषा माना है। इस प्राकृत का उद्भव शूरसेन प्रदेश अर्थात् ब्रज-मंडल में हुआ जो कि लौकिक संस्कृत का प्रमुख केन्द्र था। अतः यह संस्कृत से प्रभूत मात्रा में प्रभावित हुई। शौर-सेनी ने निश्चय से राजस्थान, पंजाब गुजरात और अवध की भाषाओं को प्रभावित किया। यद्यपि शौरसेनी में लिखित कोई स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता कि संस्कृत के नाटकों में इस का प्रयोग बराबर होता रहा है। अश्व घोष ने अपने नाटकों में शौरसेनी का ही प्रयोग किया है। दिगम्बर जैन संप्रदाय के कतिपय ग्रंथों का प्रणयन जैन शौरसेनी प्राकृत में हुआ। कुन्द कुन्दाचार्य (प्रथमशती) की प्रायः सभी रचनायें शौर सेनी प्राकृत में हैं। उक्त आचार्य का "पवयण सार" नामक ग्रंथ जैन शौर सेनी की एक प्रसिद्ध रचना है। इसके अतिरिक्त कार्तिकेय स्वामी रचित कत्ति गेयाणुपेक्खा तथा ऋकेशचार्य द्वारा रचित 'मूलाचार' आदि ग्रन्थ इसी भाषा में हैं।

पैशाची प्राकृत एक प्राचीन विभाषा भामी गई है। वैयाकरणों ने इसे चूलिका पैशाची अथवा भूतभाषा भी कहा है। गुणाण्य (ईसा की प्रथम शती) की बृहत् कथा इसी भाषा में निबद्ध थी जो कि अब अप्राप्य है। रामायण, महाभारत और भागवत के समान बृहत् कथा भी परवर्ती भारतीय साहित्य के लिए निरन्तर कई शताब्दियों तक उपजीव्य ग्रन्थ बना रहा है। भारतीय कथा साहित्य प्रतिपाद्य, शैली और कथानक रूढ़ियों की दृष्टि से बृहत् कथा से अपरिमित रूप से प्रभावित हुआ है। क्षेमेन्द्र की 'बृहत् कथा मंजरी', सोमदेव का 'कथा सरित सागर, तथा बुद्ध स्वामी का 'बृहत् कथा श्लोक-सग्रह' गुणा ध्य की बृहत कथा के संस्कृत के संक्षिप्त रूपान्तर मात्र हैं। षड्भाषा चन्द्रिका के लेखक लक्ष्मी-धर ने पैशाची और चूलिका पैशाची को राक्षस, पिशाच और नीच व्यक्तियों की भाषा बताया है और पांड्य केकय बाह्लीक सिंह (सह्य) नेपाल कुन्तल, सुधेष्ण, भोज, गंधार, हैवक और कन्नौज की गणना पिशाच देशों में की हैं। इससे अनुमान है कि पैशाची प्राकृत भारत के उत्तर और पश्चिमी भागों में बोली जाती रही होगी।

मागधी-प्राकृत मगध जनपद (बिहार) की विभाषा थी। इस में स्वतंत्र रचनायें प्राप्त नहीं होती। संस्कृत नाटकों में केवल हीन कोटि के पात्र राक्षस, भिक्षु,

क्षपणक, चेट अश्वरक्षक सेंध लगाने वाले आदि इसका प्रयोग करते हैं। यह शौर सेनी से अत्यधिक प्रभावित है। पुरुषोत्तम ने मागधी के अन्तर्गत शाकारी, चांडाली और शाबरी भाषाओं का परिगणन किया है।

अर्ध मागधी एक मध्यवर्ती प्राकृत थी। इस की पश्चिमी सीमा पर शौर सेनी और पूर्वी पर मागधी थी। इस की बहुत सी विशेषतायें अशोक के शिला लेखों में पाई जाती है। महावीर स्वामी ने इसी भाषा में अपनी अमूल्य शिक्षायें दी थीं। कुछ विद्वानों की धारणा है कि महावीर ने ही इस में तत्कालीन अन्य भाषाओं की सदुक्तियों और सुन्दर प्रयोगों को समाविष्ट कर इसे सर्व प्रिय बनाया था। कदाचित् इसी कारण से इसका नाम अर्धमागधी पड़ा। मार्कंडेय ने प्राकृत-सर्वस्व में इसे शौरसेनी से उद्भूत कहा है जब कि कामदीश्वर ने इसे महाराष्ट्री मिश्रा कहा है। इसे आर्य भाषा भी कहा गया है।

यह एक समृद्ध साहित्य की स्वामिनी है। इस में जैनों के सिद्धान्त और सिद्धान्तेतर साहित्य की विपुल सृष्टि हुई है, जो मात्रा और गुण दोनों दृष्टियों से बौद्ध साहित्य की अपेक्षा काफी समृद्ध है। इसके अतिरिक्त जैन-साधुओं ने जैन शौर सेनी और जैन महाराष्ट्री में भी अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। अर्धमागधी में प्रणीत जैन-सिद्धान्त साहित्य निम्नांकित है :—

(क) द्वादश अंग—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति ज्ञातृ धर्म कथा, उपासक दशा, अनुत्तरोप पातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाक श्रुत अन्नकृद्दशा तथा दृष्टिवाद। इन जैन तीर्थंकरों, महापुरुषों शलाकापुरुषों, महावीर के दस गृहस्थी शिष्यों, मोक्ष प्राप्तिकर्ता स्त्री पुरुषों एवं महात्माओं और मुनियों के आचार-व्यवहारों, जीवन वृत्तों, अन्य धर्मों के खंडनों, जैनधर्म की मान्यताओं और निगूढ़-तत्त्वों, शुभ-अशुभ कर्मों के फलों तथा व्रतो का-उल्लेख किया गया है। इन में कतिपय रचनायें साहित्यिक दृष्टि से भी काफी महत्त्वपूर्ण बन पड़ी हैं।

(ख) द्वादश उपांग—औपयातिक, राज प्रश्नीय, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना सूर्य प्रज्ञाप्ति, जम्बू द्वीप प्रज्ञाप्ति, चन्द्र प्रज्ञाप्ति, कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका पुष्प चूला तथा वृष्णिदशा। इनकी रचना जैन धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए की गई। साहित्यिक दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

(ग) दश प्रकीर्ण—चतुः शरण, आतुर प्रत्याख्यान, महा प्रत्याख्यान, भक्त परिज्ञा, तन्दुल वैचारिक, संस्तारक, गच्छाचार, गणिविद्या, देवेन्द्रस्तव तथा मरण समाधि। ये श्रमणों की रचनायें हैं जिनमें तीर्थंकरों के उपदेशों का अनुसरण किया गया है। इनमें आचार व्यवहार, रोग-उपचार, गणित विद्या तथा शरीर विज्ञान आदि से संबद्ध बिषयों का निरूपण किया गया है।

(घ) छेद सूत्र—निशीथ, महानिशीथ, व्यवहार, दशा-श्रुत स्कंध, बृहत् कल्प तथा पंचकल्प अथवा जीत कल्प। इन में आचार शुद्धता पर बल दिया गया है। ये संक्षिप्त शैली में लिखे गये हैं और इन्हें परम रहस्यमय बताया गया है।

(ङ) मूल सूत्र—उत्तराध्ययन, आवश्यक दश वैकालिक पिंड निर्युक्ति, ओघ निर्युक्ति पाक्षिक सूत्र, क्षामणा सूत्र, वंदित्तुसुत्त, ऋषि भाषित तथा नन्दी और अनुयोग-दार। इन में साधु जीवन के मूल भूत आदर्शों और नियमों का उल्लेख है। धार्मिक दृष्टि से ये भी बौद्ध सूत्रों के समान महत्त्वपूर्ण हैं।

इसके अतिरिक्त जैन-आगमों पर लिखा हुआ एक विशाल व्याख्या-साहित्य उपलब्ध होता है, जिसमें निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी, टीका आदि लिखने की परम्परा दूसरी शती ई० से १६ वीं शती तक चलती रही। षट खंडा गम, कषाय प्राभृत मंत्रशास्त्र तथा आगमोत्तर कालीन जैन धर्म ग्रंथों की एक विशाल राशि तैयार हुई। जैनों का सिद्धान्तेतर साहित्य जैन महाराष्ट्री और जैन शौरसेनी में लिखा गया।

अपभ्रंश भाषा : उसका साहित्य

प्राकृत भाषा के साहित्य क्षेत्र में परिनिष्ठित और व्याकरण के नियमों से आबद्ध हो जाने पर जन जीवन से उस का व्यापक संपर्क टूट गया। जिन लोक प्रचलित बोलियों से प्राकृत की रचना हुई थी, उन का जन सामान्य में बराबर विकास होता रहा। ये बोलियें देशीभाषा अथवा अपभ्रंश के नाम से अभिहित हुईं। इसे दोहा, दूहा, अवब्भंस, और अवहट्ट और अवहत्थ आदि के विभिन्न नामों से भी पुकारा गया। प्रायः इन सभी शब्दों का अर्थ बिगड़ी हुई, अशुद्ध, असंस्कृत एवं अव्याकरण सम्मत भाषा लिया गया। अपभ्रंश भाषा मध्यकालीन आर्य भाषाओं के अन्तर्गत है और सामान्यतः इस का काल ६०० ई० से १२०० ई० तक स्वीकार किया गया है। (हालांकि १६ वीं शताब्दी तक परिनिष्ठित अपभ्रंश में साहित्यिक रचनाओं की सृष्टि होती रही) आगे चलकर जब अपभ्रंश भाषा भी लोक भाषा न रहकर परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा बन गई, तो देशी भाषाओं—हिन्दी राजस्थानी, पंजाबी गुजराती मराठी बंगाली और सिंधी आदि भाषाओं का उदय हुआ।

अपभ्रंश भाषा और उसके भेद

अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य में बहुत प्राचीन काल से होता आया है। यह विकृत शब्द के अर्थ और भाषा के रूप में चर्चित है। पतंजल्ति के महाभाष्य में संस्कृत को प्रकृति (मूल) और अपभ्रंश को उसका विकृत (भ्रष्ट) रूप कहा गया है। भरत के नाट्य शास्त्र में संस्कृत तथा देशी शब्दों से भिन्न विभाषा को विभ्रष्ट अथवा आभीरोक्ति के नाम से अभिहित किया गया है। रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में संस्कृत प्राकृत तथा लोक भाषा अपभ्रंश के भेदों का भी उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश को शिष्ट जनों की भाषा कहा है।

वैयाकरणों ने मुख्यतः तीन अपभ्रंशों—नागर, ब्राचड़ तथा उपनागर की चर्चा की है। मार्कंडेय ने देश भेद के आधार पर इनके २७ भेदों का उल्लेख किया है। कई विद्वानों ने भौगोलिक आधार पर पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी तथा दक्षिणी नामक अपभ्रंश-भेदों की चर्चा की है। कई विद्वानों का विचार है कि जितनी प्राकृतें हैं उतने ही अपभ्रंश के भेद हैं, किन्तु यह धारणा असंगत है। अशोक की मृत्यु के पश्चात् मागधी प्राकृत का साहित्यिक विकास सर्वथा अवरूद्ध हो गया और कालान्तर में अर्ध मागधी

के क्षेत्र में भी शौरसेनी अपभ्रंश का बोलबाला रहा। पूर्वी कवियों ने काव्य के क्षेत्र में शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग किया। १० वीं शती में बंगाल में भी कविता क्षेत्र में उक्त अपभ्रंश का प्राधान्य रहा। सारे उत्तरी भारत में १२ वीं शताब्दी तक गुजरात से पंजाब तक और महाराष्ट्र से नेपाल तक शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग होता रहा। डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के शब्दों में "वस्तुतः १२ वीं शती तक साहित्य में केवल एक ही भाषा-शैली चुनी जाती रही और वह थी—शौर सेनी या नागर अपभ्रंश। गुजरात से लेकर बंगाल तक और शूरसेन प्रदेश से लेकर बरार तक इसी साहित्यिक शैली का एक छत्र साम्राज्य था। पश्चिमी (शौर सेनी) अपभ्रंश उस काल की साहित्यिक भाषा थी, ठीक उसी तरह जैसे उस की साक्षात् पुत्री। हिन्दी भाषा समस्त भारत की राष्ट्र भाषा तथा भारत के अधिकांश भाग की साहित्यिक भाषा है।"

अपभ्रंश साहित्य

प्राकृत साहित्य के समान अपभ्रंश साहित्य भी पर्याप्त समृद्ध है। इस में महाकाव्यों, खंडकाव्यों गीतिकाव्यों, लौकिक-प्रेम काव्यों, धार्मिक रचनाओं, रूपक साहित्य, कथा काव्यों स्फुट साहित्य तथा गद्य साहित्य की नाना विधाओं की सृष्टि हुई है। इस में जैन धर्म के सिद्धान्त और सिद्धान्तेतर साहित्य बौद्ध सिद्धों तथा नाथों के साहित्य तथा शौर्य और श्रृंगारात्मक लौकिक काव्यों का प्रणयन हुआ है।

जैनों के धर्म परक काव्यों में जो इन्दु (योगीन्द्र) (११ वीं शती) के परमात्म प्रकाश, योग सार तथा सावयधम्मदोहा, देव सेन का समय सार तथा जैन मुनि राम सिंह (११ वीं शती) का पाहुड़ दोहा प्रमुख रचनायें हैं। इनका हम अन्यत्र उल्लेख कर चुके है। जैनों के धर्मेतर साहित्य के अन्तर्गत स्वयं भू (८ वीं शती) के पद्मचरित तथा हरि वंश पुराण, तथा पुष्पदन्त (ईसा की १० वी शती का उत्तरार्द्ध) के महापुराण, यशहर चरिउ, और णयकुमार चरिउ आदि प्रबन्ध काव्यों की चर्चा प्रस्तुत पुस्तक के आदिकाल नामक खंड में जैन साहित्य के अन्तर्गत की जा चुकी है। धनपाल (११ वीं शती) की भनिसयत कहा का उल्लेख भी उक्त प्रकरण द्रष्टव्य है। इस परम्परा में मुनि कनकामर (११ वीं शती) का कर कंड चरिउ एक उल्लेखनीय कृति है। कथानक रूढ़ियों के अध्ययन की दृष्टि से यह रचना महत्त्वपूर्ण है।

बौद्ध सिद्धों ने अपने चर्यापदों और दोहों तथा नाथ पंथियों नें अपनी-वाणियों से अपभ्रंश साहित्य की अभिवृद्धि में मूल्यवान योग दिया है। इस की चर्चा हम आदि काल में सिद्ध साहित्य तथा नाथ साहित्य के अन्तर्गत कर चुके हैं। अपभ्रंशों के शौर्य एवं प्रेम प्रधान काव्यों के अन्तर्गत अब्दुर्रहमान का संदेश रासक एक महत्त्वपूर्ण गीति काव्य है जिस की सविस्तार चर्चा हम आदि काल में कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र के शब्दानुशासन के आठवें अध्याय तथा पुरातन प्रबन्ध-संग्रह और प्रबन्ध चिन्तामणि में प्रेम तथा नीति तथा शौर्य सम्बन्धी अनेक उत्तमोत्तम दोहे संगृहीत हैं।

परिशिष्ट (ख)

हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत–साहित्य का प्रभाव

संस्कृत-साहित्य ने अतीत में भारत की सांस्कृतिक एकता को बनाये रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया है और आज भी यदि किसी भारतीय भाषा के साहित्य में भारत की सांस्कृतिक एकता को एक सूत्र में बांधने की अपूर्व क्षमता है तो वह केवल संस्कृत-साहित्य में ही। संस्कृत-साहित्य ने भारतीय जीवन, धर्म, दर्शन आचार-विचार, संस्कृति और साहित्य को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। इसका प्रभाव केवल भारत तक ही सीमित नहीं प्रत्युत बृहत्तर भारत, मध्य एशिया और यौरुप पर भी इसकी अमिट छाप है। यह एक निर्विवाद बात है कि विश्व में भारत की ख्याति का प्रमुख कारण संस्कृत-साहित्य है। संस्कृत भाषा और उसके साहित्य के अध्ययन के बिना आज का भाषा विज्ञान अपूर्ण रहेगा। आधुनिक भारतीय भाषायें और उनके साहित्य तो निश्चित रूप से संस्कृत साहित्य के ऋणी हैं ही साथ-साथ दक्षिण भारत की द्रविण भाषाओं में निबद्ध साहित्य पर भी इस साहित्य की अविस्मरणीय छाप है। राष्ट्र भाषा आयोग का कहना—"It is hardly necessary to add that besides the current regional Languages there is an immense amount of work which needs to be done in respect of Sanskrit, Pali, Prakrit, Apabharansha etc. The Sanskrit Language preeminently and the ancient Languages in different degrees powerfully influenced the current Indian speeches and a study of those has an obvious bearing on the study of contemporary forms of speech."

हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत तथा अंग्रेजी-साहित्यों का प्रभाव व्यापक रूप में पड़ा है। संस्कृत-साहित्य से यहां हमारा अभिप्राय वैदिक और लौकिक संस्कृत-बाङ्मय से है। वैदिक और लौकिक संस्कृत का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। सच यह है कि वैदिक साहित्य में विचार का क्रमात्मक विकास हुआ है, संस्कृत के परवर्ती साहित्य में उसका उपबृंहण हुआ है। वैदिक साहित्य—संहिता, ब्राह्मण ग्रंथ, उपनिषद तथा सूत्र ग्रंथों का लौकिक संस्कृत के दर्शन, धर्म, नीति, स्मृति, पुराण महाकाव्य, नाटक, काव्य-शास्त्र एवं आख्यान-साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। आज के भारतीय जीवन तथा साहित्य पर वैदिककालीन संस्कृति और धर्म का प्रभाव जिस किसी रूप में बना हुआ है। हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव दो रूपों में देखा जा सकता है—(क) आकृतिमूलक प्रभाव, काव्यरूपात्मक व शैली सम्बन्धी प्रभाव, (ख) सिद्धांतमूलक—विषय-वस्तु एवं विचारधारा सम्बन्धी प्रभाव। उक्त प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में पड़ा है। यह प्रभाव हिन्दी-साहित्य के

सभी कालों पर पड़ा है। अब हमें देखना यह है कि संस्कृत-साहित्य का प्रभाव हिन्दी-साहित्य के किस काल पर कितना और कैसा पड़ा है।

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—इस काल के साहित्य पर प्रत्यक्ष रूप से आकृतिमूलक प्रभाव पड़ा है। सैद्धान्तिक प्रभाव परम्परात्मक रूप प्रस्तुत साहित्य पर पड़ा। कहने का तात्पर्य यह है कि इस काल के साहित्य पर आकृतिमूलक प्रभाव की अधिकता है और ऐसा होना स्वाभाविक था क्योंकि उस समय की परिस्थितियां ही कुछ ऐसी थीं। अस्तु ! अचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आदिकाल की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं—"वस्तुतः छन्द, काव्यरूप, काव्यगत रूढ़ियों और वक्तव्य वस्तु की दृष्टि से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का लोक भाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्राप्त साहित्य का ही बढ़ाव है, यद्यपि इसकी भाषा उक्त अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न है।" किन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना होगा कि आदिकालीन साहित्य पर अपभ्रंशों का यह प्रभाव प्राकृतों के माध्यम से संस्कृत-साहित्य से ही आया है। आदिकाल के साहित्य में वीर चरितात्मक नीति, धर्म, योग और प्रेमात्मक काव्यों पर निश्चित रूप से अपभ्रंश साहित्य का प्रभाव है किन्तु उक्त समूची काव्यात्मक-प्रवृत्तियाँ संस्कृत-साहित्य में भी देखी जा सकती हैं और सम्भव है कि संस्कृत-साहित्य की ये सभी प्रवृत्तियाँ परम्परा से आदिकाल के साहित्य तक पहुंची हों।

इस काल में रासो ग्रंथों का पर्याप्त प्रणयन हुआ है। विद्वानों ने 'रासो' शब्द का सम्बन्ध रासक छन्द तथा नृत्य गीतात्मक काव्य से जोड़ा है। काव्य-निर्माण का यह प्रकार पहले से ही अपभ्रंशों में प्रचलित था। अपभ्रंश का दोहा या दूहा छन्द संस्कृत के मात्रिक छन्द आर्या से बहुत मिलता है। इसके अतिरिक्त 'पृथ्वीराज-रासो' में संस्कृत के भुजंगी आदि अनेक छन्दों का प्रयोग मिलता है। 'पृथ्वीराजरासो' की शैली सर्वथा पुरातन है और कदाचित् इसी कारण उसकी प्रामाणिकता भी यत्किंचित् विश्वसनीय हो जाती है। रासो के शुक-शुकी संवाद पर कादम्बरी की छाया स्पष्ट है। इस ग्रंथ के कथा नियोजन तथा घटना विस्तार आदि भी संस्कृत से प्रभावित हैं। इस काल में रचित बहुत से रासो काव्यों पर संस्कृत महाकाव्यों के लक्षण पूरे उतरते हैं। जैनों के धर्माश्रित श्रृंगार-काव्यों तथा जैनेतर श्रृंगारी काव्यों में श्रृंगारधारा का बहुत कुछ रूप संस्कृत काव्याधारा के अनुरूप है।

विद्यापति संस्कृत, अपभ्रंश ओर मैथिली भाषा के एक सफल कवि कहे जा सकते हैं। इनकी भाषा और शैली पर संस्कृत का प्रभाव सर्वविदित है। जहाँ इनकी भाषा संस्कृतगर्भित है वहां उसमें संस्कृत की सरसता और कोमलता आदि के गुण भी विद्यमान हैं। विद्यापति स्वयं संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। उन्होंने अपने आश्रय दाता के लिए 'भागवत' और 'काव्यप्रकाश' की टीकायें लिखी हैं। उनकी कुछ रचनायें संस्कृत और मैथिली भाषा में हैं। विद्यापति की पदावली की शैली और विषय पर संस्कृत के प्रसिद्ध कवि जयदेव के 'गीत गोविन्द' की स्पष्ट छाप है। जयदेव और विद्यापति दोनों ने राधा-कृष्ण की श्रृंगारात्मक लीलाओं का उन्मुक्त चित्रण किया

है। इसके अतिरिक्त इस काल में रचित 'संदेश रासक' और बीसलदेव रासो आदि प्रेमात्मकता काव्य संस्कृत के प्रेम-प्रधान काव्यों से प्रचुर रूप में प्रभावित हैं। इस काल के नीति, उपदेश तथा धर्म सम्बन्धी काव्यों पर भी संस्कृत साहित्य का प्रभाव है।

इस काल में रचित सिद्ध साहित्य में प्रतिपादित "शून्य" संस्कृत के बौद्ध दर्शन से प्रभावित दृष्टिगोचर होता है। आगे चलकर वाममार्गी साहित्य में जो मैथुन मदिरा आदि पांच मकारों का वर्णन मिलता है वह कोल-साहित्य का प्रभाव है। गुरु गोरखनाथ तथा उनके शिष्यों की वाणी पर पतंजलि के 'योगशास्त्र' तथा आगम साहित्य का प्रभाव है पर इस सम्बन्ध में पं० बलदेव उपाध्याय का कहना है कि 'गोरखनाथ आदि नापंथी सिद्धों की योग प्रक्रिया उपनिषद्मूलक है, बौद्ध-तन्त्र-मूलक नहीं।"

हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल—भक्तिकाल पर संस्कृत-साहित्य का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। इस काल का साहित्य विषय-वस्तु, सिद्धान्त तथा शैली सभी दृष्टियों से संस्कृत-साहित्य का ऋणी है। भक्तिकाल की सभी काव्यधारायें—सन्त काव्य, सूफी काव्य, कृष्ण-भक्ति साहित्य तथा राम-भक्ति साहित्य किसी न किसी रूप में संस्कृत से अवश्य प्रभावित है। हिन्दी के कृष्ण-भक्ति साहित्य तथा राम-भक्ति साहित्य के उपजीव्य ग्रंथ 'भागवत' तथा 'रामायण' हैं। कोई भी पूर्ववर्ती साहित्य अपने परवर्ती साहित्य के लिए जहां एक ओर पृष्ठभूमि तैयार करता है, वहां उसके भावी-निर्माण के लिए बहुत से उपकरण भी जुटा देता है, किन्तु भक्तिकालीन साहित्य इस कथन का सर्वथा अपवाद है। उसने अपने पूर्ववर्ती आदिकाल के साहित्य से प्रेरणा न लेकर सीधे संस्कृत के दर्शन-साहित्य से प्रेरणा प्राप्त की। भक्तिकाल में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्य संस्कृत के दिग्गज विद्वान थे और उन्होंने अपने सम्प्रदायों का दार्शनिक आधार संस्कृत साहित्य से तैयार किया।

वस्तुतः यह बड़े आश्चर्य की बात है कि भक्तिकाल और रीति काल का साहित्य अपने पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य या अपभ्रंश साहित्य से प्रेरणा ग्रहण न करके संस्कृत वाङ्मय से प्रत्यक्षतः अपरिमित मात्रा में प्रभावित हुआ है। भक्तियुग का साहित्य संस्कृत के दर्शन समाज और पुराणों से निरन्तर प्रेरणा लेता रहा है तो रीति-काव्य संस्कृत के शृंगारी काव्यों काव्य शास्त्र और कामशास्त्रीय, परम्पराओं से परिचालित होता रहा है। रीतिकाल में संस्कृत के ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र काम-शास्त्र शालिहोत्र तथा अन्य नाना विषयों के ग्रंथों का भी हिन्दी में रूपान्तर प्रस्तुत किया गया। इस दृष्टि से रीतिकाल भारतीय साहित्य और संस्कृत का पुनरुत्थान या जागरणकाल ठहरता है। इस काल का लेखक संस्कृत साहित्य के विशाल ज्ञान राशि को हिन्दी के माध्यम से जन सामान्य तक पहुंचाने के लिए अतीव-चिन्तित एवं लालायित दृष्टिगोचर होता है।

सन्त-काव्य—सन्त कवियों में कबीर प्रतिनिधि कवि है। इनके साहित्य पर वेदान्त, योगदर्शन एवं तांत्रिक साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। कबीर ने जो शाक्तों की

निन्दा की है उसका सम्बन्ध कौल सम्प्रदाय से है, शैवागमों से नहीं। कबीरदास का ब्रह्म बौद्धों के शून्यवाद से बहुत कुछ प्रभावित है। निःसन्देह कबीर अनपढ़ थे किन्तु वे बहुश्रुत अवश्य थे। उन्होंने जो ज्ञानार्जन किया वह सब सत्संग और श्रवण द्वारा ही किया। कबीरदास नाथपंथ से अत्यधिक प्रभावित हैं और यह कहना अनुचित न होगा कि नाथपंथियों ने कबीर आदि सन्त कवियों के लिए बहुत कुछ काव्य-भूमि पहले से ही तैयार कर दी थी। कबीर व समस्त सन्त-काव्य जिनमें यौगिक प्रक्रियाओं का उल्लेख है, उनका उद्भवस्थल संकृस्त-साहित्य ही है। हिन्दी के कुछ विद्वानों का कहना है कि हिन्दी के सन्त-काव्य पर संस्कृत के भागवत, पुराण आदि काव्यों का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा है। सन्त कवियों के अद्वैतवाद पर वेदान्त का असंदिग्ध प्रभाव है। कबीर की इस उक्ति में—"जल में कुम्भ-कुम्भ में जल" वेदान्त दर्शन के सिद्धान्त का प्रतिपादन है। कबीर के "लालन की नहीं बोरियाँ" पर संस्कृत के "शैले शैले न मणिक्यम्" का स्पष्ट प्रभाव है। इसी प्रकार कबीर की अनेक साखियों पर संस्कृत के नीति तथा सूक्तिमय श्लोकों का प्रभाव देखा जा सकता है। हाँ, इस सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है कि कबीर पर संस्कृत का जो प्रभाव है वह प्रत्यक्ष न होकर परम्परागत है।

सूफी प्रेमकाव्य—यद्यपि कुछ विद्वानों के अनुसार सूफी-काव्य संस्कृत-काव्य परम्परा की अपेक्षा फारसी की मसनवी शैली के अन्तर्गत अधिक आता है पर भारत भूमि पर पणीत यह काव्य, संस्कृत के प्रभाव से एकदम अछूता रहा हो, ऐसी बात नहीं। सूफी काव्यों के कथानक हिन्दू घरों में प्रचलित प्रेम कहानियाँ हैं। इन काव्यों का विषय संस्कृत से काफी प्रभावित है। विद्वानों का विश्वास है कि जायसी के 'पद्मावत' पर जैनकाव्यों तथा 'ढोला मारू रा दूहा' का पर्याप्त प्रभाव है। डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ का कहना है कि जायसी के 'पद्मावत' के निर्माण से पहले जयवल्लभ नाम का कवि संस्कृत भाषा में उक्त काव्य को लिख चुके थे, अतः उसका प्रभाव जायसी पर पड़ना कोई असंभाव्य नहीं है। भले ही यह प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से न पड़ा हो, किन्तु लोक प्रचलित परम्परा के माध्यम से पड़ा ही होगा। हमें तो फारसी काव्यों की मसनवी शैली भारती प्रबन्ध काव्यों की शैली का ईरानीकरण ही लगता है। इस विषय का प्रतिपादन हम कही अन्यत्र स्वतन्त्र रूप से करेंगे। हिन्दू घरों की कहानियों को काव्यवस्तु बनाने के कारण उनमें हिन्दू संस्कृति का यत्र तत्र प्रतिबिम्ब है। सूफियों के महाकाव्य नायक तथा रस-परिपाक की दृष्टि से संस्कृत के महाकाव्यों के अधिक निकट ठहरते हैं यद्यपि इनमें सर्गबद्धता के स्थान पर शीर्षक पद्धति का प्रयोग किया गया है। जायसी पर वेदान्त के अद्वैत तथा सर्वात्मवाद का प्रभाव स्पष्ट है। जायसी तथा अन्य सूफियों पर, योग का प्रभाव भी देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त जायसी पर कामशास्त्र का प्रभाव भी अवलोकनीय है। उदाहरणार्थ जायसी के एक कथन पर संस्कृत का प्रभाव देखिये—

बन-बन बिरछि न चन्दन होई, तन-तन बिरह न उपनै सोई।—जायसी।
शैले-शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे-गजे।—संस्कृत-सुक्ति।

कृष्ण-भक्ति काव्य—हिन्दी के सगुण काव्य पर संस्कृत-साहित्य का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है और यह प्रभाव कई रूपों में देखा जा सकता है। भागवत पुराण समस्त कृष्ण-भक्ति काव्य का प्राण कहा जा सकता है। 'सूरदास के सागर' पर तथा नन्ददास की बहुत सारी रचनाओं पर भागवत का प्रभाव प्रत्यक्ष है, हालांकि इन कवियों ने प्रभाव ग्रहण करते हुए भी मौलिकता बनाये रखी है। हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य में राधा की कल्पना को मौलिक स्वीकार किया गया है, परन्तु वह भागवत की गोपी से प्रेरित कही जा सकती है। निःसन्देह सूर और नन्ददास के 'भ्रमरगीत' काफी मौलिक है फिर भी वे भागवत के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। नन्ददास की 'रुक्मिणी-मंगल' की रचना भागवत के रुक्मिणी-हरण तथा रुक्मिणी उद्धार के आधार पर की गई है। उनकी कृष्ण-गोपीलीला से सम्बद्ध रचना 'रासपंचाध्यायी' भागवत के दशम स्कन्ध के २९—३३ तक के अध्यायों के आधार पर हुई है। नन्द की 'विरह-मंजरी' कालिदास के 'मेघदूत' के आधार पर रची गई प्रतीत होती है। कृष्ण-भक्त कवियों पर विद्यापति की परम्परा से जयदेव के गीत गोविन्द का प्रभाव भी अवलोकनीय हैं।

सगुण भक्ति काव्य में प्रतिपादित वैष्णव धर्म, भक्ति और दर्शन पर भगवद्-गीता, विष्णु और भागवत पुराण, पांचरात्र संहिताएं, 'नारद-भक्ति सूत्र', शांडिल्य-भक्ति सूत्र; आलवार सन्तों, रामानुज, रामानन्द, वल्लभ, चैतन्य, निम्बार्क, विष्णु स्वामी तथा हितहरिवंश आदि आचार्यों के संस्कृत-ग्रंथों का पर्याप्त प्रभाव है। आस्तिक दर्शनों में सांख्य और योग का प्रभाव सूरदास आदि कवियों पर दर्शनीय है। अष्टछाप के सभी कवि वल्लभ के शुद्धाद्वैतवाद से प्रभावित हैं। सूरदास आदि पर वैष्णव तंत्रों का प्रभाव भी द्रष्टव्य है। सूर तथा नन्ददास के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। कृष्ण-भक्ति साहित्य में नायिका-भेद का जो प्रपंच खड़ा हुआ, उसके लिए रूपगोस्वामी की 'उज्ज्वलनीलमणि' बहुत कुछ उत्तरदायी है। चैतन्य सम्प्रदायानुयायी श्री रूपगोस्वामी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। उन्होंने "भक्तिरसामृत-सिंधु" में जहां भक्ति के दार्शनिक पक्ष का विवेचन किया है वहां "उज्ज्वलनीलमणि" में राधा कृष्णाश्रित शृंगार वर्णन को मधुर एवं उज्ज्वल नाम देकर उसे विहित ठहराया इसके अतिरिक्त उन्होंने राधा और कृष्ण के संदर्भ में अनेक प्रकार की नायिकाओं, गण-यूथिकाओं, नर्म सचिवों, विविध लीला बिहारों तथा अनेक-विधि नायकों का प्रतिपादन किया है इस ग्रंथ से कृष्ण-भक्त कवि को नैतिक अनुमति मिलना निश्चित है।

राम भक्ति काव्य—कृष्ण-भक्ति काव्य के भागवत पुराण के समान बाल्मीकि की 'रामायण' राम-भक्ति काव्य का उपजीव्य ग्रंथ है। इस शाखा के प्रतिनिधि कवि गोस्वामी तुलसीदास ने "नाना पुराण निगमागमसम्मतं यत्' कहकर संस्कृत-साहित्य के आकार के प्रति कृतज्ञता प्रगट की है। तुलसीदास पर संस्कृत-साहित्य के आकृति-मूलक और सिद्धान्तमूलक दोनों प्रभाव स्पष्ट हैं। उनके कथानकों के आधारभूत ग्रंथ

संस्कृत के काव्य हैं। तुलसी के 'रामचरितमानस' के आधार ग्रंथ बाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्म रामायण', 'प्रबोध-चन्द्रोदय', 'हनुमन्नाटक', 'भागवत' और 'प्रसन्नराघव' आदि काव्य हैं। मानस का विभाजन बाल्मीकि रामायण के समान सात कांडों में है। इसमें वर्षा और शरद् ऋतुओं का वर्णन भागवत की शैली पर किया गया है। मानस और भागवत के अनेक प्रसंगों में साम्य है। भागवत के परब्रह्म कृष्ण का नाम मानस के राम पर पर्याप्त प्रभाव है। वाल्मीकि रामायण में राम पुरुषोत्तम रूप में चित्रित हैं जबकि 'रामचरितमानस' के राम भागवत के कृष्ण के समान परमब्रह्म तथा अवतार ग्रहण करने वाले हैं। तुलसी के अन्य ग्रंथों का प्रेरणा-स्रोत भी संस्कृत साहित्य है। इनके पार्वती-मंगल की रचना कालिदास के 'कुमारसम्भव' के आधार पर हुई है। इस ग्रंथ के अनेक प्रसंगों पर 'शिव-पुराण' का प्रभाव भी स्पष्ट है। तुलसी में कहीं-कहीं पर तो इतना साम्य मिलता है कि भाषानुवाद का भान होने लगता है। तुलसीदास की प्रसिद्ध कृति 'विनय-पत्रिका' जगद्धर की 'स्तुति-कुसुमांजलि' से प्रेरित है। दोनों ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन इस तथ्य की पुष्टि करता है। तुलसीदास, रामानुज तथा रामानन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों से स्पष्टतः प्रभावित हैं। तुलसी योग के प्रभाव से भी मुक्त नहीं हैं। तुलसी के ग्रंथों पर संस्कृत के स्मृति ग्रंथों का भी प्रभाव पड़ा है। हिन्दी-साहित्य में तुलसी वर्णाश्रम धर्म के प्रबल पृष्ठपोषक हैं। भक्ति क्षेत्र में तुलसी नारद के भक्तिसूत्र, भागवत आदि ग्रंथों से प्रभावित हैं। उन्होंने अपने साहित्य में अनेक पौराणिक उपाख्यानों का भी उपयोग किया है। इन पर वैष्णवागमों का प्रभाव भी स्पष्ट है। तुलसी के समान केशवदास के साहित्य पर भी संस्कृत ग्रंथों की छाप अमिट है। केशव की 'रामचन्द्रिका' का आधारभूत ग्रंथ बाल्मीकि रामायण है। इनकी 'विज्ञानगीता' पर 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का प्रभाव है। तुलसी के मानस तथा केशव की चन्द्रिका पर बाण की 'कादम्बरी' का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। केशव के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों पर संस्कृत के अलंकार-सम्प्रदाय के ग्रंथों का प्रभाव पड़ा है। केशव पर पुराणों तथा स्मृति-ग्रंथों का प्रभाव भी देखा जा सकता है। हिन्दी के भक्ति काल में प्रणीत काव्यशास्त्रीय ग्रंथों पर संस्कृत के प्रभाव की चर्चा करते हुए डॉ० सरनामसिंह लिखते हैं—"हमारे हिन्दी कवियों में से काव्यशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले कृपाराम, नन्ददास, बलभद्र, रहीम और केशवदास हैं। कृपाराम कृत 'हिततरंगिणी' रहीमकृत 'बरवैनायिकाभेद' और नन्ददास कृत 'रस-मंजरी' की रचना भानुदत्तकृत 'रस-मंजरी' के अनुकरण पर हुई है। हिन्दी के लेखकों ने कहीं-कहीं इच्छानुसार किंचित् परिवर्तन भी कर दिया है। केशव की रसिकप्रिया पर 'दशरूपक', 'साहित्यदर्पण' और 'रसमंजरी' का प्रभाव है। कहीं-कहीं पर केशव ने मौलिकता का प्रमाण दिया है। 'अलंकार शेखर', 'काव्य-कल्पलतावृत्ति', 'काव्यादर्श', 'काव्यप्रकाश' और के 'साहित्यदर्पण' ने केशवकृत 'कविप्रिया' को प्रभावित किया है। केशव और बलभद्र नखशिख वर्णन परम्परागत प्रतीत होते हैं। सम्भव है अंशतः इन पर 'काव्य-कल्पलतावृत्ति' का प्रभाव पड़ा हो।

तुलसी के समय में और विशेषतः उसके बाद राम-भक्ति साहित्य में मधुर तथा रसिक उपासना की जो प्रबल धारा बही उसका पुष्ट आधार संस्कृत के राम-भक्ति साहित्य में पहले से विद्यमान था। यही कारण है कि हिन्दी के राम-भक्त कवि ने उन ग्रंथों से नैतिक साहस प्राप्त करके तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम को सखियों के साथ सरयूतट बिहारी रसिया राम बना डाला।

संस्कृत में धार्मिक, शृंगारिक, शिक्षा तथा नीतिमूलक स्फुट काव्यों का प्रणयन हुआ है। संस्कृत के इन सभी प्रकार के ग्रंथों का भक्तिकालीन कवियों पर थोड़ा बहुत प्रभाव अवश्य पड़ा है। संस्कृत के नीति-सम्बन्धी ग्रंथों का रहीम पर सर्वाधिक प्रभाव है। तुलसी और केशवदास पर भी नीति-ग्रंथों का प्रभाव देखा जा सकता है।

हिन्दी-साहित्य का रीतिकाल—संस्कृत-साहित्य के प्रभाव की जो बात हम हिन्दी के भक्ति-साहित्य के विषय में कह आये हैं वह रीति-साहित्य पर भी पूरी लागू होती है। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य पर प्राकृत और अपभ्रंशों का सीधा प्रभाव नहीं है। प्रत्यक्ष प्रभाव तो उस पर संस्कृत-साहित्य की ह्रासोन्मुख परवर्ती परम्परा का पड़ा। कुछ विद्वानों ने रीतिकालीन शृंगार पर फारसी आदि विदेशी प्रभाव की चर्चा की है किन्तु उन विद्वानों से हमारा विनम्र निवेदन है कि इस प्रकार का कोई अन्तिम निर्णय देने से पूर्व संस्कृत-साहित्य की शृंगार-परम्परा और विशेषतः उसकी परवर्ती धारा का अवलोकन कर लें। रीतिकाल में चित्रित शृंगार कालिदास, अमरुक, हाल, गोवर्धन, भर्तृहरि तथा जयदेव आदि की परम्परा में आता है, फारसी आदि विदेशी परम्परा के अन्तर्गत नहीं।

रीतिकालीन साहित्य में भक्तिकाल के साहित्य की पवित्र वृत्ति के स्थान पर घोर शृंगारिकता आ गई है। रीतिग्रंथों का प्रणयन उस समय के साहित्यकार के लिए एक फैशन-सा हो गया है। रीतिकालीन कविता पर अलंकरण एवं प्रदर्शन की प्रवृत्तियों की गहरी छाप है। रीतिकाल का प्रायः प्रत्येक कवि आचार्य बनने के लोभ का संवरण नहीं कर सका। इस काल के रीतिसिद्ध कवियों पर तो संस्कृत के काव्यशास्त्र का प्रभाव साक्षात् रूप में पड़ा ही है, रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवि भी परोक्ष रूप में उक्त प्रभाव से अछूते नहीं हैं। रीतिकाल के हिन्दी के आचार्य—कवियों ने संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का प्रायः अनुवाद मात्र प्रस्तुत किया है जिसमें कहीं-कहीं पर कुछ भ्रांतियाँ भी हैं। संस्कृत में रस, अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, रीति तथा औचित्य आदि अनेक काव्य सम्प्रदाय प्रचलित थे। रीतिकालीन आचार्य—कवियों ने अलंकार, रस तथा ध्वनि सम्प्रदाय से सम्बद्ध संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का अपने लक्षण-ग्रंथों में उपयोग किया है, हालांकि इनके लक्षण-ग्रंथों में काव्यशास्त्र के गम्भीर विवेचन का प्रायः अभाव है। आचार्य शुक्ल के शब्द इस सम्बन्ध में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—"इन रीतिग्रंथों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था न कि काव्यों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृंगार रस) और अलंकारों के

बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण ग्रंथों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।" नायिका-भेद-विस्तार में तो इन कवियों ने कमाल ही कर दिया है :

आचार्य कवि केशवदास पर अलंकारवादी भामह, उद्भट और दण्डी आदि का अत्यन्त प्रभाव है। चिन्तामणि पर काव्यप्रकाशकार मम्मट का स्पष्ट प्रभाव है। महाराजा जसवन्तसिंह ने अपने "भाषा भूषण" की रचना जयदेव के 'चन्द्रालोक' के आधार पर की है और पद्माकर का 'पद्माभरण' भी इसी शैली पर लिखा हुआ है। इस काल के नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रंथ भानुदत्त की 'रसमंजरी', विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' और 'दशरूपक' आदि ग्रंथों से प्रभावित हैं। इसी प्रकार इस काल में रचित अन्य लक्षण ग्रंथों का मूल स्रोत संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथ ही हैं। इस काल में रचित छन्द ग्रंथों में भी संस्कृत के पिंगलशास्त्र का अनुसरण किया गया है।

इस काल के शृंगारी काव्य पर संस्कृत के शृंगारपरक मुक्तक काव्यों का प्रभाव भी कम नहीं पड़ा है। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों—बिहारी, देव, मतिराम, भूषण, पद्माकर आदि पर उक्त प्रभाव सहज में देखा जा सकता है। बिहारी के प्रसिद्धतम दोहे "नहिं पराग नहिं मधुर मधु" पर कदाचित् "पिव मधुप ! बकुलकलिका दूरे" का प्रभाव स्पष्ट है। इनके "मैं मिस हैं सोयौ समुझि" पर शून्य वासगृहं विलोक्य" का प्रभाव देखा जा सकता है। बिहारी पर संस्कृत के प्रभाव की चर्चा पं० पद्मसिंह शर्मा ने तुलनात्मक ढंग से की है। संस्कृत के शृंगारपरक स्फुट काव्यों—'शृंगारतिलक', 'शृंगारशतक', 'अमरुकशतक', 'गीतगोविन्द', और 'पंचाशिका', 'ऋतुशृंगार' और 'आर्यासप्तशती' आदि का इस काल के शृंगार-काव्य पर निश्चित प्रभाव पड़ा है। संस्कृत के धार्मिक, शिक्षा और नीतिमूलक मुक्तक काव्यों तथा स्तोत्र ग्रंथों का प्रभाव भी इस काल के साहित्य पर स्पष्ट है।

संस्कृत-काव्यों की रूढ़ियों तथा कवि समयों की अवतारणा हिन्दी के रीति-साहित्य में ज्यों-की-त्यों देखी जा सकती है। नायिका के अंगों के उपमान भी प्रायः वही मिलते हैं जो संस्कृत साहित्य में। हाँ, इस दिशा में इस काल के कवियों ने कुछ नवीन उद्भावनायें भी की हैं।

इस काल के शृंगारी काव्य तथा काव्यशास्त्रीय ग्रंथों पर संस्कृत के काम-शास्त्रीय ग्रंथों और विशेषतः वात्स्यायन के 'कामसूत्र' तथा परवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का गहरा प्रभाव पड़ा है। रीतिकाल के साहित्य में वर्णित विपरीत रति, अभिसार दूतीकर्म, परकीया-चित्रण, काम की दसों दशाओं आदि पर साक्षात् अथवा परम्परात्मक रूप से उक्त ग्रंथों का प्रभाव अवश्य पड़ा है। हिन्दी के कतिपय विद्वानों ने इस साहित्य में रचित विलासितापूर्ण वातावरण को मुसलमानों तथा मुगल दर-बार का प्रभाव बताया है। इस कथन में आंशिक सत्य अवश्य है, किन्तु इस सम्बन्ध में वात्स्यायन के 'कामसूत्र' आदि कामशास्त्रीय ग्रंथों का प्रभाव भी कुछ कम नहीं पड़ा

है। वात्स्यायन के कामसूत्र में नागरिक के ऐश्वयपूर्ण जीवन, नायिकाओं और दूतियों का वर्णन खूब हुआ है, सम्भव है कि रीतिकालीन कवि ने उसका उपयोग किया हो। अस्तु !

रीतिकालीन चित्रित प्रेम और उसमें निर्मित प्रेमकाव्यों पर संस्कृत-साहित्य के प्रभाव की स्पष्ट स्वीकृति कवि आलम के निम्नांकित शब्दों में अवलोकनीय है:—

"कछु अपनी कछु पर कृति जोरौं,
जथा सचित करि अक्षर जोरौं ॥
सकल सिंगार विरह की रीति,
माधो काम कन्दला प्रीति ॥
कथा संस्कृत सुनि कछू थोरी,
भाषा बांचि चौपाई जोरी ॥" आलम माधव-कामकंदला

× × ×

कहै कन्दला सुनौ सहेली, मोहि सिखावहु प्रेम पहेली।
अवलौं मुग्धाहती अलबेली सिखावहु रस की रीति सहेली ॥
काम कला हमही कहो, सब विधि अर्थ बखानि।
और सिखावहु मोहि कछु पूछहु गुव जन मानि ॥

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल— हिन्दी-साहित्य का आधुनिक काल भाषा भाव तथा शैली आदि की दृष्टि से नवीन दृष्टिगोचर होता है। आज गद्य एवं पद्य दोनों में खड़ी बोली का साम्राज्य है। इस काल में गद्य की नाना विधाओं का प्रचलन हुआ है। विज्ञान तथा पाश्चात्य प्रभाव के परिणामस्वरूप इसमें अभिनव शैलियों का भी प्रचलन हुआ है, किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी यह काल संस्कृत के प्रभाव से अछूता नहीं रहा है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य की महान् विभूतियों— भारतेन्दु, प्रसाद, पन्त, गुप्त, निराला तथा महादेवी आदि पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में देखा जा सकता है।

आधुनिक काल के नाटक-साहित्य पर संस्कृत के नाटक साहित्य की गहरी छाप है। हिन्दी-साहित्य में व्यवस्थित रूपों में नाटकों का उदय भाकतेन्दु-काल में हुआ। उस समय के नाटकों पर संस्कृत के उक्त साहित्य का काफ़ी प्रभाव पड़ा है। भारतेन्दु-कालीन नाटकों में संस्कृत के मंगलाचरण, नान्दी-पाठ तथा भरत-वाक्य आदि की शैली का उपयोग किया गया है। इस काल में संस्कृत-नाटकों का अनुवाद भी हुआ। भारतेन्दु का 'सत्यहरिश्चंद्र' क्षेमेन्द्र के संस्कृत नाटक 'चंडकौशिक' के आधार पर लिखा गया है। इनका 'मुद्राराक्षस' एक अनूदित नाटक है। संस्कृत के नाटकों की प्रमुख विशेषताएँ सुखान्तता, आदर्शवादिता तथा काव्यमयता आदि हैं। इनमें नैतिकता की प्रधानता के साथ असत्य पर सत्य की विजय दिखाई जाती है। भारतेन्दु युग के सभी नाटकों में ये प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं। यद्यपि हिन्दी के आज के नाटक-साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव है और वह धीरे-धीरे संस्कृत नाट्य साहित्य से दूर

हटता जा रहा है, फिर भी परोक्ष रूप से संस्कृत-नाटकों का प्रभाव अब भी विद्यमान है। 'प्रसाद' के नाटकों पर संस्कृत तथा पाश्चात्य दोनों नाटकों का प्रभाव है। इनके नाटकों में भारत की संस्कृति के उच्चतम स्वरूप के साथ सर्वत्र सत्य की असत्य पर विजय दिखाई गई है। इनके नाटकों में संस्कृत नाटकों का कवितामय भव्य वातावरण है। दुःखान्त नाटक हिन्दी में अब भी कम ही लिखे जाते हैं जिससे स्पष्ट है कि हिन्दी नाटकों पर संस्कृत नाटकों का आन्तरिक प्रभाव अब भी बना हुआ है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी के सतत प्रयत्नों से साहित्य-क्षेत्र में खड़ी बोली की प्रतिष्ठा हुई और साथ-साथ कविवर्ग संस्कृत के वर्णवृत्तों की ओर आकर्षित हुआ। 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' में संस्कृत के वर्णवृत्तों का सफल प्रयोग हुआ है। उनकी पदावली भी संस्कृतमयी हो गई है, कहीं-कहीं तो 'की' और 'थी' के अतिरिक्त कुछ भी हिन्दी का नहीं। उदाहरणार्थ—"रूपोद्यान-प्रफुल्लप्राय-कलिका, राकेन्दुबिम्बा-नना।" 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' और महादेवी की भाषा पर संस्कृत का काफी प्रभाव है। प्रायः छायावादी सभी कवियों ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। की राष्ट्रभाषा हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली की समस्या संस्कृत की सहायता के बिना हल नहीं हो सकती है। मैथिलीशरण गुप्त पर संस्कृत के वैष्णव-साहित्य का प्रचुर प्रभाव है। इनकी भाषा और विषय वस्तु दोनों संस्कृत से अत्यन्त प्रभावित हैं।

आधुनिक रहस्यवाद पर उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट है। यद्यपि आधुनिक रहस्यवाद से मिलती जुलती हुई कोई वस्तु संस्कृत में उपलब्ध नहीं होती, किन्तु आधुनिक रहस्यवाद में अभिव्यक्त दार्शनिकता का सम्बन्ध सीधा संस्कृत से है। 'प्रसाद' की 'कामायनी' के नियतिवाद समरसता व आनन्दवाद पर शैवागमों तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन की स्पष्ट छाप है। महादेवी की "बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ" तथा निराला की "तुम तुंग हिमाचल शृंग, मैं चंचल-गति सुरसरिता।" आदि पंक्तियों में प्रतिपादित आत्मा और परमात्मा का अभेदत्व उपनिषदों से प्रभावित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव, भाषा, शैली और छंद आदि सभी दृष्टियों से हिन्दी-साहित्य संस्कृत-साहित्य का आभारी है। संस्कृत साहित्य का प्रभाव विश्व-साहित्य पर पड़ा है और भारतीय साहित्य विशेषतः हिन्दी-साहित्य तो इसकी छत्र-छाया में पला और बढ़ा है ही। वस्तुतः यह हिन्दी-साहित्य का एक सौभाग्य है कि इसे संस्कृत जैसा अत्यन्त समृद्ध साहित्य रिक्थ के रूप में प्राप्त हुआ और यह उसके लिए गौरव का विषय है। हिन्दी-साहित्य के सम्यक् अवबोध के लिए संस्कृत-साहित्य का ज्ञान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

परिशिष्ट (ग)

हिन्दी साहित्य पर इस्लाम, फारसी एवं उर्दू का प्रभाव

हिन्दी-साहित्य पर फारसी एवं उर्दू के प्रभाव का प्रश्न भारत में इस्लाम के आगमन तथा हिन्दू-मुस्लिम दोनों जातियों के पारस्परिक सम्पर्क के साथ संपृक्त है। हिन्दी की जननी संस्कृत भाषा तथा फारसी की जननी अवेस्ता भाषा का परस्पर का घनिष्ठ सम्बन्ध एक इतिहाससिद्ध तथ्य है। निःसंदेह आक्रांता मुस्लिम जाति की स्थिति भारत पर अन्य आक्रमण करने वाली शक, हूण आदि जातियों से भिन्न और विचित्र रही है। शक और हूण अंततोगत्वा भारतीय संस्कृति में विलीन हो गये तथा इसका एक अभिन्न अंग बन गये, किन्तु मुस्लिम जाति अपनी कट्टरता के कारण अलग-थलग बनी रही। इस पृथकता के कारण हैं—दोनों संस्कृतियों के उद्देश्यों की भिन्नता, हिन्दू संस्कृति में पाचन शक्ति का ह्रास, मुस्लिमों का शासक होना तथा उनमें धर्म-प्रचार की प्रमुखता होना आदि, अस्तु। दोनों जातियां चिरकाल तक परस्पर एकत्र रहने से एक-दूसरे के सांस्कृतिक प्रभावों से अछूती नहीं रहीं। हिन्दू धर्म, दर्शन, कला- साहित्य तथा संस्कृति की छाप मुस्लिम जाति तथा उसके साहित्य आदि पर पड़ी और मुसलमानों की तत्तद्वस्तुओं का प्रभाव भारतीय हिन्दू जीवन तथा उसके साहित्य आदि क्षेत्रों में निश्चित रूप से पड़ा है। यहाँ हम हिन्दी-साहित्य पर फारसी तथा उर्दू-साहित्य के प्रभाव की चर्चा करेंगे। यह प्रभाव विचारधारा, शब्दावली तथा काव्यरूप आदि अनेक दृष्टियों से पड़ा है।

विचारधारा—हिन्दू संस्कृति में भावुकता की अपेक्षा अनुभव और ज्ञान की प्रधानता है। उसमें निवृत्ति, वैराग्य और अहिंसा तथा परलोक चिन्ता की प्रमुखता है। हिन्दू संस्कृति मूलतः आध्यात्मपरायण है जबकि मुस्लिम संस्कृति भौतिकता-प्रधान एवं भावुकतासम्पन्न है। विद्वानों का विश्वास है कि समस्त भारतीय साहित्य में उपलब्ध भावुकता मुस्लिम सम्पर्क का परिणाम है। निःसन्देह आमीर लोगों का जीवन सम्बधी दृष्टिकोण ऐहिकतामय था और उसका प्रभाव भारतीय जीवन पर मुस्लिम आगमन से पूर्व पड़ चुका था जिसका परिणाम हाल की सतसई है और यह परम्परा परवर्ती साहित्यों में भी गतिशील रही, किन्तु इस दिशा में मुस्लिम संस्कृति के सम्पर्क के फलस्वरूप उसकी भावुकता का हिन्दी-साहित्य पर यत्किंचित् प्रभाव अवश्य पड़ा। भारतीय साहित्य में विशेषतःहिन्दी-साहित्य में शृंगार की अतिशयता के प्रमुख स्रोत भागवत पुराण, सिद्धों का वामाचार-तंत्रवाद तथा संस्कृत का अन्य शृंगारी साहित्य है, किन्तु इस दिशा में सूफियों के सिद्धान्तों का भी अभीष्ट प्रभाव पड़ा। साहित्य में अतिरंजनापूर्ण वर्णन की पद्धति यद्यपि बहुत ,प्राचीन है पर हिन्दी के सूफी कवियों तथा रीतिकाल में शृंगारिक चित्रणों में बीभत्स एवं जुगुप्सामय चित्रों का अंकन

फारसी-साहित्य का प्रभाव है। हमारे भारतीय साहित्य तथा धर्म-साधना में मृत्यु को त्याज्य एवं अकाम्य माना गया है, किन्तु कबीर के लिए वह मृत्यु परमकाम्य है— "जा मरने से जग डरे मरे मन आनंद।" रवीन्द्रनाथ ठाकुर में भी इस भाव से साम्य रखने वाले अनेक पद मिलते हैं छायावादी काव्य में भी मृत्यु को अभिलषणीय रूप में चित्रित किया है। विद्वानों का कहना है कि यह फारसी एवं सूफी-साहित्य का प्रभाव है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार फारसी काव्य की शृंगारिक प्रवृत्तियां निम्नांकित हैं—

(क) शृंगार का संहारक रूप में वर्णन, (ख) नायिका की कोमलता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन, (ग) विरह का ऊहात्मक वर्णन (घ) मद्यपान का वर्णन, (ङ) प्रेम के क्षेत्र में परलोक की उपेक्षा आदि।

मुस्लिम शासनकाल में फारसी को राज्याश्रय प्राप्त होने के कारण इसका प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर पड़ना अनिवार्य था और यह प्रभाव रीतिकाल के कवियों पर विशेष रूप से पड़ा। उनके मतानुसार हिन्दी-साहित्य में पाई जाने वाली उक्त प्रवृत्तियाँ सर्वथा अभारतीय नहीं हैं, क्योंकि संस्कृत के विशाल साहित्य में प्रवृत्तियाँ पहले से ही विकसिय हो चुकी थीं और संभव है कि ये प्रवृत्तियाँ परम्परात्मक रूप से रीतिकाल के साहित्य तक पहुँची हों, किन्तु इतना तो अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि मुगलशासन काल में फारसी की उक्त प्रवृत्तियों का प्रभाव थोड़ी बहुत मात्रा में पड़ा ही होगा चाहे वह अप्रत्यक्ष रूप में भी क्यों न आया हो। डॉ० विमलकुमार जैन का तो यहाँ तक कहना है कि छायावाद के रुदनवाद के पीछे सूफी कवियों की पीड़ा काम कर रही है और कृष्ण-भक्त कवियों की रहस्यात्मकता पर सूफी प्रभाव है, किन्तु हमें ये दोनों अमान्य हैं। छायावादी वेदना की परीक्षा तत्कालीन साहित्यिक परिस्थितियों के आलोक में करनी समीचीन होगी और कृष्ण-भक्ति-साहित्य की आध्यात्मिकता की जाँच करते समय भागवतपुराण तथा आचार्यों के भक्ति सम्बन्धी विविध सिद्धान्तों का अवलोकन आवश्यक होगा। फारसी-साहित्य का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा है, किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि व्यर्थ में ही दूर की कौड़ी पकड़ने का विफल प्रयास किया जाये। नीचे हम उक्त प्रभाव की चर्चा संक्षेप में करेंगे।

आदिकाल—अबदुर्रहमान के अपभ्रंश में लिखित 'सन्देशरासक' काव्य की भावधारा पर इस्लाम या फारसी-साहित्य का कोई प्रभाव नहीं है। हिन्दी के आदि काल के साहित्य पर विचारात्मकता की दृष्टि से फारसी का प्रभाव न के बराबर है। हां, प्रस्तुत काल के वीर कवियों में फारसी के कतिपय शब्द अवश्य मिल जाते हैं जोकि दो जातियों के एकत्र रहने का परिणाम है, या यह भी सम्भव है कि इन ग्रंथों में बहुत देर तक चलने वाली परिवर्द्धन और परिवर्धन की प्रक्रिया में बाद में फारसी के शब्दों का समावेश कर लिया गया हो। सूफी कवि अमीर खुसरो हिन्दी में हमारे सामने एक मस्त शृंगारी एवं विनोदी कवि के रूप में आते हैं। उनका साहित्य, भाव और भाषा दोनों रूपों से फारसी का प्रभाव लिए हुए हैं। किम्वदन्ती

है कि खुसरो फारसी के एक महान् कवि थे और उन्होंने अपने फारसी-काव्य में सूफी मतवाद की गहना का कलात्मक चित्रण किया है। रामकुमार वर्मा इनके सम्बन्ध में लिखते हैं – "खुसरो ने हिन्दी-साहित्य का बड़ा उपकार किया। जहाँ इन्होंने फारसी में अनेक मसनवियाँ लिखीं, वहाँ हिन्दी को भी नहीं भुलाया। इन्होंने खड़ी-बोली हिन्दी में कविता कर मुसलमानी शासकों का ध्यान हिन्दी की ओर आकर्षित किया और 'खालिकबारी' की रचना कर हिन्दी, फारसी और अरबी को परस्पर समझने का मौका दिया। इसमें हिंन्दी, अरबी और फारसी के समानार्थवाची शब्दों का समूह है जिससे इन भाषाओं का ज्ञान सरल और मनोरंजक हो गया है। उदाहरणार्थ—

"जे हाल मिस्की मकुन तगाफुल दुराय नैना बनाय बतियां।
कि ताबे हिजराँ न दारम ए जाँ न लेहु काहे लगाय छतियाँ।"

भक्तिकाल—हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल में कबीर आदि सन्त कवियों पर भी फारसी साहित्य का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रभाव है। कबीर के रहस्यवाद की दाम्पत्य-भावना यद्यपि विशुद्ध भारतीय है पर उसमें चित्रित प्रेम की विह्वलता एवं भावुकता पर सूफियों की 'हाल दशा का प्रभाव अवश्य है। कबीर ने मृत्यु को त्याज्य न कहकर उसे काव्य कहा है जो कि स्पष्ट रूप से फारसी प्रभाव है। श्री राम धारी सिंह 'दिनकर' का इस सम्बन्ध में कहना है—"इस्लाम ने हिन्दुत्व को दार्शनिक उड़ान नहीं दी, नूतन भाव और नये विचार नहीं दिये, किन्तु मेरा ख्याल है कि भारतीय साहित्य के भावुकता वाले पक्ष पर इस्लाम का प्रभाव अवश्य पड़ा। कबीर और मीरा की बेचैनी, बोध और घनानन्द की विह्वलता एवं विद्यापति, चण्डीदास और सूरदास की भावाकुलता भारतीय परम्परा के लिए नवीन वस्तु थी। भावुकता के कुछ उदाहरण संस्कृत के अत्तन्त रससिद्ध कवियों में से ढूंढकर निकाले जा सकते हैं। किन्तु वे केवल तर्क के प्रमाण पर होंगे। भावुकता हमारे साहित्य का साधारण लक्षण नहीं था। कविता का लक्ष्य इस देश में किसी महान उद्देश्य की सेवा का रहा है। यहाँ के आचार्य उसे निरुद्देश्य आनन्द का साधन नहीं मानते थे।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"भारतीय भावुकता कबीर के हाथ में इस्लामी भावुकता से मिलकर एक नये रंग में खुल पड़ी जैसी झाँकी हमें मीरा, बोधा और घनानन्द से लेकर छायावादी कवियों (विशेषतः महादेवी) तक में मिलती है।' कबीर के अतिरिक्त दूलनदास पलटूदास आदि सन्त कवियों पर भी उक्त प्रभाव देखा जा सकता है। इस विचारगत प्रभाव के अतिरिक्त सन्त साहित्य में फारसी के शब्दों का फुटकर प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी के सूफी-काव्य का प्रेरणा-स्रोत ही फारसी साहित्य है। निःसन्देह भारतीय हिन्दी-सूफी-कवियों ने लैला-मजनूं की प्रेम कहानियों के स्थान पर हिन्दू राजकुमार तथा राजकुमारियों की प्रेम कहानियों को अपनाया है, परन्तु उनकी प्रेमन्वर्णन पद्धति फारसी की शृंगारिक प्रवृत्तियों से कहीं-कहीं प्रभावित है और उनकी अवधी भाषा में कहीं-ककहीं पर फारसी

के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। काव्यों के बीच-बीच में इस्लाम के मार्मिक सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन है। हमारे विचारानुसार हिन्दी में फारसी का जो प्रभाव पड़ा है वह बहुत कुछ सूफी कवियों के माध्यम से आया है।

कुछ विद्वानों ने हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों की रहस्यात्मकता पर सूफियों का प्रभाव सिद्ध करना चाहा है जो कि हमें सर्वथा अमान्य है। इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं डॉ० विमलकुमार जैन ने तुलसी को जायसी की शैली से अनुगृहीत सिद्ध करते हुए लिखा है—"प्रेम काव्यों की तो इस शैली में एक अविच्छिन्न धारा थी और तुलसीदास भक्तिकाल में ही जायसी के पश्चात् हुए थे। अतः यह शैली उन्होंने जायसी से अपनाई थी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।" इस सम्बन्ध में हमारा विचार है कि तुलसी को यह शैली भारतीय-साहित्य परम्परा से प्राप्त हुई थी। सिद्ध और वीरगाथाओं के कवि इस शैली का पहले ही अल्पांश में प्रयोग कर चुके थे। दूसरी बात यह है कि जायसी स्वयं 'ढोला मारू रा दूहा' तथा अपभ्रंश काव्यों से प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं।तुलसी का जायसी का समकालीन या कुछ पीछे होना इस बात का कोई ठोस प्रमाण नहीं कि उन्होंने जायसी की शैली का अनेकरण किया था एक बात और भी है कि तब तक जायसी का पद्मावत अरबी लिपि में निबद्ध था और उसका प्रचार कुछ मुस्लिम घरों तक ही सीमित था। अस्तु! कृष्ण और राम-भक्ति साहित्य में फारसी के शब्दों का प्रयोग सूर और तुलसी जैसी प्रतिनिधि कवियों ने निश्चित रूप से किया है। कृष्ण भक्तों में मीरा के पदों में सूफियों के प्रेम-वर्णन की पद्धति विशेष रूप से व्यंजित हुई हैं। मीरा की इन पंक्तियों में—

'कैसे जिऊँ री माई हरि बिन कैसे जिऊं री'

तथा

'कभी हमारी गली आव रे, जिया की तपन बुझाव रे।

प्यारे मोहन प्यारे।"

पर सूफियों के प्रेम की स्पष्ट छाप है। हिन्दी साहित्य पर सूफी प्रभाव को लिखते हुए डॉ० विमलकुमार जैन के शब्द काफी महत्त्वपूर्ण हैं, यद्यपि हम उनसे सर्वांश रूप में सहमत नहीं हैं—"हिन्दी- साहित्य में पूर्वमध्यकाल में सूफियों का व्यापक प्रभाव था जिसने साधना और व्यवहार दोनों हो पक्षों में प्रेम की मधुर धारा प्रवाहित की थी तथा प्रेम की रहस्यात्मक उपासना द्वारा ज्ञान मार्गी सन्तों के अतिक्ति अनेक भागवतों को प्रभावित किया था।" रसखान तथा रहीम के प्रेम-वर्णन पर सूफियों तथा फारसी की प्रेम पद्धति का पर्याप्त प्रभाव है। रहीम का नायिकाभेद ग्रंथ 'बरवै नायिका' इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है। 'दिनकर जी के शब्दों में 'रहीम ने बरवै नायिका में नायिकाभेद का जो क्रम रखा, अधिकांश आचार्यों ने भी उसी क्रम को माना है। इससे भी बड़ी बात यह है कि हिन्दी में नायक नायिकाओं की सृष्टि भी एक मुसलमान कवि ने की हैं। केशव ने नायिकाओं के ६६० भेद किये थे, देव ने ३८४, किन्तु सय्यद गुलाम नबी 'रसलीन' ने उन्हें १३५२ तक पहुंचा दिया।" निःसन्देह हिन्दी नायिका-भेद भागवत की गोपीलीला से प्रभावित

है, किन्तु उसके भेदों की संख्या विस्तार कार्य में सूफियों के इश्क-मजाजी और इश्क हकीकी ने भी निश्चित सहयोग दिया है। कुछ विद्वानों ने हिन्दी-साहित्य के भक्ति आन्दोलन तथा शंकराचार्य, रामानुज, रामानन्द आदि आचार्यों की दार्शनिक विचार धारा को इस्लाम से प्रभावित स्वीकार किया है, जो कि नितान्त भ्रामक है। लगता है कि इन विद्वानों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता प्रदर्शन के अतिरेक में ऐसा किया है, किन्तु दो जातियों से एकता स्थापना के लिए सत्य का अपलाप करना सर्वथा निन्दनीय है। हम इस विषय की चर्चा पहले भी कर चुके हैं।

रीतिकाल—हिन्दी के रीतिकाल पर फारसी-साहित्य का प्रभाव पड़ना नैसर्गिक था। एक तो मुस्लिम शासकों की सरकारी भाषा फारसी थी दूसरा इस समय तक पहुंचते-पहुंचते हिन्दी कविता एक नवीन परिधान धारण कर चुकी थी। अब उसमें आध्यात्म के स्थान पर भौतिकता का अतिरेक हो गया और साथ-साथ हिन्दी कवि भी राजदरबारी कवि दंगलों में बाजी मारने की होड़ में उर्दू और फारसी के कवियों के ढर्रे पर चलने लगा। फलतः हिन्दी रीति-काव्य में शृंगार-वर्णन में फारसी काव्य की अनेक प्रवृत्तियों का साम्य दृष्टिगोचर होने लगा, हालांकि वे प्रवृत्तियाँ सर्वथा अभारतीय नहीं कही जा सकती हैं। किन्तु इतना तो निःसन्दिग्ध है कि रीतिकवि पर फारसी और उर्दू का प्रभाव निश्चित रूप में पड़ा। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने प्रेम के अतिरेक को विदेशियों की धार्मिक प्रवृत्ति का प्रभाव माना है। उनकी धारणानुसार हिन्दी में प्रेम का जुगुप्सामय वर्णन फारसी के प्रभाव से हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त इस काल में भावुकता की जो बाढ़ आई वह भी फारसी साहित्य तथा सूफियों की विरहानुभूति से प्रभावित है। रीतिकाल के मुबारक, आलम और शेख, बोधा घनानन्द, नागरीदास, श्रीधर, रसनिधि, बिहारी, भूषण तथा पद्माकर आदि पर उक्त प्रभाव स्पष्ट है। आलम के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का कहना है कि वे रीतिबद्ध कवि न होकर प्रेम की पीर वा इश्क के दर्द के कवि हैं। आलम और उनकी पत्नी शेख की शृंगार रस की उन्मतकारिणी उक्तियाँ बरबस पाठक को अपनी ओर खींच लेती है। प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से इनकी गणना रसखान और घनानन्द की कोटि में होनि चाहिए। इन्होंने उर्दू या रेखता भाषा में भी कवित्त लिखे हैं। जहाँ इनकी भाषा में अवधी और पूर्वी हिन्दी का पुट है वहाँ फारसी भाषा के शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग है। फारसी शैली के कारण कहीं-कहीं इनमें रसचर्वणा में व्याघात भी उपस्थित हो गया है। मुबारक संस्कृत, फारसी, अरबी के अच्छे पंडित तथा हिन्दी के एक भावुक कवि थे। इनके 'अलक-शतक' और 'तिलक शतक' में वर्णित शृंगाररस पर फारसी का काफी प्रभाव है। बोधा की कविता में इश्क-मजाजी का रंग खूब गहरा है। उर्दू की गजलों की तड़प इनकी कविताओं में सहज रूप में देखी जा सकती है।' दिनकर के शब्दों में "बोध में इस्लाम की भावुकता का तेज है और यही तेज उनकी कविताओं का मुख्य आकर्षण भी है।' घनानन्द प्रेम-पीड़ा के उन्मुक्त गायन हैं। इनकी कविता में उर्दू—साहित्य की

भावुकता और जबांदानी अपनी पराकाष्ठा पर पहुंची हुई है। संयोग की बात यह है कि इनके समकालीन उर्दू कवि मीर और इनके भावों में गहरा साम्य आ गया है। उदाहरणार्थ देखिये--

'वसीयत मीर ने मुझको यही की,
कि सब कुछ होना तो आशिक न होना।''—मीर
देह दहै न रहे सुधि गेह की,
भूलिहू नेह का नांव न लीजै।''
—घनानन्द

विरह वर्णन में इन्होंने हृदय की अन्तर्वृत्तियों का मार्मिक चित्रण किया है। मीरा ने प्रेम को शूली कहा जबकि घनानन्द ने उसे फाँसी की उपमा दी। बिहारी ने अपने दोहों की रचना हाल और गोवर्द्धन की सप्तशतियों के आधार पर की है, किन्तु उनमें फारसी का प्रभाव भी यत्किंचित् मात्रा में अवश्य है। आचार्य विश्वनाथ मिश्र ने बिहारी के अनेक दोहों पर फारसी का प्रभाव दिखाया है। अस्तु ! इस संबंध में यह याद रखना होगा कि बिहारी की प्रेमवर्णन शैली फारसी की प्रेमपद्धति से साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक रखती है। बिहारी पर विदेशी प्रभाव दिखाते हुए संस्कृत साहित्य को ध्यान में रखना आवश्यक होगा। इन पर विदेशी प्रभाव की अपेक्षा संस्कृत-साहित्य की शृंगार परिपाटी का प्रभाव अधिक है। हाँ, इतना अवश्य है कि इन पर फारसी का प्रभाव पड़ा अवश्य है। कहीं-कहीं पर तो इन्होंने फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। श्री 'दिनकर' ने रीति कवियों पर फारसी प्रभाव दिखाते हुए लिखा है—"रसनिधि ने अपने दोहों में फारसी कविता के भाव भरने और चतुराई दिखाने का बहुत प्रयत्न किया है।······फारसी काव्य का आशिकी और सूफियाना रंग-ढंग कहीं-कहीं नागरीदास ने भी दिखाया है। रीति काल के कई अन्य कवियों ने अपनी पुस्तकों के नाम फारसी या उर्दू में रखे हैं। प्रयाग के श्रीधर या मुरलीधर ने फर्रुखसियर और जहाँदारशाह के युद्ध का वर्णन करने के लिये जो पुस्तक 'लिखी उसका नाम 'जंगनामा' है। नागरीदास की एक पुस्तक का नाम 'इश्क-चमन' और दूसरी पुस्तक का नाम 'इश्कनामा' है।" इतना होने पर भी यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि फारसी का जो थोड़ा बहुत प्रभाव रीतिकालीन साहित्य पर पड़ा, उससे उसकी मूल आत्मा में कोई विशेष अन्तर नहीं आने पाया। उसमें उर्दू—फारसी की हुस्नपरस्ती और बाजारूपन न होकर प्राचीन भारतीय परम्परा की नागरिकता की भावना अक्षुण्ण रही।

आधुनिक काल हिन्दी के बहुत से विद्वानों की यह धारणा है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य की कविता की प्रमुखतम धारा छायावाद के रुदन पर जहाँ अंग्रेजी के रोमाँटिक साहित्य का प्रभाव है, वहाँ सूफियों की वेदनाप्रियता ने भी इसे कम प्रभावित नहीं किया है। यह प्रभाव छायावादी कवियों—द्विज, 'प्रसाद', 'पंत', निराला महादेवी सब में खोजा जा सकता है। छायावादी कवियों का विरह एक विलक्षण विरह है। 'दिनकर' के शब्दों में—'यह विरह कभी तो ब्रह्म से अनुभूत होने वाला काल्पनिक विरह था और कभी इश्क मजाजी में अनुभूत होने वाला सामान्य विरह, जिस पर कवि आलौकिक विरह का पर्दा डाल देते थे।" 'प्रसाद के' 'प्रेमपथिक' और

पंत की 'ग्रंथि' का प्रेम इश्क-मजाजी के अनुरूप है। छायावादी काव्य में भावुकता का अतिरेक भी फारसी का प्रभाव है जो कि कबीर, मीरा और घनानंद आदि के माध्यम से परिमार्जित और सुव्यवस्थित रूप में आया। उस काल में रुदनवा का स्वर हिन्दी-कविता और उर्दू-कविता में समान रूप से आलापा गया। उदाहरणार्थ देखिये—

'वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान।
उमड़ कर आंखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।।" (पंत)
'मुश्किल रोते ही रहिये तो बुझे आतिशे दिल।
एक दो आंसू तो और आग लगा देते हैं।।" (मीर)

हिन्दी-उर्दू संघर्ष काल में राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी में उर्दू और फारसी के शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया जिसकी प्रतिक्रिया राजा लक्ष्मणसिंह में दृष्टिगोचर हुई। अंग्रेजों द्वारा उर्दू को स्कूलों में अनिवार्य स्थान मिलने पर हिन्दी पढ़ने वालों पर भी इनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। मुंशी प्रेमचन्द और सुदर्शन आदि पहले उर्दू में लिखा करते थे। इनके हिन्दी क्षेत्र में प्रवेश करने के अनन्तर हिन्दी में उर्दू का चुलबुलापन, मुहावरादानी तथा अनेक शब्दों का प्रयोग होने लगा। महात्मा गाँधी जैसे प्रमुख कांग्रेसी नेताओं की हिन्दुस्तानी भाषा की नीति के परिणामस्वरूप हिन्दी में उर्दू के अनेक शब्दों का प्रचलन हुआ। मैथिलीशरण गुप्त ने उर्दू के कवि हाली की पुस्तक 'मुसद्दस हाली' ढंग पर 'भारत भारती' का निर्माण किया। गुप्त ने उमरखैयाम की रुबाइयों का भी हिन्दी अनुवाद किया किंतु इस दिशा में कवि बच्चन को विशेष लोकप्रियता मिली हैं। भारतेन्दु काल से पूर्व लिखी गई कहानियों में फारसी ढंग की लैला-मजनूं आदि कहानियों के प्रेम छाप की देखी जा सकती है। आधुनिक हिन्दी-कविता में उर्दू ढंग की अनेक गजलों और रुबाइयाँ लिखने की प्रवृत्ति भी देखी जा सकती है। हिन्दी भाषा में उर्दू के कई शब्द तो इतने प्रचलित हो चुके हैं कि वे हिन्दी के अपने शब्द ही बन गये हैं। वस्तुतः यह हिन्दी की अपूर्व पाचन-क्षमता है।

शब्दावली—हिन्दी साहित्य में प्रयुक्त फारसी-उर्दू शब्दावली की विवेचना करते हुए श्री रामधारीसिंह दिनकर लिखते हैं—"हिन्दी कवियों ने फारसी और अरबी शब्दों का अधिकतर प्रयोग नहीं किया। हाँ, जो फारसी-अरबी शब्द प्रचलित हो गये थे उनमें दो-चार शब्द हिन्दी वाले भी ले लेते थे।......यही कारण है कि हिन्दी के निर्गुण पंथी कवियों में हम अरबी और फारसी के शब्द, बहुत अधिक तो नहीं फिर भी काफी देखते हैं। ये कवि सूफियों से प्रभावित थे और सूफी भावधारा में अरबी और फारसी शब्द लिपटे हुए थे। किंतु निर्गुण पंथियों को छोड़कर अन्य कवियों में (यानी सूर, तुलसी, केशव, मतिराम, देव आदि में) हम फारसी और अरबी शब्दों की अधिकता नहीं देखते।......बाद के कवियों में भूषण, पद्माकर कुलपति मिश्र, नागरीदास ग्वाल, सीतल आदि ने फारसी और अरबी शब्द लिये

हैं किंतु खुलकर नहीं। कुलपति, पद्माकर और ग्वाल ने तो मानों मौज में आकर कुछ खास छन्द ही इसलिए लिखे कि उनमें फारसी और अरबी के शब्दों का प्रयोग कर सकें।" भूषण ने अरबी-फारसी के शब्दों का आवश्यकतानुसार अधिक प्रयोग किया है। हिन्दी में प्रयुक्त विदेशी भाषाओं के शब्दों को हिन्दी भाषा ने आत्मसात् करके अपने आपको जीवन्त भाषा सिद्ध किया।

उर्दू : हिन्दी की एक शैली मात्र—उर्दू के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० रामबाबू सक्सेना ने लिखा है—"Modern High Hindi wrs developed from Urdu by the ejeetion of Persian words and substitution of those of Sanskrit origin" (A History of Urdu literature)। डॉ० साहब के कहने का अभिप्राय यह है कि 'भारत देश की सदा से अरबी-फारसी भाषा थी किन्तु हिन्दी वालों ने उसमें अरबी-फारसी के शब्दों के स्थान पर संस्कृत के शब्दों को भरकर एक कृत्रिम भाषा हिन्दी को खड़ा कर लिया।" ऐसा कहना भाषा विज्ञान के प्रति सरासर अपनी अनभिज्ञता दर्शाना है। इसके विपरीत सत्य यह है कि उर्दू, हिन्दी की एक शैली मात्र है। हिन्दी खड़ी बोली के आदि कवि अमीर-खुसरो ठहरते हैं। जिसकी परम्परा कबीर, नामदेव, दादू, दयाल आदि के माध्यम से आज तक अजस्रगति से बढ़ती आ रही है। हिन्दी गद्य के प्रांजल रूप की चर्चा करते हुए 'दिनकर' जी लिखते हैं—"आज हम जिस हिन्दी का व्यवहार करते हैं उसकी अविच्छिन्न धारा कोई ढाई सौ साल से बहती आ रही है। रामप्रसाद निरंजनी, दौलतराम, सदासुखलाल, सदलमिश्र, स्वामी दयानन्द और राजा लक्ष्मणसिंह इस धारा के मुख्य स्तम्भ हैं। उनमें से किसी के भी सामने उर्दू का प्रांजल गद्य मौजूद न था जिसमें से अरबी-फारसी के शब्दों को निकाल कर उन्हें नयी भाषा गढ़नी पड़ती।" उर्दू भाषा के अनेक नाम हैं—रेख्ता, हिन्दवी, दक्खिनी और हिन्दुस्तानी। रेख्ता का अर्थ है मिली-जुली भाषा, हिन्दवी का तात्पर्य है हिन्दी के रहने वालों की भाषा दक्षिण में उर्दू के जन्म होने के कारण इसका नाम दक्खिनी पड़ा। उर्दू का पहिला कवि वली है जिसकी भाषा में हिन्दी भाषा के शब्दों का बाहुल्य है। अली आदिलशाह और बुरहानुद्दीन जानिम की कविता की भी यही दशा है। इन लोगों ने फारसी के छन्दों का अवश्य प्रयोग किया है किंतु शब्दावली इनकी हिन्दी ही रही है। वली की कविता का एक नमूना देखिये :—

"बिरागी जो कहाते हैं, उसे घरबार करना क्या ?
हुई जोगिन जो कोई पी को, उसे संसार करना क्या ?"

कतिपय विद्वानों ने उत्तरी भारत के सूफी प्रेमाख्यानों पर फारसी प्रेम के प्रभाव की चर्चा की है, जो कि हमें सर्वथा अमान्य है। पहली बात तो यह है कि उक्त प्रभाव उत्तरी भारत के प्रेमाख्यानों की अपेक्षा दक्षिणी भारत के प्रेमाख्यानों पर अधिक पड़ा और वह भी परवर्ती काल में। दक्षिणी भारत में वल्ली से पूर्व के कवियों की भाषा में संस्कृत-शब्दों का बाहुल्य है, उनके द्वारा वर्णित प्रेम भारतीय शृंगार-परम्परा के अंतर्गत आता है। वजही के समय में दक्षिणी प्रेमाख्यानों पर फारसी प्रभाव की प्रक्रिया आरम्भ हो गई थी। आगे चलकर शासकों की कपट-नीति

के परिणामस्वरूप साम्प्रदायिकता की भावना ने जोर पकड़ा और फल यह निकला कि दक्खिनी हिन्दी के परवर्ती कवि की आँखें फारसी-साहित्य पर प्रेरणा के लिये टिक गई। उत्तरी भारत में भी प्रेमाख्यानों के परवर्ती लेखकों नूरमुहम्मद (बाद की रचनाओं) तथा जान कवि में फारसी प्रभाव उभरने लगा। उससे पूर्व साम्प्रदायिकता का विषैला विरबा पनपने नहीं पाया था। नूर मुहम्मद के समय में लिखी हुई 'तारीख गरीबी' में उक्त तथ्य का भली भाँति स्पष्टीकरण हो जाता है।

"हिन्दी पर ना ताना मारो सभी बतावें हिन्दी बानो।
यह जो है कुरान खुदा का हिन्दी करै बयान सदा का।
लोगों को जब खोल बतावै, हिन्दी में कहकर समझावै।
जिन लोगों में नबी जो आय, उनकी बोली सो बतवाय।।"

(तारीख गरीबी, ओरियंटल कालेज मैगजीन भाग १)

औरंगजेब के शासन काल में साम्प्रदायिकता और कट्टरता बढ़ने लगी और वह दक्षिण में पहुंची। हिन्दवी में कविता करने वाले कवि फारसी की ओर अधिक झुकने लगे। इससे हिन्दी के शब्दों के बहिष्कार की नीति को अपनाया गया और शनैः शनै यह प्रतिक्रिया उग्र रूप धारण करती गई। सर सैय्यद के प्रयत्नों और मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिकता ने मतरूकत की इस नीति को और भी भयंकर रूप पर पहुंचा दिया। परिणामस्वरूप अब उर्दू का कवि कह बैठा :—

गर हो कशिशे शाहे खुरासान तो सौदा।
सिजदा न करूँ हिन्द की नापाक जमीं पर।।

इस प्रकार उर्दू कवि की दृष्टि भारत की धरती से उठकर ईरान और फारसी की ओर अधिक जाने लगी और उसमें खुलकर अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग होने लगा। भले ही उर्दू में फारसी के शब्दों का बाहुल्य हो गया हो किन्तु फिर भी उसका वाक्य-विन्यास और व्याकरण हिन्दी जैसा है। फारसी के शब्दों के प्राचुर्य से उर्दू में ताजगी के स्थान पर कृत्रिमता आने लगी है। यह सौभाग्य की बात है कि आज उर्दू का कवि उसमें ताजगी लाने के लिए हिन्दी की धरती की ओर देखने को लालायित दीख पड़ रहा है :—

सोजें न जमील उर्दू का सिगार अब ईरानी तलमीहों से।
पहनेगी विदेशी गहने क्यों यह बेटी भारत माता की?

—अल्लामा जमील मजहरी

हिन्दी साहित्य पर संस्कृत और पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव जितने व्यापक रूप में पड़ा है, उतना इस्लाम और फारसी साहित्य का नहीं। इतने विशाल हिन्दी साहित्य की विषय-वस्तु पर फारसी का विचारगत प्रभाव नगण्य सा है। थोड़े से शब्दों, मुहावरों और काव्य-रूपों के सिवाय फारसी का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर नहीं पड़ा। सच तो यह है कि इस प्रभाव के बिना भी हिन्दी-काव्य का स्वरूप वही होता जो आज है। डॉ० हजारीप्रसाद के शब्दों में —"मैं जोर देकर कहता हूं, अगर **इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का स्वरूप** बारह आना वैसा ही होता **जैसा आज है।"**

———

परिशिष्ट (घ)

हिन्दी-साहित्य पर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव

हिन्दी- साहित्य पर संस्कृत-साहित्य के प्रभाव के अनन्तर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव अत्यन्त व्यापक रूप से पड़ा है। हिन्दी के आधुनिक काल पर तो विशेषतः अंग्रेजी साहित्य का सर्वांगीण प्रभाव पड़ा और वह भी थोड़ी सी अवधि में, जो कि वस्तुतः एक आश्चर्य का विषय है। अंग्रेजी साहित्य का यह प्रभाव हिन्दी साहित्य के वर्ण्यवस्तु, भाषा, शैली और काव्य-रूपों सभी उपादानों तथा सारी विधाओं पर देखा जा सकता है। उक्त प्रभाव हिन्दी-साहित्य में एक तो बंगला के माध्यम से आया और दूसरा प्रत्यक्ष रूप में।

भारत में अंग्रेजी शासन के लाभ और हानि दोनों हुए। एक ओर अंग्रेजी शासन के कारण आर्थिक और राजनीतिक शोषण का तिक्त फल भारत को चखना पड़ा, दूसरी ओर अंग्रेजी सम्पर्क के फलस्वरूप भारत के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक जीवन में एक नवीन चेतना और जागृति आई। पाश्चात्य सम्पर्क के परिणामस्वरूप भारत का जीवन और साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में एक नूतन और स्वस्थ दृष्टिकोण बना जो पुरातन साहित्य से सर्वथा भिन्न था। रीतिकाल का साहित्य राजदरबारी एवं सामन्ती वातावरण में प्रणीत होने के कारण जन-जीवन से एकदम दूर जा पड़ा था। रीतिकवि का जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण अतीव सीमित था। उसमें प्रदर्शन और घोर शृंगारिकता की प्रवृत्तियों के फलस्वरूप जीवन-स्पन्दन का प्रायः अभाव था। रीतिकवि रूढ़िगत काव्य-परम्पराओं, नियमबद्धता, नायक-नायिका-भेद और अलंकार छन्दों के बन्धनों के आवर्त में आकंठ निमग्न रहा, अतः उसके साहित्य में जीवन-चेतना के शाश्वत तत्त्व न आ सके। अंग्रेजी के सम्पर्क के कारण सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि रीतिकाव्य-कानन उजड़ गया और अब उसमें जनवादी स्वर की नवीन प्राणद कलिकाये प्रस्फुटित होने लगीं। अब साहित्य राजदरबार की संकीर्ण चहार दीवारी से निकलकर जन-जीवन के खुले प्रांगण में उसके रुदन और हास में शरीक होने लगा।

१९ वीं शती के आरम्भ में ही अँग्रेजी के प्रभाव और संस्कार की प्रक्रिया हिन्दी साहित्य में शुरू हो गई। फोर्ट विलियम कालेज में गिल क्राइस्ट की अध्यक्षता में सरकार द्वारा हिन्दुस्तानी की पाठ्य पुस्तकें तैयार करवाने की व्यवस्था की गई। यद्यपि क्राइस्ट की उर्दू फारसी के समर्थन की नीति से हिन्दी को अपेक्षित प्रोत्साहन नहीं मिला फिर भी उसकी गति रुकी नहीं। भारत में शिक्षा प्रचारार्थ खोले गए कालेजों में अंग्रेजी को प्राथमिकता देते हुए भी हिन्दी के अध्यापन की व्यवस्था की गई। हिन्दी के अनुशीलन में पाश्चात्य विद्वानों ने भी महत्त्वपूर्ण योग दिया। संस्कृत साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप उनका ध्यान भारतीय संस्कृति और भारतीय भाषाओं की ओर आकर्षित हुआ। संस्कृत-प्रेम के कारण उन्होंने हिन्दी का भी अध्ययन

किया और इस पर अनेक दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालकर भारतवासियों को हिन्दी-सेवा की प्रेरणा प्रदान की। इस दिशा में पिनकाट, ग्रियर्सन, हार्नली, ग्रिफिथ और थीबो आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ईसाई मिशनरियों के धर्म-प्रचार से हिन्दी के विकास में पर्याप्त सहयोग मिला। बाइबिल के अनुवाद के अतिरिक्त इन्होंने अनेक विषयों पर छोटी-छोटी पुस्तकें लिखीं। यद्यपि इनका प्रमुख उद्देश्य धर्म-प्रचार था और वे हिन्दी के किसी प्रांजल रूप की प्रतिष्ठा नहीं कर सके, इनके भाषा और शैली का साहित्यिक रचनाओं पर कोई प्रभाव भी नही पड़ा, इनकी भाषा शिथिल और अव्यवस्थित है। डॉ० लक्ष्मीसागर के शब्दों में "हिन्दी में ईसाई धर्म तथा अन्य ग्रंथों के बारे में यह ठीक ही कहा गया है कि वे पूर्व के भव्य वातावरण में लिखे जाने की अपेक्षा लन्दन के कोहरे या सेन्ट पीटर्सबर्ग के बर्फीले मैदान में लिखे गये मालूम होते हैं।" फिर भी इनकी प्रतिक्रिया में प्रतिष्ठित आर्यसमाज एवं ब्रह्मसमाज आदि के द्वारा हिन्दी-प्रचार-कार्य में प्रशंसनीय पग उठाये गये। इसके अतिरिक्त कम्पनी सरकार द्वारा स्थापित अनेक बुक सोसाइटीज से भी हिन्दी को आशाजनक प्रोत्साहन मिला। इसी समय मुद्रण-कला के प्रचार से हिन्दी में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ।

भारतेन्दु युग—अंग्रेजी संस्कृति और साहित्य के स्पर्श के परिणामस्वरूप भारतेन्दु-युग में हमारे सांस्कृतिक जीवन तथा साहित्य में नवीन अध्यायों का उद्घाटन हुआ। अब हिन्दी-साहित्य रीतिकालीन रूढ़िवादिता, नियमबद्धता और सामन्तवादिता के अशोभन बन्धनों को तोड़कर समाज के आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन की प्रत्येक गतिविधि में उन्मुक्त श्वास-प्रश्वास लेने लगा। अंग्रेजों के सम्पर्क के परिणामस्वरूप देश में स्थापित कांग्रेस, महासभा, ब्रह्म समाज, आर्यसमाज, थियोसाफी और रामकृष्ण-विवेकानन्द-मिशन द्वारा राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में नव चेतना का उदय हुआ, जिनका तत्कालीन साहित्य में कलात्मक चित्रण है। रीतिकाल में दरबारों में पोषित साहित्य अब अनेक प्रकार की साहित्य मंडलियों के रूप में प्राण-तत्त्वों को संचित करने लगा। पत्रकारिता ने जनता के जीवन के नवोन्येष कार्य में महत्त्वपूर्ण योग दिया। कविता में देशप्रेम राजभक्ति, समाज-सुधार आर्थिक शोषण की प्रतिक्रिया में स्वर बुलन्द हुआ। इस काल की कविता में जहाँ एक ओर कवि में राजभक्ति है, वहाँ उसमें उससे अधिक देशभक्ति भी है—

> अंग्रेज राज सुखसाज सबै अति भारी,
> पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।

एक तो ईसाई मिशनरियों के धर्म प्रचार की प्रतिक्रिया में समाज और धर्म-सुधार की तीव्रतर प्रक्रिया से देश में सांस्कृतिक अभ्युत्थान हुआ, दूसरे १८५७ में पुरातत्त्व विभाग और १८७४ में रायल एशियाटक सोसायटी की स्थापना द्वारा भारतीयों में निज अतीव गौरव और संस्कृति के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। आर्य-समाज की स्थापना द्वारा वैदिक धर्म के उद्घोष, सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों और कुरीतियों के विरोध से सांस्कृतिक जीवन में एक नई चेतना का विकास हुआ।

इस काल के अन्य भारतीय भाषाओं के समान हिन्दी में भी अंग्रेजी ग्रंथों

के अनुवाद का कार्य आरम्भ हुआ। अंग्रेजी साहित्य के पोप, गोल्डस्मिथ, कुपर, बायरन, स्काट, लौंगफैलो, वर्ड्सवर्थ और मैकाले आदि लेखकों की कृतियों का अनुवाद किया गया। भारतेन्दु और द्विवेदी-युग के सीमान्त पर स्थित श्रीधर पाठक ने गोल्ड स्मिथ की 'Deserted Viliage' का "ऊजड़ ग्राम", 'Traveller' का 'श्रान्त पथिक' और 'Hermit' का 'एकान्तवासी योगी' के रूप में सफल अनुवाद किया। पाठक से पूर्व श्री लक्ष्मीप्रसाद पांड़े 'Hermit' का अनुवाद 'योगी' नाम से कर चुके थे। इसके अतिरिक्त पाठक ने लौंगफेलो के 'एवेंजलीन' का अनुवाद भी किया। अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से भारतेन्दु-युग के कवियों को प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी एक नवीन दृष्टिकोण मिला और देश-प्रेम-सम्बन्धी कविता लिखने की प्रेरणा मिली। श्रीधर पाठक का प्रकृति-चित्रण गोल्डस्मिथ से बहुत कुछ प्रभावित है।

भारतेन्दुयुगीन काव्य वर्ण्य-विषय की दृष्टि से अंग्रेजी साहित्य से जितना प्रभावित हुआ उतना काव्य-रूपों की दृष्टि से नहीं। अंग्रेजी साहित्य के अनुकरण पर ओड, सानेट, शोक गीत, सम्बोधन-गीत, व्यंग्य-काव्य तथा आत्मचरितात्मक अनेक प्रकार की कविताओं की सृष्टि हुई। यह प्रभाव उस समय के सभी प्रमुख लेखकों— भारतेन्दु, पाठक, प्रेमघन, भट्ट और बालमुकुन्द गुप्त सभी पर पड़ा। भारतेन्दु काल में इन नवीन प्रभावों के फलस्वरूप कविता में जहाँ नूतन उपादानों का ग्रहण हुआ वहाँ अपने क्षीण रूप में रीतिकालीन परम्परा भी चलती रही। इस काल में गद्य क्षेत्र में खड़ी बोली व्यवहृत हुई और पद्य-क्षेत्र में ब्रज भाषा। यद्यपि इस काल के लेखकों पर वर्ड्सवर्थ की लरिकल बैलेड्स की भूमिका का प्रभाव पड़ चुका था और इनके द्वारा साहित्य में व्यवहृत भाषा की एकता का प्रारम्भिक प्रयास भी हुआ, किन्तु इस आन्दोलन की सफलता का समूचा श्रेय स्वनामधन्य श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा उनके सहयोगियों को है।

द्विवेदी-युग—महावीरप्रसाद द्विवेदी का युग भाषा के संस्कार एवं उसके व्याकरणसम्मत प्रयोग, सुधार, नैतिकता, इतिवृत्तात्मक शैली और सांस्कृतिक अभ्युत्थान के लिए विशेष प्रसिद्ध है महावीरप्रसाद द्विवेदी का भाषा-सम्बन्धी आदर्श वर्ड्सवर्थ से बहुत कुछ प्रभावित है। जैसे वर्ड्सवर्थ गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में सरलता और भाषा की एकरूपता के हामी थे उसी प्रकार द्विवेदी जी भी। द्विवेदी जी का काव्य सम्बन्धी आदर्श वर्ड्सवर्थ, पोप और मिल्टन से प्रभावित है। कविता सम्बन्धी उनकी धारणा है—'समय-समय पर कल्पित अथवा सत्य आख्यानों के द्वारा सामाजिक, नैतिक और धार्मिक विषयों की शिक्षा दें।" उनके उक्त विचार पर पोप के मौरल एसेज (Moral Essays) का प्रभाव स्पष्ट है। कविता-सम्बन्धी अनुभूति की अभिव्यक्ति के विषय में वे लिखते हैं—"कविता करने में हमारी समझ में अलंकारों को बलात् लाने का प्रयत्न न करना चाहिए।···बलात् किसी अर्थ के लाने की चेष्टा करने की अपेक्षा प्रकृत भाव से जो कुछ आ जाय उसे ही पद्य-बद्ध कर देना अधिक सरस और आह्लादकारक होता है।" उनके इस कथन पर वर्ड्सवर्थ की कविता की परिभाषा "Spontaneous overflow of powerful feelings." की छाया स्पष्ट है। वर्ड्सवर्थ के समान वे भी कविता में तुकान्त के आग्रही नहीं थे। द्विवेदी जी संस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य की समृद्धि से सम्यक् अवगत थे, अतः उन्होंने

तत्कालीन हिंदी कवियों को उक्त साहित्यों से भाव-रत्नों के संचय करने का विनम्र परामर्श दिया था—

> इंगलिश का ग्रंथ समूह भारी है,
> अति विस्तृत जल समान देहधारी हैं।
> संस्कृत भी सबके लिए सौख्यकारी है,
> उसका भी ज्ञानागार हृदय हारी है।
> इन दोनों में से अर्थ रत्न लीजै।
> हिन्दी के अर्पण उन्हें प्रेमयुत कीजै॥

द्विवेदी युग की कविता की प्रमुख प्रवृत्तियों—बुद्धिवाद, मानववाद, राष्ट्रीयता सांस्कृतिक महत्ता, नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण एवं प्रकृति चित्रण पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट है। द्विवेदी काल में कविता की पुरातन धारा जो भारतेन्दु युग में क्षीण रूप में प्रवाहित होती रही बिल्कुल बन्द हो गई। इस युग पर भारत में प्रचलित तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों का गहरा प्रभाव पड़ा। इस समय तक राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस काफी बल सम्पन्न हो चुकी थी, अतः राजनीतिक जागृति और उदात्त राष्ट्रीयता द्विवेदी युग के साहित्य में खूब प्रतिफलित हुई। इस दिशा में अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से भी प्रभूत प्रेरणा मिली। योरुप में वैज्ञानिक उन्नति के साथ बुद्धिवाद का बोलबाला हुआ और उसका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी निश्चयात्मक रूप से पड़ा। उपाध्याय एवं गुप्त द्वारा गृहीत कृष्ण व राधा ब्रह्म के अवतार न होकर मानव हैं और उनके चरित्र का बौद्धिक आधार पर विश्लेषण किया गया है। गुप्त और उपाध्याय पर बंगल के माइकेल मधुसूदन के 'मेघनाद वध' का प्रभाव स्पष्ट है। मधुदन स्वयं होमर तथा वर्जित आदि अनेक योरुपीय लेखकों से प्रभावित हुए थे। द्विवेदी कालीन मानवदावाद कामटे के उपयोगितावाद पर आघृत पाजिटिव दर्शन से काफी प्रभावित दृष्टिगोचर होता है। गुप्त, उपाध्याय तथा रामनरेश त्रिपाठी आदि इस दिशा में रवीन्द्र के प्रति भी आभारी हैं। इस युग की राष्ट्रीयता पर जहाँ काँग्रेस की अमिट छाप है वहाँ मिल्टन, शेक्सपियर, बर्क, मिल, स्काट और बायरन के साहित्य के अध्ययन से भी स्तुत्य प्रेरणा मिली है। द्विवेदी युग में सांस्कृतिक पुनरभ्युत्थान के पीछे सर विलियम जोन्स, हेनरी कालब्रुक, मैक्समूलर, कर्नल टाड, वाल्टर रेले, गेटे और शापेनहार के शोध-कार्यों में अभिनन्दनीय कार्य किया है। द्विवेटी युग के कवियों—उपाध्याय, गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी एवं रामचन्द्र शुक्ल के प्रकृति वर्णन पर अंग्रेजी साहित्य का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। आचार्य शुक्ल ने एडविन आर्नल्ड के "लाइट आफ एशिया" का "बुद्ध चरित" नाम से हिन्दी में अनुवाद किया जिसमें प्रकृति के मृदु तथा उग्र दोनों रूपों का कलात्मक चित्रण हुआ है।

हिन्दी साहित्य में अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव के प्रसारण-कार्य में अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली ने कुछ कम योग नहीं दिया है। शेक्सपियर, मिल्टन, ड्रायडन, ग्रे, बायरन, शैले, टैनीसन, होमर, वर्जिल, कूपर, गोल्डस्मिथ, कॉलरिज, वर्ड्सवर्थ और सौदे आदि अंग्रेजी के कवि द्विवेदी-युग में विशेष प्रिय रहे हैं। एक तो विश्वविद्यालयों की कक्षाओं में इन कवियों की रचनाओं के पाठ्य कोर्स में निर्धारित होने से दूसरे सरस्वती पत्रिका

में इनकी कृतियों के अनुवादों के प्रकाशन से, अध्ययन में खूब प्रोत्साहन मिला। द्विवेदी-युग के साहित्य पर पाश्चात्य दार्शनिकों—रूसी, स्पेंसर, मिल और बेन्यम का प्रभाव भी स्पष्ट है। द्विवेदी जी ने मिल कि लिबर्टी तथा बेकन के निबन्ध का हिन्दी में अनुवाद किया था। भारतेन्दु युग में अंग्रेजी रचनाओं के अनुवाद का जो कार्य आरम्भ हुआ था इस काल में वह और अधिक गतिशील बना। शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद-कार्य द्विवेदी-युग में सुसम्पन्न हुआ।

द्विवेदी युग के काव्य रूपों पर अंग्रेजी प्रभाव का उल्लेख करते हुए डॉ० आर० एस० वर्मा ने लिखा है—"द्विवेदी युग के महाकाव्यों पर मिल्टन तथा अन्य पाश्चात्य महाकवियों का बंगला कवि मधुसूदनदत्त की कृतियों (विशेषकर उनके मेघनाद वध) द्वारा प्रभाव पड़ा जिसके परिणामस्वरूप महाकाव्य की प्रचलित शैली तथा भावधारा में परिवर्तन हो गया। अंग्रेजी काव्य विशेषकर पोप के काव्य का हिन्दी के उपदेश काव्य पर प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त सम्बोधन गीति, सानेट और रोमांटिक प्रेम-विषयक प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्रों में भी प्रयोग किये गये। छन्द के रूपों में अतुकान्त छन्द का प्रयोग आधुनिक हिन्दी कविता के विकास में एक महत्त्वपूर्ण घटना कही जा सकती है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ भारतेन्दु काल में वर्ण्य वस्तु पर अंग्रेजी प्रभाव का आधिक्य रहा है, वहाँ द्विवेदी युग में विषय वस्तु, भाषा और काव्य-रूप सभी पक्षों पर अंग्रेजी का शक्तिशाली प्रभाव पड़ा है।

छायावाद युग—दो युद्धों के बीच के समय, जिसे सामान्यतः छायावाद के नाम से अभिहित किया जाता है, साहित्य की भावधारा, काव्य-रूप और शैली आदि पर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव सर्वाधिक पड़ा है। छायावाद हिन्दी-साहित्य में एक महान् आन्दोलन के रूप में उपस्थित हुआ जिसके सम्मुख साहित्य के सम्पूर्ण जीर्ण शीर्ण अथच रूढ़िबद्ध परम्परायें छिन्न-भिन्न हो गईं। द्विवेदीयुगीन काव्य की इति-वृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया में उद्भूत छायावादी काव्य-चेतना ने पश्चिमी साहित्य की नाना विचार-धाराओं को सफलतापूर्वक आत्मसात् किया। छायावादी साहित्य पर पाश्चात्य साहित्य के रोमांटिसिज्म का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा, क्योंकि इन दोनों साहित्य धाराओं का समान परिस्थियों में उदय हुआ और सौभग्यवश दोनों धाराओं के साहित्यिकों में प्रकृतिगत पर्याप्त साम्य है। अंग्रेजी साहित्य का यह प्रभाव कुछ तो बंगला के माध्यम से आया और कुछ प्रत्यक्ष रूप से। छायावादी काव्य पर रोमांटिसिज्म की (१) सौन्दर्यवाद—(क) प्रकृति सौन्दर्य, (ख) नारी-सौन्दर्य, (ग) प्रेम-सौन्दर्य-चित्रण, (२) निराशावाद, (३) रहस्यवाद, (४) प्रतीकात्मकता तथा (५) कलापक्षगत विशेषताओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा तथा बच्चन आदि पर उक्त प्रभाव विभिन्न माध्यमों द्वारा आया। प्रसाद और निराला पर यह प्रभाव बंगला के माध्यम द्वारा अधिक आया जब कि पन्त और रामकुमार वर्मा आदि पर प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से पड़ा। छायावादी कवियों में पन्त अंग्रेजी साहित्य से सर्वाधिक प्रभावित हैं। पन्त पर शेक्सपियर, शैले, कीट्स, वायरन (Walter de la Mare Sitwells) बर्नार्ड शॉ, ब्लेक, मैटरलिंक, कार्ल मार्क्स, हीगेल, बर्गसां और एमर्सन आदि का बहुत प्रभाव है। डॉ० रामकुमार पर बायरन, कीट्स, शैले, वर्ड्सवर्थ, मैटरलिंक तथा 'Oxford Book of Mystic

Verse' का पर्याप्त प्रभाव है। बच्चन के अपने ही शब्दों में "I am not Particularly influenced by any English poet. My favourites are John Donne, Blake, Wordsworth, Shelley, Swinburne and Yeats. In my poetry I bring the boldness of approach of the Europeans to life and its problems." पर आलोचकों की धारणा है कि बच्चन पर Fitz Gerald का निश्चित प्रभाव है। महादेवी जी का विचार है कि आधुनिक हिन्दी काव्य पाश्चात्य साहित्य और बंगला की नई कविता से प्रभावित है। छायावाद के सौन्दर्य-वाद पर वर्ड्सवर्थ, कीट्स, शैले, स्विनबर्न, ब्लेक, गोल्डस्मिथ आदि अंग्रेजी के कवियों का विशेष प्रभाव है। अंग्रेजी साहित्य में शैली के काव्य में उपलब्ध अलौकिकतावाद की प्रवृत्ति से कवि पन्त अत्यन्त प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। अंग्रेजी साहित्य के विद्रोहात्मक आदर्शवाद (Revolutionary Idealism) का निराला की कविताओं पर गहरा प्रभाव है। छायावादी काव्य में प्रेम एवं सौन्दर्य के चित्रण की प्रधानता है। यह प्रेम लौकिक और अलौकिक दोनों रूपों में चित्रित है। विद्वानों का विचार है कि इस काल के प्रेम के आदर्श पक्ष पर अंग्रेजी साहित्य में शैले में मिलने वाले प्लेटोनिज्म (Platonism) का प्रभाव है। छायावाद के समान अंग्रेजी साहित्य में भी निराशा की प्रवृत्ति शैले, इलियट और हार्डी में मिलती है। हिन्दी निराशा की यह प्रवृत्ति कुछ तो यहां के सामाजिक और धार्मिक बन्धनों और रूढ़ियों का परिणाम है और कुछ विदेशी साहित्य का प्रभाव। छायावादी निराशा के पीछे तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलनों की असफलता को ढूंढना व्यर्थ होगा। यद्यपि अंग्रेजों के दमन चक्र ने स्वतन्त्रता के लिये किये आन्दोलनों को विफल बनाने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी थी, फिर भी हमारे नेताओं के स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साध्य और साधनों में कोई अन्तर नहीं आया। शासकों में उग्र दमन के होते हुए भी आजादी का संग्राम अपेक्षाकृत अधिक उत्साह से लड़ा गया। डॉ० आर० एस० वर्मा ने छायावादी रहस्यवाद पर ईसाई रहस्यवाद प्रतीकात्मकता के प्रभाव को स्वीकार किया है और यहाँ तक कि बेचारे कबीर को भी इस प्रभाव से मुक्त नहीं माना, किन्तु हम उनकी इस धारणा से नितान्त असहमत हैं। प्रसाद, निराला और महादेवी का रहस्यवाद भारतीय परम्परा के अन्तर्गत है, इस पर कोई विदेशी प्रभाव नहीं है। कुछ वर्ष पूर्व अंग्रेजी विद्वानों ने भक्ति-काल के प्रेम-तत्त्व पर ईसाई प्रेम का प्रभाव सिद्ध करना चाहा था किन्तु आज के शोधों से यह प्रमाणित हो चुका है कि भले ही ईसा मसीह भारतीय प्रेम से प्रभावित हुए हों किन्तु इस भूमि का भक्ति-आन्दोलन उनसे (मसीह से) किसी भी दशा में प्रभावित नहीं हुआ।

यूरोप में वैज्ञानिक उन्नति के परिणामस्वरूप भौतिकता, बौद्धिकता और सन्देहवाद की प्रवृत्तियों ने जीवन की अखंडता को प्रबल रूप से झकझोर दिया था। ब्लेक और वर्ड्सवर्थ आदि अंग्रेजी कवियों ने युग के बढ़ते हुए यंत्रवाद और भौतिकवाद का घोर विरोध किया। रवीन्द्रनाथ ने भी यन्त्रवादी भौतिक सभ्यता का घोर विरोध किया था। प्रसाद, पन्त, निराला और दिनकर में विज्ञानवाद की विरोधात्मक तीव्र अभिव्यक्ति हुई है। प्रसाद ने अपने महाकाव्य 'कामायनी' में वैज्ञानिक संस्कृति का घोर विरोध किया है। कामायनी की इड़ा वैज्ञानिक संस्कृति की प्रतीक है। संभव

है कि प्रसाद पर यह प्रभाव बंगला के माध्यम से आया हो।

इसके अतिरिक्त आधुनिक छायावादी काव्य के काव्य-रूपों और शैली आदि पर भी अंग्रेजी साहित्य का अभीष्ट प्रभाव पड़ा है। अँग्रेजी साहित्य के परिणामस्वरूप हिन्दी में प्रबन्ध काव्य, महाकाव्य एवं मुक्तक काव्य-सम्बन्धी नवीन मान्यतायें स्वीकृत हुई। हिंदी के आधुनिक गीति-काव्य का स्वरूप बहुत कुछ अँग्रेजी के गीति-काव्य के अनुरूप है। इसके अतिरिक्त अँग्रेजी की विभिन्न गीति शैलियों—शोक गीत (Elegy) चतुर्दशपदी (Sonnet) संबोधन गीति (Ode), व्यंग्य गीति (Satire), पैरोडी (parody), तथा चिन्तात्मक कविता (Reflective Verse) का प्रचलन भी हिन्दी-काव्य में हुआ।

अतुकान्त छन्द का प्रयोग द्विवेदी-काल में ही प्रचलित हो गया था किन्तु इस काल में उसका प्रचार और अधिक बढ़ा। प्रसाद और पन्त आदि ने वार्णिक अतुकान्त छन्दों की परिपाटी छोड़ मात्रिक अतुकान्त छन्द लिखे किन्तु इस क्षेत्र में अमरीका के कवि वाल्ट ह्विटमैन (Walt Whitman) के समान निराला जी ने मुक्त छन्द (Free verse) की महत्वपूर्ण क्रांति की। आज हिन्दी में प्रायः मुक्तक छंद ही प्रचलित हैं। छंद विधान में पन्त का प्रयत्न भी सराहनीय है। इस सम्बन्ध में वे एडिथ सिटवैल (Adith Sitwell) से प्रभावित हैं। अंग्रेजी की रोमांटिक काव्य-धारा ने हिन्दी के आन्तरिक और वाह्य दोनों पक्षों को प्रभावित किया है। अंग्रेजी के कतिपय अलंकार भी हिन्दी में व्यवहृत होने लगे हैं जैसे—मानवीकरण (Personification) विशेषण विपर्यय (Transferred Epithet), ध्वन्यर्थ व्यंजना (Onomatopoeia) आदि हिन्दी काव्य में भाषा की चित्रमयता (Pictorial Art) पर भी आज विशेष बल दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी के कुछ मुहावरे भी रूपान्तरित होकर हिन्दी में प्रयुक्त होने लगे हैं—स्वर्णकाल (Golden age), भग्न हृदय (Broken heart), दिव्य ज्योति, (Devine light) आदि। छायावादी काव्य की इस आन्तरिक और बाह्य समता को देखकर कई आलोचकों ने हिन्दी के छायावाद को अंग्रेजी और बंगला के रोमांटिक साहित्य का हिन्दी संस्करण कहा जो कि सर्वथा असमीचीन है। अंग्रेजी की रोमांटिक धारा और हिन्दी का छायावाद दोनों भिन्न संस्कृतियों, देश, काल और परिस्थितियों की उपज है, अतः छायावाद में बहुत कुछ अपना है। हाँ, यह दूसरी बात है कि छायावाद अँग्रेजी की रोमांटिक धारा से प्रभावित अवश्य है।

उत्तर छायावाद युग—छायावाद के ह्रासोन्मुख काल में हिन्दी-काव्य धारा पर पश्चिम के मार्क्सवाद तथा मनोविश्लेषणवाद का प्रचुर प्रभाव पड़ा। मार्क्सवाद के परिणामस्वरूप हिन्दी के प्रगतिवादी काव्य में यथार्थवाद को अत्यधिक बल मिला। मार्क्सवाद द्वारा हिन्दी में काव्य के कतिपय नवीन सिद्धान्तों—(क) 'काव्य का मूल आधार आर्थिक है, वह द्वंद्वात्मक भौतिकवाद पर आश्रित है। (ख) काव्य सामूहिक भाव की व्यंजना है। सामूहिक भाव ही समाज को गतिशील रखते हैं। (ग) काव्य समाज के विकास में योग देने वाला साधन है। वह श्रम के लिए व्यक्ति को प्रेरणा देता है और उसके श्रम को हल्का करता है।" की स्थापना हुई। मार्क्सवादी काव्य की समस्त प्रवृत्तियाँ—शोषित और शोषक वर्ग का चित्रण

क्रांति की भावना, सामन्तशाही का विरोध, ईश्वर पर अनास्था, रूसी संस्कृति का गान तथा मानव की अपार शक्ति पर विश्वास आदि छायावादोत्तर हिन्दी काव्य में समुपलब्ध होती है। हिन्दी के कवि पन्त, निराला, नवीन, अंचल, दिनकर, रामविलास शर्मा, प्रभाकर मांचवे, शिवमंगलसिंह सुमन आदि पर मार्क्सवाद का प्रभाव स्पष्ट है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य पर फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का दो रूपों में प्रभाव पड़ा है – (क) यौन-प्रवृत्ति को समस्त मानवीय प्रवृत्तियों का केन्द्र बिन्दु मानकर साहित्य में उसे चित्रित करना, (ख) अचेतन मन की दमित वासनाओं का फ्री एसोसियेशन (Free Association) की पद्धति से अभिव्यक्त करना। हिन्दी के कवियों में अंचल जी पर मनोविश्लेषण का सर्वाधिक प्रभाव है। इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय आदि कवियों पर भी फ्रायड, एडलर तथा लारेंस का प्रभाव देखा जा सकता है।

आज की नई कविता या प्रयोगवाद पर, जो एक महा अहंनिष्ठ, स्वार्थ प्रेरित तथा घोर व्यक्तिपरक और ऐकांतिक बौद्धिक है, टी० एस० इलियट, लारेंस, स्पेंसर का प्रभाव स्पष्ट है। इलियट के काव्य की अस्पष्टता, प्रतीकात्मकता, आत्म निरीक्षण, फ्री एसोसियेशन, निराशा की तीव्राभिव्यक्ति तथा लारेंस के काव्य की अति बौद्धिकता, काम-वर्जनाओं के परित्याग आदि का प्रयोगवादी कविता पर गहन प्रभाव है। इस सम्बन्ध में बर्ट्रेण्ड रसेल का प्रभाव भी स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त हिन्दी काव्य पर कुछ अन्य पाश्चात्य लेखकों का प्रभाव भी स्पष्ट है। प्रयोगवादी काव्यधारा के प्रसंग में हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि इस काव्यधारा पर योरूपीय साहित्य के अनेक सम्प्रदायों एवं वादों प्रतीकवाद, बिम्बवाद, दादावाद, अति-यथार्थवाद, अस्तित्ववाद तथा फ्रायडीय यौन एवं कुंठावाद का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। उक्त प्रभाव को प्रयोगवादी अनेक लेखकों ने स्वयं स्वीकार किया है। प्रयोगवादी काव्य पर यह प्रभाव प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों से पड़ा है। प्रत्यक्ष से हमारा तात्पर्य यह है कि प्रयोगवाद के कतिपय कवियों ने पाश्चात्य साहित्य के उपर्युक्त सम्प्रदायों तथा वादों का अध्ययन कर अपनी कविता को तदनुरूप ढाला है। अप्रत्यक्ष प्रभाव का अभिप्राय यह है कि संभवतः सभी 'नयी कविता' के लेखकों ने अंग्रेजी साहित्य के उक्त संप्रदायों का तो अध्ययन किया हो, किन्तु इन्होंने भी अपने पथ-प्रदर्शनों का अनुकरण करते हुए जान या अनजान में अंग्रेजी कविता के इस नवीन प्रभाव को जरूर ग्रहण किया है।

प्रगतिवाद पर मार्क्स की विचारधारा के अतिरिक्त आडेन और उनके वर्ग के लेखकों तथा गोर्की का प्रभाव पड़ा। जार्ज बर्नार्ड शॉ के सृजनात्मक विकासवाद (Creative Evolution) का पन्त आदि कवियों पर प्रभाव है। पंत में इलियट के समान सांस्कृतिक समन्वय का प्रयास दर्शनीय है हालांकि वे इस दिशा में अरविन्द दर्शन और स्वामी विवेकानंद से अधिक प्रभावित हैं। पंत की विचाराधारा पर पाश्चात्य दार्शनिकों के प्रभाव की चर्चा करते हुए डॉ० नगेंद्र लिखते हैं—"आधुनिक युग के विधायक कवियों में पन्त को जो पुरातन के प्रति सबसे कम मोह रहा है, इसका कारण यह है कि उन पर पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता का प्रभाव अपने अन्य सहपाठियों की अपेक्षा अधिक है। कालिदास और भवभूति की अपेक्षा उन्होंने शैले, कीट्स और टेनीसन से अधिक काव्य प्रेरणा प्राप्त की है और उपनिषद् और षड्दर्शन की

अपेक्षा हीगेल और मार्क्स का उनकी विचारधारा पर अधिक प्रभाव है।" इसके अतिरिक्त पन्त पर बर्गसां का प्रभाव भी है।

मार्क्सवादी काव्य के प्रभाव-स्वरूप हिन्दी में व्यंग्यात्मक तथा लोक गीतों की पद्धति पर काव्य की काफी रचना हुई। छायावादी कविता के ह्रास के उपरांत हिंदी कविता में भाषा-शैली, काव्य-रूपों और छंद में अंग्रेजी साहित्य के परिणाम स्वरूप काफी परिवर्तन हुये।

गद्य साहित्य पर प्रभाव—हिन्दी में गद्य की अपेक्षा कविता पर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव निश्चित रूप से अधिक पड़ा है। राष्ट्रीय जागरण से पूर्व हिन्दी गद्य पर अंग्रेजी और मिशनरियों के प्रभाव की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के आलोचना-क्षेत्र में अंग्रेजी का प्रभाव सीमित मात्रा में पड़ा है। हिन्दी आलोचना में रुचि रखने वाले विद्वान तुलनात्मक आलोचना के लिये कालरिज मथ्यू-आर्नल्ड, ब्रेडले, आई० ए० रिचर्डस हडसन एवं वर्सफोल्ड आदि अंग्रेजी के आलोचकों का अध्ययन करते हैं। हिन्दी की आधुनिक आलोचना पर पाश्चात्य मनोविश्लेषणवाद का भी प्रभाव है। जिन पर पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र का प्रभाव है ऐसे हिन्दी आलोचकों पर भारतीय आलोचना शास्त्र के संस्कार भी अपेक्षित हैं किन्तु प्रायः इसका अभाव है। आचार्य श्यामसुन्दरदास एवं बख्शी जी पर पाश्चात्य आलोचना का अत्याधिक प्रभाव है। हिन्दी के आलोचक प्रवर आचार्य शुक्ल में पाश्चात्य और पौरस्त्य आलोचनाशास्त्रों का सुन्दर समन्वय है। पाश्चात्य प्रभाव ग्रहण करते हुये भी उनमें भारतीय प्रतिभा बनी रही है। डॉ० नगेन्द्र पर आई० ए० रिचर्ड्स, क्रोचे और फ्रायड का किंचित् प्रभाव है, किन्तु वे मूलतः रसवादी आलोचक हैं और उन्हें अभिनव गुप्त तथा भट्ट नायक आदि बहुत प्रिय लगे हैं। आजकल आप भारतीय एवं पाश्चात्य आलोचनाशास्त्रों के तुलनात्मक अध्ययन का स्तुत्य कार्य कर रहे हैं। प्रगतिवादी आलोचकों पर मार्क्स का विशेष प्रभाव है। शिवदानसिंह चौहान पर गाडवैल का प्रभाव है। अज्ञेय जी पर टी० एस० इलियट, डी० एच० लारेंस, एवं आड्रे का प्रभाव है। हिंदी के निबन्ध-क्षेत्र में अंग्रेजी संपर्क का परिणाम विशेषतः भारतेन्दु काल में दृष्टिगोचर होता है। द्विवेदी युग में इस दिशा में कुछ अनुवाद कार्य भी हुआ। हिन्दी का निबन्ध साहित्य शैली की दृष्टि से अंग्रेजी से जितना प्रभावित हुआ है उतना विषय की दृष्टि से नहीं। हिंदी-उपन्यास-क्षेत्र में इलाचंद्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय जी पाश्चात्य मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित हैं। प्रगतिवादी उपन्यास लेखक यशपाल आदि मार्क्स से प्रभावित हैं। कई आलोचकों ने जैनेंद्र को फ्रायड से प्रभावित माना है जबकि वे स्वयं इसे अस्वीकार करते हैं। आधुनिक हिन्दी कहानी उद्देश्य, रचना शैली व टैकनीक की दृष्टि से एकदम बदल चुकी है। उसकी आत्मा भारतीय है पर वेश-भूषा पाश्चात्य। हिन्दी की गद्य-विधाओं में नाटक पर पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक पड़ा है। भारतेन्दु ने संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटकों का विस्तृत अध्ययन किया था। प्रसाद के नाटकों में पाश्चात्य एवं पौरस्त्य नाट्यकला का कलात्मक समन्वय है। हिन्दी के समस्यामूलक नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों पर बर्नार्ड शॉ का प्रभाव है। पन्त के नाटक ज्योत्स्ना पर मटरलिंक के 'Blue Bird' का स्पष्ट प्रभाव है। रामकुमार वर्मा के